॥ श्रीः ॥

विद्या भवन आयुर्वेद ग्रन्थमाला

१

॥ श्रीः ॥

प्रसूति विज्ञान

(A TEXT BOOK OF MIDWIFERY)

लेखकः—

डा० रमानाथ द्विवेदी

आयुर्वेद बृहस्पति, ए. एम. एस., एम. ए.

चिकित्सक, सरसुन्दरलाल आतुरालय

अध्यापक, आयुर्वेद कालेज, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

प्रस्तावना लेखकः—

डा० प्राणजीवन माणेकचन्द मेहता

एम. डी., एम. एस., एफ. सी. पी. एस., एफ. आइ. सी. एस.,

चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस—१

सन् १९५४

प्रस्तावना

डा० प्राणजीवन माणेकचन्द मेहता

एम. डी., एम. एस., एम. सी. पी. एस., एफ. आई. सी. एस.,

अमूल्य स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारतीय प्रजा के जीवन में अभूतपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगा और पुनरुत्थान एवं नवनिर्माण के साथ व्यापकरूप से मान्यताओं में परिवर्तन होने लगा। प्रजा का आरोग्य राष्ट्र की उन्नति-अवनति के साथ संतुलित होता रहता है। स्वातन्त्र्यप्राप्ति के बाद भारतीय आरोग्य विज्ञान—आयुर्वेद—अपनी विश्वव्यापक शक्ति पुनः स्थापित करने के लिये कटिबद्ध हुआ। आयुर्वेद के विश्वमान्य मौलिक सिद्धान्त एवं विज्ञान सम्मत चिकित्सा ने सम्पूर्ण विश्व के सत्यशोधक वैज्ञानिकों को अपनी ओर आकृष्ट किया और सर्वत्र पुनरुत्थान का उद्घोष होने लगा। इस शुभ अवसर पर प्रत्येक वैद्य और आयुर्वेदानुरागी व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपनी शक्त्यनुसार इस पुनरुत्थान में सहायक होकर आयुर्वेद के इस महान् प्रयत्न में साथ दें।

आज विदेशी शासन के अन्त के साथ ही अनेक पुरानी मान्यताएं परिवर्तित हो रही हैं। आयुर्वेद का अभ्यास विश्वविद्यालय की कक्षा तक पहुंचा है, अतः इस समय वैद्यकीय शिक्षण के लिये हमको आचार्य एवं उच्चकोटि के [illegible]ओं की अत्यधिक आवश्यकता है। इसीलिये

युनिवर्सिटी कक्षा के अनुरूप तत्तद्विद्य ज्ञाननिधि आचार्य और तत्तद् विषयों की उच्च कोटि की पाठ्य पुस्तकें तैयार करने की अत्यावश्यकता है।

इसप्रकार की आवश्यकता के अवसर पर यह ग्रन्थ सम्माननीय, अभिनन्दनीय एवं प्रशंसा–स्वागत दृष्टि से अपनाने योग्य है। इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक ने शल्य एवं शालाक्य शास्त्र पर भी पुस्तकें लिखी है। लेखक महाविद्यालय में शिक्षण तथा चिकित्सा का भी कार्य करते हैं, अतः उनका प्रयास विद्यार्थियों की कठिनाई दूर करने का रहता है। इसीलिये पाठ्य पुस्तक की हैसियत से उनकी पुस्तकों में अभ्यास, अनुभव और विशदता का अपूर्व संयोग रहता है। इसी प्रकार प्रस्तुत पुस्तक 'प्रसूति विज्ञान' बहुत उपयोगी, आवश्यक तथा अभिनन्दनीय है।

इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक के शुभ हस्त से ऐसी अन्य पुस्तकें लिखी जाँय और दूसरे तद्विद्य आचार्य तथा लेखक अपने ज्ञान को ग्रन्थस्थ कर के आयुर्वेद के उत्थान–यज्ञ में अपना सहयोग दें, इसी उच्च अभिलाषा एवं सबल आशा के साथ मैं विराम लेता हूं।

—प्राणजीवन मा० मेहता

प्राक्कथन

सत्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परम् पुरुष एक इहास्यधत्ते
स्थित्यादये हरिविरञ्चि हरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्वतनोर्नृणां स्यु।

(श्रीमद्भागवत् १।२)

प्राच्यप्रतीच्यविदुषां भिषजां कृतिभ्यो
निष्काश्य सारमधुना रचितां स्वकीयाम् ।
शास्त्रे प्रसूतिविषयेऽत्र कृतिं रमायुग्
नाथाभिधोऽहमजपादयुगे क्षिपामि ॥
आयुर्वेदे भरतभुवि या वर्णिता सूतितंत्रे
प्राच्यैः प्राच्यासरणिरमला या प्रतीच्या विदेश्यैः ।
मिश्रीकृत्योभयमथवरं सादरं पण्डितानामग्रे
नव्याकृतिरिह मया तूपदा प्रस्तुतेयम् ॥

आज का युग विशेषज्ञों का है। विज्ञान की अनेक शाखायें तथा उनसे निकलने वाली बहुत सी छोटी-छोटी प्रशाखायें हो गई हैं। आज का वैज्ञानिक किसी एक उपशाखा को लेकर आगे बढ़ता है तथा उसका यथाशक्य आद्यन्त ज्ञानोपार्जन करके अपने को विशेषज्ञ बनाने में प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार के विशेषज्ञों के विविध ज्ञान सामग्री का संकलन एवं अध्ययन हमें अंग्रेजी पुस्तकों के सहारे ही करना होता है। प्रसूतितन्त्र नामक इस विषय की कई रचनायें अंग्रेजी भाषा में विख्यात है। इन विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर उनके उत्कृष्ट अंशों का संग्रह करते हुए मैंने प्रसूतिविज्ञान नामक इस पुस्तक की रचना की है। इस रचना में कई विशेषज्ञों का आश्रय करते हुए विषय का संकलन मधुकरी वृत्ति से किया गया है अर्थात् जिस प्रकार मधुमक्खी विभिन्न पुष्पों से उसके रसों का संग्रह करती हुई सरस स्वादिष्ट मधु का जन्म देती है उसी प्रकार का बहुत कुछ मेरा भी प्रयास रहा है।

प्रसूतिविज्ञान नामक विषय का मूलस्रोत आधुनिक 'मिडवाइफरी' या 'अब्स्ट्रेटिक' है। 'मिडवाइफरी' नामक इस अंग्रेजी शब्द के पर्यायरूप में ही प्रसूतितन्त्र, प्रसूतिशास्त्र, धात्री विद्या अथवा प्रसूतिविज्ञान प्रभृति शब्दों का व्यवहार होता है।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में प्रसूतितन्त्र नाम का कोई स्वतन्त्र अंग नहीं बतलाया गया है, न उसके ऊपर स्वतन्त्र संहिता ही पायी जाती है और न वैद्यों में परम्परया इस विद्या के विशेषज्ञ अथवा विशेष अभ्यासी ही मिलते हैं। यहाँ तक कि प्राचीन संहिताओं में इस शब्द का व्यवहार भी बहुलता से नहीं हुआ है।

इस कथन का अर्थ यह नहीं है कि प्रसूतितन्त्र आयुर्वेद के लिये एक नया विषय है तथा पाश्चात्य विज्ञान की देन है। जिसके ज्ञान साधन के लिये केवल अंग्रेजी भाषा की ही पुस्तकें आधारभूत हैं। वस्तुतः प्रसूति का विषय आयुर्वेद के अष्टाङ्गों में का एक उपाङ्ग है। इसका वर्णन संहिता या संग्रह ग्रन्थों में प्रचुर है, परन्तु विकीर्ण है। आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार उसका कुछ अंश शारीर (Anatomy), कुछ भ्रूणशारीर (Embryology), कुछ दर्शन (Philosophy) से कुछ स्त्रीरोग या योनिव्यापद् (Diseases of women) कुछ यौनशास्त्र (Eugenics) और बहुत अंशों में कौमारभृत्य (Paediatrics) से सम्बन्ध रखता है। उदाहरणार्थ—

आयुर्वेद शारीर, भ्रूणशारीर Anatomy, physiology and Embryology	जननाङ्गों का वर्णन, गर्भबीज (Ovulation) रजःस्राव, ऋतु प्रभृति प्रसंग। गर्भावक्रान्ति, अपरा निर्माण, गर्भाभिवृद्धि, गर्भपोषण, प्रगल्भ गर्भविज्ञान आदि का वर्णन
दर्शन (Philosophy)	गर्भोत्पादान ?
जातिसूत्रीय या सूतिकाप्रकरण	गर्भिणीविज्ञान, गर्भिणीचर्या, प्रसवविज्ञान, विभिन्न उदय, सूतिकाकाल, सूतिकाचर्या, मूढ़गर्भ आदि।
योनिव्यापत् या स्त्रीरोग Diseases of women	विभिन्न योनिव्यापत्, गर्भिणीप्रकरण, गर्भिणी व्यापत्, मासानुमासिक, पथ्यादि व्यवस्था।
कुमारतन्त्र कौमारभृत्य बालरोग	Paediatrics— बालसंगोपन, कुमारभरण, धात्रीक्षीर संशोधन, ग्रहों से उत्पन्न व्याधियाँ।

इस प्रकार प्रसूतितन्त्र में उपर्युक्त सभी विषयों का एक स्थान पर संकलन किया हुआ मिलता है। यद्यपि प्रसूतितन्त्र के अन्दर कई तन्त्रों का अन्तर्भाव हो जाता है; तथापि इस विषय का अधिक अंश कौमारभृत्य नामक आयुर्वेदाङ्ग से ही सम्बन्धित है। हारीतसंहिता का वचन है कि गर्भोपक्रम, सूतिकापरिचर्या तथा बालरोगों का शमन ये सभी विषय प्रधान अंग कौमारभृत्य के ही हैं। फलतः आयुर्वेद के अष्टाङ्गों में कौमारभृत्य नामक बड़े अंग के अन्दर ही इस प्रसूतितन्त्र नामक आधुनिक संज्ञा का भी ग्रहण करना चाहिये।

महामहोपाध्याय गणनाथ सेन के विचार से प्रसूतितन्त्र नामक विषय कौमारभृत्य तन्त्र से पूर्णतया एक पृथक् तन्त्र है। क्योंकि आचार्य सुश्रुत ने प्रसूतितन्त्रोक्त गर्भिणी के उपचारादि का वर्णन शारीर (Anatomy) में एवं मूढ़गर्भ चिकित्सादि का वर्णन शल्यतन्त्र में किया है। इस तरह प्रसूतितन्त्र को कौमारभृत्य से पृथक् ही मानना ठीक जंचता है।

आचार्य सुश्रुत के ही कुछ अन्य सूत्रों पर ध्यान दें तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि यद्यपि गर्भावक्रान्ति, रजः शुद्धि आदि का वर्णन शारीरस्थान में आचार्य ने किया है तथापि उन विषयों को वे कौमारभृत्य नामक तन्त्र के अन्तर्गत ही मानते हैं:—

डल्हण ने इस सूत्र की 'कौमारतन्त्रमित्येतत् शारीरेषु च कीर्तितम्' (सु. सू. ३) टीका करते हुए लिखा है कि क्या इतना ही कुमारतन्त्र है अथवा अन्यत्र भी है।, इसका उत्तर है 'शारीरेषु च कीर्तितम्' (शारीर के अध्यायों में भी बतलाया गया है) जैसे रजःशुद्धि गर्भावक्रान्ति आदि।

जब हारीतसंहिता का वचन सामने आता है तब सभी शंकाओं का समाधान हो जाता है। इसके अनुसार प्रसूतितन्त्र के पूरे विषय कौमारभृत्य नामक तन्त्र के अन्दर ही समाविष्ट हो जाते हैं:—

गर्भोपक्रमविज्ञानं सूतिकोपक्रमस्तथा।
बालानां रोगशमनं ज्ञेयं बालचिकित्सितम्॥

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी कौमारभृत्य शब्द का प्रयोग आया है। वहाँ पर इस शब्द का प्रयोग प्रसूति-शास्त्रज्ञ (Midwife) के रूप में ही हुआ है। क्योंकि लिखा है—'रानी के गर्भवती होने पर कौमारभृत्य उसकी देख-रेख करते रहे और प्रसूति के अवसर पर निर्विघ्न प्रसव करावे।'

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन कौमारभृत्य में १. योनिव्यापत् चिकित्सा (Gynaecology), २. प्रसूतितन्त्र (Midwifery) तथा ३. बालरोग चिकित्सा (Scince of paediatrics) इन तीनों विषयों का समावेश है। आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान में ये तीनों विषय स्वतन्त्र हैं।

कौमारभृत्य नामक इस आयुर्वेदाङ्ग के विषयों का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में कई पर्यायों से हुआ है। अष्टाङ्गहृदयसंग्रह तथा हारीत में बाल— चिकित्सा अथवा बालरोग शमन का प्रयोग हुआ है। चरक तथा सुश्रुत में कुमारतन्त्र अथवा कौमारभृत्य प्रभृति शब्दों का व्यवहार हुआ है। सभी ग्रन्थों में सूतिका, जाति, धात्री, प्रसूता प्रभृति शब्दों का व्यवहार बहुलता से पाया जाता है। अत एव विभिन्न रचनाकारों ने 'मिडवाइफरी' का हिन्दी भाषान्तर प्रसूतितन्त्र, प्रसूतिशास्त्र, धात्री विद्या आदि किया है। इन्हीं शब्दों से मिलता-जुलता हिन्दी पर्याय 'प्रसूतिविज्ञान' नाम से (Scince of obstetric) प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

प्रसूतितन्त्र के विषयों पर दृष्टिपात किया जाय तो उसके दो बड़े भाग मिलते हैं—प्रकृत खण्ड (Physiological) तथा दूसरा विकृति खण्ड (Pathological)। इस पुस्तक का भी विभजन इसी प्रकार दो खण्डों में किया गया है। प्रत्येक खण्ड में कई प्रकरण हैं और एक एक प्रकरण कई अध्यायों में निर्मित है। प्रकृत खण्ड में इस प्रकार शारीर-गर्भ-गर्भिणी-प्रसव-सूतिका प्रकरणों का उल्लेख हुआ है। विकृति खण्ड में गर्भकालीन रोग, सूतिकोपसर्ग, प्रभृति कई प्रकरणों का प्रसंग आता है। अन्त में एक तीसरा खण्ड स्वतन्त्र है जिसमें शिशु के पोषण एवं पालन सम्बन्धी विवेचनायें तथा प्रसूति शास्त्र में व्यवहृत होने वा शल्योपचारों का वर्णन आया है।

हिन्दी भाषा में कई एक अन्य पुस्तकें भी इस विषय पर उपलब्ध हैं, उनका प्रचलन भी काफी है; फिर भी भाषा-साहित्य की वृद्धि के लिये आज भी अन्यान्य रचनाओं की आवश्यकता है। प्रस्तुत पुस्तक को अधिक उपादेय एवं सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का मेरा प्रयास रहा है। इस कार्य में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है इसका निर्णय विज्ञ पाठकों के अधिकार का विषय है। मैंने अपनी ओर से इसमें कई एक विशेषताओं का समावेश करने का प्रयत्न किया है। यथा—

भारतवर्ष के विभिन्न आयुर्वेद संस्थाओं के पाठ्य-नियमावलियों के अध्ययन के अनन्तर इस पुस्तक का प्रणयन किया गया है। इस बात का ध्यान रखा गया है कि पुस्तक पाठ्यक्रम का पूरा अनुसरण कर सके।

इसके प्रणयन में अनेक विख्यात प्रसूतिविज्ञान विषयक पाश्चात्य ग्रंथों से सहायता ली गई है, केवल किसी एक पुस्तक का अनुवाद मात्र नहीं है। जिन पुस्तकों में जिन जिन अध्यायों का वर्णन अधिक प्रांजल एवं विशद प्रतीत हुआ उसी का ग्रहण करने का प्रयास किया गया है।

तुलनात्मक विवेचना का लक्ष्य आरम्भ से ही रखने के कारण प्रत्येक अध्याय के आधुनिक वर्णनों के अन्त में हिन्दी टिप्पणी और भाषान्तर के साथ ही साथ विभिन्न ग्रन्थरत्नों के आधार पर आयुर्वेद के सूत्रों का भी संग्रह कर रखा है।

पुस्तक को अधिकाधिक प्रमाणिक बनाने के लिये प्रत्येक अध्याय के अन्त में आधार तथा प्रमाण संचय के नाम से एक स्वतन्त्र कालम ही बना दिया गया है। जिससे प्रत्येक अध्याय के लिखने में कितने ग्रन्थों की सहायता ली गई है, इसका ज्ञान होता चले।

प्रसूतिशास्त्र से सम्बद्ध कई अन्य विषयों का जैसे यूजेनिक्स, सेक्सुवोलाजी का भी प्रसंग यत्र तत्र लाने का प्रयास किया गया है–जिससे विषय पाठकों के लिये अधिक रोचक बन सके।

विषयों के वर्णन में इस बात का ध्यान बराबर रखा है कि उनका अनावश्यक विस्तार न हो साथ ही आवश्यक ज्ञातव्य सभी बातों की जानकारी पाठक को हो सके। 'नातिसंक्षेपविस्तरः' का नियम पालन करते हुए इस छोटी सी कृति में प्राचीनों के सूत्रात्मक तथा नवीनों के व्याख्यायुक्त वचनों का समासेन संकलन करते हुए प्रसूति विषय से सम्बन्धित सम्पूर्ण विषयों का अद्यावधि संग्रह करने का प्रयास किया है।

कालेज के अध्यापन तथा आतुरालय के चिकित्सा कार्यों में सतत संलग्न रहने के कारण समयाभाव से यह कार्य मेरे लिये बड़ा ही दुष्कर था। किन्तु भगवत्कृपा तथा गुरुजनों और साधुजनों के आशीर्वाद से सर्वाङ्ग पूर्ण होकर आज यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है अतः उनके चरणों में मेरी प्रणति सर्व प्रथम है।

इसके अतिरिक्त पुस्तक में मैंने अनेक सुकृतियों से सहायता ली है, तद् तद् पुण्यकीर्ति रचनाकारों का स्थल स्थल पर नामों का उल्लेख भी किया है। उन सभी ग्रन्थकारों तथा अन्य भी कृतियों का जिनसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से प्रस्तुत रचना में सहायता ली है उनका मैं [illegible] हूँ।

चित्रों के निर्माण कार्य में जिन जिन कलाकारों की पुस्तकों से सहायता मिली है उनमें महाशय जौन्स्टन की 'टेक्सबुक आफ मिडवाइफरी' नाम की अंग्रेजी पुस्तक का नाम सर्वोपरि है। अतः मैं उन सभी लेखकों, प्रकाशकों तथा विशेषतः महाशय जौन्स्टन का परम आभारी हूँ।

इस पुस्तक के लेखन, पुनर्लेखन, संशोधन एवं परिमार्जन आदि में मेरे अनुज श्री पृथ्वीनाथ द्विवेदी एम. ए. साहित्याचार्य, श्री रवीन्द्रनाथ द्विवेदी बी. ए. तथा साथ ही मेरे स्नेह-भाजन कई अन्य आयुर्वेद के स्नातकों ने भी मेरी प्रचुर सहायता की है, जिनमें श्री बुद्धदेव झा, श्री लक्ष्मणसिंह वघेल, श्री बनारसीदास गुप्त श्री दामोदर शर्मा जोशी ए. एम. एस. तथा श्री कमलनारायण शर्मा बी. आई. एम. एस. का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

विद्यालय के सहयोगियों में प्रायः सभी का विशेषतः आदरणीय श्री दामोदर शर्मा गौड़, श्री यदुनन्दन उपाध्याय, श्री शिवदत्त शुक्ल तथा श्री गंगासहाय पाण्डेय का आभारी हूं जिनसे समय-समय पर प्रेरणा एवं कार्य में सहायता मिलती रही है।

अन्त में प्रकाशक महोदय तथा श्री रामचन्द्र झा जी का नाम विशेष उल्लेखनीय है और मेरे धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने अल्पकाल में ही पुस्तक को प्रकाश में लाने में सहायता की।

प्रयत्नपूर्वक कार्य करते हुए भी मेरी अल्पज्ञतावश विषय अथवा मुद्रण सम्बन्धी बहुत सी त्रुटियाँ पुस्तक में आई होंगी। विज्ञ पाठकों से एतन्निमित्त निवेदन है कि वे मानस राजहंस के सदृश वारिविकार का परिहार और क्षीर का ग्रहण करते हुए अपनी गुण—ग्राहकता का ही परिचय देते हुए यथाशक्य परिमार्जन की भी सूचना दें ताकि भविष्य में हम उनका सुधार कर सकें।

यदि इस रचना से विद्यार्थिवर्ग का कुछ भी उपकार हुआ अथवा दूसरे क्षेत्र के जिज्ञासुओं की किंचित् मात्र भी ज्ञानपिपासा की तृप्ति हुई तो लेखक अपने को कृत-कृत्य अनुभव करेगा।

श्री रमानाथ द्विवेदी

विषय सूची

प्रकृत खण्ड

शारीर प्रकरण

गर्भ प्रकरण

गर्भिणी प्रकरण

प्रसव प्रकरण

विकृति खण्ड

विकृति प्रकरण

सूतिका प्रकरण

की

नि०

आ

विशि

सूतिका रोग प्रकरण

परिशिष्टखण्ड

शिशु प्रकरण

शल्यकर्म प्रकरण

॥ श्रीः ॥

प्रसूति-विज्ञान

शारीर प्रकरण

प्रथम अध्याय

श्रोणि-रचना (Planes & striats of the pelvis)

प्रसूतिशास्त्र का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के विचार से सर्व-प्रथम स्त्री-श्रोणि की बनावट का जानना बहुत आवश्यक है । श्रोणि (Pelvis) वह अंग है जो पुरुष और स्त्री में समान भाव से कटि और ऊरु (Thigh) के बीच में पाया जाता है, त्रिक (Sacrum), नितम्ब (Buttock), वंक्षण (Inguinal region) प्रभृति सीमाओं से घिरा रहता है और उसके भी भीतर की गुहा (Cavity) में स्त्री के अन्तर्जननाङ्ग (Internal generating organs) तथा वस्ति (Bladder) आदि आश्रित और सुरक्षित रहते हैं । इसकी बनावट में श्रोणिचक्र बनाने वाली चार अस्थियाँ, चार संधियाँ मजबूत स्नायुवों के बंधन तथा आभ्यन्तर पेशियां भाग लेती हैं ।

बाल्यावस्था में (In infants) श्रोणि बहुत छोटी होती है, उसमें की त्रिकास्थि सपाट (straight) होती है, त्रिकोत्सेध (Promontary of the sacrum) पूर्ण व्यक्त नहीं रहता और युवा श्रोणि (Adult) की अपेक्षा अधिक ऊँचाई पर पड़ा रहता है । त्रिकास्थि का पूर्व पृष्ठ (Ant. surface) ऊपर से नीचे तथा एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व को चपटा और सँकरा होता है, जघनखात (Ilia fossae) भी उथला होता है । यह बालश्रोणि (Infantile) निम्न लिखित परिवर्त्तनों के अनन्तर युवा श्रोणि का रूप ग्रहण करती है—

१. अस्थियों का विकास (Growth)

२. शरीर-भार (Body weight) की त्रिकास्थि के ऊपर प्रभाव तथा ऊरु का प्रतिरोध (Resistince)

३. श्रोणिगत पेशियों की क्रिया तथा स्नायु बंधनों के तनाव (Tension)

४. यद्यपि द्वितीय और तृतीय कारण समानभाव से पुरुष और स्त्री दोनों में लागू होते हैं, तथापि स्त्री-श्रोणि की रचना पुरुषापेक्षा कुछ विशिष्टतावों से युक्त होती है अतः उसमें कुछ प्राकृतिक प्रवृत्तियों (Inherent tendency) को हेतुरूप में मानना परमावश्यक है जिसके परिणामस्वरूप स्त्रीश्रोणि में रचना की विशेषतायें आजाती हैं।

बहुत सी युवती स्त्रियों की श्रोणियों का औसत लगा कर देखा गया है कि उनके श्रोणि के प्रमाण (Shape & size) समान होते हैं । इस प्रकार एक सामान्य स्त्रीश्रोणि (Gynecoid type of pelvis) की व्याख्या प्रसूति-शास्त्र के ग्रंथों में की जाती है । यही प्रकृति है—इसके विपरीत होना विकृति समझते हैं । यहाँ पर विषय से सम्बन्ध होने के नाते एक सामान्य स्त्रीश्रोणि की रचना की विस्तृत विवेचना नीचे दी जा रही है । सामान्य स्त्रीश्रोणि की सर्वोत्तम संज्ञा होगी आदर्श-स्त्रीश्रोणि । जब तक प्रसूतितन्त्र में 'क्ष किरण' द्वारा सटीक (Accurate) श्रोणि मापन का प्रवेश नहीं हुआ था; ऐसा मानते थे कि
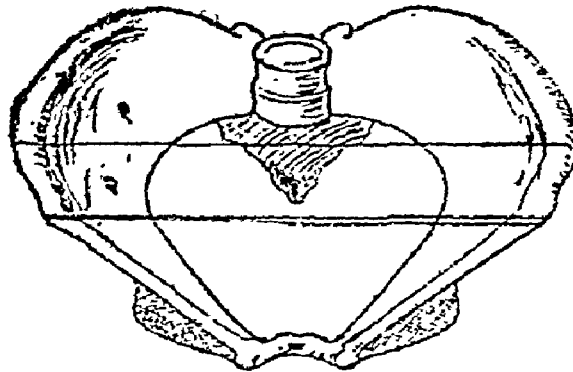
चित्र १—महाश्रोणि के अनुप्रस्थ व्यास

१. जघनधारान्तरालीय व्यास । २. कूटान्तरालीय व्यास ।

आदर्श-स्त्री-श्रोणि ही प्रकृत (Normal) श्रोणि है और उसके अतिरिक्त उससे विभिन्न रचनावाली सभी श्रोणियाँ वैकारिक (Pathological) हैं; परन्तु 'क्ष' किरण द्वारा श्रोणि मापन के आविष्कार के बाद यह धारणा भ्रान्त हो गई

है, क्योंकि आदर्श–स्त्रीश्रोणि (Gynecoid type of pelvis) स्त्रीसमाज में आधे से भी कम में ही पाई जाती है ।

प्रसूतिशास्त्र में श्रोणि का वर्णन शरीररचना की दृष्टि से दो भागों में विभाजित करके करते हैं—१. पेशियों से पृथक् करके कंकालश्रोणि (Bonyor static Pelvis) तथा २. पेशियों से युक्त मांसलश्रोणि (Dynamic Pelvis) । वास्तव में ये भेद केवल वर्णन में सुविधा लाने की दृष्टि से ही किये गये हैं ।

कंकाल–श्रोणि

श्रोणिचक्र की अस्थियाँ—संख्या में चार होती हैं:—(१) श्रोणिफलक (Hip bones) (क) नितम्ब—जघनास्थि (Ilium) और कुकुन्दरास्थि (Ischium) (ख) भगास्थि (Pubis) ।

(२) भगास्थि की तरुणास्थियाँ (Cartilages of the symphisis pubis) (३) त्रिकास्थि (Sacrum) (४) अनुत्रिकास्थि (Coccyx)
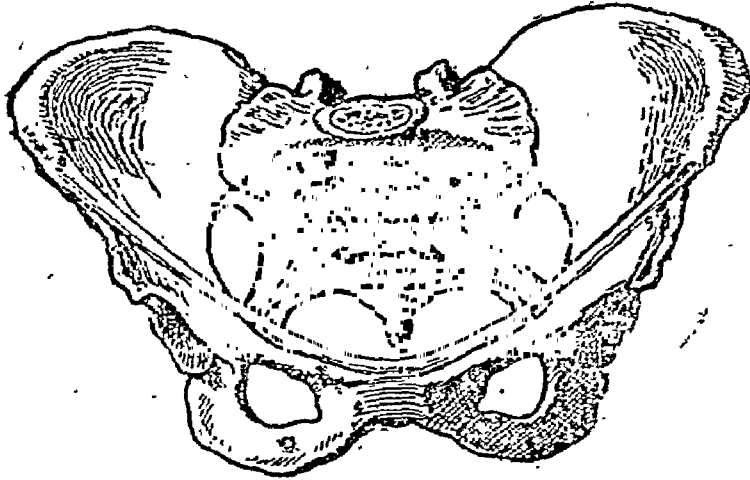
चित्र २—कंकाल–श्रोणि

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में भी श्रोण्यस्थियों की व्यवस्था ठीक इसी प्रकार की हुई है केवल संख्या का भेद है । इनके अनुसार श्रोणि में पाँच अस्थियाँ हैं इनमें गुद, भग, नितम्ब में चार और त्रिकाश्रित एक । पुरुषों में भगास्थि को मेढ्रास्थि कहते हैं । वास्तव में श्रोणिफलक में एक भगास्थि की विशेष कल्पना के कारण ही यह भेद आता है । आधुनिक गणना के अनुसार दोनों ओर के दो श्रोणिफलक

होते हैं। प्रत्येक श्रोणिफलक तीन अस्थियों के संयोग से बनता है। ये तीनों अस्थियाँ आपस में जुड़ी रहती हैं, इसलिये नव्य गणना में इनको एक समझते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह में नितम्ब की हड्डियाँ दो ही बतलाई गई हैं। चरक और काश्यप संहिता में भी दो ही बताई गई हैं; परन्तु भगास्थि उनसे पृथक् गिनी जाती है 'श्रोणिफलक' में दो और एक भगास्थि। इसीलिये प्राचीनों के अनुसार कुल संख्या पाँच हो जाती है। श्रोणिसन्धियाँ (goints of thepelvis)—आधुनिक ग्रन्थों के अनुसार श्रोणि में चार संधियों की विवेचना मिलती है :—

(१) दक्षिणत्रिक ज़घनसंधि (Right sacro iliac joints)
(२) वामत्रिक जघनसंधि (Left sacro iliac joints)
(३) भगसंधानिका (Sumphysis pubis)
(४) त्रिकानुत्रिक सन्धि (Sacro-coccygial joints.)

त्रिकजघन संधि—यह संधि त्रिकास्थि तथा जघन कपालास्थि (Ilium) के मध्य में आश्रित है। इसकी ऊपर सतह सौत्र तरुणास्थि (Fibro-Cartilage) से ढकी रहती है तथा दृढ़ स्नायु-बंधनों से बँधी रहती है। जोड़ के भीतरी भाग में श्लेष्मल पदार्थ (Synovial fluid) भरा रहता है। जिसकी वृद्धि से गर्भावस्था में बंधन ढीले पड़ जाते हैं और विस्तार में सहायता मिलती है। इस परिवर्त्तन का कारण रक्तसंचार की अधिकता मानी जाती है—क्योंकि इस काल (गर्भावस्था) में सम्पूर्ण श्रोणिचक्र में रक्तसंचार की वृद्धि हो जाती है। कुछ लोगों का मत है कि छोटे स्तनपायी जानवरों (Small mammals) में यह क्रिया प्रसवावस्था (Parturition) में होती है क्योंकि उस समय पोषणिका ग्रंथि के पूर्वभाग (Ant. pitutary) से एक प्रकारका अन्तःस्राव (Relaxin) उद्रेचित होता है जिसके परिणामस्वरूप यह क्रिया सम्पन्न होती है तथा न्यूनाधिक मात्रा में इसी क्रिया के फलस्वरूप गर्भिणी स्त्रियों में उक्त परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं। अगर्भा स्त्रियों में इस प्रकार की क्रिया नहीं देखी जाती, इनमें संचलन क्रिया केन्द्र (Centre of the movement of the joint) त्रिकास्थि के द्वितीय गात्र (Second body of the sacrum) के विरुद्ध दिशा में होता है। फलतः यह क्रिया त्रिकास्थि को भगसंधानिका के अनुकूल या प्रतिकूल ले जाती है और लघुश्रोणि

के प्रवेशद्वार और निर्गमद्वार को (Inlet and out let) यथाक्रम घटा या बढ़ा सकती है। निर्गमद्वार का आयाम बढ़ जाने से गर्भ के निर्हरण में सहायता मिलती है। यह क्रिया यदि पूर्णरूप से न सम्पन्न हो; तो माता को प्रसवावस्था में कटिशूल (कमर में दर्द) तथा त्रिक-जघन-कपाल-वेदना (Sacro-iliac crest) हुआ करती है।

भगसंधानिका—भगास्थियों (Pubis) के अन्तिम हिस्से (Ends) चौरस स्नायु तरुणास्थि पट्टों (Flat plates of fibro-Cartilage) से ढके रहते हैं—जो आपस में एक श्लेष्मल स्राव के द्वारा विभक्त होते हैं। बंधन चारों ओर से अस्थियों को आच्छादित कर उन्हें अपने स्वाभाविक स्थान पर स्थिर रखते हैं। तरुणास्थियोंके मध्य में अवकाश सदैव उपस्थित रहता है, जो गर्भावस्था में विस्तृत हो जाता है। स्वभावतः संधि की गति बहुत मन्द होती है; परन्तु कतिपय अवसरों पर बंधन इतने मृदु हो जाते हैं कि गति तीव्र हो जाती है और टहलने में कठिनाई तथा वेदना की प्रतीति होने लगती है।

त्रिकानुत्रिक संधि—स्वाभाविक रीति से यह संधि चारो ओर से बंधनों से घिरी रहती है, जो गर्भावस्था में मृदु हो जाती है, एवं प्रसवावस्था में अनुत्रिकास्थि पीछे की ओर गति करने में सहायक होती है। इस प्रकार अनुत्रिक के पीछे की ओर जाने से निर्गमद्वार का अवकाश एक इञ्च बढ़ जाता है।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में श्रोणि में तीन संधियों का उल्लेख मिलता है। यह विचार आधुनिक मतानुसार उपर्युक्त तीन संधियों से पूर्णतया साम्य रखता है। लिखा है—'कटिकपाल में तीन संधियाँ होती हैं।' सिर और कटि के कपाल में 'तुन्नसेवनी' (Suture joints) प्रकार की संधियां होती हैं। अंस, पीठ-गुद, भंग तथा नितम्ब में सामुद्र (Ball & Socket zoint)' प्रकार की संधियाँ होती हैं।'

स्नायु (Ligament)—संधिबंधनों के अतिरिक्त भी कुछ स्नायु श्रोणि भाग में पाये जाते हैं। ये स्नायु श्रोणिकंकाल की रचना में भाग लेते तथा विभिन्न अन्तरालों का पूरण करते हैं। उदाहरण के लिये—१. त्रिकपिण्डीय (Sacro-tubrous lig.), २. त्रिककण्टकीय (Sacrospinous lig.) ३. वंक्षणिक (Inguníal lig.) ४. गवाक्षकला (Obturator mem-brane)। इनमें पहले वाले दो यथास्थान स्थित रहकर पीछे से त्रिक और नितम्ब के अन्त-

राल का पूरण करते हैं और कुकुन्दरद्वार और गृध्रसीद्वार के बनाने में भाग लेते हैं। तीसरी स्नायुपूर्वोर्ध्वंकुट (Ant. sup. iliac Spine) से भगकूट (Pubic crest) तक तिरछे लगी रहती है, उस अंतराल का पूरण करती हुई वंक्षणदरी बनाती है जिससे होकर धमनी, सिरा, नाडी तथा पेशियां निकलती हैं। चौथी श्रोणिगवाक्ष (Obturator foramen) का आच्छादन करती है।

प्रसूतिविद्या के अध्ययन के लिये श्रोणि को दो भागों में विभाजित किया गया है। इन दोनों भागों की सीमारेखा श्रोणिकंठ (Brim of thepelvis) है। इस श्रोणिकंठिकारेखा (Brim) के ऊपर वाले भाग को मिथ्या श्रोणि या महत् श्रोणि (False pelvis) तथा नीचे वाले भाग को वास्तविक श्रोणि या लघु श्रोणि (True pelvis) कहते हैं।

महत् श्रोणि—श्रोणिकंठ के ऊपर वाला भाग है। यह दोनों जघनकपालों (Ilium) के मध्य में पाया जाने वाला हिस्सा है। जघनकपालास्थियों के पक्ष (Wings) जघनकपालीय पेशी (Iliacus Muscle) के द्वारा आच्छादित रहते हैं तथा गर्भ के लिये गद्दी का काम करते हैं एवं प्रसवावस्था में बालक के सिर को निर्गम द्वार की ओर अग्रसर होने में सहायता प्रदान करते हैं। महाश्रोणि की आकृति चोंगे (Funnel) जैसी होती है जिसके परिणाम स्वरूप बालक का सिर लघु-श्रोणि के प्रवेश द्वार की ओर प्रेरित होता है। वास्तव में श्रोणि के इस भाग का प्रसव कर्म (Mechanism of labour) में कोई भी हाथ नहीं रहता। इसका (महत् श्रोणि का) इतना ही महत्त्व है कि इसके कुछ भागों की मध्य की दूरी का मापन करके उसके द्वारा लघु श्रोणि के कई माप-परिमाणों (Measurments) का पता लगाया जा सकता है। साथ ही यदि यह स्वाभाविक से छोटी हुई तो संकोच की प्रकृति (Nature) का भी अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि इस प्रकार से प्राप्त सूचनायें अधिकतर विश्वसनीय (Accurate) नहीं होतीं।

लघुश्रोणि—इसके भीतर श्रोणिकंठ (Brim) तथा उसके नीचे पाये जाने वाला सम्पूर्ण श्रोणि का भाग आ जाता है। इस प्रकार लघु श्रोणि तीन भागों में बँट जाती है—१. श्रोणिकंठ (Brim) २. गुहा (Cavity) तथा निर्गमद्वार (Outlet)।

श्रोणिकंठ—यह सामने की ओर भगास्थि ऊपरी किनारे से, दोनों पार्श्वों (Sides) में जघनकंकतिका रेखा (Ilio Pectineal lines) से और पीछे की ओर त्रिकास्थि के पूर्व और ऊपरी किनारे (Anterior and upper margin of the sacrum) से बनता है।

गुहा—लघु श्रोणि की गुहा आकार में अनियमित होती है। सामने की ओर भगास्थि से, पीछे की त्रिकास्थि और अनुत्रिकास्थि से और दोनों पार्श्वों की ओर जघनास्थि (Ilium) तथा कुकुन्दरास्थि (Ischium) के अन्तः पृष्ठों से बनती है। स्वरूप में यह गह्वर लगभग गोल होता है। त्रिकास्थि के झुकाव के परिणाम स्वरूप गह्वर का पथ अधोभाग की ओर उत्तरोत्तर बदलता गया है। ऊपरी भाग नीचे तथा पीछे की ओर झुका है, त्रिकास्थि के द्वितीय गात्र (Second body) तक सीधा है; किन्तु वहाँ से यह आगे की ओर झुकना प्रारंभ कर निर्गमद्वार पर पहुँच कर पूर्णतया नीचे और अंशतः आगे की ओर हो जाता है।

निर्गमद्वार—यह स्वरूप में बहुत कुछ चतुर्भुजाकार (Diamond shaped) है। सामने की भगास्थि के अधः शृंग (Inferior ramii of the Pubis) तथा कुकुन्दरास्थि के द्वारा, पीछे की ओर अनुत्रिकास्थि के अग्र तथा त्रिकपिण्डीय स्नायु (Sacrotubrous lig.) से; और पार्श्वों में कुकुन्दर पिण्डों (Tuberosity of the Ischium) से निर्मित है।

श्रोणि के समतल क्षेत्र तथा संकट क्षेत्र

(Planes and straits of the Pelvis)

लघु श्रोणि को कई काल्पनिक सम क्षेत्रों में विभाजित कर सकते हैं। इनमें से दो को श्रोणिकंठ के सम क्षेत्र (Plane of the brim) और निर्गम द्वार का समक्षेत्र कहते हैं। ये क्षेत्र पूर्णतया गणित के समक्षेत्र के तुल्य नहीं होते इसलिये ऊर्ध्व और अधः संकट मार्ग (Straits) के नाम से अभिहित होते हैं। ऊपर से नीचे तक ये चारों क्षेत्र निम्नलिखित क्रम से बनते हैं:—
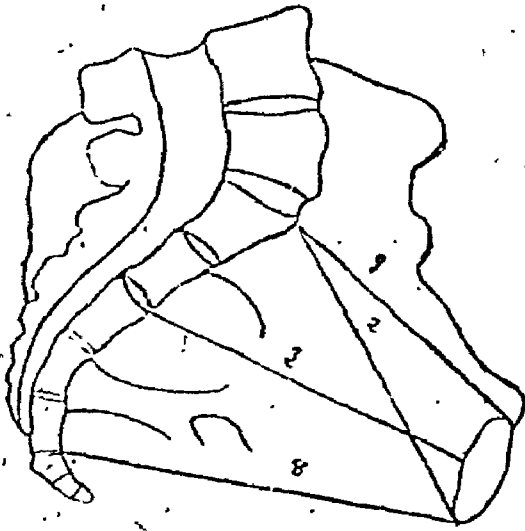
चित्र ३—श्रोणि के प्रमुख तल
१. प्रवेशद्वार तल। २. कर्णीयानुरूप।
३. महत्तम श्रोणि प्रमाण तल।
४. लघुतम श्रोणि प्रमाण तल।

१. श्रोणिकंठ के सम क्षेत्र या श्रोणि का प्रवेश द्वार या ऊर्ध्व संकट क्षेत्र (Straits)

२. गह्वर सम क्षेत्र या गुहा सम क्षेत्र अथवा अधिकतम विस्तार का क्षेत्र (Plane of greatest pelvic Dimesnion)

३. न्यूनतम विस्तार का सम क्षेत्र (Least dimension)

४. निर्गमद्वार का समक्षेत्र या अधःसंकट क्षेत्र (Strait)

श्रोणिकण्ठ सम क्षेत्र—(Plane of the Brim)—यह क्षेत्र पीछे की ओर त्रिकोत्सेध (Sacral promontory) से पार्श्वों में जघनकंकतिका रेखा से, सामने की भग के शृंगों के (Ramii) ऊपरी किनारे से तथा भगसंधानिका के गात्र से सीमित रहता है।

गह्वर सम क्षेत्र—(Plane of the Cavity)—यह अधिकतम विस्तार का क्षेत्र होता है—जो आगे की ओर भगास्थियों का गात्रमध्य (Middle of the body) और भगसंधानिका से, पीछे की ओर द्वितीय और तृतीय त्रिकास्थि के संधि (junction) से घिरा होता है और पार्श्व में कुकुन्दरास्थियों में होते हुए जघनखात (Acetabula) के मध्य धरातल (Middle level) तक पहुँचता है। **न्यूनतम विस्तार का समक्षेत्र** (Plane of the least dimension)—यह क्षेत्र भगसंधानिका के निचले किनारे से होता हुआ त्रिकास्थि के अग्र या त्रिकानुत्रिकसंधि तक पहुंचता है। इसके पार्श्व की सीमा रेखा कुकुन्दरकंटक (Ischial spine) बनाता है।

निर्गम द्वार समक्षेत्र—(Plane of the outlet)—यह क्षेत्र आगे

की ओर भगास्थि चाप (Pubic arch) के निचले किनारे से पीछे की ओर अनुत्रिकास्थि से और पार्श्व में त्रिकपिण्डीय स्नायु (Sacro tuberous lig.) तथा कुकुन्दर पिण्डों (Ischial tuberosities) से सीमित है।

यह क्षेत्र अनुत्रिकास्थि की गति के कारण इतना परिवर्त्तनशील है, कि केवल कुकुन्दरपिण्डों की दूरी का माप (व्यास) ही केवल महत्त्व का होता है। प्रसवकाल में दोनों पिण्डों की दूरी बहुत अल्प बढ़ती है।

प्रसूतिशास्त्र में श्रोणि कण्ठ के समक्षेत्र का प्रथम महत्त्व का स्थान है। दूसरा महत्त्व न्यूनतम विस्तार के समक्षेत्र का होता है; क्योंकि इसी सतह पर सामान्य संकुचित श्रोणि (Generally contracted pelvis) में प्रसवकाल में अवरोध उपस्थित होता है। कुकुन्दर कंटकों के बीच के व्यास का मापना कठिन और कष्टप्रद होता है, परन्तु त्रिकानुत्रिक संधि से लेकर भगास्थि के निचले किनारे का माप व्यावहारिक मूल्य रखता है। इसके साथ ही यदि कुकुन्दरपिण्डों के अन्तः किनारों (Inner margin) की दूरी भी नाप ली जाय तो प्राप्त होने वाले अवकाश का ठीक अनुमान लग जाता है।

श्रोणिमापन या प्रमाण—इसके लिये आगामी गर्भिणीप्रकरण का चौदहवाँ अध्याय श्रोणि-मापन देखें।

मांसल-श्रोणि

शरीर के पेशी आदि मृदु भाग कंकाल-श्रोणि (Bony pelvis) भीतर पाये जाने वाले अवकाश को कम कर देते हैं और अपने स्थान पर स्थित रहते हुए निम्नलिखित की भाँति श्रोणितल भूमि (Pelvic floor) बनाते हैं। श्रोणिगत अवकाश का बहुत सा भाग मृदु पेशियों के द्वारा अधिकृत कर लिया जाता है। श्रोणिकण्ठ के समीप लगी हुई कटिलम्बिनी पेशियाँ (Psoas muscles) से प्रवेश द्वार का अनुप्रस्थ व्यास छोटा हो जाता है। गुहा के पश्चिम तथा पार्श्व भागों में शुण्डिका (Pyriformis) तथा श्रोणि गवाक्षिणी अन्तःस्था (Obturator internus) पेशियां अधिकार जमाये रहती हैं। साथ ही मलाशय, मूत्राशय की उपस्थिति तथा गर्भाशय की मुटाई भी सामूहिक रूप में मिलकर गुहा के विस्तार को कम कर देते हैं।

श्रोणितलभूमि—निर्गमद्वार को आच्छादित करनेवाली रचना को श्रोणितल भूमि (Pelvic floor) कहते हैं। इसमें निम्नलिखित अवयव भीतर से बाहर की ओर मिलते हैं:—

१. उदरावरण या उदर्याकला (Peritoneum)

२. उदर्याकलास्थित बाह्यमेदोराशि (Extra peritoneal fatty tissues)

३. श्रोणिगुहान्तरीया कला (Fascia of pelvis)

४. पायुधारिणी अनुत्रिकिणी पेशियाँ (Levator anii & coccygeal muscles)
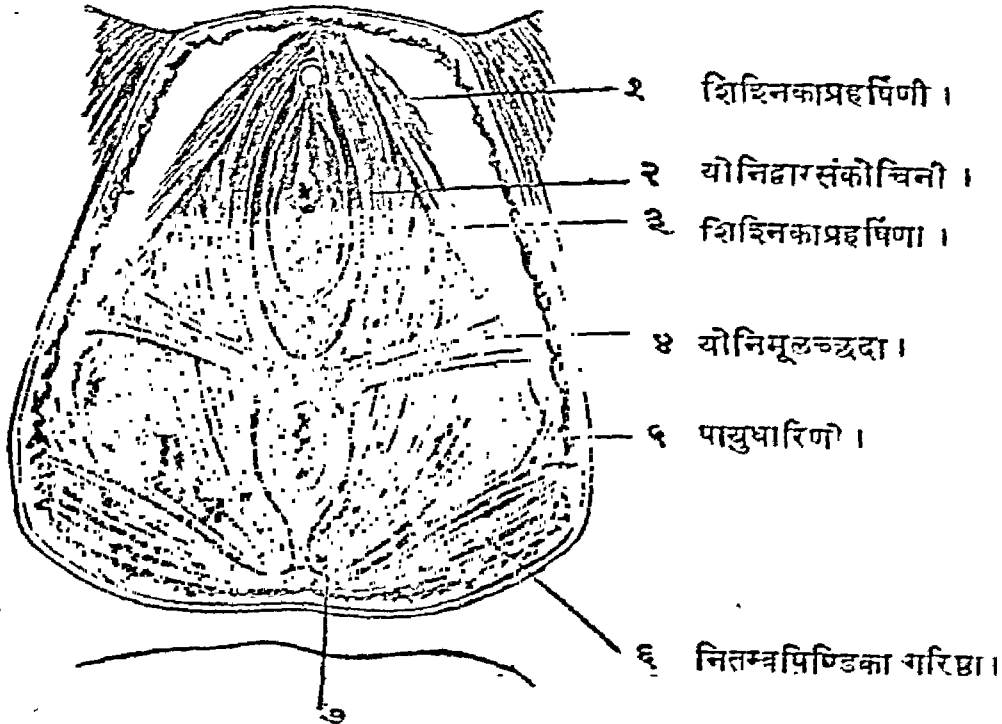
चित्र ४—मांसल-श्रोणि

५. पायुधारिणी पेशी के अधःपृष्ठ की आच्छादनी कला (Fascia coveringlower surface of levatores)

६. मूलाधार श्लेष्मककला (Perineal membrane)

७. भगशिश्निका के दोनों अंग भगालिन्द तथा अहर्षपिण्डिकायें (Cruro of clitoris and bub of vestibule)

८. मूलाधार की उत्तान पेशियाँ (Superficial perineal muscles)

९. मूलाधार की उत्तान कलाका श्लेष्मलस्तर (Membranous layer) of superficial fascia of perineum)

१०. मेदोधरा कला (Fatty layer of superficial fascia in cluding ischio-rectal pad) ११. त्वचा (Skin)

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में श्रोणितलभूमि का बहुत स्थूल वर्णन मिलता है। प्राचीन आचार्यों के अनुसार 'अपत्यपथ' में चार पेशियाँ होती हैं। इनमें दो भीतर की ओर और दो बाहर की ओर मुख पर आश्रित होती हैं। गर्भछिद्र पर तीन और शुक्र और आर्त्तव को प्रवेश कराने वाली तीन पेशियाँ होती हैं। पित्ताशय और पक्वाशय के बीच गर्भशय्या होती है जिसमें गर्भ अवस्थान करता है।'

प्राचीन काल में ये दस पेशियाँ कौन सी थीं इसका निर्णय कठिन है। अपत्यपथ (योनिमार्ग) के प्राचीर में मांसपेशियां के दो स्तर होते हैं तथा इनके ऊपर श्लेष्मलकला का आवरण रहता है। योनि के बाह्यद्वार पर गोल मांसतन्तुवों का घेरा रहता है इसको योनिसंकोचनी (Sphinctor vaginae) कहते हैं—ये संख्या में दो होती हैं। इस प्रकार योनि के दोनों तरफ के दीवाल की दो पेशियाँ और द्वार की दो मिलकर चार हो जाती हैं। गर्भछिद्र से गर्भाशय को पेशी मान ली जाय; तो गर्भाशय वास्तव में एक पेशी ही है उसमें तीन तहें होती हैं। बाह्य, मध्य और आभ्यन्तरीय। तनिक परिश्रम करने से ही ये तहें स्पष्ट मालूम होती हैं। शुक्र-आर्त्तवप्रवेशिनी से बीजवाहिनी का बोध होता है (Uterine tubes) इसमें गर्भाशय के समान ही तीन तहें होती हैं।

श्रोण्यक्ष—(Axis of pelvis)—उपर्युक्त विभिन्न तलों के लम्ब विन्दु के संयोग से निर्मित यह एक काल्पनिक वक्र रेखा है जिससे होकर भ्रूण-सिर प्रसवावस्था में अपनी यात्रा सम्पादित करता है।

आधार तथा प्रमाण संचय

श्रोण्यस्थीनि—(१) श्रोण्यां पञ्च, गुदभगनितम्बेषु चत्वारि। (सु० शा० ५)। (२) द्वे श्रोणिफलके एवं भगास्थि पुंसां मेढ्रास्थि एकत्रिकसंश्रितमेकं गुदास्थि। (च० शा० ७)।

श्रोणिसंधयः—(१) त्रयः कटिकपालेषु। (२) अंसपीठगुदभगनितम्बेषु सामुद्गाः। (३) शिरःकटिकपालेषु तुन्नसेवन्यः (सु० शा० ५)

श्रोणितलभूमिः—(१) अपत्यपथे चतस्रः, तासां प्रष्ठतेऽभ्यन्तरतो द्वे, मुखाश्रिते बाह्ये च वृत्ते द्वे। (२) गर्भच्छिद्रसंश्रिताः तिस्रः, शुक्रार्त्तवप्रवेशिन्यस्तिस्र एव। पित्त-पक्वाशययोर्मध्ये गर्भशय्या यत्र गर्भस्तिष्ठति। (सु. शा. ५)

(Midwifery—By ten teacher and R. W. Johustone)

(अभिनव प्रसूतितन्त्र दा० श० गौड कृत)।

द्वितीय अध्याय

वहिर्जननेन्द्रियाँ

(External Genitals)

वे वाह्य उत्पादक अंग जो वाहर से दृष्टिगोचर होते हैं, इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं ये निम्न लिखित हैं:—

(१) भगपीठ (Mons pubis)
(२) वृहद्भगोष्ठ (Labia Majora)
(३) लघु भगोष्ठ (Labia Minora)
(४) भगालिन्द (Vestibule)
(५) भगशिश्निका (Clitoris)
(६) मूत्रप्रसेकद्वार (Fxternal orifice of the urethra)
(७) वृहद्भगालिन्दीय ग्रन्थियाँ (Greater Vestibular Glands)
(८) प्रहर्षपिण्डिकाएँ (Vestibular bulbs)
(९) योनिद्वार (Vaginal Orifice)

(१०) योनिच्छदा कला (Hymen)

(११) मूलपीठ (Perineum)

(१२) मूलपिण्डिका (Perineal Body)
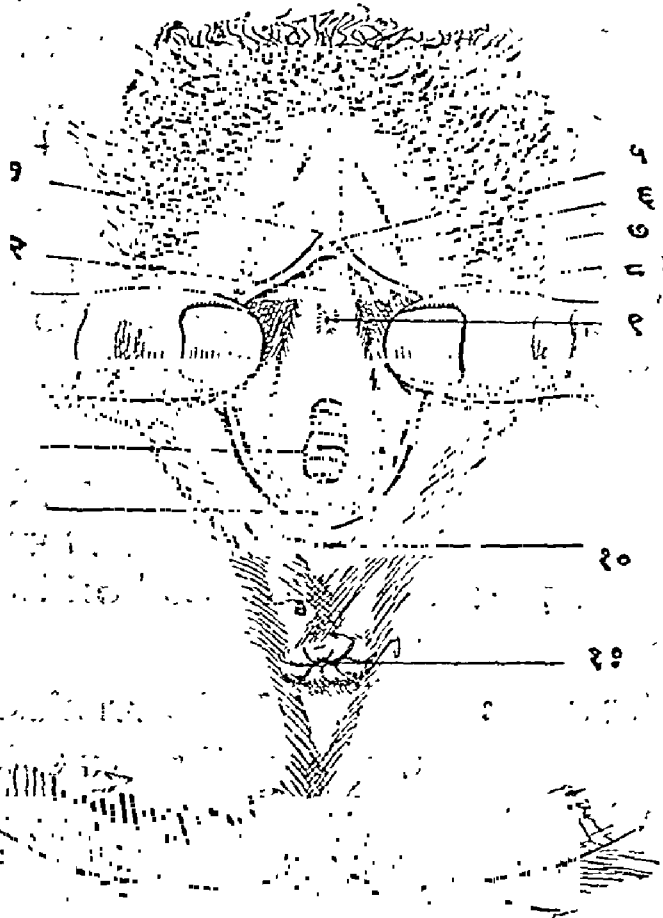
चित्र ५—बाह्यजननेन्द्रियाँ

१. शिश्निकाच्छद 	२. भगालिन्द 	३. योनिद्वार
४. भगालिन्द-खात 	५. शिश्निकागण्ड 	६. शिश्निका-प्रबन्ध
७. बृहद् भगोष्ठ 	८. लघु भगोष्ठ 	९. मूत्रप्रसेकद्वार
१०. पश्चिम संधान 	११. गुद

(१) **भगपीठः**—यह भगसन्धि (Symphysis) के सामने का भाग है। इसके अन्दर वसा गद्दी के रूप में एकत्रित रहती है एवं युवावस्था में यह स्थान घुँघराले रोमों से परिपूर्ण हो जाता है।

(२) **बृहद् भगोष्ठः**—पुरुषों में इसी स्थान पर वृषणकोष रहता है। यह बाहर की ओर लोमों से आच्छादित रहता है तथा भीतरी भाग चिकना, कोमल एवं लोमरहित होता है—इसका पश्चिमी प्रान्त वसा में विलीन हो जाता है एवं ये त्वचा के दो विभिन्न तहों के रूप में प्रतीत होने लगते हैं और पश्चिम सन्धान (Posterior Commissure) पर परस्पर मिल जाते हैं।

(३) **लघु भगोष्ठः**—यह दोनों बृहद् भगोष्ठ के बीच का भाग है। कुमारी स्त्रियों में इसको हटाने के बाद ही त्रिकोणाकार, चिकनी तथा स्निग्ध त्वचा की तह दृष्टिगोचर होती है। सामने की ओर ये शिश्निकाच्छद (Prepuse of clitoris) के रूप में मिल जाते हैं पीछे की ओर ये एक सुन्दर तहों के द्वारा मिले रहते हैं जिसे भगाञ्जलिका (Frenulem labiorum) कहते हैं। ये लोमरहित तथा स्वेदग्रंथियों से परिपूरित होते हैं एवं वातनाड़ियों की अधिकता के परिणामस्वरूप अत्यन्त प्रहर्षणशील होते हैं।

(४) **भगालिन्दः**—यह बादाम के स्वरूप का मृदु क्षेत्र है जो दोनों पार्श्वों में लघु भगोष्ठ से घिरा रहता है। इसके अग्रभाग पर भगशिश्निका एवं केन्द्र में मूत्रप्रसेकद्वार तथा योनिद्वार (External orifice of urethra & vaginal orifice) होते हैं।

(५) **भगशिश्निकाः**—यह पुरुषों के शिश्नका प्रतिनिधिस्वरूप होता है, यह अत्यन्त प्रहर्षणशील होता है तथा रतिकाल में अत्यन्त उत्तेजित होता है।

(६) **मूत्रप्रसेकद्वारः**—यह भगालिन्द के मध्य रेखा पर योनिद्वार के सम्मुख एवं भगशिश्निका के नीचे होता है।

(७) **योनिद्वारिक ग्रन्थियाँः**—ये दो की संख्या में होती हैं तथा योनिद्वार के पार्श्व में तथा योनिच्छदा कला के ठीक नीचे छोटी-छोटी नलिकाओं के द्वारा खुलती हैं।

(८) **प्रहर्षपिण्डिकाएँः**—पिण्डिका शुषिर-मांसपेशी से आच्छादित योनिद्वार के पार्श्व में स्थित जलौकाकृतिवत् दो शिरा समूह हैं—प्रत्येक एक इञ्च लम्बे होते हैं।

(९) **योनिद्वारः**—यह मूत्रप्रसेकद्वार के ठीक पश्चिम भाग में होता है।

पश्चिम एवं पार्श्व की ओर योनिच्छदाकला से घिरा होता। कुमारियों में यह न्यूनाधिक मात्रा में योनिच्छदाकला के द्वारा आच्छादित रहता है लेकिन प्रसूता स्त्रियों में यह विच्छिन्न हो जाता है।

(१०) **योनिच्छदा कला:**—यह संयोजक तन्तुओं से निर्मित एक चन्द्राकार तह होती है। यह कुमारी स्त्रियों में योनिद्वार को आच्छादित किये रहती है परन्तु प्रथम समागम में ही विच्छिन्न हो जाती है तथा उस समय एक स्राव भी हो सकता है।

(११) **मूलपीठ:**—यद्यपि यह एक त्वचा का क्षेत्र है जो भग एवं गुदा के पश्चिम किनारों के मध्यस्थित है किन्तु प्रायः मूलपीठ का अभिप्राय मूलपिण्डिका से लेते हैं।

तृतीय अध्याय

अन्तर्जननेन्द्रियाँ

(Internal Genital Organs)

प्रजनन से सम्बद्ध बाह्य अंगों का वर्णन हो चुका है। अब भीतरी अंगों का वर्णन इस अध्याय में किया जावेगा। भीतरी जननाङ्गों में चार ही अवयव आते हैं—

(१) योनि (Vagina) (३) बीजवह स्रोत (Uterine tube)

(२) गर्भाशय (Uterus) (४) बीज-ग्रन्थि (Ovury)

योनि—इसका स्वरूप एक नलिका के समान है, जो भग तथा गर्भाशय का संयोजन करती है। इसकी पूर्व भित्ति २–३ इञ्च लम्बी होती है ग्रीवा के अधोमध्य तृतीयांश से सम्बन्धित रहती है एवं पश्चिम भित्ति ३–४ इञ्च लम्बी होती तथा ग्रीवा से उसके मध्योर्ध्व तृतीयांश के संधिस्थल पर मिलती है। पूर्वभाग मूत्र-प्रसेक (Urethra) तथा मूत्राशय के आधार (Base of Bladdor) से एवं पश्चिम भाग मूल पिण्डिका (Perineal body), मलाशय तथा योनि-गुदान्तरीय (Pouch of Douglas) से सम्बन्धित है। दोनों पार्श्वों में पायुधारिणी

(Levator ani) नामक दो पेशियाँ रहती हैं। नलिका का ऊर्ध्वभाग चार कोणों में विभाजित किया गया है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण (दाहिना) तथा वाम (बायां)। इनमें पूर्व कोण उत्तानतम और पश्चिम गम्भीरतम होता है एवं बायें तथा दाहिने वाले दोनों पार्श्वकोण नातिगम्भीर होते हैं क्योंकि वे जैसे-जैसे आगे बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे कम होते जाते हैं।

रचना—योनि में चार स्तर होते हैं—

अन्तस्तर (Inner mucous coat)—इस भाग का दूसरा नाम कलामय स्तर है। इसमें बहुत सी अनुप्रस्थ वलियाँ या रेखायें (Rugae) मिलती हैं। गह्वर अन्तस्तरों (Stratified epithelium) से परिपूर्ण त्वचा द्वारा आच्छादित रहता है। इसका ऊपरी आवरण चौरस तथा आभ्यन्तरीय आवरण घनाकार होता है। पूरी त्वचा अनुप्रस्थ झुर्रियों के रूप में रहती है, अजाता स्त्रियों में ये झुर्रियाँ विलीन हो जाती हैं यहाँ पर ग्रंथियों का अभाव रहता है। इसका स्राव अन्तः कोषाणुयुक्त लसीका के रूप का होता है। इस स्राव की प्रतिक्रिया अम्ल होती है, क्योंकि अंतःकोषाणुगत शर्करेय (Glycogen in the Epithelial cells) के ऊपर जीवाणुओं का कार्य होकर दध्यम्ल (Lactic acic) की उत्पत्ति होती है। इस भाग के मध्य रेखा में आगे और पीछे की ओर दो अनुदैर्घ्य (Longitudinal) वलियाँ भी मिलती हैं। जिन्हें योनिस्तंभिका या वलिस्तंभिका (Columns of vagina) कहते हैं।

उपान्तस्तर (Submucous coat)—यह अन्तस्तर का बाह्य आवरण है जो संयोजक तन्तुओं से निर्मित होता है। इसमें बहुत सी रक्त-प्रणालियाँ फैली मिलती हैं। यह पूर्णरूपेण स्वतन्त्र रक्तवाहिनियों से पोषित होता है। इस भाग की क्रिया के अनुसार दूसरा नाम हर्षणतन्तु (Erectile tissues) दिया गया है।

मध्यस्तर—(Muscular layer) इस भाग का अन्तःभाग वृत्ताकार एवं बाह्य भाग अनुदीर्घ स्वतन्त्र (Involuntary) पेशीसूत्रों से बना रहता है। योनिद्वार के निकट योनिद्वारसंकोचनी तथा मूत्रद्वारसंकोचनी पेशियों के सूत्र इस स्तर को और मजबूत बना देते हैं।

बहिस्तर (Outermost layer)—यह स्तर सौत्रिक तन्तुओं का बना

ता है और वातिकनाड़ियों तथा रक्तप्रणालियों को आश्रयभूत रहता है। सराजाल भी विशेषतः इनके पार्श्वों में पाये जाते हैं।

रक्तसंवहन—योनि का पोषण क्रमशः ऊपर से नीचे तक निम्नलिखित धमनियों से होता है—

१. अनुगर्भाशयाधमनी के योनि को जाने वाली शाखा (Vaginal branch ofthe uterine Artery)—इसके द्वारा योनि के ऊर्ध्व तृतीयांश का पोषण होता है।

२. अनुयोनिका धमनी (Vaginal or Inferior Vesical artery) इसके द्वारा मध्य तृतीयांश का पोषण होता है।

३. मध्यमा गुदान्तिका धमनी (Middle rectal artery)-इसके द्वारा अधःतृतीयांश का पोषण तथा जघनान्तरीया (Internal Iliac vein) द्वारा योनि का अशुद्ध रक्त निकलता है।

लसीकावाहिनियां—अधोभाग की लसीकावाहिनियां सामान्य जघन ग्रन्थि (Common Iliacgland) में खुलती हैं; किन्तु इनमें से कुछ भग की लसीकावाहिनियों से जा मिलती हैं। ऊर्ध्व भाग की लसीकावाहिनियां अन्तः एवं वाह्य जघनकपालीय ग्रन्थियों (Ext. or Int. Iliac glands) में खुलती हैं।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में भी योनि शारीर का वर्णन मिलता है, 'योनि शङ्खनाभि की आकृति की होती है, उसमें तीन आवर्त्त (Folds) होते हैं और इसके तीसरे आवर्त्त में गर्भशय्या (Uterus) प्रतिष्ठित है'। शङ्ख की नाभि के सदृश कहने का तात्पर्य यह है कि यह जहां से शुरू होती है वहां पर संवृत (Constricted) होती है मध्य में विवृत (Dilated) और पुनः गर्भाशय के समीप पहुँच कर सँकरी (Narrowed) हो जाती है। योनि में जो आवर्त्त वतलाये गये हैं—यद्यपि ये आवर्त्त योनि की रचना में स्पष्ट नहीं दिखलाई पड़ते, परन्तु अन्तस्तर पर कई गोल झुर्रियों के रूप में अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

गर्भाशयः—यह शरीर का सुषिर एवं पेशीय अवयव मूत्राशय के पीछे और मलाशय के आगे अर्थात् दोनों के मध्य में स्थित रहता है। आकार में यह त्रिकोणाकार और कुछ चिपटा सा रहता है। यह चिपटापन पूर्वीय सतह (Anterior Surface) पर अधिक होता है। यह सामने की ओर विवर्त्तित किञ्चित् झुकी हुई (Antiverted and antiflexed) स्थिति में रहता है। यह कुछ घुमा हुआ भी रहता है जिससे कि इसका वायां किनारा (Edge) कटि के पूर्व भाग के

अधिक नजदीक रहता है जब कि दाहिना किनारा इतना नजदीक नहीं रहता।
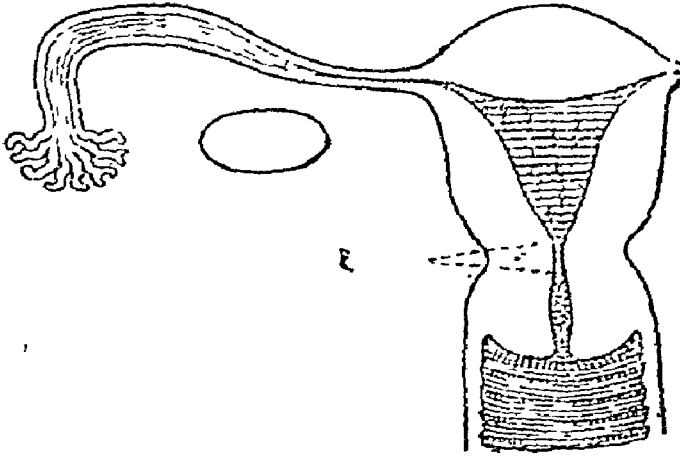
चित्र ६

'१. ग्रीवान्तर्मुख। बीजवाहिनी का पुष्पित प्रान्त, बीजग्रन्थि, बीजवाहिनी का द्वार, गात्रगुहा, गर्भाशयप्राचीर, ग्रीवासरणि, ग्रीवाबहिर्मुख।

वर्णन सौकर्य के लिए गर्भाशय को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१. गर्भाशय मुख (Os uteri) २. ग्रीवा (Cervix or neck)
३. गात्र (Body or corpus)

गर्भाशय मुख—यह भाग योनिशिखर में होता है। इसके बीच में जो छिद्र होता है वह बाह्य गर्भ द्वार (External os) कहलाता है और उसी में से मासिक स्राव बाहर आता है तथा शुक्राणु भीतर प्रवेश करता है। यही द्वार मासिक धर्म के समय तथा उसके पश्चात् कुछ दिनों तक अस्वाभाविक दशा में रहता है, जिससे शुक्राणु भीतर नहीं जा सकते और गर्भधारणा नहीं होती। सन्ततिनियमन की दृष्टि से यह काल अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कुछ स्त्रियों में यह द्वार जन्म से या पश्चात् व्रणवस्तु की उत्पत्ति से सदा के लिए अत्यन्त संकुचित हो जाता है, ऐसी अवस्था में मासिक धर्म के समय आर्तव बाहर निकलने में बहुत कठिनाई होती है।

ग्रीवा—गर्भाशयमुख और शरीर के मध्य का यह भाग आकार में (Cylindrical) बेलन के आकार का होता है। इसके भीतर का मार्ग ग्रीवासरणी कहलाता है और स्वरूप में शकरकन्द के समान अर्थात् मध्य में कुछ विस्तृत होता है। ग्रीवा का कुछ भाग योनि के शिखर में आगे की ओर

निकला हुआ रहता है। जो कि योनिपरीक्षा में अङ्गुलि द्वारा स्पर्श किया जा सकता है या योनिवीक्षण यन्त्र द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

गात्र—यह वह भाग है जिसमें गर्भ का अवस्थान होता है। सुविधा की दृष्टि से यह भी कई भागों में विभक्त किया गया है। गात्र का ऊपरी भाग जिसमें नलिकाएँ आकर खुलती हैं गर्भाशय स्कन्ध (Fundus) कहलाता है गर्भ की अपरा इसी में लगी रहती है। गात्र और ग्रीवा के बीच में नलिका के समान सङ्कुचित भाग को योजनिकाभाग (Isthmus) कहते हैं। गर्भावस्था के अन्तिम काल में जब यह स्थान अपनी स्थिति को बदल देता है और किञ्चित् विस्तीर्ण हो जाता है तब यह अधोगर्भशय्या (Lower segment of uterus) कहलाता है।

ग्रीवा का ऊर्ध्व भाग जहां यह गात्र में समाविष्ट होता है किञ्चित् सङ्कुचित हो जाता है। इसी को अन्तर्द्वार (Internal os) कहते हैं।

चित्र ७
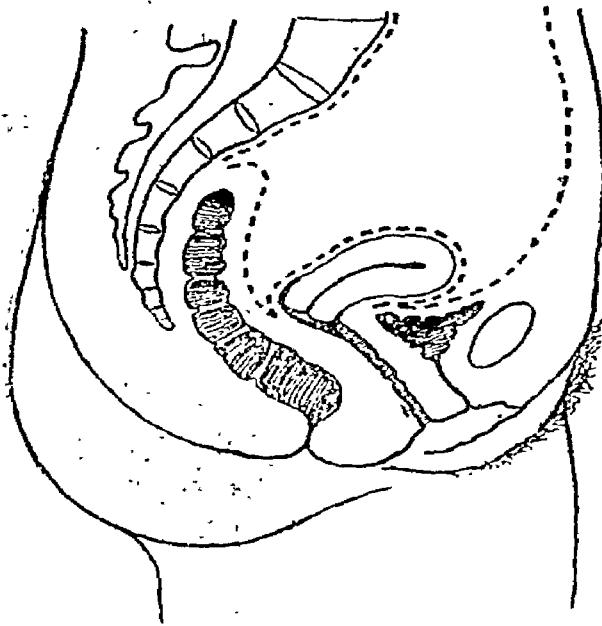
श्रोणिगुहा में गर्भाशय सीधा न खड़ा होकर आगे मूत्राशय की ओर कुछ झुका रहता है, जब यह झुकाव ग्रीवा और शरीर के संयोग पर होता है तब स्वस्थावस्थामें भी मलाशय और मूत्राशय की पूर्णता या रिक्तता के अनुसार झुकाव में अन्तर पड़ता है। जब मलाशय पूर्ण और मूत्राशय रिक्त रहता है तो गर्भाशय अधिक झुक कर मूत्राशय के ऊपर आ जाता है; परन्तु जब मूत्राशय पूर्ण एवं मलाशय रिक्त होता है तो गर्भाशय का आगे का झुकाव नष्ट हो कर सीधा खड़ा हो जाता है और कभी २ पीछे त्रिक की ओर भी झुक जाता है। इस प्रकार गर्भाशय कुछ चल होने पर भी आठ बन्धनों से अपने स्थान पर बहुत कुछ स्थिर रहता है। जब ये बन्धन कमजोर होकर

ढीले और लम्बे हो जाते हैं तब गर्भाशय अपने स्थान से हट जाता है । इस विकृति को गर्भाशयभ्रंश (Displacement of the uterus) कहते हैं ।

गर्भाशय का अन्तर्भाग एक सुपिर गुहा मात्र है । यह गुहा आकार में त्रिकोण होती है । गर्भाशय स्कन्ध पर इसकी चौड़ाई १ इञ्च और लम्बाई १½ इञ्च होती है । ग्रीवा गुहा की लम्बाई १ इञ्च होती है इस प्रकार पूर्ण गर्भ की लम्बाई २½ होती है ।

एक कुमारी के गर्भाशय का वाह्य प्रभाव निम्न लिखित वतलाया जाता है ।

लम्बाई　२ इञ्च,　ग्रीवा　१ इञ्च,　गात्र　२ इञ्च ।

चौड़ाई　२ इञ्च (दोनों बीजवाहिनियों के मध्य भाग)

मोटाई　१ इञ्च (Isthmus के पास)

भार　१½ औंस ।　　श्लैष्मिकावृत्ति

चित्र ८

आन्तरिक रचनाः—भित्ति की आन्तरिक रचना वर्णन में सुविधा के लिए तीन भागों में विभक्त की जाती है।
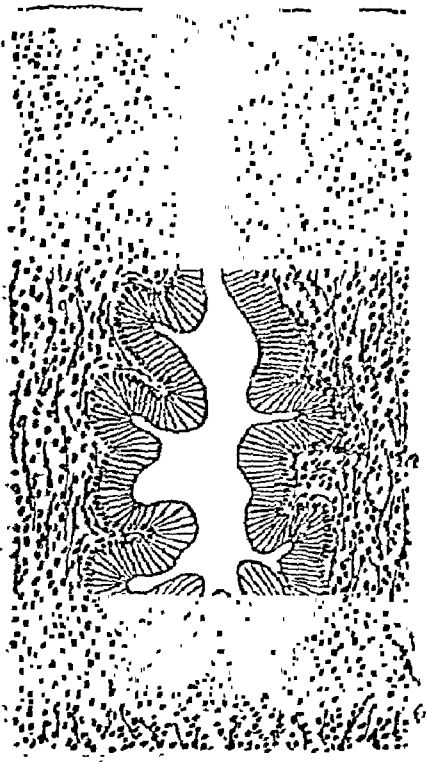
चित्र ९

(१) परिवेष्टिकावृत्ति Perimetrium or peritonial coat.

(२) पैशिकावृत्ति Myometrium or mascular coat.

(३) श्लैष्मिकावृत्ति Endo metrium or mucous coat.

१. परिवेष्टिकावृत्ति – यह उदर्याकला का वाह्यतम आवरण है इस लिए इसका चपटे कोपाणुओं के अन्तःस्तरीय (Endothelial) तन्तुओं से निर्माण हुआ है। यदि उदर के पूर्व एवं नीचे (Anterior and lower or the abdomen) की ओर से कला को देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि यह मूत्राशय की ऊपरी सतह से होती हुई पश्चिम भाग को आवृत करती हुई पीछे की ओर जाती है तथा गर्भाशय की पूर्व भित्ति को आच्छादित करती है। वस्ति से गर्भाशय पर चढ़ती हुई यह कला एक अन्तरीय का निर्माण करती है। जिसे वस्ति गर्भाशयान्तरीय स्थालीपुट (Utero-vesical pouch) कहते हैं। उसी प्रकार पुनः गर्भाशय की पूर्व भित्ति से ऊर्ध्व एवं पश्चिम भित्ति को ग्रीवा तथा योनि के सन्धिस्थल तक आवेष्टित करती है एवं वहाँ से पुनः मलाशय की भित्ति पर चढ़ जाती है और इस प्रकार द्वितीयान्तरीय का निर्माण करती है। जिसे योनि गुदान्तरीय या गुद गर्भाशयान्तरीय स्थालीपुट (Rectovaginal or recto uterine pouch) की संज्ञा प्रदान करते हैं। परिणामतः योनिनलिका के ऊर्ध्व स्थित ग्रीवा के पूर्वभाग (Supra vagnial part of cervix in front) तथा योनिस्थ ग्रीवा भाग (Vaginal portion of

cervix) को छोड़कर सारा गर्भाशय उदर्या कला से आवृत रहता है।

२. पैशिकावृत्ति—अधिकांशतः गर्भाशय भित्ति की स्थूलता इसी के द्वारा निर्मित होती है। यह आकृति मांसपेशी, संयोजक तन्तु, लचकीले तन्तु–रक्तवाहिनी, लसवाहिनी एवं नाडियों के संमिश्रण से वनती है। अगर्भावस्था में पेशीसूत्र प्रत्येक दिशाओं में यत्र तत्र गमन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। अस्तु, इनकी व्यवस्था कुछ अस्पष्ट सी रहती है पर गर्भावस्था में ये स्पष्ट हो जाते हैं।

३. श्लैष्मिका वृत्ति—यह तीन भिन्न-भिन्न भागों के संयोग से निर्मित हैं।

(१) अपिस्तर (Epithilium), (२) ग्रन्थियाँ (Glands)

(३) अन्तःकणदाररचना (Inter granular stroma)

१. अपिस्तर—इसमें केवल एक स्तर गम्भीर स्तम्भाकार लोमश कोपाणुवों (Deep columner epilithilium) का वना हुआ होता है। जो कि चपटी रचना के कोषाणुवों (Flattened stormecells) के वहुत पतले अधस्तम्भ (Baselment membrane) के ऊपर स्थित रहते हैं। देखने में यह कला गुलावी रंग की दिखलाई पड़ती है तथा केवल साधारण दर्पण के द्वारा भी असंख्य छोटे छोटे रोमकूप दिखलायी देते हैं। जो कि गर्भाशयीय ग्रन्थियों के मुख होते हैं। इसमें पाये जाने वाले लोमांकुर गर्भाशयस्कन्ध से ग्रीवा की ओर चलते हैं।

२. ग्रन्थियाँ—ये नलिकाकार होती हैं तथा आपिस्तर को अवेष्टित करती हैं। ग्रन्थि के गम्भीर भाग में लोमांकुर नहीं पाये जाते। ये ग्रन्थियाँ अधिकाधिक संख्या में पायी जाती हैं। इनमें से कुछ श्लैष्मिकावरण की मोटाई पर गमन करती है तथा कुछ पेशिकावृत्ति में ही रह जाती है। यत्र तत्र ये आभ्यन्तरीयान्त (Deep end) में विभाजित होते हैं तथा दो ग्रन्थियाँ एक मुख के द्वारा खुलती हैं किन्तु प्रायः वे साधारण नलिका सदृश ही विद्यमान रहती हैं। इनका रुख सम-कोण या तिर्यक् दिशा में रहता है। ये एक पतला जलवत् स्राव स्थापित करती हैं। जिनकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। यह स्राव इतना पर्याप्त होता है कि वहाँ की श्लेष्मकला सदैव आर्द्र वनी रहती है।

३. अन्तःकणदार रचना—यह श्लैष्मिकावृत्ति को स्थूलता प्रदान करने में प्रमुख भाग लेती है। यह भ्रूणीय प्रकार (Embryonictype) के संयोजक तन्तुओं से वनता है। यह स्तर साधारण संयोजक तन्तुवों की अपेक्षा अधिकतर

कोषाणुओं तथा लघुतर सौत्रीयों का बना होता है। संयोजक तन्तुओं का भ्रूणीय स्वभाव आर्तव चक्र के समाय शीघ्र परिवर्तन एवं पुनर्जनन में बहुत सहायक होता है।
इस वृत्ति में अनेक सूक्ष्म रक्तवाहिनियाँ होती हैं। इनका वितरण ग्रन्थियों में समानान्तर या चाक्रिकक्रम से होता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि गर्भाशय में उपान्तस्तर (Submucous layer) नहीं होता। श्लैष्मिकावृत्ति ठीक मांसपेशियों की सतह पर स्थित है। इसलिए यह मांसपेशियों से फिसल नहीं सकती है। जब यह अलग की जाती है तब उसका बाहरी किनारा टेढ़ा-मेढ़ा दिखलायी देता है। इनमें से अधिकांश ग्रन्थियों के मुख को धारण करनेवाले होते हैं। यही वे प्रमुख भाग हैं जहां पर श्लेष्मलकला के लेखन के पश्चात् तथा कुछ अंश में प्रसव के पश्चात् पुनर्जनन प्रारम्भ होता है।

ग्रीवा की रचना—कुछ विशिष्ट परिवर्तनों के साथ ग्रीवा में भी गात्र की भांति ही तीन तहें होती हैं। उदर्या कला का सबंध भी पहिले कहा जा चुका है कि ग्रीवा का कुछ (Posterior and supravaginal portion) भाग ही इससे ढका रहता है।

बीच वाली स्तर मांसपेशियों से ही निर्मित होती है पर इसमें सौत्रिक (Fibrous) और लचकीले (Elastic) तन्तु भी सम्मिलित रहते हैं। योनि तथा गर्भाशयीय श्लेष्मल कला में भी अन्तर होता है। नालिका एवं गुहा का आवरण अपिस्तर एवं ग्रन्थियों का बना रहता है, लेकिन अपिस्तर के सीधे मांसपेशी से संबंधित होने के कारण क्षेत्र वस्तु रहित होता है। अपिस्तर तथा ग्रंथियों का संबंध सीधे मांसपेशियों से होता है। अपिस्तर गहरा स्तम्भकार लोभाङ्कुर युक्त होता है तथा गात्र से सम्बन्धित रहता है। इसके कोषाणु श्लेष्मिक वृत्ति की अपेक्षा अधिक अभ्यन्तरीय भाग में स्थित रहते हैं एवं इनकी व्यवस्था विचित्र सी होती है। एक लम्बवत् झुर्रियाँ पूर्व तथा पश्चिम भित्ति के केन्द्र की ओर नीचे गमन करती है, जिससे कई छोटी-छोटी शाखाएँ तिर्यग्गामिनी सी होती हुई दिखलायी देती हैं। इस व्यवस्था को पत्र-प्रतानिका (Arborvitae) कहते हैं।

गात्र की अपेक्षा ग्रीवा की ग्रन्थियों में भी भेद होता है। यहाँ ग्रन्थियाँ समन्वित (Compound) गुच्छ (Recimose) जाति की होती है। ये

उसी अपिस्तर के द्वारा आवेष्टित होती है जो कि सतह को आच्छादित किये रहता है। इस अपिस्तर के आभ्यन्तरीय स्तम्भाकार कोपाणुओं में कुछ चलयाकार (Goblet) की कोषाएं होती हैं जो कि गाढ़ा लसदार (Tanacious) एवं किञ्चित् क्षारीय श्लैष्मिक प्रकार का स्राव उत्तेजित करती है।

ग्रीवा का योनिगत भाग अपिस्तर से ढका रहता है इसके अन्तर्गत ग्रन्थि विरहित मत्स्यखण्डोपम स्तर कोपाणु समूह (Stratified squamous cells) की कई तहें होती हैं। अपिस्तर के दो प्रकार वहिर्द्वार के पास आकर मिलते हैं। इसमें ग्रन्थियां नहीं होती यही अपिस्तर आपस में मिलकर अप्रजाता स्त्री में अंडाकार छिद्र का निर्माण करते हैं। वही पुनः प्रसव के पश्चात् (Transverse) अनुप्रस्थ दिशा में फटकर पूर्वीय एवं पश्चिमीय ओष्ठों में विभक्त हो जाता है।

गर्भाशय की स्थिति—गर्भाशय के आसपास कुछ ऐसी रचनायें हैं जिनके कारण वह एक स्थान पर स्थित रहता है उनमें परिपेशिकावृति (Parametriuim) के साथ निम्न चार बन्धनों के जोड़े प्रधान हैं।

१. पक्षबन्धन (Broad ligaments)।

२. ग्रीवावर बंधन (Transverse ligments of Cerrix)।

३. रज्जुबंधन (Round ligaments)।

४. गर्भाशय त्रिकास्थि बंधन (Utero sacral ligments)।

परिपेशिकावृत्ति (Para metrium)—में गर्भाशय के आस पास पाये जाने वाले संयोजक तन्तु का समावेश होता है। सौत्रिक तन्तुओं के अलावा इसमें गर्भाशय के ऊपरी भाग से आने वाले पेशी तन्तु, लचकीले तन्तु, वसा और स्वतंत्र लसवाहिनी चक्रों का समावेश होता है। यह (Parametrium) पंखे के पक्षों की भांति गर्भाशय ग्रीवा और योनि के ऊर्ध्व भाग में आगे पीछे और श्रोणि पार्श्वों में विकीर्ण रहता है। इसका अधिकांश भाग वसायुक्त ढीले (Loose and areolar) तन्तुओं का होता है। जो कि दूसरों अवयवों को गर्भाशय से पृथक् करता है। कुछ स्थानों पर यह स्थूल एवं मजबूत होकर गर्भाशय के बन्धनों का निर्माण करता है। जिनका नामांकन ऊपर हो चुका है। यह स्मरणीय है कि नामांकित बन्धनों की रचना की दृष्टि से कोई पार्थक्य नहीं है केवल अवस्थान भेद से उनके नामों में भेद हो जाता है॥

गर्भाशय की स्वस्थान स्थिति :—(Maintenance of position of uterus) यह निम्न तत्वों पर निर्भर करती हैं।

(१) गर्भाशय के पूर्वोक्त बन्धन (Ligments)।

(२) श्रोणितल भूमि (Pelvic floor)।

(३) अंतः आदरीय पीडन (Intra abdominal pressure)।

(४) रक्तवाहिनियाँ (Blood vessels)।

रक्त संवहन—१. गर्भाशयिक धमनी (Uterine artery)
२. बीजग्रंथीय धमनी (Ovrian artery)

यही दो धमनियाँ अनेक भागों में विभक्त होकर एवं विभिन्न दिशाओं में गमन करती हुई समस्त गर्भाशय को रक्त पहुंचाने का कार्य करती हैं।

सिराएं भी धमनियों के साथ चलती हुई गर्भाशयिक चक्र का निर्माण कर अंतः जघन शिरा (Internal Illiac vein) में खुल जाती है। गर्भाशय के ऊर्ध्व भाग बीजवाहिनी एवं बीजकोष को वहन करने वाली सिरायें पक्ष बंधन (Broad ligament) की तहों के बीच में एक विशिष्ट (Pampini form) चक्र के रूप में प्रविष्ट होती है। यहाँ से दो सिराएं बीजग्रंथीय शिराओं (Ovarian vein) के नाम से निकल कर शीघ्र ही संयुक्त हो जाती है। दक्षिण भाग में ये अधरामहाशिरा (Inferior venacava) में खुलती है पर वाम भाग में यह वामवृक्कीय सिरा से संयुक्त हो जाती है।

रसवाहनियाँ:—एक रसवाहिनी चक्र (Plexus) पैशिकावृत्ति में स्थित होता है और इसी स्थान पर गर्भाशय के रसावकाश (Lymphspace) अपने लसीका को खाली करते हैं। गर्भाशय के ऊर्ध्व भाग से लसवाहिनियाँ बीजकोषगत लसवाहिनियों के साथ महाधमनीगत ग्रन्थियों से संयुक्त हो जाती है और बड़ी धमनी के पास ही अवस्थित होती है। कुछ गर्भाशय गात्र से होती हुई बाह्यजघनग्रंथियों (Ext illiac gland) में जाती है वहां से रज्जुबंधन के साथ होती हुई ऊपरी वक्षणीय ग्रंथियों (Superficial inguinal gland) में मिल जाती है अधः भाग से योनिगत रस लसवाहिनियों के साथ होता हुआ (Internal और common illiac glands) में प्रवाहित होता है।

नाड़ियां—आमाशयाधः तथा श्रोणि नाडी चक्र (Hypogastric and pelvic plexus) सेवने इडा (Sympathetic) सूत्र प्रधान है। स्वतंत्र

नाडी मंडल के अतिरिक्त कुछ सूत्र मस्तिष्क सुषुम्ना से भी निकल कर द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ त्रिकनाडियों के द्वारा गर्भाशय को जाते हैं। इनमें स्वतंत्र नाडी मंडल के इडा सूत्र (Sympathetic fibres) गर्भाशय तथा ग्रीवा के गोले मांस सूत्रों को उत्तेजित करते हैं, एक लम्बे मांस सूत्रों को दबाते या निष्क्रिय करते हैं। इनके विपरीत द्वितीय और चतुर्थ त्रिकनाडियाँ लम्बे मांस सूत्रों को उत्तेजित करती तथा गोल मांस सूत्रों को दबाती या निष्क्रिय बनाती है। इसके अतिरिक्त गर्भाशय में एक अन्तरीय नाडी क्रिया का भी आयोजन है, जिसके द्वारा इडा तथा सौषुम्निक नाडियों के अतिरिक्त स्वतंत्रतया गर्भाशय का संकोच या विस्तार आवश्यकतानुसार हो सकता है। ग्रैवेयिक नाडी गंड (Cervical ganglion) से सभी नाडी सूत्र गुजरते हैं। गर्भाशय ग्रीवा के दोनों ओर पीछे की तरफ भी एक एक नाडी चक्र पाया जाता है जो माध्यम का कार्य करता है तथा वहाँ से निकल कर गर्भाशय के विभिन्न भागों में सूत्र वितरित करता है।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रंथों में गर्भाशय का बहुत संक्षेप में वर्णन मिलता है। उसके अनुसार योनि के तीसरे आवर्त्त में गर्भशय्या या गर्भाशय अवस्थित है। यह स्थान पित्ताशय और पक्वाशय के मध्य में होता है और इसी के भीतर गर्भ अवस्थान करता है। रोहू मछली का मुख जिस तरह का होता है उसी के स्वरूप और आकृति के समान गर्भशय्या भी होती है। भग के अधोभाग में वस्ति होती है और गर्भाशय उसके ऊपर रहता है। ये दोनों महास्रोत (गर्भाशय तथा वस्ति) एक ही स्थान पर होते हैं।

आधार तथा प्रमाणसंचय—

योनि—शंखनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्त्ता सा प्रकीर्तिता

तस्यास्तृतीये त्वावर्त्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता। (सु. शा. ५)

गर्भाशय—१. पित्तपक्वाशयोर्मध्ये गर्भशय्या यत्र गर्भस्तिष्ठति।

२. यथारोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः

तत्संस्थानां तथा रूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः। (सु. शा. ५)

३. भगस्याधः स्त्रिया वस्तिरूर्ध्वंगर्भाशयः स्थितः।

गर्भाशयश्च वस्तिश्च महास्रोतः समाश्रितौ (सु. चि. ७)

अभिनव प्रसूति तन्त्र (Midwifery by R. W. Johnstone.)

चौथा अध्याय

बीजवाहिनी

(Fallopian tubes)

यह नलिका गर्भाशय के दोनों ऊर्ध्व कोणों से निकल कर पीछे घूमती हुई (Turning backward) एवं बीज कोष पर एक चाप (Arch) बनाती हुई श्रोणि गुहा में पीछे की ओर खुलती है। यह अपने पूरे मार्ग में पक्षबंधन (Round ligment) के ऊपरी किनारे पर चलती है अतः स्पष्ट ही है कि इसके ऊपरी तीन भाग उदर्य्याकला से ढके रहते हैं केवल पक्षबंधन से संयुक्त होने वाला नीचे का भाग संयोजक तन्तुओं से घिरा रहता है और उदर्य्याकला से विहीन होता हैं। इसकी रचना में मांसपेशी एवं श्लेष्मल कला मुख्य रूप से भाग लेती है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि यह नालिका गर्भकोण से प्रारम्भ होकर श्रोणि के पश्चिमोन्मुख को होकर समाप्त हो जाती है इससे यह भी स्पष्ट है कि इस नलिका का उदर्य्याकला एवं गर्भाशय से आवागमन के लिए प्रत्यक्ष संबंध होता है स्त्रीरोग-विज्ञान (Gynaecology) की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। यह वाहिनी ४-४½ इञ्च लम्बी तथा ½ इंच के करीब मोटी होती है। इसका व्यास कम से कम १/३ इंच एवं अधिक से अधिक १/४ इञ्च का होता है। जहाँ तक लम्बाई का प्रश्न है गर्भस्थ शिशु में यह अधिक होती है एवं व्यवस्था भी काफी टेढ़ी मेढ़ी होती है।

सुविधा की दृष्टि से वर्णन में इसको चार भागों में विभक्त कर दिया जाता है।

(१) गर्भांशयाविष्ट भाग (Interstitial part)—यह भाग करीब ½ इंच लम्बा होता है पर गर्भाशय की चौड़ाई में ही समाविष्ट हो जाता है।

(२) योजनिका भाग (Isthmic part)—यह गर्भाशय कोण के बाहर संकरा भाग है।

(३) कलसिका भाग (Ampulla)—मध्य का स्थूलतम भाग।

(४) पुष्पित प्रान्त भाग (Infundibulun) उदर्य्याकला के पृष्ठ भाग में खुलने वाला अत्यधिक पुष्पित (Fimbriated) भाग होता है। श्रोणि

में खुलने वाली यह निःसारिका (Opening) अनेक छोटे २ अंकुरों (Firmbries) से युक्त होती है और इनमें से अधिकांश अंकुर बीजकोष से लगे रहते हैं। और इस लिए ऐसा कहा जाता है कि बीजकोप से बीज निकलकर इन्हीं अंकुरों की गति से ही उस निःसारिका में प्रवेश करता है।

नलिका में सादी (Plain) पेशियों की व्यवस्था दो तहों में होती हैं। ऊपर की तह लम्बी और अन्दर की गोली होती है। इनकी एकाकी (Single) श्लेष्मल तह गम्भीर स्तम्भाकार कोषाओं की निर्मित होती हैं इनमें कुछ कोषाएँ लोमश (Ciliated) शेष विशुद्ध स्रावी होती हैं और यह किञ्चित् संयोजक तन्तुओं के सहित, जो कि इनको पेशियों से पृथक् कर देता है, समग्र भाग में आधारीय कला (Basement membrane) के रूप में स्थित रहती हैं। इनका अपिस्तर (Epithilium) गर्भाशय से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित होता है। गर्भाशय की ही भांति इसमें उपान्तस्तर नहीं होता।

इसकी श्लेष्मल कला में ग्रन्थियाँ नहीं होती; लेकिन सतह अत्यधिक अव्यवस्थित एवं झुर्रीदार होती हैं। गर्भाशय से निकलने के बाद झुर्रियां (आवर्त) क्रमशः बढ़ती जाती हैं कलसिका (Ampulla) तक आते-आते नलिका असंख्य आवर्तों एवं चक्रों से युक्त हो जाती हैं इसे अंग्रेजी में भुट्टे जैसी रचना (Maizelike appearance) कहते हैं।

नलिका के लोमाङ्कुर (Cilia) उदर्या कला गह्वर से गर्भाशय की ओर चढ़ते या कार्य करते हैं।

नलिका में कभी-कभी अनियमित विस्फार (Diverticula) भी मिलते हैं कभी-कभी यह जन्म से होते हैं और कभी-कभी श्लेष्मलकला की झुर्रियों से निर्मित होते हैं। बीजवाहिनीगत गर्भाधान में यह स्थान विचारणीय है।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में बीजवाहिनी का बड़ा स्थूल वर्णन पाया जाता है। 'आर्त्तव वह स्रोतस दो हैं उनके मूल गर्भाशय और आर्त्तववाहिनी धमनियाँ हैं। वहाँ पर उनके कट जाने से स्त्रियों में वन्ध्यता, मैथुन कर्म को सहन न करना एवं आर्त्तव नाश होता है।'

आर्त्तव शब्द के दो अर्थ होते हैं १. वह जो गर्भाशय और योनि की सफाई करके गर्भाशय और योनि का शुक्राणुओं के प्रवास के लिये निष्कण्टक एवं

गर्भाशय को गर्भ के अवस्थान के लिये योग्य बनाता है। २. वह जो प्रत्यक्ष गर्भ स्थिति में भाग लेता है।

इनमें पहले आर्त्तव को Menstrual blood तथा दूसरे को बीज कहते हैं इन दो अर्थों के अनुसार आर्त्तव वह स्रोतस को Bloodvessels and capillaries of the uterus और दूसरे को बीजवह स्रोत (Fallopian tube) कह सकते हैं।

इस प्रकार विद्वानों में आर्त्तववह स्रोत पर मतैक्य नहीं है; तथापि प्रसङ्ग वश यहाँ पर आर्त्तववह स्रोत से बीजवाहिनी का ग्रहण किया जा सकता है।

बीजग्रन्थियाँ OVARIES

बीजग्रन्थियाँ संख्या में दो आकृति में चपटी एवं बादाम के आकार की होती है। गर्भाशय के दोनों ओर पक्षबन्धनों के पृष्ठ या पश्चिम (Posterior) भाग पर श्रोणिकण्ठ की सतह पर स्थित रहती हैं। इनका लम्ब अक्ष (Long axis) विभिन्न स्त्रियों या एक ही स्त्री में विभिन्न स्थितियों में खड़ी से आड़ी तक (Vertical से Horizontal) के बीच में रहता है। प्रत्येक ग्रन्थि प्रायः १½ इञ्च लम्बी ¾ चौड़ी और ⅜ इञ्च मोटी होती है। भार की दृष्टि से प्रत्येक का भार ९० ग्रेन के लगभग होता है।

श्रोणि पार्श्व भित्ति पर लगी हुई उदर्य्याकला ने एक बीज ग्रन्थि खात होता है जो कि श्रोणिगवाक्षिणी अतस्था (Obturator Internus muscle) के स्तर पर होता है, उसी में बीजग्रन्थि स्थित है।

रचना :—यह उदर्य्या कला से आच्छादित नहीं हैं। उसकी रचना को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. अन्तर्वस्तु (Medulla)

२. वहिर्वस्तु (Cortex)

(१) अन्तर्वस्तु—इसमें सादी (Plain) पेशियाँ, संयोजक तन्तु रक्त-वाहिनयाँ, लसवाहिनियाँ तथा नाड़ियाँ होती है। यह एक महत्वपूर्ण मौलिक रचना है जिस पर वहिर्वस्तु निर्मित होती हैं।

नाड़ी प्रवेश—वृन्त (Hilum) द्वारा इसमें नाड़ी प्रवेश करती है और अनेक भागों में विभक्त हो जाती है। उनको तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) रक्तमय (Vascular) यह रक्तवाहिनियों के साथ जाती है एवं इसकी असंख्य शाखाएँ होती हैं।

(२) पुटकीय (Follicular) ये शाखाएँ सीधी बीजपुटक (Follicle) को जाती हैं और नाड़िकाओं का एक जाल बना कर उसको घेर लेती हैं।

(३) अंतस्तरीय (Interstitial) यह मज्जा की कोषवास्तु में जाकर समाप्त होती है।

तीनों वर्ग एक दूसरे से अत्यन्त घनिष्ठ रूप में गुथे रहते हैं।

बहिर्वस्तुः—बीजग्रन्थि में महत्व की चीज यही है यह निम्न तीन उपादानों से निर्मित है।

(१) संजननत्वक् (Germinal epithilium)

(२) क्षेत्रवस्तु (Stroma)

(३) बीजपुटक (Grffian follicle)

(१) वृन्त (Hilum) तक बीजकोष को ढकने वाला घनाकार अपिस्तर का यह एकाकी (Single) स्तर है। इसी वृन्त के पास ही यह उदर्य्याकला से संयुक्त हो जाता है। श्यामाभ कहीं-कहीं पर दुग्धवत् धारायुक्त यह सफेद रङ्ग का होता है। बीज का निर्माण इसी भाग से होता है इसी आधार पर इसका नाम सञ्जननत्वक् रखा गया है।

(२) क्षेत्रवस्तु—यह तुक्ली के आकार के (Spindle) न्यष्टियों से युक्त संयोजक तन्तु कोषाणु और अतः संयोजक तन्तुओं से युक्त होता है। इसमें रक्तवाहिनियाँ, लसवाहिनियाँ एवं नाड़ियाँ अत्यधिक होती हैं। यह क्षेत्र वस्तु संजननत्वक् के ठीक नीचे होती है और सञ्जननत्वक् की अपेक्षा अधिक घनी होती है। श्वेत होने के कारण कुछ वैज्ञानिकों ने इसे श्वेत स्तर (Tunica albuginea) नाम दिया है बहिर्वस्तु में चारों ओर पुटक में (Ovarian follicles) फैले रहते हैं।

बीज के साथ मानव बीजपुटक
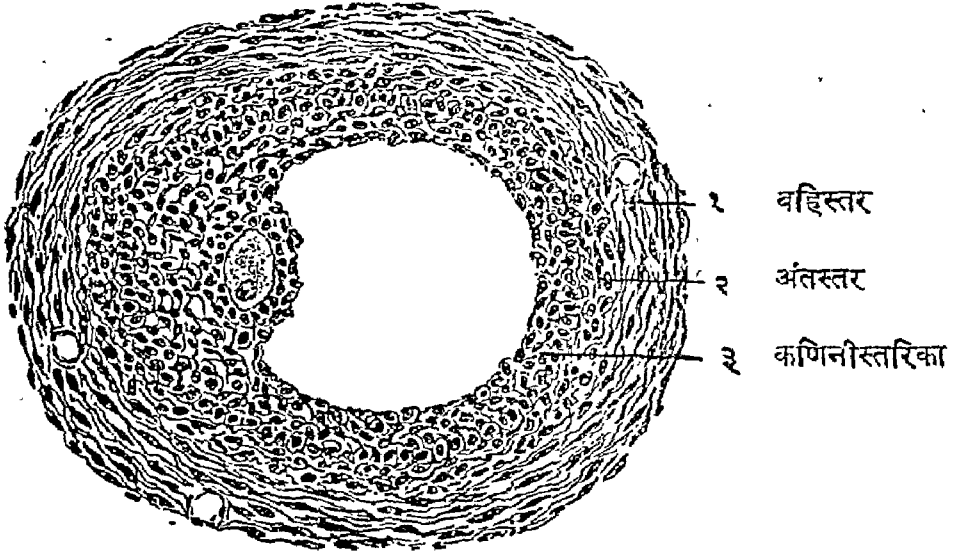
चित्र १०

(३) **बीजपुटक**—प्रत्येक पुटक में एक स्त्रीबीज होता है। वैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि जन्म के समय प्रत्येक बीजकोष में एक लक्ष स्वस्थ स्त्रीबीज होते हैं कालान्तर में जब बीजकोष की सक्रियावस्था आ जाती है तो इनकी संख्या घट कर पैंतीस हजार रह जाती है अर्थात् एक स्त्री अपने जीवनकाल में पचहत्तर हजार बच्चों को जन्म दे सकती है।

उसकी उत्पत्ति के बारे में काफी सन्देह है फिर भी प्रायः यह माना जाता है कि स्त्रीबीज सञ्जननत्वक् से उत्पन्न होते हैं। साथ ही कोषाणु और पुटक भी इसीसे उत्पन्न होते हैं। निरीक्षण से ऐसा देखा गया है कि सञ्जनन त्वक् में होने वाले संयोजक तन्तु अभिवृद्धि की प्रारम्भिक अवस्था में ही अपिस्तर की कोषाओं एवं भावी स्त्रीबीजों को घेर लेते हैं। ये कोषाणु स्थिर होकर तब तक विभक्त होते रहते हैं जब तक किपुटकों की यथेष्ट अभिवृद्धि न हो जाये—प्रत्येक पुटक अपिस्तर कोषाणु जो स्त्रीबीज नहीं बन पाते निर्मित स्त्रीबीजों के लिए संरक्षण एवं पोषण का कार्य करते हैं।

गर्भावस्था में स्त्रीबीज में विभिन्न अवस्थाओं के स्त्रीबीज एक साथ देखे जा सकते हैं इनमें छोटे अधिक उत्तान सतह पर रहते हैं। प्रत्येक बीजागम काल

में एक पुटक पूर्ण परिपक्व होकर वीजकोष का उत्तान सतह पर आ जाता है। वृद्धावस्था में चारों ओर से पुटक घेरे हुए कोषाणु देखने में अधिक मालूम होते हैं तथा संख्या वृद्धि भी कर जाते हैं। पश्चात् प्रत्येक में पुटक द्रव एकत्रित होकर उसे वढ़ा देता है। प्रत्येक पूर्ण परिपक्व वीजपुटक की रचना निम्न है अर्थात् वाहर से भीतर की ओर निम्न चीजों के समुदाय से एक परिपक्व वीजपुटक का निर्माण होता है।

१. वहिस्तर (Outer coat)
२. अन्तःस्तर (Inner coat)
३. कणिनीस्तरिका (Stratun granulosum)
४. पुटकद्रव (Liqour Folliculi)
५. वीजपीठिका (Cumulus ovaricus)
६. विसर्पिमण्डल (Corona radiata)
७. वीजावरण (Ovomlemma)
८. तनुचिद्रस (Protoplasm of yolk)
९. सान्द्रचिद्रस (Deutoplasm of the yolk)
१०. चित्केन्द्र (Nucleus)
११. चितकणिका (Nucleolus)

वीजागम :—(Ovulation) वीजग्रन्थि में ऊपर भीतरी दवाव पड़ने से वह भाग फट जाता है और उसके अन्दर से विसर्पि मण्डल सहित स्त्रीवीज वाहर आ जाता है। उदर में आने के वाद यह वीज कुल्या—(Fimbria) की ओर आकर्पित होकर पुष्पित प्रान्त–(Infundibulum) से होकर वीज-वह स्रोतस में पहुँच जाता है यदि आगे नहीं वढ़ पाता तो वहीं नष्ट हो जाता है लेकिन प्रायः ७ दिन के अन्दर गर्भाशय में पहुँच जाता है तथा वहाँ गर्भाधान होने पर अवस्थित हो जाता है और यदि गर्भाधान न हुआ तो आर्त्तव के साथ वाहर चला आता है। कभी कभी एक साथ दो या उससे अधिक भी वीज परिपक्व होकर गर्भाशय में चले जाते हैं उस अवस्था में दो या उससे भी अधिक सन्तानों की उत्पत्ति होती है।

पीतपिण्ड का निर्माण

(Formation of Carpus Luteum)

स्त्रीबीज के निकल जाने के बाद विदीर्ण पुटक की व्रण की पूर्ति होने लगती है। अन्तस्तर तथा कणकोष स्तरिका के कोषाणु बड़े हो जाते हैं तथा अन्तस्तर का तनुछिद्रस कणदार (Granular) एवं रङ्ग में भूरा हो जाता है। इन्हें पीत कोषाणु (Paralutein cells) कहते हैं। बीजपुटक के विदीर्ण होने के पश्चात् रक्त संचार बढ़ जाता है। तथा रक्तवाहिनियों के गुच्छे कणिनीस्तर के अन्दर घुस जाते हैं एवं इसके और पुटक (Theca) के बीच में एक विभाजक रेखा निर्मित कर देते हैं। कणिनीस्तर के कोषाणु इतने बड़े और एवं शोथयुक्त हो जाते हैं कि ये जब निर्मित पीतस्तर (Leutein layer) में अवस्थान करने के हेतु ऐंठी हुई अवस्था में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार पीतस्तर बीजपुटक खात में अपना अधिकार जमा बैठता है जिसके अन्दर श्लेष्मल द्रव एवं थोड़ा सा रक्त रहता है विश्रान्ति तथा रक्ताधिक्य (Proliferation and vascularisation) के इस क्रम के आधार पर पीतपिण्ड दो सप्ताह में पूर्ण परिपक्व हो जाता है। इसके बाद की क्रिया या परिवर्तन स्त्रीबीज के गर्भधारण या उसकी असमर्थता पर निर्भर करता है। यदि पुंबीज से संयोग नहीं होता तो अपचय (Degeneration) ह्रास प्रारम्भ हो जाता है एवं आगामी मासिक स्राव प्रारम्भ होने के दो दिन पूर्व आपकर्षणिक परिवर्तन (Retrogressive changes) होना शुरू हो जाता है। ये परिवर्तन कांच जैसे श्वेतपारदर्शक के रूप में होते हैं फिर बाद में चलकर ये श्वेत वर्ण के पारदर्शक तन्तु धीरे २ अवयवयुक्त होने लगते हैं और इनके स्थान पर पीतकोषाणु स्थान ग्रहण करने लगते हैं। अन्त में कुछ महीनों बाद श्वेत धातु का एक छोटा सा बिन्दु शेष रह जाता है जिसे श्वेत पिण्ड (Carpus albicans) कहते हैं।

इससे विपरीत अवस्था में यदि उत्सर्जित स्त्री-बीज का पुंबीज से संयोग हो जाये एवं गर्भ धारण हो जाये तो पीत पिण्ड परिपक्व हो जाता है और कई सप्ताह तक इसी अवस्था में बना रहता है, इसके बाद धीरे २ अपचय शुरू होता है लेकिन इतनी मन्दगति से कि प्रसव के बाद भी दो-तीन मास तक कुछ न कुछ रूप में विद्यमान रहता है।

पीतपिण्ड के कार्य—

१. आर्तव निरोध (Stoppage of menstruation)
२. गर्भकला निर्माण (Formation of decidua)
३. गर्भस्थापन
४. अतिवमन निरोध
५. स्तन्यप्रवृत्ति
६. प्रसव में सहायता

पीतपिण्ड
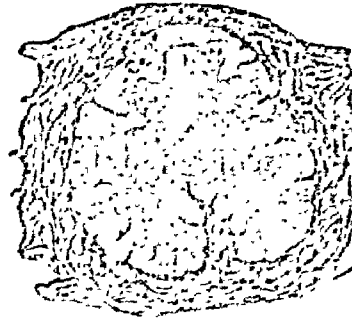
चित्र ११
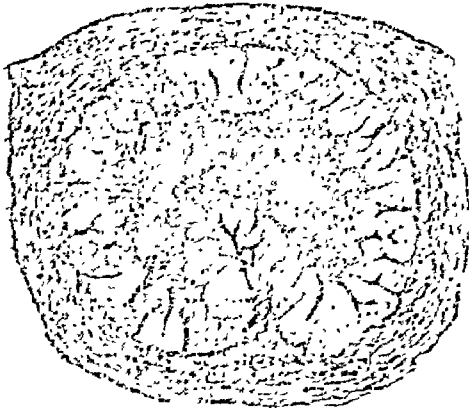
चित्र १२
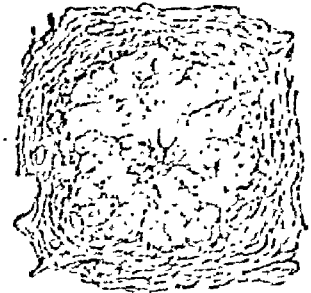
चित्र १३

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रंथों में बीज ग्रन्थि का कोई स्पष्ट एवं विशद वर्णन नहीं पाया जाता है। आचार्य सुश्रुत ने 'अन्तर्गत' फलनामक एक स्त्री-जननेन्द्रिय का वर्णन किया है, विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि संभवतः इसी के द्वारा आधुनिक बीजग्रन्थि (Ovary) का वर्णन हो जाता है। मूल सूत्र इस प्रकार का है:—

'पुरुषों में वृषण और शिश्न संबन्धी पेशियाँ जो पहले कही जा चुकी हैं, वही स्त्रियों में 'अंतर्गत फल' को आवृत किये रहती हैं। 'अंतर्गत फल' शब्द से पुरुष के वृषण का स्त्री-शरीरगत प्रतिनिधि वीजकोष को ही मानना अधिक प्रशस्त है। उसके साथ ही पुरुषशिश्न का स्त्री-शरीरान्तर्गत प्रतिनिधि अर्थात् भग-शिश्निका (Cltoris) का ग्रहण उचित है। भग-शिश्निका और वीजकोष वन्ध में पेशियों के सूत्र होते हैं।

'अन्तर्गत फल' शब्द से भाव मिश्र एवं डल्हण ने गर्भाशय माना है; परन्तु यह समुचित नहीं प्रतीत होता। अतः 'अन्तर्गत फल' शब्द निश्चित रूप में वीज-ग्रन्थि या वीजकोष का ही वोधक है।

आधार तथा प्रमाण संचय—

बीजवाहिनी—१. आर्त्तववहे द्वे तयोर्मूलं गर्भाशय आर्त्तववाहिन्यश्च धमन्यः। तत्र विद्धायां वन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्त्तवनाशश्च। (सु. शा. ९)

वीजकोष या ग्रंथि—पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः
स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः। (सु. शा. ५)

(डा. भा. गो. घाणेकर की सुश्रुत की हिन्दी टीका)

(अभिनव प्रसूति तन्त्र) (Midwifery By R. W. Johnstone)

पञ्चम अध्याय

रजोधर्म (Menstruation)

पर्याय नाम—पुष्प, असृक्, शोणित, आर्त्तव, वीजरक्त तथा मासिक स्राव।

निरुक्ति—सद्यः प्रसूता तथा सगर्भा स्त्रियों को छोड़कर शेष सभी युवावस्था को प्राप्त अर्थात् पुत्रप्रजनन योग्य स्त्रियों में गर्भाशय से प्रतिमास श्लैष्मिक कला के सहित जो नियमित रक्तस्राव होता है, उसे 'रज' कहते हैं। कश्यपसंहिता का वचन है कि 'गर्भाशय में जो रजोवह सिरायें होती हैं वे वहाँ रज का विसर्जन करती हैं वही पुष्पसदृश रज मास-मास में (युवतियों में) प्रवर्त्तित होता रहता है। बाल्यावस्था में हीन योनि (Undeveloped organs) के कारण शोणित..

सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान रहता है; (तथापि मासिक स्राव नहीं होता) लेकिन पूर्णावस्था के प्राप्त होने पर (Welldeveloped organs) वही सम्पूर्ण शरीर से योनि की ओर प्रवृत्त होता है। इस तरह स्त्रियों का रक्त एक-एक महीने पर गर्भकोष्ठ को प्राप्त करके तीन-चार दिनों तक जो प्रवृत्त होता है उसे 'आर्त्तव' कहते हैं।'

रजोदर्शन की आयु—रज की प्रवृत्ति या रजोदर्शन स्त्री की युवावस्था का निदर्शक है, क्रिया-विज्ञान की दृष्टि से यह गर्भधारण की योग्यता तथा उत्पादन क्षमता की सूचना देता है; यद्यपि शरीर रचना-विज्ञान की दृष्टि से उत्पादक अङ्ग इस योग्य नहीं रहते हैं। रजो-दर्शन की आयु व्यक्ति, जाति, देश, आहार और विहार आदि के भेद से विभिन्न होते हुए भी प्रायः इस देश में तेरहवें या चौदहवें वर्ष की आयु में दिखलाई पड़ता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि रजःस्राव स्त्री की यौवनावस्था का सूचक है, इसलिये रजःस्राव के प्रारम्भ होने के साथ ही कई अन्य मानसिक तथा शारीरिक परिवर्त्तन भी मिलने लगते हैं; जो स्त्री की पूर्णायु के (Puberty) चिह्न होते हैं जैसे:—श्रोणि का विकास, बाह्य जननाङ्गों की वृद्धि, कक्ष तथा भगसंधानिका के ऊपर केशों का निकलना, स्तनों का विकास, ये लक्षण अधिकाधिक व्यक्त होते चलते हैं। मानसिक विपरिवर्त्तनों में लज्जा का विकास, कामवासना की जागृति आदि पाये जाते हैं। शरीर-रचना की दृष्टि से गर्भधारण और प्रजनन की योग्य स्त्री की आयु सोलह वर्ष की मानी जाती है। पाश्चात्य ग्रंथकारों ने यह आयु बीस वर्षों की मानी है। आचार्य सुश्रुत ने रजोधर्म के साथ होने वाले परिवर्त्तनों की संक्षेप में सुन्दर व्याख्या की है 'स्त्रियों में इस काल में रोमराजियों का (केशों का) निकलना, स्तन, गर्भाशय और योनि प्रभृति अङ्गों की वृद्धि होना मिलता है।'

गर्भाधान की आयु—आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थकारों ने पूर्णवयस्क पुरुष और पूर्णवयस्का स्त्री का एक मापदण्ड (Standard) बतलाया है; उसके पूर्व की आयु अपूर्ण वीर्य की मानी जाती है। पूर्णवीर्य पुरुष और स्त्री को ही संतानोत्पत्ति करने का अधिकार है। निम्नलिखित सूत्रों में दम्पति के पूर्णवीर्यत्व का वर्णन मिलता है:—

१. 'सोलह वर्ष से कम आयु की स्त्री और २५ वर्ष से कम आयु का पुरुष हो, एवं उन दोनों के संगम से यदि गर्भाधान हो तो ऐसा गर्भ कुक्षि में ही विनष्ट हो

जाता है, किसी प्रकार पैदा भी हुआ तो वह चिरकाल तक जीवित नहीं रहता; जीवित भी रहे तो वह दुर्बल इन्द्रियों वाला होता है। अतएव अत्यन्त बाला में गर्भ का आधान कदापि नहीं करना चाहिये।

२. चिकित्सकों की सम्मति में पच्चीस वर्ष की आयु वाला पुरुष और सोलह वर्ष की आयु वाली स्त्री परिपूर्ण वीर्य के होते हैं।

३. वाग्भट के अनुसार बीस वर्ष की अवस्था वाला पुरुष और सोलह वर्ष की उम्र वाली स्त्री ये दोनों परिपक्व वीर्य के होते हैं यदि इन दोनों का संगम हो, साथ ही गर्भाशय शोणित तथा शुक्र शुद्ध हो, तो वीर्यवान् सन्तान पैदा होती है इस आयु से कम उम्र वाले की सन्तानें रोगी, अल्पायु और अधन्य होती हैं अथवा गर्भ की स्थिति ही सम्भव नहीं होती।

रज का स्वरूप

१. वर्ण—शुद्ध आर्तव-शोणित का वर्ण खरगोश के रक्त के समान, लाक्षा रस के समान, बीरवहूटी कीड़े के समान यानी संक्षेप में लाल बतलाया गया है। पाश्चात्य स्त्रीरोग-चिकित्सकों का कथन है कि स्वाभाविक राशि से जब आर्तव शोणित अधिक निकलता है तब उसका वर्ण लाल होता है। वास्तव में यह शोणित सिरागत रक्त के समान किंचित् कृष्ण वर्ण का होता है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने रज का स्वरूप ईषत्कृष्ण बतलाया है।

२. स्राव की अवधि (Menstrualhabit)—स्त्रियों की तन्दुरुस्ती और प्रकृति के आधार पर स्राव के काल में बहुत भिन्नता देखी जाती है फिर भी स्राव का प्रायिक काल तीन से सात दिन का बतलाया गया है।

३. आनुषङ्गिक लक्षण—मल-मूत्रादि की प्रवृत्ति के समान आर्तव स्राव भी स्त्रियों के शरीर का स्वाभाविक धर्म है, इसलिये उस समय किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होनी चाहिये। प्रशस्त आर्तव का यही लक्षण होता है; परन्तु साधारणतया यह देखा गया है कि अधिक संख्या वाली (६०% से ७०%) स्त्रियों में आर्तव प्रवृत्ति के समय श्रोणिविभाग में कुछ न कुछ पीड़ा जरूर हुआ करती है। कुछ स्त्रियों में यह पीड़ा शूल के समान असह्य होती है और सिर दर्द शारीरिक तथा मानसिक कमजोरी, बेचैनी, स्वभाव में चिड़चिड़ापन इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर मासिक धर्म एक बीमारी बन जाती है। इस प्रकार की वेदना के साथ चलने वाले

मासिक स्राव को कृच्छ्रार्त्तव (Dysmenorrhœa) कहते हैं । आर्त्तव प्रवृत्ति काल में यदि थोड़ी पीड़ा हो तो उस को विकार या अप्रशस्त मानना ठीक नहीं है।

४. आवान्तर काल (Inter menstrual period)—रजःस्राव स्वस्थ स्त्रियों में प्रतिमास होता है अतएव बीच का काल भी एक मास का होता है। वास्तव में मास-कथन एक उपलक्षण मात्र है इसमें दो-तीन दिनों की न्यूनाधिकता हो सकती है । जिस दिन रजोदर्शन हुआ वहाँ से शुरू करके जब तक कि पुनः आगामी रजोदर्शन हो उस अवधि की गणना इस कालमें की जाती है। सामान्यतया यह काल २८ दिनों का होता है । धर्म शास्त्रों में न्यूनतम काल इक्कीस दिनों का भी माना गया है।

५. स्राव का संगठन—मासिक स्राव में रक्त होता है, साथ ही गर्भाशय की श्लैष्मिक कला का स्राव या श्लेष्मा (Mucous) भी होता है। इनके अतिरिक्त गर्भाशय और योनि की शीर्ण हुई सेलें भी होती हैं । श्लेष्मा का स्राव अधिकतर आर्त्तवस्राव के पूर्व या पश्चात् हुआ करता है रज का स्राव क्षार-प्रतिक्रिया वाला होता है। साधारण रक्त और आर्त्तव रक्त में यह भेद होता है कि उसमें साधारण रक्त की अपेक्षा खटिक (Calcium) अधिक परिमाण में होता है । दूसरा भेद यह होता है कि आर्त्तव रक्त साधारण रक्त की भाँति जमता नहीं । इसके न जमने का कारण एक श्लेष्म संयोग है। 'ब्लेअरबेल' नामक शास्त्रज्ञ का कथन है कि आर्त्तव रक्त में तान्त्वि (Fibrin) नामक द्रव्य उपस्थित नहीं रहता जो रक्त के जमने में आवश्यक होता है । 'वेक और व्हाइट हाउस' नामक शास्त्रज्ञों का कथन है कि गर्भाशय में वह रक्त जमता है; परन्तु गर्भाशय ग्रन्थियों से तन्त्वांश (Fibrolysin) नामक द्रव्य उत्सर्गित होता है, जो जमे हुए रक्त को फिर से तरल बना देता है । इस प्रकार आर्त्तव रक्त के न जमने के सम्बन्ध में कई मतान्तर और उपपत्तियाँ हैं। उपपत्ति चाहे जो कुछ भी हो, आर्त्तव रक्त का न जमना ही उसकी प्रशस्तता का लक्षण है । जब आर्त्तव में कुछ खराबी होती है, तब आर्त्तव रक्त जमता है।

६. यद्वासो न विरञ्जयेत्—जो आर्त्तव शोणित उससे आर्द्र या शुष्क सफेद कपड़े को गर्म पानी से धोने पर विवर्ण नहीं करता है वह प्रशस्त होता है । इसका मतलब यह है कि आर्त्तव शोणित से मलिन वस्त्र गर्म पानी से धोने पर निर्मल

बेदाग होना चाहिये। पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का भी यही मत है। अर्थात् वस्त्र के धोने पर उस पर के रक्त के दागों का अच्छी तरह से न मिटना रज की खराबी का लक्षण माना जाता है।

७. परिमाण—रज अल्प या बहुत का होना प्रा यक माना जाता है, तथापि आधुनिक वैज्ञानिक उस की मात्रा आठ तोले से सोलह तोले तक अथवा पाँच तोले से बीस तोले तक का मानते हैं।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में रज के स्वरूप की बड़ी विशद विवेचना मिलती है। पाठकों की जिज्ञासा-शमन के लिये संक्षेप में मूल सूत्रों का संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है:—

१. जिस आर्त्तव का वर्ण गुंजाफल के समान अथवा लालकमल या अलक्तक के वर्ण का सादृश्य रखता हो, उसे शुद्ध आर्त्तव मानना चाहिये।

२. जो वर्ण में शशक (खरगोश) के रक्त के समान अथवा लाक्षा रस के समान हो, एवं कपड़े को रंजित न करे उस आर्त्तव-शोणित को आचार्य प्रशस्त मानते हैं।

३. धमनियों द्वारा एक मास में उपस्थित हुआ हो, विशिष्ट गन्धवाला हो, तथा वायु द्वारा योनिमुख पर लाया गया हो ऐसे आर्त्तव को शुद्ध मानते हैं।

४. जो आर्त्तव एक मास के पश्चात् उपस्थित हुआ हो, पिच्छिलता से हीन, दाह और पीड़ा से रहित हो, पाँच दिनों तक रहने वाला हो, मात्रा में न बहुत अधिक और न बहुत कम हो; उसे शुद्ध आर्त्तव समझना चाहिये।

५. स्त्रियों में रज का परिमाण चार अंजलि का होता है ऐसा वाग्भट का कथन है।

रजःक्षय (Menopause or climacteric)—स्त्रियों में पचास साल की आयु के आस-पास क्रमशः या अचानक रजःस्राव का होना पूर्णतया बंद हो जाता है। रज के क्षय होने के अनन्तर उनकी गर्भधारण की शक्ति भी जाती रहती है। अधिक परिश्रम करने वाली, दुःखी और विधवा स्त्रियों में रजःक्षय बहुत शीघ्रता से आ जाता है; परन्तु सधवा एवं बहुप्रजाता और आराम से रहने वाली या आलसी औरतों में रजःस्राव की पूर्णतया निवृत्ति बहुत विलम्ब से होती है। रजःक्षय के साथ ही साथ कई शारीरिक तथा मानसिक परिवर्त्तन भी होते

देखा गया है। जैसे:—स्तन, योनि और बीजग्रंथि प्रभृति प्रजनन अंगों की शीर्णता या क्षय (Atrophy), मेदो धातु की वृद्धि, स्वर का बदल जाना, चित्त का उद्विग्न रहना, मुख पर बालों का निकलना रूक्षता का बढ़ना, स्वरूप का बदल जाना, निद्रानाश, भ्रम, कम्प, अरुचि, मलबद्धता, हृदय में धड़कन और स्मरण-शक्ति की कमी आदि परिवर्त्तन होते हैं।

आर्त्तवादर्शन (Amenorrhoea)—रजोदर्शन से प्रारंभ करके रजः-क्षय पर्यन्त बीच-बीच में रजःस्राव का निरोध होना 'आर्त्तवादर्शन' कहलाता है। ऐसा स्वाभाविक रीति से गर्भकाल में तथा स्तन्यकाल में मिलता है। वैकारिक (Pathological) विभिन्न प्रकार के जीर्ण रोगों में मिलता है।

असृग्दर (Menorrhagia and Metrorrhagia)—

प्राच्य मतानुसार संक्षेप में असृग्दर के तीन लक्षण माने गये हैं (१) रजः प्राचुर्य (२) दीर्घकाल प्रवृत्ति और (३) स्वाभाविक आर्त्तव के रक्त से असृग्दर के रक्त की विभिन्नता।

पाश्चात्य परिभाषा में आर्त्तव रक्त का विशेष विचार नहीं किया जाता है। काल और परिमाण का विचार होता है। इसी दृष्टि से दो स्वतन्त्र नाम रखे गये हैं; अर्थात् असृग्दर या रक्त प्रदर के लिये एक नाम आधुनिक अंग्रेजी ग्रंथों में नहीं मिलते। जब आर्त्तव-स्राव की प्रवृत्ति अधिक परिमाण में होती है; परन्तु आर्त्तव-काल स्वाभाविक यानी अधिक से अधिक सात दिनों तक का ही रहता है तब उस अवस्था को 'मेनोरेजिया' कहते हैं! जब आर्त्तव-स्राव ऋतुकाल में होकर उससे आगे अनार्त्तवकाल में भी होता है तो उसे 'मेट्रोरेजिया' कहते हैं। इन दोनों अवस्थाओं में हेतु, निदान और चिकित्सा का बहुत सम्बन्ध है इसी लिये आयुर्वेद के ग्रन्थकारों ने इसके दो स्वतन्त्र नामकरण न करके एक ही नाम असृग्दर से दोनों अवस्थाओं का ग्रहण कर लिया है।

उपर्युक्त कथन के प्रमाण रूप में कुछ प्राचीन आयुर्वेद के वचनों का संग्रह नीचे दिया जा रहा है:—

१. वही आर्त्तव शोणित यदि अत्यधिक मात्रा में (Menorrhagia) अथवा दीर्घकाल तक (Metrorrhagia) ऋतुकाल के अतिरिक्त भी गिरता रहे तो उसे 'असृग्दर' कहते हैं। यह प्राकृत रक्तस्राव से विभिन्न लक्षणों वाला होता है।

२. रस से ही स्त्रियों में रज नामक रक्त की उत्पत्ति होती है। यह आर्त्तवस्राव बारह वर्ष की आयु से प्रारम्भ हो पचास वर्ष की आयु तक चलता रहता है। रजः-क्षयः स्त्रियों में वृद्धावस्था की सूचना देता है।

३. स्त्रियों में स्वाभाविक रीत्या रजःस्राव तीन, पाँच या सात दिनों तक चलता रहता है।

आर्त्तव चक्र (Menstrual cycle)—रजः स्राव की तीन अवस्थायें होती हैं। सूक्ष्म प्रवृत्ति, संचय तथा निर्हरण। वास्तव में आर्त्तव शोणित के दो प्रकार हैं (१) उद्भूत (वहिःपुष्प) तथा दूसरा (२) अनुद्भूत (अन्तःपुष्प)। इनमें उद्भूत तो वह है जो अप्रशस्त ऋतुकाल में प्रथम तीन–चार दिनों तक प्रत्यक्षतया निकलने वाला रक्तस्राव (Menstrual blood), यह गर्भाधान के लिये अयोग्य होता है। अनुद्भूत रज वह कहलाता है जिसका प्रत्यक्ष नहीं होता। और स्राव के उत्तरकाल में (प्रशस्त ऋतुकाल में) जो पुरुष के संसर्ग से विसर्पित होता या निकलता है। यह अनुद्भूत रज ही गर्भधारणा में सहायक होता है ऐसा प्राचीनों का मत है। चक्रपाणि का वचन है कि पांच रात तक निकलने वाले स्राव को वहिःपुष्प या जीर्णशोणित तथा उसके बाद बारह रात्रि तक पुरुष सम्पर्क से पिघलने वाला गर्भधारण क्षम रज अनुद्भूत रज, अन्तः पुष्प या नवशोणित कहलाता है।

यहाँ पर कुछ लोग शंका करते हैं कि जीर्णशोणित का उपचय तो तीन से पाँच दिनों में बंद हो जाता है और नवशोणित तो स्वल्प रहता है तथा स्रवित होने योग्य नहीं रहता तो फिर उसका संचार कैसे होता है और शुक्र के साथ मिलकर गर्भधारण कैसे कराता है। डल्हण ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार घृत का पिण्ड अग्नि के संयोग से पिघलने लगता है उसी प्रकार पुरुष के साथ समागम होने पर स्त्रियों का आर्त्तव भी विसर्पित होता है।

संचयकाल—आर्त्तववाही धमनियों से एक मास में आर्त्तव इकट्ठा होता है जो कि कुछ कृष्णवर्ण का एवं विशिष्ट गन्धयुक्त होता है और वायु के द्वारा योनिमुख पर लाया जाता है।

आधुनिक पाश्चात्त्य ग्रन्थों में गर्भाशय की श्लैष्मिकावृत्ति (Endometrium) के परिवर्त्तन के अनुसार रजःस्राव के चार प्रमुख विभाग किया मिलता है।

१. विश्रान्तिकाल (Proliferative or restingphase) २. संचयकाल या स्रावपूर्व काल (Secretory or pre menstrualphase) ३. स्रावकाल (Actualmenstruation) ४. स्रावोत्तरकाल (Postmenstrualphase)

विश्रान्तिकाल—छः दिनों का होता है। श्लैष्मिकावृति के स्रवित हो जाने के पश्चात् नवीन कला के निर्माण होने पर यह प्रारम्भ होता है। इसमें अन्तः कला धीरे-धीरे मोटी पड़ जाती है, ग्रन्थियाँ कड़ी और टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है और स्थानिक रक्तमयता बढ़ जाती है।

संचयकाल—यह काल पन्द्रहवें दिन से लेकर पुनः रजोदर्शन होने तक १४ दिनों का होता है। अर्थात् आगामी रजःस्राव काल के पहले वाला चौदह दिन का काल है। इस काल में क्षेत्र वस्तु (Stroma), ग्रन्थियाँ एवं श्लैष्मिकावृति सभी में परिवर्तन होता है। सबों का संयुक्त प्रभाव गर्भाशय की मोटाई पर पड़ता है, श्लेष्म-स्राव भी होने लगता है, रक्त-संचार भी बढ़ जाता है। इस प्रकार गर्भाशय की श्लेष्मधरा कला की मोटाई स्वाभाविक $\frac{1}{8}$ 'च से दुगुनी अर्थात् $\frac{1}{4}$ इंच हो जाती है एवं गर्भाधान होने पर यही कला और भी मोटी होकर चौगुनी हो जाती है और अब उसका नाम बदल कर 'गर्भधरा कला' हो जाता है, यह सम्पूर्ण क्रिया निम्न क्रम से होती है।

क्षेत्र वस्तु तथा ग्रन्थियों में परिवर्त्तन—ये बहुत बढ़ जाते हैं एवं शोथयुक्त होने के कारण एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। अधिकांश कोषाणु इतने मोटे पड़ जाते हैं कि गर्भधर कोषाणुवों का रूप धारण कर लेते हैं। काल के प्रारंभिक सप्ताह में ये लम्बे विस्तृत कठिन होते हैं तथा श्लैष्मिक तन्तुवों के द्वारा एक दूसरे से पृथक् होते हैं। यह परिवर्त्तन श्लैष्मिकावृति के मध्य भाग में बहुत अधिक होता है। रक्तवाहिनी गत परिवर्त्तनों में जैसे-जैसे रजःस्राव काल नजदीक आता जाता है इसकी रक्तमयता बढ़ती है, यहाँ तक कि ये एक दूसरे से बहुत समीप हो जाती है। काल के अन्त में स्राव श्वेतकण सहित बाहर निकलने लगता है।

स्रावकाल—यह काल चार से पाँच दिनों का होता है। रक्त और श्लेष्मा का स्राव के द्वारा यह अपना आगमन प्रदर्शित करता है। रक्त प्रथम क्षेत्रवस्तु (Stroma cells) में आता है, स्राव के पूर्व गर्भाशय के श्लैष्मिकावृति (Endonetrium) के चक्रवत् धमनियों में से गमन करता है। स्राव के कुछ

घंटे पूर्व ये चक्रवत् धमनियाँ (Spiralarteries) संकुचित हो जाती हैं। जिससे धमनी पर दवाव पड़ता है। यह धमनीगत दवाव स्राव पर्यन्त विद्यमान रहता है, समय-समय पर धमनियाँ विस्तृत भी हो जाती हैं तथा जब रक्त परिभ्रमण उनमें पुनः शुरू होता है तब उनकी दीवालें जो पहले से ही कमजोर होती हैं उन्हें विदीर्ण कर रक्त वाहर आने लगता है। इस प्रकार सम्पूर्ण श्लैष्मिकावृति (Endometrium) का ऊपरी भाग ढीला हो जाता है तथा छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होकर निर्मोक (Casts) के रूप में रक्त के साथ वाहर आने लगता है। यह श्लैष्मिकावृति के प्रत्येक स्थानों पर एक ही साथ नहीं होता, वल्कि विभिन्न स्थानों में पृथक्-पृथक् समय पर होता है साथ ही चार पाँच दिनों में अपिस्तर का पूरा ऊपरी भाग एवं क्षेत्रवस्तु (Stroma) का अत्यधिक ऊपरी भाग भी निकल जाता है। ये पूरी क्रियायें नियमित रूप से स्वाभाविक और वेदनारहित होती हैं। इस काल के तीन उपविभाग किये जाते हैं, यह विभाजन लाक्षणिक दृष्टि से हैं—

आदि काल—(Invasion)—यह काल कुछ घंटों का होता है। इसमें श्लेष्म कला का स्राव वढ़ जाता है, शरीर में भारीपन और ह्रास मालूम होता है। इसके वाद शीघ्र ही रक्त का वास्तविक स्राव शुरू हो जाता है।

मध्यकाल—(Stage of persistence)—इस काल में रक्तस्राव के साथ श्लेष्मल कला के टुकड़े स्रवित होते हैं एवं कुछ पीड़ा भी होती है। यह दो से तीन दिनों तक रहता है।

अन्तिमकाल—(Stage of decline)—यह स्राव काल की अन्तिम अवस्था है, एक-दो दिनों तक रहती है। रक्त का स्राव धीरे-धीरे कम होने लगता है, श्लेष्मा का स्राव भी उसी प्रकार धीरे-धीरे कम हो जाता है।

स्रावोत्तरकाल—(Postmenstrual phase)—इस काल में श्लैष्मिकावृति की स्थूलता में कमी हो जाती है, इसकी मोटाई घट कर १ मिलीमीटर (१/२०") के लगभग रह जाती है। दो दिनों के पश्चात् जैसे-तैसे इसकी पूर्ति हो पाती है तथा विश्रान्ति काल का पूर्वरूप के समान दिखलाई पड़ती है। श्लैष्मिकावृति के आन्तरिक भाग से पुनर्जनन शुरू होता है, रक्तवाहिनियाँ स्वाभाविक स्थिति में आ जाती हैं और रक्त अवशेष जो क्षेत्रवस्तु में रहता है प्रचूषित हो जाता है।

ये चारों काल प्रतिमास स्वक्रमानुसार परिपूर्ण हो कर निरन्तर जारी रहते हैं। जब तक कि गर्भ-धारण न हो या कोई अस्वाभाविक व्यतिक्रम न आजाय इस क्रम में कोई व्यवधान नहीं पड़ता।

उपर्युक्त आर्त्तवीय परिवर्तन क्रियात्मक उपयोग के लिये गर्भाशय की गुहा में निहित होते हैं। चाक्रिक परिवर्त्तन नलिका और ग्रीवा में भी होते हैं; परन्तु इन भागों का कोई महत्त्वपूर्ण सक्रिय कार्य नहीं होता। स्राव पूर्व काल की उत्तरावस्था में श्रोणिगत सभी अवयवों में बढ़ती हुई रक्तमयता (Conjestion) के चिह्न मिलते हैं और ग्रीवा में यह ग्रन्थियों की वर्द्धमान स्रावी क्रिया के द्वारा पहचाना जाता है। कुछ स्त्रियों में आर्त्तवस्राव के प्रारम्भ में स्तनों में किंचित् रक्ताधिक्य और साथ ही उनकी अभिवृद्धि भी प्रतीत होती है। इसीके साथ स्तनाग्रों में कुछ उत्तेजना (Increasing sensitiveness) भी पायी जाती है।

लाक्षणिक दृष्टि से अधिकांश स्त्रियों में कुछ साधारण लक्षण भी मिलते हैं जैसे शरीर का भारी होना, थकावट, आँखों के सामने गोल धूमिल रेखा की सी प्रतीति, नाड़ी संस्थान का अधिक ग्रहणशील का (Sensitive) हो जाता है; अतः परावर्त्तित क्रियायें बढ़ जाती हैं। आर्त्तवस्राव के समय तापक्रम कुछ कम हो जाता है, रक्त निपीड कुछ गिर जाता है, फुरियों का अनुभव होता है, मूत्र में मेहीय (Urea) का निकलना कम हो जाता है और संचरशील रक्त में चूने की राशि कुछ न्यून हो जाती है।

रज के कार्य—रज या रजोदर्शन के जो कुछ उच्च कार्य शरीर के अन्तर्गत होते हों; या न हों फिर भी निम्नलिखित व्यावहारिक लाभ अवश्य होते हैं—

१. इसके प्रारंभ से यौवनावस्था का प्रारम्भ तथा इसकी निवृत्ति से यौवनावस्था की निवृत्ति का ज्ञान सहज में हो जाता है।

२. योग्य आयु में रजोदर्शन न होने से स्त्री के स्त्रीत्व के कमी का या उसके स्वास्थ्य की खराबी का ज्ञान हो जाता है। वैसे ही जिनमें रजोदर्शन ठीक समय पर हो रहा है उनमें समय पर रजोदर्शन न होने से उनके भी स्वास्थ्य की खराबी का अनुमान लगाया जा सकता है।

३. आर्त्तव दर्शन से गर्भाधान के लिये तथा गर्भाधान रोकने के लिये योग्य काल का बोध हो जाता है।

४. आर्त्तव स्राव से स्त्री के अपत्य मार्ग की स्थिति तथा प्रतिक्रिया शुक्राणुओं के प्रवेश अर्थात् गर्भाधान के लिये अनुकूल होती है।

५. समागम करने के पश्चात् आर्त्तवदर्शन के बन्द होने से गर्भाधान का ज्ञान हो जाता है। साधारण जनता के लिये सगर्भावस्था का ज्ञान होने का यही मुख्य लक्षण होता है।

६. प्रसव काल निश्चित करने के अनेक साधन होते हैं; परन्तु इन साधनों में रजोदर्शन के आधार पर प्रसव काल निश्चित करने का मार्ग सबसे सरल और सबके लिये सुगम होता है। साधरणतया मनुष्य की गर्भावस्था की अवधि २८० दिनों की होती है।

७. प्रतिमास मासिक धर्म के ठीक होने से साधारणतया स्त्री के दोष बढ़ जाते हैं और स्त्री का स्वास्थ्य ठीक रहता है। आधुनिक विद्वानों की भी मासिक धर्म के सम्बन्ध में यही कल्पना है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में भी इस प्रकार के विचार मिलते हैं—

८. संचित जीर्ण शोणित के निकल जाने पर नये रज का संचय होता है, इस क्रिया के द्वारा स्त्री शुद्धता प्राप्त करती है। उसके सर्व शरीरगत दोष शुद्ध हो जाते हैं जिससे उसे प्रमेह नहीं होता और पुरुष के साथ समागम और गर्भाधान के योग्य बन जाती है।

रजोधर्म के हेतु या रजोत्पत्ति (Causes of menstruation)—स्त्री-विषयक आयुर्वेदीय शास्त्रों में सबसे अधिक महत्त्व दिया जाने वाला यही एक विषय है प्राच्य और पाश्चात्य सभी शास्त्रज्ञों ने प्रायोगिक, लाक्षणिक और काल्पनिक सिद्धान्तों द्वारा इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है। आहार रस से उत्पन्न यह आर्त्तव रक्त ऋतु-काल में स्वस्थ एवं युवती स्त्री की योनि से तीन-चार दिनों तक प्रवृत्त होकर रज की संज्ञा प्राप्त करता है यह स्वयं आहार रस का परिणाम है, न कि रस धातु का, ऐसा श्री अरुणदत्त का मत है 'केदार कुल्या' न्याय के पक्ष में यह तो सर्व-मत से सिद्ध है, कि आर्त्तव रक्त ही नहीं अपितु शरीरस्थ रक्त भी आहार रस का ही परिणाम है। इस प्रसंग में कुछ विद्वानों ने अरुचि प्रकट की है; पर वास्तव में तो निवृत्ति और निर्माण काल में भेद दिखलाने के लिये यह पुनरुक्ति की गई, ऐसा कुछ लोगों

का मत है और यह रजोरूप रक्त रसजन्य होते हुए भी धातु शोणित के समान शीघ्र उत्पन्न नहीं होता अपितु शुक्र के समान प्रत्येक मास में ही इसकी उत्पत्ति होती है। रस की उत्पत्ति एक दिन में हो जाती है इसके अनन्तर छहों धातुओं के निर्माण में क्रमशः पाँच-पाँच दिन लगते हैं इस प्रकार एक मास के अनन्तर पुरुषों में शुक्र और स्त्रियों में इस रस से आर्त्तव बनता है।

जब आहार रस से ही आर्त्तव बनता है तब तो जीवन के प्रारम्भ से ही होना चाहिये फिर १२ और ५० की मर्यादा क्यों ? इसका उत्तर शास्त्रकारों ने बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से दिया है यथा मुकुलस्थ पुष्प में गन्ध है या नहीं इसके उत्तर में यही कहना ठीक है यद्यपि प्रत्यक्षतः उसकी उपलब्धि नहीं होती क्योंकि इस समय यह अत्यन्त सूक्ष्म और अव्यक्त रूप में स्थित रहता है जो कि कालान्तर में वय, स्वभाव, काल के परिणाम से विवृत्त पत्र होकर पुष्प के रूप में व्यक्त होता है इसी प्रकार स्त्रियों में वय परिणाम से शुक्र का प्रादुर्भाव होता है रोमराजियों की उत्पत्ति होती है रोम-राज्यादिकों का प्रादुर्भाव होता है और आर्त्तव का प्रादुर्भाव होने पर धीरे-धीरे स्तन, गर्भाशय और योनि आदि की वृद्धि होती है यह सुश्रुतकार का मत है।

इसीसे मिलता जुलता कश्यप ऋषि का भी मत है जो बहुत कुछ आधुनिक उपपत्तियों के साथ साम्य रखता है। पुष्प के मध्य में ही फल की अभिनिर्वृत्ति होती है; पर प्रयत्न के अभाव में उसकी उपलब्धि नहीं होती। उसी प्रकार स्त्री पुरुष में शोणित-शुक्र की उत्पत्ति कालापेक्षित है। सोलह वर्ष में दोनों के परिपक्व होने के का काल पूर्ण हो जाता है पर आहार विशेष से उसमें विशेष अन्तर हो सकता है। आहार और प्रयत्न को ध्यान रखते हुए हम अत्यन्त औचित्य और सरलता के साथ आधुनिक शास्त्रों के साथ आगे बढ़ सकते हैं यथा घृत-लिप्त भाण्ड को अग्नि पर चढ़ाने से वह पिघल जाता है उसी प्रकार पुरुषों के साथ समागम करने पर स्त्रियों का आर्त्तव विसर्पित होता है यहाँ पर आर्त्तव शब्द से स्त्री बीज लिया गया है रज की उत्पत्ति रस से रक्त की तरह शीघ्र ही होती है, कुछ लोग ऐसा कहते हैं; परन्तु यह कथन ठीक नहीं है 'विसर्पित आर्त्तव' इत्यादि में भी स्त्रियों का आर्त्तव पुरुष के समागम से विसर्पित होता है। यहीं पर विश्वामित्र के वाक्य को उद्धृत कराना असंगत नहीं होगा। [सूक्ष्म केश के

समान जो वीज रक्त (रज) वाहिनी सिरा है यह एक मास में गर्भाशय की पूर्ति करती है तथा वीज को ग्रहण करने योग्य वनाती है]

यहाँ पर दो मूलभूत तथ्यों का स्पष्टीकरण परमावश्यक है प्रथम तो आर्त्तव स्राव वीजकोष की सक्रिय-क्रियाओं की उपस्थिति पर निर्भर है और दूसरा वीजकोष और गर्भाशय का सम्वन्ध नाडी द्वारा न होकर, रक्तोत्पन्न आन्तरिक स्रावों द्वारा होता है। गत कई वर्षों में इस विषय पर काफी अन्वेषण हुए; परन्तु समाधान की जटिलता वढ़ती ही गई और अधिकाधिक वढ़ती ही जा रही है। यद्यपि रजोधर्म के कारणों पर कुछ निर्णयात्मक तथ्य प्रकाशित हुए फिर भी यह निश्चित है कि विषय अत्यन्त जटिल है और आगे कार्य होने का विस्तृत क्षेत्र अवशिष्ट है।

यह निश्चित हो चुका है कि वीजकोष में दो भिन्न प्रकार के स्राव उत्सृष्ट होते हैं। प्रथम का परिपक्व वीज-पुटक (Ripenig of graffian fallicles) में निर्माण होता है उसे ऋतु संजनन रस (Oestrin) कहते हैं। निम्न श्रेणी के पशुओं में इसका कार्य कामोत्तेजना जाग्रत करना होता है और स्त्रियों में इसके कारण गर्भाशय के आकार तथा रक्तसंचार में किंचित् अभिवृद्धि होती है। वीजोत्सर्ग के वाद पुटक (Follicle) पीतपिण्ड (Carpusleuteum) का निर्माण करता है, जो कि ऋतु संजनन नामक रस के स्राव को सतत वनाये रखता है परन्तु यहाँ पर के कोषाणु समूह (Leutincells) एक दूसरे प्रकार के स्राव का उद्रेचन करते हैं जिसे क्षेत्र संजनन रस (Progestin) कहते हैं। यह गर्भाशय की श्लेष्मल कला की स्राव की शक्ति को उत्तेजित करता है और रजःपूर्वीय (Pre menstrnal) सभी क्रियाओं का नियन्त्रण करता है तथा गर्भाशय को गर्भाधान के लिये तैयार करता है।

दूसरा मूलभूत सिद्धान्त है वीजकोष (Ovary) की समस्त स्रावी क्रियायें पोषणिका ग्रन्थि के पूर्वखण्ड से नियन्त्रित होती है। यह महत्त्वपूर्ण रचना शरीर के अप्रवेश्य गम्भीर और गुप्त स्थान में अवस्थित है। इसके अनेक स्राव होते हैं। उनमें से एक महत्त्व का स्राव वीजकोष का अभिवर्द्धक स्राव है। वे स्राव जो वीज-कोष की क्रियाओं पर नियंत्रण रखते हैं वीज गर्भानुगुण रस (Gonadotro-picharmones) कहलाते हैं। ये एक हैं या अनेक, इस सम्वन्ध में काफी

काल तक मतभेद रहा। परन्तु अब यह प्रायः निश्चित सा हो गया है कि पोषणिका ग्रन्थि के पूर्वखण्ड (Ant pitutary) के क्षारप्रियिक (Basophile cells) कोषाणुवों दो प्रकार के वीजगर्भानुगुण रस निःसृत होते हैं। इनमें प्रथम तो पुटकीय अभिवृद्धि (Follicular development) का कार्य करता है इस लिये पुटकोत्तेजक (Follicular stimulating) कहलाता है। दूसरा पीतपिण्ड का निर्माण करता है इस लिये पीतपिण्डकर स्राव (leutinis-sigharmone) कहलाता है। पुटकोत्तेजक रस और वर्द्धमान वीजपुटक की कणिकाभकोषाणुवों में (Theca interna and granulareells) ऋतुसंजनन रस के निर्माण को उत्तेजित करता है। पीतकोषक रस (Leutinising harmone) परिपक्व वीजपुटक का वीजागम (Ovulation) कराता है और फटे हुए पीत कोषाणुओं की अभिवृद्धि करके पीतपिण्डीय-कोषाणुवों से क्षेत्रसंजनन रस (Progestine) का स्राव कराने में समर्थ होता है।

पूर्व पोषणिका और वीजकोष की क्रियावों में परस्पर विरोध देखा गया है। ऋतुसंजनन रस की अधिक मात्रा रक्त में होने पर पूर्व पोषणिका से निःसृत वीज गर्भानुगुण रस (Gonadotropicharmone) का उत्पादन कम हो जाता है, जिससे वीजकोष के ऋतुसंजनन रस का स्राव भी न्यून हो जाता है। तथा यह कम होकर पूर्व पोषणिका की क्रियावों को पुनः उत्तेजित करता है।

आधुनिक अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि अगर्भा स्त्री में वीजकोषीय स्राव की सारी क्रियायें पूर्वपोषणिका से नियन्त्रित होती हैं। परन्तु गर्भावस्था में यह कार्य अपरा वहिर्जरायु स्तर (Chorionic Epithilium) से होता है। गर्भाधान के वाद पोषक स्तर (Trophoblast) से एक प्रकार का ऐसा स्राव निकलता है जो कि गर्भाशय के कोषाणुवों को गलाकर वीजवपन कराता है। साथ ही एक रस वीज (Ovum) से भी निकलता है जो पीत पिण्ड को वनाये रखता है। रजःस्राव पूर्व से रजःस्राव काल तक की क्रिया ऋतुसंजनन रस के द्वारा सम्पादित होती है। क्षेत्रसंजनन रस की क्रिया के अनवरत रूप से चलने पर गर्भाशय अवसाद युक्त हो जाता है, और उसमें पुनः संकोच नहीं होता और पीत पिण्ड का अपजनन (Degeneration) आरम्भ हो जाता है।

बीज एवं पोषणिकाग्रन्थीय सम्बन्ध

पोषणिका ग्रन्थि
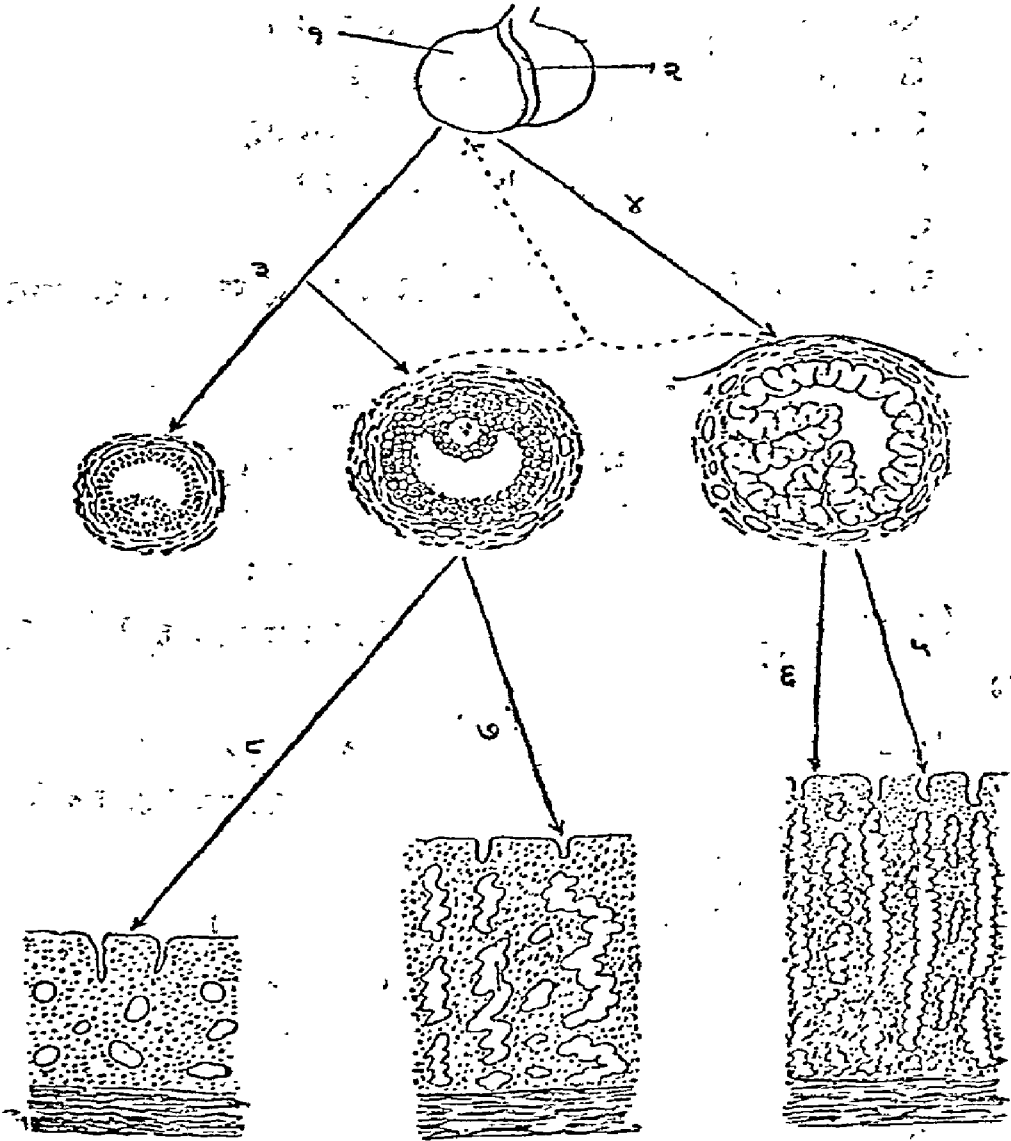
चित्र १४

१—पूर्व पोषणिंका ग्रन्थि २—पश्चिम पोषणिका ग्रन्थि ३— पुटकोत्तेजन ४—पीतरंजन ५—क्षेत्रसंजनन ६–७–८—ऋतुसंजनन

आधार तथा प्रमाणसंचय

रजोभाव—......स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टमः।

रजोवहाः सिरा यस्मिन् रजः प्रविसृजन्त्यतः।
पुष्पभूतं हि तद्दैवान्मासि मासि प्रवर्त्तते।
हीनयोन्यास्तु बालायाः कार्यं गच्छति शोणितम्
अथ पूर्णस्वभावायाः कार्यं योनिञ्च गच्छति।
धातुषु प्रतिपूर्णेषु शरीरे समवस्थिते
संचितं रुधिरं योनिः पुनः कालेन मुञ्चति। (का. सं. र. गुल्म)

गर्भधारणक्षम आयु—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते।
जातो वा न चिरञ्जीवेद् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्।

(सु. शा. १०, सु. सू. ३५, वा. शा. १, संग्रह शा. १)

असृग्दरः—तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि।
असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात्।
(सु. शा. २, संग्रह. शा. १, च. चि. ३०)

रजःस्रावकाल, अवधि, रजःक्षयकाल—

मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवति त्र्यहम्।
वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम्।
(रजः सप्तदिनं यावदृतुश्च भिषजां वर।)

(वा. शा. १, हा. स., सु. सू. १४, ३, च. चि. ३०)

विश्वामित्र सूत्र—सूक्ष्मकेशप्रतीकाशा बीजरक्तवहाः सिराः
गर्भाशयं पूरयन्ति मासाद् बीजाय कल्पते।

रजोभावहेतु—१. वयः परिणामात्, कालस्वभावात् सूक्ष्मस्थितस्य
रजसः कालेऽभिव्यक्तिः। (का० सं०)

२. यथा च पुष्पमध्ये फलमनिर्वृत्तं सर्वमतः प्रयत्नाभावात् नोपलभ्यते तथा स्त्रीपुंसयोः शोणितशुक्रे कालापेक्षे, स्वकर्मापेक्षे च भवतः। षोडशवर्षयोः हि शोणितशुक्रयोर्मध्ये प्रभवतः। अर्वागपि यदाहारविशेषात् पूर्णे भवतः।

(जातिसूत्रीये काश्यपः, सु० सू० १४)

रजःस्वरूप (शुद्ध)—

शशासृक् प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्
तदार्त्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरंजयेत्। (सु० शा० २)

राशि—ईषत्कृष्णं विगंधञ्च वायुर्योनिमुखं नयेत्। (वा० शा० १)

गुंजाफलसवर्णञ्च पद्मालक्तकसन्निभं
इन्द्रगोपकसंकाशमार्त्तवं शुद्धमादिशेत्।
मासान्निष्पिच्छदाहार्त्ति पञ्चरात्रानुवन्धि च
नैवातिवहुलात्यल्पमार्त्तवं शुद्धमादिशेत्। (च० चि० ३०)
द्वावञ्जली तु स्तन्यस्य चत्वारो रजसः स्त्रियाः। (वा० शा० ३)

रजःकार्य—नवे तनौ च संजाते विगते जीर्णशोणिते
नारी भवति संशुद्धा पुंसा संसृज्यते तदा।
रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुद्धयति
सर्वं शरीरं दोषाश्च न प्रमेहन्त्यतः स्त्रियः।

(डल्हणोद्धृत श्लोक तन्त्रान्तरतः)

रजोत्पत्ति—रसादेव स्त्रियाः रक्तं रजः संज्ञं प्रवर्त्तते। (सु० सू० १४)

अंतःपुष्पा—वर्षद्वादशाकादूर्ध्वं यदि पुष्पं वहिर्न हि
अन्तः पुष्पं भवत्येव पनसोदुम्बरादिवत्। (कश्यप०)

(Midwifery by. R. W. Jhostone)
(Gynaecology by Shaw)
(सुश्रुत हिन्दी टीका—भा० गो० घाणेकर कृत। अभिनव प्रसूति तंत्र)

षष्ठ अध्याय

ऋतुकाल तथा ऋतुचर्या (Ovulation & Personal Hygine)

निरुक्ति—स्त्रियों में उस अवस्था विशेष को ऋतुकाल कहते हैं जब वे गर्भधारण के योग्य होती हैं। प्राचीनों ने ऋतुकाल की संज्ञा प्रकृति के छः ऋतुओं के साथ साधर्म्य रखने के कारण ही दी है। जैसे कि प्रशस्त ऋतु में बोया गया बीज ठीक उगता है उसी प्रकार प्रशस्त ऋतुकाल में स्त्रीगर्भाशय में बोया गर्भ बीज भी श्रेष्ठ एवं निरुपद्रव संतान का जन्म देता है। अभी पूर्व के अध्याय में रज की विवेचना करते हुए उद्भूत और अनुद्भूत (दृष्ट और अदृष्ट आर्त्तव) का उल्लेख हो चुका है। अब यहाँ पर प्रसंगवश उसीका पर्याय अप्रशस्त और प्रशस्त भेद से बतलाया जा रहा है। स्त्रियों में पूरे ऋतुकाल की मर्यादा विभिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न मानी है। कुछ आचार्यों ने इस काल को १२ दिनों का, शेष ने १६ दिनों का और कुछ ने एक मास का भी माना है। आज के युग में भी प्रशस्त ऋतु या बीजागम (Ovvlation) का काल ठीक ठीक निर्णीत नहीं हो सका है। अप्रशस्त ऋतु मर्यादा (Actual Menstruation) की तो काल मर्यादा (३–७ दिनों की) जानी हुई है; परन्तु बीजागम की काल मर्यादा ठीक निर्धारित नहीं हो पाई है। आजकल नियोजित पितृत्व (Planned parenthood) नामक संस्था के विश्वविख्यात विद्वानों ने अपनी शक्तियों को केन्द्रीभूत करके इसी विषय के ऊपर लगा कर बहुत कुछ प्राप्त भी कर चुके हैं तथापि अभी विषय जटिल ही रह गया है। इस विषय की पूर्ण जानकारी के लिये तद्विषयक ग्रन्थों की ही शरण लेनी पड़ेगी। यहाँ पर संक्षेप में प्रसङ्गानुकूल बीजागम का वर्णन अपेक्षित है।

बीजागमकाल—जहाँ तक अदृष्टार्त्तव का प्रश्न है, रजोदर्शन न होने वाली स्त्रियों में भी गर्भधारणा देखी गई है। रजोदर्शन स्त्रीत्व और गर्भधारणा के योग्य काल का सूचक अवश्य है; परन्तु उसका न होना बीजागम के अभाव का सूचक सर्वथा नहीं होता। लड़कियों में कई बार बिना रजोदर्शन हुए ही गर्भस्थिति होते देखी गई है। सूतिका में पुनः आर्त्तवदर्शन के पूर्व ही गर्भिणी होते भी देखा गया है।

शास्त्रीय दृष्टिकोण से बीजोत्सर्ग का दिन स्त्री की प्रकृति शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, पुरुष समागम इत्यादि से बदलता रहता है। जिस दिन बीजोत्सर्ग होता है; उस दिन स्त्री के शरीर का तापक्रम कुछ बढ़ जाता है तथा उदर गुहा में गर्भाशय

के पार्श्व में कुछ पीडा भी होती है। इन लक्षणों से कभी कभी बीजोत्सर्ग के दिन का पता जल जाता है। इन लक्षणों के आधार पर अनेक स्त्रियों में अनेक बार बीजोत्सर्ग की मर्यादा निश्चित की जाय तो उसमें कुछ भिन्नता पाई जाती है।

प्राचीन आचार्यों के अनुसार बीजागम काल प्रायः १२ या सोलह दिनों का होता है। इसी को प्रशस्त ऋतु काल या गर्भधारण क्षमकाल कहते हैं। यहाँ पर जो दो कालमर्यादायें बारह और सोलह दिनों की बतलाई गई हैं उनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। बारह दिन वालों के विचार से यह विशुद्ध रूप से प्रशस्त ऋतु मात्र का कथन है इसमें रजःस्राव के तीन दिन और सोलहवें का योनिसंकोच के एक दिन का ग्रहण नहीं किया गया है। इसके विपरीत सोलह दिनों की मर्यादा मानने वालों के विचार से उसका भी समावेश इसी में हो जाता है जिससे चार दिन अधिक हो जाते हैं। जिन्होंने एक मास का प्रशस्त ऋतुकाल माना है वह भी निरर्थक नहीं है क्योंकि कई बार ऋतुकाल के अनन्तर भी गर्भ-स्थिति होते देखी गई है। कई बार स्त्रीबीज का आगमन विलम्ब से होता है अथवा निकले हुए स्त्रीबीज का पुरुष शुक्र कीट के साथ विलम्ब से संयोग होता है। अत एव कंचित् काल मर्यादा एक मास की भी हो सकती है।

नव्य वैज्ञानिकों के मत से आर्तवदर्शन के दिन के बाद बारहवें या सत्रहवें दिन स्त्रीबीज का आगम संभव है और यही काल स्त्री में बीज ग्रहण के योग्य होता है। दूसरे अन्वेषकों के अनुसार छठवें से तेरहवें दिन तक बीजागम होने का काल बतलाया गया है। कुछ अन्य वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि बीजागम काल निश्चित नहीं बतलाया जा सकता वह अनियत है।

आयुर्वेद के ग्रंथकारों ने इस काल मर्यादा की बड़ी छान बीन की है उनके विचार भी पाश्चात्य विचारकों से मिलते जुलते हैं—यहाँ पर कुछ मूल सूत्रों का संग्रह किया जा रहा है:—

१. ऋतु बारह रात्रि का होता है, कुछ लोग सोलह रात्रि का मानते हैं। शुद्ध योनि और गर्भाशयवाली स्त्रियों में एक मास पर्यन्त भी हो सकता है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। इसी प्रकार कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ होती हैं जिनमें आर्त्तवस्राव न दिखलाई ही नहीं पड़ता।

२. सुश्रुत ने लिखा है कि दृष्टार्तवा स्त्रियों में प्रशस्त ऋतु बारह रात्रि का होता है।

३. विदेह ने सोलह दिनों का माना है।

४. जैसे दिन के वीत जाने पर सायंकाल में कमल संकुचित हो जाता है उसी प्रकार ऋतु के वीत जाने पर स्त्रियों की योनि भी संवृत हो जाती है। और शुक्र का प्रवेश होकर गर्भाधान संभव नहीं रहता।

ऋतुमती—पुराने रज के निकल जाने पर, नये के अवस्थित हो जाने पर शुद्ध होकर स्नान की हुई स्त्री को जिसकी योनि शोणित और गर्भाशय निर्दुष्ट हों; ऋतुमती कहते हैं।

ऋतुमती स्त्री का मुख पुष्ट और प्रसन्न होता है, उसका शरीर मुख तथा दाँत क्लेद युक्त हो जाते हैं, वह पुरुष की इच्छा करती है और प्रेम कथानकों में दिलचस्पी लेती है। उसकी कुक्षि, आँख और वाल शिथिल हो जाते हैं, उसकी भुजाओं, स्तन, श्रोणि, नाभि, उरु, गुह्याङ्ग और नितम्ब में स्फुरण होता है तथा हर्ष और उत्सुकता से पुरुष का चाह रखती है।

ऋतुकालचर्या

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रंथों में जितना विशद ऋतुकालचर्या का प्रसंग मिलता है उस प्रकार का वर्णन आधुनिक युग के किसी भी स्त्रीरोग अथवा प्रसूति तन्त्रके पुस्तक में नहीं मिलेगा। फलतः इसे आयुर्वेद का एकान्ततः पाठ मान लिया जावे तो कोई भी आपत्ति नहीं आती। जैसा कि पहले वतलाया जा चुका है कि ऋतु प्रशस्त और अप्रशस्त भेद से दो प्रकार का होता है। अत एव तत्कालीन आचारों का भी दो खण्डों में वर्णन करना अपेक्षित है।

अप्रशस्तकालचर्या—ऋतुकाल में स्त्री प्रथम दिवस से ही ब्रह्मचारिणी रहे। उसे दिन में सोना, आँखों में अंजन लगाना, रोना (आंसू गिराना), स्नान करना, चंदनादि सुगंधित द्रव्यों का शरीर पर लेप करना, अभ्यंग (मालिश) करना, नखों का काटना, तेजी से दौड़ना, हँसना, वहुत वोलना, उच्च शब्दों का सुनना, केश प्रसाधन करना, तेज वायु (आंधी) का सेवन तथा परिश्रम छोड़ देना चाहिये। क्योंकि दिन में सोने से गर्भ निद्रालु, अंजन से अंध, रोने से विकृत दृष्टिवाला, स्नान और अनुलेप से दुःखशील, अभ्यंग से कुष्टी, नख काटने से कुनखी, तेजी से दौड़ने से चंचल, अधिक हँसने से श्यामवर्ण के दाँत, ओष्ठ, तालु और जिह्वा वाला, अति वोलने से वहुत वोलने वाला, अतिशब्द सुनने से वहरा,

अवलेखन से गंजा, वायु और परिश्रम के सेवन से उन्मत्त सन्तानें पैदा होती हैं।

कुशासन पर सोवे, हथेली, मिट्टी के पात्र या पत्तल इनमें से एक पर हविष्य भोजन करे और ऐसी स्त्री को चाहिये कि तीन दिन तक पति का परहेज रखे।

२. इन निन्द्य रात्रियों में से प्रथम दिवस में रजस्वला के साथ मैथुनकर्म आयुष्यनाशक होता है, उस दिन के मैथुन में जो गर्भ स्थापित होता है वह नौ महीने के पश्चात् प्रसव काल में मर जाता है। दूसरे दिन के मैथुन में भी इसी प्रकार का होता है और सूतिका गृह में जन्मा हुआ बालक मर जाता है। तीसरे दिन में भी ऐसा ही होता है किंवा असम्पूर्ण अंगयुक्त और अल्पायु होता है। चतुर्थ दिन में सर्वाङ्ग सम्पूर्ण और दीर्घायु होता है। नीचे की ओर बहते हुए आर्त्तव शोणित में प्रविष्ट हुआ शुक्रगत बीज गुण कारक नहीं होता जैसा कि नदी के प्रवाह में तैरने वाला (लकड़ी, कागज के समान) हल्का पदार्थ वापस आजाता हैं ऊपर नहीं आता वैसे ही ऋतुमती स्त्री के समागम की घटना भी होती है। इसलिये नियमों के आचरण करनेवाली अशुद्ध ऋतुमती को समागम के लिये तीन दिन तक वर्ज्य रखे।

३. दूध में पकाया हुआ जौ का पायस थोड़ी मात्रा में कर्षण (रजःस्राव से विकृत धातुवों को निकालने) के लिये सेवन करना चाहिये। साथ ही तीक्ष्ण उष्ण, अम्ल लवण, द्रव्यों का सेवन भी वर्ज्य करना चाहिये।

अप्रशस्त ऋतु में आहार विहार कर्षक रखने का विधान है इसका उद्देश्य पुत्रोत्पादन माना जाता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है कि स्त्री की इस काल की क्षमता या कर्षण पुत्रोत्पादक होता है। गर्भोत्पादन के समय स्त्री क्षमता पुत्रोत्पादन में सहायक होती है ऐसा पाश्चात्य ग्रन्थकार भी मानते हैं। 'इस उद्देश्य से जो स्त्री पुत्रोत्पादन की इच्छा रखती है उसको भोजन में इसका लघु एवं कर्षक (Short means in food) आहार खाना चाहिये।' आदर्श संतानोत्पत्ति (Ideal birth) नामक ग्रन्थ में ऐसा लिखा है।

उष्ण और तीक्ष्ण अन्न का निषेध इसलिये किया गया है कि उससें गर्भाशय में रक्ताधिक्य (Congestion) होकर आर्त्तव स्रावबढ़ता है और गर्भ का अवस्थान गर्भाशय में नहीं हो पाता।

रजस्वला स्त्री को तीन दिनों तक अस्पृश्य कहा है तथा इस आदेश के अनुसार ऐसी स्त्रियों को इस काल में सब गृहकर्मों से दूर रखने की प्रथा अपने देश में है। पाश्चात्य देशों में भी इस प्रकार की प्रथा पहले थी। वैज्ञानिक अन्वेषणों के अनन्तर यह प्रमाणित हुआ कि स्त्री के रक्त में इस काल में एक रजोविष (Menstrual toxin) होता है जो स्वेद, दूध आदि उत्सर्गित होता है। यदि रजस्वला स्त्री के हाथ में फूल दिया जाय तो वह रजो-निवृत्त स्त्री की हथेली की अपेक्षा जल्दी मुरझा जाता है। स्त्री के दूध में भी वह विष निकलता है और बच्चे को कुछ तकलीफ होती है। प्रसूति के पश्चात् दूध पिलाने के काल में स्त्रियों में स्वाभाविक नष्टार्त्तव होता है उसके अनेक कारणों में यह भी एक स्वाभाविक कारण हो सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि रजस्वला स्त्रियों को गृहकर्मों से निवृत्त रखने के प्राचीन सिद्धान्तों में कुछ तथ्य है।

रजस्राव होता हो तो सहवास का निषेध किया है, इसके व्यभिचार से होने वाली आपत्तियों का भी उल्लेख किया गया है। पाश्चात्य चिकित्सक भी ऐसा मानते हैं कि इस काल में मैथुनादि के कारण स्त्रियों में श्वेत प्रदर पुरुषों में मूत्र प्रसेक, शोथ एवं विकृत आकार की गर्भोत्पत्ति की संभावना रहती है।

इनके अतिरिक्त रोने, स्नान, अनुलेप, शब्द श्रवण अत्युच्च भाषणादि का विशेष प्रकार के आचारों से विशे प्रकार के परिणाम बतलाये गये हैं—इनका आपस में कार्य-कारण सम्बन्ध कहाँ तक संभवनीय है, इसका निर्णय करना कठिन है। परन्तु माता-पिता की मनःस्थिति का प्रभाव भावी संतान पर पड़ता है, यह सर्वसम्मत है।

प्रशस्त ऋतुकाल-चर्या—चौथे दिन स्नान करके श्वेतमाला एवं वस्त्र धारण करके बाहर और भीतर से पवित्र बनकर, पति के समान पुत्र की चाह रखती हुई स्त्री को सर्वप्रथम पति को देखना चाहिये।

यह स्नान उबटन की मालिश कराके सम्पूर्ण शरीर का सिर के साथ कराना चाहिये। पहनने के लिये पुरुष और स्त्री दोनों को उस दिन श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिये। तदनन्तर श्वेत वस्त्र पहने हुए, माला धारण किये हुए, प्रसन्न मन तथा एक दूसरे के चाहने वाले स्त्री और पुरुष दोनों को सहवास करना चाहिये।

रजःस्राव के बंद हो जाने के बाद स्नान कर लेने पर साध्वी स्त्री गर्भादि कर्म

के योग्य हो जाती है। व्यवहार में स्पर्शनादि विषयों के अनुपरत रहने पर भी रजःस्राव के चौथे दिन स्त्री को शुद्ध मानते हैं। अन्यान्य स्मृतियों के वचन भी इसमें प्रमाण हैं पति के लिये स्त्री रजःस्राव के चौथे दिन स्नान करने के बाद स्पर्शादि के लिये शुद्ध हो जाती है; परन्तु दैव तथा पितृकर्म के लिये उसकी शुद्धि पाँचवें दिन होती है।'

ऋतु के बाद शुद्ध स्नाता स्त्री को मंगल और स्वस्तिवाचन के बाद सर्वप्रथम अपने पति के दर्शन करने का विधान है क्योंकि ऐसा मानते हैं कि ऋतुस्नाता स्त्री जिस प्रकार के पुरुष को देखती है उसी प्रकार की संतान का जन्म देती है। इसलिये पति को दिखाने का विधान है।

फिर पुत्रेष्टियज्ञ के पश्चात् मास तक ब्रह्मचारी रहते हुए घृत से स्निग्ध पुरुष को घृत और दूध के साथ भात खाकर मासतक ब्रह्मचारिणी रही हुई स्त्री को तैल से स्निग्ध तिल माष भूयिष्ठ आहार का सेवन (दिन में दोपहर को करके) अनुनयादि से आश्वासन देकर पुत्रार्थी पुरुष चौथी, छठी आठवीं, दसवीं और बारहवीं रात को गमन करे। इस नियम का विचार करते हुए सहवास करे। इन दिवसों में आयु आरोग्य सौन्दर्य, ऐश्वर्य आदि का बल अधिकाधिक होता है। इसके सिवाय पाँचवीं, सातवीं, नवीं, ग्यारहवीं रात्रि में कन्यार्थी गमन करे। तेरहवीं प्रभृति तिथियाँ निन्द्य हैं।

जो जो स्त्री जैसे जैसे पुत्र को चाहती हो, उस उस स्त्री को उस उस पुत्रेच्छा को सुनकर उन उन देशों के मनुष्यों को मन में सोचने के लिये कहे। तथा जो जो स्त्री जिन जिन देशों के पुरुषों के अनुरूप पुत्र को चाहती हो उसे उसका मन में चिन्तन करते हुए उन उन देशों के आहार, विहार, व्यवहार तथा परिधान के अनुसार ही कार्य करे। ऐसा उसी स्त्री को उपदेश करे। इन उपदेशों में वस्तुतः सत्य का दिग्दर्शन इस प्रकार काराया जा सकता है:—

वास्तव में जिस काल में स्त्री के शरीर में बीज (Ooum) उत्पन्न होता है उस समय स्त्री जिस प्रकार के चिन्तन, श्रवण, दर्शन और स्पर्शन में मग्न रहती है उस प्रकार के परिणाम उसके बीज पर होकर उसी प्रकार की संतान उत्पन्न होती है।

खाद्य पेयादि सम्ब॰ में पुरुष को शरीर पर घृत का प्रयोग (घृत का अभ्यंग, घृत और क्षीर युक्त भोजन) सेवन करने को लिखा है क्योंकि पुरुष का

शुक्र सौम्य होता है—इसलिये इसके पोषण के लिये घृत क्षीर आदि का प्रयोग होना चाहिये।

आर्तव अग्नि गुण भूयिष्ठ होता है अतः स्त्री को तैल मर्दन, तिल और माष (उड़द) का बहुल प्रयोग बतलाया गया है।

इन उपर्युक्त विधानों के साथ ही साथ समागम के समय स्त्री के साथ मैथुन करने के पूर्व उसको सामादि से उभारना, प्रेम से विश्वास उत्पन्न करना, लज्जा दूर करना इत्यादि कर्म भी बहुत आवश्यक होते हैं। विशेषतः शुरु में जब स्त्री और पुरुष मिलते हैं तो सामादि की नितान्त आवश्यकता होती है। सामादि से परिहासानुरागात्मक और कामोत्तेजक आचरणों से उसकी लज्जा दूर होती है—पुनः आगे का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है।

तत्पश्चात् पुत्रार्थी अमुक दिनों में सहवास करे, कन्यार्थी अमुक दिनों में सहवास करे, इस वैद्योक्त या धर्मशास्त्रोक्त नियम का स्मरण करके उसके अनुसार अपने मन का निश्चय कर उन दिनों की रात्रि में सहवास करे।

साथ ही आयुर्वेदोक्त 'चौथी रात में सहवास करने पर उत्पन्न पुत्र का आयुरारोग्य अधिक होता है। इस तरह अधिकाधिक होते होते बारहवीं रात के सहवास से उत्पन्न पुत्र का आयुरारोग्य सबसे अधिक होता है' इस वचन को भी स्मरण रखना चाहिये।

गर्भाधानविधि—गर्भाधान की विधि की भी बड़ी सुन्दर विवेचना आयुर्वेद के प्राचीन ग्रंथों में मिलती है। चरक में लिखा है कि यदि गर्भाधान की इच्छा से संगम करना हो तो कई बातों की जानकारी आवश्यक है। जैसे यदि ऋतुमती स्त्री बहुत भोजन किये हुए हो या क्षुधित, तृषायुक्त, भयभीत, अन्यमनस्क शोकार्त्त, अन्य पुरुष की चाहवाली अथवा मैथुन की अति इच्छा वाली हो तो उसमें गर्भ का धारण नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार गर्भाधान भी हुआ तो विगुण (Abnormal) संतान का जन्म देती है। इसी प्रकार अतिबाला, अतिवृद्ध, दीर्घरोगिणी अथवा किसी अन्य विकार से संसृष्ट स्त्री के साथ भी पुत्रेच्छा से संगम न करे। ये दोष पुरुष के सम्बन्ध में भी मिल सकते हैं, अत एव पुरुष को भी इन दोषों से रहित होना आवश्यक है। इस तरह सभी दोषों से विवर्जित स्त्री और

पुरुष को ही सहवास करना चाहिये। पुनः मैथुनकाल में हर्ष उत्पन्न होने के बाद दक्षिण पाद से पुरुष एवं वामपाद से स्त्री आरोहण करते हुए संगम करे। एक मंत्र का भी उच्चारण करे जिसमें देवों से वीर पुत्र पैदा करने की कामना से प्रार्थना हो। उस मंत्र का उल्लेख प्रमाण-संचय (पृ० ६०) में किया जायेगा।

अधार तथा प्रमाण—संचय

ऋतुकाल—१. ऋतुस्तु द्वादशरात्रं दृष्टार्त्तवो भवति। षोडशरात्रमित्यन्ये। शुद्धयोनिगर्भाशयार्त्तवाया मासमपीति केचित्। तद्वदृष्टार्त्तवोऽप्यस्तीत्यपरे।

(सं. शा. १)

२. स्त्रीणां ऋतुर्भवति षोडशवासराणि। (विदेह)

३. नियतं दिवसेऽतीते संकुचत्यम्बुजं यथा
ऋतौ व्यतीते नार्य्यास्तु योनिः संव्रियते तथा। (सु. शा. २.)

ऋतुमती—१. गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते शुद्धस्नातां स्त्रियं अव्यापन्नयोनिशोणितगर्भाशयायामृतुमतीमाचक्ष्महे। (च. शा. ४)

पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्म मुखद्विजां नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्धजाम्।
स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचम् हर्षौत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमिति॥

(सु. २ शा.)

अप्रशस्त ऋतुकालचर्या—(वा. शा. १, सु. शा. २, च. शा. ८, सं. शा. १.)

ततः पुष्पक्षणादेव कल्याणध्यायिनी त्र्यहं मृजालंकाररहिता दर्भसंस्तरशायिनी क्षैरेयं यावकं स्तोकं कोष्ठशोधनकर्शनं पर्णे शरावहस्ते वा भुंजीत ब्रह्मचारिणी।

(वा शा. १)

प्रशस्त ऋतुकालचर्या—ततः शुद्धस्नातां—चतुर्थेऽहन्यहतवाससां समलंकृताकृतमंगलस्वस्तिवाचनां भर्त्तारं दर्शयेत् तत् कस्य हेतोः ?

प्रथम अध्याय

गर्भाधान एवं विकासकी प्रक्रिया

(Process of fertilization and development)

पर्याय नाम—गर्भाधान, गर्भाभिनिर्वृत्ति, गर्भावक्रान्ति ।

गर्भावक्रान्ति का शाब्दिक अर्थ होता है—गर्भ का अवतरण, उत्पत्ति या प्राप्ति होना। इस प्रक्रिया में अगर्भ को गर्भत्व प्राप्त होता है; इसके आधान में शुक्र, शोणित और जीव का कुक्षि के भीतर संयोग होता है। वास्तव में स्त्री बीज एवं पुंबीज अर्थात् परिपक्व डिम्ब तथा बलवान् शुक्राणु के संयोग होने को ही गर्भाधान अथवा गर्भावक्रान्ति कहते हैं, तथा इसी स्थिति को गर्भ की संज्ञा दी जाती है।

वैज्ञानिकों की ऐसी धारणा है कि शुक्राणु (Spermatozoon) और डिम्ब (Ovum) का सम्मिलन स्वभावतः बीजवाहिनी (Fallpian tuba) में उसके पुष्पित प्रान्त की ओर ही होता है। गर्भाधान के लिये केवल एक ही शुक्रकीट की आवश्यकता होती है। वीर्य के साथ अनेक शुक्राणु गर्भाशय में प्रविष्ट होते हैं उनमें जो सबसे प्रबल और योग्यतम होता है वही डिम्ब से मिलता और गर्भ की स्थापना करने में समर्थ होता है।

शुक्राणु

चित्र १५

मानव पुंबीज या शुक्राणु—एक छोटा-सा कोषाणु है, जिसकी लम्बाई १/३०० इञ्च (·०५ मि. मी.) की होती है। इसका सिर चपटा अण्डाकार तथा शरीर गोल होता है—जो एक लम्बी पुच्छ के रूप में समाप्त होता है—यह पुच्छल भाग शुक्राणु की लम्बा का ४/५ भाग होता है। एक लम्बा-सा अक्ष सूत्र इसकी पूरी लम्बाई में शरीर और पुच्छ भाग पर दौड़ता है और इसके बाहर एल गोलाकार स्प्रिङ्गदार रचना का प्रबन्ध रहता है। ऐसा माना जाता है—इसका सिर तीक्ष्ण धार से सुसज्जित होता है जिसे तीक्ष्ण शिरःपिधान (Headcap) कहते हैं। जिसके जरिये स्त्रीबीज के भीतर यह अपना रास्ता काट या बना लेता है। शुक्राणु के पुच्छल भाग में गतिशील लोम होते हैं जिनके द्वारा वह १/८ इञ्च प्रति मिनट के वेग से अपना रास्ता तै करता है। यह अधिक तापक्रम तीक्ष्ण

अम्ल या क्षार से अपनी जीवन यात्रा समाप्त कर लेता है। शारीरिक तापक्रम पर गर्भाशय तथा बीजवाहिनी नलिका के मृदु-क्षारीय प्रतिक्रिया वाले स्रावों में चौदह दिनों तक जीवित रह सकता है; परन्तु जीवविद्या के प्रमाणों के आधार पर इस की गर्भोत्पादन क्षमता करीब ४८ घण्टों से अधिक नहीं रह पाती है।

मानव स्त्रीबीज या डिम्ब—पूर्णतया गोलाकार कोषाणु (Spherical cell) है, जिसका व्यास $\frac{१}{१२०}$ इञ्च (०·२ मि. मी.) होता है । जब यह डिम्बग्रंथि के विदीर्ण होने पर बीज पुटक (Graffian follicles) से निकलता है, उस समय विसारि मण्डल (Coronoradiata) की कोषाओं से घिरा रहता है। स्त्रीबीज जब उदर्याकला में बाहर निकलता है, तो वह या तो बीजवाहिनी (Tube) की पुष्पाङ्कुरों (Fimbria ovarian) में पकड़ लिया जाता है, अथवा लोम लसीका प्रवाह के द्वारा (Ciliary lymphcurrent) बीजवाहिनी के मुख के भीतर चला जाता है। गर्भाशय और बीजवाहिनी में जो लोम (Cilia) होते हैं वे एक ही दिशा में गति करते हैं। बीजवाहिनी के पुष्पित प्रान्त से बहिर्भग (Os externum) की दिशा में और इस प्रकार एक अनवरत प्रवाह-सा बना रहता है जिससे स्त्रीबीज गर्भाशय में आ जाता और फिर गर्भाशय से बाहर को योनि तक चला जाता है। स्त्रीबीज स्वयं गतिहीन होता है; परन्तु कोष से उदर गुहा में आने पर बीजवाहिनी द्वार के परवर्त्ती अंचलों से उत्पन्न हुई तरंगों में फँस कर उनकी ओर चलता है और वाहिनी में घुसता है। वाहिनी भीतर से लोमश होती है इन लोमों की दिशा और गति गर्भाशय की ओर होती है इसके सिवाय वाहिनी में भी पुरःसारण गति होती है इस पुरःसारण गति की सहायता से बीज धीरे धीरे गर्भाशय की ओर चला जाता है, और यदि उसका संयोग शुक्राणु से न हुआ तो मासिक स्राव के साथ वह भग द्वार से बाहर चला जाता है। प्रायः शुक्राणु से उसका संयोग बीजवाहिनी के मुख के पास ही होता है। शुक्राणुओं की यात्रा स्त्रीबीज के ठीक विपरीत होती है उन्हें प्रवाह के विपरीत गमन (Against the current) करना होता है ऐसा करने में ये पूर्णतया समर्थ होते हैं क्योंकि ये स्वयं गतियुक्त होते हैं यह गति इनके पुच्छ के प्रभाव से प्राप्त होती है जो गतिशीलता से युक्त (Propellar action) होती है।

शुक्राणुओं की गति के सम्बन्ध में अनेक मत हैं; परन्तु साधारण मत यह है

कि इनको एक इञ्च की दूरी तय करने में पांच से दस मिनट लग जाते हैं और गर्भाशय मुख से बीजवाहिनी के मुख के पास तक पहुंचने में एक से डेढ़ घण्टे का समय लग जाता है इसका अर्थ यह है कि मैथुन के थोडे घण्टे के पश्चात् शुक्राणु बीजवाहिनी में पहुंच सकते हैं तथा उस स्थान पर स्त्रीबीज मिलने पर अर्थात् दोनों का संयोग होने पर गर्भ की धारणा हो सकती है। पुरुष शुक्राणु जब स्त्रीबीज के साथ मिलता है, तब वह अपनी तीक्ष्ण शिरःपिधान के द्वारा (Headcap) बीजावरण में एक छिद्र (दैवछिद्र) (Ovolemna) बना लेता है—सिर और शरीर उसके अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं—पुच्छ प्रचूषित हो (Absorbed) जाती है। इस संयोग के परिणाम स्वरूप शुक्राणु का प्रविष्ट हुआ सिर और शरीर तथा स्त्रीबीज मिलकर प्रजनन केन्द्र या संयुक्त केन्द्र (Segmentation neucleus) का निर्माण करते हैं।

प्राचीन विवेचना—गर्भ की यह विवेचना भौतिक दृष्टि अर्थात् आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से है। भारतीय दार्शनिक दृष्टि से शुक्र तथा आर्त्तव महाभूतात्मक, अतएव अचेतन हैं उनमें चैतन्य प्राप्त कराने के लिये चेतनावान् आत्मा, जीव या पुरुष का संयोग होना आवश्यक है। इसलिये गर्भ की व्याख्या में शुक्र-शोणित और आत्मा का निर्देश निरपवाद किया जाता है।

यद्यपि गर्भोत्पत्ति के लिये आत्मा या जीव की आवश्यकता पड़ती है तथापि आत्मा के स्वयं शुद्ध, बुद्ध, निष्क्रिय होने के कारण उसे जन्म लेने की आवश्यकता नहीं होती। यह आत्मा बुद्धि, अहङ्कार, मन, दश इन्द्रिय, पंचतन्मात्र इन तत्वों के साथ भ्रमण करती है। इस समूह को लिङ्ग शरीर या संक्षेप में जीव कहते हैं। शुक्र और बीज के संयोग मिलने वाली यह तीसरी चीज है जिसके सिवाय गर्भ की उत्पत्ति नहीं होती। यह जीव अतिसूक्ष्म, अणुस्वरूप, चर्म चक्षु से अदृश्य, परन्तु दिव्य दृष्टि से दृश्य, वीर्य में मिलने वाला, वीर्य के साथ वायु से बाहर आने वाला, वीर्य में जिसके होने से गर्भ होता है न होने से नहीं होता ऐसा पदार्थ है—संक्षेप में यह गर्भ का बीज है।

इससे स्पष्ट है कि शुक्रगत गर्भोत्पादक बीज को वैद्यक शास्त्र में 'जीव' कह सकते हैं जो वायु द्वारा पुरुष शरीर से बाहर आता है और गर्भाशय में प्रवेश करता है। आधुनिक शरीर क्रिया विज्ञान की दृष्टि से शुक्रगत गर्भोत्पादक अंग को

'स्पर्मेटोजोआ' (Spermatozoa) कहते हैं। इसी का निर्देश शुक्राणु करके किया गया है यह शुक्राणु 'जीव' के समान ही अतिसूक्ष्म, अणुस्वरूप, चर्मचक्षु से अदृश्य, परन्तु दिव्यचक्षु से दृश्य, वीर्य में मिलने वाला वीर्य के साथ निकलने वाला, वायु के साथ बाहर आने वाला जिसकी उपस्थिति में वीर्य की प्रजनन शक्ति स्थिर बनी रहती है; ऐसा पदार्थ है।

लिङ्ग निर्णायक सिद्धान्त—जीवविद्या विशेषज्ञों के अनुसार शुक्राणुकोष में कुल अड़तालीस रंगतन्तु होते हैं—इनमें छियालीस देह प्रजनन (Somatic) और दो लिङ्ग प्रजनन तन्तु (Sex chromosomes) हुआ करते हैं—इन्हीं लिङ्ग प्रजनन तन्तुओं को अल्पशब्दों में 'क्ष' (X) और 'ज्ञ' (Y) तन्तुओं के नाम से अभिहित किया जाता है। अब इस कोषाणु से विभजन के द्वारा चार शुक्राणुओं का उदय होता है—जिनमें प्रत्येक में चौबीस रंगतन्तु, तेईस देह प्रजनन और एक लिङ्ग प्रजनन तन्तु 'क्ष' अथवा 'ज्ञ' किसी भी वर्ग का होता है। स्त्रीबीज कोषाणु में भी छियालीस देह प्रजनन तथा दो लिङ्ग प्रजनन तन्तु-दोनों ही 'क्ष' वर्ग के होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि स्त्रीबीज के परिपक्व हो जाने पर इसमें तेइस देह प्रजनन और एक लिङ्ग प्रजनन 'क्ष' वर्ग का रंजक तन्तु रह जाते हैं। 'क्ष' वर्ग के लिङ्ग प्रजनन तन्तुओं से युक्त शुक्राणु का स्त्रीबीज के साथ जब संयोग होता है, तो कन्या का प्रसव होता है—जिनमें ४६ देह प्रजनन और दो 'क्ष' वर्ग के लिङ्ग प्रजनन तन्तु होते हैं कुल मिलाकर रंगतन्तु (Chromosomes) की संख्या अड़तालीस हो जाती है जो मानव जाति का विशिष्ट लक्षण है। यदि 'ज्ञ' वर्ग के लिङ्ग प्रजनन तन्तुयुक्त शुक्राणु के साथ स्त्रीबीज का संयोग हुआ तो पुत्र का जन्म होता है जिसमें छियालीस देह प्रजनन और दो लिङ्ग प्रजनन 'क्ष' तथा 'ज्ञ' दोनों वर्ग के रंगतन्तु (Chromosomes) मिलते हैं। इस सिद्धान्त का वंश परम्परा के ऊपर भी बड़ा प्रभाव पड़ता है। इन रंगतन्तुओं (Chromosomes) के द्वारा ही गुण-दोष सन्तति में आ जाते हैं तथा इन्हीं के (२४ स्त्रीबीज और २४ शुक्राणु के) संयुक्त होने पर पूर्ववत् अड़तालीस सूत्रों का एक जीव बनता है—यही गर्भ है।

मनुष्य जाति में गर्भाधान के लिये केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है और जब एक शुक्राणु का स्त्रीबीज के साथ संसर्ग हो जाता है, तब उस

बीज में कुछ ऐसा परिवर्तन होता है कि फिर उसमें दूसरा शुक्राणु प्रवेश नहीं कर पाता। इसलिये यद्यपि असंख्य शुक्राणु गर्भाशय की ओर दौड़ मारते हैं तथापि उनमें जो सबसे प्रबल और चपल होता है वही बीज के साथ मिलने में सफल होता है। यदि कर्मवशात् स्त्री के दो बीज हुए तो दो शुक्राणुओं से दो गर्भों का आधान हो कर युग्म उत्पन्न होता है।

प्राचीन विवेचना—प्राचीन वैद्यक ग्रंथों में गर्भोत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ विशेष विचार हैं जिनका संक्षेप में ऊपर उल्लेख हो चुका है उसी का यहां विशद वर्णन कर देना प्रासंगिक है। ये वर्णन अधिकतर शरीर क्रियाविज्ञान मनोविज्ञान (Poysiological & psychological) तथा अध्यात्म विद्या (Metaphysical) से सम्बन्ध रखने वाले हैं। उदाहरणार्थ—

(क) विकृति रहित शुक्रयुक्त पुरुष का-विकार रहित योनिरज तथा गर्भाशय वाली स्त्री के साथ ऋतु काल में जब संसर्ग होता है, तो गर्भाशय में शुक्र और शोणित के संयोग में मन के सम्पर्क से और उसी की क्रिया से क्रियावान् हुआ जीव आता है तब गर्भ उत्पन्न होता है।

(ख) पुष्ट योनि, शोणित और गर्भाशयवाली स्त्री के साथ जब अविकृत बीज वाला पुरुष संगम करता है, तब उस समय पुरुष का हर्ष के साथ प्रेरित किया हुआ शरीर की धातुओं का सार शुक्र के रूप में अङ्ग अङ्ग से उत्पन्न होता है यह आत्मा से अधिष्ठित बीज धातु, हर्षयुक्त आत्मा से प्रेरित हो कर, पुरुष-शरीर के बाहर आ कर उचित मार्ग अर्थात् योनिछिद्र के द्वारा गर्भाशय में प्रवेश करके आर्त्तव के साथ संयुक्त होता है।

(ग) सबसे पूर्व मनरूपी कारण के साथ संयुक्त हुआ आत्मा धातु गुणों के ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होता है (अर्थात् अपने कर्म के अनुसार सत्व, रज तथा तम इन गुणों के ग्रहण के लिये अथवा महाभूतों के ग्रहण के लिये) प्रवृत होता है। आत्मा का जैसा कर्म होता है और जैसा मन उसके साथ है, वैसा ही शरीर बनता है वैसे ही पृथिवी आदि भूत होते हैं (जिससे वह शरीर बनाता है।) तथा अपने कर्म द्वारा प्रेरित किया हुआ मनरूपी साधन के साथ स्थूल शरीर को उत्पन्न करने के लिये उपादानभूत भूतों का ग्रहण करता है। वह आत्मा हेतु, कारण, निमित्त, कर्ता, मन्ताबोधयिता, बोद्धा (बुद्धिद्वारा ज्ञान कराने वाला), द्रष्टा, धाता, ब्रह्मा (बृहत् होने से), विश्वकर्मा, विश्वरूप, पुरुषप्रभव (उत्पत्तिकारण) अव्यय, नित्य, गुणी

(इच्छा द्वेप आदि से युक्त), भूतों का ग्रहण करने वाला प्रधान, अव्यक्त, जीवज्ञ (ज्ञानवान्), पुद्गल, चेतनावान्, प्रभु, भूतात्मा, इन्द्रियात्मा और अन्तरात्मा कहलाता है।

(घ) वह गुणों के ग्रहण करने के समय अन्य गुणों की अपेक्षा सबसे प्रथम आकाश का ग्रहण करता है। यदि आकाश ही नहीं होगा तो शरीर कहां से बनेगा। जैसे प्रलय के अन्त में भूतों की सृष्टि की उत्पत्ति की इच्छा से अविनाशी (महेश्वर), सत्वरूपी उपादान से युक्त होकर सबसे पूर्व अवकाश को रचता है। तदनन्तर अपेक्षया स्पष्ट गुणोंवाले वायु प्रभृति चार तत्त्वों को अर्थात् आकाश के बाद वायु, वायु के बाद अग्नि, अग्नि के बाद जल तथा जल के पश्चात् पृथ्वी उसी प्रकार शरीर को ग्रहण करने में प्रवृत्त हुआ आत्मा सबसे प्रथम आकाश को ग्रहण करता है। तदनन्तर अपेक्षाकृत स्पष्ट होने वाले गुणों वाली वायु आदि चारों धातुओं को क्रमशः ग्रहण करता है। इन सभी गुणों का ग्रहण अणुकाल में अर्थात् अत्यन्त ही अल्पकाल में (अविज्ञेय) ही हो जाता है।

(ङ) वह जीव गर्भाशय में अनुप्रविष्ट होकर शुक्र और बीज से मिलकर अपने से अपने को गर्भरूप में उत्पन्न करता है। अत एव गर्भ में आत्मसंज्ञा होती है। षड्धातुरूप पुरुष को भी आत्मा कहते हैं अतः अपने को उत्पन्न करता है का अभिप्राय षड धातुरूप पुरुष को उत्पन्न करता है।

(च) जिस प्रकार सूर्य की किरणों का तेज स्फटिक पत्थर के बीच में होने पर, इन्धन में जाता हुआ आँख से दिखाई नहीं देता। उसी प्रकार सत्व गर्भाशय में जाता हुआ दिखाई नहीं देता। (अर्थात् जिस प्रकार लैंस में गुजरती हुई सूर्य की किरणें नहीं दीखतीं) परन्तु रुई या तिनके को जलते देख कर किरणों का आना प्रतीत होता है उसी प्रकार सत्व का गर्भाशय में आना अनुमान से (कार्य से) ज्ञात होता है।

(छ) शुक्र और आर्त्तव के शुद्ध होने पर अपने कर्मों के क्लेश से प्रेरित हुआ सत्व (मन) युक्ति के आधीन होकर गर्भ रूप हो जाता है। जिस प्रकार अरणी से अग्नि (युक्ति से) बन जाती है।

(ज) चेतना युक्त उस गर्भ में वायु विभजन पैदा करता है, तेज पाचन करता है, जल क्लिन्नता पैदा करता है, पृथिवी कठिनता पैदा करती है और आकाश आकार वृद्धि करता है। इस प्रकार परिवर्द्धित हुआ वह गर्भ जब हाथ, पांव, जिह्वा, कान, नितम्ब प्रभृति अंगों से युक्त हो जाता है तब शरीर की संज्ञा प्राप्त करता है।

(झ) स्त्री और पुरुष के समागम के समय वायु शरीर से तेज को प्रकट

करता है। फिर तेज और वायु के द्वारा क्षरित हुआ शुक्र योनि की ओर चल देता है और आर्त्तव के साथ मिलता है तत्पश्चात् आर्त्तवरूपी अग्नि और शुक्ररूप सोम के संयोग से उत्पन्न हुआ गर्भ गर्भाशय में आश्रय करता है।

(ञ) क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुषस्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता इत्यादि पर्यायवाची नामों से जो ऋषियों द्वारा पुकारा जाता है; वह क्षेत्रज्ञ (स्वयं अक्षय, अचिन्त्य और अव्यय होते हुए भी) दैव के संग से सूक्ष्म भूत सत्व, रज, तम, दैव, आसुर या अन्य भाव से युक्त वायु से प्रेरित हुआ गर्भाशय में प्रविष्ट होकर (शुक्र आर्त्तव के संयोग होते ही) तत्काल उस संयोग में अवस्थान करता है।

(ट) मकरध्वज वेग से ऋतुकाल में स्त्रीपुरुष के संयोग होने पर, शिश्न और योनि के संघर्ष से उत्पन्न हुई शरीरोष्मा के द्वारा वायु आहत होता है। परिणाम स्वरूप पुरुष का सर्वशरीरस्थ रेतस (वीर्य) द्रवित होता है, पुनः वायु की प्रेरणा से यह अंगना के भग में पतित होता है। वहाँ से वह शुक्र संकुचित मुख गर्भाशय के लिये प्रस्थान करता है। वहाँ पर वह स्त्री के बीज के साथ संयुक्त होता और गर्भ को उत्पन्न करता है।

आधार तथा प्रमाण संचय—

गर्भावक्रान्तिनिरुक्ति—१. गर्भस्यावक्रान्तिः। उपगमनमवतरणमिति
यावत् गर्भावक्रान्तिः। (डल्हण)
२. गर्भस्यावक्रान्तिर्मेलक उत्पत्तिरिति यावत्। (चक्र०)
३. गर्भस्यावक्रान्तिरवक्रमणं सम्प्राप्तिः।
यथाऽगर्भो गर्भतां सम्पद्यत इत्यर्थः। (अरुणदत्त)
४. गर्भस्यावक्रमणं प्राप्तिस्वरूपलाभ इत्यर्थः।

पुत्रस्याऽभिषेकात् प्रभृति योगक्षेमौ यथा संभवतः यथा च मातरि तिष्ठति, यथा च न व्यापद्यते, अव्यापन्नं च यथासुखं सूते इति प्रदर्शनार्थमध्यायारम्भः। (अष्टांङ्गसंग्रहे इन्दुः।)

गर्भ—१. अत्र हि शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसम्मूर्छितं गर्भ इत्युच्यते। (सु० सू० ५)
२. अत्र गर्भशब्देन मनःसंयोगाच्चेतनेनात्मनाधिष्ठितानां महाभूतानां विकारविशेष उच्यते। (इन्दु)

३. शुक्रशोणितसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति। (च० शा० ४)

४. गर्भस्तु खलु अन्तरिक्ष अग्निवायुतोयभूमिविकारचेतनाधिष्ठानभूतः एवमनयैव युक्त्या पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधिष्ठानभूतः स हि अस्य षष्ठो धातुरुक्तः। (च० शा० ४)

गर्भोत्पत्ति—(क) पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयाया यदा भवति संसर्गः ऋतुकाले यदा चानयोस्तथैव युक्ते च संसर्गे शुक्रशोणिमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्वसंप्रयोगात्तथा गर्भोऽभिनिवर्त्तते।

(ख) तया सह तथा भूतया यदा पुमान व्यापन्नबीजो मिश्रीभावं गच्छति तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोऽङ्गादङ्गात्सम्भवति स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च बीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पत्योचितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यार्त्तवेनाभिसंसर्गमेति। (च० शा० ४)

(ग) तत्र पूर्वं चेतना धातुः सत्वकरणः गुणग्रहणाय प्रवर्त्तते। स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्त्ता मन्ता वेदिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवः अव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्रधानमव्यक्तं जीवो ज्ञः पुद्गलश्चेतनावान् विभुः भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति। (च० शा० ४)

(घ) सगुणोपादानकाले अन्तरीक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्यः उपादत्ते यथा प्रलयात्यये सिसृक्षुः भूतान्यक्षरभूतः सत्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान्धातून् वाय्वादींश्चतुरः। तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्त्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून्वाय्वादींश्चतुरः, सर्वमपि तु खल्वेतद् गुणोपादानमणुना कालेन भवति। (च. शा. ४)

(ङ) स (आत्मा) गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मानम् आत्मसंज्ञा हि गर्भे। (च. शा. ३)

(च) तेजो यथार्करश्मीनां स्फटिकेन तिरस्कृतम्
नेन्धनं दृश्यते गच्छत्सत्वो गर्भाशयन्तथा। (अ. हृ. शा. १)

(छ) शुद्धे शुक्रार्त्तवे सत्वः स्वकर्म क्लेशचोदितः
गर्भः संपद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणी। (अ. हृ. शा. १)

(ज) तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति तेज एनं पचति आपः क्लेदयन्ति पृथिवी संहन्ति आकाशं विवर्धयति एवं विवर्धितः स यदा हस्त-पाद-जिह्वा-घ्राण-कर्ण-नितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा शरीरमिति संज्ञां लभते। (सु. शा. ५.)

(झ) तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति ततस्तेजोनिलसन्नि-पाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्त्तवेन । ततो अग्निसोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भः गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते । (सु. शा. ३.)

(ञ) क्षेत्रज्ञो, वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्वरजतमोभिर्दैवासुरैश्चापरैश्च भावैर्वायुनाभिप्रेर्यमाणः गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते । (सु. शा. ६.)

(ट) ऋतौ स्त्रीपुंसयोर्संयोगे मकरध्वजवेगतः मेढ्रयोनिसंघर्षाच्छरीरोष्मानिलाहतः 'पुंसः सर्वशरीरस्थं रेतोद्रावयेतव्यतत् । वायुर्भेदेन मार्गेण पातयत्यङ्गना भगे तत्संसृज्य व्यात्तमुखं याति गर्भाशयं प्रति तत्र शुक्रवदाया तेनार्त्तवेन युतं भवेत् ।
(भा. प्र.)

(Midwifery–By R. W. Johnstone.)

(सुश्रुतसंहिता की हिन्दी टीका—भा. गो. घाणेकर कृत ।)

द्वितीय अध्याय

आदर्श गर्भाधान या आदर्श सृष्टि

(Ideal Birth)

आदर्श गर्भ की स्थापना के परिणामस्वरूप श्रेष्ठ संतान का जन्म होता है। इस प्रकार की आदर्श सृष्टि के लिये कई बातों की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरणार्थ—विवाहित दम्पति का स्वास्थ्य, वंशपरम्परा, सन्तानोत्पादन काल, दोनों की आयु, उनकी आयु का अन्तर, दो प्रसवकालों का अन्तर, वैद्यकीय सद्वृत्त (Mental Hygiene), स्वस्थवृत्त (Personal Hygiene) आहार-विहार तथा देश काल ऋतु प्रभृति बातों की समुचित व्यवस्था।

भारतीय वैद्यक तथा धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में इन तथ्यों की विशद विवेचना भरी पड़ी है। यहाँ पर कतिपय सिद्धान्तों का आधुनिक यौनशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर व्याख्या की जा रही है।

स्त्री-पुरुष के कुल—स्त्री और पुरुष दोनों के कुलों के विद्यमान तथा अविद्यमान व्यक्ति स्वस्थ, दीर्घायु एवं स्थिरेन्द्रिय होने चाहिये। वातरक्त, पैतृक

रक्तक्षय, रक्त भाराधिक्य, राजयक्ष्मा, कुष्ठ, मधुमेह, वृक्क रोग तथा अन्य मानसिक विकार अपस्मार, विविध प्रकार के उन्माद, उद्विग्नता, अव्यवस्थित चित्तता, मस्तिष्क दौर्बल्य, लासक (Chorea), पक्षाघात, अपतन्त्रक तथा अन्य सहज विकार जैसे कटे होंठ, फटे तालु, शारीरिक व्यङ्गादि आदि वल प्रवृत्त या खान्दानी रोगों से दम्पत्ति को अलिप्त होना चाहिये।

विवाह अतुल्य गोत्र का होना चाहिये। तुल्य गोत्र विवाह कुलज दोष प्रवृत्ति को बढ़ाता है। कभी कभी स्त्री-पुरुष विवाह के पूर्व, पूर्ण स्वस्थ होते हैं—इसका मतलब यह नहीं होता कि उनके शरीर में कोई कुलज रोग नहीं है—जो उनके बीज के द्वारा इनकी सन्तति में आ सके। कुछ कुलज रोग एक दो पीढ़ी के बाद सन्तति में आते हैं, कुछ कुलज रोग केवल अनुकूलता प्राप्त होने पर आते हैं और कुछ कुलज रोग स्त्री पुरुष की केवल सन्तानों में ही आते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि स्त्री-पुरुष के आजीवन स्वस्थ रहते हुए भी, (उनके स्वयं पीड़ित न होने पर भी) उनकी सन्तति में विकार आ सकते हैं। इसलिये वर-वधू कितने स्वस्थ क्यों न हों उनसे कुल का स्वास्थ्य जरूर देखना चाहिये।

स्त्री तथा पुरुष का स्वास्थ्य—स्त्री और पुरुष दोनों को स्वस्थ होना चाहिये। उनमें उपर्युक्त कुलज विकार न हों। उनमें नैष्ठुर्य, मात्सर्य, कामान्धता, क्षिप्रकोपता प्रवृत्ति तथा अन्य प्रकार के मानसिक रोग न होने चाहिये। उनमें भाङ्ग, गाँजा, अफीम, शराब तथा अन्य नशीली चीजों के सेवन की आदत नहीं होनी चाहिये। संक्षेप में दोनों ही स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल, खुशमिजाज और व्यसनरहित हों। बीजवाहिनी, गर्भाशय, योनि, शिश्न, वृषण इत्यादि जननेन्द्रिय के प्रत्यङ्ग स्वस्थ और शुद्ध होने चाहियें। रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर, उपदंश, फिरङ्ग आदि के उपसर्ग से प्रजनन मार्ग अनुपहत होना चाहिये। जननेन्द्रियाँ पूर्ण परिपक्व होना चाहिये अपरिपक्व (Underdeveloped) न होनी चाहिये। युवावस्था में यदि जननेन्द्रियों का पूर्ण विकास न हुआ हो तो उस अवस्था को अपरिपक्वता कहते हैं। स्त्री जननेन्द्रिय दुष्ट होने पर उससे विविध प्रकार के स्राव चलते रहते हैं और ऐसे अपत्य मार्ग में गिरा हुआ पुरुष का शुक्राणु उसके स्राव से मृत या दुर्बल हो जाता है।

प्रथम सन्तानोत्पादक काल—स्त्री और पुरुष दोनों ही यौवनावस्था में पदार्पण करने के पश्चात् कुछ काल तक अपरिपूर्ण वीर्य होते हैं। स्त्री और पुरुष

दोनों का परिपूर्ण वीर्य होने का काल भिन्न भिन्न होता है सुश्रुत और अष्टाङ्ग-संग्रह के अनुसार पुरुषों का वय पच्चीस एवं स्त्रियों का सोलह होता है। उत्तम वीज उत्पन्न होने की आयुर्वेद शास्त्रानुसार यह वयोमर्यादा है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने पुरुषों में तीस और स्त्रियों में तेइस वयोमर्यादा मानी है। यह मर्यादा भारतवर्ष जैसे उष्ण देश के लिये कुछ अधिक है। इसलिये सोलह से वीस स्त्रियों के लिये और पच्चीस से तीस पुरुषों के लिये वयो–मर्यादा उचित मालूम पड़ती है। यदि इस वयोमर्यादा के पश्चात् दीर्घकाल तक स्त्री–पुरुष विवाह न करें तो अतिपरिपक्वावस्था आ जाती है, स्त्रीवीज कुछ हीन कोटि के हो जाते हैं और उससे उत्पन्न हुई सन्तान कुछ दुर्बल होती है। इससे स्पष्ट है कि उत्तम सन्तान पैदा करने के लिये एक विशेष आयु मर्यादा आवश्यक है।

स्त्री और पुरुष का अन्तर—भारतीय वैद्यक तथा धर्मशास्त्र के नियमानुसार वर की अपेक्षा वधू उम्र में छोटी होनी चाहिये। पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का भी मत है कि उत्तम प्रजा उत्पन्न होने के लिये स्त्री, पुरुष की अपेक्षा उमर में छोटी हो। 'केवल मानसिक विकास या समाज की दृष्टि से ही नहीं प्रत्युत जीव–विद्या के आधारों पर यह आवश्यक हो जाता है कि विवाहित दम्पति में स्त्री की आयु पुरुष की आयु से कम होनी चाहिये। क्योंकि स्त्री पुरुष की अपेक्षा कम वय में ही शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से परिपक्व हो जाती है—इतना ही नहीं उसकी कामवासना भी अपेक्षाकृत पहले ही नष्ट हो जाती है।'

अब दोनों में निश्चित अन्तर कितना हो, ठीक कहना कठिन है; परन्तु साधारणतया यह कह सकते हैं कि स्त्री और पुरुष में यौवनावस्था प्राप्त करने के समान में जो अन्तर होता है उससे कम अन्तर नहीं होना चाहिये। यौवनावस्था का प्रारम्भ पुरुषों में शुक्रोत्पत्ति और स्त्रियों में आर्त्तवदर्शन के साथ होता है। अर्त्तवदर्शन स्त्रियों में प्रायः वारह साल में और शुक्रोत्पत्ति पुरुषों में प्रायः सोलह साल की आयु में होता है। अतएव वर वधू में कम से कम चार साल का अन्तर होना चाहिये। साधारणतया वर–वधू की आयु का अन्तर चार साल से कम और नौ वर्ष से अधिक का नहीं होना चाहिये।

दो प्रसवों में अन्तराल—जल्दी–जल्दी सन्तान उत्पन्न होने से स्त्री के स्वास्थ्य में विकार आ जाता है, फलतः इस प्रकार के गिरे स्वास्थ्य में उत्पन्न हुई सन्तान कमजोर होती है। इसलिये दो गर्भधारण के वीच में कुछ नियमित

रक्तक्षय, रक्त भाराधिक्य, राजयक्ष्मा, कुष्ट, मधुमेह, वृक्क रोग तथा अन्य मानसिक विकार अपस्मार, विविध प्रकार के उन्माद, उद्विग्नता, अव्यवस्थित चित्तता, मस्तिष्क दौर्बल्य, लासक (Chorea), पक्षाघात, अपतन्त्रक तथा अन्य सहज विकार जैसे कटे होंठ, फटे तालु, शारीरिक व्यङ्गादि आदि वल प्रवृत्त या खान्दानी रोगों से दम्पत्ति को अलिप्त होना चाहिये।

विवाह अतुल्य गोत्र का होना चाहिये। तुल्य गोत्र विवाह कुलज दोष प्रवृत्ति को वढ़ाता है। कभी कभी स्त्री-पुरुष विवाह के पूर्व, पूर्ण स्वस्थ होते हैं—इसका मतलव यह नहीं होता कि उनके शरीर में कोई कुलज रोग नहीं है—जो उनके बीज़ के द्वारा इनकी सन्तति में आ सके। कुछ कुलज रोग एक दो पीढ़ी के वाद सन्तति में आते हैं, कुछ कुलज रोग केवल अनुकूलता प्राप्त होने पर आते हैं और कुछ कुलज रोग स्त्री पुरुष की केवल सन्तानों में ही आते हैं। इसका परिणाम यह होगा कि स्त्री-पुरुष के आजीवन स्वस्थ रहते हुए भी, (उनके स्वयं पीड़ित न होने पर भी) उनकी सन्तति में विकार आ सकते हैं। इसलिये वर-वधू कितने स्वस्थ क्यों न हों उनसे कुल का स्वास्थ्य जरूर देखना चाहिये।

स्त्री तथा पुरुष का स्वास्थ्य—स्त्री और पुरुष दोनों को स्वस्थ होना चाहिये। उनमें उपर्युक्त कुलज विकार न हों। उनमें नैष्ठुर्य, मात्सर्य, कामान्धता, क्षिप्रकोपता प्रवृत्ति तथा अन्य प्रकार के मानसिक रोग न होने चाहिये। उनमें भाङ्ग, गाँजा, अफीम, शराव तथा अन्य नशीली चीजों के सेवन की आदत नहीं होनी चाहिये। संक्षेप में दोनों ही स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल; खुशमिजाज और व्यसनरहित हों। बीजवाहिनी, गर्भाशय, योनि, शिश्न, वृषण इत्यादि जननेन्द्रिय के प्रत्यंङ्ग स्वस्थ और शुद्ध होने चाहिये। रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर, उपदंश, फिरङ्ग आदि के उपसर्ग से प्रजनन मार्ग अनुपहत होना चाहिये। जननेन्द्रियाँ पूर्ण परिपक्व होना चाहिये अपरिपक्व (Underdeveloped) न होनी चाहिये। युवावस्था में यदि जननेन्द्रियों का पूर्ण विकास न हुआ हो तो उस अवस्था को अपरिपक्वता कहते हैं। स्त्री जननेन्द्रिय दुष्ट होने पर उससे विविध प्रकार के स्राव चलते रहते हैं और ऐसे अपत्य मार्ग में गिरा हुआ पुरुष का शुक्राणु उसके स्राव से मृत या दुर्वल हो जाता है।

प्रथम सन्तानोत्पादक काल—स्त्री और पुरुष दोनों ही यौवनावस्था में पदार्पण करने के पश्चात् कुछ काल तक अपरिपूर्ण वीर्य होते हैं। स्त्री और पुरुष

दोनों का परिपूर्ण वीर्य होने का काल भिन्न भिन्न होता है सुश्रुत और अष्टाङ्ग-संग्रह के अनुसार पुरुषों का वय पच्चीस एवं स्त्रियों का सोलह होता है। उत्तम बीज उत्पन्न होने की आयुर्वेद शास्त्रानुसार यह वयोमर्यादा है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने पुरुषों में तीस और स्त्रियों में तेइस वयोमर्यादा मानी है। यह मर्यादा भारतवर्ष जैसे उष्ण देश के लिये कुछ अधिक है। इसलिये सोलह से वीस स्त्रियों के लिये और पच्चीस से तीस पुरुषों के लिये वयो–मर्यादा उचित मालूम पड़ती है। यदि इस वयोमर्यादा के पश्चात् दीर्घकाल तक स्त्री–पुरुष विवाह न करें तो अतिपरिपक्वावस्था आ जाती है, स्त्रीबीज कुछ हीन कोटि के हो जाते हैं और उससे उत्पन्न हुई सन्तान कुछ दुर्बल होती है। इससे स्पष्ट है कि उत्तम सन्तान पैदा करने के लिये एक विशेष आयु मर्यादा आवश्यक है।

स्त्री और पुरुष का अन्तर—भारतीय वैद्यक तथा धर्मशास्त्र के नियमानुसार वर की अपेक्षा वधू उम्र में छोटी होनी चाहिये। पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का भी मत है कि उत्तम प्रजा उत्पन्न होने के लिये स्त्री, पुरुष की अपेक्षा उमर में छोटी हो। 'केवल मानसिक विकास या समाज की दृष्टि से ही नहीं प्रत्युत जीव–विद्या के आधारों पर यह आवश्यक हो जाता है कि विवाहित दम्पति में स्त्री की आयु पुरुष की आयु से कम होनी चाहिये। क्योंकि स्त्री पुरुष की अपेक्षा कम वय में ही शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से परिपक्व हो जाती है—इतना ही नहीं उसकी कामवासना भी अपेक्षाकृत पहले ही नष्ट हो जाती है।'

अब दोनों में निश्चित अन्तर कितना हो, ठीक कहना कठिन है; परन्तु साधारणतया यह कह सकते हैं कि स्त्री और पुरुष में यौवनावस्था प्राप्त करने के समान में जो अन्तर होता है उससे कम अन्तर नहीं होना चाहिये। यौवनावस्था का प्रारम्भ पुरुषों में शुक्रोत्पत्ति और स्त्रियों में आर्त्तवदर्शन के साथ होता है। अर्त्तवदर्शन स्त्रियों में प्रायः बारह साल में और शुक्रोत्पत्ति पुरुषों में प्रायः सोलह साल की आयु में होता है। अतएव वर वधू में कम से कम चार साल का अन्तर होना चाहिये। साधारणतया वर–वधू की आयु का अन्तर चार साल से कम और नौ वर्ष से अधिक का नहीं होना चाहिये।

दो प्रसवों में अन्तराल—जल्दी–जल्दी सन्तान उत्पन्न होने से स्त्री के स्वास्थ्य में विकार आ जाता है, फलतः इस प्रकार के गिरे स्वास्थ्य में उत्पन्न हुई सन्तान कमजोर होती है। इसलिये दो गर्भधारण के बीच में कुछ नियमित

अन्तर होना आवश्यक है। इस विषय पर विचार करने से कहना पड़ता है कि प्रसव के कारण खराब हुए स्त्री का स्वास्थ्य, जब तक बालक दूध पीता है, तब तक ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि स्त्री जो कुछ अन्न का सेवन करती है उसके एक अंश का उपयोग बच्चे के पोषण में निकल जाता है। अतः बालक माता का दूध पीना जब छोड़ दे उस समय से एक वर्ष भर माता को यथेच्छ पौष्टिक खाना-पीना मिलने पर उसका स्वास्थ्य पूर्ववत् हो जाता है और वह उत्तम बीज पैदा करने में समर्थ हो सकती है तथा श्रेष्ठ या आदर्श गर्भ धारण के योग्य हो जाती है। इसलिये दो सन्तानों के बीच में दो, तीन साल का अन्तर होना बहुत आवश्यक है।

इस प्रकार उपर्युक्त छ गुणों से युक्त स्त्री-पुरुषों का बीज उत्कृष्ट और सर्वगुण सम्पन्न होता है और उनके संयोग से उत्तम प्रजा उत्पन्न होती है।

प्राचीन वैद्यकमें आलंकारिक भाषा में इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या मिलती है:— अंकुर की दृष्टि से बीज की सम्पन्नता कृमिवातादि दोषों से अनुपद्रवता में, जल की सामग्री का योग्य समय पर मिलने में, क्षेत्र का सामञ्जस्य योग्य प्रकार की भूमि एवं ठीक खाद मिलने में और ऋतु का सामग्री उचित शैत्य या उष्णता में होता है। बीज, जल, ऋतु और क्षेत्र की सामग्री ठीक प्रकार से जुटे और इन चारों तत्वों का समुचित सान्निध्य उपस्थित हो तो योग्य अंकुर निकलते हैं।

चार साधनों के एकत्रित होने पर निश्चित रूप से गर्भ विधि पूर्वक होता है। जिस प्रकार ऋतु, क्षेत्र, जल और बीज की सान्निध्य से धान्याङ्कुर की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार शुद्ध ऋतु काल, शुद्ध गर्भाशय, शुद्ध पोषण एवं शुद्ध पुरुष बीज के संयोग से स्त्री में गर्भस्थिति होती है। यही आदर्श या श्रेष्ठ गर्भ (Fertilisation) है।

काल—(अ) स्त्रियों में गर्भधारण योग्य अवस्था विशेष को ऋतु कहते हैं जिसके उपलक्षण का प्रारम्भ रजोदर्शन से होता है। (ब) पचीस वर्ष का पुरुष और सोलह वर्ष की आयु की स्त्री ये गर्भ स्थिति के योग्य पूर्ण वय के होते हैं ऐसा कुशल चिकित्सकों को जानना चाहिये। (स) इस प्रकार सोलह वर्ष की आयु की स्त्री में पचीस वर्ष की आयुवाला पुरुष पुत्रोत्पत्ति की इच्छा का प्रयत्न कर सकता है। (द) यदि स्त्री की आयु सोलह से कम हुई अथवा पुरुष की पचीस से कम, फिर भी गर्भ धारणा हो गई तो वह गर्भ कुक्षि में ही नष्ट हो जाता है। यदि पैदा भी हुआ तो अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहता यदि जीवित भी रहा तो कमजोर

...त्य, शैत्य,

(दुर्बलेन्द्रिय) होकर संसार में जीवन-यापन करता है। अति ...
रुगणा में अथवा अन्य किसी प्रकार के रोग से उपसृष्टा स्त्री में भी ...
करना चाहिये। पुरुष भी यदि इस प्रकार का हो तो गर्भाधान न करे ...
कारणों से भी सन्तान में वही दोष आते हैं।

क्षेत्र—(अ) स्त्री को खेत (क्षेत्रभूता) और पुरुष को बीजरूप (बीजभूत) माना जाता है। इस बीज और क्षेत्र के संयोग से ही सभी देहधारियों की उत्पत्ति होती है। (ब) व्रीही (धान्य) आदि का उत्पत्तिस्थान खेत होता है उसी के समान स्त्री को मुनियों ने क्षेत्र कहा है। अपने क्षेत्र के संस्कृत होने पर स्वयं ही जो मातायें उत्पादन करती हैं, उस पुत्र को जो पहले ही से कल्पित रहता है औरस पुत्र समझना चाहिये।

अम्बु या जल—माता की रसवाहिनी नाड़ियों से गर्भ की नाभि नाड़ी बँधी रहती है और यह नाड़ी माता के आहाररस के वीर्य का अभिवहन करती हुई बालक का पोषण करती है एवं उसी के उपस्नेह से गर्भ की वृद्धि होती है।

बीज—(अ) बीजभूत पुरुष होता है। (ब) यद्यपि शुक्र ही बीज होता है तथापि उसका अधिकरणत्व प्रतिपादन करने के लिये पुरुष को ही बीज कहागया है।

दोषराहित्य कहीं पर बीज विशिष्ट होता है और कहीं पर स्त्रीयोनि की विशिष्टता होती है। जहां पर दोनों समान हों वह उत्पादन (प्रसूति) या प्रसव प्रशस्त समझा जाता है।

स्वास्थ्य—(अ) जो स्त्री सुन्दर रूपवाली, युवावस्था युक्त और अन्यान्य सामुद्रिक तथा कामसूत्र के शुभ लक्षणों से युक्त हो। (ब) रूप, शील, शुभ लक्षण सम्पन्न, दन्त, ओष्ठ; कर्ण, नासा (नाक) नख, केश, स्तन के सुन्दर लक्षणों से युक्त, मृदुस्पर्श वाली, जिसकी प्रकृति रोग हीन हो अथवा जिसके अंग कम या अधिक न हो ऐसी कन्या से विधिपूर्वक विवाह करना चाहिये।

आधार तथा प्रमाण संचय—

(१) ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः।
ऋतुः क्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा। (सु. शा. २)

ऋतुकाल—हेमन्तादिषु कुर्वीत स्वं स्वं चाकालिकेष्वपि
(अ) विधिं तच्छीलिनं यस्माच्छीतादिद्वन्द्वकारिताम्
ऋतुचर्यादि शीतोष्ण वृष्टिदोषप्रतिक्रिया। (अष्टाङ्गसंग्रह)

(ब) ऋतुर्नाम शोणितदर्शनोपलक्षितो गर्भधारणयोग्यः स्त्रीणामवस्था-विशेषः। (कुल्लूकभट्टः)

पंचवर्षे ततो वर्षे पुमान्, नारी तु षोडशे समत्वागत वीर्यौ तौ जानीयात्कुशलोभिषक्। (सु. सू. ३५)

(स) तस्यां षोडशवर्षायां पंचविंशतिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थं प्रयतेत। (अ. सं.)

(द) ऊनषोडषवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्।

यद्याधत्ते पुमान् गर्भः कुक्षिस्थः स विपद्यते।

जातो वा चिरं जीवेत् जीवेद्वा दुर्वलेन्द्रियः।

अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां गर्भाधानं नैवकुर्वीत, पुरुषस्यापि एवंविधस्य त एव दोषाः संभवन्ति। (सु. सू. ३५)

क्षेत्र—(अ) क्षेत्रभूता स्मृता नारी वीजभूता स्मृतः पुमान्।

वीजक्षेत्रसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम्। (मनु. ९।३३)

(ब) व्रीहाद्युत्पत्तिस्थानं क्षेत्रं तत्तुल्या स्त्री मुनिभिः स्मृता।

स्वं क्षेत्रं संस्कृतायान्तु स्वयमुत्पादयेद्धियम्।

तमौरसं विजानीयात् पुत्रं प्रथमकल्पितम्। (मनु. ९।१६६)

अम्बु—मातुस्तु रसवहा नाड्या गर्भनाभीप्रतिवद्धा, साऽस्य मातुराहारसमभिवहति तेनोपस्नेहेनास्या वृद्धिर्भवति। (सु. शा.)

वीज—वीजभूतः स्मृतः पुमान्। (मनुस्मृति)

तथापि तदविकरणत्वात् पुरुषो वीजमित्यभिधीयते। (कुल्लूकभट्ट)

विशिष्टं कुत्रचिद्वीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित्।

उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते। (मनु)

स्वास्थ्य—(अ) सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूपिता। (च.)

(ब) रूप-शील-लक्षण-सम्पन्ना नामन्यूना विनष्टदन्तौष्ठकर्णनासानखकेश-स्तनी मृदुमरोगप्रकृतिमहीनाधिकाङ्गी विधिनोद्वहेत्। (अ. सं.)

(भा० गो० घाणेकर कृत—सुश्रुत टीका, आइडियलवर्थ)

—०oXo०—

तृतीय अध्याय

गर्भोपादान

(Philosophical Interpretation of the Constituents of Fertilization)

आयुर्वेदीय प्राचीन ग्रन्थों में गर्भ के उपादान की विशद दार्शनिक विवेचना पाई जाती है। गर्भ किस प्रकार उत्पन्न होता है, किन किन विकारों के समुदाय से इसका निर्माण होता है—इन वातों की विस्तृत चर्चा मिलती है। गर्भ की उत्पत्ति तथा निर्माण के सम्बन्ध में चार विभिन्न पक्ष रखे गये हैं। उदाहरणार्थ—

१. पञ्चमहाभूत और शरीरि के समवाय सम्बन्ध से रहने को गर्भ कहते हैं—अर्थात् पञ्चमहाभूत और शरीरि या पुरुष के संयोग को गर्भ कहते हैं। अथवा

२. आत्मा और प्रकृति के विकार के सम्मूर्छनावस्था (मिलितावस्था) को गर्भ कहते हैं। अथवा

३. चेतना से संयुक्त त्रिधातु को गर्भ कहते हैं। अथवा

४. मात्रादि षड्भावों का समुदाय गर्भ है।

१. वैशेषिक दर्शन के मत से गर्भ का वर्णन इस प्रकार का है। इसमें महाभूत पाँच होते हैं और छठवां धातु आत्मा होता है-गर्भ के उत्पादन में समवाय सम्बन्ध से ये दोनों पदार्थ मिले रहते हैं तथा गर्भ को षड्धात्वात्मक बनाये रहते हैं। गर्भ के निर्माण में ये कैसे और किस प्रकार आते हैं—इस के लिये आचार्यों ने बतलाया है कि जिसप्रकार पुरुष का वीर्य पाँचभौतिक होता है उसी प्रकार स्त्री का बीज भी पंचमहाभूतों के ही संघटन से बना रहता है। जीव (आत्मा) लिङ्ग शरीर से उपलक्षित होकर, सत्व के साथ संयुक्त होकर अति सूक्ष्म तन्मात्राओं के साथ शुक्र और आर्त्तव का संसर्ग प्राप्त करता है। गर्भ की वृद्धि भी माता के आहार रस से ही होती है जो स्वयं पांचभौतिक है। इस तरह चार प्रकार से महाभूतों का संसर्ग गर्भ शरीर में होता है—शुक्र से, शोणित से, आत्मा से एवं रस से। इन महाभूतों में विशेषता इस प्रकार की है कि आकाश स्वयं-निष्क्रिय तथा सर्वव्यापी है; सर्वत्र प्राप्त होने की वजह से यह एक ही प्रकार का है; अतः

देहान्तर गमन में इसकी परिगणना नहीं होती शेप चार महाभूत विकार युक्त होने की वजह से क्रियाशील (सक्रिय) हैं और अन्य देह में गमन करते हुए इनकी गणना की जाती है, जो शुक्रादि भेद से सोलह प्रकार के अथवा चार प्रकार के होते हैं। इस प्रकार की संख्या का अन्तर समूह में गणना करने से तथा विभाग में गणना करने की वजह से हो जाता है। इसमें उपादान तथा अन्यभूत उपस्तंभ हैं। पंचमहाभूतों के अतिरिक्त छठवीं धातु मन से संयुक्त आत्मा है। इस प्रकार वैशेपिक दर्शन के अनुसार गर्भ के छः उपादान होते हैं।

अष्टाङ्ग संग्रहकार ने दूसरे शब्दों में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—महागुणवान् पंचमहाभूत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी हैं। उनके ऊपर चेतना धातु का अधिष्ठान होता है और चेतना धातु से अधिष्ठित पंचमहाभूत से गर्भ निर्माण तथा गर्भाङ्गों का विकास होता है। पंचभूतों के ही दृष्ट (माता-पिता के किये आहार विहार) अदृष्ट (अन्य जन्मकृत) विविध कर्मों के अनुसार, अनेक रूप और विशेप सन्निवेश के कारण तदनुरूप आकार, प्रमाण, स्निग्धता, तेज, स्वर प्रभृति बातों की, समानता या असमानता तथा सूक्ष्म, स्थूल, तरतम भेद और अनेक प्रकार विभिन्नतायें सन्तान में आजाती हैं।

गर्भ की षड्धात्वात्मता

आकाशजभाव—शब्द, शब्देन्द्रिय, सभी छिद्रसमूह, विविक्तता (सु.)। शब्द, कर्ण, लघुता, सूक्ष्मता और विवेक (च.)। आकाशनामक महाभूत से गर्भ के इतने अवयवों का निर्माण तथा गुणों की उत्पत्ति होती है।

वायवीयभाव—स्पर्श, स्पर्शनेन्द्रिय, सर्वचेष्टासमूह, सभी शरीर का स्पन्दन और लघुता (सु.)। स्पर्श, स्पर्शन, रूक्षता, प्रेरणा, धातुओं का व्यूहन (एकत्र करना) और शारीरिक चेष्टायें (च.)। इतने अवयवों का निर्माण तथा इन के गुण और कर्मों की सृष्टि वायु के द्वारा होती है।

आग्नेयभाव—रूप, रूपेन्द्रिय, वर्ण, सन्ताप, भ्राजिष्णुता (तेज), पचन, अमर्ष, तीक्ष्णता, शौर्य (सु.)। रूप, दर्शन, प्रकाश, पचन, उष्णता और प्रकाश (च.)। अष्टाङ्गसंग्रह में पित्त और मेधा का अधिक उल्लेख मिलता है। इस प्रकार इन गुण, कर्म, अवयव तथा भावों की प्राप्ति अग्नि या तेज नामक महाभूत से होती है।

जलीयभाव—रस, रसनेन्द्रिय, सभी प्रकार के द्रवसमूह, गुरुता, शैत्य, स्नेह और रेतस (शुक्र) (सु.)। रस, रसना, शैत्य, मृदुता, स्नेह, क्लेद, (च.)। वृद्धजीवकीयतन्त्र में श्लेष्मा, मांस, मेद और रक्त का अधिक उल्लेख इस वर्ग में हुआ है। इस तरह इतने भावों और गुणों की सृष्टि जल नामक महाभूत से गर्भ शरीर में होती है।

पार्थिव या क्षितिजभाव—गन्ध, गंधेन्द्रिय, सभी मूर्त्त पदार्थों का समूह और गुरुता (सु.)। गन्ध, नासिका, गुरुता, स्थिरता, मूर्ति (रूप) (च.)। संग्रहकाराने धैर्य का अधिक पाठ इस वर्ग में किया है। फलतः इनते अवयव तथा गुण और कर्म पृथिवी नामक महाभूत से गर्भ में आते हैं।

समनस्क आत्मा (जीव या चेतना) से प्राप्त भाव—सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, उन्मेष, निमेष, बुद्धि, मन, संकल्प, विचार, स्मृति, विज्ञान अध्यवसाय, विषयोपलब्धि प्रभृति गुण मन के साथ मिले हुए आत्मा के गर्भ में प्रविष्ट होने से आते हैं। इनमें सात्विकों में अनृशंसता, संविभाग रुचिता, त्याग की इच्छा, सत्य, धर्म, आस्तिक्य बुद्धि, बुद्धि, मेधा, स्मरण, धैर्य और अनभिषङ्ग-प्रभृति गुण मिलते हैं—संग्रहकार ने शौच, कृतज्ञता, दक्षता, अध्यवसाय, शौर्य, गाम्भीर्य, शुक्ल वर्त्म की रुचि, भक्ति, तमोगुण की विपरीतता भी सात्विक भावों के वर्ग में गिनाया है।

राजसभावों-में दुःख बहुलता, अटनशीलता, अधैर्य, अहंकार, असत्य व्यवहार, अकरुणता, दम्भ, मान, हर्ष, काम क्रोध (सु.)। संग्रहकार ने कुछ अन्य भावों का भी व्याख्यान किया है जैसे दुरुपचारता, अनार्यता, शौर्य, मात्सर्य, अमित भाषण और लोलुपता। तामसभावों में—विषाद, नास्तिक्यता, अधर्मशीलता, बुद्धि का निरोध, अज्ञान दुर्मेधता, अकर्मशीलता, निद्रालुत्व (सु.)। संग्रह में कुछ अधिक भावों का उल्लेख मिलता है—जैसे प्रमाद, भूख, प्यास, शोक, मात्सर्य, विप्रतिपत्तिः, दूसरे का दोष देखना तथा सत्व गुण की विपरीतता—गर्भ में उपरोक्त भावों का उद्भव मन और आत्मा के कारण होता है।

चरक ने आत्मा के द्वारा उत्पन्न होने वाले कई शारीरिक गुणों का उल्लेख किया है—जैसे स्वप्न में देशान्तर गमन, मृत्यु का देखना। दाहिनी आँख से

देखने के बाद बाईं आँख से उसका ज्ञान हो जाना, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न चेतना, धैर्य, बुद्धि, स्मृति और अहंकार ये सत्वाधिष्ठित आत्मा के चिन्ह हैं।

आत्मा और प्रकृति के समूर्च्छनावस्था को गर्भ कहते हैं। सांख्य सिद्धान्त के अनुसार गर्भ के उपादान में, प्रकृति से उत्पन्न हुए चौबीस विकार तत्व-भाग लेते हैं। इनमें पच्चीसवाँ तत्त्व पुरुष नामक होता है जो सूक्ष्म शरीर से उपलक्षित रहता है और शुक्र शोणित के साथ ही गर्भ में प्रविष्ट होता है। सूक्ष्म शरीर अठारह धातुओं का होता है—जिनमें मन, बुद्धि अहंकार और दस इन्द्रियाँ इनके तथा पंचमहाभूतों के आधारभूत पंचतन्मात्रायें आजाती हैं। इनसे युक्त अष्टादश तत्वात्मक सूक्ष्म शरीर, उन्नीसवाँ तत्त्व पुरुष तथा रसज मातृज और पितृज भावों के समन्वय उत्पन्न स्थूलभूत पंचमहाभूत। कुल मिलाकर चौबीस तत्त्वों के सम्मिलन से गर्भ बनता है।

आचार्य सुश्रुत ने सृष्टि का क्रम बतलाते हुए इसी विचार का विशद वर्णन शारीर स्थान के प्रथम अध्याय में किया है। प्रकृति से सृष्टि प्रारम्भ होती है। अव्यक्त से महान् की उत्पत्ति होती है, यह उसी के लक्षणों से युक्त होता है, महान् से उसी के लक्षणों वाले अहंकार की उत्पत्ति होती है। यह अहंकार तीन प्रकार का होता है—वैकारिक, तैजस और भूतादि। इनमें से वैकारिक अहंकार से तैजस की सहायता से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं जैसे कान, त्वचा, जिह्वा, नासा, वाक्, हाथ, लिङ्ग (जननेन्द्रिय), गुदा, पैर और मन। इनमें पर्व की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, दूसरी पाँच कर्मेन्द्रिय है तथा उभयात्मक मन होता है। भूतादि में तैजस की सहायता से उन्हीं लक्षणों से युक्त पंचतन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। उदाहरणार्थ शब्द तन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र। इनके विशेष व्यक्तरूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुण हैं। इन तन्मात्रावों से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। क्रमशः एकैक तन्मात्र से स्थूलभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तल पैदा होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर तत्व चौबीस हो जाते हैं जिनसे सृजन होता है।

अव्यक्त महान एवं अहंकार तथा पंचतन्मात्र ये आठ प्रकृतियाँ कहलाती हैं शेष सोलह तत्त्व विकार कहलाते हैं।

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार पुरुष को पच्चीस तत्त्वों का समुदाय माना जाता

है। सुश्रुत ने भी कर्मपुरुष को पच्चीस तत्त्वों से निर्मित हुआ ही माना है, परन्तु चरक ने चौबीस तत्त्वों के समुदाय को ही पुरुष करार किया है। इस का कारण यह है कि चरक ने प्रकृति व्यतिरिक्त उदासीन पुरुष को, अव्यक्त के साथ साधर्म्य होने की वजह से अव्यक्त को प्रकृति में ही डालकर अव्यक्त शब्द से ही दोनों का ग्रहण कर लिया है। फलतः उनके कथनानुसार पुरुष को चौबीस तत्त्वों वाला मानने में भी कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता।

३. चेतना से संयुक्त त्रिधातु को गर्भ कहते हैं। वायु, पित्त और कफ ये तीन धातु हैं, गर्भ के आधारभूत शुक्र और शोणित में बीजरूप से ये रहते हैं। अतएव गर्भ के उत्पादन में ये घटक होते हैं। इसीलिये आयुर्वेद के सिद्धान्तानुसार यह व्याख्या 'चेतनाधिष्ठित त्रिधातु को गर्भ' कहते हैं यह समुचित है। आचार्य सुश्रुत ने लिखा भी है कि 'वात, पित्त, कफ ये देह उत्पादक हेतु हैं। इन्हीं के स्वस्थ रहने पर नीचे, बीच में तथा ऊपर की ओर अवस्थित रहने पर यह शरीर चलता है। (शरीर का धारण होता रहता है)। इनको उपमा तीन खम्भे पर बने गृह के साथ दी जाती है।' जिस प्रकार तीन खम्भों के ऊपर बने मकान की स्थिरता तभी तक रहती है—जब तक खम्भे मजबूत और ठीक रहें, इसी प्रकार यह जीवित शरीर भी तभी तक स्वस्थ है जब तक कि शरीर के तीनों स्तम्भ वायु, पित्त और कफ अव्यापन्न, स्वस्थ तथा अविकृत हैं। इन स्तम्भों के विकृत होने पर शरीर अस्वस्थ हो जाता है अथवा उसका धारण ही सम्भव नहीं हो पाता। इसलिये शरीर को 'त्रिस्थूण' तीन स्तम्भों वाला कहा जाता है।

४. मात्रादि षड्भावों का समुदाय गर्भ है। गर्भ की उत्पत्ति मात्रादि छः भावों के समुदाय से होती है। माता, पिता, आत्मा, सात्म्य, रस और सत्व ये छः भाव हैं। लिखा भी है:—

(१) माता से, पिता से, सात्म्य से, रस से, सत्व से—इन सभी द्रव्यों के समुदाय से गर्भ की उत्पत्ति होती है।

(२) सर्व भावों के समुदाय से गर्भ की अभिनिर्वृत्ति होती है अतः गर्भ पितृज, मातृज, सात्म्यज, रसज है और सत्व भी उसका उत्पादक है।

(३) जिस प्रकार कूटागार (गर्भगृह) नाना द्रव्यों के संयोग से अथवा रथ (गाड़ी) नाना प्रकार के अङ्गों (Parts) के समुदाय से बनता है; उसी प्रकार गर्भ भी नाना प्रकार के मात्रादि षड्भावों के संयोग से निर्मित होता है।

माता, पिता अवश्यम्भावी कारण होने की वजह से गर्भोत्पत्ति में हेतु बतलाये गये हैं क्योंकि विशेषतः जरायुज सृष्टि में इनके अभाव से (अर्थात् शुक्रशोणित के बिना) गर्भोत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

इसी प्रकार आत्मा भी गर्भाशय में प्रविष्ट होकर, शुक्रशोणित का संयोग प्राप्त कर गर्भ के रूप में उत्पन्न होता है, अतः गर्भ की उत्पत्ति में यह भी हेतु हो जाता है। यद्यपि आत्मा स्वयं अनादि है अतः उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तथापि उसका अवस्थान्तरगमन (दूसरी अवस्था को प्राप्त होना ही) जन्म कहलाने लगता है अतएव सिद्धान्त में (आत्मा के अनादित्व) में कोई दोष नहीं आता।

इसी प्रकार सात्म्य भी गर्भोत्पत्ति में हेतुरूप में प्राप्त होता है। क्योंकि असात्म्य सेवन के अतिरिक्त स्त्री पुरुष में वन्ध्यात्व लाने वाला कोई कारण नहीं। गर्भ में भी विकार पैदा करने के लिये असात्म्य ही माना जाता है। अतएव सात्म्य को भी गर्भोत्पादन में हेतु माना गया है और यह एक महत्व का कारण है।

रस का सम्यक् उपयोग भी गर्भोत्पादन में हेतु है। क्योंकि रस के बिना माता की प्राणयात्रा (शरीरधारण) भी नहीं हो सकती—गर्भजन्म की तो बात ही क्या है।

सत्व भी गर्भोत्पादक हेतुओं में बतलाया गया है—जो जीव को स्पर्श योग्य अर्थात् स्थूल शरीर के साथ सम्बद्ध करता है। मन निश्चयरूप से शरीरान्तर के साथ सम्बन्ध कराने वाला है। अर्थात् जीव के अन्य शरीर के ग्रहण में मन ही साधकतम है। यह जीवात्मा के साथ नित्य रहता हुआ अन्य शरीर के साथ सम्बन्ध कराता है। जीवात्मा स्वयं निष्क्रिय है, मन की क्रिया से क्रियावान् होकर; उसका देहान्तर से सम्बन्ध होता है और तभी गर्भोत्पत्ति होती है।

मात्रादि षड्भावों से उत्पन्न होने वाले गर्भावयव—माता से उत्पन्न होने वाले—त्वचा, रक्त, मांस, मेद, नाभि, क्लोम, यकृत्, प्लीहा दोनों फुफ्फुस और वृक्क (वृक्कौ, वुक्कौ) वस्ति, पुरीषाधान, आमाशय, पक्वाशय, उत्तरगुद, स्थूलान्त्र, क्षुद्रान्त्र, वपा और वपावहन। (च. शा. ४)

मांस, रक्त, वसा, मज्जा, हृदय, नाभि, यकृत्, प्लीहा, आन्त्र और गुद प्रभृति मृदु अवयव (सु. शा. ४)। संग्रह में गर्भाशय का नाम अधिक दिया हुआ है।

पिता से उत्पन्न होने वाले—केश, दाढ़ी के बाल, नख, लोम, हड्डी, सिरा, स्नायु, धमनी, शुक्र। (च.)

केश, श्मश्रु, लोम, अस्थि, नख, दन्त, सिरा, स्नायु, धमनी, शुक्र प्रभृति स्थिर या कठिन अवयव। (सु.)

आत्मा से उत्पन्न होने वाले भाव—विभिन्न योनियों में उत्पन्न होना, आयु, आत्मज्ञान, मन, इन्द्रिय, प्राण, अपान, प्रेरण, धारण, आकृति स्वर वर्ण आदि की विशेषता, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, चेतना, धृति, बुद्धि, स्मृति, अहङ्कार और प्रयत्न आदि आत्मज भाव है। (च.) संग्रहकार ने चरक से अधिक कई भावों का उल्लेख किया है, जैसे—काम, क्रोध, लोभ, भय, हर्ष, धर्मशीलता और अधर्मशीलता।

सात्म्य से उत्पन्न होने वाले—आरोग्य, अनालस्य (स्फूर्ति), अलोलुपता (लालच का न रहना), इन्द्रियों की प्रसन्नता, स्वर-वर्ण और बीज की प्रशस्तता और प्रहर्षमयस्त्व (सदैव प्रसन्न रहना) ये सात्मज गुण हैं। (च.)

वीर्य, आरोग्य, बल, वर्ण और मेधा (सु.)। संग्रहकारने आयु और ओज दो भावों का अधिक उल्लेख किया है।

रस के उत्पन्न होने वाले—शरीर की अभिनिर्वृत्ति और अभिवृद्धि, प्राण के साथ अनुबन्ध, तृप्ति, पुष्टि, उत्साह ये रसज भाव है। (च.)

शरीर का उपचय, बल, वर्ण, स्थिति और हानि। (सु.)

शरीर का जन्म, वृत्ति और वृद्धि। (वा.)

सत्व से उत्पन्न होने वाले—भक्ति, शील, शौच, द्वेष, स्मृति, मोह, त्याग, मात्सर्य, शौर्य, भय, क्रोध, शरीरोत्साह, तीक्ष्णता, मृदुता, गम्भीरता, अनवस्थितता और इसी प्रकार के अन्य गुण सत्व से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार गर्भ के षड्-भावों की सम्यक् व्याख्या हुई।

समन्वय—ऊपर गर्भादान के सम्बन्ध में चार प्रकार के सिद्धान्त बतलाये गये हैं—(क) पञ्चमहाभूत शरीरिका समवाय (ख) आत्मप्रकृतिविकार सम्मूर्च्छन (ग) त्रिधातुक चेतनाविष्ट (घ) मात्रादि षड्भाव समुदाय। इनमें यद्यपि मोटे ढङ्ग से देखने पर भेद मालूम होता है; परन्तु वास्तव में सूक्ष्म विवेचना करने पर कोई अन्तर नहीं आता और चारो सिद्धान्त समान ही ज्ञात होते हैं और सभी मतों की एकता मालूम होती है।

आपाततः उपरोक्त पक्षों में कोई विरोध नहीं दीखता। क्योंकि मातृजादि जो विभिन्न सिद्धान्त बतलाये गये हैं—वे मूल पक्ष 'पञ्चमहाभूत विकार से शरीर समवाय' के ही समर्थक हैं। क्योंकि मातृजादि भाव पञ्चमहाभूत विकार से इतर नहीं होते। इसी प्रकार त्रिधातुक गर्भ को मानने पर कोई विरोध नहीं आता क्योंकि वात-आकाश एवं वायु का प्रतिनिधि है, पित्त-तेज या अग्नि का और कफ-जल और पृथिवी का। अतएव वातादि दोषों के भी पाञ्चभौतिक कथन में कोई दोष नहीं आता।

गर्भ को आत्मप्रकृतिविकार सम्मूर्च्छजन्य चौबीस तत्त्वों के मानने वाले के पक्ष में भी पाञ्चभौतिकत्व सिद्धान्त के व्यतिरिक्त कुछ नहीं ज्ञात होता। इस पक्ष में आत्मा के भीतर बुद्धि, अहङ्कार तथा मन का ग्रहण हो जायगा और पाञ्चभौतिक शरीर में सम्पूर्ण भूतेन्द्रियार्थों या विकारों का ग्रहण हो जायगा।

गर्भ के समुदाय प्रभव होने पर मनुष्य शरीर से मनुष्य शरीर ही कैसे पैदा होता है। इस शङ्का के बारे में इस प्रकार का आचार्यों का समाधान है। जरायुज एवं अण्डज प्राणियों के गर्भोत्पादक भाव जिस-जिस योनि को प्राप्त होते हैं—उस-उस योनि में उसी-उसी प्रकार का रूप ले लेते हैं। जैसे सोना, चांदी, ताम्र, पित्तल, सीस के बने ढाँचों में ढले हुए मोम के खिलौने अपने-अपने साँचे का ही रूप लेते हैं। विभिन्न प्रकार के पक्षियों के साँचे में ढले मोम के खिलौने विभिन्न पक्षियों के रूप तथा मनुष्य के साँचे में ढले होने पर मनुष्य शरीर के रूप ले लेते हैं। इसी प्रकार समुदायात्मक, गर्भ के होते हुए भी बिम्ब और योनि के अनुसार विभिन्न शरीर (पशु, पक्षी, मनुष्य प्रभृति) की उत्पत्ति होती है—और मनुष्य से मनुष्य ही उत्पन्न होता है।

दूसरी शङ्का यह हो सकती है कि यदि मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति होती है; तो फिर जड़, अन्ध, बधिर की सन्तान सदैव पितृसदृश्य रूप वाली अथवा जड़ान्ध बधिर क्यों नहीं होती। इसका समाधान इस तरह का है कि—गर्भ के बीज में यदि दोष आ गया हो तो निश्चित उसका प्रभाव सन्तति पर होता है अन्यथा नहीं होता। गर्भ में जिस-जिस अङ्ग का बीज भाग उपतप्त होता है उस-उस अवयव की विकृति उत्पन्न होती है। यदि बीज भाग के अवयव निर्दुष्ट हों तो विकार सन्तति के अवयवों में नहीं आता। अतएव दोनों बातें हो सकती है अर्थात् जड़ादि से

उत्पन्न सन्तान जड़ादि हो भी सकती है और नहीं भी—यदि बीज के अवयव उपतप्त हुए विकारयुक्त अवयव वाली सन्तति और बीज के अवयव निर्दुष्ट रहे तो पिता के अदृश्य रूप वाली अर्थात् जड़ादि गुणों के विपरीत सन्तान पैदा होती है। दूसरी बात यह है कि इन्द्रियाँ आत्मज (आत्मा से उत्पन्न होने वाली) होती है—फलतः इनके होने, न होने में अथवा स्वस्थ या विकृत होने में हेतु दैव (पूर्वजन्म कृतकर्म) भी होता है। जिससे जड़ादि पिता से उत्पन्न सन्तति एकान्ततः पिता के सदृश रूप की ही नहीं होती।

आधार तथा प्रमाण संचय—

(१) अस्मिञ्छास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। (सु. सू. १)

(२) गर्भस्तु खलु अन्तरिक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेताधिष्ठानभूतः। एवमनया युक्त्या पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेताधिष्ठानभूतः स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः। (च० शा० ४, च० शा० १, २, ४, वा० शा० १, अ० सं० शा० ५, सु० शा० १, अ० हृ० शा०, जातिसूत्रीय शारीर का० सं०)

(३) **आत्मप्रकृतिविकारसम्मूर्च्छितो गर्भ**—आत्मप्रकृतिविकारसम्मूर्च्छितश्चायं चतुर्विंशतितत्वात्मको गर्भो भवति सांख्यदिशा। अत्र पुरुषो नाम पञ्चविंशः सूक्ष्मशरीरोपलक्षितः शुक्रशोणितसंसर्गमवक्रामति। सूक्ष्मशरीरञ्च मनोबुद्ध्यहङ्कारदशेन्द्रियैःसमन्वितं तदाधारभूतैः पञ्चतन्मात्राख्यैः सूक्ष्मभूतैश्च समुत्थितमिति अष्टादश तत्त्वात्मकम्। एकोनविंशश्च पुरुषः, रसमातृपितृसंभवत्वेन स्थूलभूतसमवायस्तु पूर्ववत् त्रिधेति चतुर्विंशतिः। मूलप्रकृतिश्चेह विकारग्रहणात् पुरुषोपहिता बोद्धव्या, पुरुषसंसृष्टाया एव तस्याः सर्गे प्रवृत्तेः। तथा शरीरसर्गेऽन्योन्यसंसृष्टयोस्तयोरन्यः पिण्डवदेकीभावादेकं तत्वम्, मोक्षाधिकारे प्रकृतिपुरुषयोः पृथग्ग्रहे तु पञ्चविंशतितत्त्वात्मको देहः। किंवा प्रकृतिरिह विकारग्रहणाद् व्यक्ते परिणतानतदतिरिक्तो भवतीति त्रयोविंशतिः पुरुषस्तु चतुर्विंशः। तत्संघातश्चायं गर्भः चतुर्विंशतिक एव। भवति चात्र

> ततश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः
> मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिचाष्ट धातुकी। (च० शा० १)

(४) **त्रिधातुको वा चेतनाविष्टो गर्भः**—त्रिधातुको वा चेतनाविष्टो भवति गर्भ आयुर्वेददिशा। वायुः पित्तं कफश्च त्रयो धातवः। ते च देहधातारोऽन्योन्य-

समवेता गर्भबीजयोः सूक्ष्मबीजात्मनाऽवतिष्ठन्ते। शरीरे वर्धमाने त एव परिणमन्तो देहधात्वादिरूपेण प्रत्यक्षतां यान्ति।

(५) **मात्रादिषड्भावसमुदायसंभवो वा गर्भः**—(क) मातृतः पितृत आत्मतः सात्म्यतो रसतः सत्वत इत्येभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यः गर्भः संभवति। (च० शा० ४)

(ख) सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते, मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्च, आत्मजश्च, सात्मजश्च, रसजश्च अस्ति च सत्वमौपपादुकमिति।

(ग) एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिवर्तते गर्भो यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायाद्यथा वा रथो नानारथाङ्गसमुदायात्। (च. शा. ३)

(६) तत्र जरायुजानामण्डजानां च प्राणिनामेते गर्भकरा भावा यां यां योनिमापद्यन्ते तस्यां तस्यां योनौ तथा तथा रूपा भवन्ति। तद्यथा कनकरजतताम्रत्रपुसीसकान्यासिच्यमानानि तेषु तेषु मधूच्छिष्टबिम्बेषु। तानि यदा मनुष्यबिम्बमापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते। तस्मात् समुदायात्मकः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते तद्योनित्वात्।

यदोक्तं—यदि मनुष्यो मनुष्यप्रभवः कस्मान्न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्तीति, तत्रोच्यते—यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात्। तस्मादुभयोपपत्तिरप्यत्र। सर्वस्य चात्मजानीन्द्रियाणि, तेषां भावाभावहेतुर्दैवम्। तस्मान्नैकान्ततो जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्तीति। (च० शा० ३)

(अभिनव प्रसूतितन्त्र)

चतुर्थ अध्याय

(गर्भ शरीर की विकास पद्धति)

(गर्भाभिनिवृत्ति-गर्भाभिवृद्धि-गर्भ का विकास)

(Process and development of foetus)

जननस्तर को निर्वृत्ति या निर्माण (Formation of Germinal layer)—स्त्रीबीज का शुक्राणु से संयोग होने पश्चात् गर्भ (Ovum) में विभजन प्रारम्भ होता है। विभजन के द्वारा मूल एक कोषाणु से दो कोषाणु बन जाते हैं। फिर दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह, सोलह से बत्तीस, इस तरह कोषाणु संख्या की वृद्धि का सिलसिला जारी होता है। क्रमशः विभजन होकर एक छोटा-सा गोल कोषाणु समूह गोखरू बीज या शहतूत के आकार का बन जाता है। इसमें बाहरी कोषाणु आकार में छोटे और भीतरी कोषाणु बड़े होते हैं। इसी कोषाणुसंघातरूप (Ball of Cells) **कलल या कलन** कहते हैं। अंग्रेजी में इस अवस्था को 'मोरुला' (Morula) कहते हैं।

कलल
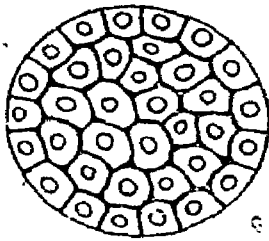
चित्र १५

बुद्बुद
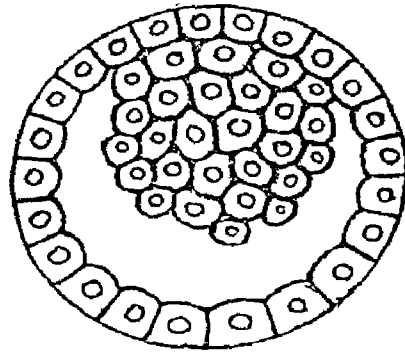
चित्र १६

कलल के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यद्यपि प्रारम्भिक एक कोषाणु के स्थान पर इसमें अनेक कोषाणु होते हैं; तथापि इसका आकार प्रारम्भिक सेल से अधिक मोटा नहीं होता, कुछ ही छोटा होता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि कलल वास्तविक वृद्धि की अवस्था नहीं है, यह वृद्धि पूर्व अवस्था की है जिसमें जीव की वृद्धि के लिये उचित कोषाणु बनाये जाते हैं। कलल के ठीक बन

जाने पर, उसके मध्य में एक अवकाश अर्थात् खोखला स्थान बनना (Vacuolated) शुरु हो जाता है और धीरे धीरे इस रिक्त स्थान में तरल भर जाता है। इस तरल के दबाव से बाहरी सेलें भीतरी सेलों से पृथक् हो जाती हैं। इस अवस्था को बुद्‌बुद (Blastocyst or blastodermic vesicle) कहते हैं। तरल के अधिक इकट्ठा होने पर बुद्‌बुद का आकार वास्तव में बढ़ने लगता है। इसकी बाहरी कोषाणु अधिकांश स्थानों में इकहरे या दोहरे हो जाते हैं। परन्तु एक स्थान में बाकी सब कोषाणु इकट्ठे रहते हैं। और भीतर की ओर गाँठ जैसे निकले रहते हैं। इन्हें अन्तः कोषाणु समूह (Inner or formative cell mass) कहते हैं। बाहरी सेलें गर्भ के पोषण में भाग लेती है अतः पोषक कोषाणुस्तर या पोषक स्तर या सामान्य बहिस्तर (Trophoblast or Extra Embryonic Ectoderm) कहते हैं। भीतरी कोषाणु गर्भ की वृद्धि के काम में आते हैं।

बुद्‌बुद का परिणाम विशेष
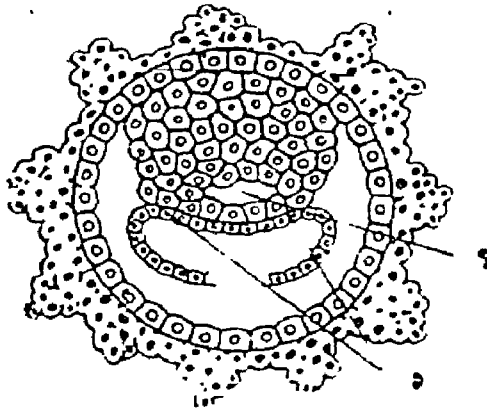
चित्र १७

१. पोषकस्तर २. कौषिक् बहिःस्तर। गर्भकोष। बहिर्जननस्तर। यल्ककोष, बुदबुदावकाश।

इस तरह एक तरफ कलल बनने का कार्य जारी रहता है और दूसरी तरफ जीव, गर्भाशय की ओर का मार्ग तय करता है। शास्त्रज्ञों की राय में गर्भाशय तक का मार्ग तय करने के लिये गर्भको साधारणतया एक सप्ताह लगता है और इस सप्ताह की अवधि में कलल पूर्णतया बन जाता है। इस प्रकार में गर्भ का पोषण बीजवाहिनी गतस्राव से होता है। कलल की बाहरी कोषाणुओं में पाचन और शोषण की शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे यह कार्य होता है।

गर्भाशय के भीतर पहुँचने पर ये वाह्य कोषाणु, अन्तस्तर (Endometrium) के पृष्ठ भाग पर अपनी इच्छानुसार पाचक शक्ति के द्वारा (Eating into or digesting) एक छेद बनाते हैं–जिसमें से होकर गर्भ अन्तस्तर (Endometrium) की मोटाई में सुरक्षित रहता है। जिस छिद्र से गर्भ अन्दर जाता है वह छिद्र पीछे एक स्कंद (Plug of fibrin) के द्वारा बंद हो जाता है इसके बाद गर्भ का पोषण अच्छी तरह से होने की वजह से उसकी वृद्धि तेजी से होती है। फिर भीतर के कोषाणुओं में एक ऊपर और एक नीचे दो पोले स्थान (Amniotic cavity and yolksac) गर्भकोष तथा यल्ककोष उत्पन्न होते हैं और जहाँ पर ये दोनों मिलते हैं वहीं पर गर्भ की उत्पत्ति होती है। इस स्थान को गर्भस्थली (Embryonic area) कहते हैं। ऊपर के पोले स्थान के बाहर के कोषाणुओं को बहिर्जननस्तर (Embryonic ectoderm) तथा निचले पोले स्थान के कोषाणुओं को अन्तर्जननस्तर (Embryonic entoderm) कहते हैं। अब गर्भस्थली या गर्भोत्पत्ति के स्थान पर उसके प्रान्त भाग से एक और स्तर बननी शुरू होती है, जिसे द्वितीय मध्यस्तर (Mesoderm) कहते हैं। इसके शीघ्र ही दो भाग हो जाते हैं। एक तो बहिर्जननस्तर (Embryonic ectoderm) से होता हुआ बुद्बुद के बाहरी कोषाणुओं के साथ फैलता जाता है और उससे मिलकर गर्भ बाह्यावरण (Chorion) बनाता है और दूसरा अन्तर्जननस्तर के ऊपर फैलता है। मध्यस्तर (Mesoderm) के अन्तभाग में पाये जाने वाले को कौषिकमध्यस्तर (Splanchnopleure) और बहिर्भाग को परिधि मध्यस्तर (Somatopluere) कहते हैं, यह भाग बहिर्जननस्तर से मिलकर आदिम बहिर्जरायु (Primitive chorion) बनाता है। कौषिक मध्यस्तर और परिधि मध्यस्तर के बीच में एक बड़ा–सा पोला स्थान बनता है जिसे महावकाश (Coelom or body cavity) कहते हैं और यहीं से शरीरगर्त का उद्भव होता है। बुद्बुद के पोषक कोषाणुओं (Trophoblost) की दो स्तरें होती हैं जिनमें बाहर की स्तर (Syncytium) में बहुत–सी मींगियाँ पाई जाती हैं और यह भिन्न भिन्न कोषाणुओं में विभक्त नहीं होती। यह स्तर जिस स्थान के सम्पर्क में आती है उसे खाती और पचाती जाती है। दूसरी स्तर (Langhans layer) इसके अन्दर की ओर होती है और भिन्न भिन्न कोषाणुओं में विभक्त होती है। इनमें प्रथम को निरावरण कोषाणुमयी

पोषकस्तरिका (Plasmodium trophoblast or syncytium) और दूसरे को निरावरण कोषाणुमयी पोषकस्तरिका (Cytotrophoblast or langhan's layer) कहते हैं।

पोषकस्तर-वृद्धि
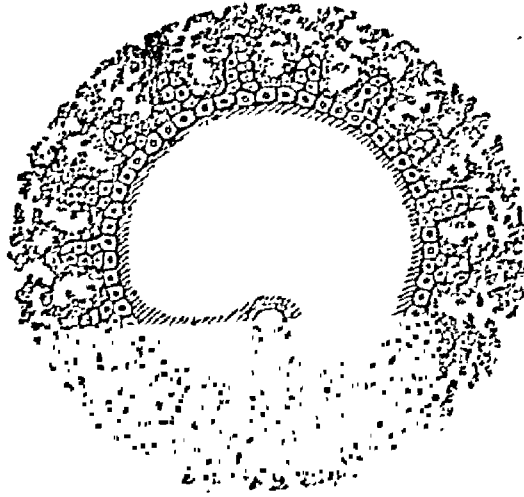
चित्र १८
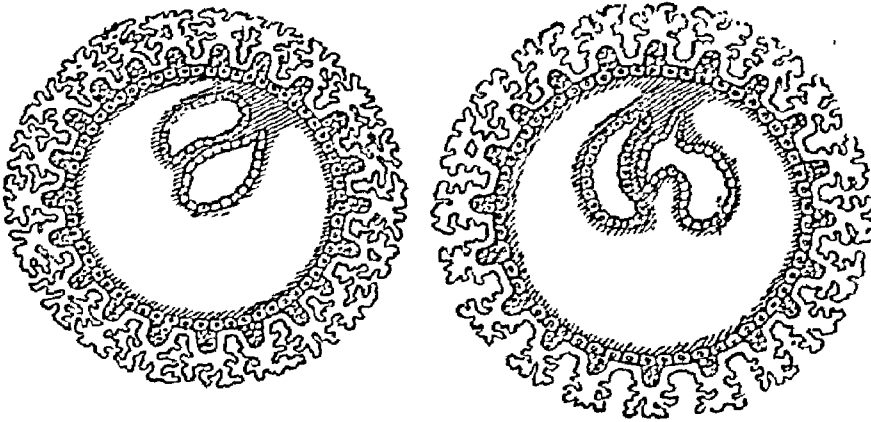
चित्र १९ चित्र २०

जब गर्भ की और वृद्धि होती है तो बुद्बुद के भीतर के कोषाणुओं में जो पोला स्थान था, उसमें एक तरल पदार्थ (गर्भोदक) भरने लगता है। जब इस तरल की मात्रा अधिक हो जाती है, तब वह बड़ा हो जाता है, एवं गर्भ तथा नीचे के पोले स्थान को ऊपर की ओर घुमकर स्वयं द्वितीय मध्यस्तर (Mesoderm)

के दो भागों के बीच के खाली स्थान महावकाश (Coelom) को भरने लगता है और अन्त में सर्वथा भर देता है जिससे ऊपर का द्वितीय मध्यस्तर तथा बहर की द्वितीय मध्यस्तर दोनों मिल जाते हैं। इस प्रकार इसके कोषाणु द्वितीय मध्यस्तर से मिलकर गर्भ का अन्तरावरण (Amnion) बनता है जो गर्भ के बाह्यावरण के भीतर होता है। गर्भस्थली के मुड़ने से निचले पोले स्थान का कुछ भाग उसके अन्दर आ जाता है जिससे अन्न प्रणाली की उत्पत्ति होती है।

जननस्तरों से बनने वाले भावी अवयव—

सामान्य बहिस्तर या पोषकस्तर—(Ectoderm) से बहिस्त्वक् (Epidermis) त्वचा, मेदोग्रन्थि, स्वेदग्रन्थि, स्तनग्रन्थियों की उत्तानकला, स्तरिका, केश, नख, लालग्रन्थियाँ, मुख की श्लेष्मलकलास्तरिका, दाँत, दन्तच्छद (Enamel), आँख एवं कान की उत्तानकलास्तरिका, (Epithilium) दृष्टिमणि (Lens) तारामण्डलपेशी सूत्र, मुख, नासा, गुदा और भग की उत्तानकलास्तरिका (Mucosa), अधर गुद (Lower part os the rectum), समग्र नाडीतन्त्र, ज्ञानेन्द्रियों के नाडी तन्त्रात्मक भाग (Nervous parts) तथा पोषणिका ग्रन्थि (Pitutary gland)।

मध्यस्तर—(Mesoderm) से संयोजक धातु, रक्त, अस्थि, तरुणास्थि, दन्त। स्नैहिककला उदर्या (Peritoneum), उरस्या (Pluera), हृदयधराकला (Pericardium)। रक्तवहसंस्थान, रसवहसंस्थान, (Lymphatic system)। तारामण्डल पेशी सूत्रों को छोड़कर शरीर की सभी पेशियाँ। प्लीहा, अधिवृक्क ग्रन्थि का बहिर्वस्तु (Adrenol cortex)। अन्तः जननाङ्ग (Internal organs of generation), गर्भ बीज (Ovum) वृक्क तथा भवीनी (Ureters)।

अन्तस्तर—(Entoderm) से अन्नवह स्रोत की श्लेष्मल कला (उन भागों को छोड़कर जिनके नाम ऊपर में आ गये हैं।) अन्नवह स्रोत से सम्बन्ध ग्रन्थियों की जैसे यकृद्, अग्न्याशय प्रभृति की उत्तानकला स्तरिका (Epithilium) चुल्लिका-उपचुल्लिका-बालग्रन्थि (Thyoroid. parathyroid, thymus) ग्रन्थियों की उत्तानकला स्तरिका, मूत्राशय तथा मूत्र मार्ग का प्रायः समग्र उत्तानकला स्तरिका (Epithilium), तथा श्वसन यन्त्र (फुफ्फुस, श्वासनलिका, स्वरयन्त्र) की उत्तानकला स्तरिका।

मध्यजननस्तर का परिणाम और नाभिनाडी (नाल) का निर्माण—

गर्भ की बुद्बुदावस्था का वर्णन विस्तृत रूप से हो चुका है। बुद्बुद की गर्भस्थली तथा उससे अवयवभूत तीन जननस्तरों का उल्लेख हो चुका है। अब द्वितीय मध्यस्तर की विशेष चर्चा प्रासंगिक है।

जैसे जैसे महावकाश (Coelome) बढ़ता जाता है, वैसे वैसे मध्यस्तर (Mesoderm) आन्तर पिण्डिका (Formative cellmass) के पोषक स्तर (Trophoblrst or extraembryonic ectoderm) के मध्य में प्रवेश करता चलता है और गर्भस्थली के, पश्चिम प्रान्त के, पोषक स्तर के अन्तराल में विशेषतः पुंजीभूत होकर भावि गर्भवृन्त का निर्माण करता है। कुछ लोग गर्भवृन्त या अलिन्थ (Belly stalk or Abdominal pedicle) को आन्तर पिण्डिका के कोषाणुओं से निर्मित मानते हैं। यही गर्भवृन्त आगे चलकर रक्त प्रणालियों के बन जाने पर नाभिनाल (Umbelical cord) का रूप ले लेता है। इस स्थान पर सूक्ष्म गर्भरक्तवाहिनियाँ (Embryonic vessels) रहती हैं जो बाद में नाभिरक्तवाहिनियों (Umbelical vessels) के रूप विकसित होती हैं और इस स्थान के धातु (Tissues) 'व्हार्टन' की जेली का रूप ले लेते हैं।

भ्रूण का आरम्भिक विकास—(Earlydevelopment of the Embryo) यदि भ्रूण को आरम्भिक अवस्था में ऊपर से देखा जाय, तो गर्भस्थली (Ebryonicarea) एक छोटी अण्डाकार गहरे रंग की रचना सी दीखती है। यह रंग की गहराई कोषाणु की अधिक बढ़ती की वजह से आती है—क्योंकि ऐसी स्थिति में तीनों जननस्तर परस्पर संलग्न रहते हैं। इसके सिरे पर और अधिक गहरा रंग दिखलाई पड़ता है इससे यह ज्ञात होता है कि उस स्थान के कोषाणु और अधिक वर्द्धनशील हैं इससे और आगे बढ़ें तो एक बन्ध है, जिसे आदिम रेखा (Primitive streak) कहते हैं—इसके केन्द्र में और एक गहरा रंग की दरार सी दिखलाई पड़ती है, जिसे आदिम परिखा (Primitive groove) कहते हैं। आदिम परिखा के पूर्व प्रान्त पर एक गहरा स्थान पाया जाता है जिसे 'हेन्सेन' की ग्रन्थि कहते हैं—इस ग्रन्थि से और ऊपर तक आने की एक और रेखा खिची मिलती है। बाद में जाकर आदिम रेखा के सामने बहिःस्तर में (Ectoderm) एक और बन्ध दिखाई पड़ता है, जो क्रमशः पश्चाद् भाग

की ओर अधिक चौड़ा होता है। इस वन्ध के किनारे दोनों तरफ मुड़ जाते हैं और आगे की ओर फिर मिल जाते हैं। इनके बीच में जो मुड़ने से परिखा बनती है उसका नाम मज्जानुत परिखा (Medullary groove) है, पुनः वे मुड़ते हैं और मिलकर नाडीतन्त्रात्मक नलिका (Neural cannal) बनाते हैं। (चित्र २०)।

आदिम रेखा की दिशा में तीनों जननस्तर संश्लिष्ट रहते हैं। इसके उपरितन भाग में अन्त जरायु (Amnion) होता है और नीचे की ओर यल्क कोष रहता है। गर्भस्थली का ही भ्रूण के विकास में प्रधान भाग रहता है—बुद्बुद के दूसरे भाग गौण होते हैं उनका सम्बन्ध भ्रूण (Fmbryo) के पोषण अथवा आश्रय (Supporting structure) से होता है।

इस अवस्था में और अपने जीवन के तीन सप्ताह तक भ्रूण एक 'चपटे मण्डल का (सँकोरे जैसे) होता है जो यल्ककोष के पृष्ठभाग पर तैरता रहता है।' इसके वाद भ्रूण का वहाँ पर मुड़ना या द्विगुणी भवन (दुगुना होना) शुरु हो जाता है। गर्भकोष (Amniotic cavity) गर्भोदक के बढने से बढ़ता है और भ्रूण शरीर को आगे पीछे और पार्श्व की ओर घेर लेता है, जिसके दवाव से भ्रूण के दो भाग शिर और पुच्छ के रूप में मुड़ हो जाते हैं। गर्भकोष तथा गर्भोदक के दवाव के अधिक बढ़ने का परिणाम यह होता है कि भ्रूण का आकार एक-नलिका जैसे हो जाता है—जिसका मुह नीचे को खुलता है। जैसे जैसे यह द्विगुणी-भवन प्रक्रिया (Folding off) बढ़ती जाती है वैसे वैसे भ्रूण का पश्चात् पृष्ठ बन्द होता चलता है, और अन्त में पूर्णतया वन्द हो जाता है। और इस प्रकार भ्रूण का पूरा शरीर गर्भकोष के अङ्क में आ जाता है। केवल एक ही स्थान भ्रूण शरीर में होता है जो अनावृत रहता है और वहाँ पर भ्रूणनलिका का अन्तः भाग लगा रहता है जो यल्ककोष के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। इस प्रकार यल्क-कोष का जो भाग इस प्रकार भ्रूण से सम्बद्ध है—भविष्य में अन्नवह स्रोत बनाता है। इस स्थान पर यल्क कोष को नालपुटक (Umbelical vesicle) कहते हैं और जो नालिका भ्रूणान्त्र का संयोजन करती है उसको यल्कवाहिनी (Vitellinduct) कहते हैं।

यह प्रणाली यल्क कोष के ग्रीवा भाग में संकुचित होने से ही वनती है, इसीलिये भ्रूणान्त्र (Embrymic gut) के पीछे वाले भाग पर एक गोस्तनाकार विस्फार (Diverticulum) वन जाता है। इसकी अलिन्द (Allantois)

कहते हैं—यह एक अन्तस्तरीय प्रणाली है जो गर्भवृन्त (Belly-stalk) के मध्य जननस्तर के साथ ही साथ अपना मार्ग बनाती है; परन्तु वहिर्जरायु (Chrion) तक नहीं पहुँच पाती।

सरीसृप और खग योनि में अलिन्थ एक बड़े महत्व का अवयव होता है और पोषकस्तर के अन्दर फैलकर अपरा के निर्माण में भाग लेता है। भ्रूण एवं बाह्य वायु के बीच में श्वास-प्रश्वास के जरिये आदान इसीके द्वारा होता है। मनुष्य योनि में इसका कोई महत्व नहीं, और न इसकी कोई विशेष वृद्धि ही होती है—केवल एक बन्द नलिका के रूप में गर्भवृन्त के साथ पड़ा रहता है। इसका भ्रूणान्तः भाग मूत्राशय हो जाता है और वस्ति के ऊपर मध्य रेखा में फैली हुई वस्ति बन्धनिका (Urachus) इसी का सूखा हुआ भाग है तथा वस्ति और नाभिनाल का प्राक्कालिक सम्बन्ध का बोध कराता है।

भ्रूण का द्विगुणीभावन
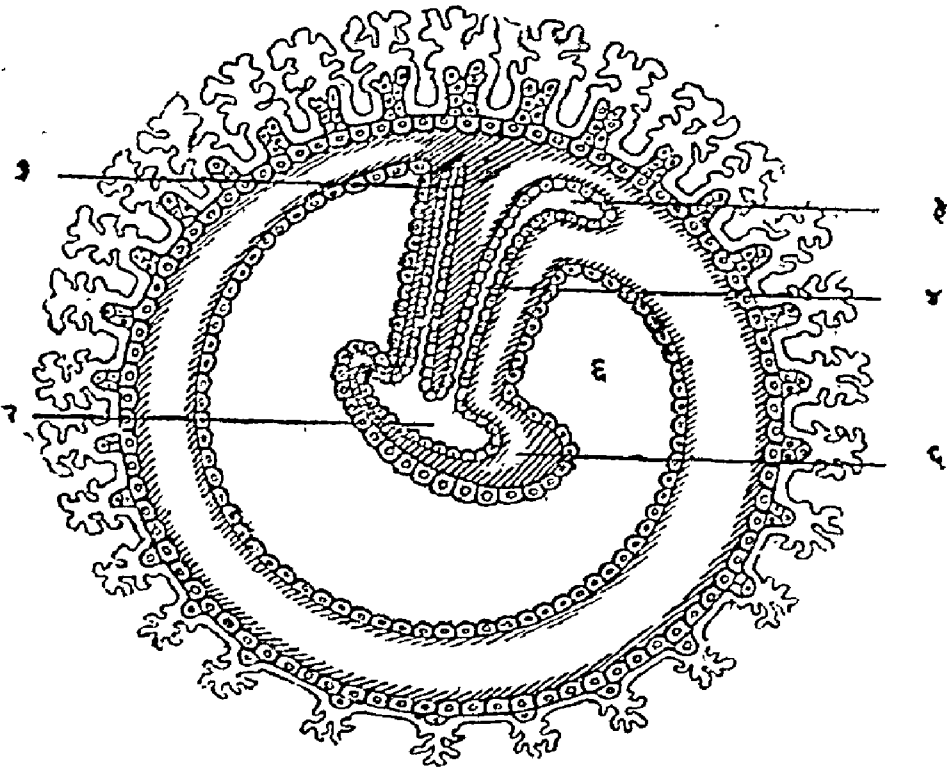
चित्र २१

१. आलिन्थ २. भ्रूणान्तर्गत यल्क कोष ३. नालपुट ४. यल्कवाहिनी ५. भ्रूणान्तरीय महावकाश, ६. गर्भकोष।

इस प्रकार अन्तर्जरायु के बढ़ने की सततप्रगति, भ्रूण को चारो तरफ पीछे, पार्श्व और आगे की ओर से घेर लेती है। इसके दबाव का परिणाम यह होता है, कि यल्कवाहिनी और यल्ककोष, गर्भवृत्त के सम्पर्क में रहते हुए लटकने-से लगते हैं और अन्त में वे इसके साथ नाभिनाल (Umbelical cord) में मिल जाते हैं। इस भाँति हम देखते हैं कि नाभिनाल का निर्माण कई अवयवों के द्वारा होता है (१) मध्यस्तरीय गर्भवृत्त (व्हार्टन की जेली), (२) नाभिरक्तवाहिनियाँ जो बाद में विकसित होती है, (३) अलिन्थ, (४) यल्कवाहिनी तथा यल्ककोष का अवशेष। अन्तर्जरायु की वृद्धि के कारण उपरोक्त सभी रचनायें एक ही में बँध जाती हैं। और उनके ऊपर वहिर्जननस्तर का आवरण चढ जाता है। आरम्भ में दो धमनी और दो शिरायें होती हैं; परन्तु शिरायें आपस में संलग्न होकर एक ही शिरा बन जाती है और जन्म के समय में बालक में वही प्रबन्ध दो धमनी और एक शिरा देखने को मिलता है। भ्रूण में प्रथमतः नाभिनाल उसके पश्चाद्भाग पर लगा रहता है, परन्तु बाद में भ्रूणका पुच्छल भाग (Caudal part) शीघ्रता से विकास करता है और जन्म के समय में नाभि मध्य या मध्य शरीर के समीप आ जाती है। साधारणतया छठवें सप्ताह के अन्त तक नाभिनाल पूर्णतया बन जाता है।

सामान्यतया प्रगल्भ नाभिनाल २० इञ्च (५० से. मी.) लम्बा होता है; परन्तु इसकी लम्बाई कम बेश होती रहती है। यह कई बार ६ फीट (१८० से. मी.) लम्बा कई बार इतना छोटा कि महज ३ इञ्च (७·५ से. मी.) लम्बाई का भी हो सकता है। आम तौर से इसकी मोटाई छोटी उँगली के परिमाण की होती है, परन्तु पूरी लम्बाई समान न होकर उबड़ खाबड़ रहती है। इसकी लम्बाई में कई स्थानों में गांठ या उभार पाये जाते हैं—ये गाँठें या तो नाभि शिरा के स्थान-स्थान पर विस्तृत हो जाने की वजह से या तो लसदार पदार्थ (व्हार्टन की जेली) के बीच-बीच में बाहुल्य होने के कारण पाई जाती हैं। आरम्भिक अवस्था में नाभिनाल कुछ चपटा और सीधा होता है; परन्तु तीसरे मास उसमें ऐंठन सी आ जाती (Spiral twist) है। अवास्तविक गाँठों के अतिरिक्त कई बार नाभिनाल में वास्तविक गाँठें एक या अधिक की संख्या में हो सकती हैं।

प्राचीन मत—गर्भस्थली में गर्भ शरीर की विकास पद्धति, गर्भावक्रान्ति शारीर (Embryology) का विषय है। यह एक स्वतन्त्र तन्त्र या शास्त्र ही है। गर्भावक्रान्ति शारीर बड़ा ही दुरूह और बहुत ज्ञातव्य विषयों से भरा

हुआ शास्त्र आजकल हो गया है। ऊपर के वर्णनों में अधिक प्रपञ्च न करते हुए संक्षेप में इस विषय का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। स्थूल दृष्टि से विचार करने पर इसमें पाँच ही प्रमुख क्रियायें देखने को मिलती हैं—विभजन, पचन, कलन (क्लेदन) संहनन तथा वर्द्धन। इन्हीं पाँचों व्यापारों के द्वारा गर्भ विकसित होता और शरीर का रूप ले लेता है।

आचार्य सुश्रुत ने थोड़े शब्दों में सूत्र रूप में इन्हीं विकास व्यापारों का वर्णन किया है 'उस चेतनाधिष्ठित गर्भ का वायु विभजन करता, तेज पचाता, जल कलन या क्लेदन करता, पृथिवी संहनन करती और आकाश विवर्द्धित करता है। इस प्रकार से बढ़ते हुए गर्भ में जब हाथ, पैर प्रभृति अंग बन जाते हैं, तो उसको शरीर की संज्ञा प्राप्त होती है।'

गर्भ के प्रारम्भिक स्वरूप के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में स्थूल दृष्टि से विवेचना की मिलती है। उदाहरणार्थ—

गर्भोपनिषद् में लिखा है कि ऋतुकाल में संयोग होने पर गर्भ का एक रात्रि-पर्यन्त कललरूप, सात रात्रि पर्यन्त बुद्बुदरूप और पन्द्रह दिनों में पिण्ड का रूप लेता है और एक मास के अन्दर कठिन हो जाता है।

वैद्यक ग्रन्थों में सभी में इसी तथ्य का उल्लेख मिलता है। हारीत संहिता में विशद रूप से वर्णन आता है। लिखा है 'कि प्रथमदिन शुक्रशोणित का संयोग होने पर कलल बनता है, दसवें दिन बुद्बुदाकार हो जाता है, पन्द्रहवें दिन घन हो जाता है और बीसवें दिन मांस पिण्ड का रूप ले लेता है। पच्चीसवें दिन पञ्च-महाभूत और आत्मा का संयोग होता है और एक मास में पिण्ड पञ्चतत्वात्मक पूर्ण रूप से हो जाता है।'

गर्भ के विकास पद्धति के सम्बन्ध में जो सूक्ष्म विवेचना आधुनिक पाश्चात्य लेखकों ने की है उस प्रकार की विवेचना प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलती है।

आधार तथा प्रमाण संचय—

१. तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्द्धयति, एवं विवर्द्धितः स यदा हस्तपादादिभिरंगैरुपेतस्तदा शरीरमिति संज्ञां लभते। (सु० शा० ५)

२. ऋतुकाले सम्प्रयोगादेकरात्रोषितं कललं भवति, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति, अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति, मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति। (गर्भोपनिषत्)

२. प्रथमेऽह्नि रेतश्च संयोगात् कललञ्च यत् ।
जायते बुद्बुदाकारं शोणितञ्च दशाहनि ॥
घनं पञ्चदशाहे स्यात् विंशाहे मांसपिण्डकम् ।
पञ्चविंशेतमे प्राप्ते पञ्चभूतात्मसम्भवः
मासैकेन च पिण्डस्य पञ्चतत्वं प्रजायते ॥ (हारीतसंहिता)

(Midwifery by R. W. Johnstone. & Ten Teachers)
(अभिनव प्रसूतितन्त्र)

पंचम अध्याय

गर्भवपन, गर्भधराकला, जरायु तथा अपरा प्रभृति अवयवों का निर्माण

(Embedding of the ovum, Decidua reaction, amnion & placental development)

वपन गर्भ के पोषकस्तर या वहिर्जननस्तर (Trophoblast का वर्णन पहले हो चुका है । इसके दो ही प्रधान कार्य होते हैं—

१. पाचन—अपने निरावरण कोषाणुमय वहिर्भाग (Syncytium) के द्वारा; सन्निकट के धातुओं का विलयन करता है । स्थानिक धातुओं के नष्ट हो जाने या खा लिये जाने का परिणाम होता है, कि जीव गर्भाशय के अन्तस्तर में छिद्र करके प्रविष्ट हो जाता है । वहाँ पर अपने लिये एक स्थान बना लेता है, इस स्थान को वपन गर्त (Implantation cairty) कहते हैं । कुछ दिनों में गर्त का वह छिद्र जिससे जीव अन्दर की ओर प्रविष्ट हुआ रहता है; रक्त के थक्के या फाब्रिन के प्लग के द्वारा बन्द हो जाता है और जीव का सुरक्षित रूप से अन्तस्तर में वपन (Embedding of the ovum) हो जाता है ।

२ पोषण—पोषक स्तर के अन्दर वाले हिस्से सावरण कोषाणुमय स्तर के (Cytotrophoblast or langhan's layer) द्वारा गर्भ का पोषण होता है । यह भाग जब तक कि अपरा का निर्माण नहीं हुआ रहता गर्भस्थ जीव के भोजन प्रबन्ध करता है ।

अब स्थिति ऐसी है गर्भ का वपन पूर्णतया हो गया है, वह गर्भाशय के अन्तस्तर की श्लेष्मल कला के एक छोटे से गर्त में आकर पड़ गया है—यह ऐसा गर्त है जो रक्त से परिपूर्ण है जिसमें बीज मर्माभूत है और सम्भवतः इसी रक्त से अपना वह पोषण ग्रहण करता है—यह कार्य उसके पोषक स्तर के होने वाले तर्पण (Osmosis) क्रिया के द्वारा होता है।

गर्भधरा कला—गर्भ स्थिति के साथ-साथ गर्भाशय के अन्तस्तर (Endometium) में रचना सम्बन्धी कई परिवर्तन होने लगते हैं और इसके बाद वह गर्भधरा कला (Decidua) कहलाने लगती है। गर्भ का वपन होने तथा पोषणकस्तर के सतत और वर्द्धनशील विनाश तथा आक्रामक क्रिया की वजह से गर्भाशय के अन्तस्तर में तीव्र गति से प्रतिक्रिया होने लगती है—इस प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप कई एक परिवर्तन गर्भाशय की श्लेष्मकला में होने लगते हैं इस प्रक्रिया को गर्भधरा कला की प्रतिक्रिया (Decidual Reactions) कहते हैं। यह प्रकृति की प्रतिक्रिया बीज के बढ़िया क्षेत्र निर्माण करने की दृष्टि से होती है। यह क्षेत्रीकरण पीत पिण्ड (Corpus leuteum) के विशेष प्रकार के अन्तःस्राव क्षेत्र सञ्जनन रस (Progestin) के ऊपर निर्भर करता है। गर्भधरा कला के ये परिवर्तन निम्नलिखित प्रकार से होते हैं—

१. गर्भाशय के श्लेष्मलकला के क्षेत्र वस्तु (Stroma) के संयोज धातु कोषाणु बहुसंख्यक हो जाते हैं। जो पहले छोटे-छोटे रहे; बड़े-बड़े हो जाते हैं। इनके आकार अण्डाकार या बहुकोणीय (Oval or polygonal) हो जाते हैं—इनके चित्केन्द्र (Nuclii), बृहत्, पीताभ एवं अण्डाकार हो जाते हैं। अब इनका नाम गर्भधरा कोषाणु (Decidual cells) हो जाता है और इनका कार्य रक्षकदल का हो जाता है—तथा पोषक स्तर के निरावरण कोषाणु समूह (Syncistium) के भक्षण और विलयन प्रक्रिया के विरोधी रूप में खड़े हो जाते हैं। कला की मार्मिक रचनाओं जैसे रक्त-प्रणालिकाओं को चारों तरफ से घेर लेते और उनको पोषक स्तर की नाशक क्रियाओं से बचाने लगते हैं—जिनका अधिक नष्ट होना माता तथा गर्भ दोनों के लिये समान रूप से हानिप्रद हो सकता है।

२. कला की ग्रन्थियाँ विशेष रूप से बढ़ती हैं—वे विस्फारित और टेढ़ी-मेढ़ी (Tortuous) हो जाती हैं। यद्यपि उत्तान भाग में ये परिवर्तन अधिक

नहीं देखने को मिलते; परन्तु गहराई के भाग ये ग्रन्थियाँ अधिक लम्बी नलिकाकृति, टेढ़ी-मेढ़ी और विस्फारित हो जाती हैं।

३. कला की केशिकायें रक्त-सञ्चार की वृद्धि के कारण रक्त से परिपूर्ण होकर विस्फारित हो जाती है और समग्र कला घनी, मोटी और शोथयुक्त हो जाती है। जहाँ पहले यह $\frac{1}{25}$ इञ्च मोटी रही, अब फूलते-फूलते $\frac{1}{4}$ इञ्च मोटी हो जाती है। इस अभिवृद्धि में ग्रन्थियों के बढ़ने का सब से बड़ा भाग रहता है। ये लम्बाई में इस कदर बढ़ती है—कि इनके अनुकूलन के लिये इनको आगे पीछे द्विगुणित होकर गहराई में रहना पड़ता है। इसका प्रभाव यह होता है कि गर्भधरा कला का गम्भीर भाग विस्फारित ग्रन्थियों से पटा रहता है और उत्तान भाग में इनके ग्रीवा और मुख रहते हैं जो गर्भधरा कोषाणु से भरे रहते हैं। इस प्रकार का गर्भकला का अभिवृद्धि काल गर्भ के चतुर्थ मास तक चलता रहता है।

४. यदि गर्भधरा कला एक अनुलम्बच्छेद लेकर देखा जाय तो उसमें स्पष्टतया दो स्तर दिखलाई पड़ेंगे—उत्तान भाग तथा गम्भीर भाग। गम्भीर भाग में ग्रन्थियों के विस्फारित-उदर होने के कारण अवकाश बहुल (Distended gland spaces) अथवा सुषिर भाग दिखलाई देगा तथा उत्तान भाग में ग्रन्थियों की ग्रीवा, मुख तथा गर्भधरा कोषाणुओं की अधिकता के कारण ठोस रचना वाला निविड़ भाग दिखलाई देगा। इस प्रकार गर्भधरा कला के दो भाग हो जाते हैं ऊपर वाला घना या ठोस रहता है उसे निविड़ स्तर (Compact layer) कहते हैं और दूसरा गहराई वाला अवकाशयुक्त रहता है उसे सुषिर स्तर (Spongy layer) कहते हैं। इसकी रचना 'स्पांज' जैसी होती है।

वर्णन के विचार से गर्भधरा कला को पुनः तीन भागों में बाँटते हैं—यह विभजन गर्भ बीज के साथ सम्बद्ध है:—

तलदेशीया (Decidua basalis)—वपनगर्त की तलस्थ कला है, इसी पर गर्भ अधिश्रित रहता है। कला का यह भाग गर्भ तथा गर्भाशय की पेशियों के बीच में रहता है। यह वपनगर्त के गहराई वाले भाग को घेरे रहता है—यह अपने ही अवरोध के पोषकस्तर के निरावरण कोषाणु समूह (Syncytiotroph blast) को गर्भाशय पेशियों तक नहीं पहुँचने देता। बाद में जाकर इसी स्थल पर विच्छिन्न अपरा लगती है और कई एक शिरा कुल्यायें (Sinuses).

इसीसे होकर गुजरती हैं—जो रक्त को कोरकान्तराल (Intervillous spaces) में ले आती हैं।

कौषिकीया (Decidua capsularis)—यह गर्भधरा कला वह भाग है जो गर्भ तथा गर्भाशय के अवकाश (Uterine cavity) के भीतर पड़ा रहता है इसके द्वारा वपनगर्त का उपरितन आधा भाग आवृत रहता है। कला का यह भाग एक पिधान का काम करती है जिसके द्वारा गर्भ का प्रवेशरन्ध्र और गर्त का गर्भ ढका रहता है। जैसे-जैसे गर्भ बढ़ता चलता है, कला का यह भाग क्रमशः पतला होता जाता और गर्भाशय के अवकाश में उभरता जाता है।

परिसरीया (Decidua vera)—अवशिष्ट कला के भाग को परिसरीया कहते हैं। यह दो भागों में बँटी रहती है—उत्ताननिविड़ भाग और गम्भीर सुषिर भाग।

परिसरीया गर्भधरा कला
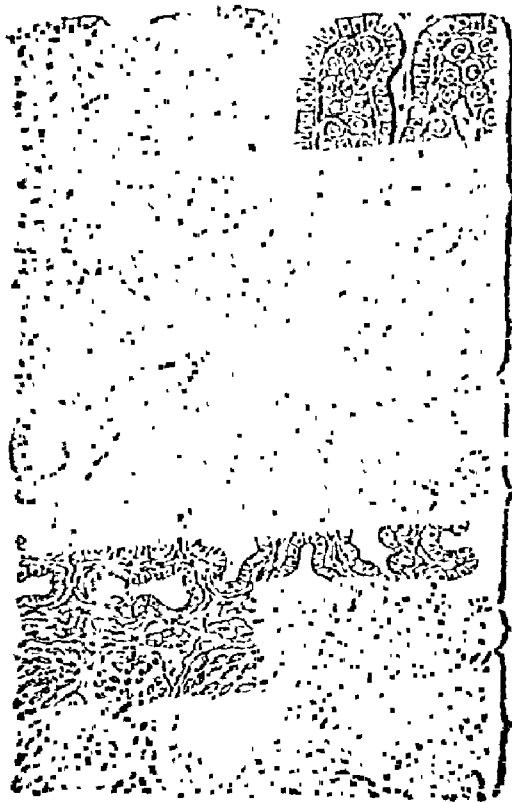
चित्र २२

अपरा, अमरा या आविला का बनना (Development of placenta)—अपरा के विकास में सर्वप्रथम पोषकस्तर से चारो तरफ अङ्कुरों का निकलना शुरू होता है। इन प्रवर्द्धनों को कोरक (Chorionic villi) कहते हैं और बुद्बुद (गर्भ बीज) के पूरे पोषकस्तर से निकलने लगते हैं। इन्हीं के जरिये गर्भाण्ड, वपनगर्त में अपने को गर्त की दीवालों से चिपकाये रहता है। निरावरण कोषाणुमय पोषकस्तर के (Syncytium) अनियमित प्रवर्द्धनों के कारण पहले वपनगर्त भक्षित गले हुए अन्तस्तरों (Necrotic endometrium) के भाग तथा स्रवित मातृरक्त से भरा रहता है। गर्त का

इस प्रकार का पूरित होना पोषकस्तर की पाचक क्रिया के द्वारा ही होता है—जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। जल्दी ही भक्षित अन्यस्तर के भाग विलीन हो जाते हैं जो सम्भवतः गर्भ का अब तक पोषण करते रहे। अब गर्भ पूर्णतया इस रक्तपूरित गर्त की दीवालों से समान लङ्गरोंके द्वारा संयुक्त हो जाता है। सावरण कोषाणुमय पोषकस्तर (Langhan's layer) से कुछ कलिकायें उत्पन्न होती हैं, ये निरावरण पोषकस्तर (Syncytium) से होती हुई बाहर की ओर बढ़ती और ऐसा करते हुए, उसी के आवरण से आच्छादित हो जाती हैं।

वहिर्जरायु कोरक की प्राथमिक वृद्धि

चित्र २२

ये कलिकायें इस प्रकार पोषकस्तर के दोनों स्तरों को समाविष्ट करती हुई, प्रत्येक दिशाओं में फैलती है और गर्त को पार करती हुई गर्भधराकला के पृष्ठ तक फैल जाती है—इनसे पार्श्व में भी कई शाखायें फूटती हैं और इनका आकार वृक्षवत् हो जाता है। तत्पश्चात् पोषकस्तर के अन्तः भाग में पाये जाने वाले मध्य-जनस्तर (Mesoblast) से भी प्रवर्द्धन निकलते हैं जो कि उत्तान कलास्तरिका शाखाओं (Epithelial branches) के साथ साथ उसके आन्तरिक भाग में अवस्थित होते और बढ़ते चले जाते हैं। इन्हें कोरक सार (Cores) कहते हैं। ये मध्य जननस्तर से निकले हुए कोरक सार उत्तान कलास्तरिका की चोटियों तक बढ़ते चले जाते हैं और अब इनकी संज्ञा वहिर्जरायु कोरक (Chorionic villi) हो जाती है। मध्यस्तरीय कोरक सार (Mesoblastic cores) के भीतर गर्भ-

रक्त वाहिनियाँ बनती हैं जो भविष्य के नाभिनाल से मिल जाती है अर्थात गर्भ रक्त संवहन के साथ सीधे संयोजित हो जाती है।

बहिर्जरायु कोरक की प्राथमिक वृद्धि
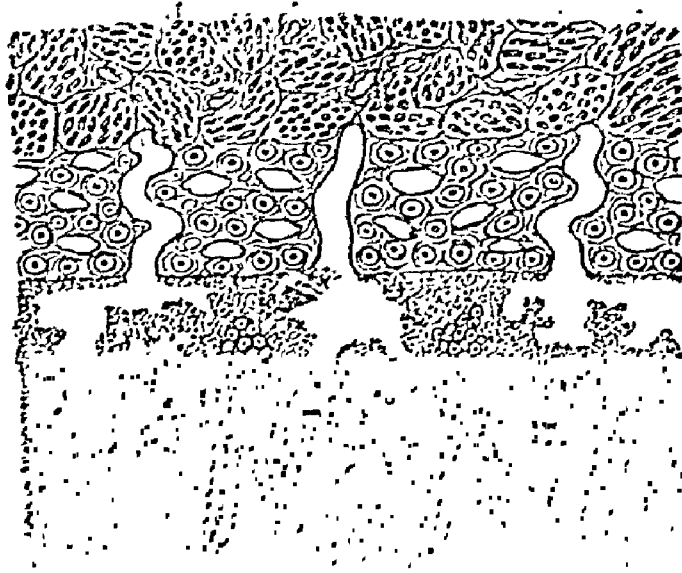
चित्र २४

जैसे ही ये कोरक बढ़ते हैं केशिकाओं का भक्षण करते हैं और बहुत सी केशिकाओं को गर्भधरा कला में खोलते हैं। इस प्रकार कोरकों के बीच के रिक्त स्थान रक्त से भर जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में इन्हीं अवकाशों में भरे रक्त से पोषक स्तर की तर्पण प्रक्रिया द्वारा गर्भ का पोषण होता रहता है। इस प्रकार के बने बहिर्जरायु और गर्भधरा कला बीच के अवकाशों को बहिर्जरायुगर्भधरा अवकाश (Chorio-decidual space) कहते हैं। इस तरह के असंख्य रिक्तस्थल बन जाते हैं—यह स्थल अनेक उपविभागों (अवकाशों) में बंट जाता है। कोरकों के बीच बीच में बने इन अवकाशों को कोरकावकाश (Inter-villous spaces) कहते हैं—इनमें मातृज रक्त बड़ी धीमी गति से बहता है। ये भाग निरावरण केपाणुमय पोषकस्तरिका (Syncytium) से आच्छादित रहते हैं। यद्यपि ये रक्तवाहिनियों के अंतस्तर (Endothelium) नहीं होते तथापि इनमें पाया जाने वाला रक्त जमता नहीं है।

वहिर्जरायु कोरक की प्राथमिक वृद्धि

चित्र २५

पहले तो ये कोरक या अंकुर (एक मास की गर्भाण्ड की आयु तक) पूरी गर्भ कला के समग्र पृष्ठ भाग पर फैले रहते हैं और गर्भाण्ड को लोमश बनाये रहते हैं। परन्तु बाद में जाकर जैसे जैसे गर्भाण्ड बढ़ता जाता है—पिधान कला के पृष्ठ पर पाये जाने वाले कोरक उत्तरोत्तर कम होते जाते हैं और अतन्तोगत्वा पूर्णरूपेण इस पृष्ठ पर से विलीन हो जाते हैं। फलतः वहिर्जरायु के दो भाग हो जाते हैं (१) विकोरक वहिर्जरायु (Smooth chorion or chorion laeve) तथा (२) सकोरक वहिर्जरायु (Chorion frondosum or shaggy chorion)। इनमें पिधानकला के सम्पर्कवाला भाग विकोरक और तलदेशीया (Decidua basalis) के सामने वाला भाग सकोरक हो जाता है। सकोरक जरायु वाले कोरक विवर्द्धित होकर अनेक शाखा प्रशाखाओं में विभाजित होते हुए असंख्य और गहन हो जाते हैं।

इस प्रकार अपरा के अन्तर्गत सकोरक वहिर्जरायु, तलदेशीया गर्भधराकला, और इन दोनों के बीच का अवकाश, जरायुकलान्तराल (Chorio-decidua space) समाविष्ट होते हैं।

अपरा प्रारम्भिक अवस्था में विकीर्ण (Diffuse) रहती है और पूरे गर्भाण्ड शरीर पर फैली रहती है, परन्तु बाद में एक ही ओर को (तलदेशीया गर्भधराकला) सीमित हो जाती है—इसका फल यह होता है कि अब केवल इसी एक क्षेत्र में पूरी शक्ति से वृद्धि करने लगती है। अपरा का स्थानविशेष को सीमित होना हठात् न होकर, धीरे धीरे होता है, और द्वितीय मास के मध्य तक ज्ञात होने लगता तथा तीसरे मास तक पूर्णतया इसी विशिष्ट स्थल को सीमित हो जाती है और सम्पूर्णतया बन भी जाती है। अपरा का क्षेत्र पूरे गर्भाशय की दीवाल का चौथाई घेर लेता है, और अन्त तक यही परिमाण बना रहता है।

अपरा के निर्माण में पाये जाने वाले कोरकों के सामान्यतया कार्य की दृष्टि से दो प्रकार होते हैं—कुछ तो केवल लंगर का काम करते हैं और गर्भ को गर्भाशय के दीवाल से चिपकाये रहते हैं—और कुछ जो संख्या में सबसे अधिक होते हैं उनका कार्य पोषण देना होता है ये साधारणतया गर्भकला के पृष्ठ भाग तक नहीं पहुंचते बल्कि विभजित और शाखा प्रशाखावों में फूटते चले जाते हैं और अपनी रचना को जटिल बना लेते हैं और मन्द गति से बहने वाले कोरकान्तराल में पाये जाने वाले मातृरक्त में मग्न रहते हैं। कोरकों के तने जहाँ से वे वहिर्जरायु से निकलते हैं पूर्ण प्रगल्भ मोटे और दृढ़ होते हैं परन्तु अन्त की प्रशाखायें बड़ी कोमल एवं मृदु होती है। सम्पूर्ण कोरक एड़ी से चोटी तक रक्तवाहिनियों से परिपूर्ण होते हैं और इनके अधिक भाग में कोमल केशिकायें भरी रहती हैं ये केशिकायें वहिर्जरायु के पृष्ठ पर पाये जाने वाली रक्तप्रणालियों से सम्पर्क जोड़ती (Communicate) हैं और इस के बाद नाभिनालगत रक्तवाहिनियों से सम्बद्ध होते हैं।

जितने काल में अपरा पूर्णतया बनती है उतने समय में तलदेशीया कला क्षीण होती चलती है और अन्त में बहुत पतले एवं अपचित (Degenerated) स्तर के रूप में रह जाती है। माता का रक्त अपरा में कला के पतली धमनियों के जरिये आता है, जो गर्भाशय की दीवाल की गोलाकार धमनियों के साथ अविच्छिन्न (Continuous) बना रहता है। फिर वहाँ रक्तशिराओं के द्वारा लौटता है जो गर्भाशय की पेशियों में पाई जाने वाले शिराओं के साथ अपना अविच्छिन्न संबन्ध बनाये रहता है। अपरा की वृद्धि के साथ ही साथ ये रक्तवाहिनियाँ विशेष रूपसे बढ़ती है और अधिक मोटी और लम्बी हो जाती है; फलतः

वहाँ पर बहुत-सी शिराकुल्यायें बन जाती हैं जो कभी कभी अपरा के विलग होते समय अत्यधिक रक्तस्राव कारक हो जाती है।

यदि कोरकों की रचनाओं पर संक्षेप में विचार किया जाय तो उसके भी उत्तान कलास्तरिका (Epithilium) के दो स्तर पाये जाते हैं—बाहर वाला निरावरण कोषाणुमयस्तर का भाग (Syncytium) तथा अन्दर वाला सावरण कोषाणुमय स्तर या लैंगहन के स्तर वाला भाग। इन दोनों के अन्तः भाग में मध्यस्तर का कोरकसार (Mesoblastic core) का भाग होता है, जो कोमल संयोजक धातुओं का ही बना रहता है और जिसमें भ्रूणगत की रक्तवाहिनियाँ सम्बद्ध रहती है।

प्राकृतिक अवस्थाओं में मातृज और गर्भज रक्त का मिश्रण नहीं होता, दोनों ही पृथक् पृथक् रहते हैं। भ्रूणगत रक्त भ्रूण के भीतर की ही वाहिनियों में बना रहता है तथा उसके एवं माता के रक्त के बीच होने वाले सभी प्रकार के संवर्त्त (Meta bolism) तथा श्वास क्रिया से सम्बद्ध आदान-प्रदान निम्न लिखित अवयवों के माध्यम से होता है :—

(१) गर्भकेशिकाओं की दीवालें, (२) कोमल मध्यस्तरीय कोरकसार, (३) 'लैंगहैन्स' का स्तर और (४) निरावरण कोषाणुमय पोषकस्तर (Syncytium)

प्रसवकाल में अपरा गर्भाशय की दीवाल से पृथक् होती है। यह गर्भधरा कला से सुषिरस्तर के स्थान पर ही प्रायः गर्भाशय को छोड़ती है क्योंकि यहाँ पर विस्फारित गर्भाशय ग्रन्थियों के कारण सबसे कमजोर स्तर पाया जाता है।

पूर्णतया विकसित अपरा—अपरा एक गोलाकार चौरस अङ्ग है जिसका भार औसतन ४० से ६० तोले तक और व्यास करीब ९ इञ्च का होता है। केन्द्र भाग में इसकी मोटाई ३/४ इञ्च तक होती है। यह किनारों की तरफ क्रमशः पतला होता है तथा अन्त में विकोरक जरायु में समाविष्ट हो जाता है। नाभि नाल प्रायः भ्रूण-पृष्ठ भाग पर केन्द्र की ओर लगा रहता है, परन्तु सदैव ठीक केन्द्र पर नहीं भी लगता। यह भाग अन्तर्जरायु से आच्छादित रहता है, जो कि नाभि नाल के संयोग स्थान पृथक् किया जा सकता है। इसके नीचे नाभिनाल की रक्तवाहिनियाँ के सहित अन्तर्जरायु का खुरदरा स्तर रहता है। अपरा के बाहरी किनारे पर चारों ओर बड़ी शिरा (चक्रकुल्या Marginal sinus) प्रवाहित होती रहती है।

अपरा के दो पृष्ठ होते हैं—गर्भज तथा मातृज गर्भ पृष्ठ का वर्णन हो चुका है अपरा का मातृ पृष्ठ मांसल एवं काले रंग का होता है तथा असंख्य पिण्डिकाओं (Cotyledons) में विभाजित रहता है। यह विभजन गर्भधरा कला से बहिर्जरायु की बढ़ने वाले पर्दों (Septa) के जरिये होता है—ये पर्दे वस्तुतः बहिर्जरायु तक पूर्णतया नहीं पहुंच पाते पिण्डिकाओं की संख्या १४-२० तक होती है। मातृ-पृष्ठ के अन्तर्गत तलदेशीया गर्भधराकला का पतला स्तर आता है, जिसे गर्भधरा पात्र (Decidnal plate) कहते हैं। यदि अपरा को विच्छेदित कर के पानी के स्रोत के ऊपर रख कर देखा जाय तो इसमें समाविष्ट असंख्य कोरक (Villi) की शाखायें दृष्टि गोचर होंगी और गौर से देखने पर मातृ पृष्ठ के ऊपर असख्य रक्तवाहिनियाँ खुलती मिलेंगी।

अपरा के कर्म—इस विषय में शास्त्रज्ञों का ज्ञान अपूर्ण है—अभी अधिकाधिक शोध की आवश्यकता है, तथापि निम्नलिखित कर्मों का वर्णन प्रधानतया इस प्रसंग में प्राप्त होता है:—

(१) श्वसन कर्म, (२) पोषण कर्म, (३) शर्कराजनन कर्म, (४) मलविसर्जन कर्म, (५) प्रतिरोध कर्म और (६) अंतःस्रावोत्पादन कर्म।

श्वसन कर्म—अपरा गर्भ शरीर या भ्रूण के लिये फुफुसवत् कार्य करती है। भ्रूण शरीर से नाभिधमनियों (Umbelical arteries) के द्वारा छोड़े जाते हुए रक्त में कार्बोनिक अम्ल होता है जिसे वह मातृजरक्त में छोड़ देता है। इस मातृजरक्त से वह प्राणवायु (Oxygen) का ग्रहण करता है तथा नाभिशिरा (Umbelical vein) के द्वारा भ्रूण शरीर तक पहुंचता है।

पोषण कर्म—बहिर्जरायुगत रक्तवाहिनियों में रक्त दर्शनकाल से ही गर्भ शरीर, अपरा के द्वारा अपना भोजन, मातृजरक्त से ग्रहण करता है। मातृज रक्त से गर्भ शरीरगत रक्त में भोजन के हस्तान्तरित होने का वास्तविक उपाय निश्चित रूप से अभी तक नहीं जाना जा सका है तथा विभिन्न पदार्थों के साथ संभवतः बदलता रहता है। इसके सम्बन्ध में दो विचार प्रचलित हैं:—

जड़वाद या यांत्रिक सिद्धान्त (Mechanical)—इसके अनुसार अपरा निष्क्रिय रहती है, वह महज छननी का कार्य (Semipermeable membsane) करती है जिसके जरिये भोज्य पदार्थ तर्पण क्रिया (Osmosis)

निकलकर मातृरक्त से, गर्भरक्त में चले जाते हैं। यह कल्पना जहाँ तक ऐसे द्रव्यों का सम्बन्ध है—लवण, शर्करा, 'नाइट्रोजेनस' पदार्थ घुलनशील पेप्टोन प्रभृति संभवतः ठीक है। दूसरी कल्पना **चैतन्यवाद या चेतन सिद्धान्त** (Vitalistic theory) इसमें अपरा में पाये जाने वाला वहिर्जरायुज उत्तानकलास्तरिका (Chorionic epithilium) को चयनशक्ति से युक्त मानते हैं, जिसके द्वारा यह मातृ-रक्त से आवश्यक पोषण या उपयोगी भाग को चुन लेती है और साथ ही ऐसे पदार्थों को जो गर्भ शरीर के लिये अनुपयोगी अथवा हानिप्रद हों उनका ग्रहण नहीं करती।

स्लेमन का सिद्धान्त—इसके अनुसार मेद के शोपण के सम्बन्ध में उपरोक्त दोनों सिद्धान्तों में से कोई भी पूर्णतया नहीं लगा होता। 'स्लेमन' नामक वैज्ञानिकने अपने अनुसन्धानों के आधार पर ऐसा माना है—मेद अपने रूप में माता से गर्भ शरीर में कभी नहीं पहुंच सकता। इसका निर्माण मातृरक्त से प्राप्त 'कार्बोहाइड्रेट' से भ्रूण शरीर में ही होता है।

शर्कराजनन कर्म—गर्भावस्था के प्रारम्भिक मासों में जब तक कि भ्रूण का यकृत पूर्वरूपेण अपने कार्य में समर्थ नहीं हो जाता अपरा ही, भ्रूणशरीर के लिये 'ग्लायकोजन' जमा करती है। यह 'ग्लायकोजन' संभवतः निरावरण कोषाणुमय पोषकस्तर (Syncytium) के द्वारा 'ग्लुकोज' में बदलता और शोषित कर लिया जाता है। इस प्रकार की शर्कराजनन प्रक्रिया निश्चित रूप से निम्नश्रेणी के जन्तुओं में मिलती है और मानवीय अपरा के लिये भी उपयुक्त प्रतीत होती है।

मल विसर्जन कर्म—भ्रूण-शरीर के संवर्तन क्रिया (Metabolism) के द्वारा उत्पन्न त्याज्यपदार्थों का त्याग अपरा द्वारा होता है। भ्रूणशरीर से वह अपरा तक और अपरा से मातृरक्त में आता है—फिर वहाँ से माता के शरीर से विसर्जित होता है। भ्रूण शरीर में उत्पन्न हुआ यह मल अधिक मात्रा में नहीं होता क्योंकि भ्रूण का संवर्त्त अधिकांश में निर्माणात्मक होता है। यह भी संभव है कि प्रसव के पूर्व के मूत्रत्याग के द्वारा, गर्भोदक में कुछ मिहीय (Urea) विसर्जित होता है।

प्रतिरोध कर्म—अपरा अनावश्यक एवं अनिष्टकारी पदार्थों को माता के रक्त से भ्रूण-शरीर के रक्त में नहीं आने देती है। निस्सन्देह अपरा का यह एक

महत्व का कार्य है। माता के बहुत से रोग ऐसे हैं जिनका भ्रूण तक संवहन नहीं हो पाता। प्रकृतावस्था में माता के रक्तकोपाणु, भ्रूण रक्त में नहीं जा सकते और बृहत् आकार के विषम ज्वर पराश्रयी (Malarial parasites) ही प्रवेश पा सकते हैं। तथापि ऐसे कुछ तृणाणु हैं जिनका प्रवेश सम्भव है तथा प्रमाणित है। जैसे आन्त्रिक ज्वर का तृणाणु (Typhoidbascillus) इसके अतिरिक्त कई प्रकार के घुलनशील रासायिनिक द्रव्य भी तर्पण की प्रक्रिया से भ्रूण शरीर में चले जाते हैं। उदाहरणार्थ—प्रसव के समय में निद्राजनन ओषधियों के माता में प्रयोग होने पर तत्काल पैदा हुए बच्चों में तन्द्रिक अवस्था का पाया जाना।

अन्तःस्राव कर्म—गर्भाधान के प्रथम मास के अन्त से अपरा कई प्रकार के अन्तः उद्रेचनों (Hormones) का एक प्रकार से निर्माणशाला या आगार-सी बन जाती है। इससे कई प्रकार के क्षेत्र संजनन द्रव्य (Gonadotropic Hormones) बनते हैं जो पीयूष ग्रन्थि के पूर्वखण्ड के अन्तःस्रावों से मिलते जुलते होते हैं। पीयूषीय पदार्थों को 'प्रोलान ए' और 'प्रोलान बी' के नाम से पुकारते हैं। गर्भावस्था में रक्त में ये इतनी अधिक मात्रा में उत्सर्जित होने लगते हैं कि गर्भिणी के मूत्र से भी निकलने लगते हैं—जिनकी उपस्थिति का प्रमाण 'अस्चीम जोडेक' गर्भ निर्णायक परीक्षा से सिद्ध होता है।

पीयूषग्रन्थि के अन्तःस्राव का प्रभाव पीतपिण्ड (Luteum) पर पड़ता है। उन स्रावों की उपस्थिति में वह पूर्णतया अपने कार्यों को करती रहती है पुनः जब अपरा पूर्णतया बन जाती है तो क्षेत्रसंजनन वस्तु (Gonadotropic Hormones) मात्रा में कम हो जाता है—और इसके बाद एक मात्र अपरा ही त्रिविध कार्यों का सम्पादन आरम्भ कर देती है। अपरा के बहिर्जरायु उत्तान-कला स्तरिका (Chorionic epithilium) से त्रिविध अन्तःस्राव (Progesterone, oestrogenic Hormone and gonadotropic hormone) स्रवित होने लगते हैं। जब तक अपरा गर्भशरीर सम्बद्ध रहती है, यहाँ तक कि उसका एक अंश भी यदि गर्भाशय में लगा रहता है तब तक मूत्र से क्षेत्रसंजनन स्राव विसर्जित होते रहते हैं और 'अस्चीम जोडेक' की गर्भ निर्णायक परीक्षा अस्त्यात्मक रहती है।

प्राचीन विचार—इस 'प्लैसेण्टा' नामक गर्भावयव का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों

में अपरा के नाम से आता है। इसके कई पर्याय प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं— अपरा, अमरा तथा आविला प्रभृति। इसकी रचना निर्माण तथा कार्यों का उल्लेख निम्नलिखित वाक्यों में मिलता है:—

(१) गर्भवती स्त्रियों के आर्त्तववह स्रोतसों के मार्ग गर्भ के द्वारा वन्द हो जाते हैं। इसलिये (गर्भाधान के वाद) गर्भवती स्त्रियों में आर्तव (स्राव) नहीं दिखाई देता तव नीचे की ओर वन्द हुआ (लौटकर) ऊपर की ओर आया हुआ और उत्तरकाल में परिवर्तित हुआ वही आर्तव अपरा कहलाता है।

(२) अपरा गर्भ की नाभि नाड़ी से प्रतिवद्ध है। इसे लोग अमरा नाम से पुकारते हैं।

(३) नाभि से इसकी नाडी लगी रहती है, नाडी से अपरा माता के हृदय से प्रसक्त रहती है।

(४) रजोवह स्रोतसों के मार्ग गर्भ के कारण अवरुद्ध हो जाते हैं। इसलिये गर्भ स्थिति के वाद आर्तव नहीं दिखलाई पड़ता है। पश्चात् वही रज नीचे की ओर प्रतिहत होकर (एक स्थान पर) संचित होना या बढ़ना प्रारम्भ कर देता है जिसे गर्भ का दूसरा आशय या आश्रय अर्थात् जिसे अपरा कहते हैं। इसी को दूसरे आचार्य आर्तव का परिणाम जरायु भी कहते हैं। रक्त (रजःस्राव) के वन्द हो जाने पर कई परिवर्तन स्त्री में दिखलाई पड़ते हैं। जैसे रोमराजिप्रादुर्भाव, कपोल का मोटा होना, स्तन की वृद्धि तथा चूचूक का काला पड़ना—ये लक्षण जरायु के वनने के वाद के नये रक्त के उर्ध्वगमन करने के कारण व्यक्त होते हैं। यहाँ पर रजोवह स्रोत से उस मार्ग का ग्रहण है जिनसे मलभूत ऋतु प्रतिमास निकलता रहा गर्भ के कारण मुखरुद्ध हो जाने से वह आर्तव दो रूपों में प्रतिफलित होता है। कुछ आचार्यों ने उससे गर्भ के आश्रय और अपरा का निर्माण होते वताया है। दूसरे के विचार से गर्भ के आशय जरायु अथवा गर्भशय्या वनती है।

आधार तथा प्रमाणसंचय—

(१) गृहीतगर्भाणामार्त्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण, तस्माद्-गृहीतगर्भाणामार्त्तवं न दृश्यते, ततस्तदधः प्रतिहतमुर्ध्वमागतमपरश्चापचीयमानपरेत्य भिधीयते। (सु. शा. ४.)

(२) अपरा गर्भस्य नाभिनाडी प्रतिवद्धा 'अमरा' अतिलोकव्याख्याता। (चक्र)

(३) नाभ्यां ह्यस्य नाडी प्रसक्ता नाड्या चापरा अपरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये। (च. शा. ६.)

(४) तस्याश्च रजोवाहिनां स्रोतसां वर्त्मान्युपरुध्यन्ते गर्भेण। तस्मात्ततः परमार्त्तवं न दृश्यते। तस्मादधः प्रतिहतमपरमपरञ्चोपचीयमानमपरेत्याहुः। जरायुरित्यन्ये। स्थिते तु रक्ते रोमराजी प्रादुर्भवन्ति। जरायुशेष चोर्ध्वमसृक् प्रतिपद्यते। तस्मात् पीनकपोलपयोधरा कृष्णौष्ठचूचुकत्वं च। (अ. संग्रह. शा. २).

(Midwifery by gohnstone & Ten Teachers) (प्रसूतितन्त्र).

षष्ठ अध्याय

जरायु (Foetal membrane)

(१) बहिर्जरायु (२) अन्तर्जरायु

जरायु एक विशेष प्रकार की कला है जिससे वेष्टित होकर प्राणी उत्पन्न होते हैं। बाह्य एवं अन्तः भेद से जरायु के दो प्रकार हो जाते हैं। बहिर्जरायु (Chorion) गर्भाण्ड के बाहर का आवरण होता है, जहाँ से कोरक निकलते हैं और जो फिर पोषकस्तर और उसके अन्तरावरण मध्यजननस्तर से बनता है। अर्थात् बहिर्जरायु के निर्माण में पोषकस्तर बाह्य भाग में तथा परिधि मध्यस्तर (Somatop lure) आन्तरिक भाग में होता है। पोषकस्तर बुद्बुद का (Blasto cyst) सबसे बाहर का स्तर है और यह गर्भबाह्य जननस्तर (Extra-embryonic ectoderm) की प्रकृति का ही होता है अर्थात् निवारण तथा सावरण कोषाणुमय स्तरों से (Langhan's layer & syncitium) बना होता है। परिधि मध्यस्तर वह भाग है, जो मध्यस्तर को दो भागों में बाँटता है और पूर्ण प्रगल्भजरायु में संयोजक धातु का रूप ले लेता है।

अन्तर्जरायु भी इसी प्रकार बाह्यस्तर और मध्यस्तर से निर्मित होता है, परन्तु इसमें इनका क्रम बिल्कुल विपरीत होता है। अर्थात् मध्यस्तर (Mesoderm) बाहर की ओर तथा बाह्यस्तर (Ectoderm) भीतर की ओर होता है। पूर्ण प्रगल्भ जरायु में मध्यस्तर श्लेष्मल संयोजक तन्तु का प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है। बाह्यस्तर वास्तविक अन्तर्जननस्तर (Embryonic ectoderm)

होता है और वह सीधे गर्भस्थली (Embryonic area) से सम्बन्ध रहता है। पूर्ण विकसित जरायु में घनाकार उत्तानकलास्तरिका (Cuboidal epithelium) के रूप में पाया जाता है।

बहिर्जरायु { पोषकस्तर { निरावरणकोषाणुमयस्तर, सावरणकोषाणुमयस्तर } सामान्यबहिस्तर; परिधिमध्यस्तर–संयोजकधातु–मध्यस्तर }

अन्तर्जरायु { संयोजनधातु — मध्यस्तर; उत्तानकलास्तरिका — अन्तर्जननस्तर }

गर्भोदक (Liqour Amnii)

गर्भकोष (Amniotic space) में संचित होने वाला यह एक स्वच्छ लसीका द्रव है, जो भ्रूण, त्वचा तथा अन्तर्जरायु से निकलने वाले कुछ ठोस द्रव्यों से संयुक्त होकर आविल (कुछ मटमैले रंग का) हो जाता है। यह कई बार गर्भमल के मिल जाने से हरित वर्ण का भी हो जाता है। सामान्यतया यह जीवाणु विरहित रहता है।

पूर्ण गर्भ में इस तरल का संगठन इस प्रकार का होता है—इसका आपेक्षिक गुरुत्व १०१० के लगभग होता है। प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इसमें कई प्रकार के सेन्द्रिय तथा निरेन्द्रिय लवण (क्लोरायड्स, फास्फेट्स, सल्फेट्स, शुक्री, मिहीय) भ्रूण त्वचा के टूटे हुए केश, बालक की उपत्वचा के भाग, अन्तर्जरायु के उत्तानकला के भाग और उल्व (Vernix caseosa) प्रभृति पदार्थ न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहते हैं।

पूर्ण गर्भ में गर्भोदक का परिमाण १० से ४० औंस (३०० सी. सी–१२०० सी. सी.) तक होता है। गर्भ के प्रारम्भिक मासों में अपेक्षा कृत (भ्रूण के आयाम के विचार से) इसकी मात्रा अधिक रहती है, जिसमें गर्भ स्वच्छन्द भाव से तैरता रहता है।

गर्भोदक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निश्चित हेतु का ज्ञान प्राप्त नहीं है। (१) सम्भव है अन्तर्जरायु की उत्तानकलास्तरिका (Epithilium) स्रावक स्तर का कार्य करती हुई उस स्राव को उत्पन्न करती हो। (२) मातृगत रक्त भी इसके उत्पादन में भाग लेता है क्योंकि मातृरक्त से कई पदार्थ सीधे गर्भकोष

में उत्सर्जित हो जाया करते हैं। कई प्रकार के वर्णवान् द्रव्यों (Pyrrol blue) का सूचीवेध के द्वारा माता के रक्तवह संस्थान में प्रवेश कराने पर, भ्रूण मूत्र में यद्यपि वह वर्ण नहीं दिखलाई पड़ता; परन्तु सीधे गर्भोदक में चला जाता है, गर्भोदक में उस वर्ण की विद्यमानता पाई जाती है। कई अवस्थाओं में जब भ्रूण की मृत्यु हो गई है या मृत गर्भ का शोष होकर सर्वथा अभाव हो गया है, फिर भी गर्भ कोष गर्भोदक से परिपूर्ण पाया गया है। इन प्रमाणों के आधार पर गर्भोदक या तो मातृज रक्तवाहिनियों से स्रवित (Trasudated) लसीका जल ठहरता है अथवा अन्तर्जरायु का सक्रिय रूप से निकलने वाला स्राव (Secretion) मालूम होता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि के अन्य भी प्रमाण हैं—जैसे माता के वृक्कजन्य विकारों के परिणाम स्वरूप होने वाले शोफों में—गर्भोदक की अतिशय वृद्धि होती है। इसमें भी माता की रक्तवाहिनियों से अधिक स्राव का स्रवित होना ही हेतु है। (२) इसके अतिरिक्त गर्भोदक में मिहीय की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई मात्रा देखी जाती है और गर्भ के पूर्ण होने पर वह उच्चतम मर्यादा को पहुँच जाती है। बहुत से वैज्ञानिकों की धारणा है कि मिहीय (Urea) की बढ़ती हुई मात्रा, गर्भ के गर्भाशय के भीतर मूत्रत्याग के कारण पाई जाती हैं। क्योंकि त्यक्त मूत्र अपने विभिन्न लवणों के साथ गर्भोदक में संगृहीत होता चलता है। गर्भोदक में जो लवण मिलते हैं, सामान्यतया वही सङ्गठन भ्रूण मूत्र का भी होता है। इस प्रकार उस सिद्धान्त के अनुसार गर्भोदक का उत्पादन भ्रूण वृक्क की क्रिया से होता है।

गर्भोदक का कर्म—

(१) गर्भ की बाह्याघातों से रक्षा करना।

(२) गर्भाशय के सङ्कोचों से होने वाले पीडन से रक्षा करना।

(३) तापक्रम को स्थिर बनाये रखना।

(४) गर्भ की चेष्टा में सुकरता लाना। अर्थात् गर्भ की अङ्ग की गतियों में सहायता करना।

(५) गर्भ एवं अन्तर्जरायु को परस्पर में चिपकने (संश्लेष) से बचाना।

(६) सङ्कुचित गर्भाशय के पीड़न भार से गर्भ की रक्षा करना।

(७) प्रसव के समय में गर्भाशय ग्रीवा का विस्फारण करना।

(८) प्रसव के पूर्व तथा पश्चात् अपत्य मार्ग का प्रक्षालन कर संक्रमण से रक्षा करना।

प्राच्य विवेचना—अपरा के प्रसङ्ग में आये हुए वचनों का संग्रह पूर्व में हो चुका है। यहाँ पर जरायु, गर्भोदक एवं गर्भ कोष प्रभृति अवयवों के सम्बन्ध में कहा जायगा। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में संक्षेप में उनका उल्लेख मिलता है। वर्णन यद्यपि स्थूल हैं, उस प्रकार की सूक्ष्म विवेचना इनमें नहीं है जैसा कि आधुनिक युग के ग्रन्थों में मिलता है तथापि इनका ज्ञान अत्यन्त व्यावहारिक है:—

(१) जरायु के द्वारा मुख के ढके रहने की वजह से, कण्ठ के कफ से वेष्टित रहने के कारण और वायु के मार्ग में अवरोध होने के कारण गर्भस्थ शिशु नहीं रोता है।

(२) गर्भ को आवेष्टित करने वाला चर्मपुटक जरायु कहलाता है।

(३) डल्हण ने लिखा है कि जरायु उल्वाकार की रचना है जिससे आवेष्टित होकर प्राणियों का जन्म होता है।

(४) इसके पश्चात् आवी की उत्पत्ति और गर्भोदक का स्राव होता है।

आधार तथा प्रमाण सञ्चय—

(१) जरायुणामुखेच्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते
वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति। (सु. शा. २)

(२) गर्भवेष्टनं चर्मपुटकं जरायुः। (उदयन)
गर्भो रुणद्धि स्रोतांसि रसरक्तवहानि वै
रक्ताज्जरायुर्भवति नाडी चैव रसात्मिका। (भोज-सु. शा. टीका अ. ४)

(३) जरायुरुल्वाकारो येन वेष्टिता प्राणिनो जायन्ते। (डल्हण)

(४) ततोऽनन्तरं आवीनां प्रादुर्भावः प्रसेकश्च गर्भोदकस्य।
(अ. हृ. शा. १. च. शा. ८)

(Midwifery by Ten Teachers & Johnstone)

सप्तम अध्याय

गर्भ का पोषण

(Neutrition of the Foetus)

पोषण की दृष्टि से गर्भावस्था को दो कालों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम काल अपरा और नाभिनाल बनने के पूर्व का अर्थात् आरम्भिक तीन महीनों का और दूसरा इनके बनने के पश्चात् का यानी अन्तिम सात महीनों का होता है। फलतः गर्भ का विभिन्न प्रकार से पोषण होता है।

शुक्र शोणित संयोग के बाद एक सप्ताह तक गर्भ, बीजवाहिनी में ही रहता है। वहाँ पर कोषाणु वृद्धि होकर उसके ऊपर पोषक और भक्षक सेलों का एक स्तर (Trohpoblast) बनता है। इस स्तर के सेलों द्वारा गर्भ बीजवाहिनी गत उपस्नेह या उपस्वेद का ग्रहण करता है वहाँ पर इन सेलों का भक्षण कार्य नहीं होता है। गर्भाशय में प्रवेश करने पर ये सेल गर्भाशय की श्लेष्मल कला का कुछ अंश नष्ट कर देते हैं जिसमें से होकर गर्भ भीतर प्रवेश करता है और पश्चात् वह छिद्र बन्द हो जाता है। इस अवस्था में गर्भ के चारों ओर श्लेष्मलकला की केशिकाओं से निकला हुआ रक्त तथा रक्तरस भरा रहता है और गर्भ के ऊपर की ओर पोषक सेलें उसमें से अपने लिये योग्य खाद्य द्रव्य को ग्रहण करती है धीरे धीरे गर्भ के पोषक आवरण के चारों ओर की सेलों से अंकुर या अवयव (Vilii) निकलने लगते हैं। इनके कारण गर्भावरण और गर्भाशय की श्लेष्मलकला के बीच में काफी अवकाश (Chorio Decidual Space) उत्पादन होता है। इसी अवकाश में गर्भाशय की रक्तवाहिनियों से रक्त का संचार होता है। इस तरह गर्भ के चारों ओर इस अवकाश में रक्त की छोटी छोटी असंख्य झीले बन जाती हैं। प्रारम्भ में इन झीलों में केवल केशिकाओं से रक्त आया जाया करता है, परन्तु जब गर्भावरण के अंकुर शाखा प्रशाखों युक्त और लम्बे हो जाते हैं, तब स्थान स्थान की धमनिकाओं और सिराओं को भी खाते हैं। जिससे इन झीलों में धमनियों से रक्त आता है और शिराओं से लौट जाता है। गर्भ के सम्पूर्ण आवरण के अंकुर इन झीलों में जो रक्त आता है उससे गर्भ का पोषण करते हैं। यह अवस्था ६ सप्ताह तक की होती है। इसके बाद वास्तविक अपरा बनने का कार्य

शुरू हो जाता है तब गर्भावरण के समस्त अंकुर सिकुड़ने लगते हैं और अन्त में पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। केवल जिस स्थान पर अपरा बनती है उसी स्थान के अंकुर बढ़ते रहते हैं और छः सप्ताह में अपरा पूर्ण बन जाती है। इसके पश्चात् गर्भ का पोषण केवल अपरा के स्थान के अंकुरों से होता है। सम्पूर्ण शरीर के अंकुरों से नहीं एवं अधिक से अधिक गर्भाधान से तीन महीनों तक गर्भ का पोषण सम्पूर्ण आवरण के अंकुरों से होता है। उस समय तक अपरा और नाभि-नाड़ी पूर्णतया बन जाती है। उसके पश्चात् गर्भ का पोषण केवल अपरा में होने वाले आवरणों के अंकुरों से नाभि नाड़ी के द्वारा होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपरा और नाभि नाड़ी बनने के समय तक गर्भ के सर्व शरीर के चारों ओर माता की रसवह धमनियों से जो रस आता है उससे उसका पोषण होता है। जब अपरा बन जाती है तब केवल अपरानुसारी माता की रसवह धमनियों से उसका पोषण होता है।

गर्भस्थ रक्त संवहन—अपरा से शुद्ध रक्त नाभिशिरा द्वारा नाभि में से होकर यकृत् में प्रवेश करता है उसमें से कुछ रक्त सीधा सेतुसिरा (Ductusvenosus) से अधरा महाशिरा में (Inf. venacava) प्रविष्ट होता है। बाकी रक्त प्रतिहारिणी महाशिरा में प्रवेश करके समस्त यकृत् में सञ्चार करके अधरा महाशिरा में मिलता है। अधरा महाशिरा का रक्त दाक्षिणालिन्द में जाकर Foramen ovale के द्वारा सीधा वामालिन्द में से वामनिलय में आता है और महाधमनी के द्वारा समस्त शरीर में विशेष करके मस्तिष्क और सिर में सञ्चार करता है। उत्तरा महाशिरा के द्वारा आया हुआ रक्त भी दक्षिणालिन्द में आता है, परन्तु वह अधरा महाशिरा के रक्त के साथ मिश्रित न होकर दक्षिणनिलय में जाकर वहां से फुफ्फुसीयाधमनी के द्वारा फुफ्फुस में जाकर वामानिलय में फुफ्फुस सिराओं में आता है। यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि रक्त फुफ्फुस में विशोधन के लिये नहीं आता बल्कि पोषण के लिये जाता है। अधिक रक्त फुफ्फुसीयाधमनी से सेतुधमनी द्वारा महाधमनी में प्रविष्ट होकर समान्य रक्त में परिभ्रमण करता है तथा उत्तरा और अधरा महासिराओं द्वारा हृदय में आता है और शरीरगत रक्त का परिभ्रमण जारी रहता है। परन्तु अधोशाखा में आये हुए रक्त का कुछ हिस्सा आभ्यन्तरीय अधिश्रोणिका धमनियों

की दो शाखाओं द्वारा नाभिधमनियों में आकर अपरा में शुद्ध होने के लिये जाता है और शुद्ध हुआ रक्त नाभिशिरा द्वारा फिर गर्भ में प्रवेश करता है। इस तरह गर्भ का रक्त परिभ्रमण होता है और गर्भ का पोषण होता है।

प्राचीन मत—प्राच्य ग्रन्थकारों ने इस गर्भ पोषण प्रक्रिया की बड़ी प्राञ्जल और विशद् व्याख्या विभिन्न सूत्रों में की है।

(१) जब तक अपरा नहीं बनी रहती, गर्भ का पोषण, बीज द्वारा स्वयं ग्रहण किये गये आहार से होता है। यह आहार उसे गर्भाशय मार्ग स्थित मातृरस और रक्त से मिलाता है। यह पोषण का प्रथम क्रम है। इसके अनन्तर जब अपरा की उत्पत्ति हो जाती है तब पोषण का क्रम अपरा तथा नाभिनाल के द्वारा होने लगता है।

(२) गर्भाधान के बाद जब गर्भ के अंग प्रत्यङ्ग अव्यक्त रहते हैं तथा अपरा एवं नाभिनाडी नहीं बनी रहती, इसका पोषण समूचे शरीर के अवयवों में गमन करने वाली रसवाहनी धमनियों के उपस्वेद (Transudation) से होता है। अपरा तथा नाभिनाडी से युक्त गर्भ का पोषण प्रसव पर्यन्त अपरा को अनुसरण करने वाली रसवाहिनयों के उपस्नेह से होता है। माता की रसवह नाड़ियों के साथ गर्भ की नाभिनाडी प्रतिबद्ध रहती है। वही माता के आहाररस के वीर्य का संवहन करती है और उसी के उपस्नेह से गर्भ की अभिवृद्धि होती है।

(३) गर्भ को प्यास और भूख नहीं होती। उसका जीवन पराधीन होता है अर्थात् माता के आधीन होता है। वह सत् और असत् (सूक्ष्म) अङ्गावयव वाला गर्भ माता पर आश्रित रहता हुआ उपस्नेह (रिस कर आये रस) और उपस्वेद (उष्मा) से जीवित रहता है। जब अङ्गावयव व्यक्त हो जाते हैं—स्थूल रूप में आ जाते हैं, तब कुछ तो लोमकूप के मार्ग से उपस्नेह होता है और कुछ नाभिनाल के मार्ग से। गर्भ की नाभि पर नाड़ी लगी रहती है, नाड़ी के साथ अपरा जुड़ी रहती है और अपरा का सम्बन्ध माता के हृदय के साथ रहता है। गर्भ की माता का हृदय स्पन्दमान (बहती हुई) सिराओं द्वारा उस अपरा को रस या रक्त से भरपूर किये रहता है। वह रस गर्भ को वर्ण एवं बल देने वाला होता है। सब रसों से युक्त आहार रस गर्भिणी स्त्री में तीन भागों में बँट जाता है। एक भाग उसके अपने शरीर की पुष्टि के लिये होता है, दूसरा भाग क्षीरोत्पत्ति के

लिये और तीसरा भाग गर्भ की वृद्धि के लिये होता है। इस प्रकार वह गर्भ इस आहार से परिपालित होकर गर्भाशय में जीवित रहता है।

(गर्भ गर्भाशय की भित्ति में नाभिनाड़ी द्वारा लटका रहता है। यह नाभि नाड़ी कई नलियों से मिल कर बनती हैं जिनमें तीन मुख्य है दो अशुद्ध रक्त-वाहिनियाँ और एक शुद्ध रक्तवाहिनी।)

(४) गर्भ की परिवृद्धि रस के कारण तथा वायु के आध्मान के कारण है। श्लोक है—गर्भ के नाभि के भीतर (उदरगुहा) में अग्नि का स्थान निश्चित रूप से होता है वायु उस स्थान की अग्नि को आध्मापन से प्रदीप्त करती है जिससे शरीर परिवर्द्धित होता है। इस प्रकार अग्नि से संयुक्त हुई वायु (गर्भ के मांसल पिण्ड में प्रध्मापन से) जैसे जैसे ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में स्रोतसों का दारण करती है वैसे वैसे उस गर्भ की वृद्धि होती है।

(५) माता के निःश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ तथा स्वप्न से उत्पन्न हुए, निश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ और स्वप्नों को गर्भ प्राप्त करता है। अर्थात् जब तक बालक माता के गर्भ में रहता है, वह माता के शरीर के अंग के समान होता है और माता के प्रत्येक भले बुरे कर्म का परिणाम जैसे उसके शरीर पर होता है, वैसे ही गर्भ के ऊपर भी होता है। माता जब श्वासोच्छ्वास करती है उसके रक्त की शुद्धि होती है, साथ ही साथ गर्भ के रक्त की भी शुद्धि होती है। माता जब सोती है तो उसके साथ ही साथ गर्भ को आराम मिलता है। माता जब भोजन करती है, तब उसके शरीर के पोषण के साथ गर्भ का भी पोषण होता है। माता जब संक्षुब्ध होती है, तब उसके शरीर पर जो परिणाम होता है, वही परिणाम गर्भ पर भी होता है। संक्षेप में माता के प्रत्येक कर्म के साथ साथ गर्भ भी वही कर्म करता जान पड़ता है। वास्तव में न गर्भ साँस लेता है, न सोता है, न भोजन करता है, न क्रुद्ध होता है और न मलमूत्र का त्याग ही स्वतन्त्र वृत्ति से करता है।

(६) गर्भ की नाभि में लगी नाडी के द्वारा माता के आहार रस से गर्भ का पोषण केदार कुल्या न्याय से होता है। जिस प्रकार सिंचाई करते समय कृषक विभिन्न आलवालों—(क्यारियों) में बोये पौधों की सिंचाई करता है—ठीक उसी तरह नाभिनाडी की एक ही मल नाली से जाते हुए आहार रस के द्वारा विभिन्न धातुओं का पोषण होता है।

आधार तथा प्रमाण संचय—

(१) बीजोपनीतैराहारैः प्रथमं गर्भपोषणम् मार्गगर्भाशयादिस्थैं रसरक्तैश्च मातृजैः सर्वं तदपरोत्पत्तौ तद्द्वारैव भविष्यति (अ० शा०)

(२) अंसजाङ्गप्रत्यंगविभागमनिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति। मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाडी प्रतिबद्धा सास्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। (सु० शा० ३ तथा सं० शा० २)

(३) व्यपगतपिपासाबुभुक्षणः खलु गर्भः परतन्त्रवृत्तिः, मातरमाश्रित्य वर्त्तयति उपस्नेहोपस्वेदाभ्यां गर्भस्तु सदसद्भूताङ्गावयवः। तदनन्तरं हि अस्य लोमकूपायनैरुपस्नेहः कश्चिन्नाभिनाड्ययनैः। नाभ्यां ह्यस्य नाडी प्रसक्ता नाड्यांश्चामरा अमरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये। मातृहृदयं ह्यस्य तामपरामभिसंप्लवते सिराभिः स्यन्दमानाभिः। स तस्य रसो बलवर्णकरः सम्पद्यते। स च सर्वरसवानाहारः स्त्रिया ह्यापन्नगर्भा यास्त्रिवा रसः प्रतिपद्यते स शरीरपुष्टये, स्तन्याय, गर्भवृद्धये च। सतेनाहारेणोपष्टब्धः परतन्त्रवृत्तिमातरमाश्रित्य वर्त्तयत्यन्तर्गतः। (च० शा० ६)

(४) गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति। भवन्ति चात्र—

तस्यान्तरेण नाभेस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं स्मृतम्
तदाधमतिवातस्तु देहस्तेनास्य वर्द्धते
ऊष्मणा सहितश्चापि दारत्यस्य मारुतः
ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च स्रोतांस्यपि यथा तथा। (सु० शा० २)

(५) निश्वासोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नान् गर्भोऽधिगच्छति
मातुः निःश्वसितोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नसम्भवान
मलाल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्वाशयस्य च
वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि
जरायुणा मुखेच्छन्ने कंठे च कफवेष्टिते
वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थ प्ररोदिति। (सु० शा० २)

(६) गर्भस्य नाभौ मातुश्च हृदि नाडी निबद्ध्यते
यया स पुष्टिमाप्नोति केदार इव कुल्यया। (अ० हृ० शा० १)

(अभिनवप्रसूतितन्त्र, सुश्रुत टीका, घाणेकर)

अष्टम अध्याय

गर्भ में लिङ्गोत्पत्ति

(Determination of sex of the Foetus)

आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में गर्भ के लिङ्ग निर्णय के सम्बन्ध में बड़ी विस्तृत तथा विशद विवेचना पाई जाती है। आधुनिक पाश्चात्य ग्रन्थों में भी इस विषय की पर्याप्त चर्चा मिलती है। शुक्र और शोणित के संयोग (Fertilization) के समय उनकी स्थिति के अनुसार लिंगोत्पत्ति होती है। इस सिद्धान्त का समर्थन समान रूप से प्राच्य तथा पाश्चात्य शास्त्र करते हैं। सिद्धान्त का अधिकांश प्राचीन आचार्यों के साथ ही साथ आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञों की भी मान्यता है।

पाश्चात्य जीव विद्या विशेषज्ञों (Boilogists) के लिङ्ग निर्णायक सिद्धान्त का संक्षेप में गर्भावक्रान्ति के प्रसंग में व्याख्यान हो चुका है—यहाँ उसी सिद्धान्त की पुनः एक आलोचनात्मक वर्णन प्रस्तुत किया जारहा है।

शुक्राणु एवं स्त्री बीज में 'क्रोमो जोम्स' की संख्या ४८ बतलाई गई है, विभजन होने के समय उनकी संख्या आधी २४ हो जाती है। अधिक अन्वेषणों के बाद यह सिद्ध हुआ कि इन 'क्रोमोजम्स' में कुछ लिङ्गवाहक (Sexchroms-omes) होते हैं। स्त्री बीज में इनकी संख्या सम या व्यवहार के लिये दो समझ सकते हैं जिससे विभजन के द्वारा पक्व हुए प्रत्येक स्त्रीबीज में स्त्रीत्ववाहक क्रोमोजोम (X, Chromosomes) आजाता है, शुक्राणु में पुंस्त्वजनक क्रोमोजोम एक होता है (Y, chromosme) जिसका विभाग विभजन के समय नहीं होता। परिणाम यह होता है कि विभजन के समय, पक्व हुए शुक्राणुओं में आधे शुक्राणु पुंस्त्व-जनक होते हैं तथा आधे पुंस्त्व विरहित होते हैं। व्यवहार को इस प्रकार कह सकते हैं कि वीर्य में आधे शुक्राणु बलवान् (Dominant) होते हैं, जो स्त्री बीज के साथ मिलने पर उत्पन्न होने वाले गर्भ में पुंस्त्व पैदा कर सकते हैं और आधे निर्बल होते हैं जो स्त्री बीज के साथ मिलने पर गर्भ में पुंस्त्व पैदा नहीं कर पाते अर्थात् स्त्रीबीज बलवान हो जाता है तथा गर्भ स्त्री होता है।

दूसरे पक्षवाले केवल शुक्राणुओं की ही कार्य क्षमता को स्वीकार नहीं करते। इनके कथनानुसार प्रत्येक स्त्री बीज में दो लिङ्गवाहक क्रोमोजोम्स होते हैं तथा दोनों ही स्त्रीत्ववाहक (X) होते हैं। एवं प्रत्येक पुंबीज में एक ही लिङ्गवाहक क्रोमोजोम

होता है जो स्त्रीत्ववाहक (X) अथवा पुंस्त्ववाहक (Y) दोनों में से कोई भी एक हो सकता है। स्त्रीबीज के साथ स्त्रीत्ववाहक 'क्रोमोजोम' युक्त पुंबीज का संसर्ग होने पर ऐसे 'क्रोमोजोम्स' की संख्या दूनी हो जाती है अर्थात् २ × हो जाती है। अब इस प्रकार का दो स्त्रीत्ववाहक (X Chromosonies) युक्त गर्भ-स्त्री लिङ्गी होता है।

इसके विपरीत यदि स्त्री बीज के साथ पुंस्त्व वाहक (Y) 'क्रोमो जोम्स' युक्त पुरुष बीज या शुक्राणु का संयोग होता है तो पुंस्त्वजनक 'क्रोमोजोम्स' वलवान् होकर पुरुष गर्भ की उत्पत्ति करता है।

तीसरे मत वालों का कथन है कि शुक्राणु में 'क्रोमोजम्स' की संख्या ४७ होती है और विभजन के द्वारा जव ये वीर्य में आते हैं; तव आधे २४ 'क्रोमोजेम्स' युक्त और आधे २३ क्रोमोजोम्स युक्त हो जाते हैं। २३ 'क्रोमोजोम्स' युक्त शुक्राणु निर्वल होते हैं, जो स्त्रीवीज के साथ मिलने पर अपना पुरुषत्व नहीं प्रकट कर पाते। २४ 'क्रोमोजोम्स' युक्त शुक्राणु सवल होते हैं, जो स्त्रीवीज के साथ मिलने पर अपना पुंस्त्व प्रकट कर सकते हैं। इस उपपत्ति के अनुसार गर्भ में स्त्रीत्व और पुंस्त्व का उत्पन्न होना शुक्राणु के प्रकार के ऊपर निर्भर होता है।

कुछ अन्य चौथे प्रकार के पाश्चात्य वैज्ञानिकों का मत है कि स्त्री वीजों में स्त्रीत्वजनक और पुंस्त्वजनक दो प्रकार के वीज स्वभाव से ही हुआ करते हैं यदि स्त्रीत्वजनक (Female determinant) वीज से गर्भ पैदा हुआ, तो कन्या पैदा होगी और यदि पुंस्त्वजनक (Male determinant) वीज से गर्भ पैदा हो, तो पुत्र होगा। मनुष्येतर प्राणियों के वीज की परीक्षा करके उन्होंने यह सिद्ध किया है कि दोनों प्रकार के वीजों के रासायिनिक सङ्गठन में भी फर्क होता है। मनुष्यों में इस प्रकार की परीक्षा असम्भव है; किन्तु उसके साथ ही साथ यह मालूम हुआ है कि दक्षिण वीज कोप से पैदा होने वाले वीज पुत्रजनक और वाम वीज कोष से पैदा होने वाले वीज कन्याजनक होते हैं। अर्थात् वाम वीज कोप के वीज प्रवल तथा दक्षिण वीज कोप के वीज अल्पवल होते हैं। यदि दैवयोग से वाम कोप के वीज से शुक्राणु का संयोग हुआ तो कन्या होगी। अन्यथा पुत्र। पुत्र और कन्या की उपपत्ति के इस विचार सरणी को 'ओटोशनर' का सिद्धान्त कहते हैं। इन मतों के अतिरिक्त और कई मतान्तर कन्या और पुत्र की उत्पत्ति के सम्वन्व में पाश्चात्य वैज्ञानिकों में प्रचलित है जैसे—

(१) **शारीरिक स्वास्थ्य एवं आहार**—शुक्राधिक्य अथवा आर्त्तवाल्पता

का प्रभाव लिङ्गोत्पादन पर पड़ता है। शुक्र का आधार पुरुष और आर्त्तवाधार स्त्री होती है अतः इनकी पुष्टता अथवा कृशता का प्रभाव सन्तानोत्पत्ति पर पड़ता है। पुत्रोत्पादन के लिये पुरुष को पौष्टिक आहार–विहार और स्त्री को लघु आहार-विहार का प्रयोग करना चाहिये।

पुत्रोत्पादन में पुरुष का पौष्टिक आहार-विहार सहायता करता है या नहीं। इस सम्वन्ध में पाश्चात्य वैज्ञानिकों का मतैक्य नहीं है। परन्तु गर्भोत्पादन के समय स्त्री की क्षमता पुत्रोत्पादन में सहायता करती है यह उनका भी मत है।

(२) शारीरिक, मानसिक स्वास्थ तथा अपत्योत्पादन की इच्छा इत्यादि में यदि पुरुष स्त्री से प्रवल हो, तो पुत्र होगा। यदि स्त्री की प्रबलता हुई तो कन्या होगी।

(३) **पुरुष का ब्रह्मचर्य**—पुत्रोत्पत्ति के लिये जो समागम होता है, उसमें पुरुष को ब्रह्मचर्य पालन का उपदेश प्राचीन शास्त्रकारों ने किया है। इस ब्रह्मचर्य के प्रभाव से अपत्य पुमान् एवं उत्तम गुणान्वित होता है। इसी बात का समर्थन आधुनिक विचारक भी करते हैं। अतः संयम (Abstinence) से न केवल स्त्री और पुंबीज प्रवल होते हैं, वल्कि आकर्षण अधिक वढ़ जाता है, संयोग में आनन्दातिरेक होता है तथा सवसे वढ़ कर गर्भाधान की यदि इच्छा प्रवल हुई और पुरुष सन्तान की चाह हुई तो पुरुष सन्तान ही पैदा होती है।

(४) **समागम काल**—आयुर्वेद और धर्मशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में इस काल की; इच्छानुरूप सन्तान पैदा करने की दृष्टि, वड़ी विशद विवेचना मिलती है। आर्त्तव स्राव वन्द होने के वाद आठ से वारह दिन तक गर्भ धारण के योग्य काल वतलाया गया है। इनमें सम दिन पुत्र के लिये और विषम दिन कन्या के लिये योग्य माने गये हैं। 'शीगल' नामक वैज्ञानिक ने अपने अनुभवों के आधार पर यह नियम वनाया है कि पहले नौ दिनों में समागम करने से, गर्भाधान हो जाय तो पुत्र का जन्म होता है। दस से चौदह दिन में गर्भ धारणा होने पर पुत्र और कन्या सम संख्या में होते हैं। उसके वाद तेइसवें दिन तक कन्यायें होती हैं और अन्तिम दिनों से गर्भ धारणा नहीं होती और यदि होती भी है, तो पुत्र होता है। यह नियम निरपवाद नहीं है, तथापि इससे यह जरूर मालूम होता है कि आरम्भिक दस वारह दिनों में पुत्र होने की सम्भावना वहुत अधिक होती है।

अब समागम काल का और कन्या–पुत्र की उत्पत्ति का क्या सम्वन्ध है,

इस प्रश्न का यद्यपि ठीक ठीक उत्तर देना कठिन है, तथापि स्त्री बीज के पक्वापक्वता के साथ उसका सम्बन्ध माना जाता है। स्त्रीबीज आर्त्तवदर्शन के बाद, बारहवें दिन पक्व होकर, कोष के बाहर आता है; परन्तु मैथुन के कारण वह इस काल के पहले भी बाहर आ जाता है।

जो उचित काल के पूर्व मैथुन के कारण बाहर आता है, वह अपक्व (Pre-mature) होता है अर्थात् अल्प बल का होता है; जिससे उससे बनने वाला गर्भ पुरुष बनता है। जब योग्य काल में बाहर आये हुए यानी परिपक्व बीज से गर्भ बनता है तब बलाधिक्य के कारण कन्या होती है। जब महीने के आखिर के दिनों में समागम होता है, तब बीज अतिपक्व (Over-mature) होने के कारण दुर्बल होता है तथा उससे सदैव पुत्र उत्पन्न होता है या बीजक नष्ट होने के कारण गर्भ धारण ही नहीं होती। 'शीगल' के उपरोक्त वचनों के आधार पर 'दारुवाहि' का कथक सत्य प्रमाणित होता है।

'स्त्री पुरुष के समागम के समय यदि पुरुष का शुक्र प्रथम उत्सर्जित हो और समागम की उत्तेजना से पश्चात् स्त्री का बीज उत्सर्जित हो, तो वह बीज अर्धपक्व अतएव अल्पवीर्य होने की वजह से; पुत्र उत्पन्न करता है। यदि समागम के समय स्त्रीबीज पहले उत्सर्जित हुआ हो और पश्चात् शुक्र उत्सर्जित हुआ हो, तो बीज परिक्व अर्थात् प्रबल होने के कारण कन्या उत्पन्न करता है।'

(५) अपत्य मार्ग की अवस्था के अनुसार—पहले यह बताया जा चुका है कि शुक्र में सबल और निर्बल दो प्रकार के शुक्राणु होते हैं। इनमें सबल से पुत्र एवं निर्बल से कन्या उत्पन्न होती है। क्योंकि शास्त्रज्ञों की राय में पुंस्त्वकारक शुक्राणु (Y, chromosomed) दूसरे प्रकार के शुक्राणुओं (X, chromosomed) से अधिक चपल, सबल और कठिनाइयों के साथ सफलता से मुकाबला करने वाला होता है। अस्तु यदि अपत्य मार्ग, गर्भाशय द्वार के पास शुक्रोत्सर्ग होने की अपेक्षा, योनि द्वार के पास होने से लम्बा हो जाय; अथवा उसमें क्षारीय प्रतिक्रिया बढ़ जाने के कारण शुक्राणु के लिये सङ्कटपूर्ण हो जाय तो उक्त पुंस्त्वकारक शुक्राणु (Y, chromosomes) ही उक्त गुणों के कारण भीतर पहुँचने में समर्थ होते हैं। गर्भ धारण होने पर पुत्रोत्पत्ति करते हैं।

(६) **आधिदैविक उपपत्ति**—पुत्र या कन्या की उत्पत्ति में मानवी उपायों की इतनी सन्दिग्धता होने के कारण अत्यन्त प्राचीन काल से 'पुत्रीय विधियों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। शुभ नक्षत्रों की उपस्थिति में, सिद्ध मन्त्रों का उच्चारण करते हुए, योग्य तिथियों में समागम करने से पुत्र की प्रवल कामना वाले पिता के पुत्र रत्न की प्राप्ति होती है। इन आधिदैविक एवं आध्यात्मिक उपायों की युक्तिमत्ता अथवा सहेतुकता आधुनिक विज्ञान के आधि-भौतिक सिद्धान्तों के आधार पर सिद्ध नहीं होती। अतएव जड़वादी वैज्ञानिक एवं नास्तिक इन कर्मों पर विश्वास नहीं करते हैं। परन्तु विश्वास या श्रद्धा, मन एक वड़ा धर्म है, जिससे मनोवल वढ़ता है और इच्छाशक्ति दृढ़ होती है फिर इच्छा-शक्ति की प्रवलता होने पर संसार में कुछ भी अप्राप्य नहीं—जो चाहे वह चीज मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

जिनका इन उपायों में विश्वास नहीं है, उन्हें इनसे कुछ भी फायदा नहीं हो सकता; परन्तु जिनकी इन उपपत्तियों में श्रद्धा है—उनके मन को शान्ति तथा सन्तोष मिलता है और अपने इच्छित फलरूप पुरुष सन्तान को प्राप्त करता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पुत्र या कन्या प्राप्ति के लिये कोई भी एक उपाय पर्याप्त नहीं है—अनेक उपायों का संयोग आवश्यक होता है। इस सम्वन्ध में आधुनिक विचारकों से वहुत अधिक विस्तृत वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। उनके सूत्रों का संक्षेप में उल्लेख प्रस्तुत किया जा रहा है:—

प्राचीन तथा अर्वाचीन विचारकों में गर्भ के लिङ्ग विचार के दो पहलू हैं। प्राचीन ऋषियों के विचार आदर्श सन्तान वा इच्छानुरूप सन्तति पैदा करना लक्ष्य रखकर शास्त्रोपदेश देने का है; परन्तु अर्वाचीन वैज्ञानिक केवल लिङ्ग निर्णय के सिद्धान्तों की ही विवेचना करते हैं। किस प्रकार किन किन सिद्धान्तों के अधिकार पर अनुमानतः हम गर्भ के लिङ्ग निर्णय करने में समर्थ होवें उतना ही लक्ष्य रहता है। परन्तु ऋषियों ने इच्छानुरूप सृष्टि को ध्यान में रखते हुए उपदेश किया है। जिसमें वहुत से उपाय आधिभौतिक, अनेक आध्यात्मिक और वहुत से आधिदैविक (दैवपरक) है। उदाहरणार्थः—

शुक्रार्त्तव की वहुलता या अल्पता—

(१) 'शुक्रार्त्तव के संयोग में शुक्रवाहुल्य से पुरुष, आर्त्तव की अधिकता से स्त्री और दोनों की समता से नपुंसक पैदा होता है। सिद्धान्त है कि कारण के

अनुरूप कार्य होता है, अस्तु शुक्र की अधिकता से पुरुष सन्तान, रज के आधिक्य से कन्या तथा दोनों की समता से नपुंसक सन्तान पैदा होती है।'

(२) शुक्र की अधिकता से तथा अधिक सामर्थ्यवान् होने से, पुरुष बीज बलपूर्वक अल्पबल स्त्री-रज को दबाकर संयुक्त होने पर पुरुष गर्भ का कारण होता है। यहाँ पर शंका होती है कि आर्त्तव का परिमाण तो सदैव शुक्र से अधिक होता है। शास्त्रों का वचन है कि 'आर्त्तव परिमाण में चार अंजलि एवं शुक्र एक प्रसृति होता है।' इस सूत्र से आर्त्तव की ही अधिकता प्रमाणित होती है—ऐसी दशा में शुक्र की बहुलता से क्या तात्पर्य ? दूसरी बात यह है कि आर्त्तव भी दो प्रकार का होता है। अन्तः पुष्प और बहिःपुष्प। यहाँ पर शुक्र की अधिकता किस पुष्प से होती है—जिससे पुरुष गर्भ उत्पन्न होता है। डल्हणाचार्य ने इस शंका का समाधान इस प्रकार किया है—एक तो यहाँ पर आर्त्तव शब्द से उस आर्त्तव का ग्रहण किया है जो गर्भाशय में स्थित है, मलरहित है एवं गर्भजनन में समर्थ है। दूसरा अर्थ ग्रहण अपने अपने मान के अनुसार बहुलता या अल्पता का होना। (डल्हण)

संयोग के समय में जितनी मात्रा में शुक्र तथा आर्त्तव गृहीत होता है, उस समय में एक ही दूसरे के अपेक्षा मात्रा का कम या अधिक होना लिङ्गभेद कारकहै ऐसा समझना चाहिये। 'क्रोमोजोम्स' सिद्धान्त का इस प्राचीनमत से साम्य है।

समागमकाल—(युग्मायुग्मादिवस विशेष से)

(१) ऋतुकाल के सम दिनों में गमन करने से पुत्र और विषम दिनों में गमन करने से कन्या उत्पन्न होती है। इसलिये ब्रह्मचर्यादि से युक्त पुरुष पवित्र होकर (पुत्र या कन्या का इच्छानुरूप प्रजनन करने के लिये) ऋतुकाल के सम या विषम दिनों में स्त्री के साथ समागम करे।

(२) युग्म तिथियों की रात्रियाँ समागम के बाद पुत्र पैदा करने वाली और विषम तिथियों का रात्रियाँ कन्या उत्पन्न करने वाली होती हैं। एकादशी प्रभृति तिथियाँ निन्दित हैं। संग्रह में लिखा है कि एकादशी और त्रयोदशी के समागम में नपुंसक पैदा होता है।

(३) यदि स्त्री-पुरुष पुत्र चाहते हैं तो ऋतु स्नान के दिन से लेकर युग्म दिनों में अर्थात् चौथे, छठे, आठवें, दसवें बारहवें सहवास या मैथुन करें। यदि दुहिता की इच्छा हो तो अयुग्म दिनों में मैथुन करे अर्थात् पांचवे, सातवें, नौवें और ग्यारहवें दिन।

(४) युग्म रात्रि में आर्त्तव अल्प हो जाता है, अयुग्म रात्रि में इसकी वृद्धि होती है इसलिये इन तिथियों में क्रमशः पुत्र और कन्या की उत्पत्ति होती है।

विभिन्न आधारों पर—

(१) स्त्री-पुरुष से संयोग होने पर यदि पहले पुरुष अपने बीज का विसृजन करता है तो बलवान् वीर पुत्र पैदा होता है, यदि स्त्रीबीज प्रथम उत्सर्जित होता है तो रूपान्विता कन्या की उत्पत्ति होती है।

(२) कुछ लोग स्त्री-बीज में ही लिङ्गजनकता मानते हैं, उनका कथन है कि दक्षिण बीजग्रन्थि से बीज का क्षरण होने से पुत्र तथा बाम से क्षरण होने के कारण कन्या की उत्पत्ति होती है।

(३) आदि के नौ दिनों में समागम करने से पुत्र, दस से चौदह दिनों तक कन्या और इसके आगे गर्भधारण होने से पुत्र की ही उत्पत्ति होती है।

शार्ङ्गधरोक्त परमेश्वरी इच्छा—इनके विचार से गर्भ में लिङ्गोत्पत्ति दैवयोग (Chance) से होता है। कोई भी स्थिर या सबल प्रमाण नहीं जिनके आधार पर लिङ्ग का निर्णय हो सके। पुत्र या कन्या की उत्पत्ति केवल परमेश्वर की इच्छा पर आश्रित है।

दैवी उपाय या मन्त्र-पाठ—समागम के समय में, शुभ नक्षत्रों की उपस्थिति में मन्त्र-पाठ का प्रसंग प्राचीन आयुर्वेदीय तथा धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में मिलता है। उसमें ब्रह्मा, बृहस्पति, विष्णु, सोम, सूर्य, अश्विनीकुमार, भग, मित्र-वरुण-का नाम स्मरण करते वीर पुत्र पैदा करने के लिए उक्त २ अभिलाषा के साथ गमन करने का उपदेश है।

भावमिश्र का मत—भावमिश्र का मत है कि सभी स्त्रियों की योनि में तीन नाडियाँ होती हैं। उनके नाम समीरणा, गौरी तथा चान्द्रमसी हैं। इनकी विशेषतायें इस प्रकार की हैं। 'चन्द्रमौलि' कहते हैं कि मदनातपत्र अर्थात् योनिद्वार में

प्रधानभूत समीरणा नाडी के मुख में जो वीर्य पड़ता है, वह निष्फल हो जाता है। अर्थात् उससे गर्भस्थिति नहीं होती। स्त्री के भग के मध्य में स्थित चान्द्रमसी नामक नाडीविशेष के मुख में वीर्य के गिरने पर वह सुन्दरी कन्या को ही उत्पन्न करती है और वह स्त्री थोड़ी रतिक्रिया करने से साध्य हो जाती है। एवं जिस स्त्री के भग के मध्य में प्रधानरूप से गौरी नाम की नाडी रहती है, उसके मुख में यदि वीर्य गिरे तो वह स्त्री पुत्र ही उत्पन्न करती है तथा रतिक्रिया में प्रायः कष्टोपभोग्य होती है। अर्थात् जल्दी उसका स्खलन नहीं होता।

आधार तथा प्रमाण संचय—

शुक्रार्त्तव बहुलताल्पता—

तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्त्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति। (सु. शा. ३)

(च. शा. २, गर्भोपनिषद्, अ. सं. शा. २, मनुस्मृति, वा. शा. १, डल्हण की सुश्रुत की संस्कृत टीका)।

समागमकाल—युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाबला
पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं व्रजेत्। (सु. शा. ३)
युग्मेषु दिनेष्वासां भवत्यल्पतरं रजः
संयोगं तत्र या गच्छेत् सा पुमांसं प्रसूयते
अयुग्मेषु दिनेष्वासां भवेद् बहुतरं रजः
संयोगं तत्र या गच्छेत् सा तु कन्यां प्रसूयते। (विदेह)
एकादशी त्रयोदश्योस्तु नपुंसकम् (अ. सं. शा. १)

विभिन्न आधार—स्त्रीपुंसयोः समायोगे (सुसंयोगे) यद्यादौ विसृजेत् पुमान्
शुक्रं ततः पुमान् वीरो जायते बलवान् दृढः।
अथ चेद्वनिता पूर्वं विसृजेद्रक्तपूर्वकम्
ततो रूपान्विता कन्या जायते दृढसंहता।
(दारुवाहि अरुणोद्धृतः)

परमेश्वरी इच्छा—आधिक्ये रजसः कन्या पुत्रं शुक्राधिके भवेत्।
नपुंसकसमत्वेन यथेच्छा पारमेश्वरी। (शार्ङ्गधर)

भावमिश्रोक्तिः—

मनोभावागारमुखेऽवलानां तिस्रो भवन्ति प्रमदाजनानाम्
समीरणा चान्द्रमसी च गौरी विशेषमासामुपवर्णयामि
प्रधानभूता मदनातपत्रे समीरणा नाम विशेषनाडी
तस्यामुखे यत्पतितं तु शुक्रं तन्निस्फलं स्यादिति चन्द्रमौलिः।
या चापरा चान्द्रमसी च नाडी कंदर्पगेहे भवति प्रधाना
सा सुन्दरी योषितमेव सूते साध्याभवेदल्परतोत्सवेषु।
गौरी तु नाडी यदुपस्थगर्भे प्रधानभूता भवति स्वभावात्
पुत्रं प्रसूते वहुधाङ्गना सा कष्टोपभोग्या सुरतोपविष्टा।

(अभिनव प्रसूतितन्त्र, डा. घाणेकर, आइडियलवर्थ)

नवम अध्याय

पुंसवन संस्कार (The Methods of sex reversal)

शुक्र और शोणित के संयोग होने से जो जीव या गर्भ उत्पन्न होता है, उसकी वृद्धि उसी क्षण से शुरू हो जाती है। वैज्ञानिकों की मान्यता है कि छठें सप्ताह तक वह अव्यक्तावस्था (Indifferent stage) में रहता है, अर्थात् उसमें न तो स्त्री के चिह्न व्यक्त हुए रहते हैं न पुरुष के। वह स्त्रीत्व-पुरुषत्व विरहित लक्षणों वाला (Neuter) होता है।

'यह अवस्था (गर्भ स्थिति के द्वितीय मास के मध्य का काल) गर्भ की अव्यक्तावस्था (Indifferent stage) कहलाती है। किन्तु कई वार इस अवस्था में लिङ्गभेद करना सम्भव है तथापि उसको अव्यक्त ही कहना अधिक उत्तम है क्योंकि लिङ्गभेद पूर्णतया व्यक्त नहीं हुआ करता। दोनों लिङ्गों के मूल चिह्न विद्यमान रहते हैं, परन्तु स्पष्ट नहीं होते।'

इस अव्यक्तावस्था के अनन्तर जननेन्द्रिय के स्थान पर दोनों (स्त्री और पुरुष गर्भ में) के लिये साधारण एक अंग (Wolfian body) उत्पन्न होता है। उसके साथ साथ या कुछ दिनों के बाद दोनों लिङ्गों की ग्रन्थियाँ (सूक्ष्मरूप से वृषण और बीजकोष) उत्पन्न होती हैं। फिर कालक्रम से धीरे धीरे शुक्र या

आर्त्तव के प्राबल्य के अनुसार, एक ग्रन्थि का नाश होकर दूसरी ग्रन्थि जोर पकड़ती है और गर्भ को स्त्री या पुरुष बना देती है। लिङ्गभेद स्पष्ट या व्यक्त हो जाता है।

संक्षेप में गर्भ में लिङ्ग के विचार से प्रथम उभय साधारणावस्था उत्पन्न होती है, पश्चात् एक साधारणावस्था आती है तदनन्तर लिङ्गचिह्न व्यक्त होते और स्त्री या पुरुष गर्भ हो जाता है। वैज्ञानिकों में सभी इसी मत के समर्थक नहीं हैं। एक ऐसा भी दल है जो इस सिद्धान्त को मान्यता नहीं देता। उनका कथन है कि आरम्भ से ही गर्भ में स्त्री अथवा पुरुष के चिह्न व्यक्त होते हैं।

एक साधारणावस्था यानी स्त्रीत्व या पुरुषत्व व्यक्ति में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के समूहविशेष से उत्पन्न होती है। वृषणाधिष्ठित अन्तःस्रावी ग्रन्थिसमूह जिसमें काम करता है, वह पुरुष और बीजकोषाधिष्ठित अन्तःस्रावी ग्रन्थिसमूह जिसमें काम करता है वह स्त्री होती है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियों में पूर्व पिच्युटरी, मुख्यतया 'थायमस,' 'थायरायड' अधिवृक्क आदि कई ग्रन्थियों का लिङ्गोत्पत्ति में विशेष सम्बन्ध आता है। इन ग्रन्थियों के अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग से गर्भ में शारीरिक, मानसिक और लैङ्गिक वैपरीत्य आ जाता है। आहार, विहार, मानसिक स्थिति जल-वायु आदि का भी परिणाम इन ग्रन्थियों के ऊपर होता है। इस प्रकार प्रथम उभय साधारणावस्था, बीच में उभयसाधारण लिङ्गग्रन्थि युक्तावस्था और अन्त में अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियों की सहायता से, एक प्रकार की लिङ्गग्रन्थि की वृद्धि और अन्य प्रकार की लिङ्गग्रन्थि का नाश होकर गर्भावस्था में पुरुषत्व या स्त्रीत्व व्यक्त होता है। यदि तीसरी अवस्था में आरम्भ से ही लिङ्ग ग्रन्थियों का कार्य बराबर जारी रहे तो यथार्थ नपुंसक उत्पन्न हो सकता है और यदि एक प्रकार की ग्रन्थि का कुछ नाश होने के बाद दोनों का कार्य जारी रहे तो अयथार्थ नपुंसक उत्पन्न होगा। इस प्रकार का अस्वाभाविक क्रम क्यों उत्पन्न होता है, इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता।

आयुर्वेद के अनुसार बीजों की समबलता, उपतप्तता और माता के आहार विहारादि के दोष इस अवस्था में कारण होते हैं। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गर्भ में यद्यपि आधानके समय से ही शुक्र या आर्त्तव के प्राबल्य के अनुसार पुरुष या स्त्री बनने की प्रवृत्ति होती है, तथापि वह दुर्बल होती है।

आगे जाकर उसकी पुष्टि पुरुषकर या स्त्रीकर ग्रन्थियों द्वारा होकर, गर्भ पुरुष या स्त्री बनता है।

यदि माता-पिता पुत्र की इच्छा करें तो प्रारम्भ से ही गर्भ के ऊपर विशेष लिङ्गकर ग्रन्थियों का उपयोग करने से लिङ्ग परिवर्त्तन हो सकता है। यह कार्य विशेषतया माता के आहार, विहार, विशिष्ट जल, वायु, ओषधिप्रयोग, ग्रन्थियों के सत्व (Harmones) इत्यादि के प्रयोग करके, इसके शरीर के समवर्त्त (Metabolism) में कमी वेसी करने से होता है। इस सम्बन्ध में आधुनिक वैज्ञानिक सतत प्रयत्नशील हैं, तथापि अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है कि अमुक प्रकार के आहार-विहारादि पुत्रोत्पादन के लिये अथवा अमुक प्रकार आहार-विहार एवं औषध कन्योत्पादन के लिये होना चाहिये। सम्भव है भविष्य में इस प्रकार के प्रयोग सिद्ध हो जायँ और गर्भ की अव्यक्तावस्था में ही आहार-विहार और औषधियों के प्रयोग से लिङ्ग परिवर्त्तन (Sex reversal) में सफलता मिलने लगे।

लिङ्ग परिवर्त्तन के सम्बन्ध में कुछ विशेषज्ञों का यह कथन है कि उभय साधारणावस्था (Bisexual phase) के पश्चात् गर्भ में थोड़ी देर के लिये पुरुषावस्था प्राप्त होती है, जब उसमें वृषणग्रन्थि उत्पन्न होती है और यदि पुरुष ही उत्पन्न होने वाला हो तो यही अवस्था आगे बढ़ कर जननेन्द्रियों के पिण्ड बढ़ कर वहाँ शिश्नादिवर्धित होते हैं। यदि स्त्री गर्भ बनने वाला हो तो वृषण के स्थान पर बीजकोष बनता है और जननेन्द्रिय के पिण्ड शोषित होकर योनि, *गर्भाशयादि* अङ्ग वर्धित होते हैं। धर्मशास्त्र तथा आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में गर्भ के लिङ्ग परिवर्त्तन प्रक्रिया का बड़ा ही विस्तृत एवं विशद विवेचन पाया जाता है। इस प्रक्रम को पुंसवन कर्म कहते हैं। आर्य जाति में गर्भ की उत्पत्ति से लेकर मरण पर्यन्त सोलह संस्कारों का वर्णन आता है। इसमें प्राथमिक दो संस्कार गर्भाधान तथा पुंसवन हैं। आज इन कर्मों का उस प्रकार का महत्व नहीं रहा और न आदमियों में उस प्रकार आस्था, श्रद्धा या विश्वास ही रहा। तथापि इच्छानुरूप सन्तानोत्पादन के लिये अथवा तेजवन्त प्रजा की सृष्टि करने की दृष्टि से इनका मूल्य आज भी कम नहीं है। पुंसवन कर्म का प्रसङ्ग आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में ही मिलता अर्वाचीन विज्ञान के शाखा में इस प्रकार का सारगर्भित उल्लेख नहीं मिलता; अस्तु

नीचे विस्तार के साथ वर्णन किया जा रहा है। इस विषय का सम्बन्ध आधुनिक विज्ञान की कई शाखाओं में विभाजित मिलता है—यौनशास्त्र (Sexuolgy eugenics), जीवशास्त्र (Boilogy) तथा भ्रूणशास्त्र (Embryology)—के ग्रन्थों में इस विषय का वर्णन प्राप्त होता है जिनका प्रसङ्गानुसार ऊपर में यत्रतत्र उल्लेख किया है।

पुंसवन कर्म या पुंसवन संस्कार विधि—

१. लब्धगर्भा को इन दिनों में (पुष्य नक्षत्र में) लक्ष्मणा, वटशुङ्गा, सहदेवा और विश्वदेवा प्रभृति ओषधियों में से किसी एक को लेकर दूध में पीस कर दो या तीन बूँद की मात्रा में पुत्र की कामना से गर्भिणी स्त्री के दाहिने नथुने में छोड़ दे। स्त्री को चाहिये कि उसे थूके नहीं।

२. (क) पुष्य नक्षत्र में स्वर्ण, रजत अथवा लौह का पुरुषक (पुतला) बना कर अग्नि में तपा कर रक्त तप्त करके दूध में बुझा कर उस दूध की एक अञ्जलि मात्रा में पीले। (ख) पुष्य नक्षत्र में सफेद डण्ठल वाले अपामार्ग, जीवक, ऋषभक और सैर्यक (सैरेयक) में से किसी एक, या किन्हीं दो, तीन या सभी का संयोग करके जल में पीस कर पीले। (ग) दूध में पीसकर श्वेत बृहती का मूल स्वयं पीसकर नासापुट में डालना चाहिये—यदि पुत्र की इच्छा हो तो दाहिने नासा छिद्र में और कन्या की चाह हो तो गर्भिणी को बायें नासा छिद्र में छोड़ना चाहिये। (घ) दूध के साथ लक्ष्मणा मूल का सेवन पुत्रोत्पादक कराने वाला एवं गर्भ की स्थिति कराने वाला होता है—इसी प्रकार मुख तथा नासाछिद्र से लिये आठ वट के शुङ्गों का भी प्रयोग है इसी प्रकार से जितनी जीवनीय गण की ओषधियाँ हैं उनका बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रयोग किया जा सकता है।

३. उनका वेदोक्त कर्मानुष्ठान से विवर्त्तन किया जा सकता है। यदि गर्भ में (स्त्री-पुरुष) लक्षण व्यक्त होने के पूर्व ही ठीक प्रकार से उनका प्रयोग हुआ हो तो देश एवं काल के उचित कर्मों का प्रयोग निश्चित रूप से इष्टफल का देने वाला होता है। यदि प्रयोग में विपर्यय हो तो फल भी विपरीत होता है। इसलिये आपन्न गर्भा स्त्री को ठीक तरह से विचार करके—उसमें गर्भ के लक्षण व्यक्त (लिङ्ग चिह्न) होने के पूर्व ही उसको पुंसवन देना चाहिये।

गोठ में पैदा हुए वट वृक्ष के पूर्व और उत्तर की शाखाओं में से दो अनुपहित (स्वस्थ एवं अविकृत) शुङ्ग (अंकुरों) को लेकर दो व्रीहिमाष का और दो सफेद सरसों का दही में डालकर पुष्य नक्षत्र में पीले। इसी प्रकार दूसरे योग जैसे जीवक, ऋषभक, अपामार्ग एवं सहचर का एकैकशः या सबों को मिलाकर कल्क बनाकर यथेष्ट दूध में डालकर दूध को संस्कृत करके उसमें कुड्य कीटक का एक अंजलि की मात्रा में मत्स्यक (छोटी मछली) और जल प्रक्षेप करके पुष्य नक्षत्र में पीले अथवा एक अंजलि पानी में प्रक्षेप डालकर ले। तथा सोने, चांदी अथवा लोहे के बने हुए पुरुषाकृतियों (पुतला या मूर्ति) जो बहुत छोटी हो (अणु प्रमाण) तपाकर अग्निवर्ण करके एक अंजलि दूध या दही या पानी में बुझाकर निःशेष (जिसमें कुछ भी शेष न रहे) पी लेना चाहिये।

४. तथा पुष्य नक्षत्र में उखाड़ी गई श्वेत बृहती के मूल का कल्प—कल्क बनाकर उसका स्वरस लेकर नस्य ले। उसी प्रकार उत्पल (नीलकमल) का पत्ता, लक्ष्मणा का मूल और आठ वट शुंग (वटाङ्कुर) का भी स्वरस निकालकर नावन (नस्य) कराया जा सकता है।

५. पुष्य नक्षत्र में शालि (तण्डुल) पीसकर उसको पकावे। पकाते हुए उसकी उष्मा (वाष्प) को सूंघकर उसी पानी से पिष्ट के रस को निकाल—फिर उस रस को देहली (टाक) के ऊपर रख लें और रूई का एक फाया लेकर गर्भिणी अपने हाथ से उस रस को दाहिनी नासिकाछिद्र में छोड़े।

६. गर्भ प्राप्त स्त्री को लक्ष्मणा आदि का नस्य देना गर्भ की स्थापना स्थिरता के लिये होता है और गर्भधारणा के तीन मास के भीतर पुत्र संतान पैदा करने इच्छा से नस्यदान किया जाता है।

७. दूध में पीसकर कल्क बनाकर स्वयं स्त्री अपने हाथ से दाहिने नासा पुट में औषधियों का स्वरस डाले।

पुंसवन कर्मकाल—

प्राक् व्यक्तीभावात्—जब तक कि गर्भ में स्त्रीत्व या पुंस्त्वबोधक चिह्न नहीं मिल रहे हों, उस समय में पुंसवन कर्म के यथाविधि होने से लिंग में परिवर्तन संभव है।

(१) गर्भधारणा हो गई है इतना पता चलते ही गर्भ में लिङ्गभेदक लक्षण प्रगट होने के पूर्व ही पुष्य नक्षत्र में पुंसवन का प्रयोग करे।

(२) गर्भावस्था में पुंसवन का प्रयोग लिङ्गव्यक्त के पहले ही करना चाहिये।

व्यक्ताव्यक्त कालमर्यादा—

(अ) व्यक्त तो दूसरे मास में होता है जैसा कि कहा गया है दूसरे महीने में गर्भ घना बन जाता है अथवा तीसरे महीने में अंग-प्रत्यंग व्यक्त होने लगते हैं, अस्तु गर्भ में व्यक्तभाव आजाता है, अस्तु यही व्यक्त का काल है। द्वितीय मास तक के गर्भ में अङ्ग-प्रत्यङ्ग नहीं बने रहते अस्तु इस मर्यादा तक गर्भ अव्यक्त रहता है।

(ब) गर्भ का एक सप्ताह में कलल हो जाता है प्रथम मास में अव्यक्त रूप ले लेता है। अस्तु, व्यक्त होने के पूर्व ही पुंसवन का प्रयोग करना चाहिये। रूप सप्ताह से आरम्भ करके मास पर्यन्त गर्भ का कललीभवन (या घनीभवन) चलता रहता है। इस कलल की अवस्था में स्त्री या पुं व्यञ्जक चिह्न व्यक्त नहीं रहते। अस्तु पुंसवन का प्रयोग व्यक्तीभाव के पूर्व अर्थात् प्रथम मास में करना चाहिये।

पुंसवन की अवधि—

(१) बारह रात्रि तक, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। कुछ लोग केवल युग्म दिनों में ही मानते हैं। दूसरे लोग प्रतिदिन करने का नियम मानते हैं।

(२) बतलाया गया पुंसवन कर्म दो मास तक किया जा सकता है।

(३) प्राप्तगर्भा स्त्री में लक्ष्मणादि का नस्य स्थापना लिये और पुत्र संतान उत्पन्न करने की इच्छा से, गर्भधारण से तीन मास कम में ही (पूर्व ही) पुंसवन के लिये नस्यदान करना चाहिये।

पुंसवन नामक कर्म गर्भ में गति (चलने) होने के पूर्व ही किया जाता है। ये जितने पुंसवन, सीमन्तोन्नयन प्रभृति संस्कार हैं—इनका उद्देश्य क्षेत्रका संस्कार ही है। अस्तु इनको एक ही बार करना चाहिये—प्रतिगर्भ में नहीं करे—जैसा कि देवल ने कहा है 'एक बार की संस्कार की गई (संस्कृत) स्त्री सभी गर्भों में संस्कृत ही मानी जाती है।' फलतः वह जिन जिन गर्भों का 'प्रसव' करेगी वे सभी संस्कृत होंगे।

पुंसवन का औचित्य—यदि पूर्व जन्मकृत कर्म से ही स्त्री में गर्भ होता है ऐसा सिद्धान्त है तो फिर मनुष्य के प्रयत्न के बावजूद भी इच्छानुसार गर्भ को पुरुष गर्भ कर देना सम्भव नहीं। इसलिये पुंसवन का कर्म निरर्थक ही है। ऐसी शंका को दूर करते हुए अष्टाङ्गहृदय का प्रमाण सम्मुख आता है जिनमें सविध किये पुंसवन संस्कार में ऐसी शक्ति बतलायी गई है:—

'बलवान् पुरुषकार (पुंसवन संस्कार) दैव को भी अतिवर्तित कर जाता है अर्थात् दैव को भी मात कर देता है।'

आधार तथा प्रमाण संचय—

(१) लब्धगर्भाशयाश्चैतेष्वहःसु लक्ष्मणावटशुंगासहदेवाविश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेण अभिषुत्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दद्यादक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायैव न च तान्निष्ठीवेत।

(सु० शा० २)

(२) पुष्ये पुरुषकं हेमं राजतं वाऽथवाऽऽयसम्
कृत्वाग्निवर्णं निर्वाप्य क्षीरे तस्याञ्जलिं पिवेत्।
गौरदण्डमपामार्गं जीवकर्षभ सैर्यकान्
पिबेत्पुष्ये जले पिष्टानेकं द्वित्रिसमस्तशः।
क्षीरेण श्वेतबृहती मूलं नासापुटे स्वयम्
पुत्रार्थं दक्षिणे सिञ्चेद्वामे दुहितृवाञ्छया।
पयसा लक्ष्मणामूलं पुत्रोत्पादस्थितिप्रदम्
नासयाऽऽस्येन वा पीतं वटशुङ्गाष्टकं तथा।
औषधी जीवनीयाश्च बाह्यान्तरुपयोजयेत्॥ (अ. हृ. शा. १)

(३) गोष्ठे जातस्य न्यग्रोधस्य प्रागुत्तराभ्यां शाखाभ्यां शुङ्गेऽनुपहते आदाय द्वाभ्यां धान्यमाषाभ्यां सम्पदुपेताभ्यां गौरसर्षपाभ्यां वा सह दध्नि प्रक्षिप्य पुष्ये पिवेत्। तथैवापराज्जीवकर्षभकापामार्ग सहचरकल्कांश्च युगपदेकैकशो यथेष्टं वाप्युपसंस्कृतपयसा कुड्यकीटकं, मत्स्यकोदं वोदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य पुष्ये पिवेत्। तथा कनकमयान्, राजतानायसांश्च पुरुषकानग्निवर्णानणुप्रमाणान् दध्नि पयस्युदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पिवेदनवशेषतः पुष्येण। (च. शा. ८)

(४) तथा पुष्योद्धृतायाः श्वेतबृहत्यामूलकल्काद्रसं नावयेत्। तद्वच्चोत्पलपत्रं कुमुदपत्रं, लक्ष्मणामूलं वटशुङ्गानि चाष्टौ नावयेत्। (अ. सं. शा. १)

(५) पुष्येणैव च शालिपिष्टस्य पच्यमानस्योष्माणमुपाघ्राय तस्यैव पिष्टस्योदकं संसृष्टस्य रसं देहल्यामुपनिधाय दक्षिणेन नासापुटे स्वयमासिञ्चेत् पिचुना।

पुंसवनकर्मकाल—(१) तयोः कर्मणा वेदोक्तेन विवर्त्तनमुपदिश्यते प्राग्व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन सम्यक् तस्मादापन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात्। (च. शा. ८)

(२) प्राग्व्यक्तीभावादिति यावन्न स्त्रीत्वं, पुंस्त्वं वा गर्भस्य व्यक्तं भवति, तावदेव तद्वक्ष्यमाणं कर्म लिङ्गपरिवृत्तिकरं भवति। (चक्रपाणि)

(३) लब्धगर्भां चैतं विदित्वा प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुष्ये पुंसवनानि प्रयुञ्जीत। (अ. सं.)

(४) गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्ते प्रयोजयेत्। (अ. हृ.)

व्यक्ताव्यक्तकालमर्यादा—

(अ) व्यक्तिस्तु द्वितीये मासि भवति। यदुक्तं द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते इत्यादि। किंवा तृतीये मासि अंगप्रत्यंगाभिव्यक्त्येव्यक्तीभावो ज्ञेयः। द्वितीये तु मासि ग्रन्थ्यादिरूपे गर्भे प्रत्यंगव्यक्तीभावो न व्यक्तः। (च. द.)

(ब) अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कलली भवेत्
गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्ते प्रयोजयेत्। (अ. हृ.)

(स) सप्ताहादनन्तरं यावन्मासस्तावदव्यक्ताकृतिः कलली भवेत्। अत्र कललीभूते यावद् स्त्रीपुरुषाद्युत्पत्तिलक्षणा व्यक्तिर्न भवति। तावद्व्यक्तेः प्राक् प्रथमे मासि पुंसवनादि प्रयोजयेत्। (अ. हृ.)

पुंसवनकर्म-अवधि—

(१) द्वादशरात्रमित्यन्ये। तत्रापि युग्मदिनेष्विति। केचित् प्रत्यहमित्यपरे।
(अ. सं. शा. १)

(२) तेन वक्ष्यमाणं पुंसवनं कर्म मासद्वयं यावत्। (च. पा.)

(३) लब्धगर्भायाश्च लक्ष्मणादिनस्यदानं गर्भस्थापनार्थम्। मासत्रयाल्पान्तरे पुत्रापत्यजननार्थं नस्यदानम्। (डल्हण)

(४) पुंसवनाख्यकर्म गर्भचलनात्पूर्वम्। एते च पुंसवनसीमन्तोन्नयने क्षेत्र-संस्कार कर्मत्वात्। सकृदेव कार्ये न प्रतिगर्भम्। यथाह देवलः—

सकृच्च संसकृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता यं यं गर्भं प्रसूयेत स सर्वः संस्कृतो भवेत्।
(विज्ञानेश्वर याज्ञवल्क्य स्मृति १।१२)

पुंसवन कर्म औचित्य—

तत्र यदि प्राकृतेन कर्मणा स्त्रीगर्भं कर्त्तुमाक्षिप्तस्तदा पुरुषप्रयत्ने सत्यपि पुंगर्भः कर्त्तुं न शक्यते। तस्मात्पुंसवनमनर्थकमेवेत्याशंक्याह—

'बली पुरुषकारो हि दैवमप्यतिवर्त्तते।'

(अ. ह. टीका) (अ. द.)

(Embroyology by Frazer. & Ideal Birth)

दशम अध्याय

गर्भवृद्धिक्रम या मासानुमासिक वृद्धि

(Growth and Development of the Embryo)

इस अध्याय में गर्भ की वृद्धि का प्रसंग आयगा। गर्भ जिस क्रम से बढ़कर अपने प्रगल्भ रूप को प्राप्त करता है, उसी मासानुमासिक वृद्धि का वर्णन किया जायगा। इस वर्धनक्रम का ज्ञान वैज्ञानिकों ने विभिन्न अवस्थाओं में शस्त्रकर्म के द्वारा निकाले गये गर्भ को देखकर अथवा विभिन्न मास की आयु में हुए गर्भ विच्युति का निरीक्षण करके प्राप्त किया है। एक पक्ष से कम की आयु का गर्भ अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। अस्तु इस अवधि के उम्र के गर्भ का वर्णन प्रायः काल्पनिक होता है जो मानवेतर प्राणियों के गर्भ की परीक्षावों के ऊपर आश्रित है।

गर्भ के दैर्घ्य का मापन प्रारम्भिक सप्ताहों में (पाँचवें मास तक) मध्यशीर्ष (Vertex) से अनुत्रिकास्थि (Coccyx) तक मापकर किया जाता है। इसके वाद के दिनों में यह माप मध्यशीर्ष से पार्ष्णि (Heals) का लेता है।

कई वार व्यवहार आयुर्वेद की दृष्टि से अथवा विशुद्ध चिकित्सा के विचारसे भ्रूण या गर्भ की आयु निश्चित करनी पड़ती है। इस निश्चिति के लिये उसकी लम्बाई, आकार, भार आदि का ज्ञान महत्व का होता है। नीचे दिये गये वर्णनों में गर्भ की आयु निश्चय के साथ दे सकते हैं।

सप्ताहों में	माप-लम्बाई	मध्यशीर्ष-से अनुत्रिकास्थितक	
१२	७ से. मी = २ ४/५ इंच	,,	
१६	१२·५ से. मी = ५ ,,	,,	
२०	२५ से. मी = १० ,,	मध्यशीर्ष	पार्ष्णितक
२४	३० से. मी = १२ ,,	,,	,,
२८	३५ से. मी = १४ ,,	,,	,,
३२	४० से. मी = १६ ,,	,,	,,
३६	४५ से. मी = १८ ,,	,,	,,
४०	५० से. मी = २० ,,	,,	,,

पाँचवें मास या बीसवें सप्ताह के बाद गर्भ की लम्बाई प्रतिमास (हर चार सप्ताह पर) पाँच सेण्टीमीटर या २ इंच बढ़ती है, और इसकी लम्बाई इचों में, गर्भकाल के सप्ताहों की आधी होती है। एक दूसरा सूत्र सेण्टीमीटर्स में लम्बाई के माप का है। गर्भ के प्रथम पांच मासों में मासों के वर्ग सेण्टीमीटर्स में लम्बाई होगी और अन्तिम पाँच महीनों में मास की अवधि को पाँच से गुणित करके सेण्टीमीटर्स में लम्बाई प्राप्त होगी। जैसे प्रथम पाँच मास (२० सप्ताह के गर्भ) की लम्बाई ५ × ५ से. मी. तथा शेष के पाँच मासों में छठवें मास के गर्भ की ६ × ५ = ३० से. मी. औसतन लम्बाई हुई। वृद्धि होते हुए गर्भ के दूसरे आत्म-लिङ्गों को भी देखना चाहिये, इसके द्वारा विकास की अवस्थायें जानी जा सकती हैं।

(१) **प्रथम मास**—(चार सप्ताहों) में गर्भ कपोत के अण्डे का आयामका होता है और बड़े आकार के गर्भकोष में तैरता रहता है। गर्भ अपने अक्ष पर मुड़ा हुआ, शिर एवं पुच्छ मिले से रहते हैं। इसकी लम्बाई १/५ इञ्च (२ मि. मी.) और भार १० रत्ती का होता है। मस्तिष्क और सुषुम्ना सटे हुए, कर्ण और नेत्र के बुद्बुद से दिखलाई पड़ते हैं। शाखाओं के अंकुर निकलते दिखलाई देते हैं। हृदय व्यक्त रहता है और उसमें चार कोष्ठों का विभजन शुरु हो गया रहता है। इस प्रकार के सदसद् अवयवों के देखने से मानव गर्भ ज्ञात होता है।

वैद्यक ग्रन्थों में लिखा है कि गर्भ प्रथम मास में कलल का रूप लेता है

और अव्यक्त (अस्फुट) उसका शरीर होता है। कुछ अङ्ग व्यक्त और कुछ अव्यक्त होते हैं।

(२) **द्वितीय मास** (आठ सप्ताह)—में गर्भ मुर्गे के अण्डे के बराबर एक इञ्च लम्बा और भार में तीस रत्ती का होता है। उसके सिर की बनावट मनुष्य सदृश होती है। पुच्छ विलीन हो जाती है। हाथ, पैर, स्पष्ट होने लगते हैं। आँख, कान और नाक, पहचान में आने लगते हैं बहिर्जननेन्द्रियाँ दिखलाई पड़ने लगती हैं; परन्तु लिङ्ग का भेद नहीं कर सकते।

वैद्यक ग्रन्थों में भी एतादृश वर्णन पाया जाता है। लिखा है कि दूसरे महीने में शीत और उष्णता से पच्यमान महाभूतों संघात गर्भ में घनरूप धारण करता है। यदि वह पिण्ड हो तो पुरुष, पेशी हो तो स्त्री और अर्बुद हो तो नपुंसक होता है।

(३) **तृतीय मास** (बारह सप्ताह)—में गर्भाण्ड नारङ्गी के आकार का हो जाता है। लम्बाई साढ़े तीन ३½ इञ्च की और भार में लगभग २। तोले का होता है। आन्त्र पूर्णतया उदर गुहा के भीतर पहुँच जाती है और नाभिनाल में चक्करदार मोड़ हो जाता है। गर्भाशय की उपस्थिति या अनुपस्थिति के द्वारा लिङ्ग का निर्णय किया जा सकता है। अनेक अस्थियों में अस्थिनिर्माण केन्द्र (Ossification centres) बनने लगते हैं।

वैद्यक ग्रन्थों में गर्भ के इस मास की बड़ी विशद विवेचना पाई जाती है। प्राचीनों ने लिखा है कि गर्भ में तीसरे महीने में सभी इन्द्रिय, अङ्ग, और अवयव एक साथ ही उत्पन्न हो जाते हैं। इन अवयवों के आधार पर स्त्री और पुरुष लिङ्ग का भेद भी गर्भ में किया जा सकता है। वाग्भट ने लिखा है कि तीसरे मास में गात्र पञ्चक बन जाते हैं। इनमें मूर्धा, दोनों पैर, दोनों बाहु, स्पष्ट हो जाते हैं और सभी अङ्गों का सूक्ष्मरूप में जन्म हो जाता है। सिर के बनने के साथ-साथ सुख-दुःख का ज्ञान भी गर्भ को होने लगता है।

(४) **चौथे महीने** (सोलह सप्ताह) में गर्भ ६ इञ्च लम्बा (१५ सेंटी मेटर) भार में ४ औंस का होता है। लिङ्ग पूर्णतया व्यक्त हो जाता है और गर्भ-लोम (Lanuge) पूरी त्वचा पर निकल जाते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों में भी एतादृश वर्णन ही मिलता है। उदाहरणार्थ चौथे महीने में गर्भ के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग के विभाग स्पष्ट हो जाते हैं। गर्भहृदय पूर्णतः व्यक्त

हो जाता है। फलतः चेतना धातु भी कार्यशील हो जाता है। इसलिए चौथे मास में गर्भ अपने इन्द्रियों से विषय ग्रहण करने की इच्छा करने लगता है। फलतः गर्भ के अनुरूप माता को खाने, पीने, देखने, सुनने प्रभृति आहार-विहारों की इच्छा जागृत होता है। अब गर्भिणी स्त्री दो हृदयों वाली हो जाती है—इस प्रकार की दो हृदयों वाली स्त्री को शास्त्र में दौहृदिनी कहा है। इस मास में होने वाली माता की इच्छा को 'दौहृद' कहते हैं। शास्त्र में दौहृद का बहुत बड़ा महत्व है। माता की होने वाली इच्छा को गर्भ की वाञ्छा मानते हैं। इसकी पूर्त्ति नहीं होने से गर्भ को हानि पहुँचाती है—गर्भ में उसके अङ्ग या अवयव विकृत हो जाते हैं। अतएव दौहृद को अवश्य पूरा करना चाहिये।

हारीतसंहिता ने भी लोमों का निकलना इस मास में बतलाया है।

(५) **पाँचवें मास** (बीस सप्ताह)—में गर्भ सात से आठ इञ्च लम्बा और भार में लगभग आधे सेर का होता है। शेष अङ्गों की अपेक्षा सिर बहुत बड़ा होता है। त्वचा के ऊपर, उल्व नामक (*Vernix caseosa*) एक छाछ जैसे चिकनी मैल का स्तर चढ़ा दिखाई पड़ता है। नाभिनाड़ी लगभग एक फुट लम्बी हो जाती है।

प्राचीन ग्रन्थों में चरक ने लिखा है कि इसमें गर्भ की मांसपेशियों की वृद्धि, अन्य मासों की अपेक्षा अधिक होती है। अतएव गर्भिणी बहुत कृश हो जाती है। सुश्रुत ने मन की अभिव्यक्ति इस मास में होने को बतलाई है।

(६) **छठवें मास में** (चौबीस सप्ताह के बाद)—गर्भ नौ इञ्च (२२ से.मी.) लम्बा हो जाता है और उसका भार एक सेर का होता है। त्वचा के नीचे मेद का सञ्चय हो जाता है और सिर पर केश उग आते हैं।

आयुर्वेद ग्रन्थों में लिखा है इस मास में गर्भ के बल और वर्ण की वृद्धि होती है, फलतः गर्भिणी का बल और वर्ण घट जाता है। छठवें मास में बुद्धि भी व्यक्त हो जाती है। संग्रहकार ने लिखा है कि इस मास में केश, रोम, नख, अस्थि, स्नायु आदि पूर्णतया प्रकट हो जाते हैं।

(७) **सातवें मास में** (अट्ठाईस सप्ताह के बाद)—गर्भ की लम्बाई लगभग ११ इञ्च (२६·५ से. मी) और भार पौने दो सेर (२$\frac{३}{४}$ पौण्ड) का हो जाता है। नेत्रवर्त्म खुल जाते हैं—कनीनकच्छद नामक कला (Pupillary

membrane) धीरे-धीरे विलीन हो जाती है। सम्पूर्ण शरीर मृदु एवं तनुलोमों से आच्छादित हो जाता है। आन्त्र में काला हरे रङ्ग का गर्भ-मल (Meconium) पाया जाता है। त्वचा के नीचे अधिक मेद का सञ्चय होने से गर्भ के त्वचा की झुर्रियाँ (वलियाँ) दूर हो जाती हैं।

इस स्थिति में शिशु का जीवन योग्य (Viable) मानते हैं। परन्तु इस मास के प्रसूत शिशु बहुत कम जीवित रहते हैं। इनका शरीर बड़ा दुर्बल होता है, और लालन, पालन की पूरी व्यवस्था होने से जीवनधारण में समर्थ भी हो सकते हैं, परन्तु या तो मर जाते हैं या अल्प आयु वाले होते हैं।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है—कि सप्तम मास में गर्भ सभी प्रकार से सर्वाङ्ग पूर्ण होता है—उसमें जीवन के योग्य सभी अङ्ग और लक्षण मिलते हैं उसकी इन्द्रियाँ भी अर्थग्रहण में समर्थ होती हैं; परन्तु अकाल प्रसव होने के कारण वह दीर्घजीवी नहीं होता। अर्थात् अल्पायु में मर जाता है।

(८) **आठवें मास** (३२ सप्ताह के बाद)—में गर्भ बारह इञ्च (३२·२ से. मी.) लम्बा और भार में सवा दो सेर (४½ पौण्ड) का होता है। सिर के केश जो पहले विरल थे, अधिक घने हो जाते हैं। गर्भलोम क्षीण होने लगते हैं। नख अङ्गुल के किनारे तक नहीं पहुँचे रहते। इस मास का भी पैदा हुआ शिशु बहुत ध्यानपूर्वक पाले जाने पर ही जीवित रहता है।

प्राचीन ग्रन्थकारों ने इस मास की अपूर्व विशेषता बतलाई है। उनका कथन है कि गर्भ के इस मास में 'ओज' अस्थिर रहता है, कभी वह माता के हृदय में जाता, पुनः कभी वह गर्भ में आता है। फलतः माता कभी प्रसन्न दिखलाई पड़ती है और कभी म्लान होती है। इस ओज के अनवस्थित रहने की वजह से गर्भ का जन्म विपत्तियुक्त होती है। क्योंकि प्रसव में शिशु के बाहर निकलते समय यदि ओज का वियोग हो जाय तो वह मर जाता है। अतएव इस मास में प्रसव रोकने के लिये गर्भिणी को स्नान, पवित्रता ब्रह्मचर्य युक्त और देवता परक होना चहिये तथा मांस, मत्स्य ओदन आदि की बलि देवता को देना चाहिये।

(९) **नवम मास** (३६ सप्ताहों के बाद)—में गर्भ की लम्बाई १४॥ इञ्च (३६ से. मी.) और भार तीन से साढ़े तीन सेर (६–७ पौण्ड) का होता है। त्वचा के नीचे के मेद की अधिकता होने से, चेहरे की झुर्रियाँ भी खतम हो जाती

हैं और शरीर शैथिल्यहीन एवं चौपहल हो जाता है। इस मास के पैदा हुए शिशु, काल प्रसव होने के कारण प्रायः जीवित रहते हैं।

(१०) **दसवें महीने** (४० सप्ताहों के बाद)—में गर्भ की बीस इञ्च (५० से. मी.) और भार साढ़े तीन सेर का होता है। नख अङ्गुल्यन्त तक पहुँच जाते हैं। त्वचा चिकनी और गुलाबी रङ्ग की हो जाती है। गर्भलोम कम हो जाते हैं; परन्तु उल्व की मात्रा त्वचा पर अधिक हो जाती है। सिर के व्यास प्राकृत रहते हैं। पुरुष गर्भ में वृषण, वृषणकोषों में पहुँच जाते हैं। यही आन्त्र गर्भमल से भरी रहती है। नाभि शरीर के केन्द्र में अवस्थित हो जाती है।

पूर्ण प्रसव के शिशुओं के भार में विविधता मिलती है। शिशु के तथा माता के अच्छे और बुरे स्वास्थ्य के अनुसार ढाई सेर से लेकर पाँच सेर तक वजन के बच्चे प्रसव के समय मिल सकते हैं। वैज्ञानिकों की राय है कि गर्भिणी की आयु यदि पच्चीस से पैंतीस के मध्य की हो तो अधिक भार वाले स्वस्थ्य शिशुओं का प्रसव होता है।

पांच सप्ताह का भ्रूण
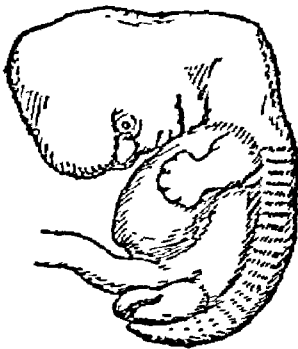
चित्र २६

आठ सप्ताह का भ्रूण
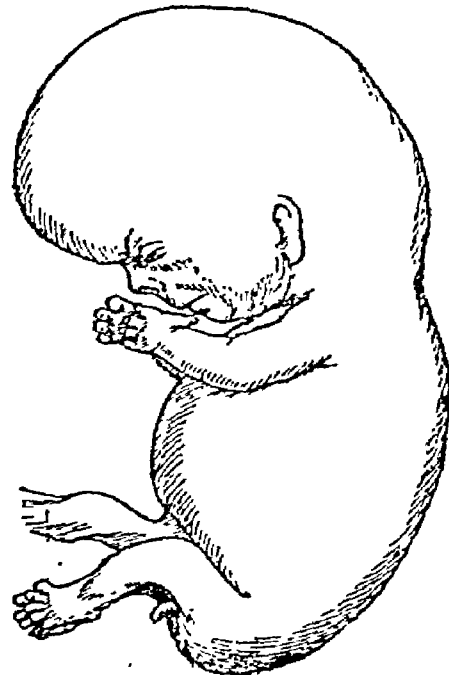
चित्र २७

गर्भाशय स्थित प्रगल्भ गर्भ
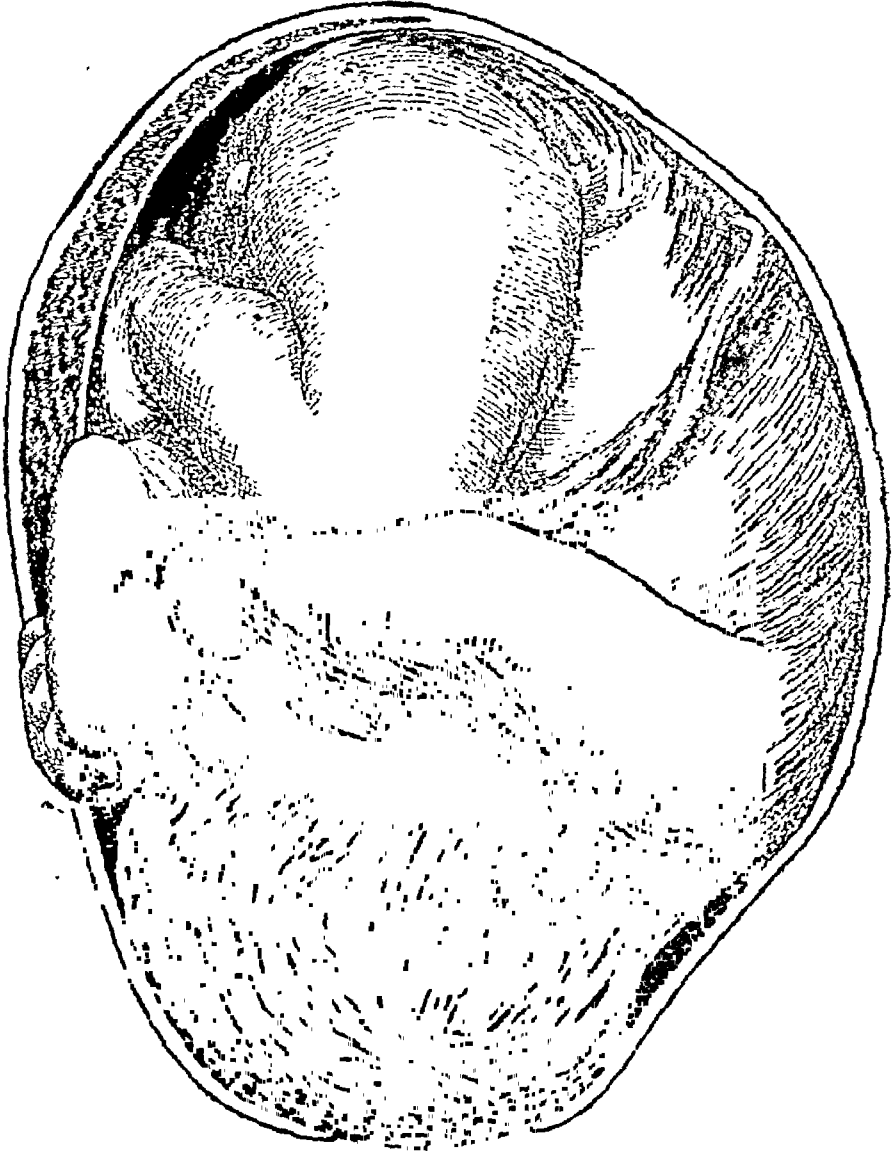
चित्र २८

गर्भ का कौन-सा अंग पहले कुक्षि में बनता है? इस प्रकार की एक शंका प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में पाई जाती है। इस सम्बन्ध में उस काल के शास्त्रज्ञों के मतों का संग्रह मिलता है। अपने अपने पक्ष मण्डन करते हुए तत्कालीन अनेक

आचार्यों ने सम्मतियाँ दी हैं। किसी ने शिर को पहले बनते बताया है तो किसी ने हाथ पैरों को, तो किसी ने उदर को, तो किसी ने नाभि को। परन्तु सभी के विचारों का खण्डन करते हुए धन्वन्तरि ने अपना प्रामाणिक वचन दिया है कि गर्भ में 'सभी अंगों की अभिनिर्वृत्ति' एक ही साथ होती हैं। यही मत सर्वसम्मत घोषित किया गया है। लिखा है धन्वन्तरि ने कहा है कि सभी अङ्ग प्रत्यङ्ग एक ही साथ गर्भ में बनते हैं—यद्यपि सूक्ष्म होने के कारण बाँस के अङ्कुर या आम के फल की भाँति वे पृथक् पृथक् नहीं दिखलाई पड़ते। आम के फल के पक जाने पर उसका केसर, मांस, गुठली, मज्जा पृथक् पृथक् दिखलाई पड़ते हैं और उसी की कच्ची अवस्था में उनके आपस में मिले रहने से और सूक्ष्म होने से अलग अलग नहीं दिखलाई पड़ते। इसी तरह वंशाङ्कुर का भी उदारण है। इसी प्रकार गर्भ की तरुणावस्था में सभी अंगों प्रत्यंगों के साथ रहते भी सूक्ष्मता के कारण उसका ज्ञान नहीं होता, फिर वही समय पाकर व्यक्त हो जाता है और अंग-प्रत्यंग पृथक् पृथक् दिखलाई पड़ने लगते हैं।'

आधार तथा प्रमाण संचय—

प्रथमेऽहनि रेतश्च संयोगात् कललञ्च यत्। जायते बुद्बुदाकारं शोणितञ्च दशाहनि॥
घनं पञ्चदशाहे स्याद् विंशाहे मांसपिण्डकम्। पञ्चविंशत्तमे प्राप्ते पञ्चभूतात्मसम्भवः
मासैकेन च पिण्डस्य पञ्चतत्त्वं प्रजायते। (हारीतः)

ऋतुकाले सम्प्रयोगादेकरात्रोषितं कललं भवति, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति, अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति, मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति। (गर्भोपनिषद्)

द्वितीये मासि शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां सङ्घातो घनः सञ्जायते। यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत्पेशी नपुंसकं चेदर्बुदम् (सु०)

व्यक्ती भवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम्।
मूर्धा द्वे सक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्माङ्गजन्म च॥
सममेव हि मूर्धाद्यैर्ज्ञानञ्च सुखदुःखयोः। (वा० शा० १)
चतुर्थके च लोमानां सम्भवश्चात्र दृश्यते। (हारीतः)
पञ्चमे मासि मनः प्रतिबुद्धतरं भवति। (सु०)
षष्ठे केशरोमनखास्थिस्नाय्वादीन्यभिव्यक्तानि बलवर्णोपचयश्च। (सं० श०)

सर्वैः सर्वाङ्गसम्पूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे (वा०)
ओजोऽष्टमे सञ्चरति मातापुत्रौ मुहुः क्रमात्।
तेन तौ म्लानमुदितौ तत्र जातो न जीवति ॥
शिशुरागोऽनवस्थनारी संशयिता भवेत्। (वा० शा० १)
(अभिनव प्रसूति तन्त्र)
Midwifery by Ten Teachers & Johnstone)

एकादश अध्याय

प्रगल्भगर्भ (The Full Term Foetus)

गर्भकरोटि (Foetal Scull) सिर में पाई जाने वाली सभी अस्थियों के संघात (खोपड़ी) को करोटि कहते हैं। प्रसूतितन्त्र में प्रसव की विधियों का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिये गर्भकरोटि की रचना से परिचित होना परमावश्यक है। क्योंकि गर्भ के बाहर निकलते समय यही सबसे कठिततम अतः अवरोधकर भाग होता है साथ ही अधिकांश प्रसवों में यही अंग सबसे प्रथम निकलता है। वास्तव में गर्भ की करोटिका श्रोणिमार्ग में अनुकूल ही प्रसव में निष्क्रमण विधि है; प्रसव सम्बन्धी अधिकतर बाधायें इस अनुकूलन (Adoptation) के दोषों से ही उत्पन्न होती है। अस्तु करोटि की अधिक विवेचना अपेक्षित है।

गर्भ की करोटि, आकार में युवा की करोटि से अधिक अण्डाकार होती है— एवं मुखमण्डल पूरे सिर की तुलना में छोटा होता है। यदि भ्रू के उभार (Orbital ridges) से, पीछे की ओर महच्छिद्र (Foramen Magnum) तक एक रेखा खींची जाय, तो करोटि दो भागों में विभजित हो जाती है— नीचे वाला ठोस हिस्सा और ऊपर वाला दबाने योग्य भाग। इनमें नीचे वाला अपेक्षाकृत अधिक मजबूत होता है अपने भीतर पर पड़े मर्माङ्गों (Medulla & pons) को सुरक्षित रखता है। बृहत् मस्तिष्क का धूसर भाग करोटि पटल (Vault) के आवरण में रहता है और पीडन प्रभृति आघातों का खतरा इसी हिस्से को रहता है। यद्यपि शिशु के प्रारम्भिक जीवन में ये अंग अर्ध विकसित (Under developed) रहते हैं और बहुत तरह के पीडन एवं भारों को बर्दाश्त कर लेते हैं।

सीमन्त—करोटि की अस्थियों में पूर्णतया अस्थिभवन नहीं हुआ रहता है। इसलिये अस्थियों के किनारे सामान्यतया कलामय होते हैं और उनके मिलने वाले स्थानों पर स्पष्टतया अन्तराल दिखलाई पड़ता है—जिन्हें सीमन्त (Sutures) कहते हैं। इनके नाम और संख्या युवक के करोटि सदृश ही है, एक विशेष सीमन्त, गूढ़ सीमन्त (Frontal Suture) होता है, जो बाल्यावस्था में दोनों पुरः कपालास्थियों को पृथक् करता है। इसके अतिरिक्त मध्य सीमन्त (Sagittal) दोनों पार्श्व कपालस्थियों के बीच में पाया जाता है। पश्चिम सीमन्त (Lamb- doidal) पश्चिम कपाल और दोनों पार्श्वकपालों के बीच में पाया जाता है। पुरःसीमन्त (Coronal) पुरः कपाल और पार्श्व कपालों की संधान रेखा है। पार्श्व सीमन्त (Temporal) शंखकास्थि और पार्श्वकपालों के बीच में मिलता है—दोनों पार्श्वों में एक एक होता है। इन सीमन्तों में केवल पार्श्व सीमन्त ही एक ऐसा सीमन्त है जिसका प्रसव काल में अनुभव नहीं हो पाता और मोटी एवं मृदुरचनाओं से ढका रहता है। इस प्रकार करोटि में, गूढ, मध्य, पुरः, पश्चात् तथा दो पार्श्व सीमन्त मिलकर कुल छः सीमन्त होते हैं।

सीमन्त सन्धियाँ—सीमन्त सन्धियाँ भी छः होती हैं; परन्तु इनमें विषय से सम्बद्ध दो ही महत्व की हैं। इनमें की एक, पुरः-मध्य और गूढ़ सीमन्तों के सन्धिस्थल पर पाई जाती है। यह एक कला का चतुरस्र भाग है, जो चौराहे के समान है और इसके प्रत्येक कोण से एक एक सीमन्त निकलते हैं। इसे ब्रह्मरन्ध्र या ब्रह्मतान्द्र (Ant. Frontanelleor Bregma) कहते हैं। प्रसव के समय में इसका स्पर्श से अनुभव किया जा सकता है—इससे चार सीमन्त निकलते हैं अतः अंगुलियों के जरिये स्पर्श करके पहचाना जा सकता है। मध्यसीमन्त के पश्चाद् भाग और पश्चिम सीमन्त के सन्धिस्थल पर एक छोटा सा त्रिकोणाकार क्षेत्र पाया जाता है—इसको शिवरन्ध्र या अधिपति रन्ध्र (Post Fronta Nelle or Lambda) कहते हैं। सिर में यह भी एक महत्व का स्थल है जिसके द्वारा प्राकृत प्रसव का ज्ञान होता है। इसका आकार और उससे निकलते त्रिमुहानी के समान तीन सीमन्तों का निकलना विशेष चिह्न है जिसका अनुभव अंगुलियों के स्पर्श से कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त पुरः और पार्श्व सीमन्तों के सन्धि स्थलों पर दोनों तरफ हैं जिन्हें शंखरन्ध्र ((Temporal Frenta

nelle) तथा पश्चिम और पार्श्व सीमन्तों के सन्धिस्थलों पर दोनों तरफ होते हैं—जिन्हें कर्णमूलरन्ध्र (Mastoid Fronta nelle) कहते हैं। प्रसूति-तन्त्र में इन चारों रन्ध्रों का वर्णन अनावश्यक है क्योंकि ये बहुत कम मिलते हैं।

प्रदेश—प्रसूति तन्त्रकार वर्णन की सुकरता की दृष्टि से करोटि को तीन भागों में बाँटते हैं। ललाट (Sinciput or Brow), शीर्ष (Vertex) और अनुशीर्ष (Occiput) ललाट-वह भाग है जो ब्रह्मरन्ध्र और पुरःसीमन्त से सीमित है और नीचे की ओर भ्रूतोरणिका (Orbital Ridge) तक जाता है।

गर्भ करोटि का प्रदेश और प्रमुख व्यास
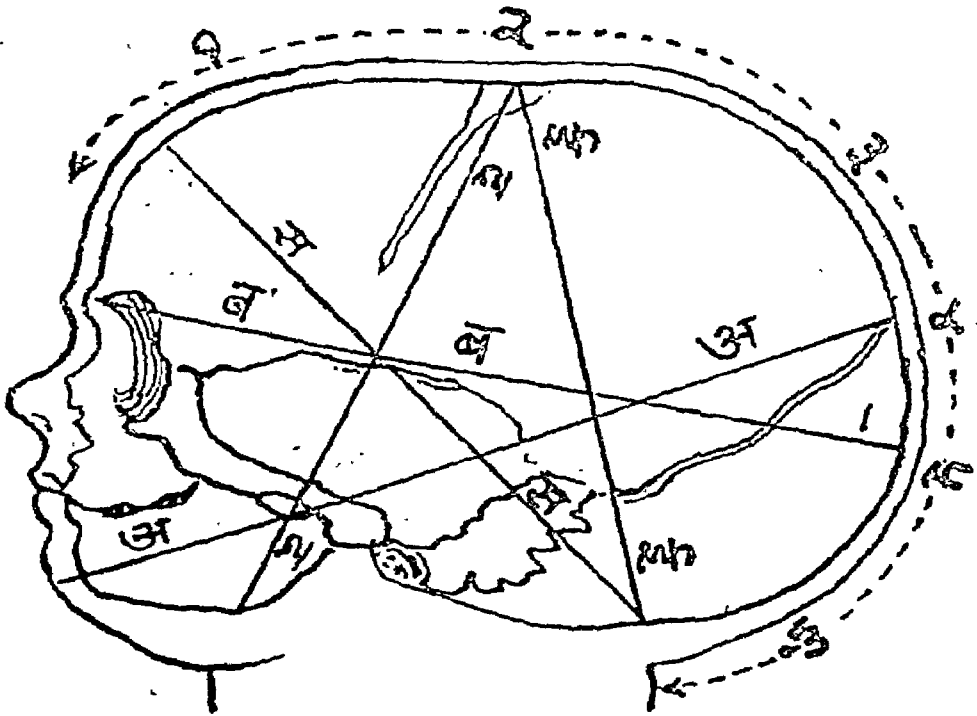
चित्र २९

१. ललाट, २. ब्रह्मरंध्र, ३. शीर्ष,
४. शिवरंध्र, ५. पश्चिमार्बुद, ६. अनुशीर्ष।

द-द—चिबुकाधरब्रह्मरन्ध्रिक व्यास, अ-अ—अनुशीर्षोत्तरचैबुक,
स-स—अनुशीर्षाधरलालाटिक, ई-ई—अनुशीर्षाधरब्रह्मरन्ध्रिक,
ब-ब—अनुशीर्षनासामूलिक।

इससे नीचे मुख का भाग आ जाता है। शीर्ष—वह भाग है जो आगे की ब्रह्मरन्ध्र से पीछे की ओर शिवरन्ध्र से और दोनों तरफ पार्श्वकपाल के उभारों से सीमित रहता है। अनुशीर्ष—शिवरन्ध्र और पश्चिम सीमन्त के पीछे वाला पूरा क्षेत्र अनुशीर्ष कहलाता है।

युवा की अपेक्षा बालक की करोटि में गतियों की अधिक सुविधा रहती है।

गर्भ करोटि का अनुप्रस्थ व्यास
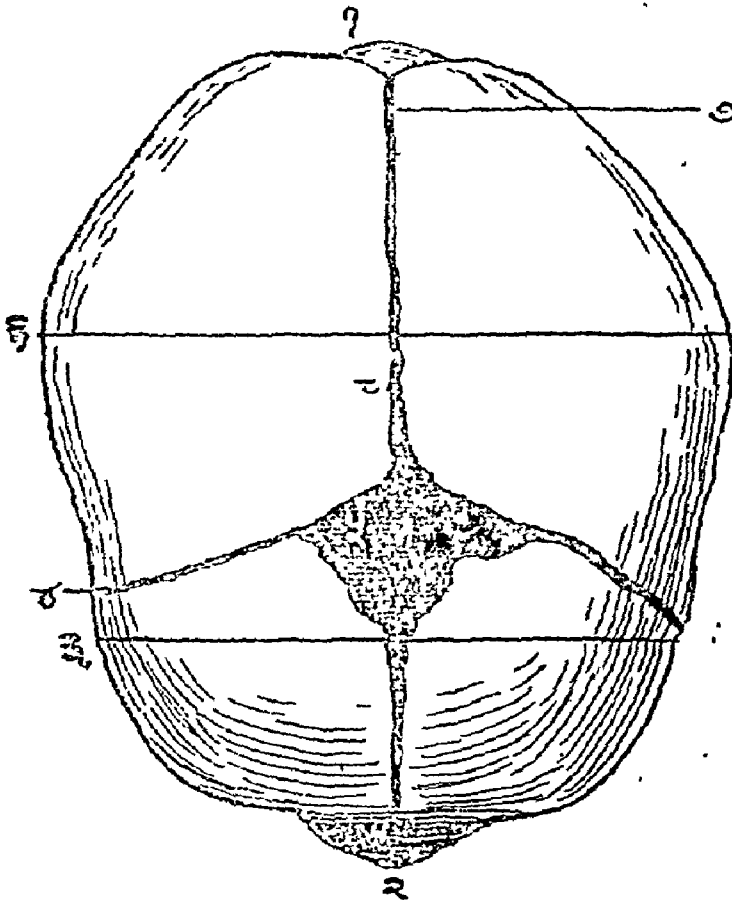
चित्र ३०

१. अनुशीर्ष, २. ललाट, ३. शंख युग्मक, ४. पुरःसीमन्त
५. ब्रह्मरन्ध्र, ६. पार्श्वकापालिक, ७. मध्य सीमन्त ८. शीर्ष।

सिर को इतनी दूर तक फैलाया जा सकता है कि उसका अनुशीर्ष पीठ को छूलें। यह इतना विवर्त्तन-क्षम होता है कि इसका विवर्त्तन अर्धवृत्त या चौथाई वृत्त के रूप में किया जा सकता है।

सिर की कपालास्थियों की इस प्रकार की विवर्त्तनशीलता (Capacity of being moulded) प्रसव की दृष्टि से अत्यधिक मूल्य का है। इस प्रकार की विवर्त्तन क्षमता कई एक विशेषताओं के कारण बालक के सिर में आती है १. कला-मय सीमन्त जिससे अस्थियों के किनारे एक दूसरे के ऊपर चढ़ सकते हैं; २. अस्थियों का मृदु होना, ३. और एक कारण यह भी है कि प्रसव के काल में, मस्तिष्क सुषुम्नाजल तथा मस्तिष्क शिराकुल्याओं का रक्त करोटि से नीचे की ओर क्रमशः सुषुम्ना नलिका और शारीरिक शिराओं में आ जाता है।

समक्षेत्र (Planes)—जिस तरह श्रोणि गुहा कई काल्पनिक समक्षेत्रों में Planes) विभाजित उसी प्रकार प्रसव के वर्णन में सुकरता लाने के लिये करोटि में कई काल्पनिक विभजन हैं।

१. **अनुशीर्षाधर ब्रह्मरन्ध्रक समक्षेत्र**—यह व्यत्यस्त क्षेत्र है। ब्रह्मरन्ध्र के केन्द्र से लेकर (Foramen magnum) पश्चिमार्बुद (Occipital protuberance) के मध्य वाले विन्दु तक का है।

२. **अनुशीर्ष नासामूलिक क्षेत्र**—नासामूल से लेकर पश्चिमार्बुद तक यह क्षेत्र गुजरता है।

३. **अनुशीर्ष चैबुक**—शिवरन्ध्र से चिबुक तक का होता है।

(४) **पार्श्व कापालिक** (Biparietal)—दोनों पार्श्वकुम्भों (Parietal eminence) की दूरी तक फैला है।

शङ्ख युग्मक (Bitemporal)—पूर्व सीमन्तों के नीचे वाले भाग से गुजरता है।

इन क्षेत्रों से सम्बद्ध कई एक व्यास और परिधियाँ बन जाती हैं जो बड़े महत्व की हैं। इनका मापन उन्हीं स्थिर विन्दुओं से किया जाता है, जिनका उल्लेख ऊपर में हो चुका है।

करोटि व्यास—

व्यास नाम	स्थिर बिन्दु	व्यासमान	आंग्लपर्याय
अनुलम्ब व्यास			
१. ग्रैवब्रह्मरंध्रिक	शिरोग्रीवा की संधि से लेकर ब्रह्मरंध्र तक	३¾" (९.३ से.मी.)	Suboccipital bregmatic
२. अनुशीर्षाधर-लालाटिक	शिरोग्रीवा की संधि से ललाट के उभारतक	४" (१० से.मी.)	Suboccipito frontal
३. चिबुकाधर-ब्रह्मरंध्रिक	शिरोग्रीवा की संधि से, ब्रह्मरंध्र के मध्यतक	३¾" (९.३से.मी.)	Submento bregmatic
४. चिबुकाधर-शीर्षीय	सामने की ओर शिरोग्रीवा की संधि से लेकर शीर्ष की अधिकतम दूरी या चिबुक के नीचे से शीर्ष तक	४½"(११.२५से.मी.)	Sub-mento-vertical
५. पार्श्वकापालिक	दोनों पार्श्व कुम्भों के मध्य	३¾ (९.३ से.मी.)	Biparietal
६. शंखयुग्मक	दोनों पूर्व सीमन्तों के मध्य की बड़ी से बड़ी दूरी।	३¼" (८.१ से.मी.)	Bitemporal
७. शंखप्रवर्द्धन-युग्मक	दोनों शंख प्रवर्द्धनों के मध्य की दूरी।	३" (७.५ से.मी.)	Bi-mastoid
८. ऊर्ध्वाधः पार्श्व कापालिक लम्बव्यास	एक तरफ के पार्श्व कुम्भ के ऊपर से लेकर दूसरे तरफ के पार्श्व कपाल के नीचे तक	३½" (८.७ से.मी.)	Sup.-parieto-sub-parietal. Longitudinal
९. चिबुकशीर्षीय	चिबुक से लेकर शीर्ष तक की अधिकतम दूरी—चिबुक से लेकर शिवरंध्रतक	५¼" (१३.१ से.मी.)	Mento-vertical
१०. अनुशीर्षनासामूलिक	नासामूल से शिवरंध्र या नासामूलतक	४½" (११.२ से.मी.)	Occipito-frontal
११. अनुशीर्षोत्तर चैबुक	चिबुकाग्र से मध्य सीमन्ततक	५½" (१३.२ से.मी.)	Supra-occipito-mental

गर्भ करोटि की परिधियाँ (घेरे)

(क) **अनुशीर्ष ब्रह्मरन्ध्रिक**—यह करोटि की सबसे छोटी परिधि है। अपने व्यास का अनुक्रमण हुई इसकी पूरी लम्बाई ११ इञ्च (२७.५ से. मी.) की होती है।

(ख) **अनुशीर्ष नासामूलिक**—इसका परिणाह १३½" (३४ से. मी.) का होता है।

(ग) **चिवुक शीर्षीक व्यास**—इसकी लम्बाई १५" (३७.५ से. मी.) की होती है।

(घ) **ग्रैवब्रह्मरन्ध्रिक**—अपनी परिधि का वेष्टन करते हुए इस घेरे की लम्बाई १२⅘ इञ्च की होती है।

इन परिधियों के महत्व (क) अनुशीर्षब्रह्मरंध्रिक (Sub-occipito-begmatic) शीर्षोदय में श्रोणिकण्ठिका रेखा का अतिक्रमण करती है। (ख) अनु-शीर्षनासामूलिक (occipito frontal) ब्रह्मरंध्रोदय में इस परिधि का श्रोणि में अवतरण होता है। (ग) चिवुक शीर्षीय (Vertico mental) ललाटोदय में श्रोणि में इसका अवतरण होता है। (घ) ग्रैवब्रह्मरंध्रिक (Sub occipito Bregmatic) मुखोदय में इसका श्रोणि में अवतरण होता है।

गर्भशरीर के व्यास—(Diameters of the foetal trunk)

अंस कूटान्तर—दोनों सम्बन्ध के बीच की अधिकतम दूरी वाले बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा। (Bi Acromial)

शिखरकान्तर (Bi trochanteric)—दोनों शिखर को मध्य की अधिकतम दूरी पर स्थित बिन्दुओं को मिलाने वाली रेखा।

द्वादश अध्याय

गर्भ की अंगसंस्थिति, अवस्थिति, अवतरण तथा आसन

(Attitude, lie, presention & position)

प्रसव का पाठ प्रारम्भ करने के पूर्व गर्भ की गर्भाशय में स्थिति सम्बन्धी कई पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान आवश्यक है। इससे गर्भ गर्भाशय के अन्तर्गत किस प्रकार रहता है और उसका कैसे निष्क्रमण होता है इत्यादि बातों की जानकारी भी हो सकेगी।

गर्भाङ्ग संस्थिति—(Atitude or posture) गर्भाशय में स्थित गर्भ के विभिन्न अवयवों का पारस्परिक सम्बन्ध। गर्भाशय में गर्भ आभुग्न या या भुग्नीभाव रूप में (Universal flexion) संकुचित एवं अपने अक्ष पर मुड़ा हुआ-सा रहता है। पीठ धनुषाकार, शिर नीचे की ओर छाती पर मुड़ा हुआ, शाखायें (हाथ और पैर) मुड़ी हुई और इनकी सन्धियाँ संकुचितावस्था में रहती हैं। इस स्थिति में रहने का फल यह होता है कि गर्भ के द्वारा कम से कम स्थान घिरे। इस प्रकार की संस्थिति कुछ तो गर्भ की वृद्धि की प्रक्रिया के अनुसार और कुछ अंश में गर्भाशय गुहा के बनावट के अनुसार ही होती है। कई बार ग्रीवा या शाखायें पूर्णतया न झुककर थोड़ी मोड़ी विस्तृत हो जाती है; परन्तु यह अप्राकृतिक अवस्था है और इससे प्रसव में कठिनाई पैदा होती है।

प्राचीन ग्रन्थों में ठीक इसी प्रकार का वर्णन मिलता है। संस्थिति का उल्लेख करते हुए सुश्रुत ने लिखा है 'स्त्रियों के गर्भाशय में गर्भ चारों ओर से झुका हुआ और अभिमुख होकर सोता है।' आभुग्नोऽभिमुखः (Universal fiexion) चरक ने लिखा है' गर्भ माता के पीठ की ओर मुख करके अपने अंगों को संकुचित किये हुए कुक्षि के अन्तर्गत रहता है उसका सिर ऊपर की ओर रहता है।' (सङ्कुच्याङ्गानि Universal flexion) संग्रहकार ने इस वर्णन में थोड़ी विशेषता लाई है। उनका कथन है कि 'गर्भ कुक्षि में माता की पीठ की ओर मुख करके, ललाट पर अपनी अञ्जली किये, सभी अङ्गोंको चारो तरफ सङ्कुचित किये हुए रहता है। यदि पुरुष गर्भ हो तो दाहिने पार्श्व में, स्त्री हो तो वाम पार्श्व में और नपुंसक हो तो मध्य में रहता है।'

गर्भ की अवस्थिति—(Lie) गर्भ के दीर्घ अक्ष के साथ (माता के) गर्भाशय के दीर्घ अक्ष (Longaxis) का पारस्परिक सम्बन्ध, गर्भ की अवस्थिति तीन प्रकार की हो सकती है—अनुलम्ब, अनुप्रस्थ और तिर्यक्। अधिकतर अवस्थिति अनुलम्ब होती अर्थात् दीर्घ अक्ष के समानान्तर गर्भ का दीर्घ अक्ष रहता है। तिर्यक् अवस्थिति क्षणिक होती है या बहुत कम पाई जाती है। अनुलम्बस्थिति में प्रसव में बालका का सिर निकलता है या श्रोणि। तिर्यक् अवस्थान होने पर पार्श्व से अवतरण होता है।

गर्भावतरण (Presentation)—इसका अर्थ है कि गर्भ का वह भाग जो गर्भाशय गुहा के अधोध्रुव (नीचे वाले भाग या गर्भाशय द्वार) पर पड़ा हो। वास्तव में अवतरण वाला भाग ही, योनिपरीक्षा के द्वारा गर्भाशय ग्रीवा के जरिये स्पर्शलभ्य होता है। इस प्रकार के अवतरण को ध्यान में रखते हुए अङ्ग प्रत्यङ्ग भेद से विविध प्रकार के अवतरण हो सकते हैं। अङ्ग और अवस्थिति के भेद से प्रधानतया अवतरण तीन प्रकार देखने को मिलते हैं। जैसे पहले बताया जा चुका है कि यदि गर्भ की दीर्घ अक्ष में अवस्थिति (Longitudinal lie) अर्थात् स्थिति है तो अवतरणों में या तो १. शिरोवतरण (Cephalic presentation) होगा या २. श्रोण्यवतरण (Breech या Pelvic presentation) होगा। यदि तिर्यक् अवस्थिति (Oblique) हुई तो अवतरण उसका पार्श्व से होगा और ३. पार्श्वावतरण (Transverse presentation) कहलाये गा। अवतरण काल में इन अंगों के संकोच और प्रसार की अवस्था भेद से जो प्रत्यंग या उपाङ्ग प्रथम दिखलाई पड़ते हैं उन्हीं के नाम पर विभिन्न प्रकार उपाङ्ग भेद से उदय होते हैं जिनके नाम नीचे की सरणी में दिये जाते हैं।

शिरोवतरण ९६%
- शीर्षोदय (Vertex presentation) ९५·५%
- ललाटोदय (Brow presentation) ०·१%
- मुखोदय (Face presentation) ०·४%

श्रोण्यवतरण ३.५%
- स्फिक्पादोदय (Complete breech presentation)
- स्फिगुदय (Incomplete or Frank breech Presentation)
- जानूदय (Knee presentation)
- पादोदय Foot or footling presentation)

पार्श्ववितरण ·५% : { स्कन्धोदय (Shoulder presentation)
कूर्परोदय (Elbow presentation)
हस्तोदय (Hand presentation) }

शीर्षोदय की विभिन्न अवस्थाएँ
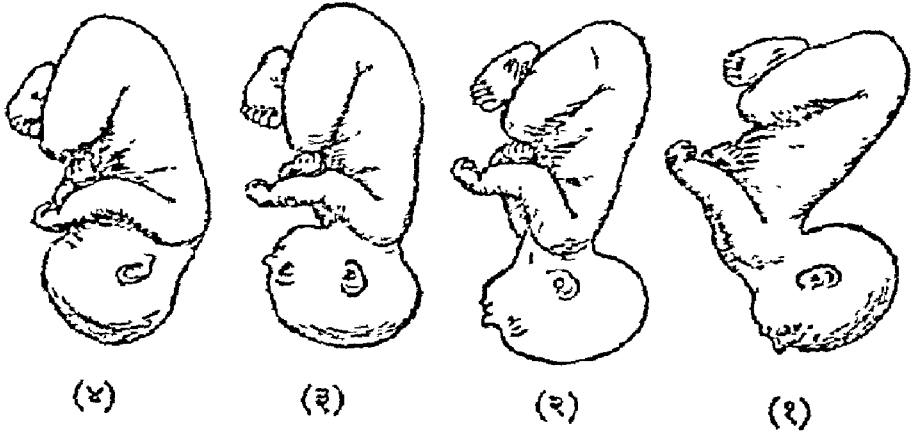
चित्र ३१

(१) मुखोदय, (२) ललाटोदय, (३) ललाटोदय, (४) शीर्षोदय।

श्रोण्यवतरण के विभिन्नोदय
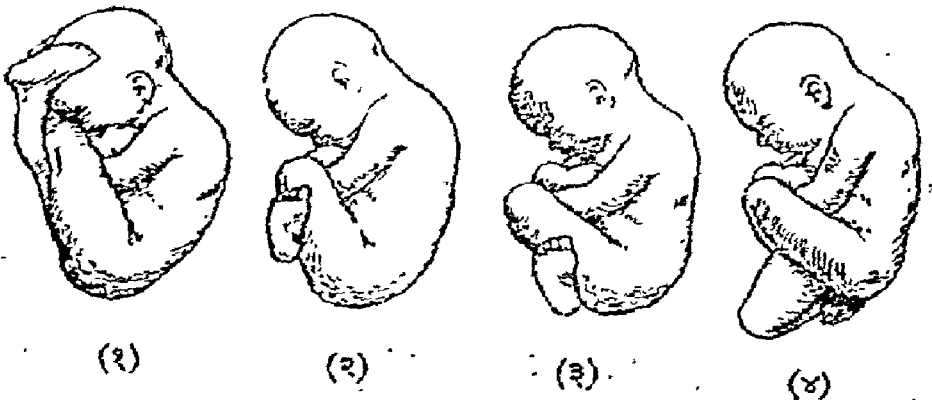
चित्र ३२

(१) स्फिगुदय, (२) स्फिग्पादोदय, (३) पादोदय, (४) जानूदय।

शीर्षोदय की बहुलता—ऊपर की सरणी से जैसा कि स्पष्ट है कि प्रसव में अधिकतर शिरोवतरण ही पाया जाता है। सौ में छियानवे प्रसव शिरोवतरण या शीर्षोदय के होते हैं। अवशेष चार प्रतिशत में २·५ श्रोण्यवतरण का होता है और ५. प्रतिशत प्रसव पार्श्वावतरण के होते हैं।

शीर्षोदय ही क्यों होता है—इस सम्बन्ध में बहुत दिनोंसे वैज्ञानिकों में चर्चा चली आरही है और विभिन्न मत एवं सिद्धान्त इस सम्बन्ध में प्रचलित हैं। इन मतों में केवल दो अधिक प्रचलित एवं प्रामाणिक है। अत एव उन्हीं का उल्लेख यहाँ करेंगे। १. गुरुत्वाकर्षण तथा २. अनुकूलन (Accomoldation) सिद्धान्त।

(१) गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के परीक्षण में एक मृत गर्भ शरीर जल में छोड़ा गया। इसमें सिर और यकृत् का भार अधिक होने से उसका सिर दाहिनी ओर नीचे झुक गया और तैरता रहा। इसी प्रयोग के आधार पर गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त स्थिर हुआ। इस प्रकार प्रयोगों में स्पष्टतया कई प्रकार के दोष आ सकते हैं। परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ आधुनिक प्रयोग भी हुए जो अधिक विज्ञान सम्मत जान पड़ते हैं। इसके अनुसार गर्भका मध्यकेन्द्र (Metacentre) गुरुत्वाकर्षण के केन्द्र की अपेक्षा श्रोणि के अधिक समीप होता है। अस्तु गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव ऐसा पड़ता है कि वह गर्भ शिर वाले भाग को नीचे खींचना चाहता है और श्रोणि वाले भाग ऊपर की ओर उठाना चाहता है।

(२) अनुकूलन सिद्धान्त—में चार बातें प्रधानतया आती हैं:—

१. गर्भाशय का आकार—ऊपर की ओर चौड़ा नीचे की ओर सँकरा।

२. गर्भ का आकार—सिर से श्रोणिका अधिक चौड़ा होना।

३. गर्भाशय की दीवालों का तान (Tonicity)

४. गर्भ का जीवन और तान।

गर्भ की स्थिति गर्भाशय के अनुकूल तब होती है, जब कि गर्भ का चौड़ा भाग श्रोणि (गर्भाशय) के चौड़े भाग में (Fundus of the uterus) और सँकरा भाग सिर, गर्भाशय के सँकरे भाग में अर्थात् अधोध्रुव या द्वार (Lower pole) में पड़ा रहे। इस स्थिति में गर्भ सुविधा से रहता है। यदि कोई ऐसा कारण उपस्थित हो जाय जिसमें गर्भ की इस प्रकार की अनुकूल स्थिति न रह

पावे तो उसके ऊपर गर्भाशय की दीवालों का दबाव पड़ता है—इस दबाव के परिणामस्वरूप गर्भ में गति होने लगती है और फिर इस गति का यह फल होता है—गर्भ अन्त में पुनः अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस सिद्धान्त के समर्थन में सबसे पक्का प्रमाण यह है कि उपरोक्त चार (अनुकूलन उत्पन्न करने वाली चीजों में) बातों में किसी प्रकार की बाधा हुई तो तत्काल विकृत अवतरण (Malpresentation) होता है। यहाँ पर इसके प्रमाण रूप में दो उदाहरण दिये जाते हैं:—

(क) ऐसी स्थिति में जब कि गर्भोदक की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक या बहुत कम हो (Inhydramnios in early months) तो विकृत अवतरण ही पाये जाते हैं। क्योंकि बच्चा गर्भाशय की दीवाल के सम्पर्क में ही नहीं आपाता। (२) सहजलशीर्ष में सिर इतना अधिक फूला रहता है कि श्रोणि से भी अधिक चौड़ा हो जाता है। ऐसे बच्चों में बड़ा सिर अधिकतर गर्भाशयके ऊपरी चौड़े भाग (Fundus) में पड़ा मिलता और छोटी सी श्रोणि गर्भाशय के अधोप्रान्त के सम्पर्क में रहती है।

आयुर्वेद के प्राचीन तन्त्रकारों ने भी इस शीर्षावतरण की बहुलता (Frequency of cephalic presentation) के सम्बन्ध में अपने हेतु दिये हैं। (१) 'गुरुतर होने की वजह से पहले सिर उतरता है।' (भेलसंहिता) (२) 'प्रसव के समय में सिर नीचे की ओर योनि में स्वभाव से ही जाता है' (सु०) 'वह जन्म की उपस्थिति में प्रसूतिकालीन वायु का चक्कर खाकर नीचे सिर कर के अपत्यमार्ग से निकलता है। यही प्रकृति है अन्यथा विकृति समझें।' (च०)

गर्भासन (Position)—गर्भ के आसन का अर्थ होता है—उसका माता की श्रोणि के साथ सम्बन्ध। आसनों का वर्णन, उदय लेने वाले उपाङ्गों के कुछ स्थिर बिन्दुओं को जिन्हें भाजक (Denominater) कहते हैं, ध्यान में रखते हुए किया जाता है। स्त्री श्रोणि पूर्वापर और वामदक्षिण भेदों से चार समान खण्डों में विभजित है। वाम पूर्व (Left anterior), दक्षिण पूर्व (Right anterior), दक्षिण पश्चिम (Right posterior) तथा वाम पश्चिम (Left posterior)। गर्भ के विभिन्न उदयों में, विशेष विशेष अवयवों के यथाक्रम श्रोणिखण्ड में अवस्थान होने से गर्भासन भी चार प्रकार के हो जाते हैं। उनके

नाम क्रमशः प्रथमासन, द्वितीयासन, तृतीयासन और चतुर्थासन दिये जाते हैं। गर्भ दोनों प्रकार की अवस्थितियों में इस प्रकार के चार चार आसन हो जाते हैं।

सामान्यतया विभिन्न उदयों में भाजक या चुने हुए स्थिरविन्दुओं के रूप में निम्नलिखित अवयव आते हैं—

उदय	भाजक
शीर्षोदय	अनुशीर्ष (Occipit)
मुखोदय	चिबुक (Mentum)
स्फिगुदय	त्रिक (Sacrum)
पार्श्वोदय	अंसकूट (Acromion)

इन विभिन्न उदयों का वर्णन यथास्थल आगे किया जायगा। यहाँ पर गर्भ के विभिन्न आसनों का दिग्दर्शन कराने के लिये केवल मात्र शीर्षोदय का उल्लेख लक्ष्य है।

शीर्षोदय में चारों गर्भासन प्रकार
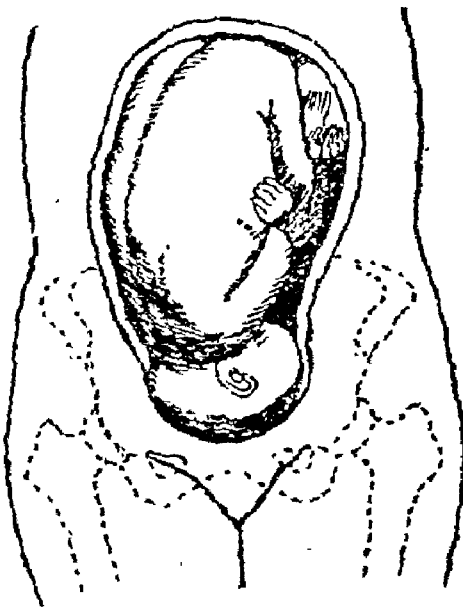
चित्र २३
१. वामपूर्वानुशीर्षासन।
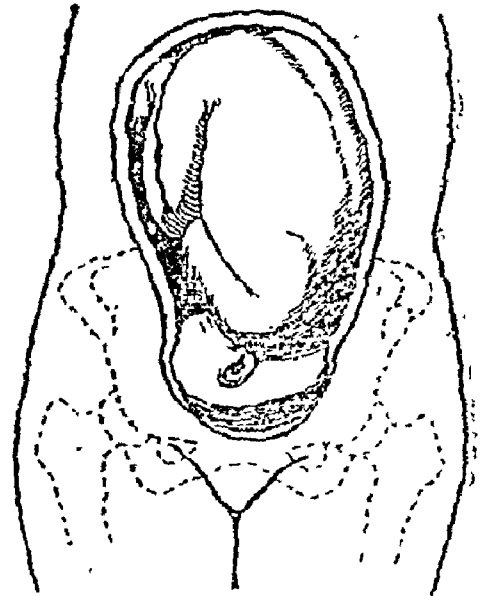
चित्र २४
२. दक्षिणपूर्वानुशीर्षासन।
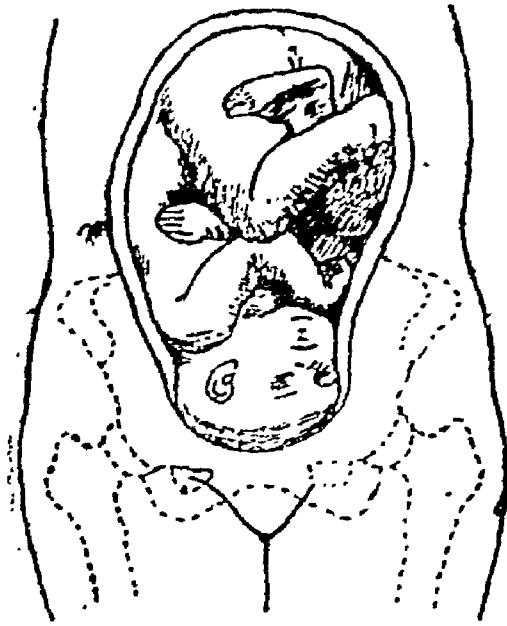
चित्र ३५
३. दक्षिणपश्चिमानुशीर्षासन ।
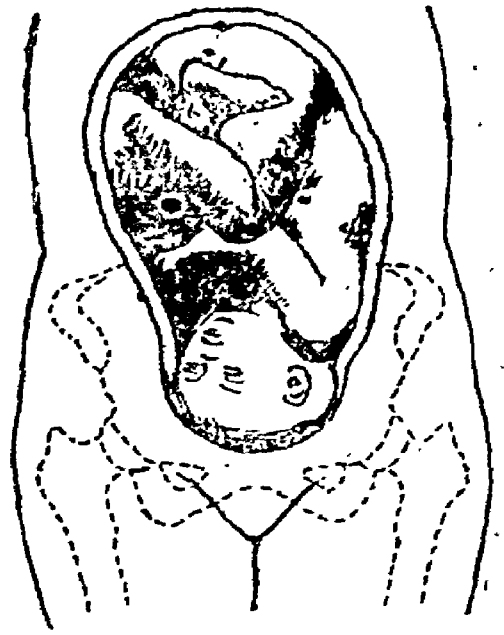
चित्र ३६
४. वामपश्चिमानुशीर्षासन ।

शीर्षोदय (Verted prsentaion)—चार सम्भवनीय आसन हो सकते हैं—

१. **वामपूर्वानुशीर्षासन** (Left occipito anterion L. O. A. वा० पू० अ०) प्रथमासन—इसमें गर्भ की पीठ माता के बायें तथा सामने की ओर होती है और सिर नीचे की ओर होता है। सिर का मध्य सीमन्त, माता के श्रोणिकण्ठ (Brim of the pelvis) के दक्षिण तिर्यक् व्यास में रहता है और अनुशीर्ष वामश्रोणि गवाक्ष के समीप तथा ललाट दक्षिण त्रिकूजघनसन्धि के समीप रहता है।

२. **दक्षिणपूर्वानुशीर्षासन** (Right occipito anterior. R. O. A. द० पू० अ०) द्वितीयासन—इस आसन में गर्भ की पीठ माता के दाहिने और सामने की ओर, सिर नीचे को रहता है। सिर का मध्य सीमन्त श्रोणिकण्ठ के वाम तिर्यक व्यास में, अनुशीर्ष भाग दक्षिण श्रोणि गवाक्ष (Obturator foramen) के समीप और ललाट वामत्रिकूजघनसन्धि (Left sacro illiac joint) के समीप होता है।

३. **दक्षिण पश्चिम अनुशीर्षासन** (Right occipito posterior. R. O.P. द० प० अ०) तृतीयासन—गर्भ की पीठ माता के दाहिने और पीछे की ओर और सिर नीचे की ओर रहता है। सिर का मध्य सीमन्त श्रोणिकण्ठ के दक्षिण तिर्यक् व्यास में, अनुशीर्ष दक्षिण त्रिकूजघनसन्धिमें तथा ललाट वाम-श्रोणि गवाक्ष के समीप रहता है।

४. **वामपश्चिम अनुशीर्षासन** (Left occipito posterior. L. O. P. वा. प. अ.) चतुर्थासन—इस आसन में गर्भ की पीठ माता के बाई और पीछे तरफ सिर नीचे की ओर होता है। मध्यसीमन्त, श्रोणिकण्ठ के वाम तिर्यक् व्यास में, ललाट दक्षिण श्रोणि गवाक्ष के पास तथा अनुशीर्ष दक्षिण त्रिकूजघनसन्धि के समीप रहता है।

उपरोक्त चार आसनों में अधिकतर प्रथमासन मिलता है। मोटे हिसाब से इसके सत्तर प्रतिशत गर्भ मिलते हैं। इसकी तुलना में द्वितीय, तृतीय और चतुर्थासन बहुत कम मिलते हैं—इनकी प्रतिशत संख्या यथाक्रम २०%, ८% और २% हैं।

प्रथमासन की प्रधानता में हेतु—१. माता के उदर के आकार में गर्भाशय ढल जाता है। फलतः वह सामने की ओर नतोदर किन्तु पीछे की ओर उन्नतोदर होता है। पृष्ठवंश के झुकाव और त्रिक् के उभार के कारण बनने वाले कोण से यह स्थिति उत्पन्न होती है। गर्भ भी सामने से नतोदर और पीछे से उन्नतोदर होता है। अतएव यह अपने को गर्भाशय में सुविधानुकूल तभी रख सकता है जब कि इसकी पीठ गर्भाशय के नतोदर भाग में और सामने वाला भाग गर्भाशय के उन्नतोदर भाग (गर्भाशय की पीछे वाली दीवाल) के सम्पर्क में रहे।

२. श्रोणिकण्ठ का दक्षिण तिर्यक् व्यास सबसे लम्बा व्यास होता है। वाम तिर्यक् व्यास श्रोणि गुहागत अङ्गों के अवस्थान, अनुप्रस्थ बृहदन्त्र और पेशियों की बनावट के कारण लम्बाई में बहुत छोटा हो जाता है। यही कारण है जिससे सभी अवतरणों में—जैसा कि आगे देखेंगे, उदय लेने वाले भाग का दीर्घ अक्ष सदैव दक्षिण तिर्यक् स्थिति में रहने का प्रयत्न करता है। शीर्षोदय के सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिये कि कम से कम ९०% गर्भों की अवस्थिति इसी व्यास में होती है—७०% (वा. पू. अ.) और २०% द. प. अ. में।

उपरोक्त सिद्धान्तों में थोड़े सुधार की आवश्यकता है। आधुनिक युग की परीक्षण विधियों, विशेषतः 'क्ष' किरण के बहुल प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है, कि गर्भ की अवस्थिति प्रसव के पूर्व श्रोणिकण्ठ के अनुप्रस्थ व्यास (Transverse) में (Occipito-lateral) वाम या दक्षिण की तरफ होती है। परन्तु जैसे ही गर्भ का नीचे उतरना शुरू होता है, त्रिक् के उभार के कारण उसका सिर वाम पूर्वानुशीर्षासन या दक्षिण पूर्वानुशीर्षासन की स्थिति में चला आता है।

आधार तथा प्रमाण संचयः—कुतोमुखः कथञ्चान्तर्गतस्तिष्ठति।

(१) आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियः। (सु. शा. ५)

(२) गर्भस्तु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिराः सङ्कुच्याङ्गान्यास्तेऽन्तः कुक्षौ।
(च. शा. ६)

(३) गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुखो ललाटे कृताञ्जलिः सङ्कुचिताङ्गो गर्भकोष्ठे दक्षिणपार्श्वमाश्रित्यावतिष्ठते पुमान्, वामं स्त्री, मध्यं नपुंसकम्। (सं. शा. २)

कथं अवाक् शिरस्तिष्ठति

(१) तस्य यदुत्तरं तत् प्रथमं प्रतिपद्यते। तस्मात्तस्य शिरः प्रथमं पुनर्नसुरान्नेयः प्रतिपद्यते। तदस्य गुरुतरं भवतीति (भे. सं.)

(२) स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति। (सु. शा. ५)

(३) स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात् परिवृत्यावाक् शिरा निष्क्रामत्यपत्यपथेन, एषा प्रकृतिः विकृतिः पुनरतोऽन्यथा। (च. शा. ६)

(Midwifery by Johnstone)

तेरहवाँ अध्याय

गर्भ में वर्णोत्पत्ति

(Pigmentation of skin of the foetus)

आधुनिक प्रसूतिशास्त्र के ग्रन्थों में गर्भ के वर्णोत्पत्ति के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख नहीं पाया जाता; परन्तु प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में इसकी विस्तृत विवेचना मिलती है। इन आचार्यों ने अपने आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक कल्पनाओं के अनुसार गर्भ में होने वाले रङ्गभेद की व्याख्या की है। उनके मूल सूत्रों का संग्रह तदनु समन्वायात्मक विवेचन प्रस्तुत अध्याय का विषय है।

(१) पञ्चमहाभूतों में से तेजोधातु सभी वर्णों का उत्पत्ति हेतु है। जब वह गर्भोत्पत्ति के समय जल धातु प्रधान होता है, तब गर्भ को गौरवर्ण करता है। जब पृथिवी धातु प्रधान होता है तब गर्भ को कृष्णवर्ण और जब जल और आकाश धातु प्रधान होता है तो गर्भ को गौरश्याम तथा जब पृथिवी आकाशधातु प्रधान होता है तो गर्भ को कृष्ण श्याम कर देता है। कई आचार्यों के अनुसार वर्णभेद आहार के ऊपर निर्भर करता है जिस वर्ण का आहार गर्भिणी सेवन करती है, उसी वर्ण के अनुरूप सन्तति को पैदा करती है।

(२) जो स्त्री श्यामवर्ण के लाल आँखों वाले, विस्तृत एवं उन्नत छाती वाले, लम्बी बाहु वाले पुत्र को चाहती है, अथवा जो कृष्णवर्ण के काले, लम्बे, एवं मृदु बालों वाले श्वेत आँख वाले, श्वेत दाँत वाले तेजस्वी, आत्मावान् पुत्र को चाहती है; इन दोनों के लिये परिवर्ह को छोड़ कर शेष होम विधि समान है। अर्थात् होम पूर्ववत् ही होगा; परन्तु स्त्री के अभिलषित पुत्र के वर्ण के अनुसार परिवर्ह (आसन–बिछौना–फूल–भोजन–वस्त्र–गृह आदि) बनाना होगा। यदि श्याम पुत्र की इच्छा है तो आसनादि श्यामवर्ण के और यदि कृष्णवर्ण के पुत्र की इच्छा है तो परिवर्ह कृष्णवर्ण का होना चाहिये। अर्थात् जैसे गौर पुत्र की उत्पत्ति के लिये श्वेतवर्ण के आहार, वस्त्र और अलङ्कार आदि का विधान है, वैसे श्याम या कृष्णवर्ण के पुत्रोत्पत्ति के लिये उसी वर्ण वाले आसन आहार आदि की व्यवस्था होनी चाहिये।

शूद्रा स्त्री के लिये केवल मात्र देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, तपस्वी सिद्धों को

नमस्कार मात्र ही पर्याप्त है। इतने से ही उसे अभिष्ट वर्ण वाले पुत्र की उत्पत्ति होती है। तदनन्तर जो स्त्री जिस प्रकार के पुत्र को चाहती हो उस स्त्री को उस पुत्रेच्छा का सङ्कल्प मन में रखते हुए उन जनपदों (देशों) का ध्यान करना चाहिये (जहाँ के पुरुष वैसे होते हैं)। अथवा जिन स्त्रियों को जिन-जिन देशों के मनुष्यों के अनुरूप पुत्र की चाह हो; उनको उनका मन में चिन्तन करते हुए उन-उन देशों के आहार, विहार तथा वस्त्र परिधान के अनुसार ही रहना चाहिये। गर्भवती को इस प्रकार का उपदेश भी देना चाहिये।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इन उपदेशों के साथ-साथ पञ्चमहाभूतात्मक परिवर्त्तन (पूर्वोक्त) भी अनुरूप होना चाहिये तभी वर्ण विशेष उत्पत्ति या रङ्ग भेद पैदा होता है।

(३) स्त्री और पुरुष जैसी सन्तान की चाह रखते हों उसी के अनुकूल रूप (वर्ण-संस्थान-आकृति, आचार, चरित्र, श्रद्धा, श्रुत, सत्य, आर्जव, आनृशंस्य, दान-दया-दाक्षिण्य-स्वभावादि) वाले जनपदों का चिन्तन करे और वैसा ही आचरण, आहार, विहार रखे तथा वेशभूषा धारण करे।

(४) वीर्य का वर्ण श्वेत हो तो गर्भ का वर्ण गौर, तैल के समान हो तो कृष्ण और मधु के सदृश वर्ण वाला हो श्याम रङ्ग गर्भ में आ जाता है। इसके अतिरिक्त क्षीरादि मधुर द्रव्यों के उपयोग तथा माता के जल विहार से पुत्र गौर वर्ण का होता है। तिलान्न विदारि आदि के सेवन से गर्भ का वर्ण कृष्ण रङ्ग का तथा इन सबके मिश्रण से श्याम वर्ण का होता है। इसके अतिरिक्त देश और काल के अनुवृत्ति के भेद से भी वर्ण भेद हो जाता है।

उपरोक्त वर्णन के आधार पर वर्ण-भेद पैदा करने वाले निम्नलिखित कारण ज्ञात होते हैं—

(अ) **कुल जाति या वंश (Racial) भेद से**—नीग्रो की सन्तान काली, जापानी और चीनी सन्तान पीली, यूरोपवासियों की सन्तानें श्वेतवर्ण की होती हैं। भारतवर्ष में भी कुछ जातियाँ गौरवर्ण, कुछ श्यामवर्ण और कुछ कृष्णवर्ण की होती हैं।

(ब) **बीज (Heriditary or germinal)**—गौरवर्ण पुरुष और कृष्णवर्ण स्त्री के संयोग से गौरवर्ण की सन्तान होती है। यह बीजानुगत वर्णभेद का उदाहरण है।

(स) **आहार** (Diet)—आहार से गर्भ की वृद्धि होती है, त्वचा भी बनती है और त्वक् गत रङ्ग द्रव्य भी बनता है। अतः माता के आहार का परिणाम; गर्भ के अन्यान्य शारीरिक तथा मानसिक विकास पर जैसा हुआ करता है, वैसे ही उसके वर्ण पर भी होना सम्भव है। जातिगत या कुलगत सन्तति में एक प्रकार का शारीरिक वर्ण उत्पन्न होने में उनका जातीय आहार भी एक कारण होता है। यूरोपियन, चीनी या जापानी चाहे वे किसी देश में हो अपने जातीय वर्ण के अनुसार सन्तान उत्पन्न करते हैं—क्योंकि जहाँ तक हो सके वे अपने जातीय आहार में परिवर्त्तन नहीं करते हैं।

(द) **देश** (Climatic)—देश या प्रान्त की जैसी जलवायु होती है—वैसी ही तद्देशीय लोगों की त्वचा की रङ्गत वदलती है। जैसे ठण्डे मुल्क में होने वालों की तथा उनके सन्तानों की त्वचा गौरवर्ण की होती है। काला आदमी जब ठण्डे मुल्क में रहता है तो उसकी तथा उसकी सन्तान की त्वचा कुछ गौरवर्ण की हो जाती है। वैसे ही उष्ण प्रदेश में रहने वालों का वर्ण कुछ कृष्णवर्ण का होता है फलतः गौर मनुष्य भी कुछ काल तक ऐसे देश में रहे तो अपेक्षाकृत कृष्णवर्ण का हो जाता है।

(प) **व्यवसाय तथा रहन-सहन**—जिन मनुष्यों को अपने व्यवसाय में काम करते हुए नंगे वदन रहना पड़ता है, या गरीवी के कारण शरीर को ढकने के लिये पूरा कपड़ा नहीं मिलता अथवा धूप में काम करना पड़ता है—ऐसे आदमी तथा उनकी सन्तानें कुछ काली पड़ जाती हैं। इसके विपरीत जो छाया में काम करते हैं, शरीर पर पूरा कपड़ा पहनते हैं। वे मनुष्य तथा उनकी सन्तानें कुछ गौरवर्ण लिये मिलती हैं।

(फ) **चिन्तन**—गर्भाधानकाल में तथा उसके अनन्तर गर्भिणी गर्भावस्था में जिस वर्ण के बालक का चिन्तन करती है, उस चिन्तन का प्रभाव गर्भ के वर्ण के ऊपर होता है, इसी तत्त्व के आधार पर जिस रंग का वच्चा घोड़ी से चाहते हैं; उसी रंग का घोड़ा, घोड़ी के सामने गर्भाधान के समय खड़ा करते हैं और घोड़ी की आँखों पर पट्टी वाँध देते हैं। जब दूसरे घोड़े का गर्भाधान हो चुकता है तो पट्टी को खोल देते हैं। पट्टी खोलने से घोड़ी की नजर सामने वाले घोड़े पर पड़ती है और उसी रंग का बच्चा प्रायः उसका होता है। मनुष्यों में भी इसी प्रकार चिन्तन का प्रभाव बच्चों पर कभी कभी होता है। कृष्णवर्ण स्त्री-पुरुषों की सन्तान

गौरवर्ण और गौरवर्ण स्त्री-पुरुषों की कृष्णवर्ण की सन्तान की उत्पत्ति का समर्थन इसी तत्त्व पर हो सकता है। इस विषय में एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। एक यूरोपियन दम्पति के यहाँ काले वर्ण की सन्तान उत्पन्न हुई। कारण यह साबित हुआ कि गर्भाधान के समय स्त्री की दृष्टि पलङ्ग के सामने टंगे हुए एक हवशी के चित्र पर पड़ी थी। माता की मनःस्थिति के कारण गर्भ में शारीरिक विकृति हो सकती है। इस विधान के पुष्टि में कई एक अन्य उदाहरण भी मिलते हैं। ये उदाहरण 'लैन्सेट' नामक अंग्रेजी वैद्यक पत्र के आधार पर सिविलसर्जन डा. सरकार ने मद्रास के 'एण्टी सेप्टिक' नामक मासिक अंग्रेजी वैद्यक पत्र में प्रकाशित किये थे।

(१) एक गर्भवती ने एक खरगोश पाला एक दिन बिल्ली ने उसके ऊपर हमला करके उसका पैर काट दिया। वह बहुत दिनों तक उस घाव की मरहम पट्टी करती थी। प्रसूति होने पर देखा कि उसके बालक के दोनों पैर विकृत थे। एक पैर में दो और दूसरे में तीन अंगुलियाँ रही तथा दोनों पैरों में एड़ी थी ही नहीं।

(२) एक किसान ने एक सूअर पाल रखा था उसकी बीमारी में किसान ने उसको ठीक करने के लिये उसके कान से फस्त खोलकर खून निकाला। किसान की स्त्री गर्भवती थी उसने यह शस्त्रकर्म देखा। प्रसूति होने पर देखा गया कि उसके बच्चे में कान की पाली अपूर्ण थी।

एक गर्भवती स्त्री पर एक कुत्ते ने हमला किया वह किसी तरह बच गई; परन्तु कुत्ते ने उसके पीठ और जाँघ को घसीट लिया। उसी दिन से वह स्त्री सोचा करती थी कि उसके गर्भ में जरूर कुछ विकृति आ गई होगी। प्रसूति होने पर देखा गया तो बच्चे के पीठ और जाँघ पर कुत्ते के रंग का धब्बा और बाल पाये गये। इससे यह स्पष्ट है कि श्रद्धा विघात या मानसिक आघात के कारण गर्भ की विकृति असम्भवनीय नहीं है। आयुर्वेद का यह प्राचीन सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान भी मानता है।

गर्भस्थ शिशुके आसन और उदय का निर्णय—
(Diagnosis of position and presention)

गर्भस्थ बालक के आसन, स्थिति, अवतरण, शयन और उदय आदि का निर्णय दो प्रकार से होता है—(१) माता की उदर परीक्षा, (२) तथा योनि परीक्षा से। सामान्यतया जहाँ तक सम्भव हो हमें उदर परीक्षा के द्वारा ही काम निकालना चाहिये, क्योंकि कितनी भी सावधानी से योनिपरीक्षा की जाय उसमें योनि के द्वारा संक्रमण पहुँचने का भय रहता है।

उदर परीक्षा (Abdominal examination) गर्भिणी को सीधा पीठ के वल लेटा दे, उसके कन्धे के नीचे कुछ कपड़ा और तकिया रख दे, पैरों को संकुचित कर दे जिससे उदर की मांसपेशियाँ ढीली हो जायं और परीक्षा में सुविधा हो । गर्भिणी के छाती पर कुछ कपड़े आदि रखकर ऊंचा कर दें जिससे वह परीक्षक के हाथों को न देख सके और उसका ध्यान इस ओर न रहे ।

(क) **दर्शन** (Inspection)—वालक की अधोलम्वस्थिति में गर्भ की पूर्णता पर, गर्भाशय की ऊँचाई अग्रपत्र के ठीक नीचे तक रहती है । अनुप्रस्थ (वाम दक्षिण) स्थिति में गर्भाशय की चौड़ाई, लम्वाई की अपेक्षा अधिक होती है और गर्भाशय चौड़ा और ऊपर को थोड़ा ही वढ़ा दिखलाई पड़ता है ।

(ख) **स्पर्शन** (Palpation) यह क्रिया नियम पूर्वक सावधानी से करनी चाहिये जिस समय गर्भाशय में संकोचन हो रहा हो, उस समय थोड़ी देर के लिये प्रतीक्षा करनी चाहिये, क्योंकि गर्भाशय की इस स्थिति में वालक के अंगों का अनुभव कठिन होता है । स्त्री को लम्बी-लम्वी साँस लेने को कहना चाहिये इससे भी उदरपेशियों की शिथिलता होकर परीक्षा में सुविधा होती है । ऐसे

उदर-स्पर्शन
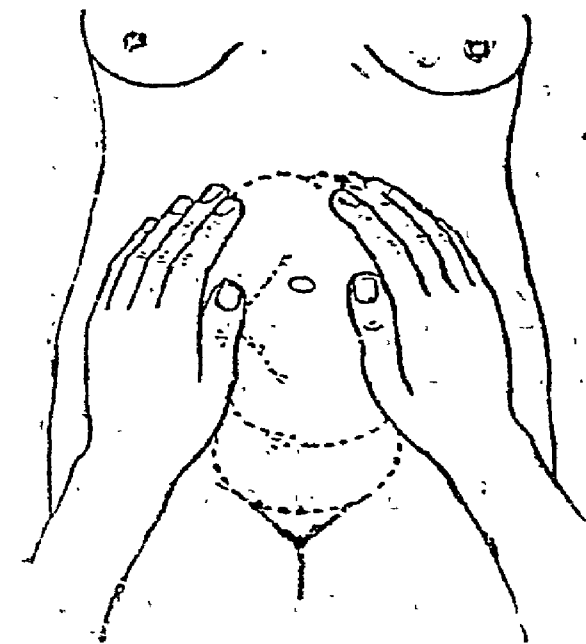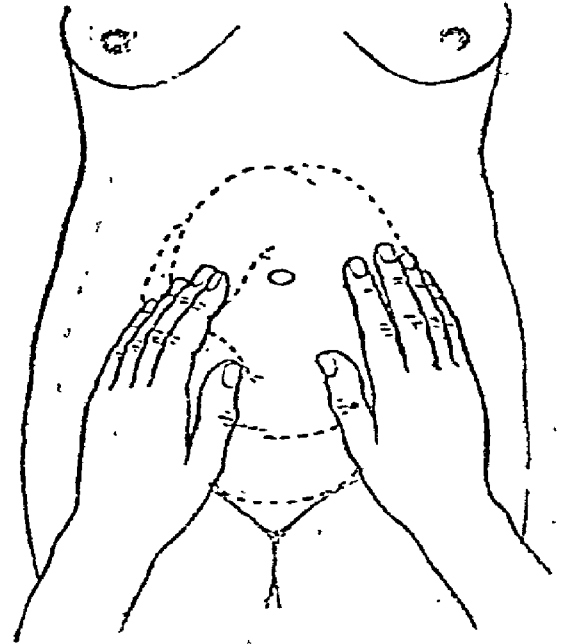
चित्र ३७ चित्र ३८
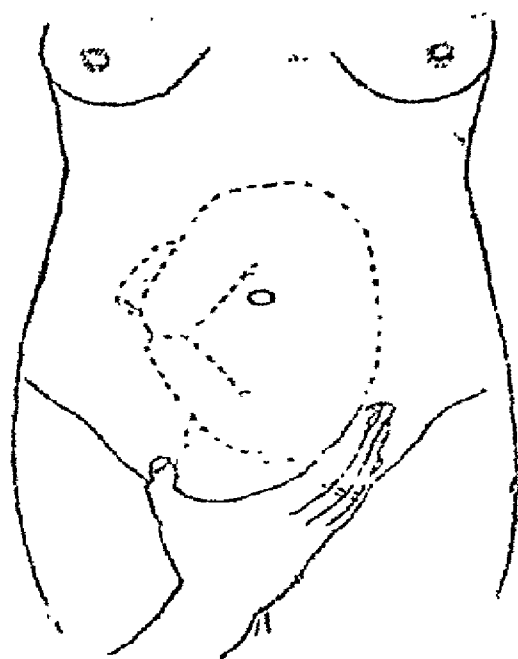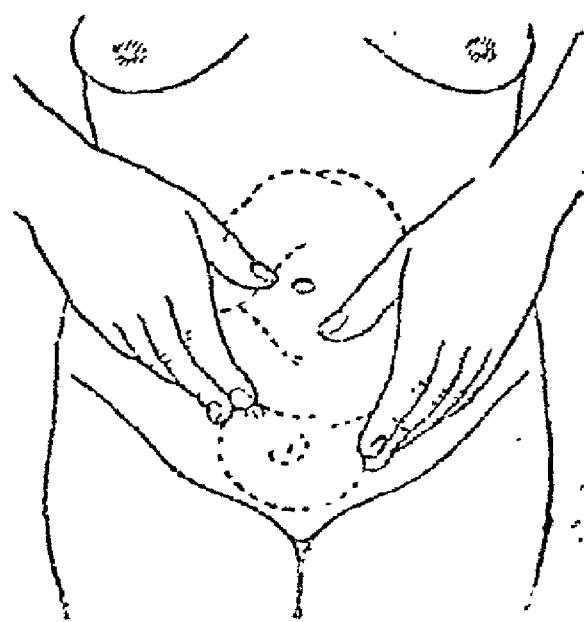
चित्र ३९ चित्र ४०

समय में उदर पर हाथ रखकर थोड़े थोड़े समय के अन्तर से अंगुलियों के सिरों को सहसा गड़ाना चाहिये। इससे गर्भ के अंगों का अनुभव करने में बड़ी सुगमता रहती है और श्रोणिकण्ठ प्राप्त भाग का ज्ञान किया जा सकता है। स्पर्शन परीक्षा के चार प्रकार हैं:—

(१) **प्रथम ग्रह** (1st or Fundal grip) गर्भाशय स्कन्ध का स्पर्श करो। बालक का कौन-सा भाग गर्भाशय के इस भाग में पड़ा है निर्णय करो। सामान्यतया इस ध्रुव में बालक का नितम्ब रहता है। नितम्ब का ज्ञान-गोल, चिकना और कठिन होने से (शिर की अपेक्षा कम) होता है। दूसरी बात यह होती है कि सिर के साथ पीठ का अनुभव भी उसी लगाव में हो जाता है—जिस प्रकार सिर और पीठ में गड्ढा होता है उस प्रकार का अनुभव यहाँ पर नहीं होता।

(२) **द्वितीय ग्रह** (2nd or Umbelical grip) इसमें गर्भाशय के पार्श्वों का स्पर्श करना होता है। माता की नाभि की समता में गर्भ का कौन-सा अंग है यह ज्ञात हो जाता है। सामान्यतया इस स्थान पर गर्भ की पीठ पड़ी रहती है—वह समान तथा धनुषाकार रूप में प्रतीत होता है। यदि कोई सन्देह हो तो नितम्ब को माता की पीठ की ओर दबाने से अथवा गर्भाशय को

एक ओर से दबाकर गर्भ को दूसरी ओर कर देने से, पीठ का झुकाव अधिक हो जाता है और वह सुगमता से स्पष्टतया अनुभव किया जा सकता है। पीठ के दूसरी ओर गर्भ की शाखाओं का अनुभव होता है, जो गाठों के रूप में मालूम होती हैं और हाथों के नीचे से फिसल जाती हैं और गर्भिणी के उदर में टकराती हुई अनुभूत होती है। गर्भ का हिलना डुलना नितम्ब का स्थान दर्शाता है। गर्भाशय में सावधानी से एक ओर से दूसरी ओर को अंगुलियों को गड़ाते ले जाने से गर्भ की कठोरता सुगमता से प्रतीत होती है और अवरोध का संतुलन किया जा सकता है। (Comparision of resistence)।

(३) **तृतीय ग्रह** (3rd or Pawlik'sgrip) गर्भाशय के अधोध्रुव का स्पर्शन। इसमें बालक का कौन-सा भाग है पहचानना चाहिये। वह भाग इधर उधर हिलाया जा सकता या नहीं अर्थात् स्थिर है या चल। गर्भाशय के निचले भाग को अपने हाथ के अंगूठे और अंगुलियों के बीच में पकड़ने का प्रयत्न करना चाहिये। इसमें दबाव धीरे धीरे डालना चाहिये अन्यथा उदरपेशियाँ कुंचित होकर अवरोध पैदा कर देती है। साधारणतया इस स्थान में भ्रूण का सिर होता है। यह नितम्ब की अपेक्षा छोटा, अधिक गोल, समपृष्ठ तथा अधिक कठोर होता है। जिसमें गर्भाशय में संकोचन न हो रहा हो, सिर को इधर उधर हिलाने की चेष्टा करना चाहिये। यदि सिर न हिल पावे तो समझना चाहिये (क) प्रथम गर्भा में, गर्भ का सिर श्रोणिगुहा के प्रवेश द्वार में स्थिर हो चुका है। (ख) बहुप्रसवा में प्रसव प्रारम्भ हो गया है। यदि सिर इधर उधर हिल सके तो देखना चाहिये कि किस ओर सिर अधिक उभरा है, क्योंकि उसी ओर ललाट होता है। सिर की आगे की पूरे झुकाव की अवस्था में यह उभार पीठ की विपरीत दिशा में होता है। यदि इधर उधर न हिल सके तो ललाट की स्थिति चतुर्थ ग्रह से ही मालूम होती है। तृतीय ग्रह से हम यह बता सकते हैं कि भ्रूण का सिर कितना झुका हुआ है और श्रोणिगुहा के प्रवेश द्वार (श्रोणिकण्ठ) के कितना ऊपर या नीचे है। यदि सिर नीचे को चला गया है तो इस परीक्षा में आप ग्रीवा को पकड़ पायेंगे। अतः अगली परीक्षा करनी चाहिये।

चतुर्थ ग्रह (4th or pelvic grip) यदि सिर नीचे है तो ललाट किस ओर है, और यदि प्रसव हो रहा है, तो बालक उदय होने वाला भाग कितना नीचे आ गया है। विधि की परीक्षा यह है कि गर्भिणी के मुख की ओर पीठ करके

खड़े हो जाओ, दोनों हाथों को गर्भाशय के नीचले भाग के आस पास रखो और उनको श्रोणिगुहा की ओर ले जाने का यत्न करो, जिस ओर ललाट होगा बाधा का अनुभव होगा, क्योंकि उस ओर ललाट का उभार होगा। इस परीक्षा से यह भी पता लग जायगा कि सिर श्रोणिगुहा में कितना नीचे चला गया है।

इस प्रकार उदर के स्पर्शन परीक्षा से स्थित, अवतरण, उदय तथा आसन मालूम हो जाते हैं—यह भी पता लग जाता है कि प्रसव प्रारम्भ हुआ है कि नहीं। यदि प्रसव का आरम्भ हो गया है तो किस अवस्था तक पहुँच गया है। परन्तु गर्भाशय मुख के आयाम का (कितना फैल चुका है) ज्ञान हो पायेगा सावारणतया स्वस्थ प्रसव में यह जानने की आवश्यकता भी नहीं रहती।

(३) **श्रवण परीक्षा** – दर्शन तथा स्पर्शन के अनन्तर श्रवण परीक्षा करनी चाहिये। इससे उपर्युक्त बातों का पूर्ण निश्चय हो जाता है। वास्तव में श्रवणयन्त्र से गर्भिणी के उदर पर दो कार के शब्द मिलते हैं—मातृमूलक तथा गर्भमूलक। मातृमूलक शब्दों में गर्भाशयध्वनि, गर्भिणी के हृच्छब्द, महाधमनीस्पन्दन, आन्त्रिकध्वनि (Intestinal sounds), श्वसनध्वनि घर्षणध्वनि (Friction), भग्नध्वनि या बुदबुदध्वनि (Crackling), पेशीध्वनि (Muscular susurrus) गर्भमूलक शब्दों में गर्भ हृच्छब्द, नालध्वनि, गर्भचेष्टनध्वनि।

यहाँ पर गर्भहृच्छब्द श्रवण का ही प्रसङ्ग है। वामपूर्वानुशीर्षासन (L. O. A.) में भ्रूण के हृदय की धड़कन वाम ओर नाभि तथा वामजघन पूर्वोर्ध्व कूट (Ant. sup. illiac spine) के बीच में सुनाई देती है। दक्षिणपूर्वानुशीर्षासन में (R. O. A.) दाहिनी ओर ऐसे ही स्थान पर सुनाई पड़ती है। पश्चिम अनुशीर्षासनों में पीछे कूल्हों में अर्थात सिर को झुकी हुई दशा में जिस ओर गर्भ की पीठ होती है उसी ओर हृच्छब्द सुनाई देता है। इस के विपरीत यदि सिर गर्भ के पीठ की ओर झुक गया हो, तो हृत्स्पंदन छाती की ओर सुनाई देता है। क्योंकि छाती आगे की उभरी हुई रहती है। नितम्बोदय में नाभि से ऊपर जिस ओर पीठ होगी उसी ओर हृच्छब्द सुनाई देगा। पार्श्वोदय में नाभि की समता में सुनाई पड़ेगा।

योनि परीक्षा (Vaginal exam.)—सामान्यतया स्वस्थ प्रसव में जानने योग्य सभी बातों की जानकारी चिकित्सक को उदर परीक्षा से प्राप्त हो जाती है। योनिपरीक्षा से माता और शिशु दोनों को हानि की सम्भावना रहती है—अतएव इसका प्रयोग नितान्त आवश्यक होने पर ही करना चाहिये। सभी जीवाणु

विरोधी चेतावनियों के साथ ही इस परीक्षा को काम में लाना चाहिये—विशेषतः प्रसव या गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में। कहने का तात्पर्य यह है कि इस विषय में बहुत सावधानी की आवश्यकता है ताकि किसी प्रकार से रोगोत्पादक कीटाणुओं का उपसर्ग योनिमार्ग से न पहुँच जाय। तथापि विषम प्रसवों में योनिपरीक्षा अवश्य करनी चाहिये।

योनिपरीक्षा प्रारम्भ करने के पूर्व चिकित्सक को अपने हाथों को विशुद्ध कर लेना चाहिये। इसके लिये कुछ मिनटों तक हाथों को साबुन एवं उष्ण जल से, नखों को काट कर ब्रश से रगड़ कर साफ करना चाहिये। फिर तीन मिनट तक पारद के विलयनों (Murcury perchloride or biniodide 1:1000 spirit के घोल) में हाथों को डुबो रखें और यदि सम्भव हो तो पानी में उबाला हुआ दास्ताना भी पहन लेना चाहिये। इसी प्रकार गर्भिणी के बाह्य जननेन्द्रियों को भी विशोधित कर लेना चाहिये। अब लघु भगोष्ठों को वाम हाथ के अंगुष्ठ तथा तर्जनी से पृथक् कर, दक्षिण हाथ की मध्यमा तथा तर्जनी अंगुलियों को प्रविष्ट करे। एक ही वार की योनिपरीक्षा से सभी आवश्यक वातों को मालूम कर लेना चाहिये; ताकि दूसरी वार फिर योनिपरीक्षा की आवश्यकता न पड़े।

प्रसव की दृष्टि से निम्नलिखित वातों का जानना आवश्यक है—

(१) गर्भाशय का मुख कितना खुल गया है—यदि उसमें एक अङ्गुलि प्रविष्ट हो सके तो एक अङ्गुल चौड़ा कहा जाता है, इसी प्रकार दो या तीन अङ्गुल चौड़ा। जब गर्भाशय के मुख का किनारा प्रतीत न हो सके, तो पाँच अङ्गुल चौड़ा और यदि प्रतीत हो तो चार अङ्गुल चौड़ा कहा जाता है।

(२) इसके पश्चात् उदय का निश्चय करना चाहिये। उदीयमान गर्भभाग की प्रकृति कैसी है, स्थिर है कि नहीं। इसका उल्लेख उदयों के विशेष विवरण के प्रसङ्ग में मिलेगा। (३) शीर्षोदय का निश्चय सीमन्तों और रन्ध्रों से होता है। (४) इसके बाद यह निश्चय करना चाहिये की मध्यसीमन्त श्रोणि के किस व्यास में है। (५) मध्यसीमन्त के एक सिरे से दूसरे सिरे अङ्गुली को ले जाकर दोनों रन्ध्रों के अवस्थिति का भी निश्चय कर लेना चाहिये।

(६) त्रिकास्थि के अन्दर के उभार को छूने की चेष्टा करे यदि स्पर्श हो सके तो श्रोणि को सङ्कुचित समझे। (७) देखना चाहिये की जरायु फट गई है या नहीं। नहीं फटी है तो किस रीति से निकल रही है। सङ्कुचित श्रोणि में यह

उँगली के तरह लम्बी होकर निकलती है। (८) श्रोणिगुहा में अर्बुद की उपस्थिति तो नहीं है। (९) गर्भ के उदय वाले भाग पर उपशीर्ष (Caput succedaneum) नामक शोफ तो नहीं है, जिसकी वजह से उदय का निर्णय कठिन हो जाता है। (१०) अयथास्थित अपरा कहीं ग्रीवा मुख के समीप तो नहीं है। (११) योनिपरीक्षा से यह भी पता लगाना चाहिये कि कहीं नाभिनाल, हाथ पैर आदि का अंश तो नहीं है।

जरायु के विदीर्ण होने के तत्काल बाद की योनिपरीक्षा अधिक सुविधा की होती है और उपरोक्त विषयों का विनिश्चय बड़ी आसानी से किया जा सकता है। अविदीर्ण जरायु में निर्णय अधिकतर आनुमानिक होता है, फलतः भ्रम भी हो सकता है।

आधार तथा प्रमाण संचय—

(१) तत्र तेजोधातु सर्ववर्णानां प्रभवः, स यदा गर्भोत्पत्तावब्धातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति, पृथिवी धातुप्रायः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम्। यादृग्वर्णमहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवति इत्येके भाषन्ते। (सु. शा. २)

(२) या तु स्त्री श्यामं, लोहिताक्षं, व्यूढोरस्कं महाबाहुञ्च पुत्रमाशासीत, या वा कृष्णं, कृष्णमृदु दीर्घ केशं, शुक्लाक्षं, शुक्लदन्तं, तेजस्विनमात्मवन्तं एष एवानयोरपि होमविधिः, किन्तु परिवर्हवर्ज्यं स्यात् पुत्रवर्णानुरूपस्तु यथाशीः परिवर्होऽन्य-कार्यः स्यात्। शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्याद्देवाग्निद्विजगुरुतपस्विसिद्धेभ्यो, या या यथाविधं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां पुत्राशिषमनुनिशम्य तांस्तान् जनपदान् मनसानुपरिक्रामयेत्, ताननुपरिक्रम्य या या येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तेषां जनपदानां आहारविहारोपचारपरिच्छदा ननु विधत्स्वेति वाच्या स्यात्। इत्येतत्सर्वं पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातो भवति। (च. शा. ८)

(३) तत्र शुक्रे शुक्ले घृतमण्डाभेवा गर्भस्य गौरत्वं, तैलाभे कृष्णत्वं, मध्वाभे श्यामत्वम्। तथा क्षीरादिमधुराणामुपयोगान्मातुरुदक्विहाराच्च गौरता, तिलाद्य विदारिकानां कृष्णता व्यमिश्राणां श्यामता। देशकालानुवृत्तितश्च वर्णभेदः। (अ. सं. शा. १)

(Midwifery by Johnstone, Anthropology & Idealbirth

(सुश्रुत हिन्दी टीका घाणेकर)

गर्भिणी प्रकरण

पहला अध्याय

गर्भकालीन विलक्षणता (विपरीवर्त्तन)

(Physical Changes of Pregnancy)

गर्भावस्था से सम्बद्ध लक्षण तथा चिह्न

(Signs and symptoms of pregnancy)

गर्भ स्थिति कोई विकार नहीं, प्रत्युत एक प्राकृतिक अवस्था है। कुछ स्त्रियाँ ऐसा कहा करती है कि वे गर्भावस्था में अपने को इतर अवस्थाओं से अधिक स्वस्थ अनुभव करती हैं—विशेषतः ऐसी औरतों में जिनको सन्तान की उत्कट अभिलाषा है उनके शारीरिक स्वास्थ्य के साथ ही साथ मनुस्तुष्टि और प्रसन्नता का भी अनुभव होता है और वे देखने में भी अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और प्रसन्न दिखलाई पड़ती हैं। इसके विपरीत कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ देखने को मिलेंगी जो गर्भावस्था में अपने को रुग्णा मानती है और उदास और उद्विग्न-सी रहती हैं—ऐसा अनुभव उन्हीं को होता है जो सन्तान के लिये अनिच्छुक हों या वातिक प्रकृति की (चिड़चिड़े स्वभाव) हों फलतः गर्भस्थिति का हृदय से स्वागत न करती हों।

प्रातः ग्लानि जो लगभग गर्भावस्था के छठवें सप्ताह के अन्त से शुरू होकर औसतन दो मास तक चलता रहता है; पचास प्रतिशत गर्भिणियों में मिलता है। गर्भिणी प्रातःकाल में जैसे ही बिस्तर पर से उठती है, उसको मिचली मालूम होती है और पित्तरञ्जित श्लेष्मा का वमन होता है। साधरणतया प्रातःकाल में एक बार वमन हो जाने के अनन्तर फिर दिन में दुबारा नहीं होता। बहुतों में मिचली या हल्लास दिन में कई बार होता है; कइयों में वमन प्रातःकाल में न होकर सायंकाल में होता है। जब तक सेवन किये हुए भोजन का वमन न होने लगे कोई आशङ्का नहीं रहती। परन्तु जब ऐसी स्थिति पहुँच जाय कि अन्न का भी वमन होने लगे, तो यह अवस्था वैकारिक हो जाती है और अतिशय वमन (Hyperemisis) का रूप ले लेती है।

अजीर्ण और आध्मान भी एक आम घटना है; परन्तु आवश्यभावी नहीं है। गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में जब कि गर्भाशय का भार आमाशय और आन्त्रों

पर पड़ने लगता है, इसकी अधिक सम्भावना रहती है। कई वार गर्भावस्था के प्रारम्भिक दिनों में ही आमाशय या आन्त्र का आध्मान बढ़ जाने से, गर्भिणी को उदर की अधिक वृद्धि का अनुभव होने लगता है। इससे कई वार स्त्री को काफी बढ़े हुए गर्भ की भ्रान्ति हो जाती है।

नियमतः क्षुधा ठीक रहती है; गर्भ के पोषण के लिये, बढ़ते हुए गर्भाशय के लिये तथा माता के विभिन्न भागों में मेद का सञ्चय कराने के लिये अधिक भोजन की आवश्यकता पड़ती है फलतः पचनसंस्थान को अधिक कार्यशील होना पड़ता है गले के जलने की शिकायत गर्भिणियों में बहुत मिलती है—क्षारप्रयोग से शान्ति मिलती है, कई वार ऐसा लवणाम्ल की कमी से भी होते देखा गया है; ऐसी स्थिति में हल्का लवणाम्ल पानी में विलयित कर देने से लाभ होता है। विबन्ध गर्भावस्था में बहुत मिलता है इसी के परिणामस्वरूप अर्श या शिरा कुटिलता (Varicoseveins) भी मिलता है।

जल के अवरोध के कारण गर्भावस्था में शरीर का भार बढ़ता है, यह गर्भाशय या गर्भ की वृद्धि से बिल्कुल स्वतन्त्र वृद्धि है। त्वचा के नीचे मेद का सञ्चय होने लगता है। गर्भावस्था में गर्भिणियों का औसत भार १५ सेर (२० पौण्ड) बढ़ जाता है यदि २० पौण्ड की भार वृद्धि गर्भावस्था में हुई हो, तो प्रसव के पूर्व के गर्भावस्था के अन्तिम एक सप्ताह या दस दिनों में २½ पौण्ड भार हानि होने की सम्भावना रहती है, प्रसव के समय में ११½ पौण्ड और प्रसवानन्तर प्रथम दस दिनों में ५ पौण्ड घटने की सम्भावना रहती है। गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में यदि अतिशय मात्रा में गर्भिणी का भार बढ़ने लगे तो जल अत्यधिक अवरोध होने के कारण शोथ एवं गर्भ विषमयता की सम्भावना रहती है।

हृदय और रक्तवहसंस्थान—हृदय बढ़ने लगता है—क्योंकि वाम निलय की दीवाल की परिपुष्टि (Hypertrophy) होने लगती है। स्वस्थ गर्भिणी में रक्तनिपीड प्राकृत होता है यदि रक्तनिपीड बढ़े तो गर्भकालीन विषमयता या किसी उपद्रव की आशङ्का रहती है। गर्भावस्था में रक्त में कई परिवर्त्तन मिलते हैं। श्वेत कायाणुओं की संख्या बढ़ जाती है और शोणित कायाणुओं की संख्या कम होने लगती है। रक्त की अवसादनगति बढ़ जाती है। रक्त का जलीय भाग बढ़ता, साथ ही उसका स्कन्दक (Fibrinogen) भी

बढ़ता है। फलतः रक्त में तीन अवस्थायें गर्भकाल में गर्भिणी में मिलती है तारल्य (Hydraemia), श्वेत कायाणुमयता तथा रक्ताल्पत्व । रक्त का परिमाण बढ़ जाता है क्योंकि उसे वर्धनशील गर्भाशय, गर्भ की आवश्यकता और स्तन की क्रियाशीलता का पूरण करना होता है। बहुत सी गर्भिणियों में विना किसी वृक्क विकार के अथवा शुक्लीमेह के, पाद और गुल्फ में शोफ दिखलाई पड़ता है—ऐसा केवल रक्त के जलीय भाग के बढ़ने के परिणाम स्वरूप ही होता है।

गर्भावस्था में हृदय के धड़कने (हृद्द्रव) की व्यथा प्रायः मिलती है। कुछ तो पचनसंस्थान की गडबड़ी से होता है और कुछ गर्भावस्था के विशेषतः अन्तिम दिनों में बढ़े हुए गर्भाशय के ऊपर की ओर के उरोगुहा के मर्माङ्गों पर पड़ने वाले भार के कारण होता है।

मूत्र—गर्भावस्था में मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। ऐसा दो कारणों से होता है, १. रक्त के तारल्य की अधिकता २. वृक्कगत रक्त सञ्चार का आधिक्य।

केवल मूत्र की मात्रा में ही अधिकता नहीं रहती; बल्कि मूत्र त्याग करने की संख्या भी बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति गर्भ के प्रारम्भिक या अन्तिम अवस्थाओं में मिलती है इसका समाधान भौतिक है। प्रारम्भिक दिनों में गर्भाशय बढ़ता रहता है और उसका भार मूत्राशय पर पड़ता है, जिससे मूत्रत्याग करने की इच्छा वार वार होती रहती है। इसी प्रकार गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में जब गर्भ का सिर नीचे आ जाता है उसका भार वस्ति पर पड़ता है, फलतः गर्भिणी को अधिक वार मूत्रत्याग करने जाना होता है। मूत्र में शुक्ली की उपस्थिति वृक्कशोथ या गर्भकालीन विषमयता का सूचक होता है मूत्र में शर्करा की उपस्थिति भी वैकारिक ही होती है। गर्भिणी के मूत्र में त्याज्य पदार्थों (Nitrogenous products) की कमी होती है। यह प्रायः प्रकृत होता है; परन्तु अतिशय कमी गर्भाक्षेपक और विषमयता प्रकृति विकारों को पैदा करता है।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ—आर्त्तवदर्शन के आरम्भ से ही लेकर, ऋतु संजनन रस (Oestrogenic hormore) का मूत्र में उत्सर्जन होने लगता है, क्रमशः बढ़ता हुआ प्रसव के समय तक पहुँचते पहुँचते अतिशय मात्रा में त्यक्त होता है। 'ईस्ट्रोन' और 'इस्ट्रियोल' (Oestriol) जो स्वतन्त्र एवं सक्रिय होते

हैं, गर्भावस्था (के अन्तिम सप्ताहों) में, प्रसव के पूर्व मिलते हैं, साथ ही साथ कुछ निष्क्रिय स्राव भी निकलते हैं, परन्तु इनकी मात्रा अल्प होती है। ऋतु संजनन रसों के उत्पादक पीतपिण्ड और अपरा नामक रचनायें हैं : क्षेत्र सञ्जनन रस (Progesterone) अन्तिम स्राव जो पीतपिण्ड और अपरा से उद्रेचित होता है, जो 'प्रीगॅनेडियाल' कहलाता है—प्रसव के पूर्व के कुछ सप्ताहों में बढ़ती हुई मात्रा में उत्सर्जित होता है। 'बीजानुगुण रस' (Gonado-tropic harmone) गर्भावस्था के पूरे काल में उत्सर्जित होता रहता है। इसकी मात्रा आरम्भिक दिनों में अधिक रहती है और अपरा से उद्रेचित होता है।

त्वचा—गर्भावस्था में त्वचा में भी परिवर्त्तन होते हैं। उदर की त्वचा पर तनाव पड़ने की वजह से किक्किस (Striãe gravidorum) बन जाते हैं, त्वचा के विभिन्न स्थलों पर रञ्जकद्रव्या का संचय होकर काले दाग बन जाते हैं; त्वचा में पाई जाने वाली स्वेद और स्नेहग्रंथियां की क्रिया बढ जाती है। किक्किस नाभि को केन्द्र करके वृत्ताकाररूप में फैलते हैं और भगसन्धानिका तक पहुंचते हैं। पहले तो ये रेखायें गुलाबी रंग की होती हैं, परन्तु अन्त में श्वेतवर्ण में परिणत हो जाती हैं। प्रथम गर्भ के बाद, द्वितीय स्थिति में किक्किस रंजित हो जाते हैं। कुछ औरतों में ये किक्किस अनुपस्थित भी रहते हैं। किक्किस गर्भ के अतिरिक्त दूसरी अवस्थाओं में भी मिल सकते हैं जैसे जलोदर, बीजग्रन्थि के अर्बुद (Cyst) अथवा अतिशय मेदुर उदरों में जिनमें उदर की त्वचा पर खिचाव पड़ता है अत एव किक्किसों की उपस्थिति, भूतकालीन गर्भ की तो स्थिर निश्चिति करा देती है, परन्तु गर्भावस्था के निदान में पूर्णतया प्रमाणरूप में नहीं ली जा सकती।

त्वचा का रञ्जन चुचुक और कृष्ण चुचूक पर नाभि से भगसन्धानिका (वर्णराजि (Linea niagra) तक, कभी कभी चहरे पर विशेषतः ललाट पर, नासा और ओष्ठ के पार्श्वों पर पाया जाता है। विभिन्न स्त्रियों में रंजन की मात्रा विभिन्न होती है, सबसे अधिक रंजन काले रंगों की केशों वाली स्त्रियों में होता है। गर्भावस्था के समाप्त हो जाने के बाद, उदर का रंजन और चुचूक का परिवर्त्तन कृष्णवर्णा स्त्रियों में अधिक दिनों तक बना रहता है। गर्भावस्था के पश्चात् काल के सप्ताहों में नाभि सपाट हो जाती है, या उभरी भी मिल सकती है।

गर्भाधान के परिणामस्वरूप माता के अंगों में होनेवाले परिवर्त्तन—

गर्भाशय-परिवर्तन
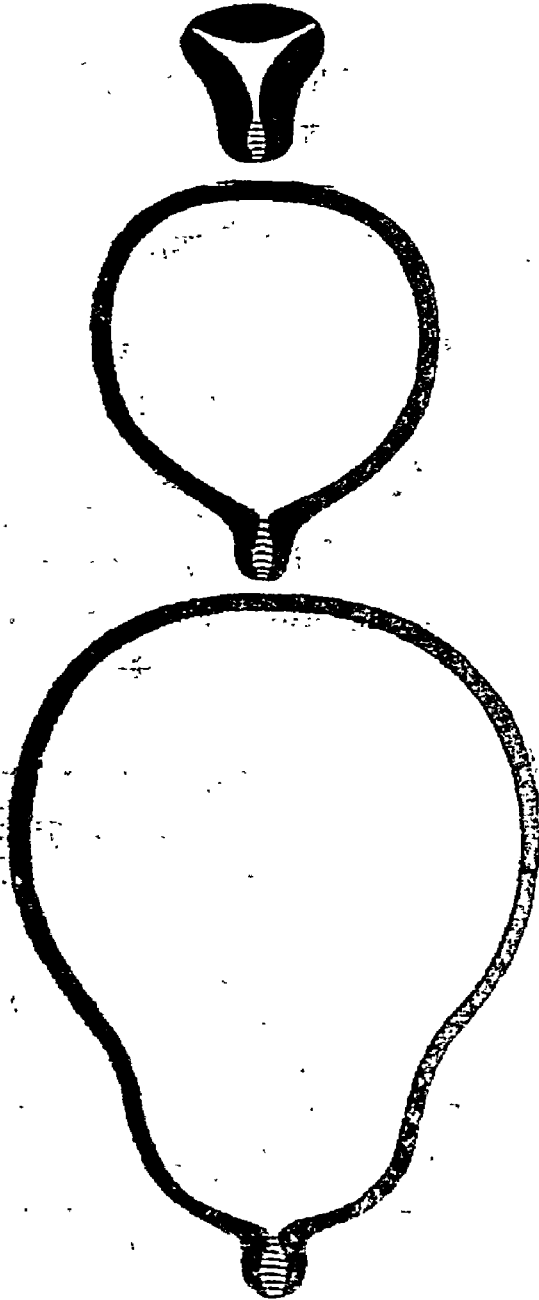
चित्र ४१

गर्भाशय—वर्द्धिष्णु गर्भ के धारण के लिये गर्भाशय भी गर्भ सदृश ही बढ़ता है। इसी के साथ साथ गर्भिणी के उदर की भी वृद्धि होती है। गर्भाधान के प्रारम्भ में गर्भाशय का माप बाहर से ३ × २ × १" इञ्च (७½ × ५ × २½ से. मी.) और एक स्वल्प अवकाश का उसके भीतर कोष्ठ होता है। गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में इसका माप १२ × ९ × ८" (३० × २२½ × २० से॰ मी॰) हो जाता है और इसकी धारण क्षमता (Capacity) पाँच सौ गुनी बढ़ जाती है। इसका भार भी जहाँ प्रारम्भ में डेढ़ औंस का होता है, बढ़कर ४५ औंस तक हो जाता है। इस वृद्धि में गर्भाशय के सभी अवयव भाग लेते हैं इसके तीनों स्तर परिवेष्टकावृति (Serous), पेशिकावृति (Muscular), श्लैष्मिकावृति (Mucous), रक्तवाहिनियाँ, नाड़ियाँ तथा रसवाहिनियाँ। श्लैष्मिकावृति के परिवर्त्तनों का पूर्व में व्याख्यान हो चुका है।

पेशिकावृति की वृद्धि दो प्रकार से होती है-एक तो विद्यमान पेशी सूत्रों का अधिक लम्बा और मोटा हो जाना और दूसरा नये पेशी सूत्रों

का बनना (आविर्भाव)। विद्यमान पेशी सूत्रों की लम्बाई दसगुनी और मोटाई पाँचगुनी इस वृद्धि में हो जाती है। इस वृद्धि के परिणामस्वरूप गर्भाशय का मांस धातु कई स्तरों में विभजित हो जाता है:—

बाह्यस्तर—सूत्रों का पतला जाल जो ऊपरी पृष्ठ पर पाया जाता है और विभिन्न दिशाओं में जाता है, विभिन्न बन्धनों से सम्बद्ध रहता है।

अन्तस्तर—१. बाहर वाला स्तर जिसके सूत्र अधिकतर अनुलम्ब गमन करते हैं और गर्भाशय ग्रीवा से स्कन्ध (Fundus) की ओर जाते हैं पुनः ग्रीवा में ही पीछे की ओर आकर समाप्त हो जाते हैं।

२. बीच वाले स्तर के पेशी सूत्र भी एक दूसरे को वार पार करते हुए चलते हैं और सभी दिशाओं में जाते हैं। इसके कई सूत्र अंक चार के आकार में भी गमन करते मिलते हैं-विशेषतः किसी टेढ़ी मेढ़ी रचना की रक्तवाहिनी के घेरते हुए इस रूप में (Figure of eight) मिलते हैं। गर्भाशय की स्थूलता का सबसे अधिक भाग इसी स्तर का होता है। इसी मोटाई के कारण इस स्तर का नाम ही 'जीवित बन्ध' (Living ligature). पड़ गया है। जब प्रसव के बाद अपरा का पतन हो जाता है तो यह स्तर वहाँ के रक्तवाहिनियों को रुद्ध कर देता है, जिससे रक्त स्राव नहीं होने पाता।

३. अन्तस्तर में मास सूत्रों का एक तीसरा भीतरी स्तर भी पाया जाता है। इस पर्त्त के सूत्र गोलाकार के होते हैं, सबसे अधिक व्यक्त बीजवाहिनी के मुख, गर्भाशय द्वार (Internal os) पर रहते हैं और यहाँ पर ये संकोचन का काम करते हैं।

रक्तवाहिनियाँ—रक्तवाहिनियाँ लम्बी और मोटी होती चलती है, अधिकाधिक टेढ़ी मेढ़ी और अनियमित होती चलती हैं—खास करके वे वाहिनियाँ जो अपरावाले भाग का पूरण करती हैं। यह ऐसा स्थान है जहाँ पर अपरा के पतन के बाद पेशीसूत्रों के संकोचन के कारण; प्रसव के अन्त में, रक्त-स्राव रुद्ध हो जाता है। विशेषतः अपरा क्षेत्र की शिरायें अधिक बढ़ती हैं, जो अन्तः में विस्तृत अपरा शिराकुल्या का रूप ले लेती हैं।

लसीका वाहिनियाँ—गर्भाशय की लसवाहिनियाँ गर्भावस्था में अतिशय वृद्धि को प्राप्त करती हैं जो सूतिका काल में अपना सक्रिय कार्य आरम्भ कर देती

है। इस वृद्धि में, पक्ष बन्धनिका संग्रह कोष्ठ का बहुत बड़ा हाथ रहता है। इन्हीं कारणों से सूतिका काल में पहुंचा हुआ उपसर्ग बड़ा हानिप्रद होता है।

नाड़ियाँ—ये भी आकार तथा संख्या में बढ़ती हैं। ऐसा मानते हैं ग्रैवेयक गण्ड (Cervical ganglion) बढ़ कर अपने दुगुने परिमाण का हो जाता है। नाड़ियों की क्रियाशीलता भी बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप गर्भाशय भी प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं के अनुसार कार्य करने में पूर्ण समर्थ हो जाता है।

गर्भस्थिति के प्रथम तीन या चार महीनों में गर्भाशय अपने विद्यमान धातुओं की वृद्धि के बदौलत बढ़ता है और इसकी दीवाल काफी मोटी हो जाती है। इसके अनन्तर इसकी वृद्धि, वर्धनशील गर्भवीज (Ovum) की आयाम वृद्धि के कारण होती है, फलतः गर्भाशय की दीवाल क्रमशः पतली होती चलती है। पूर्ण गर्भ हो जाने पर गर्भाशय के दीवाल की मोटाई चौथाई इञ्च की ही रह जाती है। जैसे जैसे गर्भाशय बढ़ता चलता है इसकी स्वाभाविक कठिनता कम होती जाती है और अन्त में यह मृदु और स्थितिस्थापक गुण-धर्म वाला हो जाता है। गर्भकाल के अन्तिमार्ध में इसको आसानी से स्पर्श लभ्य (Palpated) किया जा सकता है। गर्भ की वृद्धि के साथ साथ इसका आकार भी परिवर्तित होता चलता है जहाँ वह पहले स्वभावतया लम्बगोल (Pyriform) बनावट का रहता है, बदल कर गोलाकार हो जाता है; पुनः चौथे माससे यह अण्डाकार रूप ले लेता है और ऊपर की ओर उदर में चला आता है।

विभिन्न मासों में गर्भाशय का परिमाण—व्यक्तिभेद से परिमाण में विभिन्नता हो सकती है, तथापि एक सामान्यरीति से उदर और गर्भाशय की वृद्धि गर्भकाल में होती चलती है। स्थिति के द्वितीय मास के अन्त में गर्भाशय हंस के अण्डे के परिमाण का होता है। तीसरे मास के अन्त में इसका परिमाण एक बड़े सन्तरे का होता है और इसके ऊपरी किनारे को भगसन्धानिका के ऊपर स्पर्शनपरीक्षा से अनुभव कर सकते हैं। चौथे मास के अन्त में यह श्रोणि-कण्ठ के ऊपर आ जाता है और उदर की सामने वाली दीवाल का सम्पर्क प्राप्त कर लेता है। गर्भाशय स्कन्ध (Fundus), भगसन्धानिका से लगभग चार इञ्च ऊपर की रेखा में आ जाता है। पाँचवें मास के अन्त में स्कन्ध नाभि के एक अंगुल (चौड़ाई में) नीचे आ जाता है और छठवें मास के अन्त में नाभि के ठीक

ऊपर तक पहुँच जाता है। सातवें, आठवें और नवम मास में यह क्रमशः नाभि के ऊपर दो अंगुल प्रतिमास की गति से वृद्धि करता हुआ चलता है जब तक कि नौवें महीने के अन्त में वह अग्रपत्र (Ensiform cartilage) तक नहीं पहुँच जाता। दसवें महीने में या गर्भावस्था के अन्तिम दो सप्ताहों में वह फिर नीचे को गिरता है और कौड़ीप्रदेश (Xiphisternum) के दो अंगुल नीचे तक पहुंच जाता है।

प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में इस नीचे गिरने की प्रक्रिया को 'कुक्षिका अवस्रंसन' कहा है। यह आसन्न प्रसवा का लक्षण है। इस में गुर्विणी को अधोभाग में गुरुता का अनुभव होता है। साथ ही उनके वक्ष पर भार हटा सा ज्ञात होने लगता है। वे ऐसा अनुभव करती हैं मानो उनके बन्धन शिथिल हो गये और कसावट दूर हो गई।
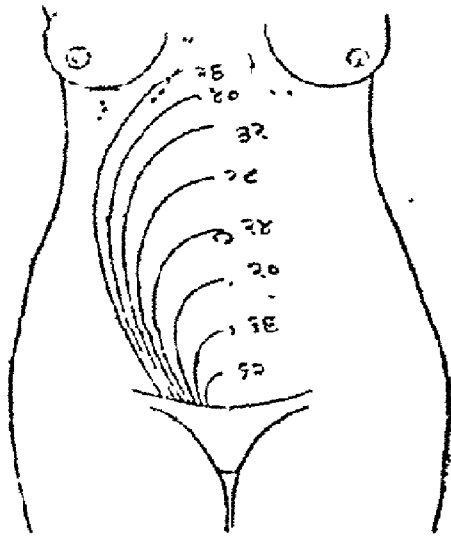
गर्भाशय की मासानुमासिक वृद्धि

चित्र ४२

गर्भाशय ग्रीवा—यद्यपि वृद्धि केवल गर्भाशय गात्र तक ही सीमित रहती है; तथापि थोड़ी मोटी ग्रीवा तन्तुओं की कुछ परिपुष्टि (Hypertrophy) मिलती है। इस भाग का प्रधान परिवर्त्तन रक्तवाहिनियों से सम्बन्धित है जिसमें रक्तवाहिनियाँ अतिशय वृद्धि को प्राप्त होकर मोटी, लम्बी और शाखाओं में विभाजित होती चली जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप क्रमशः गर्भाशय ग्रीवा की अधिकाधिक मृदु होती जाती है। ग्रन्थियों के साथ में वृद्धि होती है जिससे श्लेष्मा का एक गाढ़ा डाट (Plug) बन जाता है, जो नलिका गर्भकाल में अवरुद्ध किये रहता है इसे श्लेष्मार्गलिका (Operculum) कहते हैं। इस मार्दव (Softening) का आरम्भ पहले गर्भाशय के बहिर्द्वार से होता है और ऊपर एवं बाहर की ओर फैलता चला जाता है और अन्त में पूरी ग्रीवा में व्याप्त हो जाता है। स्पर्श में गर्भहीन गर्भाशय ग्रीवा की मृदुता नासाग्र सदृश होती है, वही गर्भावस्था में ओष्ठाग्र की मृदुता सदृश हो जाती है। इस मार्दव और स्थौल्य के परिणामस्वरूप तीसरे

मास से ग्रीवा छोटी (Apparent strortening) हो जाती है। वास्तव में ग्रीवा नलिका मापने से लम्बाई में छोटी नहीं होती, बल्कि उसका योनिगत भाग परीक्षक की अंगुलियों से छोटा मालूम देता है (Becomes less prominent)। इस भ्रान्ति के दो कारण हैं १. योनि नलिका के दीवालों के मोटी शिथिल और मृदु होने की वजह से, गर्भाशयकोण (Fornicess) भरे रहते हैं २. तथा गर्भाशय अधिकांश आगे की ओर झुका रहता है। इसके अतिरिक्त यह भी हो सकता है कि बढ़ता हुआ गर्भाशय का गात्र ग्रीवा को ऊपर की ओर खींचे रहता है। इन कारणों से ग्रीवा की सम्यक् प्रतीति नहीं हो पाती है और स्पर्श में छोटा भासता है।

बीजग्रन्थि तथा बीजवाहिनी—इन अंगों में जो भी रक्तातिसंचार और आयतन की वृद्धि गर्भावस्था में होती है। एक ओर की बीजग्रन्थि की वृद्धि गर्भकालीन पीतपिण्ड की उपस्थिति से अधिक हो जाती है। चूंकि गर्भाशय ऊंचा उठकर उदर गुहा में चला जाता है, इसलिये बीजवाहिनी और बीजग्रन्थि दोनों के ऊपर की ओर खींच जाने से ये गर्भाशय के पार्श्व लम्बवत् हो जाते हैं। इनकी लम्बाई का बढ़ना या अनुलम्ब (Vertical) होना, पक्ष बन्धनिका (Broad ligament) के चौड़े हो जाने से ही सम्भव होता है। गर्भाशय के स्कन्ध भाग के बढ़ने और विस्तृत होने के कारण बीजवाहिनी का संयोग स्थल उसके ऊपरी किनारे से अपेक्षाकृत अधिक दूर पड़ जाता है। यहाँ तक कि पूर्ण गर्भ की दशा में (गर्भकाल के अन्त में) यह संयोगस्थल (लगाव) गर्भाशय के एक तृतीयांश नीचे को चला जाता है।

योनि—रक्तसंचार की अधिकता से योनिगत स्राव भी बढ़ जाता है। योनि प्राचीर का वर्ण अधिक काला पड़ जाता है, उसका नीलिमा लिये हुए काला वर्ण हो जाता है। प्राचीर की विशेषतः अधोभाग की शिरायें मोटी और कुटिल (Varicose) हो जाती हैं फलतः स्पर्श में खरता आ जाती है। योनिप्राचीरों की वास्तव में स्वल्प परिपुष्टि होती है इस पुष्टि की अधिक व्यक्ति उत्तानस्तरिकाधर अंकुरों (Subepithelial papillae) में होती है। कभी कभी इनमें इतनी अधिक बढ़ती हो जाती है कि पृष्ठ के ऊपर निकली सी भासती है और योनिप्राचीर का अनुभव स्पर्श में वत्सजिह्वा (बछड़े की जीभ) के सदृश होने लगता है।

योनिगत स्राव में रक्तवारि, योनि के उत्तान कलास्तरिका के कोषाणु, परिपुष्ट गर्भाशय ग्रीवा की ग्रन्थियों के उद्रेचन तथा योनि की ग्रन्थियों का अपना स्राव सभी मिलकर आते हैं। अतः इस स्राव की मात्रा बहुत अधिक हो जाती है। प्रतिक्रिया में यह स्राव अम्ल होता है—परिणामस्वरूप किसी प्रकार के उपसर्ग से गर्भ की रक्षा करता है।

स्तन—गर्भाधान के साथ ही साथ स्तन भी अपने वास्तविक कार्य (दूध बनाना या स्तन्यजनन) में समर्थ होने की तैयारी में लग जाता है। गर्भ के प्रारम्भ से ही यहाँ तक कि दूसरे या तीसरे सप्ताह में गर्भिणी को कुछ तोद, चुमचुमायन का अनुभव इस अंग पर होने लगता है। दूसरे मास में कुछ भार का अनुभव होने लगता है और दूसरे के देखने में भी स्तन का आयाम कुछ बढ़ा दीखता है। इसी समय स्तन के तन्तु कुछ कठोर और गांठदार होने लगते हैं। प्रकृतावस्था में आर्त्तवकाल में ही स्वस्थ स्त्रियों में स्तन कुछ कड़ा, बढ़ा हुआ और भारी सा लगता है, यदि गर्भस्थिति हो जाती है तो यही लक्षण रह जाते और क्रमशः बढ़ने लगते हैं। स्तनगत यह परिवर्त्तन चैत्रसंजनन स्राव (Progesterone) के प्रभाव से होता है जिसके परिणामस्वरूप स्तन-गत रक्तसंचरण बढ़ जाता और वहाँ की स्तनग्रन्थियाँ अधिक कार्यशील हो जाती हैं। स्तन का आयाम बढ़ जाता है। इस आयाम की वृद्धि के तीन कारण हैं—१. रक्तसंचार की अधिकता, १. दुग्ध-ग्रन्थियों की अतिशय वृद्धि, ३. सौत्रिक धातु और मेद का अधिकाधिक बढ़ना।

स्तन की वृद्धि के साथ ही चुचूक भी बढ़ता है और प्रहर्षयुक्त (Erectile) और कृष्णवर्ण का हो जाता है। लगभग चौथे या पाँचवें मास से उससे एक पतला स्निग्ध द्रव दबाकर निकाला जा सकता है। इसके कुछ बून्द ही निकलते हैं, इन्हें पीयूष (Colostrum) कहते हैं। यह आरम्भ में तो पतला एवं स्वल्प होता है; परन्तु गर्भकाल के उत्तर भाग गाढ़ा, पीतवर्ण का और काफी मात्रा में निकलने वाला होता है। इस पीयूष में जल, मेद, शुक्ति, लवण और पीयूष द्रव्य (Colostrum corpuscles) रहते हैं। तीसरे मास में स्तनमण्डल में, (Areola) चूचुक के चारों ओर रंजक द्रव्य संचित होने लगते है। जिसका उल्लेख हो चुका है। ठीक इसी समय पर स्तन पिडिकायें (Mammary tube-rcle) निकलने लगती हैं। स्तनमण्डल में इनका उद्भव पूतिग्रन्थियों (Saba-

ceous glands) के बड़े और विवृत हुए मुखों से होता है। ये कपिलवर्ण के उठे हुए धान्यकण सदृश उभार विन्दु हैं जो संख्या में पन्द्रह से वीस तक होते हैं। गर्भ के पञ्चम और षष्ठमास में प्रायः स्तनमण्डल के चारों तरफ एक एक उपमण्डल (Secondary areola) भी वन जाता है-जो प्राथमिक स्तनमण्डल के वाहर की ओर वनता है और अधिकतर कृष्णवर्णा स्त्रियों में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है अन्यथा वड़ा ही अस्पष्ट रहता है। स्तन की शिरायें विस्फारित होकर अधिक व्यक्त हो जाती हैं और नील कृष्णवर्ण की रेखाओं जैसे दिखलाई पड़ती हैं। स्तन की त्वचा के नीचे स्पष्ट दौड़ती दिखलाई पड़ती है। स्तन की त्वचा भी तनाव पड़ने के कारण, उदर जैसे ही यहाँ पर भी किक्किस रेखायें पड़ती हैं।

आयुर्वेद ग्रन्थों में भी स्तनगत इन परिवर्त्तनों का उल्लेख मिलता है—जैसे १. सुश्रुतसंहिता में वताया गया है कि 'स्तनों का मुख भाग अर्थात् ऊपरी हिस्सा गर्भकाल में काला हो जाता है' चरकसंहिता में भी इसी वात को इस प्रकार से कहते हैं—'गर्भिणी के ओष्ठ और दोनों स्तनमण्डलों में कृष्णता आ जाती है।' (च. शा. ४) सुश्रुत ने इस वात को कारण के साथ वतलाया है कि 'इसी कारण से गर्भिणी स्त्रियां स्थूल और ऊँची स्तनों वाली हो जाती हैं।'

गर्भाधान के पूर्वकाल में कन्याओं के स्तन के वीच में रहने वाली धमनियों का द्वार वन्द रहता है पर जव गर्भाधान हो जाता है उसके वाद धमनियों का वह द्वार अपने आप खुल जाता है। उसके लिए किसी उपचार आदि की आवश्यकता नहीं पड़ती वल्कि यह उनका (धमनियों का) स्वभाव ही है।

जननाङ्गों के अतिरिक्त शरीर कई अन्य भागों में गर्भकाल में परिवर्त्तन होते हैं जैसे—त्वचा, रक्त, रक्तवहसंस्थान, अन्तःस्रावी ग्रन्थि, वृक्क और मूत्राशय, पचन-संस्थान (समापवर्त्तसम्वन्धि), फुफ्फुस, तथा नाड़ी-संस्थान प्रभृति अंगों में। इनमें त्वचा, रक्त, रक्तवहनसंस्थान, अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ, वृक्क, मूत्राशय, पचन प्रभृति संस्थानों का संक्षेप में दिग्दर्शन हो चुका है। अव अवशिष्ट को तीन अवयवों के परिवर्त्तनों का उल्लेख से इस प्रसंग को समाप्त किया जायगा।

फुफ्फुस—गर्भावस्था में उदरप्राचीरा (Diaphragm) के ऊपर उठने से उसे गुहा की गहराई कम हो जाती है और उसी के अनुपात में चौड़ाई वढ़ जाती है। 'कार्वोनिक अम्ल' के त्याग या वाहर फेंकने की मात्रा, गर्भ के समापवर्त्त से

सम्बन्ध होने के कारण बहुत बढ़ जाती है। परन्तु उसी के अनुपात में प्राणवायु (O_2) के भीतर में ग्रहण करने की मात्रा बढ़ती है कि नहीं यह सन्देहास्पद विषय है। क्योंकि अब तक यह प्रमाणित नहीं हो पाया है कि गर्भावस्था में प्राणवायु के ग्रहण की मात्रा बढ़ जाती है।

नाडी-संस्थान—वातसंस्थान की उत्तेजना, प्रातः ग्लानि, मुख से लालास्राव, वातिक वेदनायें, अभक्ष्य खाने की इच्छा स्वभाव का चिड़चिड़ापन, प्रभृति लक्षण मानसिक परिवर्त्तन के कारण गर्भिणियों में मिलते हैं। 'विविध प्रकार की श्रद्धायें' इच्छायें उत्पन्न होती हैं।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में ऊपर के लिखे अध्याय के दोनों विषयों का गर्भावस्था से सम्बद्ध लक्षण तथा चिह्न एवं गर्भावस्थाजन्य होने वाले गर्भिणी के जनन और जननेतर अंगों की विलक्षणताओं का सूत्ररूप में वर्णन पाया जाता है। नीचे में पाठकों की जिज्ञासा के लिये इन सूत्रों का संग्रह किया जा रहा है:—

प्राचीनों ने सद्योनुगत गर्भ तथा पर्यागत गर्भभेद से दो प्रकार के लक्षण गिनाये हैं-

१. 'सद्योगृहीत गर्भा स्त्री में ये चिह्न मिलते हैं श्रम (थकान), ग्लानि, प्यास, जाँघे थकी हुई, शुक्र एवं शोणित का न निकलना तथा योनि का स्फुरण होना।'

२. 'थूकने की इच्छा, भारीपन, अंगों की थकावट, रोमहर्ष, हृदय में असुख का अनुभव होना, तृप्ति, योनिबीज का ग्रहण होना ये लक्षण तत्काल ही गर्भधारण की हुई स्त्री में मिलते हैं।'

३. 'योनि में बीज का संग्रह, तृप्ति होना, भारीपन, स्फुरण होना, शुक्र का आर्त्तव स्थान में स्थित होना, हृदयकम्प, तन्द्रा, दृष्टिमांद्य, रोमांच, रजःस्राव का न होना, नेत्रों के पलकों का बार बार खुलना और मिचना सभी लक्षण गर्भधारण की हुई स्त्री में मिलते हैं।'

४. 'गर्भ के सर्वतो भाव से आ जाने पर (पर्यागते) इस प्रकार के लक्षण तथा चिह्न मिलते हैं आर्त्तव का न दिखलाई पड़ना, अन्न की अभिलाषा न होना, वमन, अरुचि, विशेषतः खटाई खाने की इच्छा होना, भले बुरे, ऊँचे, नीचे पदार्थों की चाह होना, शरीर में गुरुता आना, नेत्रों में कुछ असुख (ग्लानि) होना, स्तनों में दूध की उपस्थिति, ओष्ठ तथा स्तनमण्डलों की नीलिमा का बढ़ना, पैर पर हल्का शोथ होना, लोमराजियों (Striagravidorum) का निकलना और योनि का विवृत होना।'

५. 'बिना कारण के वमन और सुगन्ध का बुरा लगना (या एक प्रकार के गन्ध से उद्विग्न रहना) अधिक मात्रा में लालास्राव और थकावट का होना गर्भवती में पाया जाता है।'

६. 'क्षमता, गरिमा मूर्च्छा, छर्दि, अरुचि, जृम्भा, प्रसेक, सदन, रोमराजियों का प्रकट होना, अम्ल की इच्छा, स्तनों और कपोलों का मोटा होना, चूचुकों का कृष्णवर्ण का होना, पादशोफ, अन्न का विदाह, विविध प्रकार की श्रद्धायें होती हैं।

आधार तथा प्रमाण सञ्चय—

१. तत्र सद्यो गृहीतगर्भायाः लिङ्गानि—श्रमो, ग्लानिः, पिपासा, सक्थिसदनं, शुक्रशोणितयोरवन्धः, स्फुरणञ्च योनेः। (सु. शा. ३)

२. निष्ठीविकागौरवमङ्गसादतन्द्राप्रहर्षौ हृदयव्यथा च
तृप्तिश्च वीजग्रहणं च योन्यां गर्भस्य सद्योनुगतस्यलिङ्गम्। (च. शा. २)

३. लिङ्गं तु सद्योगर्भाया योन्यां वीजस्य संग्रहः
तृप्तिगुरुत्वं स्फुरणं शुक्रस्थानानुवर्त्तनम्।
हृदय स्पन्दनं तन्द्रा तृग्ग्लानिर्लोमहर्षणम्
ततः परं गर्भचिह्नं पुष्पाभावोऽक्षिपक्ष्मणाम्। (र. रत्नाकर)

३. आर्त्तवादर्शनमनन्नाभिलाष छर्दिररोचकोऽम्लकामता च विशेषण, श्रद्धा-प्रणयनमुच्चावचेषु भावेषु, गुरुगात्रत्वम्, चक्षुषोर्ग्लानिः स्तनयोः स्तन्यम् ओष्ठस्तन-मण्डलयोश्च कार्ष्ण्यमत्यर्थम्, श्वयथुः पादयोरीषल्लोमराज्युद्गमः योन्याश्चटालत्व-मिति गर्भे पर्यागते रूपाणि भवन्ति। (च. शा. ४)

स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा ॥
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः सम्मील्यन्ते विशेषतः।
अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात्।
प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते। (सु. शा० ३)
......................तत्र व्यक्तस्य लक्षणम्।

क्षामता गरिमा कुक्षौ मूर्च्छाच्छर्दिररोचकः ॥
जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम्।
आम्लेष्टता स्तनौ पीनौ सस्तन्यौ कृष्णचूचुकौ।
पादशोफो विदाहोऽन्ने श्रद्धाश्च विविधात्मिका ॥ (वा. शा. १)

(Midwifery by Ten Teachers, Johnstone & Shaw.)

दूसरा अध्याय

गर्भविनिश्चय (Diagnosis of Pregnancy)

गर्भ स्थिति का निर्णय करना, गर्भ-गत लक्षण एवं चिह्नों के ज्ञान पर निर्भर करता है। गर्भ का स्थिर निश्चय करना जितना गर्भावस्था के उत्तर काल में सरल होता है, उतना प्रारम्भ के दो, तीन मासों में नहीं होता। पूर्णतया ठीक निर्णय देना प्रायः असम्भव-सा ही रहता है। प्रारम्भिक काल में गर्भ के निश्चय के लिये प्राणिशास्त्र सम्बन्धी परीक्षायें अधिक प्रामाणिक मानी जाती हैं; परन्तु सर्वत्र एवं सदैव ये प्राप्य नहीं होतीं। दुर्भाग्यवशतः एक चिकित्सक के लिये गर्भ का निर्णय देना प्रारम्भिक दिनों में ही आवश्यक होता है। अतएव गर्भ का निर्णय करने के लिये विशेष प्रकार लक्षण एवं चिह्नों पर ही आश्रित रहना पड़ता है—जिनमें एकैक का पृथक्-पृथक् कोई महत्व नहीं क्योंकि जब तक कई लक्षण और चिह्न समुदाय रूप में नहीं मिल जाते, स्थिर रूप से गर्भ का निश्चय नहीं कर सकते। इसलिये विविध लक्षणों और चिह्नों का विचार, उनके बलाबल का सम्यक् ध्यान में रखते हुए गर्भ की विद्यमानता या अनुपस्थिति का निर्णय करना चाहिये।

गर्भ का निर्णय करते हुए चिकित्सक को कई प्रश्नों का समाधान करना होता है:—१. गर्भ है या नहीं, २. गर्भ कितने मास का है, ३. गर्भ की कैसी अवस्था है, ४. गर्भ संख्या में कितना है, ५. किसी उपद्रव से युक्त है या नहीं, ६. प्रसव कितने दिनों में होगा।

गर्भ स्थिति के निर्णय कराने वाले लक्षण तथा चिह्न अपने बलाबल के अनुसार तीन कोटियों में पड़ते हैं—हीनबल या आनुमानिक (Presumptive) मध्यमबल या सम्भाव्य (Probable), उत्तमबल या अस्त्यात्मक (Positive)।

हीनबल लक्षण

(१) **आर्त्तवादर्शन**—सर्वप्रथम यह लक्षण मिलता है जिसके आधार पर स्त्रियाँ अपने को गर्भवती समझने लगती हैं। विवाहिता स्त्रियों में जिनका रजःस्राव उसके पूर्व नियमित रहा; यह एक महत्व चिह्न होता है। तथापि इस लक्षण में कई बार भ्रान्ति भी हो सकती है—१. आर्त्तवादर्शन कई रोगों में पाण्डु, क्षयारम्भ तथा अन्य दौर्बल्यकर कारणों में मिल सकता है। २. अल्पकालीन आर्त्तवादर्शन कई बार बिना स्थिति के ही नवविवाहिता स्त्री में, अथवा कौमार्यहरण हो जाने के

बाद गर्भ की शंका से कुमारी में, सन्तान की प्रबल इच्छा और उत्सुकता युवती स्त्रियों में मिलती है। ३. प्रौढ़ा स्त्रियों में रजःक्षयकाल उपस्थित होने पर भी आर्त्तव-दर्शन होता है, और रजःस्राव नहीं होता। ४. इसके विपरीत कई बार गर्भस्थिति काल में भी रजःस्राव होते पाया गया है। परन्तु ऐसा होता बहुत कम है। कोरे सिद्धान्त की दृष्टि से ऐसा होना गर्भकाल के प्रारम्भिक तीन मासों में सम्भव है, जब तक कि गर्भधरा और पिधान कला दोनों आपस में वर्धिष्णु बीज (Ovum) के द्वारा गर्भाशय में नहीं मिल जाते। प्राकृतिक रजःस्राव से इस स्राव की मात्रा बहुत ही अल्प होती है गर्भकालीन अनियमित रक्तस्राव कई बार सम्भाव्य गर्भस्राव (Threatened abortion) के कारण भी हो सकता है और रजःस्राव की भ्रान्ति पैदा कर सकता है (६) स्तन्यकाल में भी गर्भाधान हो सकता है—प्रायः ऐसी स्त्रियों में जिनमें स्तन्यकाल में रजःस्राव होने लगता है—गर्भाधान बहुत सम्भव है—फिर आर्त्तवादर्शन प्रारम्भ हो जाता है। (७) कई बार गर्भस्थिति रजःस्राव प्रारम्भ होने के पूर्व अथवा रजःक्षय के बाद भी हो सकती है।

प्रातर्ग्लानि—निष्ठीविका, आस्यस्रवण, छर्दि, हृल्लास पैदा करने वाला यह लक्षण प्रायः द्वितीय मास से चतुर्थ मास पर्यन्त प्रातःकाल में शय्या त्याग करने बाद लगभग ७०% गर्भिणी स्त्रियों में पाया जाता है। प्रकृतावस्था में इसका स्वास्थ्य पर कोई बुरा असर नहीं पड़ता। इस प्रकार के लक्षण पानात्यय, अजीर्ण और यकृद् विकारों में भी मिल सकते हैं। इसीलिये सम्भाव्य लक्षणों में इसका समावेश है।

स्तन परिवर्त्तन—स्तनों की पीनता (स्थूलता), स्फुट शिराजाल, पिडिका-विर्भाव, कृष्णमुखता, उपमण्डल निर्माण, स्तन्य की उपस्थिति प्रभृति मुख्य लक्षण मिलते हैं, जिसका उल्लेख पूर्वाध्याय में हो चुका है। बीजग्रन्थि के अर्बुदों में भी प्रायः इन लक्षणों का प्रादुर्भाव पाया जाता है। इसके अतिरिक्त आद्या (प्रथम गर्भा) की गर्भावस्था में जितने महत्त्व के ये लक्षण होते हैं, उतना महत्त्व बहुप्रजाता (बहुगर्भा) स्त्रियों में नहीं रहता क्योंकि उपरोक्त लक्षण प्रथम प्रसव के बाद वर्षों तक बने रह जाते हैं और कदाचित् उसी में गर्भस्थिति हो जाती है।

उदर परिवर्त्तन—उदर की क्रमिक वृद्धि, उदर के अधोभाग का प्रथम दो

मासों में चपटा होना; (गर्भाशय के निमज्जन से वस्तिशीर्ष की निम्नता होने के कारण), कई वार इसके विपरीत आरम्भिक मासों में मेद सञ्चय अथवा वायु के द्वारा उदर में आध्मान होने पर उभार का मिलना, तृतीय मास से अनवरत उदर का वढ़ना, चौथे मास उदरगुहा में गर्भाशय का स्पर्श लभ्य होना, नाभि का उन्नमन रञ्जक कणों का निचय, किङ्किस की उपस्थिति प्रभृति चिह्न मिलते हैं।

जठर की अभिवृद्धि जितनी स्पष्ट वहुप्रजाताओं में उनके उदर प्राचीर की शिथिलता के कारण मिलती है, उतनी अप्रजाता या सकृत प्रजाता (एक वार की प्रसूता) में नहीं व्यक्त होती। वहुप्रजाताओं में उनकी उदर प्राचीर की पेशियाँ शिथिल होती हैं। इसका परिणाम यह होता है—यदि गर्भवती वैठी रहे तो उसका गर्भाशय आगे को आ जाता है और उदरवृद्धि अपेक्षाकृत अधिक व्यक्त होने लगती है; यदि पीठ के वल उसको चित्त लेटा दिया जाय, तो गर्भाशय पीछे की सुषुम्ना पर गिर जाता है और उदर की अभिवृद्धि की व्यक्ति उसी परिमाण में कम हो जाती है। इस प्रकार की स्थिति अप्रजाताओं में उनके उदर प्राचीर की पेशियों की दृढ़ता के कारण नहीं होने पाती। फलतः उनमें उदर की अभिवृद्धि भी उतनी व्यक्त नहीं होती।

गर्भकाल में नाभि की स्थिति इस प्रकार की होती है—प्रथम तीन मासों में गहरी और फैली हुई, दूसरे त्रिमास में अपेक्षाकृत उथली, सप्तम मास में उदर के समतल और अन्तिम दो मासों में उभरी और त्वचा से वाहर निकली (Everted & protudes above the skin) हुई रहती है।

गर्भाशयगत अर्वुद से पार्थक्य करने में यह देखना होता है कि अर्वुद, उदर के दक्षिण पार्श्व के कुछ झुका हुआ रहता है और आन्त्र उसके चारों ओर आगे, पीछे की ओर घेरे रहता है जिससे उदर पर अङ्गुलि ताडन के द्वारा मन्द ध्वनि पाई जाती है। गर्भ स्फुरण (Quickening)—अर्थ होता है—गर्भ के स्पन्दन (गति) का माता को अनुभव होना। चौथे, पाँचवें महीने से गर्भ का स्पन्दन शुरु हो जाता है। गर्भ स्फुरण में दो हेतु हैं (१) वर्द्धमान गर्भाशय इस समय तक उदर भित्ति के सम्पर्क में आ जाता है, गर्भ में होने वाली गति या स्पन्दन गर्भाशय की दीवाल से सम्वाहित होती हुई उदर की दीवाल तक पहुँचती है और माता को उसकी अनुभूति होती है। (२) गर्भ के आरम्भिक मासों में, गर्भ में स्फुरण

(गति) का सामर्थ्य कम होता है तथा गर्भोदक की मात्रा अतिशय रहती है अतः गर्भगत स्पन्द वेगों का संक्रमण गर्भाशय की दीवालों तक नहीं होता जिसमें स्पन्दन या स्फुरण का अनुभव माता को नहीं हो पाता। आरम्भिक गर्भ स्पन्दन बहुत कमजोर होता है—गर्भवती को इसका अनुभव 'बंधी हुई अञ्जलि में फरफराती हुई छोटी पक्षियों के सदृश' होता है। अप्रजाताओं में, जिन्हें इस स्फुरण का अनुभव पूर्व में नहीं हुआ रहता, उदर शूल, आध्मान, आनाह, आन्त्रस्फुरण का भ्रम हो जाता है। ये गर्भ का स्फुरण न समझ कर इस लक्षण को कोई वायु विकार समझने लगती हैं। परन्तु बहुप्रजाताओं को इसका ज्ञान ठीक हो जाता है। यदि परीक्षक की अङ्गुलियों द्वारा स्पन्दन का अनुभव हो, तो गर्भ निर्णायक चिह्नों ऐसे स्पन्दनों का कोई महत्त्व नहीं।

वस्ति की क्षुब्धता—गर्भ में प्रारम्भिक और अन्तिम कतिपय (दो, तीन) सप्ताहों में मिलती है। प्रारम्भिक दिनों में गर्भाशय के आगे की ओर अधिक झुके रहने से तथा अन्तिम दिनों में गर्भ के अवतरण वाले भाग का श्रोणि में उतरने के कारण वस्ति क्षुब्ध रहती है; फलतः बार-बार मूत्र त्याग की इच्छा गर्भिणी को होती है।

प्रत्यावर्त्तित वातिक लक्षण—गर्भ के निर्णय में इन लक्षणों का भी कुछ महत्त्व है। दूसरे तीसरे गर्भ स्थिति में इनका विशेष स्थान होता है जब कि गर्भवती को इसके पूर्व के अनुभव हुये रहते हैं। कुछ मूल्यवान् लक्षण निम्नलिखित हैं—प्रकृति (मिजाज) में परिवर्त्तन, खेद या ग्लानि, क्षुधानाश, चित्र-विचित्र पदार्थों में रुचि, खाने की इच्छा (जैसे चटपटी, सोंधी, मसालेदार भोजन में अभिलाषा होना)।

प्राचीन ग्रन्थकारों ने 'दौहृद' (Peculiarities, longings for the most out of the way articles) शब्द से इन लक्षणों की व्याख्या की है। विशद रूप से आहार, आचार, विहार सम्बन्धी, गर्भवती स्त्रियों में उत्पन्न होने वाले वस्तुओं की सूची तदनुकूल व्यवस्था में उसके शुभ परिणाम तथा अभाव में उससे उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों या गर्भ के अनिष्टों का उल्लेख किया है। जिज्ञासु पाठकों के लिये इस अध्याय के अन्त में उसका संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है।

मध्य बल लक्षण (Probable signs)

इस वर्ग में उन शारीरिक चिह्नों का उल्लेख मिलेगा जो चिकित्सक को गर्भवती की परीक्षा के अनन्तर प्राप्त होते हैं तथा अधिकतर ये गर्भाशय से सम्बद्ध हैं।

गर्भाशय की आयाम वृद्धि--गर्भस्थिति में गर्भाशय की निरन्तर, अविषम और शीघ्र वृद्धि होती है—इसी प्रकार की वृद्धि गर्भ की उपस्थिति में ही होती है अन्यथा नहीं। अर्बुदादिक रोगों में गर्भाशय की इस विशेष प्रकार की अभिवृद्धि नहीं होती है। गर्भाशय की मासानुमासिक वृद्धि का उल्लेख पूर्व के अध्याय में हो चुका है।

गर्भाशय के आकार के परिवर्त्तन (Shape)—शुरू के कुछ सप्ताहों में इसके गात्र का आकार गोलकवत्, वृद्धि की असमानता (asymetry, Braun von fern walds sighn) तदनन्तर पूर्व और पश्चात् दीवालों के बीच में एक परिखा का-सा अनुभव होना विशिष्ट परिवर्त्तन हैं।

गर्भाशय गात्र के गठन या बनावट के परिवर्त्तन—(क) गृहीत गर्भा स्त्रियों में दृढ़ एवं कठिन गर्भाशय प्रारम्भिक सप्ताहों में मृदु और कोमल हो जाता है। इसलिये गर्भाशय स्थितिस्थापक गुण धर्म वाला है। इस स्थिति स्थापकता या 'प्रारम्भिक तरङ्गप्रतीति' को शोधकर्त्ता के नामानुसार 'रैश्चेज् का चिह्न' (Rascch's sign) कहते हैं। (ख) ग्रीवा गात्र का मध्य भाग विशेषतः मृदु हो जाता है। 'हेगर' नामक शोधकर्त्ता के नाम पर इस चिह्न का नाम ही 'हेगर' का चिह्न पड़ता है। यह चिह्न डेढ़ मास से लेकर ढाई मास तक (छः से दस सप्ताह) के गर्भ में अस्त्यात्मक रहता है। इस चिह्न की उपस्थिति की परीक्षा विधियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) एक हाथ दो अङ्गुलियों (तर्जनी और मध्यमा) को अथवा किसी एक ही अङ्गुलि को योनि के पूर्व कोण पर रख कर, दूसरे हाथ को उदर पर रख कर उदर को दबावें और दोनों हाथ की अङ्गुलियों को मिलाने की कोशिश करें। इस प्रकार ग्रीवा के गात्र के मध्य का मृदुतम भाग अत्यन्त कोमल होने के कारण विलुप्त-सा प्रतीत होता है, गर्भाशय का गात्र गोलकाकृति और अल्प कठिन होता है, ग्रीवा भी प्रायः कठिन होती है। इस परीक्षा को करते समय यह ध्यान

में रखना चाहिये यदि गर्भाशय आगे की ओर झुका हुआ हो (Anteflexed) तो परीक्षण करते समय अङ्गुलियों को पूर्व कोण में और यदि गर्भाशय पश्चिम भ्रंश (Retrovered) हो तो पश्चात् कोण अङ्गुलियों को रखना चाहिये।

(२) उदर वाले हाथ को भगसन्धानिका के ऊपर रख कर श्रोणि में नीचे को दबावे योनि वाले हाथ की दोनों अङ्गुलियों को पश्चिम कोण पर रखे। दोनों हाथ की अङ्गुलियों को मिलाने की कोशिश करे।

(३) अथवा एक हाथ से उदर की ओर से गर्भाशय के नीचे श्रोणि को दबावे दूसरे हाथ के अंगूठे को योनि के पूर्व कोण और तर्जनी के गुदा पर रख कर गर्भाशय तथा ग्रीवा मात्र के संयोग स्थल को पकड़े। इस प्रकार गर्भाशय की ग्रीवा और गात्र की अपेक्षाकृत कठिनता और ग्रीवा के मध्य भाग की विशेष मृदुता का सम्यक् अनुभव परीक्षक को हो जाता है। इन परीक्षाओं को युग्म विधियाँ (Bi mannual examination) कहते हैं।

हेगरचिह्न की परीक्षा विधि

गर्भाशय की आवान्तर कुंचन (Intermittent uterine contraction) शोधकर्त्ता के नाम पर इसी का दूसरा नाम 'वैक्सटान हिक्स' भी है। गर्भावस्था में गर्भाशय में प्रारम्भ से सांकोचिक तरंगें (लहरियाँ) उत्पन्न होने लगती हैं और तीसरे मास से जब ये अधिक व्यक्त हो जाती हैं—युग्म-परीक्षा विधि से गर्भाशय का स्पर्श करते समय इनका अनुभव (Palpable) किया जा सकता है। इस प्रकार की संकोच की तरंगे हर पाँच या दस मिनट अन्तर से आती रहती हैं। जब गर्भाशय बढ़कर ऊपर की
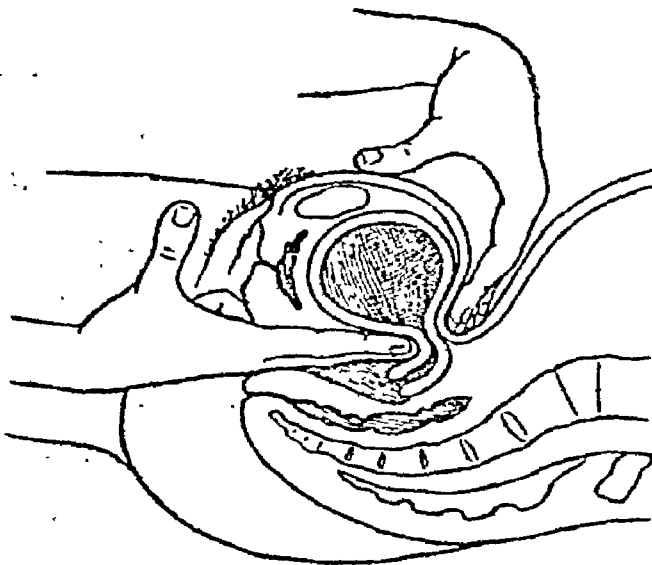
हेगार का चिह्न ज्ञात करना

चित्र ४३

और उदर गुहा में आ जाता है तो केवल उदर पर हाथ रखने मात्र से ही इन संकोचों का अनुभव परीक्षक को होने लगता है। प्रत्येक संकोच तरंग के समय गर्भाशय कुछ क्षणों के लिये दृढ़ एवं कठिन हो जाता है। यह एक बड़े महत्व का चिह्न है और प्रायः गर्भस्थिति का निर्णय देने वाला है। गर्भाशय के रक्तगुल्म (Haematometra) में विशेषतः सौत्रिकार्बुद में भी यह लक्षण मिलता है; परन्तु भेदकर लक्षण यह होता है अर्बुद में ये सांकेचिक लहरियाँ एक दैशिक होती हैं गर्भसदृश सार्वदैशिक नहीं। ग्रीवा में परिवर्त्तन-गर्भाशय ग्रीवा के सम्बन्ध में जैसे पहले बतलाया जा चुका है, मृदुता आती है और स्राव अधिक मात्रा में निकलने लगता है—ये दोनों लक्षण गर्भस्थिति के महत्व के प्रमाण हैं। ग्रीवा में जीर्णकालीन शोथ हो या कोई घातक अर्बुद हो, तो गर्भकाल में ये चिह्न अनुपस्थित रहते हैं।

योनिस्पन्दन (Osianders sign)—गर्भाशय धमनियों के आयतन वृद्धि से योनि के पार्श्वकोणों पर स्पन्दन होता है जिसका अनुभव परीक्षक के अंगुलियों को होता है। इसका अनुभव दूसरे या तीसरे महीने से होने लगता है। यद्यपि यह भी कोई पूर्णतया निर्दुष्ट लक्षण नहीं है क्योंकि श्रोणि में रक्तोपचय होने से या कोई रक्तार्बुद होने पर इस चिह्न की उपस्थिति मिल सकती है।

योनिगत परिवर्त्तन—रक्ताधिक्य के कारण योनि की श्लेष्मल कलावर्ण में नीलवर्ण की हो जाती है। यही एक महत्त्व का परिवर्त्तन होता है जो गर्भ के दूसरे या तीसरे मास के प्रारम्भ से ही व्यक्त हो जाता है। इस चिह्न को शोधक के नाम पर 'फेक्यूमियर' का चिह्न कहते हैं। यह चिह्न भी श्रोणि की रक्तोपचय की अवस्था (Congestion) में मिल सकता है इसी लक्षण से सम्बद्ध योनि के अधोभाग में पाया जाने वाला एक चिह्न और मिलता है। योन्यधोभाग की शिरा कुटिलता। इसे शोधक नामानुसार 'फजमे का चिह्न' नाम से पुकारते हैं। इसके अतिरिक्त परिवर्त्तनों में योनिगतस्राव बढ़ जाता है और श्लेष्मलकला खुरदरी हो जाती है।

प्रत्याघात—(Ballotment) यह एक 'फ्रेंच' भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'गेंद का उछालना'। इसका व्यवहार एक विशेष प्रकार की परीक्षण विधि में होता है, जिसमें 'गर्भ को गर्भाशय में निष्क्रिय गति कराते हैं।' इसके दो विधान हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर। अधिक विश्वसनीय विधि आभ्यन्तर

प्रत्याघातकी है। इस प्रत्याघात का अनुभव परीक्षक को चौथे मास से लेकर सप्तम मास तक (सुखपूर्वक चतुर्थ एवं पञ्चम मास से) होता है। इसके पूर्व गर्भोदक की अधिकता होने से या गर्भ शरीर के छोटे होने की वजह से तथा इसके पश्चात् विपरीत कारणों की उपस्थिति रहने से इस प्रत्याघात का अनुभव परीक्षक नहीं कर सकता।

बाह्य प्रत्याघात—स्त्री को पार्श्व में लेटाकर, उदर के ऊपर गर्भाशय के दोनों पार्श्वों पर हाथों को रखें। फिर नीचे वाले हाथ से ऊपर की ओर गर्भ को फेंके (उत्क्षेपण) पुनः उसी हाथ से लौटते हुए गर्भ के प्रत्याघात का अनुभव करें। अथवा जानुकूर्परासन पर नीचे मुख करके बैठी हुई स्त्री के उदर पर हाथ रखकर एक हाथ से उस गर्भ को ऊपर की ओर धक्का दें, पुनः उसी हाथ से प्रतिहत हुए गर्भ का अनुभव करें। अथवा स्त्री को चित लेटाकर उदर पार्श्व के दोनों तरफ अपने हाथों को रखकर हाथों के द्वारा गर्भाशय को स्थित करके एक हाथ से सहसा उछालें। इस क्रिया से गर्भ का कोई न कोई अवयव दूसरे हाथ को धक्का देते ही मिलेगा। इस प्रत्याघात का अनुभव परीक्षक कर सकता है कई बार लौटते हुए गर्भ के द्वारा पूर्व वाले हाथ को भी धक्का लगता है।

आभ्यन्तर प्रत्याघात—इसमें गर्भवती को पीठ के बल चित लेटा दिया जाता है, इसके सिर ग्रीवा और स्कन्ध के नीचे तकिया रखकर कुछ ऊँचा कर दिया जाता है। फिर उसकी योनि में गर्भाशय ग्रीवा के सम्मुख अथवा पूर्वकोण परीक्षक को अपनी दो अंगुलियों को प्रविष्ट करना होता है, गर्भाशय स्कन्ध (Fundus) को दूसरे हाथ से जो उदर के ऊपर पड़ा रहता है मजबूती से पकड़ कर रखना पड़ता है। पुनः स्त्री को गम्भीर श्वसन करने के बाद एक, दो क्षणों के लिये श्वसन का निरोध करने का आदेश दिया जाता है। इसके बाद जब स्त्री सांस रोके हो, उसी क्षण योनिगत अंगुलियों के द्वारा गर्भ को ऊपर की ओर सहसा एक तेज धक्का दिया जाता है इससे गर्भ का सिर ऊपर की ओर उठता हुआ अनुभूत होता है और गर्भोदक में चला जाता है, अंगुलियों से उसका लगाव दूर होता मालूम होता है। एक क्षण के बाद वह पुनः अंगुलियों को वह लगता हुआ ज्ञात होता है। इस प्रकार गर्भ सिर के ऊपर और नीचे (उत्तरण एवं अवतरण) के अनुसार अंगुलियों से उसके उपस्थिति (लगाव) और अपस्थिति (बिलगाव) का अनुभव होता है।

यद्यपि यह आभ्यन्तर प्रत्याघात रूप गर्भ का एक विशिष्ट चिह्न है तथापि इसमें भ्रान्ति कई बार हो सकती है जैसे मूत्राशय की बड़ी अश्मरी, मूत्रातिपूर्ण वस्ति, जलोदर अथवा रक्तादि भरे हुए गर्भाशय में तैरते हुए सौत्रिकार्बुद या सवृन्तार्बुद। अत एव यह पूर्णतया गर्भ का निर्दुष्ट लक्षण नहीं हो सकता। गर्भाशय ध्वनि (Uterine souffle or bruit) मृदु फुत्कार जैसी यह ध्वनि, माता के धमनी स्पन्दन के साथ साथ, उदर के बाहर गर्भाशय के ऊपर चतुर्थ मास के अन्त में श्रवण यन्त्र की सहायता से, या कान लगने से सुनाई पड़ती है। श्रवणयन्त्र से सुनते वक्त उदर को अनावृत रखना और केवल कान लगाकर सुनना हो तो उदर को एक पतले सूती या रेशमी कपड़े से ढककर रखना आवश्यक है। गर्भकाल के प्रथमार्ध में भगसन्धानिका के ऊपर मध्यरेखा में तथा उत्तरार्द्ध में गर्भाशय नीचे पार्श्व में (विशेषतः वाम पार्श्व में गर्भाशय के अक्ष के दक्षिण में विवर्त्तित होने से) दोनों ओर यह ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती हैं।

पहले इस मर्मर या ध्वनि का नाम 'अपराध्वनि' रहा और लोगों की कल्पना थी कि इसकी उत्पत्ति, अपरा की सिराकुल्याओं (Sinuses) में वेग से रक्त के प्रवेश के कारण होती है। परन्तु आधुनिक लोग इसका खण्डन कर देते हैं, क्योंकि सूतिकाकाल में भी तीन चार दिनों तक यह शब्द सुनाई पड़ता रहता है, जब कि अपरा का पूर्णतया पात हो गया रहता है।

नव्य वैज्ञानिक इस ध्वनि की उत्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार से करते हैं— 'गर्भाशय धमनियों की शाखाओं से जो संकीर्ण छिद्र वाली होती हैं, उनसे होकर लम्बे एवं विस्तृत अवकाश वाले गर्भाशय प्राचीर की धमनियों में रक्त के वेग से प्रवाहित होने से यह मर्मर ध्वनि पैदा होती है।' यह नियम है कि सँकरी धमनी से चौड़ाई वाले स्थान में जब रक्त बहेगा तो वहाँ पर मर्मरध्वनि पैदा होगी। जैसा कि शिराज ग्रन्थि (Aneurism) में होता है। पाण्डु से पीडित गर्भिणियों में यह ध्वनि अधिक उच्च मिलती है। गर्भाशय के संकोचकाल में यह ध्वनि अधिक तीव्र हो जाती है—संकोच के नष्ट होने पर यह ध्वनि मंद हो जाती है या विलुप्त हो जाती है पुनः संकोचकाल में उपस्थित हो जाती है। इस लक्षण की यह विशेषता है कि हृच्छब्द के दो तीन सप्ताह पूर्व ही यह सुनाई पड़ती है। कदाचित् सौत्रिकार्बुदों में भी यह ध्वनि सुनाई पड़ती है।

गर्भकालीन लसीका परीक्षा—इस परीक्षा का आधार है कि गर्भकाल में बहिर्जरायु कोरक और पोषकस्तर के टुकड़े टूट-टूटकर माता के रक्तसंवहन में पहुँच जाते हैं। वैज्ञानिकों की ऐसी धारणा है कि जब इस प्रकार के विजातीय 'प्रोटीन' माता के रक्त में पहुँचते हैं तो इनकी उपस्थिति में रक्त में कुछ ऐसी प्रतिरोधी द्रव्य बनते हैं जो इनको 'एमिनोएसिड' के रूप में पचाकर नष्ट कर देते हैं। यह परीक्षा रासायनिक क्रियाविज्ञान (Chemicalphysiology) का विषय है और अव्यावहारिक भी है।

जैविक परीक्षा (Biological test)—गर्भस्थिति के आरम्भिक दिनों में निर्णय के साधनरूप अनेक परीक्षायें आधुनिक युग में प्रचलित हैं; परन्तु इनमें कोई भी पूर्णतया विश्वसनीय व्यावहारिक दृष्टि से नहीं है। अपवाद के रूप में एक सर्वमान्य विश्वसनीय परीक्षा भी प्रचलित है, जिसे शोधक के नामानुसार 'एश्वीम-जाण्डेक प्रतिक्रिया' कहते हैं और इसकी पहचान मूत्र में पीयूषग्रन्थि के पूर्वभाग सदृश अन्तःस्राव की उपस्थिति के ऊपर निर्भर करती है।

परीक्षा-विधि इस प्रकार है। गर्भिणी के प्रातःकालीन मूत्र का कुछ औंस की मात्रा में संग्रह करके फिर उसमें थोड़ा सा मूत्र लेकर अपक मादा चूहिये के अन्दर सूचीवेध के द्वारा लगातार तीन दिनों तक प्रविष्ट करना होता है। यदि अन्तःस्रावों की मूत्र में उपस्थिति रही तो चूहिये के शरीर में तात्कालिक उसका प्रभाव पड़ता है एवं कई प्रकार के उसके आंन्तरिक अवयवों में परिवर्त्तन शुरू हो जाते हैं। बीजग्रन्थि के आकार में वृद्धि होती है और रक्ताधिक्य होने लगता है, बीजपुटकों में पीतपिण्ड का निर्माण शुरू हो जाता है। ये परिवर्त्तन इतने स्पष्ट होते हैं, कि पाँचवें दिन चूहिये के शरीर से बीजग्रन्थि को निकाल कर नग्न नेत्रों से देखकर पहचाना जा सकता है। यह परीक्षा बड़ी ही सच्ची है, अस्त्यात्मक होने पर ९८% यह निर्णयात्मक होती है, विशेषता यह है कि गर्भाधान के एक पक्ष के पश्चात् भी यह गर्भ का दृढ़ निश्चय करा सकती है, इसके अस्त्यात्मक होने पर स्थिर रूप से गर्भस्थिति का निदान किया जा सकता है। यद्यपि गर्भवृद्धि के साथ साथ इसकी विश्वसनीयता अधिकाधिक बढ़ती जाती है।

इस परीक्षा विधि में थोड़ा सुधार करके चूहियों के स्थान पर शशकों (Rabbits) को माध्यम बनाकर (फ्रीड मैन की परीक्षा से) थोड़े समय की बचत करली गई है। फलतः पाँच दिन लगने के बजाय छत्तीस घण्टों में ही

निर्णय देने में समर्थता आगई है। कई वार जब कि शीघ्र गर्भ का विनिश्चय आवश्यक होता है, जैसे 'बीजवाहिनी स्थित गर्भ' में सन्देह का निराकरण करने के लिये; तो इस परीक्षा का महत्त्व ज्ञात होता है कई वार गर्भस्राव अथवा गर्भाशय में गर्भ की मृत्यु हो जाने के, दश, पन्द्रह दिन वाद भी, यह परीक्षा अस्त्यात्मक मिलती है।

उत्तम वल या अस्त्यात्मक चिह्न (Positive) निम्न लिखित होते हैं—

(१) हृच्छब्दों का सुनना और गिनना, नालध्वनि यदि उपस्थित हो तो उसका सुनना।

(२) गर्भ की सक्रिय गतियों या चेष्टाओं का अनुभव करना।

(३) गर्भ के अंग-प्रत्यंगों तथा उसके सीमा स्पार्शन-परीक्षा से ज्ञान करना।

(४) गर्भ की 'क्ष' किरण द्वारा परीक्षा करना।

गर्भ-हृच्छब्द—पञ्चम मास के मध्य या अन्त से, गर्भ के ऊपर यह ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह शब्द तकिये के नीचे रखी हुई घड़ी की टिकटिकाहट से मिलता हुआ होता है। इसकी गति १२० से लेकर १४० तक प्रति मिनट मिलती है। गर्भ की छोटी आयु में इसकी गति अपेक्षाकृत तीव्र और वड़ी आयु में मन्द होती है। लिङ्ग-भेद से पुरुष-गर्भ में प्रति मिनट १३० तथा स्त्री-गर्भ में इससे अधिक गति मिलती है। परन्तु इस नियम की मूल भित्ति अभी इतनी कमज़ोर है कि इसके ऊपर लिङ्ग का भविष्य कथन नहीं किया जा सकता।

गर्भ के हृच्छब्द की गति, गर्भ की सक्रिय चेष्टाओं से वढ़ जाती है तथा रक्तनिपीड के वढ़ने से मन्द हो जाती है। रक्तनिपीड वढ़ाने के हेतुरूप में गर्भाशय के संकोच या स्फिक् प्रसवों (Breech deliveries) में नाभिनाल या अपरा के ऊपर पड़ने वाले दवाव होते हैं। रक्त में यदि प्राण वायु की कमी हो जाय, या कार्वोनिक अम्ल की अधिकता आजाय या शिशु की थकावट वढ़ जाये तो भी हृच्छब्द की गति मन्द पड़ जाती है। अतः हृच्छब्द गति का ज्ञान, गर्भस्थ शिशु की दशा का सम्यक् द्योतन करता है साथ ही सवाध प्रसवों (Difficult or delayed labour) में भी निदानकर होता है। माता की ज्वरितावस्था में हृच्छब्दों की गति वढ़ जाती है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यदि हृच्छब्द गति १०० से नीचे हो किम्वा १६० प्रति मिनट से अधिक हो तो शिशु का जीवन खतरे में है।

यह शब्द सर्वप्रथम मध्य रेखा में नाभि के नीचे अथवा भगसन्धानिका के ऊपर पाया जाता है। इसके अनन्तर गर्भ के अवतरण और आसनों के अनुसार उसकी स्थिति भी विभिन्न स्थलों पर उदर के ऊपर सुनाई पड़ती है। यह शब्द शिशु के पर्शुकास्थि तथा अंसास्थि से संवहित होकर आता है अत एव गर्भाशय के उस हिस्से में जहाँ पर बच्चे का स्कन्ध पड़ा रहता है, सुनाई देता है चूंकि सबसे अधिक पाया जाने वाला अवतरण शीर्ष (Left occipito anterior) होता है इस लिये यह शब्द स्फुट रूप से 'नाभि तथा वाम जघन पूर्वोर्ध्वकूट (Ant. Sup. Illiac spine) के मध्य बिन्दु के समीप' सुनाई देता है। इस विशिष्ट स्थल पर हृच्छब्द सबसे अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ता है। परन्तु जैसा पहले कहा जाचुका विभिन्न अवतरणों आसनों में विभिन्न स्थलों पर इसकी स्फुटता मिलेगी जैसा कि निम्न खचित चित्र से स्पष्ट है।

विभिन्न स्थल जहाँ गर्भ हृच्छब्द स्पष्ट सुनाई देता है

हृच्छब्द सुनने के लिये परमावश्यक है कि कमरा पूर्ण निःशब्द या शान्त हो;
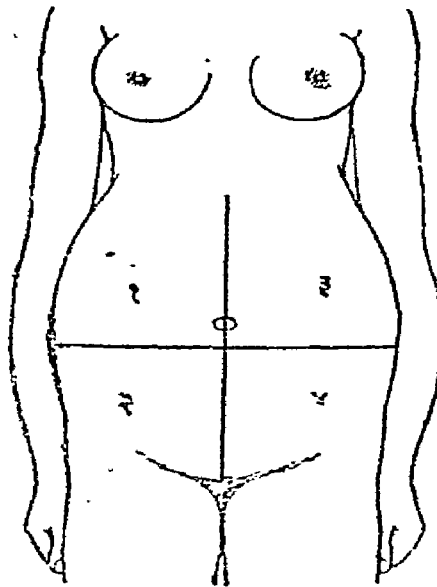
चित्र ४४

सुनते वक्त यह भी जरूरी है कि माता के उदर पर पतला से पतला वस्त्र हो ताकि

श्रवण यन्त्र या कान लगाके सुनते समय वस्त्र के कारण किसी प्रकार की बाधा न हो। यह भी आवश्यक है कि माता और गर्भ का हृच्छब्द पृथक् पृथक् सुना और गिना जाय क्योंकि दोनों ही शब्द यहाँ पर मिल सकते हैं और निर्णय में भूल हो सकती है। माता के शब्दों से द्विगुण संख्या में लगभग हृच्छब्दों की गति पाई जाती है।

गर्भ के हृदय के शब्दों की उपस्थिति गर्भस्थिति का पूर्णरूप से निर्णयात्मक, अस्त्यात्मक एवं विश्वनीय चिह्न है। इससे केवल गर्भ के अस्तित्व का ही ज्ञान नहीं होता; प्रत्युत गर्भ के जीवित रहने का भी प्रमाण मिल जाता है। इतना ही नहीं इन शब्दों के द्वारा गर्भ के अवतरण, आसन तथा संख्याओं का भी निर्णय सम्भव है। यदि इन शब्दों के सुनने में परीक्षक असफल रहे, तो यह गर्भ की नास्त्यात्मकता नहीं बतलाता क्यों कि असफलता के अनेक हेतु हो सकते हैं। परन्तु एक बार शब्द सुनाई देकर पुनः बाद में अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी वह न सुनाई दे, तो गर्भ की मृत्यु का अनुमान किया जा सकता है।

गर्भ-हृच्छब्द और गर्भाशय-ध्वनि के अतिरिक्त भी कई अन्य शब्द श्रवण यन्त्र से गर्भवती के उदर पर मिल सकते हैं। गर्भ की गति से एक प्रकार की ध्वनि (Scraching sounds) निकलती है, कई बार नाल पर एक विशेष प्रकार की आवाज सुनाई पड़ती है जिसे नालध्वनि कह सकते हैं।

नालध्वनि (Funic souffle)—गर्भकाल के अन्तिम दिनों में, हृच्छब्द के समकालिक एक मर्मर नाभिनाल के ऊपर श्रवणयन्त्र के सहारे सुनाई पड़ता है। नाभिनाल की रक्तवाहिनियों में किसी प्रकार के अवरोध होने से यह ध्वनि उत्पन्न होती है। नाभिनाल में गांठ पड़ जाने से या बच्चे के शाखा के चारों ओर लिपट जाने से या किसी गर्भ के अंग-प्रत्यंग के किसी भाग के दबाव से रक्तप्रवाह में अवरोध हो जाता है। गर्भ के हृदय के रोगों में भी यह ध्वनि सुनाई पड़ती है। इस प्रकार यह लक्षण वैकारिक (Pathological) होते हुए भी गर्भ के अस्तित्व का द्योतक होता है। परन्तु प्रसव काल में इसका सदैव उपस्थित रहना गर्भव्यापत्ति का सूचक होने से भयावह होता है।

गर्भाङ्गों का स्पर्शन—गर्भ के मध्यकाल से गर्भ के विभिन्न अवयवों का क्रमशः

सुखपूर्वक स्पर्शन परीक्षा (Palpation) से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। स्पर्शन करते समय पीठ, सिर, स्फिक् (चूतड़), हाथ और पैरों का निपुणता से ध्यान पूर्वक, पहचानते हुए ज्ञान करना चाहिये। अन्यथा उदर्या कला के भीतर में पाये जाने वाले छोटे-छोटे अनेक सौत्रिकार्बुदों की उपस्थिति से गर्भ के अवयवों का परस्पर में भेद करना दुःशक्य हो सकता है।

गर्भचेष्टा—पहले बतलाया जा चुका है कि चतुर्थ-पञ्चम मास से ही गर्भ में स्पन्दन शुरू हो जाता है। सबसे पहले इसका अनुभव गर्भिणी को ही होता है। तदनन्तर परीक्षक भी स्पर्श-परीक्षा या श्रवण-परीक्षा से गर्भाशय-भित्ति पर किये गये मन्द-मन्द पादाघातों का अनुभव उदर-प्राचीर से कर सकता है। इसी कर्म को गर्भ की सक्रिय गति या गर्भचेष्टा के नाम से पुकारते हैं। गर्भावस्था के उत्तर काल में स्पर्श परीक्षा के द्वारा उत्तेजित हुआ गर्भ अधिकाधिक चेष्टायें करता है। फलतः इस काल में पतली उदर दीवाल की गर्भवती स्त्री में यह चेष्टायें आखों से भी देखी जा सकती है। गर्भ चेष्टाओं के साथ श्रवण यन्त्र से विशेष प्रकार की आवाज सुनाई देती है।

क्षकिरण परीक्षा—चतुर्थ मास के मध्यकाल से क्षकिरण की सहायता से गर्भ कङ्काल के भागों को देखा जा सकता है और गर्भस्थिति का निर्णय दिया जा सकता है। इसके अनन्तर उत्तरोत्तर इस विधि से गर्भ का निदान आसान होता जाता है। इस प्रकार छठवें महीने से पूर्णतया अस्त्यात्मक छाया आती है। इसके द्वारा न केवल गर्भ की सत्ता मात्र का ज्ञान होता है प्रत्युत गर्भावतरण, गर्भासन, गर्भावयव, गर्भ की आयु, गर्भ के एक या अनेक होने का भी ज्ञान हो जाता है। गर्भ की आयु का निर्णय उसकी कुछ अस्थियों के अस्थिभवन (Ossi fication) की मात्रा के द्वारा किया जाता है। गर्भ की मृत्यु का निर्णय उसकी कपालास्थियों के एक दूसरे के ऊपर चढ़े रहने से, (Overlapping of the vault of the sknll) जो कि मृत्यूत्तर शिरोगुहागत धातुओं का संकोचन (सिकुड़ने) पैदा होता है; किया जा सकता है। विलम्ब तक क्ष किरण के प्रयोग जच्चा-बच्चा दोनों के लिये हानिप्रद हो सकता है, इस लिये क्षणिक प्रयोग विधि (Momentary exposure) से निदान करना चाहिये ताकि गर्भ तथा माता दोनों को हानि न पहुंचे।

कालक्रम से उत्पन्न होने वाले गर्भकालीन लक्षण तथा चिह्नों की सारणी

लक्षण तथा चिह्न	मास									बल प्रमाण
	१	२	३	४	५	६	७	८	९	
आर्त्तवादर्शन	+	+	+	+	+	+	+	+	+	हीनबल (Presumptive)
मूत्राशय क्षोभ	+	+	?						+	”
'एश्चीमजांडेक' प्रतिक्रिया	+	+	+	+	+	+	+	+	+	मध्यमबल
प्रातः ग्लानि	?	+	+	+	?	?	?	?	?	हीनबल
स्तन परिवर्त्तन		+	+	+	+	+	+	+	+	हीनमध्यबल
गर्भाशय वृद्धि और मृदुता	?+	+	+	+	+	+	+	+	+	मध्यमबल (Probable)
योनिस्पन्दन		+	+	+	+	+	+	+	+	”
स्तनमण्डल-निर्माण			+	+	+	+	+	+	+	”
गर्भाशयग्रीवा-मृदुता			+	+	+	+	+	+	+	”
आवान्तराकुञ्चन			+	+	+	+	+	+	+	”
ग० ग्रीवा का अवास्तविक-				+	+	+	+	+		
छोटा होना			+					+		”
योनि का वर्ण विपर्यय			?	+	+	+	+	+	+	”
उदर की क्रमिक वृद्धि				+	+	+	+	+	+	”
गर्भाशयध्वनि				+	+	+	+	+	+	”
गर्भप्रत्याघात				+	+	+	+	+	+	
'क्ष' किरण चित्र				+	+	+	+	+	+	उत्तमबल (Positive)
गर्भहृच्छब्द				?	+	+	+	+	+	”
गर्भाङ्गानुज्ञान						+	+	+	+	”
गर्भचेष्टा					+	+	+	+	+	”
नालध्वनि							?	+	+	”

सापेक्ष निश्चिति

(१) गर्भ के अतिरिक्त हेतुओं से आर्त्तवादर्शन—वाला और युवतियों में दुःस्वास्थ्य के कारण तथा प्रौढाओं में क्षयकाल के उपस्थित रहने से आर्त्तव का लोप हो जाया करता है। अतः लक्षणों के समुदाय से गर्भ-स्थिति का निर्णय करना चाहिये। जैसे आर्त्तव के लोप के साथ-साथ प्रातःग्लानि, उदर की वृद्धि, स्तन-परिवर्तन, योनि के वर्ण का बदलना प्रभृति लक्षणों का मिलना भी आवश्यक है।

(२) गर्भ के अतिरिक्त हेतुओं से गर्भाशय की वृद्धि—गर्भाशय जीर्ण शोथ, गर्भाशय अर्बुद, रक्तगुल्म प्रभृति विकारों में भी गर्भाशय की वृद्धि होती है। अतः सापेक्ष निश्चिति इस प्रकार से करें—

(क) **गर्भाशय जीर्ण शोथ**—गर्भयुक्त गर्भाशय से इस विकार में गर्भाशय अधिक कठिन स्पर्श में मिलता है। गर्भाशय की गोलकाकृति, ग्रीवा-मध्यभाग की मृदुता भी इसमें नहीं होती। ग्रीवा भी प्रायः कठिनतर ही रहती है। यदि गर्भाशय हीन संवरण के साथ ही शोथयुक्त भी हो जाय तो निदान करना कठिन हो जाता है उस अवस्था में केवल इतिहास का ध्यान रख कर निश्चय दिया जा सकता है।

(ख) **गर्भाशयार्बुद**—छोटे-छोटे सौत्रमांसार्बुदों (Fibo-myomatous tumours) के कारण बढ़ा हुआ गर्भाशय कभी कभी सगर्भ ही प्रतीत होता है। गहराई में स्थित छोटे-छोटे अर्बुदों की समान वृद्धि होने से विशेषतः गर्भ की समता करते हैं। यहाँ पर इतिवृत्त ही निदान-कारक होता है विशेषतः ऋतुस्राव का। यदि अर्बुद बड़े हुए तब तो सुखपूर्वक निर्णय करना सम्भव है। इस अवस्था में प्रायः गर्भाशय की विषम वृद्धि, कठिनतर स्पर्श मिलता है और उत्तम बल वाले लक्षणों का अभाव रहता है। कई बार इनमें समवृद्धि मिलती है। कई बार वृद्धि की विषमता भी, गर्भाङ्गों का भ्रम पैदा करके निदान में कठिनाई तो तब उत्पन्न होती जब कि दो वस्तुओं की स्थिति साथ-साथ हो—जैसे गर्भ के साथ गर्भाशयार्बुद, गर्भाशयार्बुद और बीज ग्रन्थि के अर्बुद, जलोदर के साथ गर्भाशयार्बुद हो। इन स्थितियों में गर्भका विनिश्चय, गर्भवती के इतिवृत्त, संज्ञाहरण के पश्चात् विधि पूर्वक परीक्षा तथा क्ष-किरण चित्र के द्वारा हो सकता है।

(ग) **रक्त गुल्म**—उत्तर योनि (Atresia of the upper part of the vagina or cervix) के संवरण से गर्भाशय गुहा में आर्त्तव रुक जाता है। रुक जाने की वजह से, ऋतुस्राव न दिखलाई देना, गर्भाशय की वृद्धि होने से

गर्भ का आभास पैदा करता है। यहाँ पर भी योनि परीक्षण एवं इतिहास की ही शरण लेनी पड़ती है। इस अवस्था में मास-मास में (आर्त्तव काल पर्यन्त) शूल होता और गर्भाशय बढ़ता है। इसी प्रकार वृत्त रोगी देगा। संचरण का ज्ञान योनि की परीक्षा से हो जाता है। गर्भाशय भी कुछ ऊपर को उठा हुआ प्रतीत होता है।

(घ) **बीजकोषार्बुद**—छोटा सा बीज ग्रन्थियों का अर्बुद, बहिराशयिक गर्भ (Extrauterine pregnancy) के सदृश प्रतीत होता है। इसका विशेष सापेक्ष निदान यथास्थान लिखा जायेगा। यदि अर्बुद बड़ा हुआ हो तो सगर्भ गर्भाशय से उसका पार्थक्य करना बहुत ही सरल होता है। यहाँ पर भी संज्ञाहरण करके रोगी की सम्यक् परीक्षा करनी चाहिये। इस अवस्था में अर्बुद के समीप में ही पड़े हुए स्वभावस्थ गर्भाशय का निर्धारण कर सकते हैं। बीज ग्रन्थियों के अर्बुदों की एक और भी विशेषता है कि इनकी वृद्धि विलम्ब से होती है। इनमें स्त्री के रजःस्राव का लोप नहीं होता, स्तन की कृष्णमुखता, प्रातः ग्लानि, योनि का वर्णविपर्यय, ग्रीवा की मृदुता, गर्भाशय ध्वनि, आवान्तराकुञ्चन भी नहीं पाया जाता। उत्तम बल वाले गर्भ चिह्नों का पूर्णतः अभाव रहता है।

गर्भ के अतिरिक्त हेतुओं से उदर की वृद्धिः—

(क) **वातवस्ति**—कई वार वस्ति कण्ठ के दबाव के कारण, मूत्राशय मूत्र से भर जाता और फूल कर नाभि पर्यन्त फैल जाता है। इस अवस्था में यह गर्भवत् ही दिखलाई पड़ता है। इसमें आवान्तराकुञ्चन भी मिलता है। परन्तु गर्भ प्रत्याघात एवं हृच्छब्द का अभाव तथा मूत्रनाड़ी (Catheter) के प्रवेश मात्र से ही अर्बुद का विलुप्त हो जाना—इस स्थिति को निःसंशय कर देता है।

(ख) **मेद सञ्चय**—यदि आर्त्तवादर्शन के साथ उदर में मेद का सञ्चय होता चले तो गर्भ का आभास होने लगता है। रजःक्षय काल प्राप्त होने पर विशेषतः यह अवस्था दिखलाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में अन्य गर्भ के लक्षणों और चिह्नों का अभाव रहने से—सन्देह का दूरीकरण हो सकता है।

(ग) **भूतहृत गर्भ वातोदर या अलीक गर्भ** (Pseudocyesis phantom pregnancy, spurious preg nancy)—सन्तान की अभिलाषा से गर्भ धारण के लिये उत्कण्ठित हुई वातिक प्रकृति की स्त्रियों में कई बार

एक अद्भुत अवस्था पाई जाती है—इसी अवस्था विशेष को अलीक गर्भ कहते हैं। इस अवस्था में उनको सभी प्रकार ज्ञात गर्भस्थिति के लक्षणों का अनुभव होने लगता है। ऐसा प्रायः रजःक्षय काल के समीप में अधिक होता है; परन्तु कई बार नवयुवतियों में भी देखने को मिलता है आर्त्तवादर्शन, प्रातर्ग्लानि, गर्भस्फुरण, स्तनपरिवर्त्तन और उदर की वृद्धि प्रभृति गर्भचिह्नों के प्रायशः उत्पन्न होने से वह स्त्री निश्चित रूप से अपने को गर्भवती मानने लगती है। इसके बाद मन में उन-उन बातों का भावना करते हुए, तत्-तत् गर्भ की चेष्टाओं को करती हुई चिकित्सक के चित्त को भी वह संशययुक्त कर देती है। यहाँ पर भी इतिहास लेकर सम्यक् परीक्षा करना ही उपाय शेष रह जाता है। आर्त्तवादर्शन और प्रातः ग्लानि दूसरे कारणों से भी हो सकती है। आन्त्रस्फुरण को गर्भस्फुरण भी समझ सकती है। स्तन की गुरुता और स्थूलता स्तनशोथ या मेदसञ्चय के कारण भी हो सकती है। उदर की अभिवृद्धि महाप्राचीरा पेशी के दृढ़ सङ्कोच के कारण उत्पन्न होती है। प्राचीर के आकुञ्चन से नीचे की ओर दबे हुए उदर के अवयव, शिथिल उदर की दीवाल से ऊपर की ओर निकल उदर को अधिक उभार युक्त कर देते हैं। जिससे उदर और अधिक बढ़ा और निकला हुआ दिखलाई पड़ता है। परन्तु यह वृद्धि नियत प्रमाण की नहीं होती। कभी तो अकाल में ही पूर्णकालिक गर्भ के सदृश उदर भासने लगता है। वायु से आध्मान युक्त उदर के समान प्रतीत होता है। युग्म विधि से परीक्षा करने पर गर्भाशय बढ़ा हुआ नहीं ज्ञात होता। संज्ञाहरण करने पर महा प्राचीरा का संकोच दूर हो जाता है और उदर का आध्मान विलीन हो जाता है। ग्रीवा की मृदुता, योनि का वर्ण विपर्यय और हृच्छब्दादिक प्रबल गर्भलक्षण नहीं पाये जाते। आचार्य चरक ने इस अवस्था का वर्णन भूतहृतगर्भ की संज्ञा से की है। संग्रहकार ने वातोदर नाम से इसका उल्लेख सूत्र रूप में किया है।

(घ) **जलोदर**—उदर्याकला में संचित हुआ जल इतना भ्रामक नहीं होता। जहाँ पर गर्भ और जलोदर या अर्बुद और जलोदर की एक काल में ही उपस्थिति रहती है, वहाँ विशेष विचार की आवश्यकता पड़ती है। यहाँ पर भी इतिहास, संज्ञाहरण के अनन्तर सम्यक् परीक्षण, क्ष-किरण चित्र ही निश्चय में साधक होता है।

प्राचीन ग्रन्थकारों ने भी गर्भ की सापेक्ष निश्चिति की विशद विवेचना की है— यहाँ पर संक्षेप में कुछ का दिग्दर्शन कराना लक्ष्य है :—

(१) जब ऋतुमती या योनि रोग वाली स्त्री वातल आहार-विहार करती है तब उसका वायु प्रकुपित होकर योनिमुख में प्रवेश करके (मुख को संकुचित करके) ऋतुस्राव को रोक देता है (Atresia of the upper part of the vagina)। इस अवरोध के अनन्तर प्रतिमास गर्भाशय एवं उदर बढ़ने लगता है और गर्भ के कुछ अन्य लिङ्ग जैसे तन्द्रा, हल्लास, अङ्गमर्द, दौहृद, स्तन्य का दिखलाई पड़ना प्रभृति लक्षण पैदा होने लगते हैं। वायु के संसर्ग से पित्त का भी कोप होकर गुल्म का रूप वातपैत्तिक होकर क्रमशः शूल, स्तम्भ, दाह, अतिसार आदि होने लगते हैं। गर्भाशय में भी इसी कारण शूल और योनि से दुर्गन्धित आस्राव होने लगता है। गुल्म में भी स्पन्दन होता है; परन्तु वह गर्भाङ्ग स्फुरण सदृश नहीं होता; बल्कि पिण्ड स्पन्दन जैसे ज्ञात होता है। गुल्म का स्पन्दन पीडा के साथ और विलम्ब से होता है। गुल्म बढ़ता है; परन्तु कुक्षि नहीं। (सं० नि० ११)

रक्तगुल्म का वर्णन करते हुए इन्हीं लक्षणों का निर्देश आयुर्वेद के अन्यान्य ग्रन्थों (चरक, सुश्रुत, वाग्भट) में भी मिलता है। सुश्रुत ने लिखा है:—

(२) नव प्रसूता स्त्री यदि अहित भोजन करती हो या ऋतुकाल में उसके आम गर्भ का स्राव हो गया हो तो वायु बढ़कर उसके रक्त का गर्भाशय में अवरोध कर देता है तथा पैत्तिक लक्षणों वाले दाह एवं पीडा वाले रक्तगुल्म को उत्पन्न करता है जिसमें कई गर्भ के प्रमुख लक्षण उत्पन्न होने शुरू हो जाते हैं। इस रोग से पीडित स्त्री में गर्भ के सभी चिह्न उपस्थित रहते हैं; परन्तु (भेदकर लक्षण इतना ही होता है) गुल्म में स्पन्दन का अभाव रहता है और उदर की वृद्धि नहीं होती। इस प्रकार के विकार को रक्तगुल्म कहते हैं और विशेषज्ञ इसकी चिकित्सा के लिये, गर्भकाल के बीत जाने के बाद ही उपदेश करते हैं।

(३) काश्यप संहिता में बड़े विस्तार के साथ रक्तगुल्म-विनिश्चय का प्रसंग मिलता है। गर्भ अङ्ग, प्रत्यङ्गों से युक्त होता है और उन्हीं के द्वारा चेष्टा करता है। परन्तु रक्तगुल्म वृत्ताकार होता है और लोष्ठ (ढेले) के सदृश चेष्टा करता है। गर्भ एक स्थान से दूसरे को चलते हुए व्याविद्ध (विंधा हुआ) सदृश परिवर्त्तित होता है; गुल्म नाभि के अधो भाग में अव्याविद्ध (बिना विंधा हुआ) सदृश घूमता

है। गर्भ की मासानुमासिक क्रमिक वृद्धि होती है; परन्तु गुल्म इसके विपरीत मन्द-मन्द बढ़ता है।

(४) मूत्र के वेग के धारण करने वाले व्यक्तियों में वायु कुपित होकर वस्ति के मुख को रुद्ध कर देता है जिससे मूत्रसंग (रुकावट), पीडा, खुजली वस्ति में होने लगती है वस्ति बढ़ कर उद्वृत्त, स्थूल और दीर्घ हो जाती है। इस अवस्था में स्त्रियों में यह गर्भ सदृश ही दिखलाई पड़ती है। वस्ति में पीडा, दाह, कम्प, स्पन्दन, स्फुरण, एँठन (उद्वेष्टन) होना प्रारम्भ हो जाता है। वस्ति को दबाने पर बूंद-बूंद करके मूत्र का त्याग होता है, कई बार मूत्र की दो धारों में निकलना भी पाया जाता है। इस अवस्था को वातवस्ति कहते हैं। इस अवस्था में गर्भ से इस विकार का पार्थक्य करके निश्चिति देनी होती है।

वातोदर (Phantom pregnancy) या भूतहृत गर्भ (Spurious pregnancy) का भी रोचक वर्णन आयुर्वेद ग्रन्थों में मिलता है।

कई बार वातोदर (आन्त्र में वायु का भर जाना) गर्भ के समान प्रतिभासित होता है—इस अवस्था में निश्चय करने के लिये उपशयात्मक चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् वातशामक उपचार करने से यदि वातोदर की अवस्था होगी तो विलीन हो जायगी; परन्तु गर्भस्थिति होने पर बनी रहेगी।

चरक ने लिखा है कि कभी-कभी वायु के द्वारा रजःस्राव का गर्भाशय में निरोध हो जाता है। रक्तस्राव के अभाव में वह रक्त गर्भाशय में संचित होकर गर्भ का रूप ले लेता है और तत्सदृश लक्षण एवं चिह्नों को पैदा करता है। स्त्री भी अपने को गर्भवती समझने लगती है। परन्तु अग्नि, सूर्यताप, परिश्रम, शोक, राग, उष्ण अन्न-पान आदि के बाद वह संचित रक्त स्रवित होने लगता है और गर्भ के सम्पूर्ण लक्षण गायब होने लगते हैं। उससे केवल मात्र रक्त का स्राव होता है गर्भ का नहीं। इसको देख कुछ लोग, जो स्वयं अज्ञ है प्रेत के द्वारा हरा गया गर्भ मानते हैं। इसी को भूतहृत गर्भ कहते हैं। परन्तु इस प्रकार का कथन ठीक नहीं क्यों कि राक्षस ओज के खाने वाले होते हैं, उन्हें गर्भ का शरीर खाना इष्ट नहीं होता। यदि वे गर्भ शरीर के हरने में ही समर्थ होते तो अवसर पाकर माता का ओज ही क्यों नहीं नष्ट कर देते।

इसी प्रकार का वर्णन अन्यत्र (काश्यप संहिता में) भी मिलता है। गुल्म की अवस्था में स्त्री अपने को गर्भिणी समझती है। गर्भ के स्रवित हो जाने पर, गर्भ

के रूप के अभाव में, कुतूहलवश मूढ लोग नैगमेषग्रह से अपहृत हुआ गर्भ समझते हैं। इसी प्रकार की गर्भस्थिति की दूसरी संज्ञा 'परिप्लुत' दी गई है।

आधार तथा प्रमाण संचय—

(१) **रक्तगुल्म**—वातकफावृतमार्गाणां चाप्रवर्त्तमानं पित्तलैरुपाचरेत्। तद्धि वर्द्धमानमन्तर्वर्त्तमानं सशुक्लमशुक्लं वा जीवरहितं वातलान्यासेवमानाया योषितो गर्भलिङ्गानि दर्शयेद् गुल्मीभवति। तत्र गुल्मचिकित्सितमीक्षेत। (सङ्ग्रहशा० १)

तत्र यदाऽसावृतुमती नवप्रसूता योनिरोगिणी वा वातलान्यासेवेत तदाऽस्या वायुः प्रकुपितो योन्या मुखमनुप्रविश्यार्त्तवमुपरुणद्धि। तदुपरुध्यमानं मासे मासे कुक्षिमभिनिर्वर्त्तयति गर्भलिङ्गानि च हृल्लासतन्द्राङ्गसाददौहृदस्तन्यदर्शनादीनि। वायुसंसर्गात् पुनः पित्तैकप्रकोपतया च वातपित्तगुल्मरूपाणि क्रमाच्छूलस्तम्भदाहातीसारादीनि गर्भाशये च सुतरां शूलं तथा योन्यां दौर्गन्ध्यमास्रावं च करोति। गुल्मश्च न गर्भ इवाङ्गैः पिण्डित एव तु चिरेण सशूलं स्पन्दतो गुल्म एव वर्धते न कुक्षिः।(सं० नि० ११)

शोणितगुल्मस्तु खलु स्त्रिया एव भवति न पुरुषस्य। गर्भकोष्ठार्त्तवागमनवैशेष्यात् पारतन्त्र्यादवैशारद्यात् सततमुपचारानुरोधात् वेगानुदीर्णानुपरुन्धत्या आमगर्भे वाप्यचिरात् पतिते अथवाऽप्यचिरप्रजाताया ऋतौ वा वातप्रकोपणान्यासेवमानायाः क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते स प्रकुपितो योनिमुखमनुप्रविश्यार्त्तवमुपरुणद्धि मासि मासि। तदार्त्तवमुपरुध्यमानं कुक्षिमभिवर्धयति। तस्याः शूलकासातीसारच्छर्द्यरोचकाविपाकाङ्गमर्दनिद्रालस्यकफप्रसेकाः समुपजायन्ते स्तनयोश्च स्तन्यमोष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यं ग्लानिश्चक्षुषोर्मूर्च्छा हृल्लासो दौहृदः श्वयथुश्च पादयोरीषच्चोमराज्यो योन्याश्चाटालत्वमपि च योन्या दौर्गन्ध्यमास्रावश्चोपजायते केवलश्चास्या गुल्मः स्पन्दते। तामामगर्भां गर्भिणीमित्याहुर्मूढाः। (च० नि० ४)

(२) नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम्॥
पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं विशेषणं चाप्यपरं निबोध।
न स्पन्दते नोदरमेति वृद्धिं भवन्ति लिङ्गानि च गर्भिणीनाम्।
तं गर्भकालातिगमे चिकित्स्यमसृग्भवं गुल्ममुशन्ति तज्ज्ञाः॥(सु० उ० ४२)

दुष्प्रजाताऽऽमगर्भा च गर्भसूर्बहुमैथुना। अन्वक्षगर्भकामा च बहुशीतार्त्तवा च या॥
उदावर्त्तनशीला च वातलान्ननिषेविणी। या स्त्री तस्याः प्रकुपितो वातो योनिं प्रपद्यते॥

निरुणद्ध्यार्त्तवं तत्र मासिकं सञ्चिनोति च। रक्ते च संस्थिते नारी गर्भिण्यस्मीति मन्यते॥
स्तनमण्डलकृष्णत्वं रोमराजिः सदोहृदा। गर्भिणी रूपमव्यक्तं भजते सर्वमेव तु॥
वि(अ)पाकपाण्डुकार्श्यानि भवन्त्यभ्यधिकानि तु। इत्येवंलक्षणं स्त्रीणां रक्तगुल्मं प्रचक्षते॥
(गुल्मचिकित्साध्याये कश्यपः)

(३) अङ्गप्रत्यङ्गवान् गर्भस्तैरेव च विचेष्टते। रक्तगुल्मस्तु वृत्तः स्याल्लोष्टवच्च विचेष्टते॥
स्थानात्स्थानं व्रजन् गर्भो व्याविद्धं परिवर्त्तते। नाभेरधस्ताद् गुल्मोऽयमव्याविद्धं विवर्त्तते॥
आनुपूर्व्येण गर्भश्च अहन्यहनि वर्द्धते। विपरीतं तु गुल्मस्तुमन्दं मन्दं विवर्धते॥
तां तामवस्थां गर्भस्तु मासि मासि प्रपद्यते। (का० सं० र० गु० विनिश्चयाध्याय)

(४) मूत्रसन्धारिणः कुर्याद्रुद्ध्वा वस्तेर्मुखं मरुत्। मूत्रसङ्गं रुजं कण्डूं कदाचिच्च स्वधामतः॥
प्रच्याव्य वस्तिमुद्वृत्तं गर्भाभं स्थूलविप्लुतम्। करोति तत्र रुग्दाहस्पन्दनोद्वेष्टनानि च॥

विन्दुशश्च प्रवर्त्तेत मूत्रं वस्तौ तु पीडिते।
धारया द्विविधोऽप्येष वातवस्तिरिति स्मृतः॥ (वा० नि० १०)

(५) **वातोदरम्**—कदाचिद्वा गर्भ इव वातोदरं भवति।
तद्वातोपशमनैरुपशाम्यति॥ (सङ्ग्रह शा० १)

भूतहृतगर्भ—असृङ्निरुद्धं पवनेन नार्या गर्भं व्यवस्यन्त्यबुधाः कदाचित्।
गर्भस्य रूपं हि करोति तस्यां तदस्रमास्राविविवर्धमानम्॥
तदग्निसूर्यश्रमशोकरागैरुष्णान्नपानैरथवा प्रवृत्तम्॥
दृष्ट्वाऽसृगेवं न च गर्भसंज्ञं केचिन्नरा भूतहृतं वदन्ति॥
ओजोशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम्।
गर्भं हरेयुर्यदि ते न मातुर्लब्धावकाशा न हरेयुरोजः॥ (च० शा० २)

गर्भिण्या यानि रूपाणि तानि संदृश्य तत्त्वतः। वर्षाणि हरति व्याधिं गर्भोऽयमिति दुःखिता॥
केनचित्त्वथ कालेन निर्भेदं यदि गच्छति। ततो गुल्मप्रमुक्ता सा ज्ञातिमध्येप्रभाषते॥
गर्भिण्यहं चिरंभूत्वा प्रच्युते गर्भशोणिते। गर्भरूपं न पश्यामितत्र मे संशयो महान्॥
तमिदं प्रतिभाषन्ते सर्वग्रामकुतूहलाम्। दिव्यो गर्भो व्यतिक्रान्तो नैगमेषेण ते हृतः॥
इत्येनामबुधाः प्राहुर्हृतगर्भमशोभनम्। परिप्लुत इति प्राहुः कुशला ये मनीषिणः॥
(रक्तगुल्मविनिश्चयाध्याये काश्यपः)

(अभिनव प्रसूति तन्त्र) (Midwifery by Johnstone)

तीसरा अध्याय

गर्भसम्बन्धी अन्यान्य विनिश्चय (Diagnosis Contineud)

गर्भ की आयु का निर्णय—

गर्भ में मासिक क्रम से जिन-जिन लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है उनका संकलन करते हुए कितने मास का गर्भ है बतलाया जा सकता है। इसका विशद उल्लेख पाठकों की सुविधा के लिये नीचे किया जा रहा है। जैसे—

प्रथम मास में—आर्त्तवादर्शन, स्तनों का भारीपन।

द्वितीय मास में—आर्त्तवादर्शन, प्रातर्ग्लानि, चूचुकों की कृष्णता, गर्भाशय वृद्धि, हेगर का चिह्न।

तृतीय मास में—आर्त्तवादर्शन, प्रातर्ग्लानि, स्तनमण्डल की कृष्णता, स्तन से स्राव, ग्रीवा की मृदुता, ग्रीव और योनि का वर्णविपर्यय, गर्भाशय का बढ़कर श्रोणिकण्ठ रेखा तक पहुँचना।

चतुर्थ मास में—आर्त्तवादर्शन, प्रातर्ग्लानि, स्तनों की कृष्णमुखता, पिडका-विर्भाव, ग्रीवा-मृदुता, योनिवर्ण-विपर्यय, गर्भाशयध्वनि, गर्भस्फुरण, गर्भप्रत्याघात, गर्भाशय का बढ़कर नाभि और भगसन्धानिका के बीच में आ जाना।

पंचम मास में—गर्भहृच्छब्द, उपमण्डलनिर्माण, चतुर्थमास में उक्त लक्षणों की उपस्थिति।

षष्ठ मास में—पूर्वोक्त लक्षणों के अतिरिक्त किक्किस और वर्णराजि। गर्भाशय का बढ़कर नाभि के शीर्ष तक पहुँचना।

सप्तम मास में—सभी उत्तम बल वाले गर्भलक्षणों (Positive signs) की अभिव्यक्ति। गर्भाशय का बढ़कर नाभि के तीन अंगुल ऊपर तक उठ आना।

अष्टम मास में—गर्भाशय का नाभि और अग्रपत्र के मध्य तक पहुँचना। नालध्वनि की उत्पत्ति। उत्तम बल-लक्षणों की विद्यमानता।

नवम मास में—गर्भाशय का बढ़ते हुए अग्रपत्र तक पहुँच जाना। उत्तम बल लक्षणों की उपस्थिति।

दशम मास में—गर्भाशय कुछ नीचे को गिरकर पुनः अष्टम मास की सीमा तक आ जाता है। उत्तम बल-लक्षणों में सभी की विद्यमानता रहती है।

गर्भ की अवस्था (गर्भ के जीवित या मृत होने का निदान)

गर्भजीवित है या नहीं? गर्भ के जीवित रहने का एक ही सबसे अधिक महत्त्व का और प्रामाणिक चिह्न है हृच्छब्द तथा गर्भचेष्टायें। परन्तु प्रारम्भिक कहीं तो जब तक कि ये लक्षण व्यक्त नहीं हुए रहते उदर की क्रमिक वृद्धि, स्तनों के परिवर्त्तन हो गर्भ के जीवनसाक्षी होते हैं। अर्थात् अनुमान से ही ज्ञान सम्भव है परन्तु मृत हुए गर्भ का निश्चय अपेक्षाकृत आसान होता है।

यदि पूर्व गर्भकाल में गर्भ की मृत्यु हो गई हो; तो गर्भाशय की बार-बार परीक्षा करने पर भी गर्भस्थित सा ही प्रतीत होता है उसमें वृद्धि का होना रुक जाता है। स्तन भी म्लान हो जाते हैं और बढ़ते नहीं। आर्त्तवादर्शन के अतिरिक्त सभी गर्भस्थिति लक्षण लुप्त हो जाते हैं। गर्भाशय से प्रायः एक प्रकार का कपिशवर्ण (Brown) का दुर्गन्धयुक्त स्राव निकलता है। कभी-कभी थोड़ी-थोड़ी मात्रा में योनि से रक्तस्राव भी होता है।

यदि उत्तरकाल में गर्भ की मृत्यु हो गई हो तो हृच्छब्द नहीं सुनाई देता गर्भाङ्गों की गति या चेष्टाओं का अनुभव नहीं होता। दोनों स्तन शिथिल हो जाते हैं। उपमण्डल नष्ट हो जाता है। योनिपरीक्षा से शिरःकपाल ढीले और अस्थिर प्रतीत होते हैं—'क्ष' किरण चित्र से परस्पर एक दूसरे पर चढ़े (आश्लिष्ट) दिखलाई पड़ते हैं। पुनः कुछ काल के बाद जब गर्भ गल जाता है तो उसके विष के संचार के कारण गर्भिणी अस्वस्थ हो जाती है और उसमें गुरुता, थकावट, अङ्गमर्द, दुर्बलता, क्षुधा का नष्ट होना, मुख की विरसता और दुस्वप्नों का देखना प्रभृति लक्षण पैदा हो जाते हैं।

मरा हुआ गर्भ प्रायः शीघ्र ही (आगामि ऋतुकाल में) सम्पूर्णतया या खण्डशः बाहर निकल जाता है। भीतर में भी पड़ा कई बार कई सप्ताहों तक और कभी पूरे गर्भकाल तक रह सकता है।

प्राचीन ग्रन्थों में भी लिखा है:—(१) गर्भ की मृत्यु हो जाने पर माता का उदर स्तिमित, स्तब्ध और तनावयुक्त हो जाता है—उसका स्पन्दन नष्ट हो जाने से माता के उदर में उसका अनुभव अन्तर्गत शीतल पत्थर के टुकड़े जैसा होता है। शूल अधिक होता है। आवियों (Labour pain) का उद्भव नहीं

होता, योनि का स्राव बन्द हो जाता है आँखें नीचे को लटक जाती हैं। गर्भिणी को सांस लेने में कठिनाई, पीडा होना, चक्कर आना, बेचैनी, किसी कार्य में चित्त न लगना, पहले जैसे स्वाभाविक वेगों का अभाव प्रभृति लक्षण मृतगर्भा स्त्री में मिलते हैं।

(२) गर्भ के स्पन्दन और आवी का नाश, पाण्डुता, श्यावता, श्वास से दुर्गन्ध, शूल आदि लक्षण शिशु के अन्तर्मृत होने से पाये जाते हैं।

(३) अन्तर्मृत गर्भ फूली हुई मसक जैसे होता है। इससे द्वार के आवृत हो जाने के कारण गर्भिणी की कुक्षि आध्मापित हो जाती है। मूत्रवस्ति फटी जा रही हो या अङ्ग ऊपर की ओर फेंके जा रहे हों, इस प्रकार का अनुभव स्त्री को होता है। क्लोम, यकृत, प्लीहा, फुप्फुस और हृदय गर्भ से पीडित (दबाव) होकर ऊपर को चढ़ जाते हैं—जिससे पीडन के लक्षण पैदा होने लगते हैं और गर्भिणी को मूर्च्छा, बेहोशी, श्वासकृच्छ्र, शोथ तकलीफें होने लगती हैं। उसके श्वास से बदबू आती, पसीना छूटता, जिह्वा और तालु सूखने लगते हैं। सारे शरीर में कम्प होने लगता है और चक्कर देने लगती है और अन्त में प्राण भी निकल जाता है। इन लक्षणों के आधार पर चिकित्सक को मृतगर्भ का निदान करना चहिये।

गर्भ की संख्या का निर्णय

गर्भ एक है या अनेक इसका भी विचार आवश्यक होता है। क्ष-किरण चित्र दर्शन, पृथक्-पृथक् स्थानों पर हृत्स्पन्दों का मिलना, विषम स्पन्दन (दो हृदयों की स्थिति के कारण), दोनों कानों से समानकाल में शब्द को सुनना, स्पर्शपरीक्षा से सिर, चूतड़, हाथ, पैरों की अधिक संख्या में प्राप्ति-युग्म, त्रिक (तीन) या अनेक गर्भ के निर्णय में सहायभूत चिह्न हैं।

अन्य उपद्रवों की उपस्थिति या अनुपस्थिति

गर्भ का निदान करते समय इसका ज्ञान भी अत्यन्त आवश्यक है। अन्य उपद्रवों से युक्त कहने का तात्पर्य होता है मिथ्या उदर, अर्बुदों की उपस्थिति, श्रोणि संकोच (Contracted Pelvis), गर्भोदक की अधिकता, पुरस्थ अपरा आदि। इनके विशिष्ट लक्षण एवं चिह्नों का ज्ञान करके निर्णय करना चाहिये।

प्रथम और परवर्ती गर्भस्थिति का विनिश्चय—

अवयव	प्रथम गर्भस्थिति में	परवर्त्ती गर्भस्थिति में
उदर की त्वचा	खरस्पर्श, तनावयुक्त, किक्किस या वर्णराजि लाल रंग की	मृदु, वलियुक्त, किक्किस श्वेतवर्ण का
उदर की दीवालें	कठिन, तनावयुक्त, गर्भ तथा गर्भाशय आसानीसे स्पर्शलभ्य नहीं रहते।	शिथिल, गर्भ तथा गर्भाशय स्पर्शन के योग्य (Palpable)
स्तन	कठिन खरस्पर्श गोलाकार, किक्किस लाल रंग के।	कम कठिन, हिलने योग्य (Pendulous) किक्किस श्वेत।
भग(Vulva)	चौड़ा (विस्तृत) नहीं होता।	अधिक विस्तृत रहता और वर्ण में सिरा कुटिलता के कारण नीले रंग का हो जाता है।
भगालिन्द	प्रकृत	अनुपस्थित अथवा पूर्व के विदार के कारण व्रणवस्तु युक्त।
योनिच्छद	पहचानने योग्य, विदरित, यत्र तत्र गर्त्तयुक्त।	कील या अंकुरवत् (Wart like tags)
योनि	संवृत (सँकरी), झुर्रीदार, कर्कश।	विवृत, मृदु
ग्रीवा का योनिगत भाग	लम्बगोल (Fusifom) मृदु	मृदु, शंकाकार नहीं होता, मृदु अवलम्बि (Flap) सदृश लटकता रहता है।
अन्त के मास या छः सप्ताह में	लघुश्रोणि में सिर आ जाता है योनि के पूर्वकोण की नीचे को दबाता हुआ मिलता है।	गर्भाशय द्वार (Os) से सिर का अनुभव, लघुश्रोणि में बहुत कम उतरा हुआ रहता है, परन्तु श्रोणिकंठ रेखा पर हिलाया जा सकता है। आवि के प्रादुर्भाव होने से वह अन्तर्द्वार (Inlet) पर आकर लग जाता है।
जब शिरोवतरण होता है।	ग्रीवा का पूर्व ओष्ठ विस्फारित होता है।	अन्तर्द्वार खुलता है, ग्रीवा एक चोंगे के (Funnel) आकृति की हो जाती है, जिसमें उसका सँकरा भाग ऊपर को रहता है

गर्भकाल—(Duration of pregnancy) साधारणतया अन्तिम रजःस्राव (गर्भधारण के पूर्व वाले) के प्रारम्भिक दिन से प्रसव तक का काल

२८० दिनों का माना गया है। इन २८० दिनों में ४–५ दिन रजःस्राव का, दो-तीन शुक्र शोणित संयोग का छोड़ कर शेष २७२ दिन का काल गर्भकाल या गर्भाशय में आवास काल माना जाता है। किन्तु यह उन्हीं स्त्रियों में सम्भव है जिनमें यह निश्चित हो कि प्रथम समागम में ही गर्भाधान हुआ है।

इस प्रमाण के अन्दर कई जैवकीय (Biological) कल्पनायें अन्तर्निहित है। उदाहरणार्थ—ऐसा माना जाता था कि वीजोत्सर्ग ठीक आर्त्तवस्राव के अन्त में होता है तथा साथ ही आर्त्तवस्राव के कुछ दिनों बाद तक ही सबसे अधिक गर्भ-धारण क्षमता विद्यमान रहती है।

चूँकि अब हम जानते हैं कि वीजोत्सर्ग प्रायः आर्त्तवस्राव के प्रारम्भ होने के दिन से १२ से १७ दिन में होता है। उपर्युक्त प्रमाण के साथ इस ज्ञान का सम्बन्ध सिद्ध करने के हेतु यह कल्पना करनी पड़ती है, कि शुक्राणुवों में गर्भ-जननक्षमता कई दिनों तक विद्यमान रहती है—लेकिन यह कल्पना जैवकीय आधार के पूर्णतया प्रतिकूल है। यद्यपि 'डुहर्षन' और 'फ्रैंकेल' तथा कुछ अन्य विद्वानों ने समागम के बीस दिनों के बाद भी, वीजवाहिनी में गतिमान् शुक्राणुओं को पाया; लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि उनमें गर्भजनन-क्षमता विद्यमान थी, जैवकीय निदान से यह स्पष्ट है कि अड़तालीस घंटे के बाद शुक्र में गर्भजनन शक्ति नहीं रह जाती तथा स्त्री-वीज में भी वीजपुटक से निकलने के कुछ देर बाद तक ही गर्भजनन-क्षमता विद्यमान रहती है। इस प्रकार गर्भ-धारणा तभी हो सकती है जब कि कार्य शील शुक्राणुओं का संयोग इस सीमित काल में ही हो जाय।

उपर्युक्त ज्ञान का आधार 'कौस' नामक वैज्ञानिक का सिद्धान्त है कि गर्भ धारणा तभी हो सकती है जब कि वीजोत्सर्ग दिन से तीन दिन पूर्व, एवम् एक दिन के पश्चात् काल के अन्दर समागम हुआ हो। उनका कथन है कि वीजोत्सर्ग में निश्चित काल का निर्णय एक ऐसी स्त्री पर जिसका मासिक चक्र नियमित है अन्तिम स्राव के तिथि पर किया जा सकता है। वे इस प्रमाण के साथ कई उदाहरण समक्ष रखते हैं। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से गर्भधारणा चक्र के किसी भी अंश में हो सकती है। इस उपर्युक्त सिद्धान्त के प्रतिपादन को भी सन्दिग्ध मानना ही उचित होगा।

आधुनिक वैज्ञानिक गवेषणावों के आधार पर गर्भकाल का परिगणन रजःस्रावके

आरम्भ होने के बारहवें दिन से होता है; जो कि २७३ दिन के बदले २६५ दिनों का ही होता है। फलतः व्यक्तिभेद से काल का अन्तर होना सम्भव है। दूसरी बात यह है कि समागम की तिथि का ठीक ज्ञान न रहने से अनुमान में दिनों की संख्या विभिन्न हो जाया करती है। साथ ही साथ पूर्ण प्रगल्भ सन्तान के पैदा होने में गर्भकाल अधिक बढ़ सकता है।

यह भी कहा जाता है कि गर्भावस्था दस आर्त्तव—चक्र काल की होती है। लेकिन इस आधार पर प्रसव-तिथि का निर्णय करना, साधारण नियम की अपेक्षा अधिक उपयोगी नहीं मालूम पड़ता। पूर्ण प्रगल्भ प्रसवों में गर्भकाल न्यूनतम २४० दिनों का और दीर्घतर या दीर्घतम ३१३-३२० तथा ३३१ दिनों तक का भी देखा गया है।

पति की मृत्यु या अनुपस्थिति के नौ महीने बाद उत्पन्न सन्तान न्यायोचित है या नहीं यह प्रश्न न्यायालय में आता है। 'इंग्लैंड' के न्यायालयों में दीर्घतम गर्भकाल ३३१ दिनों का माना जाता है; किन्तु यह निर्णय अधिकतर अनुकूल प्रमाणों के बजाय प्रतिकूल प्रमाणों पर ही आधारित है। प्रथम तो इसमें कोई वैज्ञानिक तथ्य नहीं है—जिससे प्रसूति-शास्त्रज्ञ धोखे में पड़ सकता है और वह प्रसव काल को ठीक बतलाने में असमर्थ रहता है। दूसरा यह कि इस विशिष्ट स्थिति में कोई परिस्थिति जन्य ऐसा प्रमाण भी नहीं मिलता, जिसके आधार पर माता की नैतिकता या चरित्रबल पर प्रकाश पड़े। इस बातको प्रमाणित करना कि अधिक काल से गर्भ गर्भाशय में पड़ा है बड़ा कठिन होता है और उसकी निश्चिति तब तक नहीं दी जा सकती जब तक कि वह प्रत्यक्षतया निर्णीत न हो तथा गर्भ-शिशु असाधारणतया वृद्धि को प्राप्त न कर चुका हो।

प्रसवकाल का निर्णय या प्रसव की तिथि निर्धारित करना—प्रसव के सम्बन्ध में विशिष्ट तिथि का निर्धारित करना एकान्ततः कठिन कार्य है। तिथि का निर्धारण अनुमान से करना होता है अतः तिथि सदैव संभावित ही होती है। उसी के कुछ आगे-पीछे प्रसव का आरंभ होता है। इस तिथि-निर्णय की कई विधियाँ हैं। विशेषतः चार प्रकार से यह तिथि निकाली जाती है—१. अन्तिम रजोदर्शन की तिथि से, २. गर्भ के स्फुरण की तिथि से, ३. गर्भाशय—वृद्धि की सीमा से, ४. गर्भाण्ड की दीर्घता के अनुसार।

(१) रजःस्राव प्रारम्भ होने की तिथि में ७ दिन और जोड़कर आगे नौ महीने के उसी संख्या की तारीख को अथवा तीन महीने पूर्व उसी संख्या की तिथि को प्रसव-तिथि निश्चित करें। जैसे यदि किसी स्त्री को तीन जून को मासिकधर्म हुआ हो तो इसमें और सात जोड़ दे, दोनों का जोड़ दस होगा। अथवा तीन महीने पूर्व की तिथि १० मार्च ही पड़ेगी; जो प्रसव तिथि होगी। इस नियम के अनुसार प्रसव कुछ दिन पूर्व या कुछ दिन पश्चात् भी हो सकता है।

(२) अन्तिम आर्त्तव दर्शन के आगे दस आर्त्तव कालान्तर गिन लेने से भी प्रसव की संभवनीय तिथि जानी जा सकती है।

(३) गर्भस्पन्दन (जो गर्भावस्था के ४½ मास में प्रारम्भ होता है।) की तिथि में सांढ़े चार मास और जोड़ने से (२२ सप्ताह) प्रसव की तिथि जानी जा सकती है।

(४) **गर्भाशयवृद्धि की सीमा**—वर्धमान गर्भाशय की मासिक सीमा-निर्देश का उल्लेख पूर्व में हो चुका है। इस सीमा-ज्ञान से भी गर्भ के बीते महीनों का ज्ञान हो जाता है इसके आधार पर आनुमानिक काल प्रसव का बताया जा सकता है। आठवें और दसवें मास की सीमा समान होती है। ऐसी अवस्था में विभेदक लक्षणों के आधार पर मास का निर्णय देना होता है। दशम मास में उदर की अतीव वृद्धि, अधोभाग की गुरुता, हृदय की वन्धन-मुक्ति विशेष चिह्न मिलते हैं-इनके अभाव में अष्टम मास समझना चाहिये।

तथापि उदर सीमा के ऊपर प्रसवकाल का निर्णय देना एक अनिश्चित प्रमाण है, क्योंकि यह साधारणतया सभी स्त्रियों में (प्रथमगर्भा को छोड़कर) एक सा ऊँचा नहीं होता। इसके अलावे कई रोगों की विद्यमानता में भी इसकी ऊँचाई मासानुसार नहीं मिलती। जैसे—

(क) साधारण से कम ऊँचाई—वहिर्गर्भस्थिति, गर्भोदकन्यूनता, मृतगर्भ और पश्चात् गर्भभ्रंश।

(ख) साधारण से अधिक ऊँचाई—विकृतगर्भ, भ्रूणकोषवृद्धि (Hydramnios), अर्बुद, अद्भुतगर्भ (Monaters), शिरोजलातिवृद्धि, अनेक गर्भ और अभिघातज अन्तर्गत रक्तस्राव—

प्राचीन ग्रन्थों में—कालप्रसव तथा कालातीत प्रसव की मर्यादा वतलाई गई है। सुश्रुत और वाग्भट के अनुसार यह मर्य्यादा चार महीने की (नवें-

दसवें, ग्यारहवें-बारहवें) होती है। चरक के मत से केवल दो महीनों (नवें और दसवें) की होती है। इस मतभेद को तथा मर्य्यादा के अन्तर को देखकर यह कहना पड़ता है कि प्राचीन ऋषियों को प्रसवकाल निश्चित मालूम नहीं था अथवा काल-प्रसव का निश्चित समय, जो सब स्त्रियों में लागू हो, एक नहीं हो सकता। पाश्चात्य देशों में प्रसूति-शास्त्रज्ञों ने बहुत कुछ अन्वेषण किया। डा० रीड ने ४० स्त्रियों में पुरुष संयोग के दिन से प्रसव तक के दिनों तक गिनती की तो उसको २६० से २९४ दिनों तक प्रसवकाल की अवधि में अन्तर मालूम पड़ा। दूसरे विशेषज्ञ डा० 'सिम्पसन' ने रजोदर्शन दिन से ७८२ स्त्रियों में प्रसवकाल की अवधि निश्चित करने की कोशिश की तो उसको ३२६-३५२ दिनों तक प्रसवकाल की अवधि में विविधता मालूम हुई। इसी प्रकार एक दूसरे वैज्ञानिक (डा० 'राशिङ्ग') ने एक ही स्त्री में तीन बार प्रसवकाल की मर्य्यादा देखी, पहली बार यह काल २७७ दिनों का, दूसरी बार ३२५ दिनों का और तीसरी बार २८५ दिनों का मिला। इङ्गलैण्ड में 'हाउस आफ लार्ड्स' में 'गार्डनर पियरेज केस' में गर्भकाल की अवधि की अधिक से अधिक मर्यादा निश्चित करने की जरूरत पड़ी। उस समय सारे यूरोप के प्रसिद्ध प्रसूतिशास्त्रज्ञ गवाही देने के लिये बुलाये गये थे, उनमें कुछ लोगों ने अधिक से अधिक मर्यादा १७ महीने या ४८ सप्ताह की बतलाई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसवकाल की कोई निश्चित एक मर्यादा नहीं हो सकती। प्रत्येक स्त्री में तथा कभी-कभी एक ही स्त्री की विभिन्न गर्भ-स्थितियों में यह मर्यादा भिन्न-भिन्न हो सकती है। अतः सुश्रुत और वाग्भट ने जो मर्यादा बतलाई है, वह आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञों की मर्यादा से पूर्णतया मिलती हुई है।

(१) दसवें मास से आरंभ करके प्रसवकाल की मर्यादा बाद के दिनों में मानी जाती है इसका अभिप्राय अधिक प्रशस्तकाल से है। सुश्रुत में बारहवें मास तक प्रसव होना भी ठीक कहा गया है। ग्यारहवें-बारहवें मास में अल्प दोष तो रहता ही है; फिर भी दोष की अल्पता के कारण उसको अदोष ही मान कर ग्रन्थकारों ने निर्दोष, सम्यक् या ठीक प्रसव होना ही माना है—ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् बारहवें मास तक का प्रसव भी प्रशस्त ही है और ठीक है। (चक्रपाणि)

(२) नवम मास के बाद एक दिन व्यतीत हो जाने पर अर्थात् नवम मास

के प्रारम्भ से ही बारहवें मास तक प्रसवकाल कहा जाता है। इससे अधिक गर्भ का गर्भाशय में रहना विकृति का द्योतक है।

(२) सुश्रुत ने भी लिखा है कि नवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें में से किसी महीने में (किसी तिथि को) गर्भ का (स्वाभाविक) प्रसव होता है। इसके अनन्तर यदि गर्भ उदर में रहे तो वैकारिक होता है।

आधार तथा प्रमाण-संग्रह.—

१. **अथाह चक्रपाणिः**—आदशमादिति वचनं प्रशस्तप्रसवकालाभिप्रायेण। सुश्रुते द्वादशमासपर्यन्तं प्रसवकालाभिधानम् स्तोकदोषयोरेकादशद्वादशमासयोरेवा-ल्पदोषत्वेनाऽदोषपक्ष एव निक्षेपाद् बोद्धव्यम्।

२. तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवममासमुपादाय (प्रसव) कालमित्याहुरादशमाद् मासात्। एतावान् कालः। वैकारिकमतः परं कुक्षौ स्थानं गर्भस्य।

(च. शा. ४)

३. नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते। अतोऽन्यथा विकारी भवति। (सु. शा. ३)

(Midwifery by Johnstone)

(सुश्रुतशारीर हिन्दी टीका—भा. गो. घाणेकर, अभिनव प्रसूतितन्त्र)

चौथा अध्याय

गर्भिणी परिचर्या तथा स्वस्थवृत्त

(Antenatal Supervision and Hygiene of Pregnancy)

गर्भिणीचर्या का तात्पर्य है—गर्भकाल में अपनी तथा गर्भ की रक्षा की दृष्टि से प्रसूतिकर्मकुशल चिकित्सक का उपदेश लेकर गर्भवती का आहार, विहार और आचार का स्वकीय अनुष्ठान। इस प्रकार के आचरण से स्वस्थगर्भिणी का स्वास्थ्य-रक्षण, रुग्णा का रोगोपशम, गर्भ के विनाशकारी कारणों का परिहार तथा प्रसव के बाधक भावों का दूरीकरण होकर, स्वस्थ संतान की उत्पत्ति होती है।

स्त्रियों को स्वस्थ संतान उत्पन्न हो, इसके लिये जहाँ तक हो सके, गर्भिणी के स्वास्थ्य की रक्षा एवं प्रसव के समय परिहारयोग्य बाधाओं से बचाना तथा इसके

लिये आवश्यक देखरेख करना आवश्यक है । इस गर्भिणीपरिचर्या का महत्त्व पाश्चात्य देशों में इतना अधिक है कि 'यूरोप' की प्रतिनिधि सभा ने स्थानीय अधिकारियों के ऊपर एक चिकित्सक तैनात किया है, जो कि इस कार्य की देखरेख किया करती है । वहुत से स्थानों पर ऐसा करते हुए विशिष्ट स्वास्थ्याधिकारियों को पूरे समय तक कार्य में रहना पड़ता है । यह भी निःसंदेह है, कि गर्भिणी-परिचर्या का विस्तार किसी हद तक उपयोगी सिद्ध हुआ है । किन्तु साथ ही यह भी सत्य है, कि मातावों के मृत्यु प्रमाण में भी किसी प्रकार की कमी नहीं हो सकी है, जिसके लिये कि आशा की गई थी । इसके वहुत से कारण हैं, जिनमें कुछ उल्लेखनीय हैं । गर्भावस्था, प्रसवावस्था तथा सूतिकावस्था इन तीनों दशाओं में परिचर्या एक ही चिकित्सक अथवा संस्था द्वारा होनी चाहिये । जब कि एक चिकित्सक गर्भावस्था में परिचर्या करता है, दूसरा प्रसव कराता है—ऐसी स्थिति में अच्छे से अच्छे परिणाम की आशा नहीं की जा सकती । दूसरा चिकित्सक उस रोगी के विषय में इतना अनुभव नहीं प्राप्त कर सकता जितना कि उस चिकित्सक को होगा, जो कि गर्भावस्था से ही लगातार उसकी परिचर्या कर रहा है । इन मामलों में हमारी यह परिचर्या–पद्धति आम जनता की हित की दृष्टि से अधूरी है। प्रथम तो अधिक संख्या में स्त्रियाँ परिचर्या कराती ही नहीं, जो कराती भी हैं उनमें से वहुत सी चिकित्सक के आदेशों का पूर्णरूपेण पालन नहीं करतीं । इसके सिवाय कभी–कभी अयोग्यतापूर्ण परिचर्या भी होती है । इस प्रकार की अयोग्यता पूर्ण परिचर्या चिकित्सक, रोगी या दोनों के जरिये हो सकती है । अच्छे परिणाम की दृष्टि से ऐसी परिचर्या जिस में कि केवल अन्तिम मास में रोगी को देख भर लिया जाता है; विल्कुल वेकार सी रहती है । अन्त में यह भी कहा जाता है कि गर्भिणी परिचर्या एवं परीक्षाविधि, प्रसूतिशास्त्र के अन्दर वहुत सरल है, इसके लिये शिक्षा विशेप की आवश्यकता नहीं है । ऐसा कहना अर्ध सत्य और वञ्चना देनेवाला है । यद्यपि यह कला कठिन नहीं है, तथापि परिश्रमपूर्वक अभ्यास करना, व योग्यताप्राप्तितथा आत्मनिर्भरता के लिये आवश्यक है । इस विषय से परिचित होने के लिये छात्रों को अवसर की खोज करते रहना चाहिये । तथा यथावसर उसका अभ्यास प्राप्त करना चाहिये ।

इसका कारण यह है कि संदिग्ध तथा वास्तविक गर्भ, गर्भशिर तथा मातृ-श्रोणि का असमानानुपात, मूढगर्भ, प्राथमिक विपमयता के लक्षण, हृदय तथा

फुफ्फुस के रोग, रक्ताल्पता और संक्रमण प्राप्त व्रण आदि बातों की चिकित्सा योग्यतापूर्वक यदि प्रारम्भमें ही कर दी जाय, तो गर्भ एवं गर्भिणी की अनेक भावी विपत्तियों से रक्षा हो सकती है। अधिकतर स्त्रियाँ इन सब चीजों को सामने रखती ही नहीं; तथापि यह स्मरण रखना बड़े महत्त्व का है कि—**गर्भिणीपरिचर्या का अर्थ गर्भवती के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ की रक्षा करना है, न कि उसके किसी छोटे से विकार को बड़ा करके बताना।** इस परिचर्या में चिकित्सक तथा रोगी दोनों को एक दूसरे की जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिलता है। चिकित्सक रोगी के व्यक्तित्व को समझने का तथा रोगी को उसके द्वारा फिर से हिम्मत बाँधने का मौका मिलता है—जो साहस तथा शान्ति के साथ प्रसव तक पहुंचने में समर्थ बनाता है। यह क्रिया जितनी जल्दी शुरू की जाय उतना ही अच्छा है। माता जैसे ही अपने को गर्भिणी होने का संदेह करती है, वैसे ही वह चिकित्सक के पास जाकर राय ले, इसके लिये उसको प्रोत्साहित करना चाहिये। इससे चिकित्सक को साधारण निरीक्षण (वैद्यकीय) करने का तथा आवश्यकतानुसार स्वास्थ्य के विषय में राय देने का अवसर प्राप्त होता है।

नियमानुसार श्रोणि गुहा की परीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है—जब तक कि चिकित्सक को उसके गर्भ के निदान की आवश्यकता न पड़े। अब इस समय से (गर्भस्थिति के संदिग्ध काल से) पूरे गर्भ कालतक गर्भिणी की देखरेख एक मास के अन्तर से—छः महीने तक, प्रतिपक्ष दूसरे दो मासों में तथा प्रतिसप्ताह पर अन्तिम कालों में सतत करते रहना चाहिये। रोगी को भी—रक्तस्राव, वमन की बहुलता, मूत्रकृच्छ्र, शोथ, अनवरत शिरःशूल प्रभृति कष्टों का जिनपर तुरन्त ध्यान देने की आवश्यकता पड़ सकती है; शीघ्र ही चिकित्सक को सूचित करना चाहिये।

छः मास के बाद विषमयता के लक्षणों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। तथा मूत्रपरीक्षा एवं धमनीगत निपीड की परीक्षा प्रत्येक महीने में आठवें मास के अन्त तक तथा पन्द्रह दिनों पर या इससे भी शीघ्रता से आठवें महीने के अनन्तर करनी चाहिये।

प्रसव के छः से आठ सप्ताह पूर्व-गर्भावतरण, एवं गर्भ सिर तथा स्त्री श्रोणि के अनुपात को जानने के लिये श्रोणिपरीक्षा का सर्वोत्तम काल है। यदि इसके जानने में कोई कठिनाई या खतरा दीख पड़े, तो गर्भिणी को चिकित्सालय में प्रवेश

कराने का इन्तजाम करना चाहिये । प्रसव के दो सप्ताह पूर्व अन्तिम परीक्षा में आद्य बातों की पुष्टि करने के लिये, एवं संभावित गर्भोदय का निर्णय करने के निमित्त औदरीय परीक्षा करनी चाहिये । यदि चिकित्सक गर्भिणी के चैकित्सकीय इतिहास (Medical History) से अनभिज्ञ हो तो उसे विस्तृत रूप से विशेषतया ज्ञात करना चाहिये । (१) गर्भिणी का नाम और पता, (२) आयु, (३) वर्त्तमान गर्भ की संख्या, (४) अन्तिम मासिक धर्म की तिथि, (५) प्रथम गर्भस्फुरण अनुभव होने की तिथि, (६) गर्भकाल के अस्वास्थ्य के सम्बन्ध का कोई महत्त्व का पूर्ववृत्त (यह वृत्त बड़े महत्त्व का होता है, क्योंकि विगत गर्भावस्थाओं में विषमयता के लक्षण या प्रसव के समय कठिनाई का इतिहास का मिलना, वर्त्तमान गर्भावस्था में चेतावनी के रूप में रहता है ।) (७) गर्भस्राव या गर्भपात का वृत्त (कारण और समय), गर्भस्राव, गर्भपात, मृतप्रसव, अप्रगल्भ गर्भप्रसव, शिशु-मृत्यु प्रभृति इतिहासों के मिलने पर माता और पिता दोनों के फिरंगोपसर्ग की निश्चिति के लिये 'वाशरमैन' या 'कान कसौटी' के लिये रक्त की परीक्षा करानी चाहिये । प्रसव में बाधा उत्पन्न होने का इतिवृत्त मिले तो गर्भवती की श्रेणि को ध्यानपूर्वक परीक्षा करनी चाहिये । (९) उपर्युक्त बातों की जानकारी के बाद गर्भवती के वर्त्तमान स्वास्थ्य का इतिहास लेना चाहिये । इस सम्बन्ध में प्रधानतः ऐसे लक्षणों व चिह्नों को जो हृद्रोग या विषमयता के निदर्शक हों पूछकर पता लगाना चाहिये । उदाहरणार्थ—श्वासकृच्छ्र, धड़कन, कास, अतिशय वमन, सन्तत शिरःशूल, हाथ और पैरों पर शोथ, मूत्राल्पता, दृष्टिमान्द्य, मलत्याग आदि की दशा, योनिस्राव की उपस्थिति, स्तना का स्वभाव, सिरा कुटिलता तथा अर्श की उपस्थिति आदि विशेष उल्लेखनीय हैं ।

उपर्युक्त लक्षणों का प्रश्न के द्वारा ज्ञान करने के अनन्तर चिकित्सक को दर्शन (Inspection), उदरस्पर्शन (Palpation), श्रवण (Ausoultation), योनिपरीक्षण (Vaginal examination) तथा श्रोणिमापन (Pelvic examination) के द्वारा गर्भवती की परीक्षा करनी चाहिये ।

शारीरिक परीक्षा—उपर्युक्त प्राथमिक प्रश्नों के बाद शारीरिक परीक्षा होनी चाहिये । गर्भिणी को नंगी होकर परीक्षा-पलंग पर लेट जाने के लिये कहे । यदि यह सर्वप्रथम परीक्षा हो तो शीघ्रता से रक्तवह—संस्थान तथा पचन-संस्थान

की जांच करे। साथ ही छाती में श्रवणपरीक्षा करते समय स्तनों को देखने एवं उनकी वृद्धि और चूचुक की दशा तथा स्राव की उपस्थिति व मात्रा की जानकारी हासिल करने का अवसर प्राप्त करना चाहिये। तत्पश्चात् मुख की परीक्षा, खण्डित दांत, मसूड़ा एवं तुण्डिका (Tonsil) की जानकारी के लिये करनी चाहिये तथा अन्त में रक्तनिपीड का ज्ञान करना चाहिये।

औदरीय परीक्षा—गर्भावस्था के प्रारम्भिक दिनों में यह परीक्षा प्रधानतया गर्भाशय का आकार ज्ञात करने के लिये की जाती है। छः मास के पूर्व गर्भोदय व गर्भस्थिति का ज्ञान करना प्रायः असंभव सा है साथ ही इनका विशेष महत्त्व भी नहीं रहता। गर्भाशय कोष्ठ का धरातल, गर्भाशय ध्वनि की उपस्थिति तथा गर्भ हृच्छब्द का श्रवण आदि का उल्लेख करना चाहिये।

छत्तीस तथा पुनः अड़तीस सप्ताहों के लगभग निम्न दो अभिप्रायों से औदरीय परीक्षा की जाती है:—

(१) गर्भोदय ज्ञात करना जो कि इस काल के पूर्व प्रायः बदलता रहता है। परन्तु इसके बाद स्थिर रहता है।

(२) गर्भ—सिर तथा श्रोणी का सम्बन्ध ज्ञात करना।

यह याद रखना आवश्यक है कि स्वाभाविकरीत्या प्रथमगर्भा में गर्भशिर गर्भावस्था में अन्तिम दो या तीन सप्ताह पूर्व श्रोणि में स्थिर (Engaged) हो जाना चाहिये। ऐसा न होना किसी न किसी विकृति का द्योतक है—जैसे—

१. संकुचित श्रोणि (Contracted Pelvis)
२. अस्वाभाविक गर्भशिरवृद्धि (Abnormally Largehead)
३. गर्भशिर की पश्चिम स्थिति
४. अपरावरोध ५. श्रोण्यर्बुद
६. मलाशय या बृहदन्त्र में पुरीषसंचय

बहुप्रसवा स्त्रियों में इसके विपरीत गर्भशिर प्रसवावस्था आ जाने पर भी श्रोणि-कण्ठ (Pelvic brim) के ऊपर रहता है।

श्रोणिपरीक्षा—(Pelvic exam) इसके दो विभाग हैं। बाह्य (External) तथा आभ्यन्तरीय (Internal) बाह्य माप किसी भी अवस्था में लिया जासकता है, लेकिन आभ्यन्तरीय माप चौतीसवें या छत्तीसवें सप्ताह के पूर्व

करने का प्रयास करना ठीक नहीं क्योंकि तब तक मूलाधार की पेशियाँ (Perineal muscles) इतनी मृदु नहीं हो पाती कि आभ्यन्तरीय माप गर्भिणी को बिना किसी प्रकार तकलीफ दिये ही किया जासकता है। बाह्य माप में जघनधारान्तरालिक (Inter spinous), पुरःकूटान्तरालिक (Inter-cristal) तथा कटिसंधानिकान्तरालिक (Ext. conjugate of Bandel-eque) व्यासों का माप लिया जाता है।

बाह्यमाप लेने के बाद स्त्री को बायें करवट पर लेटा कर, दोनों पैरों विशेषतः दाहिने को सङ्कुचित कर के गुह्याङ्गों की दशा देखनी चाहिये कि वहाँ पर सिरा-कुटिलता, स्राव, और फिरंगादि चर्मकील आदि की उपस्थिति तो नहीं है। जब तक नर्स 'डेटाल' सोल्युशन (१ पिण्ट में ४ ड्राम) इन अंगों की सफाई कर रही हो, तब तक चिकित्सक अपने हाथ को जीवाणुरहित कर ले और विशोधित किये गये 'रबर ग्लोब' को हाथों (दस्ताने) में पहन लेना चाहिये।

यदि विशोधन प्रभृति की बातों का बिना पूर्णतया विचार किये ही आभ्यन्तर मापन या परीक्षा शुरू कर दी जाय तो सूतिकाकालीन उपसर्ग का यह सीधा कारण बनता है। इस लिये आभ्यन्तरीय अंगों की परीक्षा में सदैव जीवाणुराहित्य का ध्यान चिकित्सक को रखना चाहिये।

तत्पश्चात् दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों को भगद्वार में प्रवेश करके, श्रोणि के बहिर्द्वार के आकार एवं आयाम (Shape and size) की अस्वाभाविकता का ज्ञान करे, संधानिकाधर (Subpubicarch) का स्पर्श करे योनिप्राचीरों की स्थिति देखे, देखे कि मलाशय पुरीष से लदा हुआ तो नहीं, ग्रीवा की दशा देखे, पूर्व के प्रसव में कोई दरार या विदार का चिह्न तो नहीं, बहिर्द्वार (External os) संवृत है या विवृत, इन सभी बातों की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये। उसके बाद दूसरी कोशिश कर्ण व्यास (त्रिक मध्य से संधानिकाधर तक) के नापने की करनी चाहिये। यदि शिशु का सिर श्रोणि में बहुत नीचे लगा हो तो यह क्रिया बिना सिर को ऊपर किये करना असंभव हो जाती है। परन्तु ऐसी स्थिति में यह विधि भी कठिनाई के कारण अनावश्यक दीखती है। कर्ण व्यास में से वास्तविक व्यास घटाया जासकता है।

यदि गर्भ शिर को सब से उत्तम श्रोणिमापक मानें तो कोई अत्युक्ति नहीं

होगी—क्योंकि साधारण श्रोणिमापन की अपेक्षा गर्भसिर तथा श्रोणिगुहा के अनुपात का ज्ञान करना अधिक महत्त्व का है। इस के लिये गर्भिणी को पीठ के वल चित लेट जाने को कहे तथा एक हाथ उसके उदर पर रखकर, एवं गर्भ सिर को पकड़ कर नीचे की ओर पश्चिम दिशा में श्रोणि गुहा के भीतर धक्का दे। साथ ही साथ सिर की अनुकूलता एवं श्रोणि के भीतर उसके उतरने की मर्यादा या मात्रा-योनि के अन्दर दूसरे हाथ को अंगुलियों को डालकर ज्ञात करे। यदि गर्भ-सिर श्रोणिकण्ठ के नीचे न आसके अर्थात् न उतर पावे तो उसके आश्लेप का ज्ञान (Degree of overlapping) 'मुनरोकेर' द्वारा सुधार किये हुए 'मूलर की विधियों' से या आवश्यकतानुसार संज्ञाहरण कर के निश्चित करे। इन अवस्थाओं में अकाल प्रसव या कुक्षिपाटन की आवश्यकता पड़ती है। अन्ततो गत्वा यदि इनके सम्बन्ध में थोड़ी भी द्विविधा हो तो वहिर्द्वार का मापन करना चाहिये। शिखरकान्तरालिक तथा पश्चिमकूटान्तरालिक व्यास (Transvese & Post Sagital diameter) का मापन करना चाहिये। यदि आयाम स्वाभाविक है; तो निम्नलिखित प्रकार से उसको दवाना संभव है—१. मुट्ठी बाँधकर आड़े रखकर दोनों कूटान्तरालों (Ischial tuberosities) के वीच दवाया जासकता है; २. दो अंगुलियों को दो पार्श्वों में रखकर या एक ही साथ संधानिकाधर भग के नीचे (Subpubic Arch) दवाया जासकता है।

मूत्र-परीक्षा—शारीरिक परीक्षा के समय नंगी होकर स्त्री को मूत्र त्याग करने के लिये कहे। मूत्रपरीक्षा पूरे गर्भकाल तक करनी चाहिये और यह क्रिया चिकित्सक के लिये वड़े महत्त्व की है। मूत्र में शुक्ति (Albumin) की उपस्थिति विशेष महत्त्व रखती है; परन्तु शर्करा तथा पूय पर भी ध्यान रखना चाहिये। इस तरह छः मास तक के गर्भकाल में प्रतिमास मूत्र परीक्षा करते रहना चाहिये; फिर जैसे-जैसे गर्भकाल वढ़ता जाय-परीक्षान्तर काल को भी वैसे वैसे कम करते जाना चाहिये। यहाँ तक कि अन्तिम मास में प्रतिसप्ताह करने का विधान करना चाहिये।

भार—गर्भवती के भार के ऊपर भी ध्यान रखना चाहिये। गर्भ की प्रारम्भिक अवस्था में अधिक भार का होना वैकारिक हो सकता है क्योंकि शरीर के तन्तुओं के अन्तर्गत जलीयांश का अवरोध होने से ऐसा होना संभव है—इस प्रकार की अस्वाभाविकभारवृद्धि गर्भकालीन विषमयता का प्रथम सूचक लक्षण है। स्वाभाविक-

रीत्या भार की वृद्धि चौथे मास से प्रारम्भ होती है, तथा लगभग ४ पौंड प्रतिमास के हिसाब से २८ सप्ताह तक जारी रहती है—और कुल भार १८–२० पौण्ड तक बढ़ता है। गर्भिणी के भार का माप प्रतिमास करना चाहिये—यदि वृद्धि का परिमाण कुछ अस्वाभाविक जान पड़े तो विषमयता के लक्षणों और चिह्नों का ध्यानपूर्वक शोध करना चाहिये।

रोगी के विलग होने के पूर्व जहाँ तक संभव हो, आगामी परीक्षातिथि निश्चित कर देनी चाहिये। साथ ही उसको सलाह देनी चाहिये कि उसमें यदि कभी विषमयता के चिह्न प्रकट होने लगे जैसे रक्तस्राव, शोथ, संतत शिरःशूल आदि तो उसे तत्काल चिकित्सक से मिलकर उसकी सलाह लेनी चाहिये। प्रथम परीक्षा के बाद परवर्ती परीक्षाओं पर विशेष ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं; लेकिन अन्तिम चार महीनों में मूत्रपरीक्षा और रक्तनिपीड पर तथा अन्तिम छः सप्ताहों में अवतरण, उदय, आसन, हृच्छब्द की उपस्थिति और स्थिति, श्रोणि एवं गर्भ शिर के अनुपात, सिर की श्रोणि में स्थिरता या चंचलता (Mobility or engagement) पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

गर्भिणी के लिये आदेश (Advice or Hygiene of pregnancy)

जहाँ तक परिस्थिति अनुकूल हो प्रत्येक गर्भिणी को स्वस्थ और सुखमय जीवन व्यतीत करना चाहिये। उसको ऐसा मौका कभी न आने देना चाहिये कि वह अपने को रोगी समझने लगे।

यदि शारीरिक दशा संतोषजनक हो तो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की भी उपेक्षा न करनी चाहिये। प्रत्येक गर्भवती को विशेषतः प्रथमगर्भा की अवस्था में प्रसव के समीप न्यूनाधिक प्रसव का भय बना रहता है जिससे वह चिकित्सक के समीप भय से कम्पितगात्र होकर सलाह के लिये पहुँचती है। अभाग्यवश यह भय बहुप्रसवाओं के द्वारा हँसी के रूप में टाल दिया जाता है अर्थात् उसकी उपेक्षा कर दी जाती है यही पश्चात्काल में गर्भकोष पराघंग (Uterine inertia) का रूप धारण कर प्रसव में कठिनाई तथा खतरा पैदा कर सकता है।

इसके विपरीत जो प्रथमगर्भा पुत्र की उत्कट अभिलाषा और उमंग से प्रसव के समीपकाल में आती है तथा जिसका स्वाभाविक बल चिकित्सक और परिचारक पर विश्वास के कारण, बढ़ गया रहता है उनमें संभवतः अधिक सरल और संक्षिप्त समय में ही प्रसव होता है।

अतएव गर्भवती के शारीरिक एवं मानसिक दोनों स्वास्थ्य को ठीक रखने का यत्न करना चाहिये। इस निमित्त निम्नलिखित उपदेश बड़े महत्त्व के हैं—इनका आचरण गर्भिणी का प्रमुख कर्त्तव्य है।

१. **व्यायाम**—(विश्राम तथा निद्रा) अधिक परिश्रम वाले व्यायाम जैसे दौड़ना, कूदना, नाचना एवं जिनमें थकावट, हाँफनी, दिल में धड़कन, गर्भ में भड़काव उत्पन्न हो न करना चाहिये। मामूली घर के काम-काज करना, चलना-फिरना, स्वच्छ हवा में टहलना प्रभृति हल्के व्यायाम गर्भिणी के स्वास्थ्य के लिये हितकर हैं। इन व्यायामों से शरीर में स्फूर्ति रहती है पेशियाँ कार्यक्षम और सहनशील बनी रहती हैं फलतः प्रसव में जो एक प्रकार से पेशियों का ही व्यायाम है किसी प्रकार कष्ट नहीं होने पाता। गर्भवती को आलसी होकर बैठे रहना ठीक नहीं।

जिस सवारी में संक्षोभ हो जैसे घोड़ा, एक्के, बैलगाड़ी इनमें बैठकर नहीं चलना चाहिये। साइकिल, मोटर, रबर टायर से चलने वाली सवारियाँ स्वयं संक्षोभ न होते हुए भी ऊबड़-खाबड़ (विषम) सड़क से चलने में अधिक हलचल पैदा करते हैं। इस लिये खराब सड़क की यात्रा में इनका भी परिहार करना चाहिये। मनुष्य-वाहित सवारी (पालकी) से चलने से कोई भी हानि नहीं। आखिरी दिनों में किसी प्रकार का यानारोहण हितकर नहीं होता।

उकड़ू बैठने से (उत्कटुकासन) मूलाधार पीठ पर दबाव पड़ता है, जिससे मूलाधार शिथिल हो जाता है, साथ ही उदर प्राचीर पर भी दबाव पड़ता है जिससे गर्भपात की संभावना रहती है।

परिश्रम के साथ ही विश्राम का भी प्रबन्ध गर्भवती के लिये होना चाहिये। अस्तु जहाँ तक सम्भव हो मध्याह्नोत्तर विश्राम (करवट लेटे और पैर ऊपर करके) करना विशेषतः अन्तिम मासों में नितान्त आवश्यक है तथा प्रति रात्रि कम से कम आठ घंटे गाढ़ी निद्रा लेना भी बहुत जरूरी है।

२. **आहार**—गर्भिणी के आहार का विशेष महत्त्व है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि उसे अपना तथा अपने गर्भ का पोषण करना है। गर्भिणी के पाचक अंगों, वृक्क, त्वचा, फुफ्फुस आदि मलोत्सर्जन के अवयवों को बहुत काम करना पड़ता है। इस लिये आहार सुपाच्य, उत्तम और पौष्टिक होना चाहिये। भोजन ऐसा हो जिसमें निर्मल पदार्थ कम बने और जो मलावरोध न करे। इसमें

खटिक की मात्रा पर्याप्त हो तथा जीवतिक्ति भी प्रचुरमात्रा में उपस्थित हो। गर्भ अपने पोषण के सभी पदार्थ माता के अन्नरस से ग्रहण करता है—जब माता के आहार में कमी पड़ती है, माता के शरीर से लेता है और माता को क्षति पहुंचाता है। उदाहरणार्थ खटिक को लें। बालक को अपने अस्थियों की पूर्त्ति के लिये इसकी अधिक आवश्यकता पड़ती है। यदि माता के आहार में खटिक पर्याप्त मात्रा में है, तब तो गर्भ या माता किसी को कठिनाई नहीं होती। परन्तु जब माता के आहार में इसकी कमी हो तो गर्भ इस खटिक का ग्रहण माता की अस्थियों और दाँतों से करता है जिसके परिणाम स्वरूप माता में अस्थियों की मृदुता (Osteomalacia), कृमिदन्त प्रभृति विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जीवतिक्ति 'डी' खटिक की सात्म्यीकरण के लिये आवश्यक है इसके अभाव में आहार में खटिक की मात्रा रहने पर भी उसका उपयोग अस्थिविकास में नहीं हो सकता। इसी तरह जीवतिक्ति 'ए' उपसर्गनाशक होता है। इसकी कमी से माता को औपसर्गिक रोगों का शिकार होने की सम्भावना रहती है। विशेषतः सूतिका ज्वर होने का बड़ा डर रहता है। जीवतिक्ति 'बी' की कमी से गर्भस्राव, गर्भपात अकाल प्रसव, मृतवत्स–जन्म प्रभृति आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इन बातों का विचार करते हुए माता के आहार में दूध, मट्ठा, मक्खन, घी, चावल, गेहूँ की रोटी, अण्डा, प्याज, गोभी, मूली, पालक, शलजम, गाजर, आलू प्रभृति शाक सब्जियाँ, सन्तरा, सेव, आम, अनार, मुनक्के इत्यादि फल होने चाहिये। मांस, मद्य, चाय, काफी आदि उष्ण उत्तेजक पेय, मिर्च, मसाले, अचार आदि तीक्ष्णोष्ण पदार्थ कम होने चाहिये। संक्षेप में गर्भिणी का आहार सात्त्विक हो, प्रत्येक बार वह मध्यममात्रा में उसका सेवन करे जिससे कुक्षि में पीड़ा न हो सके। परन्तु दिन–रात में आहार की राशि इतनी हो कि वह उसके लिये तथा उसके बालक की वृद्धि के लिये पर्याप्त हो जाय।

३. **मलत्याग**—मलावरोध कदापि न रहने देना चाहिये। पर्याप्त मात्रा में जल के सेवन से मूत्रत्याग तथा मलोत्सर्जन में सुगमता होती है। विबन्धकर आहार का सेवन न करे। कब्ज पैदा न हो इस प्रकार के साग, सब्जी, फल आदि का सेवन करते रहना चाहिये। यदि मलावरोध हो तो मृदुरेचनों से–गुलकन्द, यष्टयादि चूर्ण या एरण्ड तैल से विबन्ध को दूर रखना चाहिये।

४. **स्नान**—स्वस्थावस्था में प्रतिदिन ऐसे जल से जो न बहुत उष्ण हो न बहुत ठण्डा स्नान करना चाहिये। गुह्याङ्गों को भी पूर्णरूपेण स्वच्छ रखना चाहिये।

५. **व्यवाय**—गर्भिणी और व्याधित स्त्रियों के साथ व्यवाय करना निषिद्ध है। आमतौर से गर्भवती स्त्री को व्यवाय की इच्छा नहीं होती प्रत्युत समागम से कई हानियों की सम्भावना रहती है जैसे गर्भ की हानि, गर्भिणी का दुःस्वास्थ्य या दुर्बलता और मूढगर्भ की आशंका रहती है। इस लिये गर्भिणी स्त्री के साथ व्यवाय कदापि न करना चाहिये। परन्तु साल डेढ़ साल के लिये ब्रह्मचर्य पालन पुरुष के लिये कठिन होता है और कचित् स्त्री को भी पूर्वाभ्यास से मैथुन की इच्छा होती है अतः यदि स्त्री को पीड़ा न हो तो उसकी इच्छानुसार कभी कभी सावधानी से सातवें आठवें मास तक मैथुन किया जा सकता है।

गर्भवती स्त्री के साथ एकान्ततः व्यवाय का निषेध न करने के लिये कुछ पाश्चात्य शास्त्रज्ञ एक और युक्ति बतलाते हैं। उनकी मान्यता है कि योनि में गिरा हुआ पुरुष का शुक्र वहाँ से शोषित होता और स्त्री तथा गर्भ के पोषण में सहायता करता है। तात्पर्य यह कि यदि स्त्री का स्वास्थ्य ठीक न हो, उसकी इच्छा न हो तथा मैथुन कर्म में उसे शारीरिक पीड़ा होती हो तो मैथुन एकान्ततः उसको वर्ज्य करना चाहिये। इसके विपरीत अवस्था में सावधानी से कभी-कभी मैथुन करने में आपत्ति नहीं। अति मैथुन और अन्तिम दो मासों में मैथुन का पूर्णतया परित्याग करना चाहिये।

६. **वस्त्रपरिधान** - गर्भावस्था में वस्त्रधारण करने में यह ध्यान रखना चाहिये कि कपड़े से छाती पर दबाव एवं कमर तथा पैरों पर कसावट न हो। इस प्रकार के सँकरे वस्त्रों से हानि की सम्भावना रहती है। अत एव गर्भस्थिति के प्रारम्भिक मासों में जो वस्त्र ढीले हों पहने जाने चाहिये, संकुचित कपड़ों का पूर्णतया परित्याग करना चाहिये। परन्तु उत्तर मासों में संकुचित वस्त्रों का परिधान आरामदेह होता है इस लिये कसे हुए कपड़े पहने जा सकते हैं।

७. **स्तन**—अन्तिम महीनों में स्तन चूचुक अंगुलियों से खींच खींचकर ईषत् बढ़ाना चाहिये ताकि प्रसव के बाद बच्चों को दूध पिलाने में समर्थ हो सके या आकार धारण कर सके। छाती और स्तन को प्रतिदिन धोकर मृदु तौलिया से सुखाकर रखना चाहिये। अन्तिम दो एक सप्ताहों में दिन में दो बार स्तन-चूचुक 'काडीकोलन' और जल (१:८) भिगाकर धोना चाहिये और दूसरे दिन 'लेनोलीन' या 'वेसलीन' से सावधानीपूर्वक हल्के हाथ से मालिश करनी चाहिये। इससे

त्वचा स्निग्ध और मजबूत होती है। यदि स्तन बहुत ढीले हों तो उन्हें गोफणा-बन्ध में स्थिर कर लेना चाहिये।

८. **वैकारिक स्थिति** (Pathological condition)—विकार की स्थिति में यथोचित राय चिकित्सक को देनी चाहिये। उदाहरणार्थ—**प्रातग्लानि**—साधारणतः यह एक प्रकृत अवस्था गर्भ की है। परन्तु कभी यह अस्वाभाविक रूप भी धारण कर लेता है। जैसे स्वाभाविक रीत्या वमन पित्तमिश्रित रङ्ग का होना चाहिये तथा ज्यों ही गर्भिणी बिस्तरे पर से उठे त्यों ही हो जाना चाहिये एवं वमन के पश्चात् गर्भिणी को आराम प्रतीत होना चाहिये। यह वमन कई बार प्रातः में न होकर सिर्फ सायंकाल या दिन में एक बार किसी समय हो जाता है और उसमें भोज्य पदार्थ भी मिले रहते हैं। यदि यह दशा बढ़ जाती है, तो कई बार वमन होने लगता है। गर्भिणी में पोषक तत्त्वों की कमी पड़ने लगती है, तब उसे अस्वस्थावस्था या रोग के रूप में मानना चाहिये तथा उसकी उपयुक्त चिकित्सा करनी चाहिये। कुछ गर्भिणी प्रातः ग्लानि सहित कब्ज से पीड़ित मिलती है, जिसकी चिकित्सा आवश्यक है। वैकारिक वमन की अवस्था में गर्भिणी को सोकर उठने के पूर्व, यहाँ तक कि तकिये से सिर उठाने के पूर्व फल या बिस्कुट चाय पीने को देना चाहिये। इसके बाद पुनः आधे घण्टे के लिये लेटा देना चाहिये। इससे यदि लाभ न दीखे तो आहार की सामान्य मात्रा एक ही बार में देकर, कई बार में थोड़ी-थोड़ी मात्रा में भोजन देना चाहिये। भोजन में 'कार्बो हाइड्रेट्स' की मात्रा अधिक और मांस तैल, घृत की कमी कर देनी चाहिये। इससे लक्षणों की शान्ति न हो तो अति वमन की चिकित्सा तथा अधिक मात्रा में जीवतिक्ति 'बी' का प्रयोग करना चाहिये (बी ६ विशेषतः लाभप्रद होता है।)

आमाशय की अम्लता—यह भी एक आपद् सूचक लक्षण है—जो कि स्वाभावतः भी गर्भावस्था में मिलता है। यह प्रायः गर्भस्थिति के उत्तर मासों में विशेषतः रात्रि में हुआ करता है। सामान्यतया एक ग्लास सोडामिश्रित जल पिलाना (रात में) या क्षारीय पदार्थों को चूसना ही पर्याप्त होता है। कई बार इसके विपरीत भी अवस्था मिलती है, जिसमें आमाशयगत लवणाम्ल की मात्रा कम हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप गर्भिणी में पाण्डुता आ जाती है—इस स्थिति में अल्प मात्रा में हल्के लवणाम्ल का प्रयोग, लेमनेड, नीबू या सन्तरे का रस पिलाने से लाभ होता है।

आसन और उदय सम्बन्धी दोष—यदि गर्भवती में दिखलाई पड़ें तो आठवें मास तक उसकी चिकित्सा की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रकृति पर ही छोड़ देना चाहिये। वह अपने आप ठीक हो सकता है। परन्तु यदि आठवें मास के बाद भी अप्राकृतिक अवतरण या स्थिति का निदान हो तो उसके ठीक करने का क्रमिक उपाय करना चाहिये। पदोदय या स्कन्धोदय की स्थिति दीखे तो उसको बाह्य विवर्त्तन के सहारे ठीक करके, कटि पर पट बाँध कर उसे स्थिर करना चाहिये। अनुशीर्ष पृष्ठिमासन (Occipito posterior position) दीखे तो उसे उचित काल में 'ब्रूट की कवलिका' (Bruits pad) का उपयोग करके ठीक करना चाहिये।

प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थों में गर्भिणीपरिचर्या और स्वस्थवृत्त का बड़ा विशद और जीवन्त वर्णन पाया जाता है—पाठकों के कुतूहल तथा जिज्ञासुओं की ज्ञानवृद्धि की दृष्टि से नीचे में उन सूत्रों का विभिन्न आचार्यों का आधार पर संग्रह किया जा रहा है:—

(१) श्रेष्ठ सन्तान पैदा करने वाली स्त्री को चाहिये कि वह अहित आहार एवं विहारों का परित्याग करे और अपनी वृत्ति को साधुवृत्ति रखते हुए जो भी पथ्य आहार-विहार बतलायें जायें उनका आचरण करे।

(२) गर्भिणी प्रथम दिन से लेकर प्रति दिन प्रसन्नचित्त, पवित्र, अलङ्कारों से विभूषित, श्वेत वस्त्र धारण करने वाली; शान्तिपाठ, मङ्गलकर्म, देवता ब्राह्मण और गुरु की पूजा करने वाली होवे। मलिन, विकृत और हीन शरीरों का स्पर्श न करे। दुर्गन्धित पदार्थों, दुर्दर्शन दृश्यों और उद्वेग उत्पन्न करने वाली कथाओं का परित्याग करे।

बाहर निकलना, शून्यघर, चैत्य (देवताधिष्ठित पेड़ या बौद्ध मन्दिर) वृक्ष, श्मशान के आश्रय में रहना, क्रोध और भययुक्त भाव, ऊँची आवाज से बोलना तथा इसी प्रकार के अन्य भावों का परित्याग करे। तैल की मालिश और उबटन आदि का बार-बार सेवन करे। ऋतुकालचर्या में बताये हुए अपथ्यों का परिहार करे। लेटने और बैठने का स्थान (गद्दी तकिया आदि) मृदु वस्त्रों से युक्त न बहुत ऊंचा न नीचा और बाधा रहित बनावे। शरीर को कठोर परिश्रम से अधिक न थकावे। सूखे, बासी, सड़े हुए क्लिन्न अन्न का सेवन न करे। हृद्य, तरल, स्निग्ध

मधुर प्राय अग्निदीपक द्रव्यों से (जीरा, मरिच, प्रभृति) संस्कृत भोजन का सेवन करे। प्रसूति तक यही साधारण परिचर्या है।

(३) गर्भिणी स्त्री मैथुन, व्यायाम, अतितर्पण, अतिकर्षण, दिन में सोना, रात को जागना, शोक, यानों की सवारी करना, भय, उत्कट्कासन, इनका कदापि भी सेवन न करे। स्नेहादि क्रिया, अकाल में रक्तमोक्षण, वेग विधारण भी न करे—क्योंकि गर्भिणी का इन दोषों के कारण जो जो भाग पीड़ित होता है, वही वही भाग गर्भस्थ शिशु का भी पीड़ित होता है। (अतः परिवर्जन करे।)

(४) गर्भवती की जो इच्छा उत्पन्न हो उसकी पूर्ति करना चाहिये, परन्तु गर्भ के नुकसान पहुँचाने वाले पदार्थों का त्याग करना चाहिये। गर्भ को हानि पहुँचाने वाले ये भाव है। सभी अत्यन्त भारी, उष्ण और तीक्ष्ण पदार्थ, दारुण चेष्टायें। वृद्धों ने कुछ अन्य भी हेतु वतलाये हैं जैसे—देवता, राक्षस और अनुचरों के रक्षा के निमित्त लाल कपड़ों को न पहने, मादक द्रव्यों और मद्य का सेवन न करे, मांस न खाय, सवारी पर न चढ़े। इन्द्रियों के प्रतिकूल पदार्थों का दूर से ही त्याग करे। इसके अतिरिक्त कुएं का झाँकना, नदी के पार जाना भी नहीं करना चाहिये।

गर्भ नाशक या हानि पहुँचाने वाले ये भाव निम्नलिखित अनिष्टों को करते हैं—उकड़ू या अन्य कठिन आसनों से वैठने वाली, वायु-मूत्र और मल के वेगों को रोकने वाली, अत्यन्त दारुण (Violent) अनुचित व्यायाम करने वाली, अतितीक्ष्ण वीर्य अति उष्ण पदार्थों का सेवन करने वाली स्त्री के कोख में ही गर्भ मर जाता है, वा अकाल में ही गिर जाता है अथवा उचित काल के पूर्व ही गर्भपात हो जाता है अथवा वह गर्भ अन्दर ही सूख जाता है। आघात या किसी प्रकार का गर्भाशय पर दवाव पड़ने से, गड्ढे कुएं में निरन्तर झाँकने से, तथा वहुत ऊंचे से गिरने वाले प्रपात अथवा ऊंचे स्थलों को नीचे से लगातार देखने से अकाल में ही माता का गर्भ गिर सकता है। अत्यधिक ऊंचे नीचे चलने से, क्षोभ या झटके देने वाले यानों पर सवारी करने से, अप्रिय शब्दों के सुनने से, या अत्यधिक शब्दों के सुनने से अकाल में ही गर्भ गिर जाता है। निरन्तर पीठ के वल सोने या लेटने वाली स्त्री के गर्भ की नाभिनाड़ी उसके गर्भ के कण्ठ के चारों ओर लपेटा खा सकती है। इससे भी गर्भ के मृत्यु होने की सम्भावना है। विवृत देश खुली

जगह में सोने वाली तथा रात्रि के समय इधर-उधर घूमने-फिरने वाली स्त्री उन्मत्त सन्तान को उत्पन्न करती है। 'विवृतशायिनी' का दूसरे अर्थ में (गङ्गाधर के अनुसार) यह होता है कि जो स्त्री हाथ और सब अङ्गों को खूब फैलाकर सोती है उसकी सन्तान उन्मत्त होती है। लड़ाकू तथा झगड़ालू स्त्री की सन्तान अपस्मारयुक्त होती है। जो नित्य मैथुन करती है या गर्भाधान के पश्चात् भी निरन्तर मैथुन किये ही जाती है, ऐसी स्त्री के सन्तान का शरीर हृष्टपुष्ट नहीं होता अथवा उसके शरीर में अन्य विकृति हो सकती है। अथवा सन्तान निर्लज्ज और स्त्रैण (स्त्री के वश में या स्त्री स्वभाव का) होती है। जो गर्भिणी नित्य शोकातुर रहती है उसकी सन्तान डरपोक, कृश शरीर वाली तथा अल्पायु होती है। मनमें द्रोह करने वाली, दूसरे के धन को चाहने वाली, दूसरे को दुःख देने वाली, और ईर्ष्या रखने वाली—स्त्री स्वभाव वाले सन्तान को पैदा करती है। चोर, बहुत श्रम करने वाली, अत्यन्त द्रोही तथा दुष्कर्म करने वाली का पुत्र अकर्मण्य होता है। क्रोध करने वाली गर्भिणी—चण्ड, क्रोधी, औपधिक (कपटी) और परनिन्दक सन्तान को पैदा करती है। हर समय नींद लेने वाली गर्भवती की सन्तान निद्रालु, मूर्ख तथा अल्पाग्नि वाली होती है। नित्य मद्य पीने वाली गर्भिणी की सन्तान पिपासालु, कम स्मरणशक्ति वाली, अस्थिर चित्त उत्पन्न होती है। जो स्त्री गर्भावस्था में प्रायः गोहा का मांस खाती है उसकी सन्तान शर्करा, अश्मरी या शनैर्मेह रोग से आक्रान्त रहती है। जो शूकर मांस का सेवन करती है, वह लाल आँख वाली, हिंसाशील, अत्यधिक मोटे और खुरदरे बालों वाली सन्तान को पैदा करती है। जो गर्भवती नित्य मछली का मांस खाती है वह देर से पलक गिरने वाली तथा निश्चल आँखों वाली सन्तान का जन्म देती है। जो गर्भिणी मधुर रस का अत्यधिक गर्भकाल में इस्तेमाल करती है वह प्रमेही गूंगी और अति स्थूल सन्तान को उत्पन्न करती है। जो नित्य अम्ल रस की अभ्यासी है वह रक्तपित्त, त्वचा या आँख के रोगों से पीड़ित सन्तान को पैदा करती है। जो नित्य लवण रस का सेवन करती है उसकी सन्तान शीघ्र ही जरा के चिह्नों वाली, पलित से आक्रान्त और गञ्जी होती है। नित्य कटुरस का सेवन करने वाली दुर्बल, अल्पवीर्य वाली सन्तान को पैदा करती है। अथवा वह सन्तान प्रजोत्पादन में समर्थ नहीं होती। जो नित्य तिक्त रस का सेवन करती है उसकी

सन्तान शोक, रोगयुक्त बलरहित अथवा कृश होती है। नित्य कषाय रस का सेवन करने वाली गर्भिणी श्यामवर्ण की, आनाह या उदावर्त्त रोग से पीड़ित रहने वाली सन्तान को उत्पन्न करती है। जो–जो द्रव्य, जिन–जिन रोगों के निदान रूप में बतलाये गये हैं उन–उन पदार्थों का सेवन करती हुई गर्भिणी तद्–तद् विकारों से प्रायः आक्रान्त सन्तान को पैदा करती है।

ये माता के अपचार से होने वाली हानियाँ बतलाई गई हैं। इन्हीं से ही पिता के अपचार से उत्पन्न वीर्य दोषों की व्याख्या भी समझनी चाहिये। अर्थात् जैसे माता के अपचार से सन्तान को हानि पहुँचती है इसी प्रकार यदि पिता भी अपचार करे तो दुष्ट वीर्य से शुभ गुणयुक्त सन्तान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दुष्ट वीर्य से उत्पन्न गर्भ भी अकाल में ही गिर सकते हैं, गर्भ में ही काल कवलित हो सकते हैं या सूख सकते हैं। अथवा अपने निदानानुसार कुपित हुए वीर्य से उन उन रोगों से आक्रान्त सन्तान उत्पन्न हो सकती है। अतः शुद्ध सन्तान के निमित्त क्षेत्र और बीज दोनों की परिशुद्धि आवश्यक है।

(५) गर्भिणी स्त्री के रोगों में प्रायः मृदु वीर्य, मधुर, शीतल, सुकुमार औषध–आहार और उपचारों से चिकित्सा करनी चाहिये। उसमें वमन, विरेचन और शिरो विरेचन प्रभृति उग्र शोधनों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। रक्तमोक्षण न करे। आत्ययिक अवस्थाओं (Emergency) को छोड़ कर सभी समय स्थापन और अनुवासन भी नहीं करना चाहिये। गर्भकाल के आठवें मास से वमन–विरेचन साध्य रोगों में भी यदि आत्ययिक अवस्था हो, तो मृदु वमन विरेचन द्वारा अथवा तदर्थकारी प्रयोगों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। गर्भवती की उपमा 'तैल भरे पात्र' से दी जाती है—जैसे तैल से लबालब भरे पात्र में तनिक सा धक्का भी तैल को गिरा सकता है—इसी प्रकार गर्भकाल में किया गया थोड़ा संक्षोभ भी अन्तर्वत्नी (Pregnant woman) के गर्भ तथा शरीर को हानि पहुँचा सकता है। इसलिये गर्भकाल की परिचर्या या चिकित्सा चिकित्सक को बड़ी सावधानी से ध्यानपूर्वक करनी चाहिये।

अष्टाङ्गहृदय ने लिखा है कि पति और परिचारक को गर्भिणी की परिचर्या प्रिय और हितकारी उपायों से करनी चाहिये और उसको मक्खन, घी और दूध सदा खाने को देना चाहिये।

(६) काश्यप ने लिखा है कि गर्भिणी को पुण्य, मङ्गल, पवित्र, प्रिय वस्त्र और आभूषण पहनने को देना चाहिये। उसको उदय लेते हुए सूर्य की उपासना करनी चाहिये, क्षय प्राप्त चन्द्रमा या अस्त जाते हुए सूर्य को नहीं देखना चाहिये। राहु और केतु को नहीं देखना चाहिये। चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण को नहीं देखना चाहिये; प्रत्युत उस काल में उसे कमरे के भीतर रहते हुए शान्ति होम जाप आदि करना चाहिये और मोक्ष होने की प्रार्थना करते रहना चाहिये। अतिथि का द्वेष न करे। भिक्षुक को भिक्षा दे और खाली हाथ न लौटावे अग्नि स्वयं प्रज्वलित हो तो उसमें घृत की आहुति करे। घृत से भरे घट, माला, भरे पात्र, दधि और घृत का प्रतिरोध न करे और न बाँधे। पतले सूत्र से, रस्सी से रोकने या बाँधने का कार्य भी वर्ज्य रखना चाहिये। बन्धन या गाठों के खोलने का प्रयास नित्य गर्भिणी को करना चाहिये। अर्थात् गर्भिणी को किसी अङ्ग पर कसे हुए वस्त्र का धारण न करते हुए शिथिल परिधान (ढीले वस्त्र) रखना चाहिये।

मासिक पथ्यापथ्य

(१) **प्रथम मास में**—गर्भिणी को गर्भ का सन्देह होते ही, विना संस्कार किये ही ठण्डे दूध का मात्रा में समय-समय पर सेवन शुरू करा देना चाहिये। फिर प्रातः और सायं सात्म्य भोजन का सेवन या मधुर, शीत और तरल आहार का सेवन करना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने लिखा है कि प्रारम्भ के बारह रात्रों तक शालिपर्णी और पलाश से श्रृत दूध से उत्पन्न हुए घी का सेवन करे और और अनुपान में स्वर्ण और चांदी की उपस्थिति में खौलाये हुए जल को ठण्डा करके पीना चाहिये। पाँचवें मास तक गर्भवती को दोषोत्पादक आहार-विहार का विशेषतः त्याग करना चाहिये।

(२) **द्वितीय मास में**—मधुरौषधियों से सिद्ध क्षीर का सेवन गर्भवती करे। इसमें मधुर-शीत और द्रवप्राय अन्न का ध्यान रखना चाहिये।

(३) **तृतीय मास में**—मधु और घृत मिला कर क्षीर का सेवन करना चाहिये। मधुर-शीत द्रवप्राय आहार तथा दूध के साथ साठी के चावल का भात देना चाहिये।

(४) **चतुर्थ मास में**—दूध और मक्खन का सेवन, जाङ्गल मांस क प्रयोग और हृद्य अन्न देना चाहिये। कुछ लोगों के मत से दही और साठी का भात पथ्य है।

(५) **पञ्चम मास में**—दूध और घी, दूध और घृत मिश्रित खाद्य साठी का भात और दूध देना चाहिये।

(६) **षष्ठम मास में**—मधुर ओषधियों से सिद्ध दूध और घृत का गोक्षुर से सिद्ध किये घृत का मात्रा के अनुसार पिलाना या यवागू का खिलाना या घी के साथ साठी का भात खिलाना चाहिये।

(७) **सप्तम मास में**—छठवें महीने के अनुसार ही वरतना चाहिये। पृथक् पर्णी से सिद्ध घी का प्रयोग करे।

(८) **अष्टम मास में**—गर्भवती को दूध में बनाये यवागू का घी मिलाकर सेचन करना चाहिये। भद्रकाप्य ने इस पथ्य को दोषपूर्ण बताया है उनके विचार से इसमें 'पैङ्गल्य' (आँख की जन्मजात इषत्पीतता) दोष की सम्भावना गर्भ में होने को रहती है। परन्तु इस का विरोध करते हुए आचार्य चरक ने इस पथ्य की प्रशंसा की है और बतलाया है कि इससे गर्भ को कोई हानि नहीं होती; प्रत्युत गर्भ नीरोग रह कर, बल, वर्ण, स्वर संहनन आदि से युक्त होकर श्रेष्ठ सन्तान के रूप पैदा होता है। इस मास में स्निग्ध यवागू और मांस का प्रयोग भी करने को लिखा है। अस्थापन में वेर (बदर) के कषाय में बला, अतिबला, शतपुष्पा, मांस, दूध, दही, मस्तु, तैल, नमक, मैनफल, मधु और घृत संयुक्त करके देना चाहिये। इससे पुराने मल की शुद्धि और वायु का अनुलोमन हो जाता है। पुनः मधुर द्रव्यों से सिद्ध कषाय में दूध मिला कर अनुवासन देना चाहिये। वायु के अनुलोमन के बाद गर्भवती निरुपद्रव हो जाती है और उसका प्रसव सुखपूर्वक होता है। गर्भिणी में स्थापन या अनुवासन; झुके हुए शरीर (न्युब्ज) में करना चाहिये इससे उसका पुरीष मार्ग चौड़ा हो जाता है और ओषधि सम्यक् रूप से प्रविष्ट हो सकती है।

(९) **नवम मास में**—गर्भवती में गर्भिणी का अनुवासन मधुरौषधों से सिद्ध तैल के द्वारा करना चाहिये। उसकी योनि तैल का पिचु रखना चाहिये। इस क्रिया के द्वारा गर्भ का स्थान और मार्ग स्नेहयुक्त हो जाता है।

नवम मास में भोजन में मांस रस और चावल का भात देना चाहिये। यदि यवागू देना हो तो बहुत स्निग्ध करके देना चाहिये। वातघ्न ओषधियों से संस्कारित शीतल जल से स्नान करना चाहिये।

यदि उपरोक्त कर्मो का यथाविध अनुष्ठान प्रथम मास से नवम मास तक चालू रखा जाय तो गर्भिणी के गर्भधारण या गर्भकाल में कुक्षि, कटी और पार्श्व मृदु हो जाते हैं; वायु अनुलोमन रहती है, मूत्र और पुरीष स्वभाव वल प्रवृत्त होकर सुखपूर्वक अपने मार्ग से निकलते रहते हैं, चर्म और नख मृदु हो जाते हैं, वल और वर्ण की वृद्धि होती है, यथेष्ट सम्पद् से संयुक्त होकर, सुखपूर्वक काल से प्रसव होता है।

आधार तथा प्रमाण संचय—

(१) तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्रीविशेषेण परिवर्जयेत्। साध्वाचाराचात्मानमुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहाराभ्याम्। (च० शा० ८)

गर्भिणी प्रथमदिवसात्प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलंकृता शुक्लवसना शान्तिमंगलदेवतागुरुब्राह्मणपरा च भवेत्।

मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्। दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत् उद्वेजनीयाश्च कथाः। वहिर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्यश्मशानवृक्षाश्रयान्, क्रोधभयसङ्करांश्च भावान्, उच्चैर्भाष्यादिकञ्च परिहरेत् यानि च गर्भव्यापादयन्ति।

न चाभीक्ष्णं तैलाभ्यंगोत्सादनानि निषेवेत, न चायासयेच्छरीरम् पूर्वोक्तानि च परिहरेत्।

शयनासनं मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतसम्बाधञ्च विदध्यात्। शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोपभुंजीत। हृद्यद्रवं मधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयं संस्कृतं च भोजनं भोजयेत्। सामान्यमेतदाप्रसवात् (सु० शा० १०)

(२) तदा प्रभृतिव्यवायं व्यायाममतितर्पणमतिकर्षणं दिवास्वप्नं रात्रिजागणं शोकं यानारोहणं भयमुत्कटुकासनं चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणञ्च न सेवेत।

दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते
स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते। (सु० शा० ३)

(३) सायद्यदिच्छेत् तत्तदस्यै दापयेदन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः। गर्भोपघातकरास्त्विमे भावाः—सर्वमतिगुरूष्णतीक्ष्णं दारुणाश्च चेष्टाः। इमाश्चान्यान्युपदिशन्ति वृद्धाः। देवतारक्षोनुचरपरिरक्षणार्थं न रक्तानि वासांसि विभृयान्न मद-

कराणि मद्यान्यभिव्यवहरेत् यानमधिरोहेन्न मांसमश्नीयात् सर्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिवर्जयेत्। यच्चान्यदपि स्त्रियो विद्युः। (च० शा० ४)

(४) गर्भोपघातकरा भावाः (च० शा० ८)

(५) उपचारः प्रियहितैर्भर्त्रा भृत्यैश्च गर्भधृक्

नवनीतघृतक्षीरैः सदा चैनामुपाचरेत्। (वा० शा० १)

(६) व्याधींश्चास्या मृदुमधुरशिशिरसुखसुकुमारप्रायैरौषधाहारोपचारैरुपचरेत्। न चास्या वमनविरेचनशिरोविरेचनानि प्रयोजयेत्। न रक्तमवसेचयेत्। सर्वं कालवानास्थापनमनुवासनं वा कुर्यादन्यत्रात्यायिकाद्व्याधेः। अष्टमं मासमुपादाय वमनादिसाध्येषु पुनर्विकारेषु आत्ययिकेषु मृदुभिर्वमनादिभिर्तदर्थकारिभिर्वोपचारः स्यात्। पूर्णमिव तैलपात्रसंक्षोभयताऽन्तर्वत्नी भवत्युपचर्या। (च० शा० ८)

(७) गर्भिणी तीक्ष्णौषधवर्जनीयानाम्। (च० शा० ८)

(८) व्याधींश्चास्या मृदुसुखैरतीक्ष्णैरौषधै र्जयेत्। (वा० शा० १)

(९) क्षीयमाणञ्च शशिनमस्तं यातं च भास्करम्

न पश्येद् गर्भिणी नित्यं नाप्युभौ राहुदर्शने।

सोमार्कौ सग्रहौ श्रुत्वा गर्भिणी गर्भवेश्मनि

शान्तिहोमपरासीत मुक्तयोगञ्च याचयेत्।

नद्विष्यादतिथिं भिक्षां दद्यान्न च वारयेत्

स्वयं प्रज्वलिते चाग्नौ शान्त्यर्थं जुहुयाद्घृतम्।

पूर्णकुम्भं घृतं माल्यं पूर्णपात्रं घृतं दधि

न किञ्चित् प्रतिरुन्धीयान्न च बध्नीत गर्भिणी।

सूत्रेण तनुना रज्वा स्तम्भनं बन्धनानि च

वर्जयेद् गर्भिणी नित्यं कामं बन्धानि मोक्षयेत्। (जातिसूत्रीये का० सं०)

(१०) मासिकं पथ्यापथ्यम् (च० शा० ८, सु० शा० १०, वा० शा० १, सं० शा० ३)

(Midwifery by Johnstone) (अभिनव प्रसूतितन्त्र)

प्रसव प्रकरण

पहला अध्याय

प्रसव विज्ञानीयाध्याय (The labour)

प्रसव वह कर्म है, जिसके द्वारा गर्भस्थिति के सभी घटक, गर्भ-गर्भोदक-अपरा-जरायु गर्भाशय को छोड़ कर बाहर निकलते हैं। प्रसव को दो प्रधान वर्गों में बाँटा जा सकता है १. प्राकृत प्रसव (Eutosia or Nomal or physiologica-llabour) तथा २. वैकृत प्रसव (Dystocia or Abnormal or path-ological labour)। प्राकृत प्रसव उस प्रसव को कहते हैं, जिसमें गर्भ अवाक् शिर होकर, मध्य शीर्ष का उदय (Vertex) लेकर, निरुपद्रव रहते हुए, स्वभावतया (बिना किसी प्रकार के चिकित्सक की सहायता के) चौबीस घंटे के भीतर (बालक) पैदा होता है।

आसन्न प्रसव या प्रसव के पूर्व रूप (Premonitory signs & symptoms)-अनिश्चित काल की यह अवस्था है। प्रसवारम्भ के दो, तीन सप्ताह पूर्व गर्भिणी को कुछ हल्केपन का अनुभव होने लगता है। गर्भाशय में उदर में नीचे की ओर उतर जाता है, कमर नीचे को झुक जाती है, महाप्राचीरा के ऊपर का भार हट जाने से साँस लेने में अधिक आराम हो जाता है, गर्भिणी को कुछ सुविधा का अनुभव होने लगता है। साथ ही साथ टहलने में कठिनाई, बार बार मूत्रत्याग की इच्छा प्रभृति लक्षण भी पैदा हो जाते हैं।

सावधानी से उदरपरीक्षा के द्वारा प्रथम गर्भा में सिर, श्रोणि कण्ठ, से लगा हुआ या स्थिर ज्ञात होता है—प्रजातावों में यह गर्भ सिर की स्थिरता प्रायः तब तक नहीं होती जब तक कि प्रसव का वास्तविक आरम्भ न हो जाय। इस अन्तर का कारण अप्रजातावों या प्रथम गर्भाओं में उनकी उदर की पेशियों की दृढ़ता ही है, जो अपनी शक्ति से गर्भ सिर को नीचे की ओर दबाकर श्रोणि कण्ठ में इतना पहले ही स्थिर कर देती है।

अन्तिम एक दो सप्ताहों में स्राव की अधिकता हो जाती है जिसके कारण भग आर्द्र और पहले से अधिक विवृत हो जाता है। गर्भिणी के भार में अन्तिम दो तीन दिनों में कमी होना भी आसन्न प्रसव का द्योतक होता है, फलतः पूर्वरूप का निश्चय कराने वाला होता है।

प्रसव के दो तीन दिन पूर्व कुछ लक्षण उत्पन्न होते हैं—ये लक्षण अप्रजाताओं में प्रकट रहते तथा प्रजाताओं में प्रायः अनुपस्थित रहते हैं। मिथ्या आवि, ग्रीवा का अल्प विकास; ग्रीवा की अति मृदुता, श्लेष्मा मिश्रित रक्त का निकलना, बहिर्भग का शोफ भी पाया जाता है।

प्राचीनों ने भी लिखा है कि 'प्रसवकाल के समीप गर्भिणी में ये चिह्न मिलते हैं। थकावट, शरीर का दुखना, मुख एवं आंखों की शिथिलता, कुक्षि का ढीला पड़ना, उदर के नीचे के भाग को गुरुता, छाती के बन्धन का ढीला होना, (कसावट का कम होना) वंक्षण-वस्ति-कटि-कुक्षि-पार्श्व-पृष्ठ में सुई चुभोने जैसे पीडा का अनुभव, योनि से स्राव का निकलना तथा अन्न में अभिलाषा न होना।'

'कुक्षि की शिथिलता, हृदय बन्धन (भार) का मुक्त होना, जघन प्रदेश में पीडा का अनुभव प्रजायिनी में होता है। प्रसव की उपस्थिति में कटी पृष्ठ के चारों ओर वेदना तथा बार २ मल और मूत्र की प्रवृत्ति होना तथा योनि मुख से श्लेष्मा का स्राव होना पाया जाता है।'

प्रसवक्रम या अवस्थायें (Stages of labour) वर्णन की सुविधा की दृष्टि से प्रसव को तीन अवस्थाओं में बाँटते हैं। प्रथमावस्था को प्रसरणावस्था (Dilatation) भी कहते है। यह आवी (Pain) प्रादुर्भाव से लेकर ग्रीवा के पूर्ण विकास पर्यन्त की मानी जाती है इसी अवस्था में जरायु का विदीर्ण होना गर्भोदक का निकलना भी पाया जाता है। द्वितीयावस्था को विशल्यावस्था (Stage expulsion) भी कहते हैं यह ग्रीवा के पूर्ण विकास से लेकर गर्भ के जन्म पर्यन्त की मानी गई है। तीसरी अवस्था को विमोक्षावस्था (Stage of delivery) भी कहते हैं। यह गर्भ के जन्म से लेकर अपरा के गिरने पर्यन्त तक की होती है।

प्रथमावस्था

आवी की उत्पत्ति ही प्रसवारम्भ का सूचक है। प्रसववेदनाको आवी कहते हैं। यह एक प्रकार का गर्भाशय के संकोचन से उत्पन्न होने वाला अनैच्छिक, सान्तर नियमित शूल होता है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि गर्भाशय में पूरे गर्भकाल पर्यन्त अनियमित एवं पीडा रहित संकोच बराबर हुआ करता है। जब यही संकोचन नियमित और वेदना के साथ होने लगते हैं—तो आवि कहलाता है और प्रसव का द्योतक होता है। यह पीड़ा क्रम से उत्तरोत्तर तीव्रतर होती जाती

है। प्रारम्भ में ये संकोच प्रति वीस मिनट वाद हुआ करते हैं तथा धीरे धीरे इनका आन्तरांकुचन काल कम होता जाता है और प्रथमावस्था के अन्त में तीन, चार मिनट वाद आकुचन होने लगते हैं और गर्भ जन्म के समय निरन्तर होने लगता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे जैसे समय निकलता चलता है यह वेदना तीव्रतर और तीव्रतम होती चलती है और अन्तर के छोटे हो जाने से अनेकशः होने लगती है। ये वेदना पीठ से उत्पन्न होकर उदर के चारों ओर और जंघे के सामने तक चली आती है। कुछ औरतों में इसके विपरीत समुत्थान और गमन भी वेदना का हो सकता है। जव वेदना तीव्र होती है तो स्त्री ऊंचे स्वर से रोने लगती हैं और उसकी शमन की इच्छा से शरीर को सामने की ओर झुका लेती है या किसी चीज का आश्रय लेकर झुक जाती है। त्रिक्देश के दवाने से उसको कुछ आराम मिलता है। प्रसवावस्था के अनुसार आवी के भी प्रकृति, कारण और अवस्थान में भेद पाया जाता है।

प्रथमावस्था में वेदना मुख्यतः गर्भाशयपार्श्वों या त्रिक्देश में होती है और अतितीव्र नहीं होती। ग्रीवा का अतिकर्षण और गर्भाशय का आकुञ्चन इसकी उत्पत्ति में हेतु होता है। द्वितीयावस्था में पुनः गर्भाशय, त्रिक, श्रोणि, जंघा और दोनों उरुओं में वेदना होती है। यह कुछ अधिक तीव्र स्वभाव की होती है। यह पीड़ा प्राचीर की नाडियों के दबाव से गर्भाशय में, योनिमूल और पीठ के अधिक खिंचाव से श्रोणि और त्रिक् में त्रिक्नाडीजाल के ऊपर भार पड़ने से जंघा और उरु में होती है। तृतीयावस्था में वेदना प्राचीरगत नाडी के दवाव के कारण केवल गर्भाशय में ही प्रतीत होती है—ये भी अतितीव्र स्वभाव की नहीं रहतीं।

गर्भाशय के पुनः पुनः संकोच से गर्भशिर स्थिर हो जाता है, ग्रीवा के अन्तर्मुख भाग विकसित हो जाता है और उसके समीप का जरायु भाग भी पृथक् हो जाता है। यह पृथक् हुआ जरायु जिसमें गर्भोदक भरा हुआ रहता है; पानी से भरे मसक के रूप में वढ़ता हुआ ग्रीवानलिका को अधिक विस्फारित कर देता है। जरायु के पृथक् होने से, ग्रीवा की श्लेष्मलकला के व्रणित होने के कारण, श्लेष्मार्गलिका (Plug of mucous) के दूर हो जाने से रक्तमिश्रित श्लेष्मल स्राव योनिमुख से निकलने लगता है (Show) जो प्रसवारम्भ का सूचक होता है। इसके वाद जव ग्रीवा का पूर्ण विकास हो जाता है, तो आधार के नष्ट हो जाने से

मसक (Bag of water) विदीर्ण हो जाता है और गर्भोदक निकल जाता है। विकृत अवतरणों में जरायुके अकाल में ही विदीर्ण हो जाने से, ग्रीवा के पूर्ण विकास के पूर्व ही जरायु फट जाती और गर्भोदक का स्राव हो जाता है। क्वचित् ऐसा भी हो सकता है कि ग्रीवा के पूर्ण विकसित हो जाने पर भी जरायु न फटे; ऐसी स्थिति में परिचारक को अपने अंगुलियों से जरायु का दारण करना पड़ता है। यदि ऐसा न हो पाये तो जरायु से आवृत ही गर्भ का जन्म होता है। फिर जीवन रक्षा के निमित्त शीघ्रता से जरायु को फाड़कर वच्चे को स्वतन्त्र करना चाहिये। इस अवस्था के अन्त में माताओं में प्रायः वमन भी होता है। सामान्यतया यह अवस्था बारह से अठारह घंटे तक रहती है। इस प्रकार प्रसवावस्था में निम्न लक्षण होते हैं—

(१) गर्भाशय का आकुंचन-प्रसव वेदना-आवी।
(२) ग्रीवा विकसन (Dilatation of cervix)
(३) शिरोऽवग्रहण—गर्भशिरस्थैर्य (Fixation)
(४) योनिमुख से सरक्त श्लेष्मा का स्राव (Show)
(५) जरायु का विदीर्ण होना (Rupture)

स्मरण रखना चाहिये कि आवियाँ दो प्रकार की होती हैं—वास्तविक और मिथ्या (True & False pains)। वास्तविक आवियाँ गर्भाशय के संकोच से उत्पन्न होती है, इनमें कटि और पृष्ठ में वेदना होती है, नियतकाल से इसका वेग आता है, गर्भाशय दृढ़ हो जाया करता है—योनिपरीक्षा से जरायु का उभार दिखलाई पड़ता है। मिथ्या आवियों में वस्ति-आन्त्र-उदर की पेशियों के संकोच के कारण वेदना होती है, वेदना का अनुभव उदर में होता है, अनियतकाल में इनका उद्गम होता है—इनकी उपस्थिति में गर्भाशय में दृढ़ता नहीं आती और योनिपरीक्षा से न तो जरायु का उभार ही प्रतीत होता है।

द्वितीयावस्था या गर्भजन्मावस्था—

जरायु के विदीर्ण होने के अनन्तर कुछ क्षणों के लिये वेदना शान्त हो पुनः तीव्र हो जाती है। गर्भाशय के आकुंचन या संकोच अधिक जोरदार होने लगते हैं। ये संकोच अधिक देर तक होते हैं, प्रबल होते हैं, और उनके बीच का अन्तर अल्प हो जाने से अधिक बार होने लगते हैं। गर्भ रास्ता पाकर क्रमशः नीचे को योनिद्वार की ओर क्रमशः प्रेरित होने लगता है। उदर की पेशियाँ और महा-

प्राचीरा भी इस कार्य में सहायक होकर प्रवाहण कराने लगती हैं। प्रवाहण (कुन्थन) पहले स्वेच्छाधीन रहता है; परन्तु उत्तर काल में वह अनैच्छिक हो जाता है और स्त्री की इच्छा न रहते भी स्वभावतः (अपने आप) होने लगता है।

पीड़ाकाल में गर्भिणी किसी वस्तु का दृढ़ता से अलिङ्गन करके या शय्या के पैतानों के अपने पैरों पीटती दिखलाई पड़ती है ऐसा करने से उसे कुछ आराम मालूम होता है। लम्बी-लम्बी साँस लेकर, उसको यथाशक्य रोकती और पुनः प्रवाहण करती है। उसका मुख नीलवर्ण का हो जाता है। शरीर से पसीना छूटने लगता है। पीड़ा के कम हो जाने पर पुनः कतिपय गहरी लम्बी साँस लेती है।

इस प्रकार प्रत्येक आविकाल में गर्भ सिर कुछ नीचे को जाता और पुनः आवि रुक जाने से इषत् ऊपर की ओर आ जाता है। गर्भशिर श्रोणिगुहा में जैसे ही नीचे को बढ़ता है, मलाशय पर दबाव डालता है; फलतः यदि मलाशय रिक्त नहीं रहा तो मलत्याग की इच्छा जाग्रत होती तथा प्रत्येक सङ्कोच में न्यूनाधिक मात्रा में मल बाहर निकला करता है। नीचे की ओर को प्रतिपद्यमान गर्भ मूल-पीठ (Perineum) को कुछ उन्नमित करता, भग को विवृत करता तथा मलाशय को पीड़ित करता है।

इस प्रकार मूलपीठ के उभरते जाने एवं भगद्वार के विवृत होते जाने से एक बार ऐसी स्थिति आ जाती है जब कि आकुञ्चन काल में सिर दिखाई पड़ने लगता है। जैसे-जैसे गर्भशिर का अधिकाधिक भाग भगद्वार में अवस्थित होता जाता है, भगद्वार का मुख विवृत होता चलता है फलतः जहाँ वह चौड़े दरार-सा रहता है अण्डाकार और अन्त में वृत्ताकार हो जाता है। इसी काल में मूलाधार (Perineum) के ऊपर इतना अधिक दबाव पड़ता है कि वह विशेषतः उसका पूर्व भाग तन जाता और पतला हो जाता है। जन्म के क्षण में इसकी मुटाई एक कागज़ के टुकड़े से अधिक नहीं रहती। इसके पीछे मलद्वार पर तनाव पड़ने से उसका आकार अंग्रेजी अक्षर में D जैसे हो जाता है और मलाशय की आगे की दीवाल इसीसे निकली हुई दीखती है।

तत्पश्चात् गर्भसिर आगे बढ़ने पर भगसन्धानिका के नीचे आ जाता है। सङ्कोच एवं विश्राम की क्रिया जारी रहती है और एक तीव्र वेदना के साथ सिर का सबसे बड़े व्यास बाहर निकल आता है। अब इसके बाद विश्रामकाल नहीं होता।

गर्भ की ग्रीवा विस्तृत होती और शिर का शीघ्रता से जन्म करा देती है—पहले ब्रह्मरन्ध्र, फिर ललाट (Brow), फिर मुख इस क्रम से सिर का जन्म होता है। यह माता के लिये अतिशय कष्ट (वेदना) कर काल होता है।

सिर के पूर्णतया निकल जाने के कुछ क्षण की विश्रान्ति (Short pause) मिलता है—जिसमें गर्भ का मुख रक्ताधिक्य युक्त हो जाता है। तत्पश्चात् बालक का

शीर्ष का क्रमशः निष्क्रमण
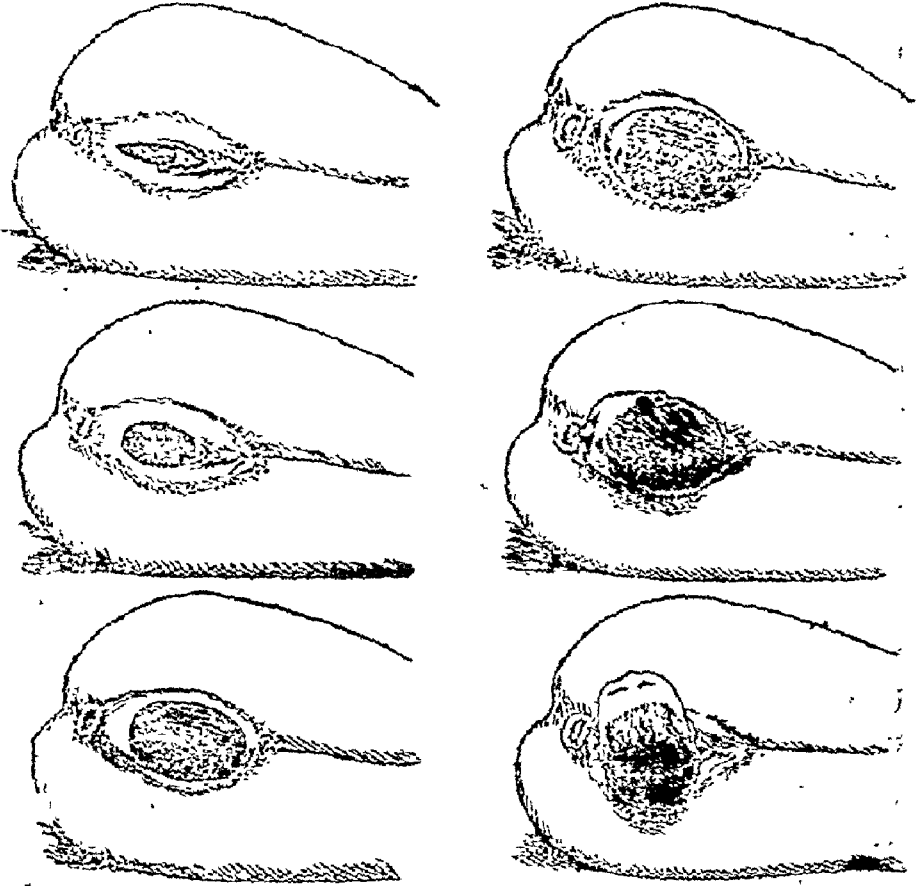
चित्र ४५-५०

मुख माता की दाहिनी जाँघ की ओर मुड़ जाता है अर्थात् यदि माता बायें करवट पर हो तो बालक का मुख ऊपर की ओर हो जायेगा। यह गति इसलिये होती है

कि बालक के कन्धे घूमकर श्रोणि के निर्गम द्वार के अग्रपश्चिम व्यास में आ जाते हैं। अब सामने की ओर का कन्धा भगसन्धि पर दबाव डालता है और पिछला कन्धा शीघ्रता से बाहर निकलता है। बालक की धड़ तथा शाखायें भी इसी समय बाहर निकलती हैं, और अवशिष्ट गर्भोदक जो जरायु के विदीर्ण होते समय नहीं निकल पाया था वह निकल जाता है।

यह द्वितीय अवस्था अप्रजाताओं में दो से तीन घण्टे की रहती है; प्रजाताओं में इसकी मर्यादा बहुत कम होती है। संक्षेप में द्वितीयावस्था में तीन घटनायें होती हैं-

(१) गर्भाशय संकोच, (२) प्रवाहण,
(३) गर्भ निर्हरण (Expulsion of the child)

तृतीयावस्था विमोक्षावस्था (Stage of delivery)

इस प्रकार गर्भ के निकल न जाने पर थोड़ी देर के लिये (१०-१५ मिनट) आवी के विराम से स्त्री को शान्ति का अनुभव होता है। फिर वेदनाओं का प्रारम्भ हो जाता है और प्रति पाँच मिनट पर आवियाँ उत्पन्न होने लगती हैं अर्थात् गर्भाशय का आकुञ्चन प्रारम्भ हो जाता है। द्वितीयावस्था के अन्त में विवृत गर्भाशय का अनुभव नाभि के नीचे किया जा सकता है—संकोच काल में यह घना और कठिन हो जाता तथा विरामकाल में ईषत् मृदु हो जाता है। प्रत्येक वेदना के साथ थोड़ी थोड़ी मात्रा में परन्तु बहुत बार रक्त स्राव का वेग आता है जिससे रक्त स्राव होता है—जो अपरा के वियोग (Seperation) का ज्ञापक होता है। कई बार इस में रक्तस्राव की अनुपस्थिति भी पाई जाती है। इसके बाद प्रबल संकोचन होने पर, वेदना के साथ, वियुक्त हुई अपरा योनिमुख से होती हुई बाहर निकलती है। कई बार बाहर न निकल कर (संकोचन के वेग की दुर्बलता से) योनि में ही रुकी रह जाती है। जरायु भी निकलती हुई अपरा के साथ ही साथ खींच आती और बाहर निकल जाती है। फिर रक्त का स्राव होता है। अपरा के पूर्णतः मोक्ष हो जाने के बाद यह रक्तस्राव गर्भाशय के स्थायी संकोच के द्वारा, शिरा एवं धमनियों के ऊपर दबाव पड़ने से अपने आप बन्द हो जाता है। संक्षेप में तृतीयावस्था में निम्न घटनायें होती हैं—

(१) गर्भाशय संकोच, (२) अपरा विमुक्ति,
(३) अपरानिर्गम या जन्म, (४) शैत्यानुभूति।

इस तृतीय अवस्था में कुछ मिनटों से लेकर एक घंटे तक या कुछ अधिक तक भी लग सकता है। औसतन लगभग बीस मिनट लगते हैं।

इस अवस्था में (१) पसीने के बहुत निकलने और (२) शरीर के ठंडे हो जाने तथा (३) अत्यधिक शारीरिक पेशियों के श्रम के कारण तथा (४) औदरिक रक्तपरिभ्रमण की पुनर्व्यवस्था के हेतु; सूतिका को शीत का अनुभव होता और (Physiologicalchill) जाड़ा लगता है।

प्रसव की कालमर्यादा—प्रजाता स्त्रियों में सामान्यतया सम्पूर्ण प्रसव में बारह घण्टे लगते हैं—जिसमें प्रथम में दस, द्वितीय में डेढ़ और तृतीय अवस्था में आधे घण्टे का हिसाब रहता है। अप्रजाताओं में छः घण्टे अधिक अर्थात् अठारह घण्टे लग जाते हैं—जिनमें प्रथम के द्वारा पन्द्रह से सोलह, द्वितीय के द्वारा लगभग दो और तृतीय अवस्था के द्वारा आधे घण्टे का समय घिर जाता है। यह एक साधारण नियम है इसके अपवाद रूप में कई ऐसे प्रसव हुए हैं जिनमें कुल छः ही घण्टे का अल्प समय लगा और कइयों में चौबीस घण्टे तक का लम्बा समय भी लग गया है।

प्राचीनों ने भी लिखा है कि:—

प्रथमावस्था में—आवी की उत्पत्ति और गर्भोदक का स्राव, योनिमुख से श्लेष्मा का निकलना पाया जाता है।

द्वितीयावस्था में—गर्भ हृदय को छोड़ कर उदर में आ जाता, वस्ति के पास गर्भ शिर आकर लग जाता, आवी शीघ्रता से एवं तीव्रतम वेग से हो जाती; गर्भ नीचे को आ जाता है।

तृतीयावस्था में—जब सन्तान पैदा हो जाय तो अपरा के लिये प्रतीक्षा करनी चाहिये और देखना चाहिये कि उसकी अपरा गिरी या नहीं।

प्रसव हेतु (Cause of the ons et of labour)

आवीमूलक गर्भाशय संकोच की उत्पत्ति ही प्रसव में हेतु है। ये गर्भाशयिक सङ्कोच की लहरें तब तक उत्पन्न नहीं होतीं जब तक कि गर्भ की वृद्धि होती रहती है। जब गर्भ पूर्ण विवृद्ध हो जाता है और उसके लिये माता की कुक्षि में रहने की कोई आवश्यकता नहीं होती तब लहरें अपने आप प्रारम्भ हो जाती हैं और गर्भ को गर्भाशय से बाहर निकाल देती हैं। काल प्रसव के समय संकोच की लहरें उत्पन्न होने के अनेक हेतु शास्त्रज्ञों ने बतलाये हैं—जिनमें निम्न लिखित मुख्य हैं।

१. गर्भाशय की ग्रीवा विस्तृति—जैसे जैसे गर्भ बढ़ता है, वैसे वैसे गर्भाशय भी बड़ा होता जाता है; परन्तु गर्भाशय की वृद्धि की सीमा होती है और उसके बाद उसकी वृद्धि रुक जाती है। तथा गर्भ के दबाव से उसका मुख धीरे धीरे कुछ चौड़ा हो जाता है। ग्रीवा का अन्तर्मुख विकसित हो जाता है। गर्भाशय की पेशी तन्तुओं का एक धर्म यह हैं कि मुख के चौड़ा होने पर गात्र की पेशियों के तन्तुओं में सङ्कोच प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार ग्रीवा का विस्फारण ही गर्भाशय सङ्कोचों के उत्पन्न करने में कारण हो जाता है।

२. **जरायु वियोग**—(Detachment of the membrane)—अन्तिम मास में गर्भधरा कला का अपचय प्रारम्भ हो जाता है, जिससे जरायु पृथक् होने लगती है। इस प्रकार जरायु का वियुक्त होना भी गर्भाशय सङ्कोच का हेतु होकर प्रसव में कारण होता है—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। परन्तु दूसरे इसका समर्थन नहीं करते हैं क्योंकि प्राकृतावस्था में इस प्रकार अपचय नहीं सम्भव है।

३. **आङ्गारिक वाष्प** (Co_2) की अधिकता गर्भ के अन्तिम दिनों में माता के रक्त में 'कार्बन डाइ आक्साइड' की अधिकता होती है। यह वायु वात-नाडियों तथा मस्तिष्क के केन्द्रों को उत्तेजित करके गर्भाशय में सङ्कोचन उत्पन्न करती है। इस मत के भी कुछ विद्वान् समर्थक हैं; परन्तु विपक्षियों के अनुसार यह कथन ठीक नहीं क्यों कि माता के रक्त 'कार्बन डायोक्साइड' का संचय क्रमशः होता है—फिर वह सहसा सङ्कोच पैदा करने का हेतु कैसे हो सकता है। अतः यह भी गौण हेतु ही है।

४. **गर्भाशय की अतिक्षुब्धता या मासिक धर्मजन्य उत्तेजना** (Irritability)—गर्भकाल में गर्भाशय का सङ्कोचन या विरताकुञ्चन (Intermittent contraction) वस्तुतः उसके क्षोभ के कारण ही होता है। प्रत्येक मासिक धर्म के समय में गर्भाशय में कुछ हलचल-सी मची रहती है। गर्भावस्था में यद्यपि मासिक धर्म रुका रहता है; तथापि उसके नियत समय पर गर्भाशय में कुछ हलचल (मन्द मन्द सङ्कोच) हुआ करती है। तथा सम्भावित उत्तर काल में यह उत्तरोत्तर तीव्रस्वरूप की होती चलती है और प्रसवकाल के समीप तीव्र सङ्कोचों का रूप ले लेती है। प्रसवकाल, मासिक धर्म के काल के साथ प्रायः मिलता है और अन्य कारणों की सहायता पाकर वही क्रमशः बढ़ता

गर्भाशय संक्षोभ अधिक जोर पकड़ कर, गर्भाशय सङ्कोच के रूप में परिणत हो जाता तथा प्रसव का हेतु बनता है।

५. **गर्भ से उत्पन्न हुए पदार्थ** (Metabolic products)—प्रसव-काल पर गर्भ से कुछ ऐसे पदार्थ उत्पन्न होते हैं—जो केन्द्रों, नाड़ियों तथा गर्भाशय की पेशियों पर कार्य करके उनमें सङ्कोच की लहरें उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि परिपक्व अपरा से कुछ विशेष पदार्थ निकलते हैं जो सुषुम्नागत प्रसव केन्द्र को उत्तेजित करते हैं।

६. **अन्तःस्राव** (Harmones)—क्रमशः क्षेत्रसंजनन रस (Progestin) का बल कम होने लगता है और पीयूषग्रन्थि के पश्चिम भाग का अन्तःस्राव अधिक होने लगता है उसी के प्रभाव से गर्भ का प्रसव होता है। इस प्रकार की कल्पना आधुनिक वैज्ञानिकों की है।

७. **स्वभाव-प्रकृति** (Natural selection)—वैज्ञानिकों का एक दल इन नाना मतों के भ्रमजाल से उद्विग्न होकर प्रकृति को ही कारण मानता है। इनके विचार से जैसे हृदय चक्र का समय एक सेकेण्ड का और श्वासचक्र का समय चार सेकेण्ड का होता है, वैसे ही आर्त्तव चक्र चार सप्ताह का और काल प्रसव का समय दस मास या चालीस सप्ताह का होता है।

इस प्रकार काल प्रसव के हेतु के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। यहाँ पर नानाविध हेतुओं का समुदाय ही प्रसवकाल का आरम्भक हेतु है न कि केवल एक कारण।

आयुर्वेदीय ग्रन्थों में स्वभाव को ही एक मात्र प्रसव में हेतु माना है। गर्भ की उपमा पक्व फल से दी गई है। जिस प्रकार वृन्त (डंठल) से लगा हुआ फल काल के परिणाम से गिरता है अन्यथा नहीं गिर सकता उसी प्रकार नाभिनाल से बँधा हुआ, गर्भाशय में पड़ा हुआ गर्भ जब उसका (दस मासका) काल पूरा हो जाता है तो प्रसव काल में स्वभाव से ही जन्म लेता है।

आधार तथा प्रमाण संचय—

आसन्नप्रसव—जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने

सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी।

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषमूत्रप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाश्लेष्मा च। (सु० शा० १०)

प्रथमावस्था—(१) ततोऽनन्तरभावीनां प्रादुर्भावः, प्रसेकश्च गर्भोदकस्य ।
(च० शा० ८)

(२) तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषमूत्र-प्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च (सु. शा. १०)

द्वितीयावस्था—गर्भं प्रयात्यावेगं तल्लिङ्गं हृद्विमोक्षतः
आविश्य जठरं गर्भो वस्तेरुपरि तिष्ठति
आव्यो हि त्वरयन्त्येनाम्···(वा० शा० १)

तृतीयावस्था—यदा च प्रजाता स्यात्तदैवैनामवेक्षेत कदाचिदस्या अपरा प्रपन्नाऽप्रपन्नेति । (च० शा० ८)

प्रसवहेतु—(१) स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात् परिवृत्या वाक् शिरा निष्क्रामत्यपत्यपथेन । (च० शा० ६)

(२) कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्ताद्यथाफलम्
प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम् ।
एवं कालप्रकर्षेण मुक्तो नाडीविबन्धनात्
गर्भाशयस्थो यो गर्भो जननाय प्रपद्यते ॥ (सु० नि० ८)

(Midwifery by Johnstone & Tenteacher)

दूसरा अध्याय

प्रसव के अंग (Factors of labour)

प्रसव की उत्पत्ति में सहायभूत अनेक बातें बतलाई गई हैं; वर्णन की सुविधा की दृष्टि से इन्हें मोटे मोटे तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(१) शक्ति (Power) जिसके बदौलत प्रसव होता है, (२) पथ-(Passage) अपत्यपथ में शक्ति के प्रभाव से होने वाले परिवर्त्तन, (३) पथिक-(Passenger) गर्भ तथा उसके अतिरिक्त अन्य गर्भाशयगत पदार्थों की गति ।

१. **शक्ति**—प्रसव के कार्य में दो प्रमुख शक्तियां भाग लेती हैं, (अ) प्राथमिक शक्ति या गर्भाशयगत मांसपेशियों की क्रिया, (ब) गौण शक्ति या औदरीय मांसपेशियों की क्रिया । **प्रथमावस्था**—इस अवस्था में प्रधानतया प्राथ-

मिक शक्तिभाग लेती है। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि गर्भावस्था के अधिकांश भाग में गर्भाशय में विरत (Intermittent) आंकुचन होते रहते हैं और प्रसवकालीन आकुंचन इन्हीं के बृहद्रूप है; जो अत्यन्त वेदना पूर्ण होते हैं। इन आकुंचनों में प्रसवकाल में एक और भी विशेषता आ जाती है कि इन पेशियों में आकुंचन के साथ प्रत्याकुंचन (Retraction) भी होने लगता है। यह प्रत्याकुंचन गर्भाशय तथा मूत्रवस्ति की पेशियों का विशिष्ट गुण है। इसका तात्पर्य यह है कि गर्भाशयगत पेशीसूत्र प्रत्येक संकोच में छोटे हो जाते हैं एवं स्थायीरूप में ऐसे बने रह जाते हैं कि शिथिल होकर पुनः अपने पूर्वरूप को नहीं प्राप्त करते हैं। फलस्वरूप गर्भाशय की समाई में उत्तरोत्तर कमी होती जाती है—जो प्रसवकाल में गर्भाशय की चीजों को बाहर निकाल फेंकने में प्रधान हेतु हो जाता है।

आवी, वेदना, गर्भाशयाकुंचन या संकोच पर्यायरूप में हैं—ऐसा समझना चाहिये। यह आकुञ्चन प्रथम धीरे धीरे प्रारम्भ होता है तथा उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है जब तक अपने उच्चतम शिखर पर नहीं पहुंच जाता। यह अवस्था कुछ क्षणों तक रहती है, इसके बाद क्रमशः शान्त हो जाती है। तत्पश्चात् थोड़े क्षणों के अन्तर से पुनः संकोच प्रारम्भ होता है। इस प्रकार वृद्धि, ह्रास तथा विश्राम का एक चक्र-सा बन जाता है। इस विरताकुञ्चन से तीन लाभ होते हैं—(१) माता को विश्राम मिलता है, (२) गर्भ के ऊपर दबाव पड़ने से तथा द्वितीयावस्था में औदरिक अङ्गों को पीडन से बचाता है। (३) पीडा के अत्युच्च दशा में अपरागत रक्तप्रवाह को जारी रखने में सहायक होता है। यदि दीर्घकालीन संकोच या अविरत आकुञ्चन (Tetanic contraction) गर्भाशय का हो तो रक्तप्रवाह में अवरोध होने से गर्भस्थ शिशु की मृत्यु हो जाती है जैसा कि 'अरगट' के दुरुपयोग तथा अन्य अवस्थावों में देखने को मिलता है। इसके साथ ही साथ जैसे जैसे प्रसव आगे बढ़ता है वेदना-लम्बी, दीर्घकालीन, प्रबल तथा लघु अन्तर वाली होती जाती है। आरम्भ में संकोच दस से पन्द्रह मिनट के अन्तरपर होता है तथा तीस सेकण्ड तक बना रहता है; लेकिन अन्त में प्रति एक-दो मिनट से होने लगता है, और साठ से नब्बे सेकण्ड तक रहता है।

द्वितीयावस्था में प्राथमिक शक्ति को गौण शक्ति (औदरिक पेशियों के

संकोच) सहायक रूप में आ जाती है। जैसा कि पूर्व में व्याख्या हो चुकी है—कि प्रारम्भ में ये संकोच गर्भिणी की इच्छा के अधीन रहते हैं और प्रवाहण या कुन्थन के रूप में स्त्रियां इनको उत्पन्न कर सकती हैं; परन्तु अन्त में जाकर आकुञ्चन क्रिया अनैच्छिक हो जाती है अर्थात् अपने आप चलने लगती है।

तृतीयावस्था में प्रायः गर्भाशयगत मांसपेशियां ही कार्य करती हैं। **शक्ति की प्रकृति**—(Nature) (१) प्रथमावस्था में गर्भ पूर्णतया जरायु कोष से आवृत होता है और जब तक ग्रीवा, अविस्तृत रहती है—गर्भाशय संकोच की प्रकृति सामान्य द्रव के भार (General fluidpressure) के रूप की होती है। अर्थात् सभी दिशाओं में समान रूप से भार पड़ता है। यदि यही स्थिति बनी रहे तो गर्भ की अधोगति अग्रसर नहीं हो सकती। अतः ग्रीवा की विस्तृति हो जाती है, जिससे प्रतिरोध कम हो जाता है और जल का भार ग्रीवा पर नीचे की ओर पड़ने लगता है।

(२) जरायु के विदीर्ण हो जाने के बाद बहुत-सा गर्भोदक का भाग निकल जाता है, फिर गर्भाशय के अधोध्रुव में सिर एक दम ठीक बैठे होने के कारण काफी मात्रा में जल अवशिष्ट रहता है और अब इस सतह पर गर्भाशय की शक्ति कार्य करती और जल भार को बनाये रखती है। कई बार गर्भोदक पूर्णतया खाली हो गया रहता है-अथच प्रसव पूर्ण नहीं हुआ रहता, ऐसी स्थिति में गर्भ का नितम्ब ऊपर की ओर गर्भाशय स्कन्ध में चला जाता है और उसका सिर नीचे को हो जाता है। ऐसी स्थिति में गर्भाशय की शक्ति गर्भशरीर के अक्ष पर काम करती है।

(३) कुछ विद्वानों ने गर्भाशय संकोच की शक्ति को भार के रूप में स्वीकार किया है। इनके विचार से यह भार लगभग ३० पौण्ड प्रतिवर्ग इञ्च पर होता है वेदना की अति तीव्रावस्था में यह पचास पौण्ड प्रति वर्ग इञ्च तक हो जाता है।

संकोचकाल की घटनायें—(Phenomena)

(१) धमनी भार या रक्तनिपीड का बढ़ना।

(२) नाडी की गति तेज हो जाना तथा विश्रान्ति काल में मन्द पड़ना।

(३) श्वसनगति का मन्द होना या रुद्ध हो जाना, पुनः विश्रान्ति काल में अधिक तेज होना।

(४) गर्भाशय का अन्तः भार का बढ़ना।

(५) गर्भ के हृत्स्पन्द का मन्द हो जाना।

(६) गर्भाशय ध्वनि का तीव्र होना। प्रारम्भ में अतितीव्र अत्युच्च वेदना होने पर रक्तसंचार में क्षणिक बाधा उत्पन्न होने के कारण ध्वनि कान मे सुनाई पड़ना।

(७) गर्भाशय का संकीर्ण और लम्बा हो जाना। गर्भाशय का अनुदैर्घ्य व्यास बढ़ जाना तथा अनुप्रस्थ व्यास का कम हो जाना। अनुदैर्घ्य व्यास का श्रोणि-गुहा के अन्तर्द्वारपर लगना।

(८) गर्भाशय प्राचीर का स्थूल हो जाना।

पथ (The passage)—गर्भावस्था के अन्तिम दो-तीन मासों में गर्भाशय गात्र का अधोभाग विशेषतः पूर्वभित्ति पतली हो जाती है, स्थूल और पतले भागों में कोई स्पष्ट सीमा नहीं मिलती तथापि स्थूलता का क्रमिक ह्रास होते हुए, अन्तर्मुख के दो इञ्च ऊपर तक का एक भाग व्यक्त रहता है-यह गर्भाशय का सब से पतला कमजोर भाग है, इस अस्थूल भाग को अधो गर्भशय्या (Lower uterine segment) कहते हैं। इस भाग के पेशीसूत्र लम्बे और समानान्तर मिलते हैं। कई बार यह अस्थूल भाग बिना प्रसव के प्रारम्भ हुए नहीं प्रतीत होता और प्रसव के प्रारम्भ हो जाने पर स्पष्ट एवं पूर्ण विकसित हो जाता है।

प्रसव के प्रारम्भ होने के पूर्व तक अन्तर्मुख प्रायः बन्द रहता है, इसलिये साधारणतया प्रसव की शुरुवात में ग्रीवासरणी (Cervicalna) एक संकरी नलिका के रूप में धारण कर लेती है जो ऊपर की ओर अन्तर्मुख (Internalos) के संवृत रहने से बन्द रहती है और प्याले जैसी आकृति की अधो-गर्भशय्या (Lower uterine segment) में पहुंचती है। प्रसव की प्रथमावस्था में ये दोनों भाग चौड़े हो जाते और लगातार एक नलिका के रूप में आ जाते हैं।

इस प्रकार गर्भाशय जैसे बन्द और गर्त्तयुक्त रचना के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि उसका कुछ भाग कमजोर हो जिसके जरिये गर्भाशय में होने वाले संकोचों के तरङ्गों की दिशा का निर्णय किया जा सके तथा जो गर्भाशय के संकोचों के साथ कुछ विस्फारित होकर तद्गत द्रव्यों को बाहर निकालने में सहायक हो सके। अन्यथा गर्भाशय के संकोचों के परिणामस्वरूप गर्भाशय के भीतर का

भार बढ़ता जायेगा और द्वार के न मिलने से तद्गत द्रव्य बाहर नहीं निकल पायेगा।

गर्भाशय गात्र के सम्बन्ध में प्रकृति अधो गर्भशय्या (Lower uterine segment) से यही काम लेती है—यह गर्भाशय का जैसा पहले बतलाया जा चुका है, सबसे पतला और कमजोर भाग है—इसके केन्द्र में नीचे की ओर अन्तर्मुख पड़ता है और उसके आगे गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) मिलती है—जो बाहर निकालने की नलिका का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार प्रसव की प्रथमावस्था में मार्गसम्बन्धी परिवर्तन तीन भागों में होते हैं—(१) अधोगर्भ शय्या का निर्माण (२) बहिर्मार्ग का नलिकी विस्तृति (Dilatation of the exit.) (३) ग्रीवासरणी की विस्तृति। इन परिवर्तनों के करने वाले कारणों का विचार कई दृष्टियों को ध्यान में रखकर करना चाहिये। (अ) गर्भाशयकी विपरीत धर्मता (ब) अधोगर्भ शय्या का विकास (स) वारिपुटक का निर्माण (द) अन्तर्मुख का खुलना।

विपरीत धर्मता (Polarity)—इससे तात्पर्य यह है कि जब गर्भाशय गात्र सङ्कोच करता है तो ग्रीवा फैलती है और जब गात्र विस्फार (Relaxation) की अवस्था में आता है तो ग्रीवा सङ्कुचित (Contracted) हो जाती है। यही नियम दूसरे पोले अङ्गों (मूत्राशय तथा मलाशय) के बारे में भी पाया जाता है। **गर्भावस्था में**—गर्भाशय गात्र शिथिल अवस्था (हल्के कुछ आकुञ्चनों के अतिरिक्त) (State of relaxation) में ही रहता है जिससे ग्रीवा अङ्कुचित अवस्था (State of contraction) में पड़ी रहती है। **प्रसवावस्था में**—ठीक इसके विपरीत स्थिति उपस्थित हो जाती है गर्भाशय गात्र आकुञ्चन करता है और ग्रीवा विकसित होती चलती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर चिकित्सा करते हुए जब गर्भाशय गात्र का आकुञ्चन प्रारम्भ कराना होता है तो बलात् ग्रीवा को फैलाते हैं। परिमाणस्वरूप गर्भाशय गात्र का आकुञ्चन शुरु हो जाता है।

अधोगर्भशय्या—गर्भाशय गात्र वह भाग है जो ठीक अन्तर्मुख के ऊपर पाया जाता है—अधोगर्भशय्या कहलाता है, यह न्यूनतम अवरोध (Resistence) पैदा करने वाला क्षेत्र है। जैसा प्रारम्भ में बतलाया जा चुका है कि प्रसव के पूर्व यह भाग पतला होता है और क्रमशः प्रसव प्रारम्भ होने के साथ साथ अधिक

पतला होता जाता है। ऐसा इसकी बनावट की कमजोरी की वजह से होता है, फलतः प्रसव काल में पूर्णतया निष्क्रिय बन जाता है। क्योंकि इसके सभी पेशीसूत्र लम्बाई में समानान्तर लगे रहते हैं—अधिक मात्र अनुप्रस्थ (चौड़ाई में) सूत्रों के रहने की वजह से यह क्षेत्र इतना कमजोर पड़ जाता है। इस क्षेत्र की दुर्बलता का परिणाम यह होता है कि जब ऊपरी गर्भाशय (Upper segment) का भाग सङ्कोच और विस्तार करता है, तो कमजोर भाग ऊपर की ओर खींच जाता है एवं फैलता और विस्तृत हो जाता है।

गर्भाशय गत द्रव्यों को आसानीसे बाहर निकाल फेंकने के लिये इस अधोगर्भशय्या की उपस्थिति परमावश्यक है। क्योंकि इसकी अनुपस्थिति में कम अवरोध का क्षेत्र न रहने से गर्भाशय का सङ्कोच तद्‌गत द्रव्यों के ऊपर दबाव डालेगा। क्योंकि सङ्कोचों की दिशा सीधे नीचे की ओर प्रकृति से ही अपेक्षाकृत कम होती है। परन्तु अधोगर्भशय्या और अन्तर्मुख की ऊपर वाले गात्र के भाग की अपेक्षा अवरोध की शक्ति कम होने से इनके ऊपर जलके भार का प्रभाव विशेषतः पड़ता है। गात्र की दीवालों के शिथिल होने के साथ साथ उसकी गर्भाशय गात्र के ऊपरी भाग की समाई घटती जाती है तथा गर्भ तथा गर्भाशय गत पदार्थ अधोगर्भाशय भाग में आते जाते और पश्चात् निर्गमपथ की ओर बढ़ते जाते हैं।

वारिपुटक का निर्माण (Bag of water)—गर्भधराकला के साथ संयुक्त जरायु के द्वारा गर्भाशय का आन्तरिक भाग आवेष्टित रहता है। फलतः अधोगर्भाशय भाग के विस्तृत हो जाने और फैलजाने तथा तनाव की वजह से जरायु का गर्भधराकला के संयोग से विलगाव हो जाता है अर्थात् जरायु विच्युत हो जाती है। क्योंकि गर्भाशय के जो सङ्कोच अधोगर्भाशय को सङ्कुचित करते हैं, उनका प्रभाव जरायु पर भी पड़ता है। अधोगर्भाशय भाग इस जरायु विच्युति के कारण प्रसव के समय श्लेष्मामिश्रित रक्तस्राव उत्पादन करती है जिसे अंग्रेजी में 'शो' कहते हैं।

अन्तर्मुख जैसे ही खुलता है—जरायु का विच्युत भाग जिसमें जल भरा रहता है आकर द्वार पर निकलने लगता है। गर्भाशय के प्रत्येक सङ्कोचों के साथ वह क्रमशः ग्रीवा में आगे को निकलता चला जाता है—इस प्रकार यह वारिपुटक गर्भाशय ग्रीवा को विस्तृत करने में एक द्रव-कील (Fluid wedge) का कार्य करता है।

जरायुविदरण (Rupture of the membrane)—जैसे ही ग्रीवा का पूर्ण विकास होता है वैसे ही जरायु विदीर्ण हो जाती है—इसीलिये प्रथम जल का निकलना प्रसव की द्वितीयावस्था का द्योतक होता है। यह नियम सब समय लागू नहीं क्योंकि कई ग्रीवा की पूर्ण विस्तृति के बहुत पूर्व जरायु फट जाया करती है। इसके विपरीत कई बार द्वितीयावस्था तक ज्यों के त्यों बनी रहती है और शिशु की प्राणरक्षा के अभिप्राय से प्रसव के तत्काल बाद–बच्चे को निकालने के पश्चात्–भगद्वार पर उसको कृत्रिम उपायों से विदीर्ण करना होता है। जरायु के विदीर्ण होने के दो कारण प्रधान हैं—एक तो गर्भाशय का आकुञ्चन जिसके कारण जल से भरे हुए थैले के भीतर का दबाव बढ़ जाता है, दूसरा हेतु आधार का अभाव है—अन्तर्मुख तथा ग्रीवा की विस्तृति के कारण उसको धारण करने वाला कोई अवयव नहीं रहता।

प्रायः सभी अवस्थाओं में विशेषतः जरायु के अकाल में विदीर्ण हो जाने पर गर्भ का उदय लेने वाला भाग भी ग्रीवा के विकास में भाग लेता है। परन्तु कोई भी उदय लेने वाला अङ्ग उस प्रकार का विस्तृति करने वाला नहीं होता जितना कि वारिपुटक और यही कारण है कि शुष्क प्रसव कष्टप्रद होते हैं।

आकुञ्चन वलया या संहरण वलय (Retraction ring, contraction ring or Bandles'ring)—गर्भाशय गात्र को ऊपरी भाग की क्रमशः बढ़ती हुई छोटाई और मोटाई (आकुञ्चनों के कारण उत्पन्न हुई समाई की कमी और स्थूलता) उसके नीचे वाले भाग (Lower segment) को अधिकाधिक फैलाता और पतला करता चलता है। जैसे जैसे प्रसव आगे को बढ़ता है, गात्र के स्थूल ऊपरी भाग का निचला किनारा सीमाबन्दी करता चलता है और अन्त में स्थूल और पतले दोनों भागों के बीच में एक स्पष्ट सीमा की रेखा–सी ज्ञात होती है जिसके नीचे में गात्र का पतला भाग और ऊपर में स्थूल भाग (अधो तथा उत्तर गर्भशय्या) पाया जाता है। इस प्रकार गर्भाशय के चारों ओर रेखा के रूप में एक उभार (उभरीरे खा) सा बन जाता है। उस उभार को आकुञ्चन वलय की संज्ञा दी गई है। जैसे जैसे अधोगर्भशय्या शिथिल, विस्तृत और पतली होती चलती है, यह वलय अधिक–अधिक स्पष्ट हो जाता है और गर्भाशय मात्र में ऊपर की ओर उठता जाता है। सबाध (Obstructed labour) प्रसवों में यह अस्वाभाविक रूप से व्यक्त होता है।

उत्तरगर्भशय्या (Upper segment)	अधोगर्भशय्या (Lower segment)
१. उदर्याकला से दृढ़ रूप से आवेष्टित।	१. उदर्याकलाशैथिल्य से लगी रहती है विशेपतः आगे की ओर किन्तु दोनों पार्श्वों में अनुपस्थित रहती है।
२. पेशियां विभिन्न स्तरों में, विभिन्न दिशावों को जाती हुई मिलती हैं—जिससे मजबूत होता है।	२. पेशियाँ लम्बाई में विशेपतः स्थित आसानी से पृथक् की जा सकती हैं। अपेक्षाकृत कमजोर होता है।
३. जरायु मजबूती से चिपकती, विच्युति प्रसव के वाद होती है।	३. शिथिल रूप में चिपकी हुई जरायु अतः प्रसव के प्रारम्भ में ही विच्युति।

उत्तर और अधो गर्भशय्या की सीमारेखा आकुञ्चन वलय के रूप में प्राप्त होती है; किन्तु कभी कभी गर्भाशय की गोलाई में वहने वाली शिरा के द्वारा भी यह भेद करना होता है।

४. प्रसव में सक्रिय रहता है।	४. अपेक्षाकृत निष्क्रिय रहता है।
५. सङ्कोचनों के कारण यह क्रमशः छोटा, स्थूल और अवकाश की कमी से युक्त होता चलता है।	५. यह फैला हुआ, तनाव युक्त, क्रमशः लम्बा और पतला होता चलता है।

प्रसवकाल में मूत्राशय—प्रसव की प्रसवावस्था में ग्रीवा और अधोगर्भशय्या के ऊपर उठने के कारण वस्ति (मूत्राशय) भी ऊपर को खिंच जाती है। द्वितीयावस्था उसका ऊपरी भाग उदर में तथा नीचे वाला हिस्सा भगसन्धानिका के नीचे आ जाता है। इसके दो परिणाम हो सकते हैं (अ) यदि वस्ति पूर्ण भरी हो तो प्रसव में वाधा उत्पन्न करती है। (व) गर्भ शिर और भगसन्धानिका के बीच अधिक काल तक दवे रहने के कारण उसमें कोथ (Necrosis) नाडी व्रण वनने की सम्भावना रहती है।

योनिका विकास—इस अङ्ग की विस्तृति भी वारिपुटक के पीडन से ही होती है उसके अभाव में (अकाल में ही जरायु के विदीर्ण होने पर) गर्भ शिर के भार के प्रभाव से होती है। शीर्षोदय में शीर्ष अन्य उदयाङ्गों की अपेक्षा अच्छा

कील (Wedge) का काम करता और उचित मात्रा में विस्तृति करने का हेतु होता है। श्रोणितल स्थानान्तरण (Displacement of pelvic floor) इसके दो भाग होते हैं आगे का भगसन्धानिका भाग और पीछे का त्रिक् भाग। गर्भस्थिति के अन्तिम दिनों में दोनों भाग धातुवों के शैथिल्य के कारण कुछ नीचे को ढल जाते हैं।

प्रसव के समय में ग्रीवा के ऊपर उठने के कारण वस्ति जैसे इसका भी पूर्व भाग ऊपर को खिंच जाता है और पश्चाद् भाग गर्भशिर की प्रगति की दिशा में ही रहता है। इसलिये गर्भाशयिक सङ्कोच का पूरा प्रभाव इस पश्चाद् भाग पर पड़ता है और चिकास्थि के ऊपर दृढ़ भाव से स्थिर (Fix) हो जाता है यह पूर्णतया तनाव युक्त हो कर पीछे और नीचे की ओर खिंच जाता है। बाहर से यह भाग लम्बा और उभरा हुआ-सा दिखाई पड़ता है। फलस्वरूप गर्भशिर के जन्म के ठीक पूर्व गुदनलिका-भाग के पश्चिम सन्धि (Post commisure) की बीच की दूरी लगभग डेढ़ इंच से, तीन या चार इंचों तक की हो जाती है। इस प्रकार के स्थानान्तरण के कारण श्रोणितल फर्श की स्थिति दो किवाड़ों के दरवाजे के सदृश हो जाती है जिससे हो कर जाने के लिये एक भाग को सामने की ओर खींच कर दूसरे आधे को खोल कर जाया जा सकता है।

पथिक (Passenger)—प्रसवकाल में श्रोणि के सम्बन्ध में गर्भ की होने वाली गतियों को निष्क्रमण विधि (Mechanism of the labour) कहते हैं। इस उपक्रम का विशिष्ट महत्व है अतः इसका वर्णन एक स्वतन्त्र अध्याय में आगे किया जायगा।

तृतीय अवस्था

१. शक्ति (Power)—प्रधानतया गर्भाशयिक आकुञ्चन है। उदर की पेशियां भी सहायक हो सकती हैं, परन्तु इनकी सहायता स्त्री के इच्छा पर निर्भर होती है न कि गर्भाशय के आकुञ्चनों के सहकारिता पर। सभ्यजातियों में परिचारिका अथवा चिकित्सक का हाथ भी गर्भाशय स्कन्ध पर पीडन करके शक्ति को जागृत करने वाला माना जा सकता है; परन्तु वास्तव में यह स्वाभाविक नहीं है।

२. पथ (Passage)—से विस्तृत मृदु मार्ग (Dilatedsoft passa-es) समझना चाहिये। गर्भ के निकल जाने पर पतला अधोगर्भाशय भाग सिकुड़ कर तहदार हो जाता है।

३. पथिक (Passenger)—तृतीयावस्था में अपरा तथा जरायु हैं।

अपरा विच्युति (Seperation)—बच्चे के जन्म होने के बाद वेदना की पुनरुत्पत्ति, ऊर्ध्व गर्भाशय भाग में संकोच और स्थिर संकोच होने के कारण

अपरा वियुक्ति
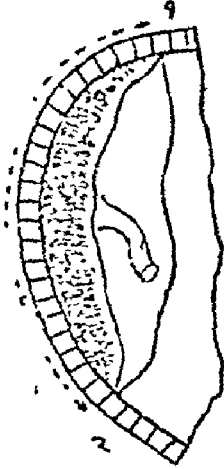
चित्र ५१
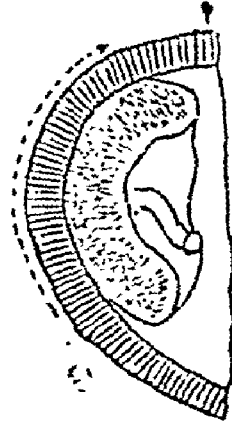
चित्र ५२

होने लगती है। इसके कारण अपरा तथा अपरा स्थल के बीच ऐसी असमानता पैदा हो जाती है कि संयोग स्थल अपरा वियुक्त हो जाती है। स्थिर संकोच (Rectraction) की अवस्था में विच्युति के पूर्व संकुचित होकर अपरास्थल ४½—४ इञ्च का हो जाता है। स्थिर संकोचों के परिणामस्वरूप अपरा स्थलों के छोटा होने के साथ गर्भाशय के भीतर का घेरा भी छोटा हो जाता है और अपरा चारों ओर से गर्भाशय के पकड़ में आ जाती है। जिससे विच्युति के साथ ही साथ गर्भाशय की ओर भी नीचे को प्रेरित करने वाला एक वेग (Force) मिल जाता है। विच्युति में सहायक होकर एक घटना मिलती है—अपरा की विच्युति के साथ साथ पाया जाने वाला रक्तस्राव। यह रक्तस्राव एक

अपरा विमोक्ष ।

चित्र ५३
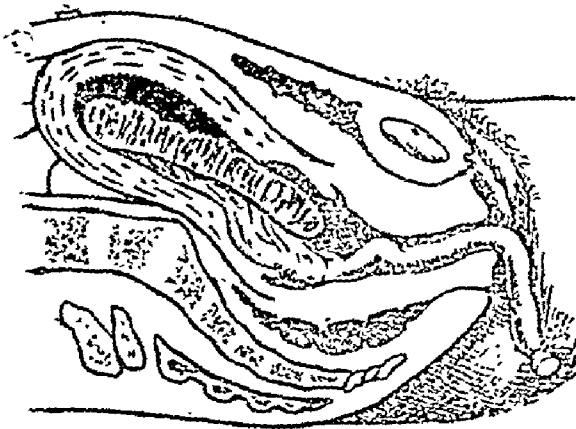
चित्र ५४

थक्के का रूप ले लेता है और अपरा के पश्चात् भाग में पाये जाने की वजह से 'प्रत्यपरा रक्तसंचय (Retroplacental clot) कहलाता है। कई बार अपरा की विच्युति में अपने दबाव के द्वारा एक महत्त्व हेतु बनता है। अपरा निष्क्रमण (Expulsion) इसकी दो विधियाँ हैं। 'शुल्जे' की विधि (Schultze's method)—इसमें अपरा खुले हुए छाते की भाँति निकलती है पहले उसका गर्भीय भाग आता फिर जरायु पीछे से आती है—जब 'प्रत्यपरा रक्त संचय' अधिक होता है तो यह विधि बहुत सामान्य है। दूसरी विधि 'मैथ्यू डन फान' के नाम से ख्यात है—इसमें अपरा की निचली धार पहले आती है पश्चात् शेष अवयव लम्बाई में अपने पर ही मुड़ा हुआ निकलता है। यही विधि सबसे अधिक मिलती है बशर्ते कोई कृत्रिम साहाय्य (हाथों के द्वारा स्कन्ध का पीडन आदि करके) द्वारा अपरा न निकाली जाय।

रक्तस्राव का नियन्त्रण (Arrest of Haemrrhage)—अपरा विच्युति के समय रक्तवाहिनियां विदीर्ण होती हैं अतः रक्तस्राव होना स्वाभाविक है किन्तु आकुचन या प्रति आकुञ्चनों के द्वारा (Retraction) रक्तवाहिनियां दब जातीं और रक्तस्राव अपने आप बन्द हो जाता है। रक्तवाहिनियों के चारों तरफ संकोचक सूत्रों का जाल—सा रहता है जो टेढ़े मेढ़े और कोनों में लगे रहते हैं इनके आकुञ्चनों से रक्तवाहिनियों के मुखबन्द हो जाते हैं। इसीलिये इन्हें जीवित बन्ध (Living Ligatures) की संज्ञा दी गई है। यदि गर्भाशय आकुञ्चन करते करते थक गया हो और अपरा के निष्क्रमण के अनन्तर अपने आकुञ्चनों में असमर्थ हो जांय तो प्रसवोत्तर रक्तस्राव होने लगता है।

आधार तथा प्रमाणग्रन्थ—(जौन्स्टन का प्रसूतितन्त्र, शा का प्रसूतितन्त्र)

तीसरा अध्याय

निष्क्रमण प्रकार (Mechanism of labour)

श्रोणि तथा श्रोणितल से होते हुए उदय लेने वाले भाग की जो विभिन्न गतियां होती हैं तथा उसके आसन और स्थितिसम्बन्धी जो विविध परिवर्त्तन होते हैं उन्हीं का वर्णन निष्क्रमण प्रकार नामक इस अध्याय में होगा। इस प्रकार की निष्क्रमण विधियों का अध्ययन सरलता से पुस्तमय स्त्री (Dummy) के ऊपर या श्रोणिगह्वर की हड्डियों के ऊपर किया जा सकता है। ध्यानपूर्वक प्रसवों के निरीक्षण से भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

गर्भशिर एक अण्डकार अंग होता है, जो अपत्य पथ में जिसमें से होकर निकलना होता है, पक्का बैठता है (Fits tighly) श्रोणि का दीर्घतम व्यास अन्तर्द्वार पर अनुप्रस्थ दिशा में तथा वहिर्द्वार पर आगे से पीछे को पाया जाता है। श्रोणितल वहिर्द्वार पर गर्भशिर का दोनों पार्श्वों तथा पीछे की ओर से अवरोध पैदा करता है; किन्तु सामने की ओर स्वतन्त्र अवकाश देता है। परिणाम स्वरूप शिर जो पहले श्रोणि के तिर्यक् व्यास में प्रवेश करता है, या अनुप्रस्थ और किसी तिर्यक् व्यास के बीच में आता है, उसी स्थिति में ही शुरू से अन्त तक अपनी यात्रा में ही नहीं रह जाता बल्कि उसकी स्थिति में परिवर्त्तन होता जाता है। यदि शीर्ष और स्फिक् दोनों ही स्वाभाविक परिमाण के हुए तो श्रोणि की अस्थियों की अपेक्षा उसके मृदु भागों को निष्क्रमण विधि में अधिक कार्य करना होता है।

वामपूर्वानुशीर्षासन (L. O. A.)—प्रसव के आरम्भ में गर्भ का अनुशीर्ष (Occipit) श्रोणिगवाक्ष के सामने और ललाट (Sinciput) दक्षिण त्रिकूजघनसन्धि के समीप लगता है अर्थात् गर्भशिर का अवग्रहण दक्षिण तिर्यक् व्यास में होता है। कई वार श्रोणिकण्ठ के अनुप्रस्थ व्यास में भी लगा मिलता है।

त-पश्चात् अधोगमन (Descent) के साथ तीन प्रकार की गतियां ...ोच, आवर्त्तन और प्रसारण। आवर्त्तन पुनः तीन प्रकार का होता है— ...त्यावर्त्तन तथा वहिरावर्त्तन।

(१) **संकोच** (Flexion)—सिर का आगे की ओर वक्ष पर झुक जाना। इससे शिवरन्ध्र, ब्रह्मरन्ध्र से नीचे की सतह पर आ जाता है और चिबुक वक्षोस्थि से लग जाता है। जब बालक आगे की ओर बढ़ता है तो दूसरी गति होती है।

१. **उत्तोलन सिद्धान्त** (Lever Theory)—सिर में पुरःकपालास्थि की अपेक्षा पश्चादस्थि के अधिक समीप में सुषुम्नाकाण्ड लगा रहता है। यदि ऐसा मानें कि पुरः और पश्चात् कपाल पर दोनों ओर से समान भार पड़ रहा है और बल की गति मेरुदण्ड से होते हुए सिर तक जाती है तो उन्नत ललाट भाग की अपेक्षा अनुशीर्ष प्रदेश पहले नीचे को उतरेगा और आगे को बढ़ेगा।
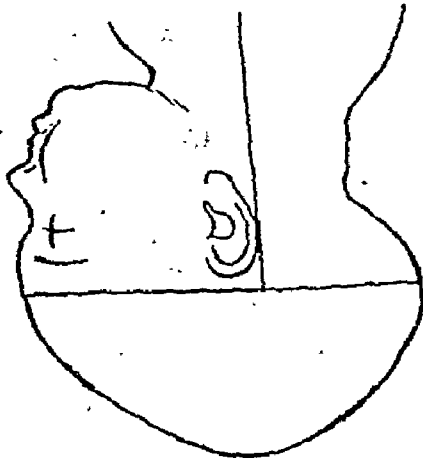
लिवरका सिद्धान्त

चित्र ५

२. **कील सिद्धान्त** (Wedge theory)—गर्भसिर को यदि पार्श्व से देखें तो कीलवत् दिखलाई पड़ता है। यान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर ऐसा मानते हैं कि जो अङ्ग श्रोणि के पार्श्व पर क्षुद्र कोण (Acute angle) बनाता है वही पहले उतरता है अर्थात् अनुशीर्ष।

३. अवतरण शुरू होने के पूर्व यदि थोड़ी भी संकुचितावस्था गर्भस्थ बालक की हो, तथा पथगत मृदु अवयवों के अवरोध के कारण सिर के छोरों पर विपरीत दिशा से समानान्तर भार पड़े तो इस प्रकार के युग्मपीडन का प्रभाव होगा उपस्थित झुकाव का अधिक होना। अतएव गर्भस्थ शिशु का झुकाव अधिकाधिक होता चलता है।

४. अन्तिम हेतु यह है कि श्रोणि की पूर्व की दीवाल पश्चात् भाग की अपेक्षा अधिक छोटी और मृदु या चिकनी होती है। इसलिये पूर्व की दीवाल सिर के आगे बढ़ने में कम अवरोध करती है। अर्थात् सामने की ओर सम्पर्क में सिर का जो हिस्सा रहता है उसमें पीछे वाली दीवाल की अपेक्षा (निकलने में) कम बाधा पड़ती है। अतः गर्भस्थ शिशु का सिर आगे की ओर वक्ष पर झुक जाता है।

संकोच का परिणाम—

१. सिर का श्रोणिगुहा में प्रवेश होकर उसके छोटे अनुशीर्षापर ब्रह्मरन्ध्रिक क्षेत्र का श्रोणिकण्ठ के क्षेत्र में अवग्रहण हो जाता है। अर्थात् यह अनुशीर्षापर ब्रह्मरन्ध्रिक ३$\frac{3}{4}$ इञ्च के व्यास के स्थान पर अनुशीर्षनासामूलिक जो ४$\frac{1}{2}$ इञ्च का होता है प्राप्त कर लेता है।

२. संकोच के फल-स्वरूप गर्भ के सिर और गात्र का एक ठोस एवं अण्डाकार पिण्ड बन जाता है—जिस पर गर्भाशय के आकुञ्चन अधिक सफलता से प्रसव कराने में सहायक होते हैं।

३. संकोच का एक परिणाम यह भी होता है कि अनुशीर्ष गर्भ का अग्रगामी भाग बन जाता है।

(२) **अन्तरावर्त्तन** (Internal Rotation)—अनुशीर्ष का सामने मध्यरेखा की ओर घूमना। यह गति तब होती है जब कि सिर श्रोणितल के नीचे आ जाता है। ऐसा नियम है कि जो भाग श्रोणितल के पश्चिम भाग को प्रथम स्पर्श करता है वह श्रोणितल से पलटा खाकर सामने की ओर आ जाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर मध्य सीमन्त जो पहले श्रोणि के दक्षिण तिर्यक् व्यास में रहा वह अब अग्र पश्चिम व्यास में आ जाता है। जब बालक आगे को बढ़ता है तब अनुशीर्ष भगसन्धानिका के नीचे स्थिर हो जाता है और तीसरी गति आरम्भ होती है।

द्विशक्तिजन्य परिणाम
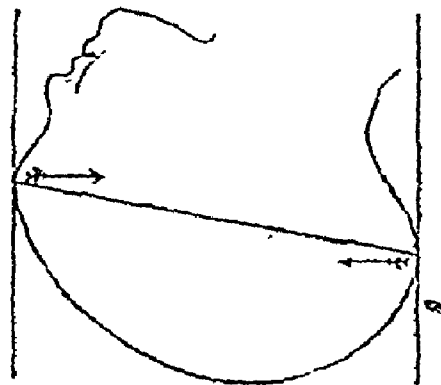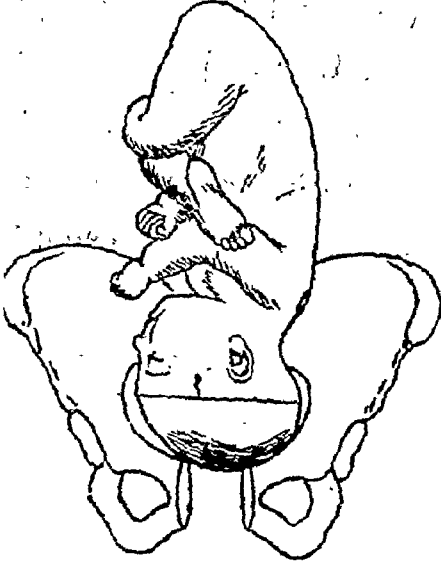
चित्र ५७
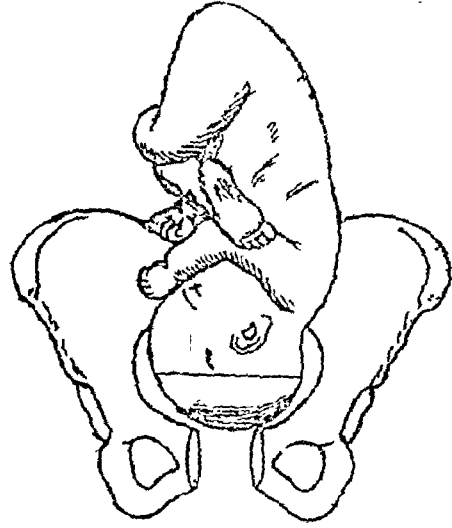
चित्र ५८

अन्तरावर्त्तन के हेतु—

१. अस्थिमय दीवाल के अभाव में भगसन्धानिका (Pubic arch) न्यूनतम अवरोध की दिशा बनाती है।

२. श्रोणितल की अधिपार्श्विक तथा पश्चिमीय भाग की रचना 'गटर' जैसी होती है जो आगे और नीचे को जाते हैं फलतः अग्रगामी भाग को आगे की ओर कर देते हैं।

३. गर्भ का जो भी हिस्सा श्रोणितल के पश्चिम भाग के पार्श्वार्ध (Lateral half) के प्रतिरोध को पहले प्राप्त करता है उसका आवर्त्तन सामने की ओर हो जाता है। इस आवर्त्तन-गति के परिणाम स्वरूप शिशु के सिर का दीर्घतम व्यास बहिर्द्वार के दीर्घतम (पूर्व-पश्चिम) व्यास में आ जाता है।

(३) **प्रसारण** (Extension)—सिर का पीछे को पृष्ठवंश की ओर मुड़ना। भग से होकर सिर निकलता है। भग (Vulva) में प्रवेश करते समय अनुशीर्ष (Occipit) भगसन्धानिका के नीचे धीरे धीरे आ जाता है, ललाट जिसको अभी अधिक दूरी तय करनी रहती है, शीघ्रता से मूलपीठ (Perineum) के ऊपर आ जाता है। अब ब्रह्मरन्ध्र, मस्तक तथा मुख क्रमशः बाहर निकलते हैं गर्भ का संकोच हो जाता है अर्थात् झुकाव जाता रहता है। इस लिये इस गति को प्रसार कहते हैं।
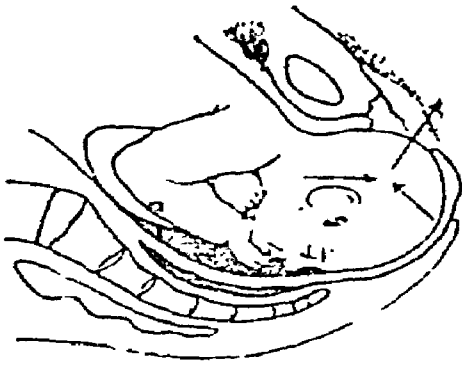
चित्र ५९

प्रसार के हेतु—गर्भसिर पर दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं। गर्भाशय का वेग इसे नीचे की ओर प्रेरित करता है तथा श्रोणितल का प्रतिरोध आगे की ओर। दोनों वेगों के परिणाम-स्वरूप नीचे और सामने की दिशा में प्रेरित हुआ सिर प्रसार की स्थिति में आ जाता है। अब स्थिति ऐसी हो जाती है कि अनुशीर्ष तो प्रसार के पूर्व ही भग से निकल गया रहता है शेष सिर का भाग भी पूर्णतया भगवहिर्द्वार के बाहर आ जाता है।

(४) **प्रत्यावर्त्तन** (Restitution)—सिर का अपनी पूर्वावस्था में आना। जब सिर दक्षिण तिर्यक् व्यास में (श्रोणिकण्ठ में) पड़ा रहा, तो स्कन्ध वामतिर्यक् व्यास में; और जब सिर घूम कर पूर्व-पश्चिम व्यास में आ जाता है

चित्र ६०-६१

तो स्कन्धों में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। इस लिये सिर के जन्म होते समय ग्रीवा पर मोड़ (Twist of neck) हो जाता है। जैसे ही सिर का जन्म होता है, ग्रीवा का यह बल जाता रहता है और सिर अपनी पूर्वावस्था में आ जाता है अर्थात् अनुशीर्ष कुछ बाईं ओर को हो जाता है जैसा कि प्रसव-आरम्भ होने के पूर्व था।

बहिरावर्त्तन (External Rotation)—सिर का बाहर की ओर घूमना। यह गति वास्तव में स्कन्ध और शाखाओं की है न कि जन्म लिये हुए सिर की। जब कन्धे घूमकर अग्र या पूर्व-पश्चिम व्यास में आ जाते हैं तो सिर भी स्वयमेव घूम जाता है और अनुशीर्ष सामने से हटकर माता के वाम जंघा की ओर हो जाता है। सामने का कन्धा भगसन्धानिका के नीचे स्थिर हो जाता है और पिछला कन्धा, बालक का धड़ और शाखायें घूमकर बाहर निकलती हैं इस गति के परिणामस्वरूप बालक अंसकूटान्तरिकव्यास (Bi Acromial Diameter) के बहिर्द्वार के अग्रपश्चिम व्यास में आ जाता है।

शीर्षोदय में सिर का अनुकूलन या शिरोरूपण
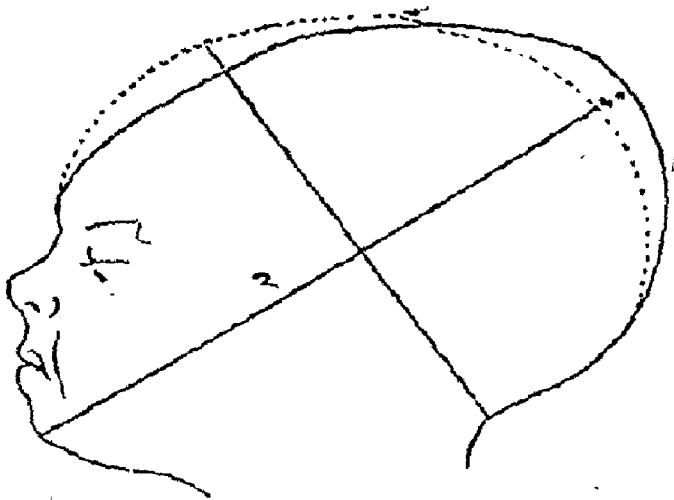
चित्र ६२

दक्षिणपूर्वानुशीर्षासन—(R. O. A)—इसमें उदय लेने वाला सिर श्रोणिकण्ड के वाम-तिर्यक् व्यास में पड़ा रहता है। इसकी निष्क्रमण-गतियाँ ऊपर लिखे वा. पू. अ. के पूर्णतया समान होती हैं। भेद इतना ही है कि वे विपरीत दिशा

में होती हैं—अर्थात् दक्षिण शब्द के स्थान पर वाम का और वाम के स्थान पर दक्षिण शब्द का प्रयोग इस अवस्था में करना चाहिये।

उपशीर्ष (Caput succedaneum)—सद्योजात शिशुओं में उनके सिर के ऊपर कई वार एक उभरा हुआ शोथ (सूजन) दिखलाई पड़ता है। इसकी उत्पत्ति में अपत्यपथ के मृदु अवयवों का विशेष प्रकार का दवाव पड़ना कारण होता है। ऐसा मानते हैं कि यह दोष असमान पीड़न के कारण आता है। सिर के चारो तरफ से पीडन अपत्यमार्ग में होता है, यदि किसी स्थान-विशेष पर यह पीडन अपेक्षाकृत कम रहा, तो वहाँ पर इस प्रकार की सूजन हो जाती है। इस प्रकार के शोफ की 'उपशीर्ष' संज्ञा है। सिर की विभिन्न स्थितियों के अनुसार उसके विभिन्न भागों पर ऐसी सूजन मिल सकती है। इस अवस्था में सिर के संयोजक धातुओं में श्लेष्मल तरल (Sero-sanguinous) का सञ्चय हो जाता और शोफ का आकार ले लेता है। पूर्वानुशीर्षासनों में उदय लेने वाला भाग शीर्ष (Vertex) होता है इसलिये 'उपशीर्ष' पहले-पहल शीर्ष पर ही वनता है तथा वा. पू. अ. (L. O .A) में मध्य सीमन्त के दाहिनी ओर द. पू. अ. (R. O. A) में मध्य सीमन्त वाईं ओर मिलता है। प्रसव जैसे-जैसे आगे को प्रगति करता है गर्भ का सङ्कोच अधिकाधिक होता जाता है फलतः शिवरन्ध्र उदय लेने वाला भाग हो जाता है इसलिये 'उपशीर्ष' भी इसी अङ्ग पर वनता है। इसलिये वा. पू. अ. (L. O. A) में यह दाहिनी ओर के पार्श्व-कपाल के ऊपर वाले पश्चात् कोण पर तथा द. पू. अ. (R. O. A.) में वाईं ओर के पार्श्व-कपाल के समान कोण पर मिलता है। देखने से उपशीर्ष रक्ताविक्यमुक्त दिखलाई पड़ता है—प्रसव में जितना ही अधिक समय लगता है, उतना ही वड़ा यह शोफ होता है और कई वार इतना वड़ा हो जाता है कि सिर के सीमाचिह्न (Land marks) भी अस्पष्ट हो जाते हैं। जन्म के तत्काल वाद यह शोथ कम होना शुरू कर देता है और चौवीस घण्टे के वाद पूर्णतया विलीन हो जाता है।

वाग्भट ने 'उपशीर्ष' नाम से इस विकार का उल्लेख शिरोरोगाध्याय में किया है।

आधार तथा प्रमाणसञ्चय—(टेनटीचर्स तथा जौन्सट का प्रसूति-तन्त्र)

कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्यापि जायते।
सवर्णो नीरुजः शोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम् ॥ (वाग्भट उ. तं. २३ अ.)

चौथा अध्याय

प्राकृत प्रसव के उपक्रम अथवा प्रसवकर्म

(Management of Normal Labour)

सूतिकागार—जहाँ पर गर्भवती प्रसव करती और प्रसव के अनन्तर कुछ दिनों तक रहती है उसे—सूतिकागार—कहते हैं। जिस कमरे में प्रसव कराना हो उसे निश्चित कर लेना चाहिये। प्रसव का कमरा प्रशस्त, रम्य, स्वच्छ और सुखपूर्वक विचरने लायक होना चाहिये। उसमें शुद्ध वायु तथा प्रकाश का समुचित प्रबन्ध होना चाहिये। उस कमरे से लकड़ी के सामान, तसवीरें, सजावट के सामान तथा अन्य फालतू चीजें हटा देनी चाहिये। यदि सुविधा हो तो प्रसव के कमरे से लगा हुआ स्नानागार भी होना चाहिये। सेवा के लिये प्रजननकुशल, स्वच्छ, अनुरक्त तथा क्लेशसह, दयालु, परिचारिका (Nurse) की भी व्यवस्था पहले से ही कर लेनी चाहिये।

अग्रोपहरणीय द्रव्य—शिक्षित परिचारिका जो प्रसूता की सेवा में नियुक्त है उसका कर्तव्य है कि वह देखे कि नीचे लिखे पदार्थ घर में उपस्थित रहें ताकि आवश्यकतानुसार उनकी जब जरूरत पड़े मिल जाया करें।

(१) **वस्त्र**—माता और शिशु दोनों के हित की दृष्टि से शय्या, आसन, बिछौने, ओढ़ने आदि—जो मौसम के अनुकूल पड़ें—रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त दो मोमजामे (३ × ४½ फीट), दो ऊनी चादरें, शोषक रूई के आधे सेर के दो पैकेट, जालीदार कपड़े (Gangee tissues) के आधे सेर का एक पैकेट, तीन चौड़ी उदर की पट्टियाँ जिसमें बन्धन (Straps) लगे हों या मजबूत तौलिया (४ × २ फीट), महीन फलालेन का एक गज कपड़ा बच्चे के आवरण के लिये होने चाहिये। माता को प्रसवकाल में हल्के अथच गरम कपड़े पहन कर रहना चाहिये।

(२) **पात्र**—सफेद कलई की हुई पाँच वर्द्धमानक (१०"), वर्चःपात्र (Bed pan), गर्म पानी के थैले (उष्णजलदृति), पेयपात्र (Feeding cup), गर्म पानी के दो गलान्तिक (Jugs)।

(३) **औषध**—भूतघ्न (Antiseptics)—'लाइसोल,' 'डेटाल' 'टिंक्चर आयोडीन,' 'आयोडोफार्म पाउडर या वर्त्ति,' रसकर्पूरद्रव ।

मोहन और मूर्च्छन—'क्लोरोफार्म,' 'ईथर,' 'स्टोवेन,' 'अहिफेन,' 'स्कोपोलोनीन,' 'नाइट्रास आक्साइड,' 'कार्वोनडायोक्साइड' और आक्सीजन ।

शामक—अहिफेन, 'ब्रोमाइड्स,' 'क्लोरलहाइड्रेट,' 'एमिलनाइट्राइट' ।

रेचक—एरण्ड तैल, समुद्रेचक (Magsulph), लिक्विड 'एक्स्ट्रैक्ट ऑफ् कैसकेरा सैगेरेडा,' जयपाल का तेल ।

अवचूर्णन—(Dusting)—स्टार्च और वोरिक एसिड पाउडर, शुल्बौपधियों के चूर्ण, शुद्धटंकणचूर्ण ।

स्नेहन—वलातैल, जैतून का तेल, मधुग्लिसरीन और टङ्कण चूर्ण शिशु के मुख की सफाई के लिये ।

गर्भाशयोत्तेजक—अर्गट (द्रव सत्त्व), पिट्युररीन, किनीन का सल्फेट, मेथिकाक्वाथ गुड़ के साथ । हृदयोत्तेजक-कोरामीन, कपूर, कस्तूरी, मकरध्वज आदि ।

(४) **यन्त्र-शस्त्र**—वस्ति के उपकरण (Enema syringe), उत्तरबस्ति के उपकरण (Vaginal and uterine douche tubes), सूचीवेध के उपकरण (Hypodermic syringe), श्रोणिमापक (Pelvimeter), पुष्पनेत्र (Female Rubber, metal catheter and a male gum elastic no 10), श्लेष्माचूषक (Mucous aspirator), संवहनीय विशोधक (Portable sterlizor), आध्मापक (Chloroform inhalor), जिह्वासंदंश (Tongue forcep), कर्त्तरी अन्तर्मुख या शरारिमुख शस्त्र (Scissors) दो छोटे और बड़े, दो गर्भाशय सन्दंश (Two volsella or american forceps), धमनी स्वस्तिक (Artery forceps), अक्षकर्षक सन्दंश (Axistraction forceps), योनिवीक्षण (Vaginal speculum), योनिविस्फारक (Champetierde ribe's bag, sea tangle tents, Hegar's dilators), गर्भाशयलेखन शस्त्र (Curettes), शिरोवेधक (Perforator), शिरःपीडक (Cranioclast or combined cranioclast and cephalotribe), वडिश (Braun's hook), वृद्धिपत्र (Scalpel), तालयन्त्र (Spoon forcep), मुद्रिका या अंगुलि शस्त्र (Finger knife), सीवनोपकरण (सीवन द्रव्य, धनुर्वक्रा सूची, मूलाधा-

स्वस्थ गर्भावस्था में सामान्यतः योनि का स्राव बढ़ जाता है। इस स्राव में अपिस्तर (Epithilial cells), श्वेतकण, श्लेष्मा आदि होते हैं—यह वर्ण में सफेद होता तथा इसकी प्रतिक्रिया अम्ल होती है, उसमें अनेक संख्या में योनिगत तृणाणु (Vaginal bascilus) पाये जाते हैं। ये तृणाणु वात भी एवं गतिहीन होते हैं और योनि में रहते हुए एक प्रकार का तक्राम्ल (Lactic acid) बनाते हैं। इनकी उपस्थिति में वहाँ के रोगोत्पादक जीवाणु निष्क्रिय हो जाते हैं। यदि कोई नया उपसर्ग पहुंचता है तो वह इनकी अम्ल प्रतिक्रिया से नष्ट कर दिया जाता है। यदि किसी प्रकार योनिगत अम्लता कम हो जाय (जैसा कि प्रसव के पश्चात् गर्भाशय से निकलने वाले क्षारीय स्राव (Lochia) में होता है) तो इन दिनों में योनि में कई एक प्रकार के जीवाणु प्रवेश पाकर जीवित रह सकते हैं। परन्तु जब गर्भाशय का क्षारीय स्राव बन्द हो जाता है तो योनिगत अम्लता पुनः ठीक हो जाती है प्रविष्ट हुए रोगोत्पादक जीवाणु मर जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं।

प्रसव के पूर्व इसी लिये उत्तरवस्ति देने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उत्तरवस्ति के द्वारा योनिगत अम्लता के नष्ट होने की या इस क्रिया के द्वारा नये जीवाणुओं के योनि के अन्दर जाने की आशंका रहती है।

प्रकृति के जीवाणुविरोधी उपक्रम—प्रकृति भी प्रसवकालमें जीवाणुओं का विरोध करती है। अपत्यपथ के तीन भाग होते हैं-१. भग (Vulva)-विभिन्न प्रकार के रोगोत्पादक जीवाणु समूह में इस पथ पर पड़े रहते हैं—इसलिये इसे उपसृष्ट मार्ग (Septic Tract) की संज्ञा दी जा सकती है। २. योनि (Vagina)-इसमें योनिगत तृणाणुओं की अम्लता के साथ उपस्थिति पाई जाती है अतः इसकी उपसर्गविरोधी मार्ग (Antiseptic tract) की संज्ञा दे सकते हैं। ३. गर्भाशय गुहा—यह श्लेष्मा की डाट (Plug of macus) के द्वारा बन्द होकर योनि से अलग सा रहता है अतः पूर्णतया जीवाणुओं से अनुपसृष्ट होने के कारण इसे जीवाणुरहित या अनुपसृष्ट मार्ग (Aspetic tract) कह सकते हैं।

प्रकृति के द्वारा बाहर से भीतर की ओर पहुंचने में जीवाणु से रक्षा के निमित्त इतना प्रबन्ध मिलता है—उपसृष्ट से ·उपसर्गविरोधी उसके बाद अनुपसृष्ट मार्ग क्रमशः सजे रहते हैं। इतने से ही प्रकृति का सन्तोष हो जाय ऐसा नहीं; बल्कि और भी रक्षाविधानों का अनुष्ठान करती है। (१) प्रसव की प्रथम और

द्वितीय अवस्थाओं में स्राव को बढ़ा देती है। (२) जरायु के विदीर्ण होने पर विशुद्ध जीवाणुरहित गर्भोदक से परे अपत्यपथ का (Vagina& vulva) का प्रक्षालन कर देती है। (३) बच्चे के जन्म के तत्काल बाद पुनः दूसरी बार अवशिष्ट गर्भोदक से योनि का प्रक्षालन करती है। (४) यान्त्रिक प्रमार्जन—जरायु और अपरा को निकालते हुए वह योनि का प्रमार्जन (Mop action) का भी कार्य सम्पादित करती है।

हमारे जीवाणुविरोधी उपक्रम—तीन बातों का ध्यान रखते हुए हम प्रसूता की उपसर्ग से रक्षा कर सकते हैं—चिकित्सक के हाथों और यन्त्र शस्त्रों तथा प्रसूता के जननेन्द्रियों की सफाई और यथासम्भव योनिपरीक्षाओं का न करना।

चिकित्सक की व्यक्तिगत जीवाणुराहित्य—इस कोटि में चिकित्सक तथा परिचारिका दोनों आ सकते हैं। बड़े-बड़े शस्त्रकर्मों में जिस प्रकार की विशोधनसम्बन्धी तैयारी करनी पड़ती है उसी प्रकार की योनिपरीक्षण प्रभृति कार्यों में भी प्रसवों के सम्बन्ध में करनी चाहिये। उदाहरणार्थः—

(१) नखों का नखशस्त्र से काट कर छोटा करना, गर्म जल और साबुन से हाथों को पाँच से दस मिनट तक साफ करना, उबाले हुए नखप्रमार्जनी से नाखूनों की सफाई करना, जीवाणुविरोधी घोलों में (डेटाल, लाइसाल या पारदीय विन आयोडाइड) तीन मिनट कर पूरे हाथों को डुबोये रखना, पानी में उबले हुए दास्तानों का पहनना और वाष्पविशोधित परिधान, उपरितन (Apron) और वक्त्रच्छद (Mask) का पहनना।

(२) **भग की सफाई**—यदि केश प्रचुर और लम्बे हों तो उनको उस्तरे से साफ करके, योनिपरीक्षण के पूर्व ही साबुन, गर्म जल और 'डेटाल' से प्रक्षालन करे। क्षुद्र भगोष्ठ को पृथक् करके पारद के 'विन आयोडाइड' घोल (१: १०००) या 'डेटाल' से भीगे पिचु से प्रमार्जन करे। पिचु का प्रमार्जन एक ही दिशा में एक ही बार करे उसी से दुबारा न करे या आगे-पीछे कई बार एक ही से न करे अन्यथा संक्रमण के अन्दर जाने का भय रहता है।

(३) जननेन्द्रियों को स्वच्छ करने के पूर्व गर्भवती को गर्म जल से स्नान कराया जाता है तथा मलाशय और मूत्राशय को भी वस्ति (Enema) और पुष्पनेत्र (Rubber catheter) से खाली करा लेना चाहिये ताकि श्रोणिगुहा में अधिक अवकाश मिल जाये।

(४) **योनिपरीक्षण**—जैसा पहले बतलाया जा चुका है—प्रकृत प्रसव में उदरपरीक्षा से काम निकल जाय तो निकाल लेना चाहिये। योनिपरीक्षण जहाँ पर नितान्त आवश्यक हो, सावधानी से करना चाहिये। रोगी को पार्श्व पर न लेटा कर पीठ के बल लेटाना चाहिये, ताकि गुदा के सम्पर्क से होने वाले संक्रमण की सम्भावना कम रहे। हाथों और भग की पूर्वोक्त विधियों से शुद्धि कर लेनी चाहिये। बायें हाथ की उंगलियों से दोनों क्षुद्र भगोष्ठों को पृथक् करके दाहिने हाथ की अंगुलियों को इस प्रकार प्रविष्ट करे कि वह भग के सम्पर्क में बिलकुल न आने पावे। रोगी को उत्साहित करते हुए प्रसन्नचित्त रखना चाहिये। उसकी नाडी का स्पर्श करते हुए वेदना के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए निम्नलिखित बातों का निश्चय करना चाहिये—१. प्रसव प्रारम्भ हुआ है कि नहीं ? २. गर्भाशयमुख (Os) की स्थिति क्या है कितनी प्रगति हो चुकी है। ३. आसन और उदय कौनसा है। ४. जरायु विदीर्ण हुई है कि नहीं, यदि नहीं हुई हो तो उसको फाड़ दे। ५. गर्भाशयमुख, योनि, मूलपीठ का निरीक्षण उनकी शुष्कता, मृदुता, खरता और स्निग्धता की दृष्टि से करे। ६. श्रोणि प्रकृत है या नहीं—यदि अब तक निर्णीत न हो तो निश्चय करे। ७. नाभिनाल का भ्रंश तो नहीं है।

(५) **गुदपरीक्षा**—कुछ प्रसूतिविद् योनिपरीक्षण के खतरे से बचने के लिये गुदपरीक्षा से काम चला लेते हैं। इस परीक्षा में रबर के विशोधित अंगुलित्राणक (Finger stall) पहले पहन लेना चाहिये। भग को विशोधित कवलिका (Pad) से आच्छादित करके रखना चाहिये। स्वाभाविक प्रसवों में तो इसी के द्वारा आवश्यक बातों का पता लग जाता है, परन्तु वैकृत प्रसवों में योनिमार्ग ही सन्तोषजनक रहता है।

प्रसव का निदान—मिथ्या आवी-कई कारणों से इस प्रकार की वेदना मिल सकती है जैसे (क) आन्त्र का शूलोत्पादक आकुञ्चन, (ख) उदरभित्ति का आकुञ्चन, (ग) मूत्राशय के आकुञ्चन, (घ) गर्भाशय का आंशिक आकुञ्चन। इस प्रकार की वेदनायें गर्भपूर्णता के कई दिन, सप्ताह या मास के पूर्व पाई जाती हैं। इनमें कुछ न कुछ विबन्ध या अजीर्ण का चिह्न मिलता है। कई बार रेचक देने के अनन्तर विरेचन ठीक न होने से भी ऐसा होने लगता है। ये शूल अनियमित होते हैं और पीछे की अपेक्षा सामने की ओर अधिक प्रतीत होते हैं, इनके साथ गर्भाशय का सङ्कोचन नहीं होता। कुछ पाचन, वस्ति या मूत्रवस्ति के प्रयोग

संज्ञाहरण का ही प्रयोग होता है इसके द्वारा द्वितीयावस्था के अन्तिम भाग में पूर्ण निःसंज्ञ किया जा सकता है जिससे गर्भिणी को प्रसववेदनाओं का कुछ भी अनुभव न हो। पूर्ण या शस्त्रकर्मीय संज्ञानाशन की आवश्यकता प्रसव में नहीं पड़ती, जब तक कि तत्सम्बन्धी कोई बड़ी बाधा न उपस्थित हो जावे। एक मृदु संज्ञानाशन-जिसे 'प्रसवकालीन कोटि का संज्ञानाशन' कहते हैं-पर्याप्त होती है।

क्लोरोफार्म—खुली विधि से फलालेन से ढक कर आच्छद (Mask) के द्वारा देना अच्छा और कम व्ययसाध्य पड़ता है। वेदना जब तीव्र हो, रोगी के लिये असह हो तो प्रारम्भ कर देना चाहिये आमतौर से ऐसी स्थिति प्रथमावस्था के अन्त और द्वितीयावस्था के प्रारम्भ में मिलती है। जब वेदना का वेग आवे एक आध्मापन (Whiff) दे, पुनः पीड़ा के वेग के चले जाने पर आच्छद को हटा ले। जैसे २ प्रसव आगे को प्रगति करता है, वैसे २ वेदना शीघ्रता से आने लगती है और आच्छद के लगाने और हटाने के बीच का समय भी छोटा होता चलता है, आगे चल कर जब तक सिर का जन्म हो जाता है यह कार्य (क्लोरोफार्म देने का) सान्तर न होकर निरन्तर चलने लगता है फलस्वरूप कुछ मिनटों के लिये प्रसूता भी पूर्ण निःसंज्ञावस्था में आ जाती है। जैसे ही बालक का पूर्णतया जन्म हो जाता है, आच्छद को हटा लिया जाता है।

प्रसवकाल में इस प्रकार का सान्तर संज्ञानाशन बड़ा ही निरापद है इस प्रकार का संज्ञाहरण करते समय कई बातों का ध्यान रखना चाहिये—जैसे पर्याप्त मात्रा में हल्की निःसंज्ञता बनी रहे, गर्भाशयसङ्कोचों की समर्थता कम न होने पावे, गर्भकोष परासङ्ग (Inertia) न आने पावे, प्रसवोत्तर रक्तस्राव न होवे। अनुचित मात्रा में, गहरी संज्ञानाशन होने से उपर्युक्त बातों का भय रहता है।

अपेक्षाकृत अन्यान्य संज्ञाहर द्रव्यों में 'क्लोरोफार्म' निरापद होते हुए भी पूर्णतया सुरक्षित नहीं है। गाता की कई दशाओं में इसका प्रयोग बहुत ही हानिप्रद होता है उदाहरणार्थ—गर्भकालीन विषमयता, अन्तःसत्त्वातिवमन, यकृत् तीव्र पीतक्षय, गर्भाक्षेपक—इन अवस्थाओं में यकृत् की कोषायें विकृत होती हैं—'क्लोरोफार्म' के प्रयोग के कारण अधिकाधिक नष्ट हो जातीं और 'दीर्घप्रयोगजन्य क्लोरोफार्म विष' के कारण सूतिका की मृत्यु तक हो जाती है।

ईथर—अकेले 'ईथर' का सार्वदैहिक संज्ञानाशन में प्रयोग, फुफ्फुस के उपद्रव में—श्वासनलिकाशोथ आदि में नहीं करना चाहिये। इसका प्रयोग अमेरिकन

देशों में अधिक होता है। (Gas and oxygen anaesthesia) वायवीय आध्मापन के द्वारा संज्ञाहरण निरापद और प्रशंसनीय है; परन्तु इसका यन्त्र वृहत आकार का होता है और सामान्य कर्मों में उसका व्यवहार कठिन है।

निद्राकर ओषधियों के प्रयोग (Narcosis or Twilight sleep)

गोधूलि निद्रा—अहिफेन या उसी के किसी घटक का तथा 'स्कोपोलेमीन' (हायोसीन हाइड्रो ब्रोमाइड) का प्रसवकाल में निद्रोत्पादक योगों के रूप में सूचीवेध के द्वारा चुने हुए रोगियों में और विशिष्ट परिस्थितियों में प्रयोग करना मूल्यवान् और लाभप्रद होता है। चिकित्सक को उसी अवस्था में प्रयोग करना चाहिये जब कि वह अनुभवी हो, पूरे प्रसवकाल तक गर्भिणी की सेवा में रह सकता हो; अन्यथा इससे हानि की विशेषतः शिशु को हानि की सम्भावना रहती है।

अल्पकालीन प्रसवों की अपेक्षा दीर्घकालीन प्रसवों में ही इसका उपयोग उचित है अतः प्रथम प्रसव में ही इसका प्रयोग करना चाहिये गर्भस्थशिशु-हृत्स्पन्द-सम्बन्धी कोई अनियमितता या अस्वाभाविकता हो तो इसका निषेध है।

सेवा में सदैव एक अनुभवी और शिक्षित परिचारिका रहनी चाहिये, कमरे को अन्धकारयुक्त कर देना चाहिये ताकि निद्रा आ जाय, कमरे और घर में आवाज नहीं होनी चाहिये, पूर्णतया निःशब्द वातावरण बना लेना चाहिये।

अप्रजाताओं में जब वेदना का वेग नियमित हो गया है, प्रति सात से दस मिनट पर वेदनायें प्रारम्भ हो गई हैं, निश्चित रूप से बहिर्द्वार (Ext.OS) खुलने लगा है उस समय इस निद्राकर योग को काम में लाना चाहिये। प्रजाताओं में जब पीड़ा नियमित तीव्र स्वरूप की होने लगी हो और ऐसा जान पड़ता हो कि प्रसव में कुल चार या पाँच घंटे से अधिक का समय नहीं लगेगा तब प्रयोग करना चाहिये। यह स्मरण रखना चाहिये कि यदि औषध का प्रयोग बहुत देर से होगा तो परिणाम कम अच्छा रहेगा और यदि बहुत पहले ही कर दिया जायगा तो पूरा प्रसव का क्रम ही कुछ देर के लिये बन्द हो जायेगा।

पहला सूचीवेध से अन्तःक्षेपण मार्फिनहाइड्रोक्लोराइड $\frac{१}{६}$ – $\frac{१}{४}$ ग्रेन की मात्रा में और 'स्कोपोलेमीन' $\frac{१}{१५०}$ – $\frac{१}{१००}$ ग्रेन की मात्रा में त्वगधः प्रदेश में करना चाहिये। रोगी के कान में रूई की बत्ती भरकर कमरे को अंधेरा और निःशब्द करके परिचारिका की देखरेख में छोड़ देना चाहिये।

पन्द्रह मिनट के भीतर रोगी को निद्रा आ जाती है; परन्तु वेदना की तीव्रता से उसकी निद्रा किंचित् भंग होती और करवटें बदलती है। पुनः पीड़ा के शान्त हो जाने पर निद्रा में आ जाती है। पुनः वेदना के वेग के साथ जागृत होती है। पैंतालीस मिनट के बाद पुनः औषध का दुबारा प्रयोग करना आवश्यक है। दूसरी बार में केवल हायसीन हाइड्रोब्रोमाइड की छोटी मात्रा $\frac{१}{४५०}$ ग्रेन ही पर्याप्त होती है। अहिफेन योग की पुनरावृत्ति की आवश्यकता प्रायः नहीं पड़ती जब तक प्रसव में बहुत विलम्ब न होने लगा हो। यदि आवश्यकता पड़े तो आठ से दस घंटे के अन्तर से पुनः अहिफेन योग दिया जा सकता है। 'हायसीनहाइड्रोब्रोमाइड' की तीसरी आवृत्ति $\frac{१}{४५०}$ ग्रेन की मात्रा में आवश्यकतानुसार एक घण्टे के बाद करनी चाहिये।

इस औषधि के प्रयोगकाल में गर्भिणी निद्रालु अवस्था में रहती है, उसे प्यास बहुत लगती है, पानी पीने को देते रहना चाहिये, असम्बद्ध प्रलाप प्रायः नहीं होते, प्रश्न करने पर उसका उत्तर गर्भिणी ज्ञान में ही देती है जगाने पर जग जाती है।

इस औषधि के प्रयोग में मात्रा की पुनरावृत्ति की कालमर्यादा का ज्ञान परमावश्यक है। यह पूर्णरूपेण अनुभवों के ऊपर आधारित है तथापि 'स्मरण परीक्षा' (Memory test) के द्वारा निर्णय का एक मार्ग पुस्तकों में लिखा मिलता है। रोगी को एक बार ऐसी कोई चीज दिखादे जिससे वह विशेष परिचित न हो फिर उसको निद्रा में आ जाने दे। पुनः दूसरी मात्रा देने की आवश्यकता जान पड़े तो फिर उसको उस चीज को दिखलावे यदि उसको उस चीज का स्मरण हो आता है तो तत्काल दूसरी मात्रा दे देनी चाहिये। यदि स्मरण नहीं कर पाती तो दूसरी मात्रा के देने का विचार स्थगित कर देना चाहिये।

प्रसव हो जाने के बाद इस औषध के प्रभाव से प्रसूता पूर्ण निद्रा में दो–तीन घण्टे के लिये आ जाती है। और अब उसको कृत्रिम उपायों से नहीं जगाना चाहिये। औषधि का सफल प्रयोग तभी समझना चाहिये जब कि रोगी मोहन (Amnesia) की अवस्था को प्राप्त कर ले। क्योंकि उपर्युक्त योग न तो पूर्णतया संज्ञाहारक है और न वेदनाहर (Analgesic)। इस लिये रुग्णा को कष्ट तो जरूर होता है; परन्तु उसका मन के ऊपर गहरा प्रभाव नहीं पड़ता तथा जगने के बाद उसको वेदना की स्मृति भी नहीं रहती और न किसी प्रकार के मर्माभिघात (Shock) या थकावट का ही अनुभव होता है।

निर्देश—प्रथम प्रसवों तथा विलम्ब से होने वाले प्रसवों में इसका प्रयोग बड़ा ही उत्तम है उदाहरणार्थ अल्पमात्रा में श्रोणि का संकुचित होना या मृदु अपत्यपथ की कठोरता में इस मोहन योग का उपयोग करना चाहिये। रोगी में थकावट (Exhaustion) का अनुभव हो तो इसका प्रयोग उत्तम है। जहाँ पर रोगी की मनःस्थिति ठीक न हो धैर्यहीन, भयभीत या सुकुमार दिखलाई पड़े तो इसका प्रयोग करना चाहिये। इसके उपयोग से परिचारक तथा रोगी दोनों को आराम रहता है। इसके द्वारा ग्रीवा के विकास में भी कुछ सहायता मिलती है इसी लिये बच्चा जनन करने वाली परिचारिका का पूरे प्रयोग भर प्रसव होने के काल तक गर्भवती के साथ में रहना आवश्यक है।

इस चिकित्सा में प्रसव की कालमर्यादा विशेष नहीं बढ़ती। 'मारफीन हायसीनहाइड्रोब्रोमाइड' के इस प्रयोग से गर्भाशय में कुछ शैथिल्य आने की प्रवृत्ति हो जाती है, अतः तृतीयावस्था के बाद अपरादि के निकल जाने पर 'एरग्युटीन' या 'पिच्युटरीन' सत्त्व का सूचिका द्वारा अन्तःक्षेप करना आवश्यक हो जाता है।

बालक की दशा—इस योग के प्रयोग की स्थिति में पैदा हुआ बालक कई बार विलम्बित श्वसन (Oligopnoea) या मिथ्याश्वसन से युक्त पैदा होता है इसी स्थिति में श्वास देर-देर से लेता है। कई बार थोड़ी नीलिमा भी बच्चे में देखने को मिलती है। यदि यह नीलिमा बहुत गाढ़ी हो तो औषधि की अति मात्रा में प्रयोग हुआ है ऐसा समझना चाहिये। मिथ्याश्वास गर्म पानी से नहला देने से या गर्म कम्बल में ढक देने से आप से आप पन्द्रह मिनट में दूर हो जाता है और स्वाभाविक श्वसन चालू हो जाता है। नीलिमा प्रभृति उपद्रव भी कुछ देर में जाते रहते हैं। गोधूलि निद्रा में जनमे हुए बालक बहुत सुस्त, निद्रालु या आलस्ययुक्त नहीं होते वे प्राकृत प्रसव से उत्पन्न बच्चों के सदृश ही होते हैं, बल्कि कई बार तो वे प्राकृत प्रसव से जन्म लिये बच्चे की अपेक्षा चौबीस घण्टे पूर्व ही अधिक चिल्लाना और रोना शुरु कर देते हैं। अतएव गोधूलि निद्रा से बच्चों पर कोई हानिकर प्रभाव नहीं पड़ता और न उनके जन्म के समय मिलने वाले दोष ही स्थायी होते हैं।

कई रोगियों में प्रकृति से ही असहनीय ये औषधियाँ पड़ती हैं और उनमें उत्तेजना और उग्रप्रलापादि होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में इनमें अन्तःक्षेपण (Injection) बन्द कर देना चाहिये।

उपर्युक्त योग के अतिरिक्त भी कई ओषधियाँ—जिनमें 'वार्बीचुरेट्स' का नाम विशेष उल्लेखनीय है—वरती जाती हैं, परन्तु ये इतनी संतोषजनक नहीं हैं।

प्रसव में गर्भिणी की स्थिति (Posture)—वामपार्श्व पर लेटाना या पीठ के बल लेटाना। बायें करवट पर गर्भवती को प्रसवकाल में लेटा कर रखने से प्रवाहण में बल की कमी आ जाती है, जिससे मूलपीठ के विदारण से रक्षा होती रहती है। इस स्थिति में गुदा भी पूर्णतया दिखलाई पड़ती रहती है जिससे पुरीष के सम्पर्क से संक्रमण पहुँचने का भय दूर रहता है। इस स्थिति में लेटी हुई स्त्री का प्रसव अकेली परिचारिका भी करा सकती है और किसी प्रकार की दक्षता की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस स्थिति में लेटाये रखने का सबसे बड़ा दोष यह है कि स्त्री को तृतीयावस्था के प्रारम्भ में पीठ के बल चित करके रखने की आवश्यकता पड़ती है।

उत्तानासन में प्रसव

चित्र ६२
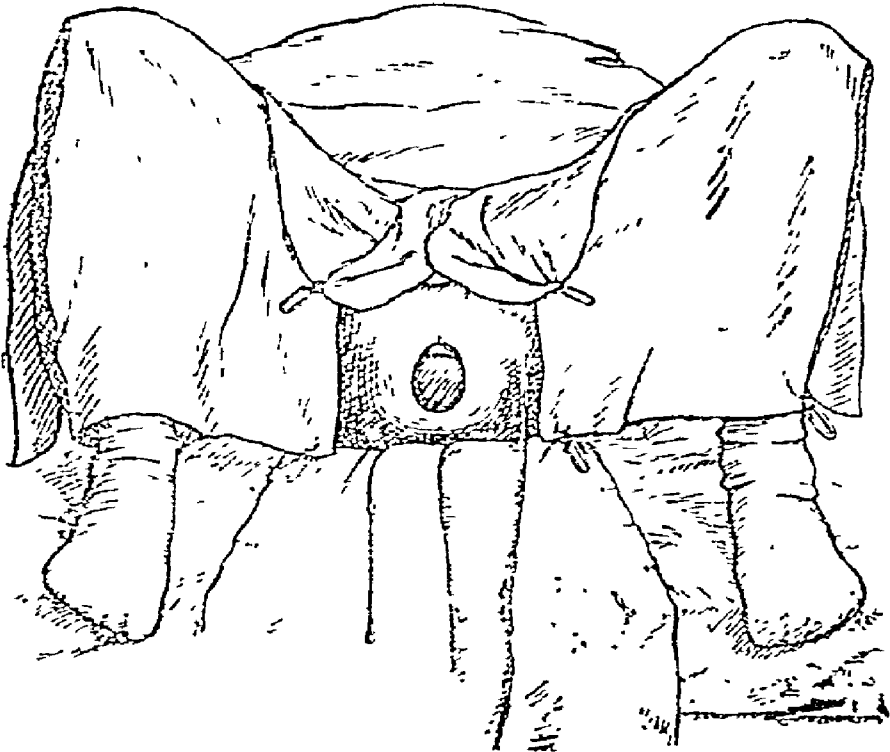
पृष्ठ पर चित लेटाकर रखना प्रसव की तृतीयावस्था में सर्वोत्तम स्थिति है।

इसमें प्रवाहण (Bear down) बड़े जोर का होता है। यदि शस्त्रकर्म की सहायता आवश्यक दीखे तो यही आसन उचित है।

मूलाधार या मूलपीठ रक्षण-(Delivery of the childand care of the perineum) स्वाभाविक प्रसवों में द्वितीयावस्था के अन्त में प्रसूतिविद् को सक्रिय कार्य करना पड़ता है। उसका प्रधान कार्य मूलाधार के ऊपर गर्भसिर का भले प्रकार से प्रेरित करना होता है, ताकि श्रोणितल को कम से कम हानि पहुँचे। अप्रजाता स्त्रियों में मूलाधार का विदीर्ण होना एक सामान्य दुर्घटना है। यद्यपि यह स्वयं कोई बड़ा उपद्रव नहीं तथापि इसके जरिये संक्रमण पहुँचने से सूतिकोपसर्ग का भय रहता है—इसके अतिरिक्त वाद में गर्भाशयभ्रंश प्रभृति उपद्रवों के होने की आशंका रहती है। अतः इस दुर्घटना को बचाने और हो जाने पर तत्काल उसके सुधार की चिन्ता करनी चाहिये। मूलाधार के फटने के तीन कारण प्रधान हैं—१. गर्भसिर और वहिर्द्वार का पारस्परिक अनुपात का ठीक न होना। २. मूलाधार के पूर्ण रूप से फैलने (Strech) के पूर्व ही अत्यधिक शीघ्रता से गर्भ का निष्क्रमण। ३. दोषयुक्त निष्क्रमण-जिसमें आवश्यकता से अधिक परिमाण के सिर के परिधि (Circumference) का वहिर्द्वार से निकलना। इन कारणों को दूर करने के निम्नलिखित कई उपाय हैं—१. सभी स्त्रियों में सिर को मूलाधार के फैलाने में प्रचुर समय देना। २. यदि वेदनायें तीव्र हों गर्भसिर वेग से नीचे को जा रहा हो तो उसकी गति को (स्त्री को 'क्लोरोफार्म' सुंघाकर) रोकना चाहिये। रोगिणी को प्रवाहणों को रोकने का आदेश देना चाहिये। सिर को पीछे की ओर दवाव देकर भी उसकी प्रगति रोकी जासकती है। परन्तु मूलाधार के ऊपर सीधा भार नहीं देना चाहिये। ३. संकोच (Flexion) बनाये रखने की कोशिश करनी चाहिये। ललाट को ऊपर और आगे की ओर दबावे तथा अनुशीर्ष इस प्रकार दबावे कि वह भगसंधानिका (Suprapubic arch) के नीचे आजाये। ये दोनों कर्म प्रसार होने के पूर्व ही करना चाहिये और उसी स्थिति में गर्भ को बनाये रखना चाहिये। इस विधि से अनुशीर्षाधर ब्रह्मरन्ध्रिक तथा अनुशीर्षाधर लालाटिक दोनों लघुतम व्यास मूलाधार के ऊपर आजाते हैं। ४. वेदनाओं के आवान्तर काल में ही प्रसव करावे-इसका परिणाम यह होता है कि मूलाधार की पेशियाँ आकुञ्चित न होकर इस काल में शिथिल

रहती हैं। इन सिद्धान्तों के आधार पर बरतने के लिये निम्नलिखित उपायों में से किन्हीं एक का सहारा लिया जासकता है।

मूलाधार रक्षण
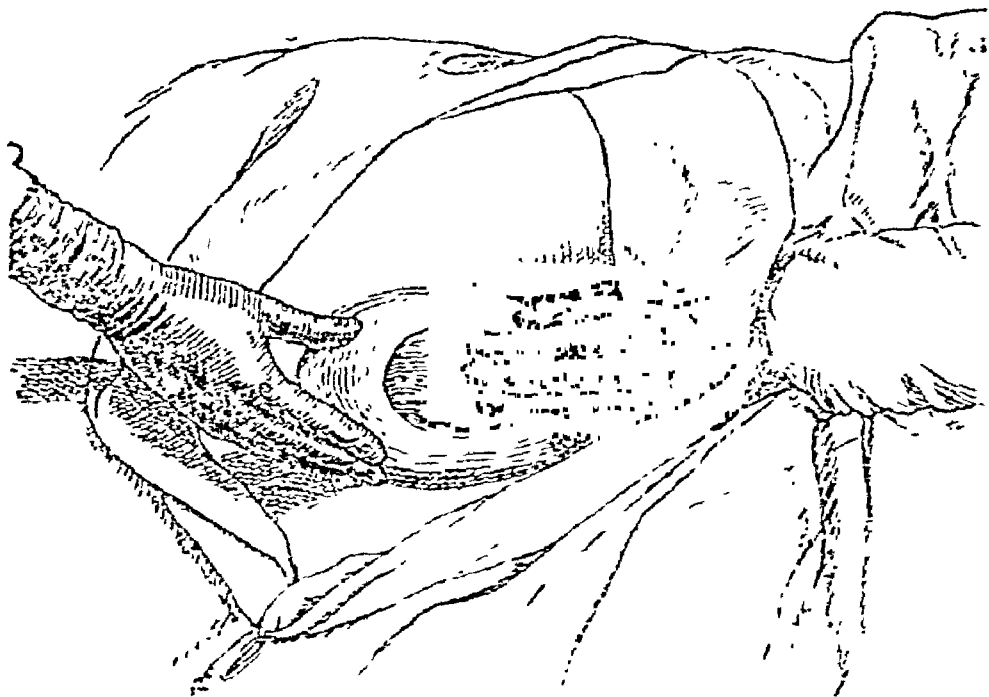
चित्र ६४

यदि स्त्री बायें करवट पर लेटी हो तो अपने जाँघों को संकुचित और अलग कर के रखे। स्थिति ऐसी होनी चाहिये कि न तो टाँगे पूर्णतया संकुचित और न अधिक दूर ही रहें। क्योंकि दोनों अवस्थावों में मूलाधार का तनाव संभव है। उसको क्लोरोफार्म सुंघाकर पूर्ण निःसंज्ञ कर लेना चाहिये।

(१) बायें हाथ को गर्भवती के ऊपरी जंघे के ऊपर से ले जाकर इसी हाथ की अंगुलियों से सिर को दबावें। इसका उद्देश्य सिर के अवतरण का रोकना होता है। यदि कोई सहायक उपलब्ध हो जो रोगिणी के दाहिने जंघे को कुछ उठाकर रखे तो बायाँ हाथ और सुविधा से पहुंच सकता है।

(२) जैसे पहले बायें हाथ से किया था, वैसे ही करें और दाहिने हाथ से ललाट को ऊपर और आगे की ओर धक्का दें। वेदनावों के बीच में प्रसव करावें।

या तो इसी स्थिति में या प्रसार को बढ़ाकर। प्रसार के बढ़ाने के लिये अनुत्रिकास्थि के पार्श्ववाले धातुओं के जरिये बालक के भ्रू और मुख को दबाना चाहिये।

(३) बायाँ हाथ सिर का नियन्त्रण उसी प्रकार करता रहे, दाहिने हाथ की अंगुलियों से भगोष्ठ की त्वचा को पीछे की ओर और मध्यरेखा की दिशा में दबावे इस से भी मूलाधार का अवकाश बढ़ जाता है।

मूलाधार भेदन (Episiotomy)—नामक शस्त्र कर्म की आवश्यकता बहुत विरल पड़ती है। इस में पश्चिमपार्श्वीय भेदन (Post. lateral incision) की जरूरत पड़ती है भेदन $\frac{1}{2}$—$\frac{3}{4}$ इंच गहरा होता है। प्रसव के पश्चात् इसका सीवन अनियमित विदारण की अपेक्षा ठीक ढंग से शस्त्र कर्म के द्वारा भेदन करने से उत्तम बनता है।

अब जब सिर पैदा हो गया है तो दाहिने हाथ से उसे सहारा देते रहें क्लोरोफार्म का प्रयोग स्थगित कर दें। प्रसव कराने में शीघ्रता न करें, जब तक कि बच्चे में आक्षेप, नीलिमा प्रभृति कुछ अनिष्टसूचक लक्षण न दिखलाई पड़ने लगें। बालक की ग्रीवा के चारों ओर स्पर्श कर के देखें यदि नाभिनाल लिपटा हो तो उस फंदे को सिर के ऊपर से होकर निकल जाने दें। टंकण द्रव में रुई का पिचु (फाया) भिगोकर आँखों को पोंछे। इसी प्रकार मुख को भी साफ कर लेना चाहिये।

यदि गर्भाशय कुछ ही देर में स्कन्ध को निकालने का प्रयत्न न कर रहा हो तो उसके भी निकालने का उपाय करना चाहिये। बायें हाथ को गर्भाशय स्कन्ध पर रखें और रगड़कर आकुंचनों को उत्तेजित करें। यदि आवश्यक हो तो भार देकर निकाले।

यदि इससे सफलता न मिले तो एक अंगुल से बडिश को योनि में डालकर, उसे सामने की ओर के कक्ष मे ले जायें और आड़ाकर स्कन्ध को निकाले। भग से कन्धों को भगसंधानिका के नीचे खींचते हुए यह ध्यान रखे कि दो कंधे एक ही साथ न उत्पन्न हों अन्यथा मूलाधार के विदार का भय रहता है। स्कन्धों को उत्पन्न करने में सिर को पकड़कर खींचना भारी भूल है उसी प्रकार ग्रीवा को भी पकड़कर नहीं खींचना चाहिये। सदैव उपर्युक्तविधि को ही अपनाना चाहिये।

यदि बालक उत्पन्न हो जाय तो माता को पीठ के बल लेटाकर रखना चाहिये। उसकी नाडी की गति गिन लेना चाहिये। बाह्य तथा अन्तः रक्तस्राव की स्थिति में नाडी की गति तीव्र हो जाती है।

नवजात संगोपन—बालक उत्पन्न होने के साथ ही रोने लगता है, जिससे उसके दोनों फुफ्फुसों में वायु प्रविष्ट हो जाती है, और फुफ्फुस फैल जाते हैं। यदि बालक न रोवे, तो उसे पैरों से पकड़कर उलटा लटका देना चाहिए और मुख तथा गले को अन्दर से भली प्रकार कपड़े से पोछना चाहिए, और पीठ पर दो तीन बार थप्पड़ लगाना चाहिए, और यदि आवश्यकता हो तो यन्त्र (Mucus sucker) द्वारा श्वासप्रणाली से (Larynx and trachea) श्लेष्मा का आचूषण करना चाहिए और ठंढे पानी के छींटे मुख पर देने चाहिए। उपर्युक्त विधियों से सामान्यतः बालक रोने लगता है।

नाभिनाल का छेदन—जब बालक का श्वसन व्यवस्थित ढंग से चलने लगे तो उसको बिस्तर पर लेटा देना चाहिये। कुछ मिनटों तक प्रतीक्षा करनी चाहिये। जब नाल का स्पन्दन बन्द होता जान पड़े तो नाभि से दो इंच की दूरी पर एक बन्धन लगावें। इस बन्धन में गांठ मजबूती से देना चाहिये (Surgical, reef knot), बन्धन लगाने के पूर्व नाल को निष्पीडित कर के दुह लेना चाहिये (Squeezee) ताकि 'व्हार्टन की जेली' साफ होकर नाल को पतला बना दे। पुनः एक दूसरे बन्धन से भग से तीन इंच की दूरी पर एक और गांठ लगावे। दोनों गांठों के बीच में, नाभि की गांठ से आधी इंच की दूरी पर नाल को काट दे। काटते वक्त नाल को अंगुलियों के ऊपर रखना चाहिये अन्यथा शिशु को शस्त्र लगने का भय रहता है। बच्चे को गरम फलालेन के कपड़े में ढंककर परिचारिका को दे और वह उसको गरम और सुरक्षित स्थान पर तबतक लेटाये रहे जब तक बच्चे के नहलाने का मौका न मिले। चिकित्सक को चाहिये कि नाल का पुनः निरीक्षण करे और यदि उसे रक्तस्राव होता हुआ जान पड़े तो एक और गांठ देकर खून का गिरना बन्द कर दे।

तृतीयावस्था—बच्चे के जन्म लेने के साथ ही प्रसव की तृतीयावस्था शुरू हो जाती है। उस समय स्त्री को पीठ के बल लेटाये रखना चाहिये नहीं तो अवकाश पाकर वायु, योनि के भीतर प्रविष्ट हो जाती है। चित लेटे रहने से गर्भाशय-स्कन्ध भी नियन्त्रण में रहता है। गर्भाशयस्कन्ध का (Fundus control) नियंत्रण ही इस अवस्था का कर्म है। इस लिये अवस्था के पूरे काल भर या कुछ अधिक देर तक हाथों को उदर पर रखकर स्कन्ध का नियन्त्रण करना चाहिये।

तृतीयावस्था में अपरा का पतन एक मुख्य घटना है। गर्भ को बाहर निकालने में माता तथा गर्भाशय को अत्यधिक श्रम करना पड़ता है, जिससे गर्भजन्म के बाद दोनों ही थक जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दस-पन्द्रह मिनट तक गर्भाशय में आकुञ्चन नहीं होता और प्रसववेदना भी उतने समय तक बन्द रहती है, इस अवधि में भी गर्भाशय पूर्णतया निष्क्रिय नहीं रहता। गर्भाशय के ऊपर हाथ रखा जाय तो उससे हल्की सी हलचल मालूम होती रहती है। इस स्थिति में गर्भाशय अपनी शक्ति का संचय करता है अपने धातुओं को संकुचित करके स्वयं छोटा हो जाता है। इस परिवर्त्तन को संहरण (Retraction) कहते हैं। यह संहरण का कार्य बड़े महत्त्व का है। प्रथम और द्वितीय अवस्थाओं में जो कार्य आकुञ्चन (Contraction) का रहता है वही कार्य तृतीयावस्था में गर्भाशय का संहरण करता है।

(१) यदि प्रसूता प्रसव के क्लेश से क्षीण बल और थकावट से युक्त हो गई हो तो उत्तेजक और हृद्य प्रयोगों से उसका हर्षण करना चाहिये। (२) गर्भाशय का आकुञ्चन न रुकने पावे इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि इसके अभाव में अपरा नहीं विलग हो पाती, गर्भाशय संवरण नहीं होता, रक्तस्राव का अवरोध भी नहीं हो सकता।

गर्भाशय स्कन्ध पर हाथों को रखकर, गर्भाशय की चेष्टा, अचेष्टा, दृढ़ या शिथिल भाव तथा वृद्धि और ह्रास का ज्ञान होता रहता है। तथापि अनावश्यक विधिहीन मर्दन-पीडन आदि गर्भाशय का नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से कई उपद्रवों के उत्पन्न होने की आशंका रहती है। यदि गलती ढंग से गर्भाशय गात्र के पूर्वभाग का मर्दन किया गया हो तो अधोगर्भशय्या का संकोच रुक जाता और स्कन्ध शिथिल बन जाता है। इसी प्रकार यदि स्कन्ध का अनावश्यक और अत्यधिक मर्दन किया गया हो तो गर्भाशय में विषमाकुञ्चन होने लगता और अपरा का आंशिक विच्छेद ही होता है। विषम आकुञ्चनों के कारण कई और भी दुष्परिणाम देखने को मिलते हैं जैसे अपरा का अवरोध होना या रक्तस्राव का अधिक होना।

गर्भाशय के संकोचों के प्रभाव से उससे लगी हुई अपरा वियुक्त होती और बीस मिनट के भीतर ही बहिष्कृत हो जाती है। परन्तु गर्भाशय से बहिर्भूत होकर भी योनि की दुर्बलता से वह चिरकाल तक योनि में पड़ी रहती और योनिमुख से

बाहर नहीं निकलती है। योनि में पड़ी हुई अपरा की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये बल्कि आगे बताई विधियों से उसको खींचकर निकाल (कर्षण) लेना चाहिये। परन्तु गर्भाशय से संसक्त अपरा का जबर्दस्ती विमोक्षण नहीं करना चाहिये जब तक कि कोई बड़ा कारण-दृढ संसक्ति, संकोचदौर्बल्य, विमोक्ष में चौबीस घंटे से भी अधिक विलम्ब होना आदि—न उपस्थित हों। बलपूर्वक अपरा के वियोजन से अपरा खण्डों में टूटकर निकलती है, पूर्णतया नहीं निकल पाती, कुछ भाग शेष रह जाता है, और गर्भाशय से असम्यक् संहरण करने से रक्तस्राव बहुत होने लगता है।

अपरामुक्त गर्भाशय के चिह्न—इन लक्षणों के आधार पर अपरा का गर्भाशय से वियुक्त होना समझना चाहिये।

(क) **नाभिनाल का बढ़ना**—जब अपरा गर्भाशय से बाहर योनि में आती है तो नाभिनाल अधिक लम्बा हो जाता है, इसका ज्ञान भगद्वार-समीपवर्त्ती बन्धन के भगद्वार से अधिक दूरी पर हो जाने से किया जा सकता है।

(ख) **स्कन्धोन्नमन**—बालक के जन्म के साथ ही गर्भाशयस्कन्ध भग-सन्धानिका (Symphisis pubis) के कुछ ऊपर और नाभि से नीचे होता है। जब अपरा गर्भाशय से वियुक्त होकर योनि में आती है तब गर्भाशय अपरा के ऊपर चढ़ जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय उदरगुहा में कुछ ऊँचा होकर नाभि पर्यन्त या उससे भी कुछ ऊँचे तक पहुँचता है।

(ग) **गर्भाशय की अस्थिरता**—श्रोणिकण्ठ में निमग्न अपरायुक्त गर्भाशय चारों ओर से घिरे रहने के कारण इधर-उधर हिलाया नहीं जा सकता वह एक प्रकार अचल सा रहता है। परन्तु जब अपरा-हीन होकर गर्भाशय गुहा में चढ़ता है, तब (किसी प्रकार के अवरोध के अभाव में) दायें-बायें हिलाया जा सकता है अर्थात् चल हो जाता है।

(घ) **नाभि के पास उभार**—गर्भाशय से वियुक्त हुई अपरा नीचे को जाकर अपने सामने के अवयवों को ऊपर की ओर उठाकर सन्धानिका के ऊपर उदरप्राचीर में भरी हुई वस्ति के समान एक उभार पैदा करती है।

(ङ) **नाभिनाल का अनुत्कर्षण**—जब तक अपरा गर्भाशय में रहती है तब तक गर्भाशय को ऊपर खींचने से नाभिनाल भी ऊपर को खिंच जाता है।

अथवा गर्भाशय स्कन्ध को पकड़कर नीचे दबाओ इस दबाव के साथ नाल (जो भग के वाहर है) की लम्बाई बढ़ जायगी पुनः गर्भाशय को छोड़ देने से उसके ऊपर जाने के साथ भग के वाहर वाला नाल भी ऊपर को खिंच जायेगा। यदि अपरा योनि में है तो नाल की लम्बाई या खिंचाव पर कोई असर नहीं पड़ेगा।

अप्रपन्ना अपरा (Retanied placenta)—को गर्भाशय या योनि से निकालने की तीन विधियाँ हैं—यदि अपरा चार मिनट तक प्रतीक्षा के बाद भी गर्भाशय को न छोड़े तो उसे निम्नलिखित उपायों से वियुक्त करना चाहिये।

वाह्यपीडन (Expression)—संकोचकाल में गर्भाशय स्कन्ध को उदर पर रखे हुए हाथ से इस प्रकार पकड़े कि अंगूठा उसके सामने की दीवाल पर और अंगुलियाँ पीछे की ओर हों। फिर पकड़ कर आगे से पीछे की ओर उसका निष्पीडन (Squeeze) कर नीचे और पीछे की ओर अन्तर्मुख (Inlet) के अक्ष पर दबाना चाहिये। इससे अपरा गर्भाशय से वियुक्त होकर नीचे को योनि में आ जाती है।

हाथ से निकालना (Mannual removal)—पूर्वोक्त विधानों से विशोधित हाथ को अपत्यपथ से प्रवेश कराके गर्भाशय या योनिगत अपरा को सुखपूर्वक पृथक् करण अथवा निष्कासन किया जा सकता है। परन्तु संक्रमणभय और कष्टकर होने से जब पहले से सफलता प्राप्त नहीं हो तो इस विधि का आश्रय लेना चाहिये।

नाभिनाल का कर्षण (Traction)—पहले इस विधि का बहुत प्रचार रहा परन्तु आजकल इसका व्यवहार कम होता है—क्योंकि कई उपद्रवों का भय लगा रहता है। इस विधि से खींची गई अपरा यदि पूर्णतः वाहर निकल आई तब तो किसी विशेष हानि की सम्भावना नहीं रहती। परन्तु यदि विच्छिन्न हो जाय और उसका एक अंश यदि उसके अन्दर पड़ा रह जाय तो योनि में हाथ डाल कर निकालना पड़ता है जिससे बहुत बड़े संक्रमण का भय रहता है। इसके अतिरिक्त शिथिल गर्भाशय में मजबूती से चिपकी हुई अपरा, बलपूर्वक निकाले जाकर स्वयं अपावृत्त (भीतर में उलटी Inverted) हो जाती है। अतः इसका व्यवहार योनिगत अपरा के निर्हरण में अधिक प्रशस्त है। वेदना भी कम होती है।

अपरापरीक्षण—अपरा के बाहर निकल आने पर उसको एक थाली में रख कर पश्चात् जल में प्लावित करके भलीभांति देखना चाहिये। अपरा का गर्भाशय की ओर का भाग खुरदरा होता है—क्योंकि उसमें अनेक उभार पाये जाते हैं जिसमें पूरा क्षेत्र कई खण्डों (Lobes) में बँट जाता है। अपरा के ऊपर पाये जाने वाले उभारों की संज्ञा दाली (Cotyledons) है। अपरा निरीक्षण में इन दालियों के ऊपर ध्यान देना चाहिये। यदि अपरा का कोई टुकड़ा अन्दर होगा तो स्पष्टतया अपरा में गर्त्त (Gap) दिखलाई पड़ेगा।

पुनः पानी में छोड़कर जरायु की परीक्षा करनी चाहिये कि वह पूर्ण या अपूर्ण। यदि जरायु खण्डित नहीं है, तो उसमें एक ही बड़ा छिद्र होगा जिससे गर्भ वाहर निकलता है और बाकी भाग अपरा को चारों तरफ से वेष्टित करता हुआ आबद्ध मिलेगा। यदि इसके विपरीत मिले अर्थात् कई स्थानों पर सछिद्र या फटा हुआ मिले, तो फटे हुए हिस्सों को मिलाकर देखना चाहिये कि वह केवल विदार है या उसका कुछ हिस्सा भीतर रह गया है। यह भी देखना चाहिये कि अपरा के पार्श्व से दूसरे छिद्र तक कोई रक्त प्रणाली तो नहीं गई है। यदि ऐसी दशा मिले तो समझना चाहिये कि द्वीपीभूत अथवा कोई अतिरिक्त अपरा (Placenta succenturiata (Island) or secondary placenta) अभी भीतर में है। अन्दर में पड़ी हुई अपरा रक्तस्राव कराती है अतः उसको निकालना आवश्यक है।

अप्रपन्न जरायु (Retained membrane)—यदि अधिक जरायु भीतर में अवशिष्ट हो तो रक्तस्राव होता है। अच्छी मात्रा में 'अर्गट' देने से निकल जाता है। अपरा जरायु का थोड़ा-सा अंश अवशिष्ट हो और गर्भाशय मुख से नीचे न लटकता हो तो उसको निकालने की आवश्यकता नहीं है। वे टुकड़े प्रसव-शोणित के साथ अपने आप निकल आते हैं।

मूलाधारनिरीक्षण—मूलावदार या विदारण (Tears) के लिये मूलाधार का जीवाणुनाशक द्रवों से सिक्त पिचु से विशोधन कर तथा भगोष्ठों को पृथक् करके भली प्रकार से निरीक्षण करना चाहिये। प्रायः योनि की पश्चिम भित्ति ही विदरित होती है। योनिपरीक्षा के द्वारा अङ्गुलियों से स्पर्श करते हुए विदारण का ज्ञान करना चाहिये। विदारण का सीवन शीघ्र करना चाहिये। परन्तु सीवनोपकरण

उपलब्ध न हों तो बारह घण्टे के भीतर बाद में भी सीवन किया जा सकता है।

अर्गटोपयोग—गर्भाशय के आकुंचन और संहरण को बढ़ाने के लिये इस द्रव्य का प्रयोग होता है, मुख द्वारा न देकर सूचीवेध के द्वारा अन्तःक्षेपण करना अधिक लाभप्रद होता है। सामान्यतया इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती—इसकी विशेष आवश्यकता तब होती है जब कि गर्भाशय का सङ्कोचन बढ़िया न हो रहा हो। इसका प्रयोग अपरा के निकल जाने के बाद करना चाहिये पहले नहीं। इसकी सबसे उत्तम प्रयोग 'इरगा मेट्रीन' नामक क्षार के रूप में पाया जाता है इसकी बनी बनाई गोलियाँ ०.५ मिलीग्राम (१/१२० ग्रेन) की मिलती हैं जिसका मुख या सूचीवेध द्वारा प्रयोग होता है इसी मात्रा के बने 'एम्प्यूल्स' भी मिलते हैं। द्रव सत्त्व (Liquidextract) के रूप में भी प्रयोग होता है मात्रा ½ ड्राम से १ ड्राम तक की होती है। टिंक्चर एरगाट १०–३० बूंद, क्विनीनसल्फ ५–७ ग्रेन, डाल्युट सल्फुरिक एसिड् १०–१५ बूंद, एक्स्ट्रैक्ट अश.कलिकिड एक ड्राम और जल एक औंस–का मिश्रण बना कर देना बड़ा लाभप्रद होता है। इस मिश्रण को दिन में तीन बार करके दो–तीन दिनों तक देना चाहिये।

प्रसूता की जननेन्द्रियों की सफाई—अपरा के निकल जाने के बाद रक्त से सने हुए कपड़ों को हटा कर भग, चूतड़ तथा आस–पास अङ्गों को स्वच्छ पानी और कपड़े से पोंछना चाहिये। आजकल इस काम में 'लाइसोल' का घोल व्यवहार में आता है। इस घोल में पिचु भिगोकर आगे से पीछे को पोंछना चाहिये। सफाई में एक बार के व्यवहृत पिचु को दुबारा न काम में लावे। प्रक्षालनादि कर्म भगोष्ठों को बन्द रखते हुए ही करे। भग के अन्तः भाग का विशोधन प्राकृत प्रसवों में आवश्यक नहीं है।

प्रक्षालन और प्रमार्जन के अनन्तर इन अङ्गों को सूखे कपड़े से सुखा लेना चाहिये।

भगकवलिका, उदरवेष्टन—(Binder etc)—इसके बाद रसकर्पूर द्रव से सिक्तवर्त्ति को भग के ऊपर रख कर मोटी कवलिका रख कर कौपीन बन्ध से बाँध देना चाहिये। इससे दो लाभ होते हैं—प्रत्यक्षतया तो प्रसव–शोणित को कवलिका सोखती रहती है, अप्रत्यक्षतया स्त्री के कपड़े खराब होने से बच जाते हैं।

अग्रपत्र से लेकर आधे ऊरु तक पहुँचने वाले बृहत् वस्त्र से प्रसूता के

उदर का आवेष्टन करना चाहिये। चार सुरक्षित कीलों (Pins) को लगा कर पट्ट को स्थिर कर देना चाहिये। महाशिखरकों के नीचे, उनके ऊपर, नाभि के समीप और अग्रपत्र के समीप। गर्भाशय को भी इस प्रकार दवा कर रखना चाहिये कि वह श्रोणि की दिशा में ही रहे नाभि के ऊपर न जा सके। उदर की शिथिलता या स्थूलता में एक मोटी कपड़े की गद्दी भी गर्भाशय-स्कन्ध के पीड़न के लिये नाभि और अग्रपत्र के बीच में रख सकते हैं। गर्भाशय से गर्भ के निकल जाने पर उदरगुहा रिक्त हो जाती है, गर्भवृद्धि के तनाव के कारण उदरप्राचीर की पेशियाँ भी शिथिल हो गई रहती हैं, गर्भाशयस्कन्ध पर भी दवाव देना ठीक पड़ता है इसलिये उदर को सहारा देना आवश्यक हो जाता है। इसलिये उदरवन्ध से प्रसूता को सुख का अनुभव होता है।

धमनीस्पन्द और तापक्रम—प्रसव के अन्त में शरीर का ताप ९९° सामान्यतया होता है। कई वार शरीरोष्मा के निकल जाने से यह प्रकृत से भी कम हो सकता है। नाड़ी की गति मन्द प्रतिमिनट ८० तक मिलती है यदि सौ से अधिक भी हो तो वाह्य-अन्तः रक्तस्राव का सूचक होता है और उसका निश्चय करना चाहिये। शिशु के जन्म हो जाने के पश्चात् भी चिकित्सक को एक घण्टे तक वहीं रह कर प्रतीक्षा करनी चाहिये—वीच-वीच में माता की नाड़ीगति, मुख की विवर्णता आदि का विचार करना चाहिये। क्योंकि रक्तस्रावादि उपद्रवों की आशङ्का रहती है। यदि नाड़ी मन्द रहे तो शुभ लक्षण है; परन्तु प्रसवोत्तर नाड़ीगति का तीव्र होना अनिष्टकर है और रक्तस्राव आदि की उपस्थिति हो सकती है।

वालोपचार—वच्चे के जन्म लेने के पश्चात् उसके सहज विकारों-खण्डोष्ठ (Cleft palate), वद्धगुद (Imperforate anus)-को देखे। यदि माता को पूयमेह रहा हो या इसका सन्देह हो तो वच्चे की आंखों में दो-दो बूंद १% के वने 'सिल्वर नाइट्रेट' द्रव को छोड़ देना चाहिये।

माता के उपचारों से निवृत्त होकर वालक के स्नान आदि का प्रवन्ध करते हैं। वालक के शरीर पर जैतून का तेल या मीठा तेल शरीर पर मल कर सावुन और गुनगुने जल से स्नान कराना चाहिये। तेल के लगाने से उसके शरीर पर लगा हुआ श्वेत मट्ठा जैसे पदार्थ उल्व (Vernixcaseosa) नरम हो जाता और सावुन से शीघ्र उतर जाता है। स्नान के समय वालक को चौड़े वर्त्तन में

रख कर, उसके सिर को किसी दूसरे के हाथ में देकर स्नान कराने से बड़ी सुगमता होती है। स्नान के पश्चात् बालक का शरीर तौलिये से सुखाना चाहिये और गर्म साफ कपड़े से आच्छादित कर देना चाहिये। फिर नाभिनाल को देखना चाहिये कि रक्तस्राव तो नहीं हो रहा है। फिर नाल पर अवचूर्णन (Dust) करके उसके चारो-ओर विशोधित वर्त्ति (Sterile gawze) रख कर उदर के ऊपर ऊर्ध्वमुख करके ऊपर पट्टी लगा देनी चाहिये जो बहुत कसी हुई न हो। इससे नाल का मूत्र के साथ संसर्ग नहीं हो पाता। प्राचीनों ने भी लिखा है कि—'नाल को सूत्र से बाँध कर गले से लटका देना चाहिये।' अब जांघों और नितम्बों पर भी चूर्ण छिड़क देना चाहिये। चूर्ण का योग इस प्रकार का है—'बोरिक एसिड १ भाग, 'जिंक आक्साइड' ३ भाग और मैदा (Starch) ६ भाग। इसके बाद बालक की शीत से रक्षा करनी चाहिये। पुनः स्नानादि कराने से शीत लगने का भय रहता है। नाभिनाडी भी पांच-सात दिनों में सूखकर गिर जाती है। आजकल अवचूर्णनों में शुल्वोषधियों के योग विशेषतः 'सिबैज़ाल' 'सल्फामेजाथीन' आदि का प्रयोग होता है जो नाभि को पकने से बचा देते हैं। वस्त्राच्छादित शिशु का भार लेना चाहिये, बाद में वस्त्र को अलग से तौल लेना चाहिये और बालक का ठीक भार प्राप्त करने के लिये कुल में से वस्त्र का भार घटा देना चाहिये।

बालक को जितनी जल्दी सुविधा हो स्तन पर लगाना चाहिये। पहले तीन दिनों तक तो दूध नहीं उतरता लेकिन इससे बालक को चूसने का अभ्यास हो जाता है। इस तरह स्तन पर लगाने से दूध भी जल्दी उतरेगा और गर्भाशय संकुचित भी शीघ्रता से होगा। प्रसव के पश्चात् आठ घण्टे के अन्दर सूतिका को मूत्रत्याग भी करना चाहिये।

आधार तथा प्रमाणसञ्चय—आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में सूतिकागार, प्रवेशविधि, तत्कालीन सम्भार द्रव्य, आवस्यिक उपचार तथा बालसङ्गोपन प्रभृति बातों का बड़ा विशद वर्णन मिलता है। पाठकों की सुविधा के लिये इन बातों क वर्णन एक स्वतन्त्र अध्याय रूप में ही किया जा रहा है। आधुनिक वर्णनों के संग्रह में कई वर्त्तमान प्रचलित पाश्चात्य विद्वानों के लिखे प्रसूति-शास्त्र के ग्रन्थों की सहायता ली गई है जिनमें 'शा' 'टेन टीचर' तथा जौन्स्टन मुख्य हैं।

पाँचवाँ अध्याय

आयुर्वेद-मतानुसार प्रसवोपक्रम

(Management of Labour according to ancient Indian System)

सूतिकागार—नवें मास से पूर्व ही गर्भिणी के लिए सूतिकागार तैय्यार होना चाहिए। जहाँ से अस्थि, कङ्कड़ तथा टूटे-फूटे मिट्टी के पात्रों के टुकड़े हटा दिये गये हों ऐसे स्वच्छ स्थान पर श्रेष्ठ रूप, एवं गन्धयुक्त भूमि पर पूर्व या उत्तर की ओर द्वार रखते हुए सूतिकागार बनाना चाहिए। बिल्व (बेल), तिन्दुक (तेंदु), इङ्गुदी (हिंगोट), भल्लातक (भिलावा), वरुण वा खदिर (खैर) की लकड़ी से आगार की रचना होनी चाहिए। इन काष्ठों के अतिरिक्त अथर्ववेद के ज्ञाता ब्राह्मण जिस-जिस काष्ठ को अच्छा कहें उससे सूतिकागृह बनवा सकते हैं। यह सूतिकागार शुभ्र वस्त्र, शुभ्र आलेपन, शुभ्र पिधान, शुभ्र आच्छादन और श्रेष्ठ गुणयुक्त किवाड़ या गवाक्ष (खिड़की, रोशनदान अथवा धूआं आदि के बाहर निकलने की जगह) से युक्त होना चाहिए। वास्तु विद्या के सिद्धान्तों के अनुसार अग्निस्थान, सलिलस्थान, उलूखलस्थान (जहां पर किसी द्रव्य को कूटा जा सके), वर्चःस्थान (पुरीषस्थान), स्नानभूमि, महानस (रसोई घर) आदि यथास्थान बनाना चाहिए। यह सूतिकागार ऋतु के अनुसार सुखकारी होना चाहिये।

सूतिकागृह मजबूत, निवात (जहां हवा का झोंका सीधे न लग सके) साथ ही हवा के एक ओर से आने का प्रबन्ध हो, स्थान उपत्यका-हीन हो, जिसमें गर्भिणी सुखपूर्वक चल-फिर सके। वहां पर धुआं, धूलि, धूप, जाकर बाधा न पहुँचा सके। इच्छा के प्रतिकूल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का प्रवेश नहीं होना चाहिए, वहां पर जलपात्र, ओखल, मूसल, पाखाना, स्नानागार और भोजनालय सूतिकागृह से ही लगे हुए ही बने हों। इस प्रकार के सूतिकागृह का कुशल वास्तुविद् (Engineer) के द्वारा पहले ही निर्माण करा लेना चाहिए। सूतिकागृह स्वच्छ, धुला हुआ, धूपित, ब्रह्मघोष से पूरित, वाद्यों से वादित और अलङ्कृत होना चाहिए।

वैद्य आदनी (घोषा), खदिर (खैर), कर्कन्धु (बेर), पीलु, फालसा इनकी शाखायें गृह के चारों ओर लटका दे। सूतिकागार के चारों ओर सब जगह सरसों, अलसी, चावल आदि के कणों को बिखेर दे। नामकरण के पूर्व अर्थात् दस दिन तक निरन्तर दोनों समय सायं-प्रातः तण्डुलबलि नामक मङ्गल होम किया जाय। द्वार में देहली के समीप एक मूसल टेढ़ा करके रखे। वच, कूठ, क्षौमक, हींग, सरसों, अलसी, लहसुन इनके कणों और कर्णिकाओं की तथा अन्य रक्षोघ्न द्रव्यों की पोटली बांधकर सूतिकागार की देहली पर ऊपर की ओर लटका दे। और उक्त द्रव्यों की ही पोटली प्रसूता और नवजात शिशु के गले में भी लटका दे। एवं स्थाली, जल के कलश और पलंग पर भी वे पोटलियां लटका देनी चाहिए। सूतिकागृह के अन्दर द्वार के दोनों पार्श्वों में चणकाम्ल के इन्धन की अग्नि नित्य प्रज्वलित रहनी चाहिए। पूर्वोक्त गुणवाली स्त्रियां जो सूतिकागार में हों दस या बारह दिन तक जागरण करें। एक न एक व्यक्ति को चाहिए कि कम से कम दस या बारह दिन तक प्रसूता व बच्चे की रक्षा के लिए जगता रहे। इन दस या बारह दिनों में उस घर में निरन्तर दान, मङ्गल कार्य, आशीर्वाद, स्तुति, गाना-बजाना आदि हो। वह घर पवित्र और खाने-पीने के पदार्थों से युक्त होना चाहिए। प्रेमी तथा प्रसन्न स्त्री-पुरुषों के आवागमन से वह घर भरा रहना चाहिए।

प्रवेशविधि—नवें मास के लगने पर शुभ दिन जब चन्द्र का योग प्रशस्त नक्षत्र के साथ हो, शुभकरण में, मैत्रमुहूर्त्त में, शान्ति-होम करके प्रथम गौ, ब्राह्मण, अग्नि और जल को प्रविष्ट कराकर गौओं को चारा-भूसा एवं जल तथा मधुयुक्त लाजा देकर और आसनों पर बैठे ब्राह्मणों को हाथ-मुख आदि धुलाकर आचमन करवाके अक्षत-पुष्प तथा नान्दीमुख-श्राद्धोपयोगी अथवा मृदङ्गाकृति खजूर आदि इच्छित एवं मंगल फल देकर और उन्हें अभिवादन करके पुनः आचमन के पश्चात् स्वस्तिवाचन करावे। तदनन्तर 'पुण्याहं' 'पुण्याहं' शब्द से अथवा मङ्गलसूचक शब्दों से गौ और ब्राह्मण के पीछे-पीछे प्रदक्षिणा करती हुई गर्भिणी सूतिकागार में प्रवेश करे और वहीं सूतिकागार में रहती हुई प्रसवकाल की प्रतीक्षा करे।

अग्रोपहरणीय द्रव्य या प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री—

१. सूतिकागार में घी, तेल, मधु, सेंधा, सोंचल और कालानमक, वायविडङ्ग, गुड़, कूठ, देवदारु, सोंठ, पिप्पली, पिप्पलीमूल, हस्तिपिप्पली, मण्डूकपर्णी, एला,

कलिहारी, चव्य, चित्रक, चिरविल्व (करंज), हींग, सरसों, लहसुन, जीरा, अरणी कदम्ब, अतसी, कालीमिर्च, भोजपत्र, कुलत्थ, मैरेय, सुरा, आसव प्रभृति ओषधियाँ रखी होनी चाहिये।

२. दो पत्थर, दो भारी मूसल, दो ओखली, गदहा, वैल, सोने और चाँदी की बनी दो सूइयाँ तथा उसके रखने का पात्र, तीक्ष्ण लौह के बने प्रसवकालोपयोगी शस्त्र तथा बेल की लकड़ी के बने दो पलङ्ग होने चाहिये। तिन्दुक (तेंदू) और हिंगोट का ईंधन होना चाहिये।

३. सूतिकागार में ऐसी स्त्रियों का रहना भी अभीष्ट है, जिन्हें बहुत वार प्रसव हो चुका हो (प्रसव के अनुभवी) या प्रसव कराया हो, जो मैत्रीभाव रखनेवाली हों, जो प्रसूता के अनुकूल आचरण करनेवाली या कर्म में दक्ष हों, जो युक्ति-कुशल, इशारे को समझने वाली और कर्मानुष्ठान में कुशल हों तथा जो स्वभाव से ही क्लेशसहिष्णु, विषादरहित और प्रियवादिनी हों—ऐसी स्त्रियों को रखना चाहिये।

४. इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के ज्ञाता प्रभृति अन्य कर्म-समर्थ आदमियों की भी व्यवस्था करनी चाहिये। ब्राह्मण तथा वृद्धा स्त्रियों के आदेशानुसार भी अन्यान्य उपकरणों का संग्रह सूतिका के लिये करना चाहिये।

प्रथमावस्था के कर्त्तव्य—१. जब आवी उत्पन्न हो तो नरम विछौना भूमि पर विछा दें। प्रसव करने वाली स्त्री उस पर लेट जाय या वैठ जाये। इस समय उपर्युक्त गुण वाली स्त्रियाँ चारों ओर से घेरकर मन को प्रिय लगने वाले और सान्त्वना देने वाले वचनों से आश्वासन देती हुई पास ही वैठी रहें या परि-चर्या करें। प्रसवकालीन वेदनाओं के पुनः पुनः होने से क्लेश पाती हुई प्रजायिनी स्त्री यदि तब भी प्रसन्न न हो तो उसे खड़ा होने को कहें। हाथों से मूसल पकड़ कर और उससे धान्यों से भरे हुए ओखली में चोट लगावे अर्थात् धान्य को कूटे और कूटते हुए वार वार जम्भाई लेने के समान शरीर को प्रसारित करे। बीच-बीच में इधर-उधर चले फिरे। कुछ लोग ऐसा उपदेश देते हैं। परन्तु भगवान् आत्रेय ने कहा कि गर्भिणी को कभी भी दारुण व्यायाम नहीं करना चाहिये विशे-षतः प्रसव के समय। क्योंकि उस समय सुकुमारी स्त्री के सब धातु और दोष अपने स्थान से हिले होते हैं। ऐसे समय में मूसल के अभिघातजन्य व्यायाम से

प्रेरित या प्रवृद्ध वायु अवकाश पाकर प्राणों का घातक हो जाता है। विशेषतः प्रसव के समय गर्भिणी स्त्री की चिकित्सा बड़ी ही कठिन होती है। अतएव ऋषि उस समय मूसल से कूटने को त्याज्य कहते हैं। परन्तु जृम्भण (जंभाई लेना वा इसके सदृश गात्र को प्रसारित करना) और चङ्क्रमण (चलना-फिरना) तो करना ही चाहिये। तदनन्तर प्रजायिनी को कुष्ठ, एला, कलिहारी, वचा, चित्रक, चिरविल्व (करञ्ज) इनका चूर्ण सूंघने के लिये दे। वह इस चूर्ण को बार-बार सूंघे। तथा भोजपत्र के धूएँ को अथवा शीशम के धूएँ को सूंघे बीच-बीच में कमर, पार्श्व, पीठ तथा उस पर घोवा तैल चुपड़कर धीरे-धीरे जैसे वह आराम अनुभव करे; मर्दन करे। इस कर्म से गर्भ नीचे की ओर जाता है उसकी गति अधोमुख हो जाती है।

२. गर्भोदक निकलने के उपरान्त उस गर्भवती में गर्भ नीचे आता हुआ जानकर कौतुक और मंगल कराकर, हाथ में अनार आदि पुँल्लिङ्ग फल लेकर, अच्छी प्रकार से तैलाभ्यङ्ग कराके गरम जल से स्नान करावे। पीछे से घृतयुक्त पेया पिलावे। विशेषकाल में रक्षा के लिये बाहु आदि में जो बन्ध बाँधा जाता है जिसे अनन्त कहते हैं जिसके नाम से अनन्त चौदस एक तिथि नियत है उसे कौतुक कहते हैं।

इसके पश्चात् स्त्री को कोमल भूमि शय्या पर टांगों को घुटनों से मोड़कर उत्तान लेटाकर बार-बार तैल का अभ्यंग करते हुए नाभि के नीचे मलना चाहिये। बार-बार जम्भाई लेना और जल्दी २ चलना आदि करावे। इस प्रकार करने से गर्भ नीचे को आता है; इसके लक्षण—हृदय से छूटने के कारण गर्भ जठर (उदर) में प्रविष्ट होकर वस्ति के ऊपर ठहरता है।

प्रसव के द्वितीयावस्था में कर्तव्य—

१. जब वैद्य यह जाने कि गर्भ हृदय को छोड़कर नीचे की ओर आरहा है, वस्ति सिर को पकड़ता है, आवी शीघ्रता करवाती है, (वेदनायें गर्भिणी को व्याकुल कर देती हैं) गर्भ नीचे की ओर परिवृत्त हो गया है, ऐसी अवस्था में उपस्थित-प्रसवा गर्भिणी को पलंग पर लेटाकर प्रवाहण करना आरम्भ करवायें। वे स्त्रियाँ जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त हैं और बिछौने के चारों ओर बैठी हुई आश्वासन (दिलासा) दे रही हैं—उसे शिक्षा दें—जब आवी (गर्भाशय से उत्पन्न होने

वाली वेदनायें) न हो उस समय प्रवाहण न करें। जब आवी शान्त हो उस समय प्रवाहण करना उचित नहीं। जो आवी से पूर्व प्रवाहण करती है उसका वह कर्म व्यर्थ ही हो जाता है अर्थात् उसे प्रसव की शीघ्रता में कोई सहायता नहीं मिलती अपि तु उसकी सन्तान विकृत हो जाती है अथवा श्वास, कास, शोष और प्लीहा रोग से युक्त होती है। जैसे छींक, डकार, वात, मूत्र और पुरीष के वेगों के न होने पर उन्हें प्रवृत्त करने के लिये प्रयत्न करनेवाले पुरुष को छींक आदि नहीं आती अथवा बड़े कष्ट से आती है उसी प्रकार काल से पूर्व गर्भ का प्रवाहण करने से प्रसव नहीं हो सकता या बड़े कष्ट से होता है। जैसे छींक आदि के वेगों का रोकना हानिकर होता है वैसे ही उपस्थित काल में गर्भ का प्रवाहण न करना भी दोषकर है। अतः गर्भवती को चिकित्सक के निर्देशानुसार प्रथम शनैः-शनैः प्रवाहण करना चाहिये उसके बाद अधिक बल से। जब स्त्री प्रवाहण कर रही हो तो उसके पास खड़ी स्त्रियाँ उसको उत्साहित करती हुई इस प्रकार कहें कि 'प्रसव हो गया, प्रसव हो गया, धन्य हो, धन्य हो, पुत्र हुआ है पुत्र।' इस कथन से प्रसन्नता से गर्भिणी के प्राण तृप्त हो जाते हैं।

२. जब आवियाँ शीघ्रता से आने लगें तो स्त्री को शय्या पर लेटा देवे। जब वायु के कारण गर्भ चारों-ओर से दबा रहा हो उस समय अभ्यङ्ग आदि से योनि को विस्तृत करें। जब तक गर्भ योनिमुख में न आये, तब तक मृदु स्वरूप का प्रवाहण करे पश्चात् प्रसव पर्यन्त् जोर-जोर से करे। स्त्री को बार-बार पुत्र जन्म के शब्द से, पानी से और वायु से प्रसन्न करते रहना चाहिये। प्रसव कष्ट से थके हुए प्राण इस प्रकार करने से फिर से नये हो जाते हैं। गर्भ की रुकावट हो जाने पर योनि का धूपन करे। इसके लिये काले सर्प की केंचुली का धुँवा दे। सुवर्णपुष्पी, सुवर्चला अथवा कलिहारी को हाथ-पैरों पर बाँधे। यही चिकित्सा अपरा के बाहर लाने में भी करे।

प्रसव की द्वितीयावस्था में वैदिक कर्म—

१. अनुकूल स्त्री प्रसव के समय में कान में इस मन्त्र का उच्चारण करे— 'पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, विष्णु, प्रजापति ये सभी तुम गर्भिणी की रक्षा करें और गर्भ को बाहर आ जाने की आज्ञा करें। हे शुभानने, तू क्लेशरहित होती हुई, कष्टहीन, नीरोग, कार्त्तिकेय-सदृश पुत्र को पैदा कर।'

२. हे भामिनि, तुम्हारे मन्दिर में अमृत, सोम, चित्रभानु, उच्चैःश्रवा अश्व निवास करें। ये सभी अमृत-मन्थन से उत्पन्न हुए देव, तुम्हारे गर्भ को लघु एवं मुक्त करें। अग्नि, वायु, सूर्य, वासव, लवणाम्बुधर तुम्हारी शान्ति का आदेश करें और सुखी होने का आशीर्वाद दें।

३. च्यवन-मन्त्र से सात बार का अभिमन्त्रित किया जल पीने से स्त्री को आराम के साथ प्रसव होता है।

तृतीयावस्था में माता के प्रति कर्त्तव्य—
अपरा-जरायु-पातनकर्म—

१. गर्भ-जन्म के पश्चात् गर्भाशय से न गिरी हुई अपरा आनाह और आध्मान करती है। अतः अपरा के पातन के लिये बालों से लिपटी हुई अङ्गुली से उसके कण्ठ में गुदगुदी पैदा करे। अथवा कड़वी तुम्बी, कड़वी तरोई, सरसों, साँप की केंचुली को कड़वे तेल में मिलाकर, उनसे योनि के मुख का धूपन करे। अथवा उसके हाथ-पैर के तलवे में लाङ्गली के जड़ के कल्क का लेप करे। अथवा उसके सिर पर सेहुण्ड के रस का सिञ्चन करे। अथवा मद्य या गोमूत्र के साथ कुष्ठ और लाङ्गली के मूल के कल्क को पिलावे। अथवा शालिमूल-कल्क या पिप्पल्यादि गण का चूर्ण मद्य के साथ पिलावे। अथवा श्वेतसर्सों, कुष्ठ, लाङ्गली, सेहुण्डक्षीर इनसे मिश्र सुरामण्ड का आस्थापन करे। अथवा इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध सिद्धार्थक तैल की उत्तरवस्ति दे। अथवा नाखून कटे हुए हाथ को स्निग्ध द्रव्य से स्निग्ध करके उससे निकाले।

२. लाङ्गली को जल के साथ पीसकर हाथ और पैर में प्रलेप करे—ऐसा करने से अपरा तुरत गिर जाती है इसमें कोई सन्देह नहीं। लाङ्गली-मूल को अच्छी प्रकार से धोकर जल के साथ पीसकर नाभि और योनि में प्रलेप करने से तुरत प्रसव हो जाता है।

३. जब गर्भ का प्रसव हो जाय तब उन परिचारिका स्त्रियों में से एक ध्यान से देखे कि अपरा बाहर आ गई है या नहीं, यदि अपरा बाहर न आई हो तो उनमें से कोई स्त्री अपने दाहिने हाथ से प्रसूता को नाभि के ऊपर के देश पर बल से दबा कर और बाएँ हाथ से पीठ पर पकड़ अच्छी प्रकार कँपा दे। उस प्रसूता की कमर पर एक स्त्री अपने पैर की एड़ी से दबावे या हल्की चोट लगावे।

उसके नितम्बों को हाथों से बलपूर्वक मींचे। बालों के गुच्छे से कण्ठ और तालु को स्पर्श करे। अङ्गुली पर बाल लपेट कर भी यह कार्य किया जा सकता है। इन कार्यों के करने से गर्भाशय के आकुञ्चनों के होने में सहायता मिलती है।

भोजपत्र, काचमणि (कांच) और सांप की केंचुली से उसके योनि का धूपन करे। वल्वज के यूष में, मैरेय या सुरामण्ड में अथवा कुलत्थ के क्वाथ में अथवा मण्डूकपर्णी या पिप्पली के सम्पक्व (दोनों के मिश्रित क्वाथ) में कुष्ठ और तालीसपत्र के कल्क को मिलाकर प्रसूता को पिलावे। तथा छोटी इलायची, देवदारु, कूठ, सोंठ, विडङ्ग, अगर, चव्य, पिप्पली, चित्रक, कालाजीरा, इन ओषधियों के कल्क को अथवा जीवित गदहे या बैल के दाहिने कान को काट कर शिला पर पीस कर उसे पूर्वोक्त किसी यूष में डाल कर पिलावे। यूष को अच्छी प्रकार से घोले, मुहूर्त्त भर पड़ा रहने दे फिर उसे निथार कर या छान कर पिलाना चाहिए। सौंफ, कूठ, मैनफल, हींग इनसे यथाविधि साधित तैल में पिचु भिगोकर योनि में रखे, इसी तैल से अनुवासन करावे।

पहले कहे गए वल्वज यूष आदि द्रव्यों में मैनफल, देवदाली, कड़वी तुम्बी, पीला घोषा, कड़वी तरोई, गजपिप्पली इन्हें मिश्रित कर आस्थापन वस्ति दे। यह आस्थापन वायु को अनुलोम कर देता है अतएव वात, मूत्र, पुरीष के साथ ही अन्दर रुकी हुई अपरा को भी बाहर निकाल देता है। अपरा के रुकने के साथ साथ बाहर निकलने वाले वायु, मूत्र, मल भी अन्दर ही रुक जाया करते हैं अर्थात् यदि अपरा न गिरे तो उसके साथ-साथ वायु, मूत्र और मल का अवरोध भी हो जाता है।

४. जिस स्त्री में गर्भ तथा अपरा मुक्त हो गई हो उसकी योनि तथा अङ्ग का मर्दन तैल से करना चाहिए।

५. अपरा को निकालने के लिए वैद्य के उपदेश से कोई कुशल स्त्री कटे हुए नख तथा घृताक्त हाथ से नाल का अनुसरण करते हुए हाथ को योनि के अन्दर ले जाय और अपरा को बाहर निकाल ले।

६. अजाता स्त्री को आश्वस्त कर उसको झुकी हुई सुला कर पीठ और कुक्षि का संवाहन करते हुए उदर का पीड़न करे जिससे गर्भदोष निकल जाय। पश्चात् बड़े विशोधित वस्त्र से कुक्षि और पार्श्व का वेष्टन कर देना चाहिए। इस क्रिया से उदर अपने स्थान पर चला जाता और वायु शान्त हो जाती है।

तृतीयावस्था में शिशु के प्रति कर्त्तव्य (बालोपचार)—

१. अपरा गिराने के लिये किये जाते हुए कर्म के साथ ही साथ दूसरी ओर शिशु के उत्पन्न होते ही ये कर्म करने होते हैं। शिशु के कानों की जड़ में अथवा कान के पास दो पत्थरों को टकरा कर बजाना चाहिये। शीतल या गरम जल से मुख पर छींटे देना चाहिये, इस प्रकार करने से शिशु प्रसव के क्लेश से पराहत हुए प्राणों को पुनः प्राप्त करता है। यदि शिशु अचेष्ट हो (हिलता, डुलता न हो, कोई चेष्टा न करता हो) तो कृष्ण कपालिका के बने सूप से बच्चे को तब तक पङ्खा करे जब तक प्राणों को पुनः नहीं प्राप्त कर लेता। कृष्ण कपालिका का अर्थ कुछ टीकाकार, काले रङ्ग के कपालरूपी सूप और कुछ शूर्पाकृति कपाल (घट—खर्पर) को काजल आदि से पोत कर काला किया मानते हैं। इसके द्वारा जहाँ बच्चे को हवा मिलेगी वहीं वह काले रङ्ग के पदार्थ को हिलता देख कर भीत होकर खुल कर रोवेगा या हिले—डुलेगा। और भी जो कर्म प्राणों के प्रत्यानयन के लिये अभीष्ट हो करने चाहिये।

२. जब बच्चे को होश आ जाय, श्वास—प्रश्वास ठीक चलने लगे, स्वस्थ हो जाय, तब स्नान करावें और मल—मार्ग की निर्मल जल से शुद्धि करे। शिशु के तालु, ओष्ठ, जिह्वा, कण्ठ को साफ करे। तालु की सफाई करने के पूर्व चिकित्सक को अपने हाथों के विशुद्ध कर लेना चाहिये। अङ्गुलि पर स्वच्छ रूई को लपेट कर बालक के मुख में अङ्गुलियों को फेरते हुए श्लेष्मा आदि का प्रमार्जन करना चाहिये। जब बच्चे का मुख साफ हो जाय तो तालु देश को ऊपर उठा कर (ब्रह्मरन्ध्र को) तैल से भीगे हुए रूई के पिचु से शिर के ब्रह्मरन्ध्र या तालु प्रदेश को ढक देना चाहिये अर्थात् तैल से तर कर देना चाहिये। तदनन्तर सैन्धवमिश्रित घी की मात्रा देकर बालक को वमन करवाना चाहिये इससे आमाशय और फुफ्फुस में स्थित श्लेष्मा निकल जायेगी।

३. उत्पन्न हुए बालक को उल्व (Vernix) को सैन्धव और घृत से साफ करके उसके शरीर पर बलातैल का अभ्यङ्ग करना चाहिये।

४. **नालच्छेदन**—जब साँस चलने लगे एवं बच्चा प्रकृतिस्थ हो जाय तो नाभिनाल को जहाँ पर उसका बन्धन है, उससे चार अङ्गुल ऊपर माप कर क्षौम-सूत्र (अतसी या रेशम का सूत) से बाँध कर तीक्ष्ण शस्त्र के द्वारा उसके ऊपर

से काट दे। फिर उसको एक सूत्र से बाँध कर गले से लटका दे। नाभि का कुष्ठ तैल के द्वारा सिञ्चन करता रहे।

५. यदि नाल ठीक प्रकार से न काटी जाय तो उसमें कई दोष आयाम, व्यायाम, उत्तुण्डित, पिण्डलिका, विनामिका, विजृम्भिका प्रभृति बाधायें हो जाती हैं। यदि इनमें से कोई विकार हो जाय तो उसकी गुरुता, लघुता आदि का विचार करते हुए, अविदाही, वातपित्त को शान्त करने वाले अभ्यंग, उत्सादन, परिषेक और घृतों की चिकित्सा करनी चाहिये।

६. बालक को शीतल जल से आश्वासित करके जातकर्म करने के बाद मधु और घृत के साथ सुवर्ण चूर्ण (भस्म) को अनामिका अङ्गुलि के द्वारा चटाना चाहिये। पश्चात् बलातैल की मालिश करके मन्दोष्ण क्षीरी वृक्ष के कषाय (क्वाथ) से, सर्वगन्ध द्रव्यों से संस्कारित जल से, तप्त किये हुए सोने-चाँदी के टुकड़ों से बुझाये जल से अथवा कैथ के पत्ते के कषाय से दोष-काल और सामर्थ्य के अनुसार बालक को स्नान करवाना चाहिये।

७. बालक को चटाने के लिये एक हरेणु की मात्रा में ऐन्द्री, ब्राह्मी, वच, शंखपुष्पी, घृत और मधु का उपयोग अथवा सुवर्ण, वच, ब्राह्मी, चांदी के चूर्ण (भस्म) का मधु और घृत से उपयोग अथवा सुवर्ण और आमलकी-चूर्ण का घृत और मधु से उपयोग करना चाहिये।

८. हृदयस्थ सिराओं के विवृत होने से तीसरे या चौथे दिन प्रसूता स्त्रियों के स्तन से दूध निकलने लगता है। अतः बालक पहले दिन में तीन बार अनन्ता-मिश्रित, मन्त्र से पवित्रीकृत घृत और मधु को चटाना चाहिये। इसी प्रकार द्वितीय दिन लक्ष्मणा से सिद्ध घृत और मधु चटावे। और तीसरे दिन भी पूर्वोक्त घृत ही चटावे। इस प्रकार बालक को स्तन्य-निषेध के पूर्व उसके पाणितल में जितना नवनीत आवे उतना प्रातः, सायं स्तन्यानुपान से प्रयोग करे।

९ इसके बाद बालक को रेशमी या अतसी वस्त्र (क्षौम) से ढककर क्षौम वस्त्र से ढके विस्तर पर सुलाना चाहिए। पीलु, बदरी, निम्ब, परूषक की टहनियों द्वारा बालक के ऊपर हवा करनी चाहिए। उसके सिर पर तैल का पिचु (फाया) बार-बार राखे-राक्षसघ्न धूपों से धूपन करें और रक्षोघ्न मन्त्रों द्वारा उसके हस्त, पाद, सिर और ग्रीवा का स्पर्श करना चाहिए। तिल, अतसी और सरसों के कणों

का प्रकिरण करना चाहिए। अधिष्ठान में अग्नि जलावें। तथा अन्य प्रणितोपासनीयाध्यायोक्त विधानों का भी उपचार करना चाहिए।

आधार तथा प्रमाण-संचय—

सूतिकागारम्—प्राक्चैवास्या नवममासात् सूतिकागारं कारयेत्, अपहृतास्थिशर्कराकपाले देशे, प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ प्राग्द्वारम् उदग्द्वारं वा बैल्वानां काष्ठानां तैन्दुकैङ्गुदकानां भाल्लातकानां वारुणानां खादिराणां वा। यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः शंसेयुरथर्ववेदविदः तद्वसनालेपनाच्छादनापिधानसम्पदुपेतं वास्तुविद्याहृदययोगाग्निसलिलोदूखलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसम् ऋतुसुखं च सेवयेत्। (च.शा.८)

प्रवेशविधि—ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगते प्रशस्ते भगवति शशिनि कल्याणकरे मैत्रे मुहूर्त्ते शान्तिं कृत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकञ्चादौ प्रवेश्य गोभ्यस्तृणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान् सुमनसो नान्दीमुखानि फलानीष्टानि दत्त्वोदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्तिवाचयेत्। ततः पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणमनुवर्त्तमाना प्रविशेत् सूतिकागारम्। तत्रस्था च प्रसवकालं प्रतीक्षेत। (च० शा० ८)

साधनसम्भारद्रव्याणि—(च. शा. ८)

प्रथमावस्थोपचारः—

> अथोपस्थितगर्भां तां कृतकौतुकमङ्गलाम्।
> हस्तस्थपुन्नामफलां स्वभ्यक्तोष्णाम्बुसेचिताम्॥
> पाययेत् सघृतां पेयां तनौ भूशयने स्थिताम्।
> आभुग्नसक्थिमुत्तानामभ्यक्ताङ्गीं पुनः पुनः।
> अधो नाभेर्विमृद्नीयात् कारयेज्जृम्भचङ्क्रमम्। (वा. शा. १)

द्वितीयावस्थोपचारः—स यदा जानीयात् विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति, वस्तिशिरोऽवगृह्णाति, त्वरयन्त्येनामाव्यः परिवर्त्ततेऽधो गर्भ इति। अस्यामवस्थायां पर्य्यङ्कमेनामारोप्य प्रवाहयितुमुपक्रामयेत्। ताश्चैनां यथोक्तगुणाः स्त्रियोऽनुशिष्युः अनागतावीर्मा प्रवाहिष्ठाः, या हि अनागतावीः प्रवाहयेत् व्यर्थमेवास्यास्तत्कर्म भवति, प्रजा चास्या विकृतिमापन्ना श्वास-कास-शोष-प्लीह-प्रसक्ता वा भवति, यथा-हि क्षवथूद्गार-वात-मूत्र-पुरीषवेगान् प्रयतमानोऽपि अप्राप्तकालान्न लभते कृच्छ्रेण वाऽप्यवाप्नोति। तथा नागतकालं गर्भमपि प्रवाहमाणा यथा चैषामेव क्षवथ्वादीनां

संधारणमुपघातायोपपद्यते ।' तथा प्राप्तकालस्य गर्भस्य प्रवाहणं सा यथानिर्देशं कुर्वचेति वक्तव्या । तथा च कुर्वती शनैः शनैः पूर्वं प्रवाहते ततोऽनन्तरं बलवत्तरं, तस्यां प्रवाहमाणायां स्त्रियः शब्दं कुर्युः 'प्रजाता प्रजाता धन्यं धन्यं पुत्रम्' इति तथाऽऽस्या हर्षेणाप्यायन्ते प्राणाः । (च. शा. ८)

द्वितीयावस्थायां कर्म—

कर्णे चास्या मन्त्रमिममनुकूला स्त्री जपेत् ।

क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः ॥
सगर्भां त्वां सदा पान्तु वैशल्यञ्च दिशन्तु ते ।
प्रसूष्व त्वमविक्लिष्टमविक्लिष्य शुभानने ॥
कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम् ।
इहामृतञ्च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि ॥
उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्ति ते ।
इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्री ॥
तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम् ।

(च. शा. ८)

जलं च्यावनमन्त्रेण सप्तवाराभिमन्त्रितम् । पीत्वा प्रसूयते नारी । (वृ. मा.)

तृतीयावस्थोपचारः—

अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत् कटुकालाबुकृतवेधनसर्षपसर्पनिर्मोकैर्वा कटुतैलविमिश्रैर्योनिमुखे धूपयेत्, लाङ्गलीमूलकल्केन वाऽस्याः पाणितलमालिम्पेत् ,। मूर्ध्नि वाऽस्या महावृक्षक्षीर-मनुसेचयेत्, कुष्ठलाङ्गलीमूलकल्कं वा मद्यमूत्रयोरन्यतरेण पाययेत्, शालमूलकल्कं वा पिप्पल्यादिं वा मद्येन, सिद्धार्थककुष्ठलाङ्गलीमहावृक्षक्षीरमिश्रेण सुरामण्डेन वा स्थापयेत्, एतैरेव सिद्धेन सिद्धार्थकतैलेनोत्तरबस्तिं दद्यात् स्निग्धेन वा कृत्तनखेन हस्तेनापहरेत् । (सु. शा. १०).

अथापतन्तीमपरां पातयेत् पूर्ववद्भिषक् ।
हस्तेनापहरेद्वाऽपि पार्श्वाभ्यां परिपीड्य वा ॥
धुनुयाच्च मुहुर्नारीं पीडयेद्वा सपिण्डिकाम्,
तैलाक्तयोनेरेवं तां पातयेद् मतिमान् भिषक् ॥ (सु. चि. १५)

धूपयेद्गर्भसङ्गे तु योनिं कृष्णाहिकञ्चुकैः ।
हिरण्यपुष्पीमूलं च पाणिपादेन धारयेत् ॥
सुवर्चलां विशल्यां वा जराय्वपतनेऽपि च ।
कार्यमेतत्तथोत्क्षिप्य बाह्वोरेनां विकम्पयेत् ॥
कटीमाकोटयेत् पार्ष्ण्या स्फिजौ गाढं निपीडयेत् ।
तालुकण्ठं स्पृशेद् वेण्या मूर्ध्नि दद्यात् स्नुहीपयः ॥
भूर्जलाङ्गलकीतुम्बीसर्पत्वक्कुष्ठसर्षपैः ।
पृथग्द्वाभ्यां समस्तैर्वा योनिलेपनधूपनम् ॥
कुष्ठतालीशकल्कं वा सुरामण्डेन पाययेत् ।
यूषेण वा कुलत्थानां बिल्वजेनासवेन वा ॥
शताह्वसर्षपाजाजीशिग्रुतीक्ष्णकचित्रकैः ।
सहिङ्गुकुष्ठमदनैर्मूत्रे क्षीरे च साधितम् ॥
तैलं सिद्धं हितं पायौ योन्यां चाऽप्यनुवासनम् ।
शतपुष्पावचाकुष्ठकणासर्षपकल्कितः ॥
निरूहः पातयत्याशु सस्नेहलवणोऽपराम् ।
तत्सङ्गे ह्यनिलो हेतुः सा निर्यात्याशु तज्जयात् ॥
कुशला पाणिनाऽक्तेन हरेत् क्लृप्तनखेन वा ।
मुक्तगर्भापरां योनिं तैलेनाङ्गं च मर्दयेत् ॥ (वा० शा० १)
प्रजातमात्रामाश्वास्य सूतां शुक्ला विजा (प्रसाविका)
न्युब्जां शयानां संवाह्य पृष्ठे संश्लिष्य कुक्षिणा ।
पीडयेद् घट्टमुदरं गर्भदोषप्रवृत्तये ।
महताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत् ।
तेनोदरं स्वसंस्थानं याति वायुश्च शाम्यति ।
(सूतिकोपक्रमणीये कश्यपः)

बालोपचारः—तस्यास्तु खल्वपरायाः प्रपतनार्थे कर्मणि क्रियमाणे जातमात्रस्यैव कुमारस्य कार्याण्येतानि कर्माणि भवन्ति तद्यथा—

अश्मनोः संघट्टनं कर्णयोर्मूले । शीतोदकेनोष्णोदकेन वा मुखपरिषेकः । तथा स क्लेशविहतान् प्राणान् पुनर्लभेत । कृष्णकपालिकाशूर्पेण चैनमभिनिष्पुनीयुः, यद्य-

चेष्टः स्याद् यावत् प्राणानां प्रत्यागमनम्। ततः प्रत्यागतप्राणं प्रकृतिभूतमभिसमीक्ष्य स्नानोदकग्रहणाभ्यामुपपादयेत्।

अथास्य ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाप्रमार्जनमारभेत, अङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधानया कार्पासपिचुमत्या प्रथमं प्रमार्जितास्यस्यास्य च शिरस्तालु कार्पासपिचुना स्नेहगर्भेण प्रतिच्छादयेत्। ततोऽस्यानन्तरं कार्यं सैन्धवोपहितेन सर्पिषा प्रच्छर्दनम्।

अथ कल्पनं नाड्यास्तस्याः कल्पनविधिमुपदेक्ष्यामः—

नाभिबन्धनात्प्रभृत्यष्टाङ्गुलमभिज्ञानं कृत्वा च्छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौक्मराजतायसानां छेदनानामन्यतमेनार्धधारेण छेदयेत्तामग्रे सूत्रेणोपनिबध्य कण्ठेऽस्य शिथिलमवसृजेत्। असम्यक् कल्पने हि नाड्या आयामव्यायाम-हुण्डिका-पिण्डलिका-विनामिका-विजृम्भिकाबाधेभ्यो भयम्। (च० शा० ८)।

अथ जातस्योल्वमपनीय मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य, घृताक्तमूर्ध्नि पिचुं दद्यात्। ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्। तत्सूत्रैकदेशञ्च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात्। (सु० शा० १०)।

अथ बालं क्षौमपरिवृतं क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, पीलुबदरीनिम्बपरूषकशाखाभिश्चैनं परिवीजयेत्, मूर्ध्नि चास्या अहरहस्तैलपिचुमवचारयेत्, धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः, रक्षोघ्नानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्ववसृजेत् तिलातसीकणांश्चात्र प्रकिरेत्। अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्, व्रणितोपासनीयाञ्चावेक्षेत। (सु. शा. १०)।

प्राश्यं चास्य प्रयोजयेत्।
हरेणुमात्रं मेधायुर्बलार्थमभिमन्त्रितम्॥
ऐन्द्रीब्राह्मीवचाशङ्खपुष्पीकल्कं घृतं मधु।
चामीकरवचाब्राह्मीताप्यपथ्या रजीकृताः॥
लिह्यान्मधुघृतोपेता हेमधात्रीरजोऽथवा।
गर्भाम्भःसैन्धववता सर्पिषा वामयेत्ततः॥ (वा० उ० १)

छठवाँ अध्याय

बहुपुत्रता या बहुगर्भता या बहुपत्यता

(Multiple Pregnancy)

जैसा कि पूर्व के अध्यायों में कहा जा चुका है कि जन्म के समय स्त्री के बीजकोष में ७२०० के लगभग अपक्व बीज होते हैं। इन में से स्त्री की गर्भधारण योग्य आयु में केवल ४०० तक बीज पक्व होकर बाहर आते हैं और उनमें से दस-बारह बीज सफल होते हैं। इस प्रकार असंख्य बीज तथा असंख्य शुक्राणु के होते हुए भी स्त्री में कई महीनों तक गर्भधारणा नहीं होती या गर्भधारणा होने पर प्रायः एक ही गर्भ का आधान होता है। इसका कारण यह है कि बाहर आये हुए बीज कई बार उदरगुहा में ही नष्ट हो जाते हैं सफल केवल वे ही होते हैं जो बीज-वाहिनी में आकर शुक्राणु के साथ मिलते हैं। अतः अनेक पक्वबीजों के बाहर आने पर भी उनके बीजवाहिनी में आने की असमर्थता होने के कारण बहुपत्यता उत्पन्न नहीं होती। जब अनेक पक्वबीज बीजवाहिनी में आवें और शुक्राणुओं के साथ संयोग करें तभी यह घटना उत्पन्न होती है। इस प्रकार दो स्वतन्त्रबीजों से उत्पन्न हुए यमल द्विबीजात्मक (Bino vular) और स्वतन्त्र बीजों से उत्पन्न हुए त्रिक (Triplets), चतुष्क (Quadruplets), पञ्चक (Quintlets), षट्क (Sexlets) अथवा अनेकबीजात्मक (Multiovulars) कहलाते हैं।

प्राचीनों ने बहुपत्यता का हेतु अपान वायु के द्वारा बीजों का विभजन होना बतलाया है। इनके विचार से प्रतिमास बीज का उत्सर्ग करना, उसको यथामार्ग बीजवाहिनी में ले जाना, गर्भ-उत्सर्ग प्रभृति सभी कार्य अपान वायु के द्वारा होते हैं। इसी आधार पर बीज का विभजन या बहुबीजता भी अपान वायु के द्वारा ही होती है; जिसके परिणामस्वरूप अनेक सन्तानें पैदा होती हैं।

दूसरे प्रकार की बहुपत्यता—एक ही बीज शुक्रसंयुक्त होने के बाद दो भागों में पूर्णतया विभक्त होने से (Complete Division) होती है। इसके भी पुनः दो भेद हैं (१) दो चित्केन्द्रयुक्त बीज से होनेवाले तथा (२) एक चित्केन्द्र युक्त बीज के शुक्राणु से संगम होने के बाद दो भागों में पूर्णतया विभक्त (Complete Dichotomy) होने पर होने वाले।

वहपत्यता का अभी तक निश्चयात्मक कारण नहीं विदित हो सका है तथापि आधुनिक वैज्ञानिक निम्न लिखित कारणों को सहायभूत मानते हैं—

(१) **कुलजप्रवृत्ति** (Inherited Tendency)–कुछ कुलजप्रवृत्ति वहुपत्यता में पाई जाती है। यह प्रवृत्ति स्त्री में अधिक होती है क्योंकि अनेक अपत्य होने का कार्य आखिरकार स्त्री-वीजगत प्रवृत्ति पर ही निर्भर रहता है; परन्तु यह प्रवृत्ति पुरुष के वीज में भी कभी-कभी दिखलाई पड़ती है। क्योंकि एक घर के कई भाइयों को युग्म हुए हैं। पुरुष के शुक्राणुओं में यह प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न होती है इसका भी सन्तोषजनक उत्तर देना कठिन है। क्यों कि प्रत्येक समय अनेक स्त्रीवीज को सफल करने के लिये पर्याप्त शुक्राणु योनि में प्रविष्ट होते हैं।

(२) इक्कीस से अट्ठाइस साल की आयु में युग्म अधिक होते हैं। साथ ही अधिक उम्र की स्त्री में प्रथम प्रसव में अधिक होता है।

(३) प्रसवक्रम—प्रथम प्रसव में युग्म होने की सम्भावना सबसे अधिक होती है। दूसरे प्रसव में सबसे कम और तीसरे से फिर धीरे-धीरे बढ़ने लगती है।

वहुपत्यता का प्रमाण—अनेक देशों के प्रसूतिगृहों के इतिवृत्तों का विचार कर हेलिन नामक शास्त्रज्ञ ने यह आनुमानिक नियम बताया है कि प्रत्येक अस्सी प्रसवों में एक युग्म (Twin) उत्पन्न होता है और प्रत्येक छः सहस्र प्रसवों में एक त्रिक (Triplet) उत्पन्न होता है, चतुष्क, पञ्चक और षट्क सन्तानें बहुत कम होती हैं। इस लिये इनके सम्बन्ध में नियम करना कठिन है। 'हेलिन' का सूत्र—'यमल ८० में एक, त्रिक ८० × ८० में एक तथा ८० × ८० × ८० में एक पञ्चक।'

देशप्रभाव—इसके अतिरिक्त जो देश जितना ही अधिक प्रसव करने वाला होता है, युग्मों की संख्या उस देश में उपर्युक्त प्रमाण से कहीं अधिक मिलती है। अर्थात् 'बहुप्रसव-राष्ट्रों में वहुपत्यता अधिक मिलती है'।

विशेषतायें—बहुगर्भता की स्थिति में मानवी सृष्टि में प्रायः त्रिक, चतुष्क, पञ्चक, षट्क गर्भ जीवित नहीं रहते या तो अकाल में स्रंसित होकर नष्ट हो जाते हैं अथवा उचित समय पर उत्पन्न होकर भी चिरजीवित नहीं हो पाते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसी घटनायें भी विरल ही मिलती हैं। इसके विपरीत यमल गर्भ (Twins) प्रायः बहुत मिलते हैं और चिरकाल तक जीवित रहते हैं। अतः यमल गर्भ का ही कुछ विस्तार से वर्णन नीचे दिया जा रहा है।

जैसा कि ऊपर में बतलाया जा चुका है कि युग्म या यमल दो प्रकार के होते हैं, द्विबीजात्मक (Bi-ovular twins) तथा (Uni-ovular twins) एक बीजात्मक इनमें द्विबीजात्मक अपत्यों का प्रमाण, एकबीजात्मकं की अपेक्षा छः से आठ गुना तक अधिक होता है। अर्थात् ९०% तक युग्म बालक द्विबीजात्मक होते हैं। इसके निम्न विशेष चिह्न मिलते हैं—

द्विबीजात्मक (अतुल्यबीजयम)

(१) दोनों का लिङ्ग एक या भिन्न-भिन्न हो सकता है।

(२) अपरा और गर्भ के आवरण दोनों स्वतन्त्र होते हैं।

(३) प्रत्येक गर्भ शुक्रसंयुक्त स्वतन्त्र बीज से उत्पन्न होता है।

(४) वृद्धि ठीक और समान होती है, दोनों का तौल समान होता है, और प्रायः दोनों का स्वास्थ्य ठीक रहता है।

(५) दोनों का प्रसव काल में होता है।

अतुल्यबीजयम तुल्यबीजयम
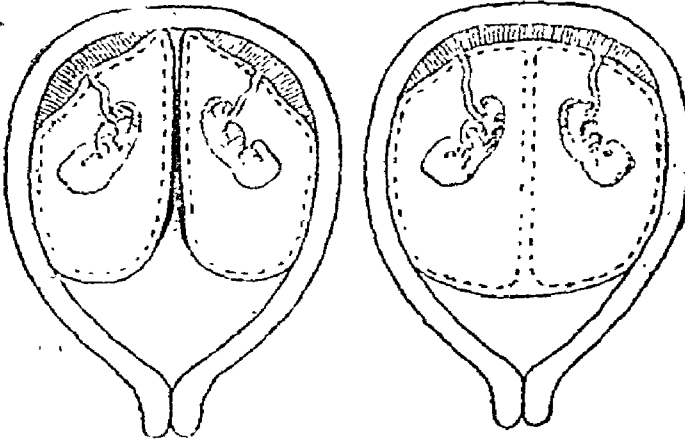
चित्र ६५

अपरा, वहिर्जरायु तथा अन्तर्जरायु पृथक् पृथक्

अपरा एक तथा वहिर्जरायु एक अन्तर्जरायु पृथक् पृथक्

एकबीजात्मक (तुल्यबीजयम)—(१) एकबीज से साधारणतया दो ही गर्भ होते हैं, परन्तु क्वचित् तीन भी हो सकते हैं।

(२) युग्म बालकों में एकबीजात्मक अपत्यों का प्रमाण बहुत कम होता है। द्विचित् केन्द्रात्मक बीज से होने वालों का प्रतिशत प्रमाण १२ और एकचित् केन्द्रात्मक बीज से होने वालों का ·८ होता हैं।

(३) दोनों अपत्यों का लिङ्ग एक होता है और प्रायः अपरा भी एक ही होती है।

(४) इनकी वृद्धि ठीक नहीं होती, कभी-कभी विषम वृद्धि होती है और इनका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं रहता। हीन और विषम परिमाण की वृद्धि के कारण एकबीजात्मक गर्भों में दो प्रकार के विकृत गर्भ मिलते हैं—

१. जब संसृष्टबीज पूर्णतया विभजित न हो।

२. विषम प्रमाण की वृद्धि होने से एक का सम्यक् पोषण नहीं हो पाता, दूसरे से पीडित होकर मर या सूख जाता है उन्हें उपशुष्कक या उपविष्टक (Fœtus Papyraceous or fœus Compressus) कहते हैं—

(५) इनमें समय के पूर्व ही प्रसव होने की सम्भावना रहती है।

निर्णय—यदि गर्भिणी का उदर साधारण से बड़ा दिखाई पड़े तो यमल गर्भ का सन्देह होता है। परन्तु इसकी भेदक परीक्षा गर्भोदकवृद्धि (Hydramnios) तथा विकृत गर्भ (Hadatidmole) से अवश्य करना चाहिये। निश्चित रूप से यमल गर्भ का निर्णय तभी हो सकता है जब हम दो सिर, दो स्फिक् तथा कम से कम एक पीठ का अनुभव कर सकें। यदि दो चिकित्सक दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर गर्भस्थ बालकों के हृदय-स्पन्दन सुन सकें और यदि इन दोनों स्थानों में हृदय-स्पन्दन की गति प्रतिमिनट समान न हो तो यमल गर्भ निश्चित जानना चाहिये।

यमल गर्भ का निर्णय अधिकतर प्रसव के समय होता है, जब कि एक बालक का जन्म हो जाने के पश्चात् भी गर्भाशय का आकार बड़ा ही रह जाता है।

'क्ष' किरण परीक्षा से सभी सन्देह दूर हो जाता और यमल की उपस्थिति का निश्चय हो जाता है।

गर्भावस्था—गर्भिणी को वमन अधिक होता है। मूत्राशय तथा मलाशय पर दबाव अधिक पड़ता है। गर्भाक्षेपक रोग (Eclampsia) तथा शुक्लमेह

(Albuminuria) का भय अधिक रहता है। प्रसव गर्भपूर्णता के पहले ही हो जाता है।

प्रसवोपक्रम में विशेषता—यमल गर्भ का प्रसव साधारण से भिन्न होता है। प्रसववेदनायें प्रबल नहीं होतीं। और देर-देर के पश्चात् होती हैं क्योंकि गर्भोदक की मात्रा अधिक होती है। इसका परिणाम यह होता है कि पहले बालक के जन्म में बड़ा विलम्ब होता है। एकबीजात्मक गर्भ में दोनों बालकों का रक्तसञ्चार एक ही अपरा के द्वारा होता है। इसलिये पहले बालक के जन्म के पश्चात् अवश्य ही गाँठ देकर नाल को काटना चाहिये—जिससे नाल से रक्तस्राव न हो क्योंकि इससे दूसरे बालक को जो अभी अन्दर है हानि पहुँचती है उसकी मृत्यु भी हो जाती है। जब पहले बालक का जन्म हो जाता है तो दूसरे बालक की गर्भोदक की थैली आगे आयेगी और प्रायः आधा घण्टे के अन्दर दूसरा बालक भी उत्पन्न हो जायेगा। यह स्मरण रखना चाहिये कि जब पहले बालक का जन्म हो जाय, तो दूसरे बालक का उदय देख लिया जाय कि वह ठीक है या नहीं। पन्द्रह मिनट तक दूसरे बालक की प्रतीक्षा करे, ताकि गर्भाशय को इस बीच के अवकाश में विश्राम भी मिल जाय। तत्पश्चात् यदि शीघ्र ही दूसरा बालक न पैदा हो, तो गर्भाशय को ऊपर से दबावें तथा 'पिच्युररीन' का त्वग्गत सूचीवेध से अन्तर्भरण करे। गर्भोदक की थैली न फटी हो तो उसका भेदन करे। यदि दूसरा बालक पार्श्वोदय में पड़ा हो तो गर्भाशय में हाथ डाल उसे घुमा दें और उसकी टांगों को पकड़ कर नीचे खींच ले सूतिका की सभी दशाओं में यदि दूसरा बालक पैंतालीस मिनट के अन्दर न पैदा हो तो संदंश से अथवा गर्भाशय को ऊपर से दबाकर (Suprapubic Pressure) देकर अथवा बालक को गर्भाशय में घुमा कर और टाँग खींचकर निकाल लेना चाहिये। जब वह पैदा हो जाय तो गर्भाशय को बाहर से मलते रहें ताकि प्रसवोत्तर रक्तस्रुति (Post partum hæmorrhage) न हो। जब दोनों अपरायें निकल जावें तो प्रसूता को 'अर्गट' के योग दें। अपरा का परीक्षण करें कि उसका कोई भाग अन्दर में शेष तो नहीं रह गया है।

गर्भावतरण—यमल गर्भों में दो समान और दो विपरीत अङ्गों के भेद से छः प्रकार के अवतरण पाये जाते हैं। जैसे—सिर, श्रोणि और पार्श्व के भेद से:—

एक ही साथ युग्म अङ्गों का निकलना
- (१) दोनों सिरों का अवतरण ४७·४%
- (२) दोनों श्रोणियों का अवतरण ८·४%
- (३) दोनों पार्श्वों का अवतरण ०·४%
- (४) एक का शिरोऽवतरण एक का श्रोणि अवतरण ३४·२%
- (५) एक का शिरोवतरण एक का पार्श्वावतरण ५·८%
- (६) एक का श्रोणि अवतरण एक का पार्श्वावतरण ३·६%

उपद्रव—

(१) पीडनजन्य लक्षण (Pressure Symptoms)—पादशोफ, अर्शः सिराकुटिलता, श्वासकृच्छ्र।

(२) गर्भज विषमयता (Pregnancy Toxaemia)—वमन की अधिकता, शुक्लीमेह, गर्भाक्षेपक आदि।

(३) गर्भोदक-वृद्धि (Hydramnios)—द्विबीजात्मक यमलों में अधिकतर मिलता है।

(४) द्वारस्था अपरा (Placenta Prævia)—विशालता के कारण फैला रहता है।

(५) अकाल प्रसव—पूर्णकाल से एक सप्ताह या पक्ष पूर्व ही यमलों का प्रसव होता है।

(६) वैकृतावरण (Malpresentation)

(७) परस्परासङ्ग (Inter locking)

(८) दीर्घ प्रसव (Prolong labour)—गर्भाशय की दुर्बलता और विकृत अवतरणों के कारण।

(९) आवी-प्रणाश (Inertia)—गर्भाशय की अतिविस्तृति से उसकी पेशियों का शैथिल्य होकर सङ्कोचन हीन बल के हो जाते हैं।

(१०) प्रसवोत्तर रक्तस्राव (Post Partum Hæmorrhage)—गर्भाशय-पेशीसूत्रों की दुर्बलता, अपरास्थल की विशालता, अपरा का दुर्बल गर्भशय्या में अवस्थान होने के कारण।

(११) विकृतगर्भ (Foetal malformation)

(१२) संक्रमण भय (Risk of sepsis) प्रसवकाल के लम्बे होने, प्रसव में हाथ आदि की सहायता के कारण संक्रमण पहुँचने का भय रहता है।

साध्यासाध्यता—जन्म के समय युग्म बच्चे बड़े ही कमजोर होते हैं—इनके जीवित रहने की सम्भावना भी कम रहती है। इनकी मृत्यु संख्या अधिक होती है, २० में एक का प्रमाण रहता है। माता के लिये भी ये अशुभसूचक ही होते हैं क्योंकि (१) आवीप्रणाश, गर्भजलातिवृद्धि आदि कारणों से तथा (२) प्रसवोत्तर रक्तस्राव (३) संक्रमण से संसृष्टि (४) शिशु की रक्षा के निमित्त किये गये उपचार प्रभृति कारणों से माता के लिये पूर्ण संकट की स्थिति रहती है।

परस्परासंग तथा उपचार—(Inter locking of twins) यमल के यंत्रित (Locked) होने के कारण प्रसव में अवरोध का होना बहुत कम पाया जाता है।

(१) यदि दोनों का शीर्षोदय हो रहा हो, और प्रथम के स्कन्ध के निकलने के पहले ही दूसरे का शीर्ष श्रोणिकंठ में प्रविष्ट हो जावे तो आपस में आसंग (Locking) हो जाता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न हो तथा गर्भाशय निरन्तर आकुंचन (Tonic retraction) की अवस्था में न हो, तो संज्ञाहरण करके, अवरोध पैदा करने वाले सिर को ऊपर की ओर ठेल कर पहले निकलने वाले वालक का संदंश से प्रसव करावे। यदि सफलता न मिले तो प्रथम निकलनेवाले वालक का शिरोभेदन करके (मार कर) दूसरे वालक का प्रसव कराना चाहिये।

यदि क्षकिरण के द्वारा निदान स्थिर हो चुका हो तो गर्भाशयभेदन (Caesarean section) के द्वारा प्रसव कराना सर्वोत्तम है। यह शस्त्र कर्म इस प्रकार की विपत्ति उपस्थित होने अथवा योनि द्वारा प्रसव का प्रयास करने के पूर्व ही करना चाहिये।

(२) *दूसरे प्रकार की यंत्रणा* (Locking) *उस समय उपस्थित* होती है जव पहला श्रोणि से उतर रहा हो एवं दूसरा सिर से निकल रहा हो। पहले का वाद में निकलनेवाला सिर दूसरे श्रोणिकंठ में लगे हुए सिर के द्वारा अँटक जाता है। इस प्रकार का सिर का विलम्ब से निकलना वालक के लिये सद्योघातक होता है; तथापि दूसरे वालक की सुरक्षा आवश्यक हो जाती है जव तक कि दूसरे के सिर को ऊपर की ओर शीघ्रता से नहीं ठेल दिया जाता, पहले के वालक का निश्चितरूप से मृत प्रसव ही होगा। यदि पहले का शिरश्छेदन (Decapitation) किया जाय

तो दूसरे का संदंश-कर्पण से प्रसव कराना चाहिये। अन्त में पहले को स्कन्धपीडन (Fundal pressure) या संदंश के जरिये निकाल देना चाहिये। नाभिनाल के पीडन से मृतप्राय प्रथम शिशु को ही मारना चाहिये दूसरे को सदैव बचाने की कोशिश करनी चाहिये।

अधिगर्भाधान—शुक्र तथा बीज की संसृष्टि की विचित्रता के अनुसार इस के दो प्रकार देखने को मिले हैं—तुल्य-ऋतुक तथा अतुल्य-ऋतुक।

तुल्य-ऋतुक अधिगर्भाधान (Super fecundation)—एक ही ऋतुकाल में दो स्त्रीबीज का, दो स्वतंत्र पुरुषबीजों से दो स्वतन्त्र संगमों में संसृष्ट होना, अर्थात् एक ही ऋतु काल में पहले समागम में एक बीज का उसके कुछ ही दिनों बाद दूसरे बीज का दूसरे से संगम 'संयोग' होना। इस प्रकार की गर्भस्थिति को तुल्य ऋतुक गर्भाधान कहते हैं। इस प्रकार के गर्भाधान कई पशुओं में मिलते हैं। मानवजाति में इन का पाया जाना सम्भव है कई एक ऐसे वृत्त (Records) मिले हैं, जिस में नीग्रो जाति की स्त्रियों में दो सन्तानें एक ही गर्भ से पैदा हुई जिन में एक गौर और दूसरा कृष्ण वर्ण का रहा। इनके पिता भी दो रहे एक गौर दूसरे कृष्ण वर्ण के। एक पिता से भी इस प्रकार युग्म (Twins) की संभावना रहती है यदि स्त्री कृष्ण जाति की और पुरुष गौर जाति का हो।

भिन्न-ऋतुक अधिगर्भाधान (Super foetation)—का अर्थ होता है—दो भिन्न-भिन्न ऋतुकालों में, मास या दो मास के अंतर से दो स्त्रीबीजों का दो स्वतन्त्र पुरुष बीजों के साथ संसृष्ट होकर यमल गर्भ की उत्पत्ति होना। इस के प्रमाण रूप में कई ऐसे प्रसव मिले हैं जिन में यमल सन्तानों के एक के जन्म लेने के कुछ महीने बाद दूसरे की पैदाइश हुई है। उनकी परिपक्वता के ऊपर विचार करने से ऐसा ज्ञात होता है कि गर्भाधान दो विभिन्न ऋतुओं में हुआ है। कोरे सिद्धान्त की दृष्टि से भी गर्भस्थिति के तीसरे मास तक, जब तक पहले गर्भ की वृद्धि प्रचुरपरिमाण में नहीं हुई रहती और गर्भाशय पूर्णतया भरा नहीं रहता; बीजागम (Ovulation) तथा गर्भाधान (Fertilization) की सम्भावना; पुरुष-समागम के द्वारा रहती है। यद्यपि इस प्रकार की संदिग्ध गर्भस्थिति को प्रमाणित करना बड़ा ही कठिन है, तथापि कुछ वैज्ञानिक इस अधिगर्भाधान को भी सम्भव मानते हैं। इनके विपक्ष में दूसरे वैज्ञानिक इस से सहमत नहीं हैं।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस प्रकार के अधिगर्भाधान का उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु वहुपत्यता का वर्णन जरूर मिलता है। वहुगर्भ के हेतु रूप में आचार्यों ने वायु को कारण माना है तथा 'शुक्र और आर्त्तव को वायु के द्वारा कई खण्डों (टुकड़ों) में विभाजित होने के परिणामस्वरूप खण्डों की संख्या के अनुसार मर्त्यजीव उत्पन्न होते हैं।' फलस्वरूप जितने खण्डों में विभाजित गर्भ होगा उतनी सन्तानें (युग्म, त्रिक, चतुष्क, पञ्चक, षट्क) पैदा होंगी।

'जव कलल को वायु दो भागों में वाँट देती है तो यमल या युग्म वालक का जन्म होता है ऐसा कृष्णात्रेय का वचन है।' यही वायु कलल का अनेक विभजन करके पशुवों में वहुपुत्रता पैदा करती है।

'वायु के कारण शुक्र और आर्त्तव के वहुत से विभजन होने से एक से अधिक सन्तानें उत्पन्न होती हैं'।

चरक ने वड़ी विशद और रोचक व्याख्या युग्मों के लिङ्गोत्पत्ति के सम्बन्ध में की है। जव शुक्र और शोणित मिश्रित वीज के वायु द्वारा दो विभाग हो जायँ और एक विभाग में रक्त की और दूसरे में शुक्र की प्रवलता हो तो कन्या और पुत्र (युगल) इकट्ठे उत्पन्न होते हैं।

जिस स्त्री के शुक्र-शोणितरूपी वीज में शुक्र की ही अधिकता या प्रवलता हो और उसके दो विभाग हो जायं तो दो पुत्र इकट्ठे पैदा होते हैं। अर्थात् विभक्त वीज के दोनों विभागों में शुक्र की प्रवलता होने से जो यमल उत्पन्न होगा वह पुत्रों का ही होगा। यदि रक्ताधिक वीज के दो विभाग हों, तो कन्याओं की जोड़ी उत्पन्न होगी। जव अत्यन्त प्रवृद्ध हुई वायु वीज को तीन, चार, पाँच प्रभृति विभागों में विभक्त कर देती है तव विभाग के अनुसार उतनी ही संख्या में अपने-अपने कर्माधीन सन्तानों का प्रसव होता है।

पूर्वजन्मकृत कर्म तथा विषमांश के भेद से वायु के द्वारा वीज के टुकड़े होते हैं। जितने विभागों में शुक्र की अधिकता होती है उतने पुत्र और जितने विभागों में रक्त की अधिकता होती है उतनी ही कन्यायें उत्पन्न होती हैं।

आधार तथा प्रमाण-सञ्चय—

१. शुक्रार्त्तवेऽनिलेन खण्डशो भिन्ने यथाविभागमर्त्यानामुत्पत्तिः। (अ. सं. शा. २)

२. यदा तु कललं वायुस्तद्द्विधा कुरुते बली ।
यमौ तदा संभवतः कृष्णात्रेयवचो यथा । (भे० सं० शा० १)

३. वायुना बहुशो भिन्ने यथास्वं बह्वपत्यता । (वा० शा० १)

४. रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण तेन द्विविधीकृतेन ।
बीजेन कन्यां च सुतं च सूते, यथास्वबीजान्यतराधिकेन ॥
शुक्राधिकं द्वैधमुपैति बीजं, यस्याः सुतौ सा सहितौ प्रसूते ।
रक्ताधिकं वा यदि भेदमेति, द्विधा सुते सा सहिते प्रसूते ॥
भिनत्ति यावद् बहुधा प्रपन्नः, शुक्रार्त्तवं वायुरतिप्रवृद्धः ।
तावन्त्यपत्यानि यथाविभागं, कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसूते ॥
कर्मात्मकत्वाद् विषमांशभेदात्, शुक्रासृजोर्वृद्धिमुपैति कुक्षौ ।
एकोऽधिको न्यूनतरो द्वितीय, एवं यमेऽप्यभ्यधिको विशेषः । (च० शा० २)

(Midwifery by Johnstone & Tenteachers)

सातवाँ अध्याय

विकृत अवतरण

(Abnormal Presentation)

स्वाभाविक शीर्षोदय के अतिरिक्त सभी अवतरणों के लिये अप्राकृत या विकृत शब्द का प्रयोग होता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शीर्षोदय सदैव प्रसव में आसान अथवा विकृत अवतरण हमेशा कठिन और कष्टप्रद ही होता है। कई विकृत अवतरणों में उदाहरणार्थ श्रोणि और मुखोदय में प्रसव अधिक सुभीते के साथ, माता और शिशु दोनों के लिये कष्टप्रद न होते हुए भी होता है।

विकृत अवतरणों का निर्णय हमेशा सरल नहीं होता और किस कारण से ऐसा होता है इसका भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ जरूर मिलती हैं जिनमें शीर्षोदय के अतिरिक्त ही किसी भी उदय की सम्भावना रहती है, विशेषतः उस दशा में जब कि सिर के श्रोणि के अन्तःद्वार में अवग्रहण में बाधा होती है।

एक औसत परिमाण के गर्भ की अपेक्षा उसके अधिक बृहत् या लघु होने से भी विकृत अवतरणों की अधिक सम्भावना रहती है। इसीलिये अपरिपक्व, मृत, शुष्क अथवा विकृत निर्मित (Malformed) तथा अद्भुत गर्भों में अधिकतर विकृत अवतरण मिलते हैं। गर्भोदक वृद्धि की स्थिति में भी गर्भ में चाञ्चल्य अधिक होने से अथवा उसके अपेक्षाकृत छोटे होने से विकृत अवतरण पाया जाता है।

किसी प्रकार का श्रोणिसंकोच, श्रोणि के अर्बुद अथवा अपरासंग भी शीर्ष के उदय में बाधा पहुंचाते हैं, फलस्वरूप कोई अन्य अंग उदय लेने को आगे बढ़ता है। गर्भाशय का अधिक मात्रा में तिर्यक् होना (Obliquity) सिर का श्रोणिकण्ठ में अवग्रहण न होकर उसकी विस्तृति हो जाती है जिससे उदय लेने वाला भाग ललाट या मुख हो जाता है। कई बार सिर जघनखात की ओर फिसल जाता है—जिससे स्कन्ध या अंस उदय लेने वाला भाग बन जाता है। इसी प्रकार गर्भाशय में एक से अधिक बच्चों की स्थिति होने पर भी कोई एक या दोनों उदय-सम्बन्धी विकृतियाँ पैदा हो सकती हैं।

पश्चिम अनुशीर्षासन

दक्षिण पश्चिम वाम

दक्षिण त्रिक् जघन संधि

वाम त्रिक् जघन संधि

दक्षिण व्यास

वाम तिर्यक्

तिर्यक् व्यास

दक्षिण श्रोणिकंकतिकोत्सेध पूर्व वाम श्रोणिकंकतिकोत्सेध
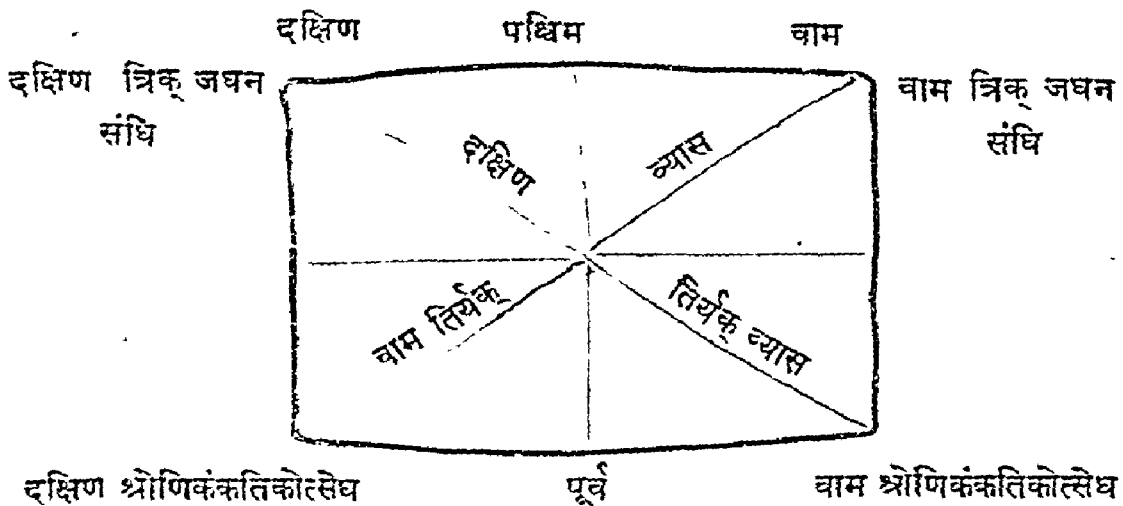
पश्चिमानुशीर्षासनों में वाम की अपेक्षा दक्षिण अधिकतर मिलता है, क्योंकि वामतिर्यक् की अपेक्षा दक्षिण तिर्यक् व्यास कुछ अधिक लम्बा होता है और इसी कारण सिर का लम्बा व्यास (मध्य सीमन्त) इस दक्षिण तिर्यक् व्यास में रहता है। दक्षिण अथवा वाम दोनों आसनों में गर्भ का आसन समान

ही रहता है केवल दिशा में वाम या दक्षिण शब्दों का अन्तर आ जाता है। उदाहरणार्थ यहाँ पर दक्षिण पश्चिमानुशीर्षासन (R. O. P.) की स्थिति समझाई जा रही है। प्रसव के आरम्भ में सिर का मध्य-सीमन्त लगभग दक्षिण तिर्यक् व्यास में रहता है, अनुशीर्ष (Occipit) दक्षिणत्रिक् जघन सन्धि के पास और वामश्रोणिकंकतिकोत्सेध (Left pectineal eminence) के पास या श्रोणिगवाक्ष (Obturator foramen) के सामने रहता है। गर्भ की स्थिति स्वाभाविक होती है, सिर शरीर पर झुका हुआ रहता है तथापि पूर्वानुशीर्षासनों की अपेक्षा झुकाव कुछ कम रहता है। इस झुकाव की कमी की वजह से, गर्भ के सिर का अवग्रहण (Engaged) श्रोणिकण्ठ में, प्रसव के पूर्व नहीं हो पाता। इसी कारण स्पर्शन परीक्षा से सिर अपेक्षाकृत अधिक बड़ा दीखता है और कई बार अनुपात-विपरीतता की भी शंका होने लगती है। यदि इस प्रकार का सन्देह उपस्थित हो तो श्रोणिमापन के द्वारा उसका निराकरण करना चाहिये।
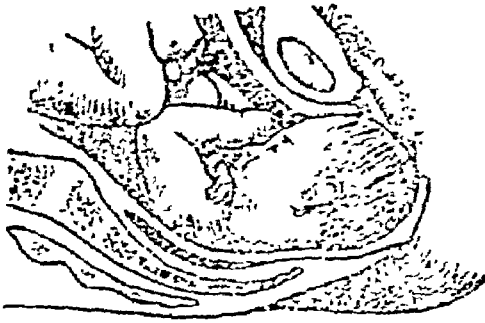
शीर्षोदय

चित्र ६६

दक्षिण पश्चिम अनुशीर्षासन

हेतु:

१. श्रोणिकण्ठ की आकृति-सम्बन्धी किंचित् परिवर्त्तन-विकृत आसनों का होना सम्भव है।
२. गर्भ की स्थिति-पृष्ठ वंश का पूर्णतया झुका हुआ न रहना।
३. अपरा की स्थिति-इसी की ओर गर्भ का सम्मुख वाला गात्र रहता है।
४. सिर का प्रतीपावर्त्तन (Malrotation or reveserotation)
५. अत्यावर्त्तन (Hyper rotation)।
६. अंसापवर्त्तन (Reverse rotation of shoulder)

साधारण निष्क्रमणविधि (पश्चिमानुशीर्षासनों में)—बच्चे के निकलते समय (Decent) निम्नलिखित गतियाँ पूर्ववत् होती हैं—

(१) सिर का झुकाव अधिक होना (Flexion)—जिससे अनुशीर्ष सबसे निचला भाग बन जाता है।

(२) अनुशीर्ष का अधिक घूम कर सामने की ओर मध्य रेखा में आना (Long internal rotation) यह घुमाव वृत्त (गोलाई) के $\frac{3}{8}$ भाग के बराबर की होती है। तथा इस प्रकार यह परिवर्त्तित होकर दक्षिण पूर्वानुशीर्षासन (R. O. A.) की स्थिति आ जाती है। इसके बाद वह निम्नलिखित गतियों से बाहर को निकलता है।

(३) प्रसारण—(Extension) सिर का सीधा होना।

(४) सिर का पूर्वावस्था में आना (Restitution)

(५) सिर का बाहर की ओर घूमना (Ext. Rotation)

विकृतनिष्क्रमण—(Abnormal mechanism) लगभग १०% पश्चिम अनुशीर्षासनों में सिर का झुकाव पूरा नहीं हो पाता। इसमें ललाट ही सबसे निचला भाग बनता है और आगे को घूम जाता है तथा अनुशीर्ष सामने को न घूमकर त्रिकास्थि की ओर म जाता है। गर्भ का लम्बा व्यास श्रोणि के अनुप्रस्थ व्यास में आ जाता है। गर्भ की गति अवरुद्ध सी हो जाती है—क्योंकि प्रसव की शक्तियाँ भी कमजोर हो जाती हैं।

ऐसी स्थिति में बिना सहायता के बालक का पैदा होना बड़ा कठिन हो जाता है। और अनुशीर्ष को अपने हाथ से या संन्दश से घुमाना पड़ता है, परन्तु कभी-कभी बिना सहायता के भी बालक का जन्म हो जाता है। उसकी निष्क्रमण विधि इस प्रकार की होती है—

पहले सिर का झुकाव अधिक हो जाता है और ललाट अथवा ज्यादातर ब्रह्मरन्ध्र के आगे का भाग भगसन्धानिका के नीचे स्थिर हो जाता है। पुनः सिर पीछे से घूमकर निकलता है। अर्थात् पहले शीर्ष फिर अनुशीर्ष भग से बाहर को क्रमशः निकलते हैं। अब मुख जो पहले भगसन्धानिका के पीछे रहा, वह भी नीचे को गिरता है। बाद की गतियाँ पहले की तरह ही होती हैं और अनुशीर्ष माता के दाहिनी ओर को घूमता है।

जब स्वयमेव ऐसा निष्क्रमण न हो तो सिर बाहर नहीं निकल सकता। इस स्थिति को सम्मूढ पश्चिमानुशीर्षासन (Persistent occipito Posterior position) कहते हैं। इसमें मूलधार के विदरित या क्षतयुक्त (Perineal tear) का बड़ा भय रहता है बालक का सिर भी चपटा हो जाता है। इसके अतिरिक्त यन्त्रादि की सहायता से प्रसव कराने की वजह से संक्रमण के पहुंचने का भी भय रहता है। साथ ही प्रसव में विलम्ब होने से शिशु के लिये हानिप्रद हो सकता है, यही कारण है कि पश्चिमासनों में पूर्वासनों की अपेक्षा पाँच से छः गुने तक मृत्यु संख्या रहती है।

सम्मूढपश्चिमानुशीर्षासन का कारण—शिर का अपूर्ण संकोच ही इस प्रकार की स्थिति पैदा करता है। शिर का अपूर्ण संकोच निम्नलिखित कारणों से होता है—

(१) गर्भ की अवस्थिति—पश्चिमानुशीर्षासन में गर्भ का उभरा हुआ पृष्ठ भाग माता के उन्नत कटिवंश की ओर रहता है। दोनों के उन्नत रहने से विपरीत अवस्थान के कारण गर्भ अपने पीठ को हमेशा सीधा किये हुए रखता है, जिससे सिर का पूर्णतया झुकना सम्भव नहीं होता।

(२) श्रोणिकण्ठ और गर्भसिर का सम्बन्ध—गर्भसिर का दीर्घतम अनुप्रस्थ व्यास (पार्श्व कापालिक)—जो पुर्वानुशीर्षासनों में त्रिकजघन सन्धि से भगसन्धानिका तक वाले व्यास में रहता है, वही व्यास पश्चिमानुशीर्षासनों में अपेक्षाकृत छोटे व्यास में जो त्रिकोष्ठ मध्य (Sacral promontary) से श्रोणिकङ्कन्तिकोत्सेध तक जाता है—इसमें लगता है। जिससे अवतरण काल में शिर का पीछे वाला भाग जो आगेवाले भाग की अपेक्षा बड़ा रहता है—सँकरे मार्ग से आते हुए (सिर और श्रोणिद्वार की वि. । हेतु) अवरुद्ध सा हो जाता है अथवा विलम्ब से बाहर निकलता है। सिर का सँकरा अग्रिम भाग अवरोध (Resistence) को आसानी से तै कर लेता और शीघ्रता से नीचे जाकर निम्नतर भाग हो जाता है। इस तरह भी सिर के पूर्व प्रसरण के कारण सङ्कोच की अपूर्णता ही रहती है। यदि सिर का श्रोणिकण्ठ में अवग्रहण न हो तो पूरे को प्रसार होने से मुखोदय की भी सम्भावना रहती है।

अननुपात—

(३) सिर का छोटा और श्रोणि का बड़ा होना—इससे मन्द प्रतिरोध होने पर भी गर्भ सिर का पूर्णतया सङ्कोच नहीं होता।

(४) **श्रोणितलभूमि-दौर्बल्य**—बहुप्रजाताओं में श्रोणितल भूमि (Pelvic floor) पूर्व के प्रसवों के कारण दुर्बल हो जाती है, फलतः वह निश्चेष्ट हो जाती है। इससे भी सिर पूरी तौर से सङ्कुचित नहीं हो पाता। इसी प्रकार आवी की दुर्बलता के कारण भी सिर का सङ्कोच पूर्णतया नहीं हो पाता।

पश्चिम अनुशीर्षासन का निर्णय—यदि प्रसव की प्रथमावस्था में बहुत विलम्ब हो गया हो और बालकका सिर नीचे की ओर हो तो पश्चिम अनुशीर्षासन का सन्देह करना चाहिये।

(१) **दर्शन परीक्षा**—कुछ विशेष पता नहीं चलता, केवल उदर किञ्चित् चपटा दिखलाई पड़ता है।

(२) **स्पार्शन परीक्षा**—

प्रथम स्पार्शन या प्रथमग्रह—गर्भाशय-स्कन्ध (Fundus) में बालक की श्रोणि (Breech) रहता है।

द्वितीयग्रह—बालक के हाथ-पैर सामने होंगे और पीठ माता के दाहिने पार्श्व में (Flank)।

तृतीयग्रह—बालक का सिर गर्भाशय के निचले भाग में होगा।

चतुर्थग्रह—बालक का ललाट माता के सामने और बाईं ओर होगा।

(३) **श्रवणपरीक्षा**—गर्भ का हृत्स्पन्दन सामने सुनाई न देगा। किसी-किसी रुग्णा में दहिने पार्श्व में सुन पड़ेगा, क्योंकि वहाँ की मांसपेशियों के मोटे होने से ध्वनि मन्द पड़ जाती है। यदि सिर पीछे की ओर अधिक झुका हुआ हो तो, बालक की छाती सामने की ओर उभरी हुई होने के कारण हृद्ध्वनि माता के सामने और बाईं ओर सुनाई देगी जैसा कि मुखोदय में होता है।

(४) **योनिपरीक्षा**—यदि मध्य सीमन्त, दक्षिण तिर्यक् व्यास में हो तो ब्रह्मरन्ध्र का सुगमता से अनुभव किया जा सकता है। क्योंकि सिर के पूरे तौर से न झुके रहने के कारण शिवरन्ध्र (Post. frontanalle) ऊपर को होता है। यदि इन क्रियाओं के पश्चात् भी उदय के निर्णय में सन्देह हो तो स्त्री को सार्वदैहिक संज्ञाहरण ('क्लोरोफार्म' आदि सुँघाकर) के द्वारा निःसंज्ञ करके, जीवाणुविरोधी और जीवाणुराहित्य का ध्यान रखते हुए हस्त को योनि में प्रविष्ट करके परीक्षा करनी चाहिए। पूरे हाथ को योनि में डाल कर भ्रूण के कानों का स्पर्श करने का

प्रयत्न करना चाहिये। इससे अनुशीर्ष या पश्चादस्थि की स्थिति का ज्ञान हो जाता है—क्योंकि यह भाग कर्णशष्कुली के पीछे की ओर रहता है।

योनिपरीक्षा से दो बातों का ज्ञान होना (१) गम्भीर अनुप्रस्थ निग्रह (Deep transverse arrest)—इसमें मध्य सीमन्त अनुप्रस्थ व्यास में पड़ा रहता है और दोनों रन्ध्र (ब्रह्म और शिव) दोनों पार्श्वों में मिलते हैं।

(२) दूसरी स्थिति एक और हो सकती है जिस में मध्य सीमन्त पूर्वापर (Antero-posterior) आगे से पीछेवाले व्यास में पड़ा रहे जिससे ब्रह्मरन्ध्र का अनुभव सामने की ओर किया जा सके इसी स्थिति को वास्तव में सम्मूढ पश्चिम अनुशीर्षासन (Persistent occipito posterior) कहते हैं।

उपचारसम्बन्धी कुछ आवश्यक सूचनायें—पश्चिमानुशीर्षासनों में हमेशा चिकित्सक के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रसव कर्म को प्रकृति के ऊपर छोड़ देना चाहिये—जब तक कि निश्चित रूप से कोई कारण न उपस्थित हो जाये, जिसमें चिकित्सक का साहाय्य नितान्त आवश्यक जान पड़े, हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इस बीच में रोगी के सम्बन्धियों को स्थिति की सूचना देकर उन्हें सतर्क कर देना चाहिये तथा रोगी को प्रोत्साहित करना चाहिये। साथ ही यह भी देखते रहना चाहिये कि रोगी का बलक्षय भी न होने पावे उसे हल्का पोषण देते रहना चाहिये। गर्भ की अवस्थिति को पूर्वानुशीर्षासन में बदलने के लिये बाह्योपचारों (Buist's pad etc) को बरतना चाहिये। प्रायः उपर्युक्त विधियों के अनुसार प्रसव प्रकृत भाव से हो जाता है।

चिकित्सक के हस्तक्षेप की नितान्त आवश्यकता निम्नलिखित अवस्थाओं में पड़ती है (१) माता में यदि क्लान्ति के चिह्न दिखलाई पड़ने लगें (२) हृत्स्पन्दनों की ध्वनि तथा गति के अनुसार यदि शिशु में क्लान्ति (Exhaustion) के चिह्न दिखलाई पड़े (३) श्रोणितल भूमि (Pelvic floor) पर पड़े हुए अनुशीर्ष में पर्याप्त समय निकल जाने के बाद भी यदि सामने की ओर घूमने के चिह्न न दिखलाई पड़ें (४) यदि अनुशीर्ष घूमकर पीछे की ओर त्रिकास्थि के गर्त्त (Hollow) में चला गया हो और ललाट सामने की ओर आ गया हो। आखीर वाली दोनों स्थितियाँ सम्मूढ पश्चिमानुशीर्षासन की हैं।

उपचार—उपर्युक्त प्रकार की स्थितियाँ प्रायः प्रसव की द्वितीयावस्था में मिलती

है यदि यह अवस्था तीन चार घण्टों से अधिक को हो—परन्तु कभी-कभी प्रसव की प्रथमावस्था में भी गर्भकोषपरासङ्ग (Inertia) प्रभृति कारणों से उत्पन्न हो सकती है। अतः चिकित्सक के बीच में पड़ने की आवश्यकता उपस्थित हो जाती है—उदाहरणार्थ-(१) यदि कई घण्टे बीत गये हों तथा प्रसव में प्रगति न हो रही हो और जरायु फटी न हो, ग्रीवा का विकास अपूर्ण हो, श्रोणिकण्ठ में सिर का ग्रहण न हो पाया हो। फलतः चञ्चल हो तो इस अवस्था में गर्भकोष-परासंग (Uterine inertia) समझें और उसकी चिकित्सा रोगी को पूर्ण विश्राम, निद्रा तथा शामक योगों को देकर करना चाहिये। इस अवस्था में प्रसव कराने में कृत्रिम साधनों का व्यवहार निषिद्ध है। हाँ उदराकर्षण (Abdominal manipulation) के जरिये बीच-बीच में गर्भ की अवस्थिति को पूर्वासनों में

दक्षिण पश्चिम अनुशीर्षासन में हाथों के द्वारा विवर्त्तन
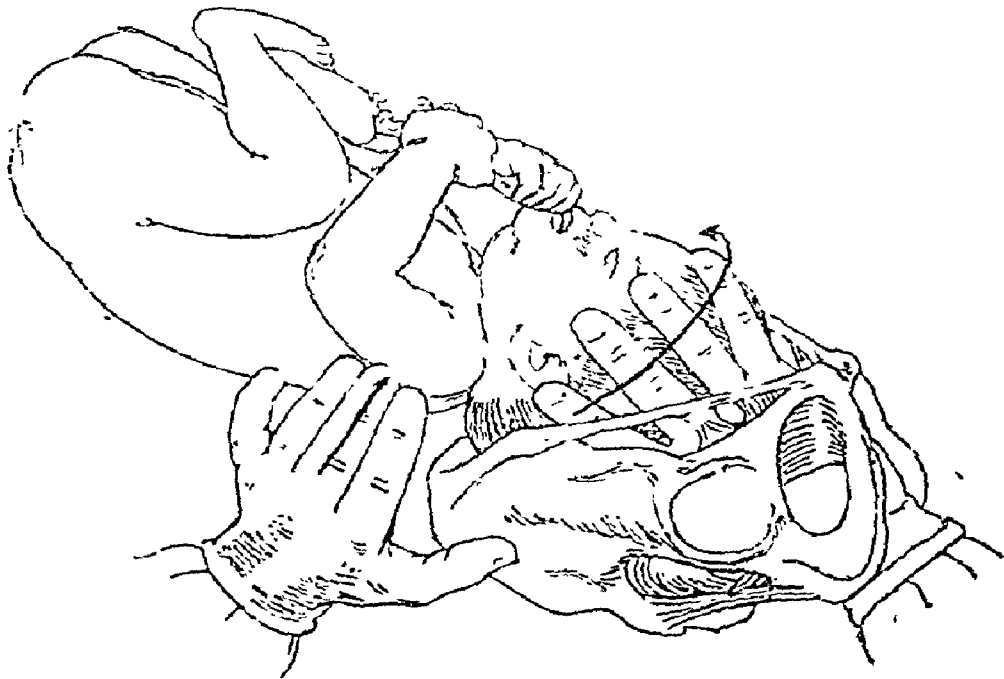
चित्र ६७

करने का यत्न करते रहना चाहिये। कई बार रुग्णा की स्थिति मात्र में ही परिवर्त्तन कराने से ही यह काम हो जाता है। इसमें माता को उसी करवट पर लेटना चाहिये जिधर गर्भ की शाखायें (पैर और हाथ) पड़ती हों। इस प्रकार

लेटने से गर्भाशय का यदि किञ्चित् तिरछापन हो तो ठीक हो जाता है, सिर अधिक झुक जाता है—जिससे प्रसव शीघ्रता से होता है। (२) यदि प्रसव में इसी प्रकार विलम्ब हो रहा हो, जरायु फट गई हो; परन्तु ग्रीवा पूर्णतया न विकसित हो, सिर का ग्रहण न हो पाया हो तो गर्भाशयमुख को हाथ के सहारे चौड़ा किया जा सकता है। पुनः (क) सिर को हाथ के सहारे विवर्त्तित (घुमा) कर नीचे की ओर इसी स्थिति में उसको दबाना चाहिये और कुछ देर तक प्रतीक्षा करनी चाहिये जिसमें प्राकृतिक वेग से बाहर निकल जावे। (ख) संदंश का प्रयोग भी कर सकते हैं।

(३) **द्वितीयावस्था**—ग्रीवा पूर्णतया विकसित हो और तीन घण्टे तक प्रतीक्षा के बाद भी प्रसव में प्रगति न दीखे तो चिकित्सक के हस्तक्षेप की आवश्यकता होती है। हस्त-विवर्त्तन अथवा संदंश-विवर्त्तन या संदंश-प्रसव कराना ही सर्वोत्तम उपाय है।

हाथ से विवर्त्तन करना (सिर का हाथ से घुमाना)—पहले रोगी को निःसंज्ञ कर ले, पश्चात् जीवाणुराहित्य (Asepsis) का भूरिशः ध्यान रखते हुए हाथ योनि में डाले। फिर गर्भसिर को अंगूठे और अङ्गुलियों के बीच पकड़े और उसे छाती पर आहिस्ते से झुकाने का प्रयत्न करे। यदि प्रसव में बहुत विलम्ब न हुआ हो तो सिर को श्रोणिकण्ठ के नीचे दबाना भी हितावह होता है। परन्तु यदि प्रसव में बहुत देर हो गया हो तो ऐसा करने से अधोगर्भशय्या की पतली दीवाल पर जोर पड़ कर हानि की सम्भावना रहती है। पश्चात् सिर का इस तरह विवर्त्तन (Rotation) करना चाहिये कि अनुशीर्ष घूम कर सामने की ओर मध्य रेखा में आ जाये। यह विवर्त्तन इस प्रकार का हो कि दक्षिण पश्चिम अनुशीर्षासन वाम पूर्व अनुशीर्षासन की स्थिति में आ जावे।

इस प्रत्यक्ष विवर्त्तन की क्रिया के साथ ही साथ दूसरे हाथ को उदर पर रख कर उसके जरिये बाहर से ही गर्भस्थ शिशु के स्कन्ध अथवा स्फिक् को भी सिर के साथ ही घुमाना चाहिये। यदि सिर के विवर्त्तन के साथ ही इन अवयवों का विवर्त्तन न किया जाय तो हाथों के हटाते ही सिर अपनी पूर्वावस्था को लौट आता है। सिर के सम्यक् प्रकार से विवृत्त हो जाने पर प्रजायिनी के उदर पर एक बड़े

वस्त्र का परिवेष्टन कर देना चाहिये। फिर प्रसव को (अपने आप) होने को छोड़ दे अथवा संदंश के सहारे प्रसव करावे।

संदंश-विवर्त्तन (Rotation by forceps)—हस्त-विवर्त्तन की विधि से सफलता न मिलने पर ही संदंश से उपचार करना चाहिये। क्योंकि सिद्धहस्त व्यक्तियों के द्वारा प्रयोग किये जाने पर भी संदंश-प्रसवों में योनिविदारण या गर्भसिर के अभिघात आदि की सम्भावना रहती है। जब गर्भाशय-मुख पूर्ण रूप से विवृत हो गया हो, तब विधिपूर्वक संदंश-फलकों को प्रविष्ट करके, सिर को पकड़ कर धीरे-धीरे श्रोणिकण्ठ की ओर उसको दबाना चाहिये। विलम्बित प्रसवों में इसका प्रयोग न करे क्योंकि अधोगर्भशय्या (Lower uterine segment) के विदारित होने का भय रहता है। फिर सावधानी के साथ यन्त्र को आसन्न के अनुसार दाहिने या बायें घुमाना चाहिये जिससे अनुशीर्ष आगे और सामने की ओर आ जावे। इस समय में सहायक को चाहिये कि वह उदर पर हाथ रखकर शिशु के कन्धे को घुमाने का पहले ही जैसे प्रयत्न करे। फिर गर्भसिर को धीरे-धीरे नीचे की ओर श्रोणि में खींचे। सहायक फिर इस समाकृष्ट सिर को सन्धानिका के ऊपर हाथ करके स्थिर करे (पकड़ा रहे)। इस प्रक्रिया में संदंश के फलक उल्टे हो जाते हैं उनके अग्र (Tips) मलाशय की ओर हो जाते हैं। इसलिये इन्हें निकाल कर बाहर कर लेना चाहिये। निकाल कर तुरन्त ही फिर उन्हें योनि से यथाविधि प्रविष्ट करना चाहिये एवं गर्भ को निकालना चाहिये। विवर्त्तन कर्म में यन्त्र के हस्तदण्ड (Handles) को यथासम्भव एक बड़े वृत्त के चाप के रूप में घुमाना चाहिये, इससे फलकाग्र लघुतम वृत्त के चाप के परिमाण में घूमता है। इस प्रकार गर्भाशय ग्रीवा या योनि के विदार का भय अल्प हो जाता है। संदंश के प्रयोग में एक और बात का ध्यान रखना चाहिये कि यदि सम्भव हो तो सिर को झुका दें। अन्यथा इस विवर्त्तन क्रिया में सिर के अधिकाधिक सीधे होने का भय रहता है जिससे श्रोणि में गर्भसिर का बड़ा व्यास लग जाता और प्रसव में अधिक विलम्ब हो जाता है।

यदि संदंश लगाकर खींचने पर सिर अपने आप घुमने लग जाय तो संदंश को उतार लेना चाहिये और सिर को अपने आप घूमने का अवसर देना चाहिये

केवल गर्भाशय स्कन्ध का पीडन करके सिर को श्रोणितल पर रखने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

यदि किसी प्रकार से भी सिर सामने की ओर न घुमाया जा सके तो वैसे ही सिर को बलपूर्वक सम्मूढ पश्चिमासनों में खींचना पड़ता है। बलपूर्वक खींचने में मूलावदरण (Perineal tear) का बहुत बड़ा भय रहता है। क्योंकि ऐसा करने से सिर का लम्बा व्यास श्रोणि के बहिर्द्वार पर आ जाता है। ऐसी दशा में मूलपीठन भेदन (Episiotomy) करना बड़ा लाभप्रद होता है। इस क्रिया से द्वार का परिणाह बढ़ जाता है और यत्नपूर्वक बालक का निर्हरण किया जा सकता है। यदि गर्भ का बच्चा मृत हो गया हो तो संदंश विवर्त्तन या मूलपीठ-भेदन कर्म की अपेक्षा शिरोवेधन (Craniotomy) नामक शस्त्रकर्म के द्वारा उसका आहरण करना चाहिये। इस क्रिया से माता को अल्पतर क्षति पहुंचती है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में पश्चिमासनों में प्रसव के विलम्ब को देखते हुए गर्भशल्य के निर्हरण के लिये प्रवाहण की एक विशेष विधि का उल्लेख मिलता है 'उत्कुटुकासन पर प्रसव करने वाली स्त्री को बैठकर प्रवाहण एवं प्रसव करना'। सम्भवतः इस क्रिया से गर्भ के अवतरण, गर्भसिर के झुकने, विवर्त्तन (घूमने) प्रभृति क्रियाओं में सुविधा आ जाती है। इस आसन से सफलता भी मिलती है।

पश्चिमासनों में सिर का रूपण मुड़ना-(Moulding) अनुशीर्षनासामूलिक व्यास छोटा हो जाता तथा अनुशीर्षाधर ब्रह्मरन्ध्रिक व्यास दबाव के कारण बढ़ जाता है। सिर ऊपर की ओर लम्बा हो जाता है। उपशीर्ष ब्रह्मरन्ध्र पर बनता है। उसका आकार अण्डाकार न रहकर वर्गाकार हो जाता है।

मुखोदय (Face Presentation)

जब सिर का पूर्णतया प्रसार हो जाता है, जो गर्भ का मुख नीचे की ओर हो जाता है और वह श्रोणि में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार गर्भस्थ शिशु का सिर पीछे की ओर घूम जाता है, उसकी छाती सामने को उभर जाती है और पीठ धनुषाकार हो जाती है। जिससे अनुशीर्ष ग्रीवा पृष्ठ को स्पर्श करने लगता है और चिबुक (दाढ़ी) वक्ष से पृथक् होकर सामने की ओर उभर जाता है। इस स्थिति में उदय होना मुखोदय कहलाता है।

मुखोदय
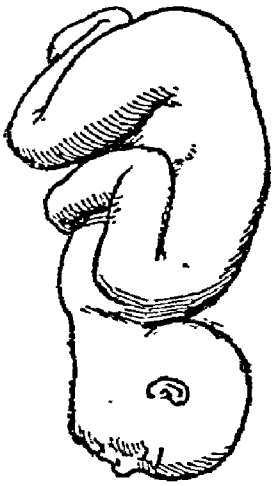
चित्र ६८

प्रमाण—प्रति तीन सौ प्रसवों में एक प्रसव मुखोदय का होता है। बहुप्रजाताओं में अपेक्षाकृत कुछ अधिक देखने को मिलता है क्योंकि इनमें उदर की प्राचीरें अधिक शिथिल होती हैं। मुखोदय प्राथमिक रूप (Primary) में नहीं मिलता हमेशा ही औपद्रविक (Secondary) पाया जाता है क्योंकि प्रसवकाल में सिर के प्रसार के कारण ही ऐसा होता है।

हेतु—जो जो कारण सिर के प्रसारण में सहायक अथवा संकोच में बाधक होते हैं अथवा जिन कारणों से शीर्ष का ग्रहण श्रोणियों में सरलता से नहीं हो पाता वे सभी मुखोदय में हेतुभूत होते हैं। उदाहरणार्थ—

प्रसव के प्रारम्भ (Primary) होने के पूर्व यदि गर्भ का मुख नीचे को हो, तो निम्नलिखित कारण हो सकते हैं—

१. ग्रीवा के सामने गलगण्ड या अर्बुद का होना।

२. माता के श्रोणिकण्ठ (Brim) के समीपवर्त्ती अर्बुद का होना।

३. ग्रीवा और पृष्ठ की पेशियों का स्तम्भ होना (Spasm)।

४. हनु या चिवुक के नीचे भुजाओं का मुड़ा हुआ होना।

५. ग्रीवा पर नाभिनाल का परिवेष्टित (लिपटा) होना।

६. उरस्तोय (Hydrothorax) का होना।

७. सिर का बहुत बड़ा होना।

प्रसवारम्भ के बाद (Secondary) मुखोदय होने के निम्न कारण होते हैं—

१. संकुचित श्रोणि (Contracted pelvis)।

२. सामने या पीछे की ओर गर्भाशय का वक्रीभूत (Obliquity of the uterus) होना।

३. उद्गत अनुशीर्ष (Dolichocephalic head) सिर का बहुत लम्बा होना।

(ऐसी स्थिति सहज भी हो सकती है या अस्थियों के मुड़ाव के कारण भी हो सकती है।)

उदर का आगे की ओर लटका हुआ होना (Pendulum belly)। उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त भी कई अन्य हेतु हैं जिनसे न केवल मुखोदय प्रत्युत अन्य विकृत अवतरण भी सम्भव है—

१. गर्भोदकातिवृद्धि (Hydramnios)।

२. गर्भ की अपूर्ण वृद्धि (अपुष्ट गर्भ, मृत गर्भ)।

३. अद्भुत गर्भ (Monstors) या यमल गर्भ।

४. गर्भाशय के अर्बुद।

५. पुरःस्था अपरा (Placenta Preavia)।

आसन—मुखोदय में चिबुक की स्थिति के अनुसार चार आसन होते हैं—

१. दक्षिण पश्चिम चिबुकासन (Right mento posterior)।

२. वाम पश्चिम चिबुकासन (Left mento Posterior)।

३. वाम पूर्व चिबुकासन (Left mento anterior)।

४. दक्षिण पूर्व चिबुकासन (Right mento anterior)।

इनमें तीसरी और चौथी स्थिति अपेक्षाकृत अधिक पाई जाती है क्योंकि इनका उद्भव पश्चिमानुशीर्षासनों से ही होता है, जिनमें संकोच का अभाव प्रायः रहता है। कुछ लोगों के अनुसार प्रथम और तृतीय की बहुलता पाई जाती है।

दक्षिण पश्चिम चिबुकासन (R. M. P.)—यह वाम पूर्वानुशीर्षासनों का सिर के प्रसारण के कारण होने वाली अवस्था है। इसमें ललाट चैबुक व्यास श्रोणिकण्ठ के दक्षिण तिर्यक् व्यास में, चिबुक दक्षिण त्रिकजघन सन्धि के पास और ललाट भाग वाम श्रोणि गवाक्ष के समीप (Left obturator foramen) रहता है।

वाम पश्चिम चिबुकासन (L. M. P.)—दक्षिण पूर्वानुशीर्षासन का यह एक परिणाम विशेष है। इसमें ललाट चैबुक व्यास वाम तिर्यक् व्यास में, चिबुक वाम त्रिकजघन सन्धि के पास और ललाट दाहिने श्रोणि गवाक्ष के सम्मुख लगता है।

वाम पूर्व चिबुकासन (L. M. A.)—दक्षिण पश्चिमानुशीर्षासन का ही शिरः-प्रसारण के कारण होने वाला रूपान्तर है। इसमें ललाट चैबुक व्यास श्रोणि के दक्षिण तिर्यक् व्यास में, चिबुक वाम श्रोणिगवाक्ष के पास और ललाट भाग दक्षिण त्रिक-जघन सन्धि के पास रहता है।

दक्षिणपूर्वचिबुकासन (R. M. A.)—वामपश्चिमनुशीर्षासन का ही यह एक परिणाम है। इसमें ललाट चैबुक व्यास श्रोणि के वाम तिर्यक् व्यास में, चिबुक दक्षिण श्रोणि गवाक्ष के समीप और ललाट वाम त्रिक्–जघन सन्धि के समीप पाया जाता है।
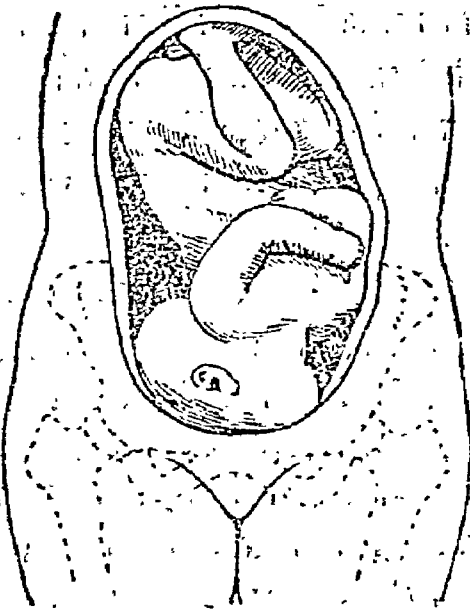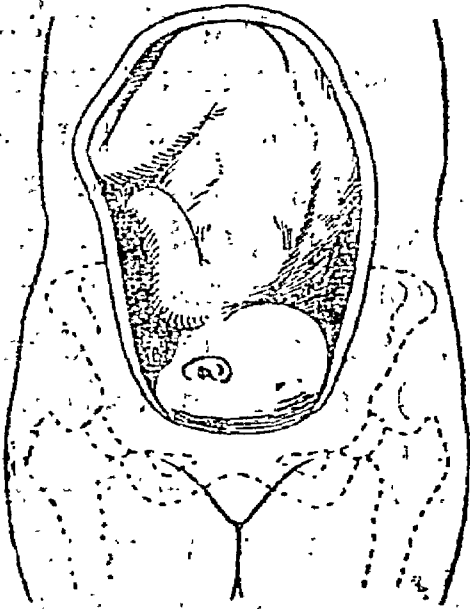
चित्र ६९ दक्षिणपश्चिम चिबुकासन चित्र ७० वामपूर्व चिबुकासन

निर्णय–उदरपरीक्षा—उदर का स्पर्श करने से सिर उसी ओर को मिलता है—जिधर पीठ अर्थात् सिर पृष्ठ एक ही ओर को मिलते हैं। गर्भाशय के उर्ध्व भाग में नितम्ब रहता है। पीठ का अनुभव नितम्ब के समीप में ही होता है। नितम्ब और सिर के बीच में गर्त्त ((Gap) सा मिलता है। यदि पीठ पीछे को हो तो गर्भ के हाथ–पैरों का सुगमता से अनुभव किया जा सकता है और उसकी हृद्ध्वनि भी आसानी से सुनाई पड़ती है। परन्तु यदि पीठ सामने को हो तो हृदय का शब्द स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ता। यदि प्रसव के प्रारम्भ में ही उदर की परीक्षा की जाय तो सिर गतिशील प्रतीत होगा और उसका श्रोणिकण्ठ में अवग्रहण नहीं हुआ रहेगा। यह विकृत उदयों का एक बड़ा महत्त्व का चिह्न है।

योनिपरीक्षा—आरम्भ में उदय लेने वाला भाग बहुत ऊपर में रहने के कारण आसानी से नहीं मिल पाता, साथ ही वह अस्थिर भी रहता है। वारिपुटक गोस्तनाकार (Sausage shaped) का हो जाता है। परीक्षण काल में जरायु न फटने पावे इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये। मुखोदय के परिज्ञान के लिये भ्रूतोरणिका (Orbital ridges), गण्डास्थि, नासिका, मुख, हनु-प्रभृति अवयवों का पाया जाना बड़ा सहायक होता है। तथापि निर्णय कठिन होता है क्योंकि प्रसव के आरम्भ में ये अवयव बहुत ऊँचाई पर रहते हैं और स्पर्शलभ्य नहीं हो पाते और बाद में उपशीर्ष आदि के बन जाने से उपरोक्त चिह्न अस्पष्ट हो जाते हैं। इस दशा में मुख पर की यह सूजन नितम्ब की भ्रान्ति पैदा करती है और मुख से गुदा का भ्रम हो जाता है। गुदा है या मुख-इसका निश्चय करना हो तो विवर में अंगुली को प्रविष्ट करके देखना चाहिये। मुख में दन्तमांस की पंक्ति, जिह्वा की उपस्थिति, होठों का अनुभव तथा मन्द-मन्द आचूषण का प्रयत्न प्रभृति बातें ज्ञात होंगी। गुदा में यदि अंगुली प्रविष्ट हो तो वहाँ की संकोचनी पेशियों के संकोचन से अंगुली में पकड़ (ग्रहण) का अनुभव होगा और बाहर निकालने पर गर्भमल का लगा आना भी मिलेगा।

गुदा या मुख में अङ्गुली का प्रवेश बहुत विचार कर करना चाहिये अन्यथा हठात् अङ्गुली-प्रवेश से गर्भस्थ शिशु का श्वसनकर्म शुरू हो जाता है और श्लेष्मा के श्वास मार्गों में प्रविष्ट हो जाने से उत्पन्न श्वासावरोध से मृत्यु का भय रहता है। इसलिये संदेह के स्थलों पर बहिष्कर्ण की उपस्थिति से मुखोदय का तथा वंक्षण-परिखा, जघनधारा प्रभृति अवयवों से नितम्बोदय का विनिर्णय किया जा सकता है।

योनिपरीक्षा के लिये रुग्णा का सार्वदैहिक संज्ञाहरण करना उत्तम है क्योंकि कई बार योनि में पूरा हाथ ही डालना पड़ता है।

यदि उपरोक्त विधियों से निर्णय न हो सके तो 'क्ष' किरण के द्वारा मुखोदय का विनिश्चय करना चाहिये।

निष्क्रमणविधि—इस स्थिति में भी गर्भ की मार्गानुकूलन में उसी प्रकार की पाँच गतियाँ होती हैं, जिनका उल्लेख पूर्व में हो चुका है। इसमें केवल प्रथमगति में संकोच के स्थान पर प्रसार होता है।

(१) **पूर्ण-प्रसार**—गर्भसिर का अनुदैर्ध्य व्यास श्रोणि का तिर्यक् या अनुप्रस्थ में उतरता है। जैसे ही वह नीचे को उतरता है वैसे ही उसमें प्रसारण होने

लगता है। जब पूर्ण प्रसारण हो जाता है तो चिबुक सबसे निचला भाग होकर अग्रणी बनता है। और फिर घूमकर सामने आ जाता है—पूर्व चिबुकासनों में यह घुमाव छोटा होता है; परन्तु पश्चिम चिबुकासनों में यह बड़ा वृत्त ($\frac{3}{8}$ भाग) का चक्कर लेता है।

(२) **अन्तरावर्त्तन**—इस द्वितीय गति से चिबुक भग-सन्धानिका के नीचे आकर स्थिर हो जाता है।

(३) **संकोचन** (Flexion)—सिर का वक्ष पर झुकना—क्रमशः मुख, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, मध्यशीर्ष तथा अन्त में अनुशीर्ष (Occipit) बाहर निकलते हैं।

(४) **पूर्वस्थिति को प्राप्त होना** (Restitution)—इसके पश्चात् ग्रीवा का बल निकल जाने से सिर अपनी पूर्वावस्था में आ जाता है।

(५) **बहिरावर्त्तन**—सिर बाहर की ओर अधिक घूम जाता है और शेष शरीर का जन्म पहले के सदृश (शीर्षोदय जैसे) ही होता है।

चित्र ७१ चित्र ७२

चित्र ७३ चित्र ७४

मुखोदय में विकृत निष्क्रमण—कभी पश्चिम चिबुकासनों में चिबुक आगे की ओर न घूमकर पीछे की ओर घूम जाता है और त्रिक् के उदर में जाकर लग

जाता है—जैसा कि पश्चिम अनुशीर्पासनों में विकृत आवर्त्तन के कारण अनुशीर्ष के सम्बन्ध में देखा गया था। सिर के हीन प्रसारण के कारण नीचे पड़ा हुआ ललाट सामने को आ जाता है और हनु पीछे को घूम जाता है। ऐसी स्थिति में वह अपने आप कथमपि नहीं निकल सकता। क्योंकि अपत्यमार्ग का आकार वक्र नलिका की भांति हो जाता है। गर्भशिरःप्रसरण से (जैसा कि शीर्पोदय के प्राकृत निष्क्रमण में) अथवा सङ्कोचन से (जैसा कि मुखोदय के प्राकृत और शीर्पोदय के विकृति निष्क्रमण में) उसके अनुकूल होकर ही निकल सकता है। इस स्थिति में अनुकूलता केवल सिर के प्रसारण से ही हो सकती है।
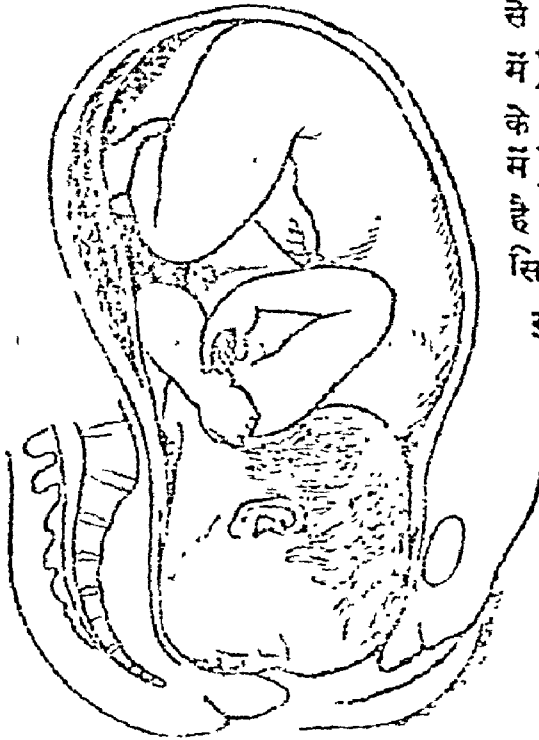
सम्मूढ पश्चिमचिबुकासन

चित्र ७५

मुखोदय में सिर की अनुकूलता (रूपण)
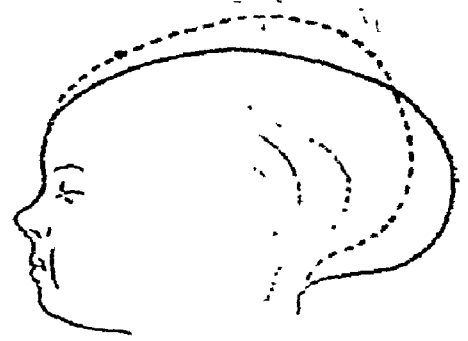
चित्र ७६

परन्तु ऐसा होना कठिन होता है—क्योंकि सिर प्रथम से पूर्णतया प्रसरित रहता है तथा अनुशीर्ष या पुरःकपाल-सन्धानिका पृष्ठ पर दुर्निविष्ट रहता है। इस प्रकार सिर का निरोध होकर गर्भ मूढ हो जाता है। इसकी विशिष्ट संज्ञा 'सम्मूढ पश्चिम-चिबुकासन' (Persistent Mento Posterior) की दी जाती है। स्थिति में बालक का निष्क्रमण असम्भव (Impasse) हो जाता है।

कभी-कभी सिर अतिशय छोटा होता है और श्रोणि बहुत बड़ी होती है जैसा मृत, अपुष्ट गर्भों में मिलता है; तो गर्भ का हनु नीचे गिर कर अनुत्रिका

नीचे चला जाता है—और फिर बाहर नहीं निकल पाता। सिर श्रोणि में मध्य कील के समान अटक जाता है—पुनः सिर कुछ संकुचित होकर ललाट, मध्य-शीर्ष होते हुए क्रमशः बाहर निकलता है। शरीर का शेष भाग शीर्षोदय के सदृश ही निकलता है।

शिरोरूपण—(Moulding of the head)—मुखोदय में मुख की अस्थियाँ नहीं मुड़तीं, परन्तु बाद में निकलने वाली सिरकी अस्थियाँ आकार में बदल जाती हैं। सिर अनुलम्ब व्यास छोटे हो जाते (ग्रैवब्रह्मरन्ध्रिक, अनुशीर्षाधर-ब्रह्मरन्ध्रिक, अनुशीर्षोत्तर चैवुक, पार्श्वकापालिक) हैं तथा अनुशीर्षनासामूलिक (Occipito frontal) तथा अनुशीर्ष चैवुक (Occipito mental) व्यास बढ़ जाते हैं। उपशीर्ष मुख के ऊपर बनता है। ओष्ठ और नेत्रवर्त्म भी शोथयुक्त होते हैं, नेत्रगत रक्तस्राव भी मुखोदय से उत्पन्न बच्चों में मिलता है।

(चित्र ७६ देखें)

मुखोदय में विलम्बित प्रसव के कारण—

१. मुख कीलक (wedge) के आकार का नहीं होता इसलिये प्रसारक भी ठीक नहीं बनता।

२. जरायु गोस्तनाकार होकर ठीक प्रसारण नहीं करती किन्तु बहुत पहले ही विदीर्ण हो जाती है।

३. अन्तरावर्त्तन प्रायः बहुत लम्बा होता है।

४. मुख की अस्थियों का रूपण (Moulding) नहीं होता।

५. मुख और ग्रीवा में कोण होने के कारण गर्भाशयाकुंचन का वेग निष्क्रमण कराने में हीनबल होता है।

६. जब तक कि सिर पूरा प्रसरित होता रहता है तब तक उसका एक लम्बा व्यास का ग्रहण हो जाता है।

शुभाशुभ—प्रायः प्रसव के उपद्रवों से युक्त होने के कारण सभी मुखोदय माता तथा गर्भ दोनों के लिये कष्टप्रद होता है। विलम्बित प्रसव, मूलावदारण, संक्रमण, गर्भोपघात और मूढगर्भता ये पाँच उपद्रव इस प्रसव में होते हैं। बच्चे

के लिये दीर्घकालीन पीडन तथा यान्त्रिक प्रसव हानिप्रद हो सकता है। विशेषतः उसके आँख, नाक और मुख को असावधानी से परीक्षा के कारण पहुंचती है तथा यान्त्रिक प्रसवों में उसकी मृत्यु तक हो जाती है। माता के लिये भी प्रसव में विलम्ब होना, नानाविध परीक्षायें, चिकित्सक की प्रसव में सहायता तथा यन्त्र का प्रयोग प्रभृति कारणों से यह प्रसव अनिष्टकर होता है।

उपक्रम—मुखोदय की स्थिति में तीन प्रकार से उपचार करने का विधान है:—

१. यदि ठीक समय से मुखोदय का ज्ञान हो गया हो तो शीर्षोदय में बदलना, २. अथवा विवर्त्तन के द्वारा नितम्बोदय में बदल देना, ३. अथवा शस्त्रकर्म।

(१) सब से प्रथम मुखोदय का कारण मालूम करना चाहिये। यदि रुग्णा में संकुचित-श्रोणि या कष्ट-प्रसव का इतिहास न मिले तो उसमें उपचारसम्बन्धी कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, क्योंकि वैकृत निष्क्रमण बहुत ही कम पाया जाता है। प्रसव को अपने-आप पूर्ण होने का अवसर देना चाहिये। रोगी के आत्मीय जनों को इस प्रसव (मुखोदय) की कृच्छ्रसाध्यता की सूचना दे देनी चाहिये। तथा कई एक बातों का ध्यानर खना चाहिये।

स्त्री का घूमना, फिरना, टहलना बन्द करा के बिस्तर पर लेटा देना चाहिये। जरायु का अकाल में विदरण न हो इस प्रकार का ध्यान रखना चाहिये। जिस पार्श्व पर उदय लेने वाला अंग हनु हो उसी करवट पर स्त्री को रखना चाहिये। इससे हनु के सामने की ओर विवर्त्तित होने में सहायता मिलती है। यदि गर्भमुख से मूलपीठ (Perineum) पर बालक का हनु आगया हो फिर भी न घूमता हो, तो आवी-काल में बच्चें के ललाट को ऊपर की ओर उछालना चाहिये जिससे हनु अधिक नीचे होकर आगे की ओर घूम जावे। यदि इस प्रकार नहीं विवर्त्तित हो तो योनि में हाथ डाल कर अंगुलि से हनु को पकड़ कर छोटे से छोटे मार्ग से घुमाना चाहिये। साथ ही साथ बाहरी हाथ से उसी दिशा में कन्धों को भी घुमाना चाहिये। कुछ लोग संदंश से विवर्त्तन की भी राय देते हैं, परन्तु इस क्रिया से गर्भमुख के अवयवों के अभिघात का भय रहता है। तथापि यदि हनु आगे को घूम गया हो फिर भी गर्भाशय की दुर्बलता से न निकल पाता हो तब तो संदंश का प्रयोग उचित ही है।

(२) यथासमय निर्णय हो जाने पर यदि शीर्षोदय में परिवर्तित करना ही उचित जान पड़े तो निम्नलिखित विधि से उसका उपचार करना चाहिये। सिर को संकुचित करना ही इस उपचार का लक्ष्य रहता है।

बाह्यविधि (External Manipulation) Schatz Method—इसकी सफलता के लिये सिर का ग्रहण न होना, जरायु का न फटना और औदरिक पेशियों की शिथिलता परमावश्यक है। इनमें पूर्वोक्त दो तो दैवात् मिलते हैं, परन्तु शिथिलता संज्ञाहरण के द्वारा लाई जा सकती है। स्त्री को उत्तान (चित) लेटा दे, उसका सिर कुछ नीचे को कर दे, उसके एक पार्श्व में पैर के पास बैठ कर एक हाथ से गर्भ का स्कन्ध दूसरे हाथ से नितम्ब के नीचे पीठ को पकड़ ले फिर वेदनाओं के अन्तःकाल में गर्भाशय स्कन्ध की ओर कर्षण करे। इस क्रिया से गर्भसिर, सङ्कोच और प्रसरण की बीच की अवस्था प्राप्त कर लेता है। फिर बच्चे के कन्धे पर रखे हुए हाथ से छाती को पीठ की ओर तथा पीठ पर रखे हुए हाथ से नितम्ब को उदर की ओर दबावे। इस प्रकार सिर संकुचित होकर शीर्षोदय में परिणत हो जाता है। अन्त में नितम्ब पर रखे हुए हाथ से गर्भ को नीचे की ओर दबाना चाहिये जिससे मध्य-शीर्ष श्रोणि में प्रविष्ट हो जावे। जब तक कि सिर यहाँ पर नहीं स्थिर हो जाता तब तक उदर पर एक दृढ़ बन्धन बाँध कर उसे स्थिर कर देना चाहिये। अन्यथा फिर मुखोदय में ही घूम जाता है। यदि गर्भाशय का मुख पूर्ण विकसित हो गया है और जरायु नहीं फटी है तो उसका स्वयं दारण करना चाहिये, जिससे शीघ्र गर्भसिर स्थिर हो जावे।

जब स्त्री की श्रोणि प्राकृत हो या अल्प संकुचित हो, गर्भसिर का मध्यमान तथा काल ठीक हो तो उपर्युक्त विधि से काम करना चाहिये।

संयुक्तविधि—(Combined Manipulation)—जब बाह्यविधि सफल न होवे, गर्भाशय का मुख पूर्णतया विकसित हो चुका हो, सिर श्रोणि में अधिक गहराई तक न पहुंचा हो, माता और गर्भ दोनों के अनिष्ट की आशंका हो तो सद्यः इस विधि का व्यवहार स्त्री को सार्वदैहिक संज्ञानाशन से मूर्च्छित करके करना चाहिये।

(क) The Bandelocque-schatz Method) गर्भाशय मुख के

दो अंगुल विस्तृत होने पर, स्त्री को उत्तान (चित) लेटाकर उसके जिस तरफ हनु दिखलाई पड़े, उसी ओर हाथ को योनि में डाल कर, गर्भाशय में दो अंगुलि को प्रविष्ट करके, उनसे अधो हनु, फिर उत्तर हनु, पश्चात् ललाट को ऊपर की ओर दबाना चाहिये, साथ ही साथ उदर पर रखे बाहरी हाथ से अनुशीर्ष को नीचे की ओर दबावे : परिचारक को चाहिये कि वह पूर्वोक्त बाह्य विधि के अनुसार छाती को पीठ की ओर और नितम्ब को उसके विपरीत उदर की ओर दबावे।
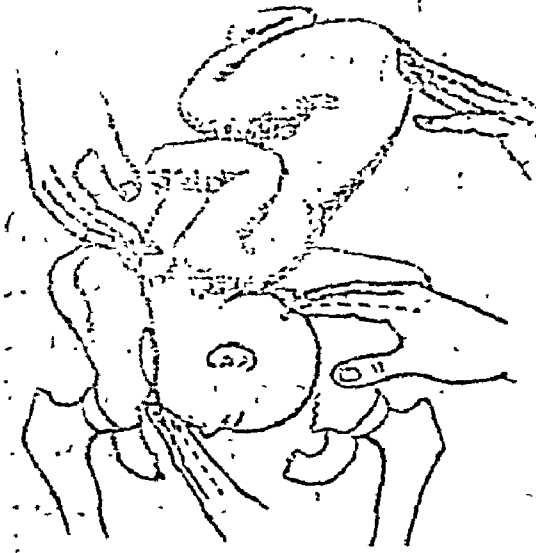
मुखोदयोपक्रम

चित्र ७७

यदि गर्भाशय का मुख पूर्णतया विकसित है, तो पूरे हाथ को योनि के भीतर (गर्भाशय में) डालकर, पहले मुख पकड़ कर श्रोणिकण्ठ के ऊपर फेंक दे। पुनः उपर्युक्त विधि से सिर को झुकावे। यह उत्क्षेपण (ऊपर फेंकने की क्रिया) सर के ग्रहण हो जाने पर विशेष आवश्यक होती है।

(ख) (The Playfair-Patridge Method)—यदि गर्भाशय-मुख पूर्णतया विकसित हो तो स्त्री का संज्ञाहरण करके उसको चित लेटा कर निम्नलिखित विधि से कार्य करे।

जिस पार्श्व में अनुशीर्ष हो, उसी के तरफ पड़े हुए पूरे हाथ को गर्भाशय में प्रविष्ट करके उसके अनुशीर्ष (Occipit) के ऊपर ले जावे फिर सिर को पकड़ कर अनुशीर्ष को नीचे की ओर दबावे। साथ ही साथ बाहर में पड़े हुए हाथ से उसके वक्षस्थल को ऊपर की ओर पीठ की तरफ कर्षण करे या दबावे। परन्तु ऐसा करते हुए ललाटोदय हो जाने के भय का भी स्मरण रखना चाहिये। क्योंकि ललाटोदय मुखोदय से भी अधिक कृच्छ्रसाध्य होता है। इसी भय से मुखोदय को शीर्षोदय में बदलने वाली प्रक्रिया को चिकित्सक अधिक अच्छा नहीं समझते।

यदि इसका विवर्त्तन करने पर भी सिर संकुचित नहीं होता, अथवा संकुचित होकर भी पुनः फैल जाता है। शिर का श्रोणिकण्ठ में ग्रहण नहीं होता, असंकुचित या अल्पसंकुचित स्त्रीश्रोणि हो अथवा स्वतः निष्क्रमण असम्भव रहता हो तभी विवर्त्तन (Podalic version) से नितम्बोदय में परिवर्त्तित करने का विधान लाभप्रद होता है।

(३) यदि सम्मूढ पश्चिमचिवुकासन की स्थिति हो तो शल्यकर्म ही एक मात्र उपाय है। यदि गर्भ जीवित हो और श्रोणि संकुचित हो तो भगास्थि–छेदन (Pubiotomy), उदर–विपाटन (Caesarean section) प्रायः किया जाता है। यदि गर्भ मर गया हो या मृतप्राय हो तो शिरोभेदन (Cranitomy) नामक शस्त्र–कर्म करना अधिक प्रशस्त है।

(ग) ललाटोदय (Brow Presentation)

अवतरण–काल में जब सिर संकोच और प्रसार की मध्यमावस्था में रहता है, उस समय ललाटोदय होता है। उस उदय में न तो सिर पूरा आगे को झुका होता है और न पूरा पीछे की ओर वल्कि इन दोनों के बीच की स्थिति होती है।

हेतु—मुखोदय के उत्पादक जो कारण हैं, वे ही ललाटोदय भी पैदा करते हैं।

आसन—इस अवतरण में गर्भसिर अपने अनुशीर्षोत्तरचिवुक व्यास के द्वारा श्रोणि के अनुप्रस्थ व्यास में भीतर प्रविष्ट होता है। अतः दो ही गर्भासन इसमें मिलते हैं:—१. दक्षिण ललाटासन २. वाम ललाटासन। इनमें दक्षिण ललाटासन ही अधिकतर मिलता है।

प्रमाण—ललाटोदय अपेक्षाकृत वहुत ही कम मिलता है–प्रति १५०० प्रसवों में एक का अनुपात इस का पाया जाता है।

निर्णय—उदरपरीक्षा से ग्रीवा की परिखा तिरछी न रहकर अनुप्रस्थ ज्ञात होती है। एक तरफ हनु और दूसरे तरफ अनुशीर्ष एक ही सीमा पर रहते हैं ऊँचे या नीचे नहीं। अनुशीर्ष, शीर्षोदय की अपेक्षा अधिक उभरा होता हुआ भी मुखोदय सदृश अत्यन्त उन्नत नहीं पाया जाता। प्रसव के आरंभ हो जाने पर गर्भशिर के दीर्घ व्यास के लगने के कारण श्रोणिकंठ में उसका ग्रहण नहीं हो पाता। शिर का शीर्षोत्तरचिवुक व्यास, जो गृहीत होना चाहता है, ५½ ईंच लम्बा होता और

श्रोणि के अन्तर्द्वार का दीर्घतम व्यास ५ इंच से अधिक लम्बा नहीं होता। अतः अवग्रहण में बाधा पहुंचती है। आसनों के अनुसार गर्भ का पृष्ठ मध्यरेखा के दाहने या बायें प्रतीत होता है।

योनिपरीक्षा से प्रसव के प्रारंभ में सिर के श्रोणिकंठ के बहुत ऊपर रहने से उस के प्रत्यङ्गों का आसानी से अनुभव नहीं हो पाता। अविदीर्ण जरायु गोस्तनाकार-रूप में योनि से लटकती-सी ज्ञात होती है। सिर के अधिक नीचे आने पर योनिपरीक्षा से गूढ़सीमन्त (Frontal suture) का स्पर्श किया जा सकता है जिसके एक सिरे पर ब्रह्मरन्ध्र और दूसरे सिरे पर भ्रूतोरणिकायें (Orbital ridges) नेत्रकोटर और गण्डकूट होते हैं। ब्रह्मरन्ध्र, ललाट और मुख की स्थिति के अनुसार गर्भासन का निर्णय किया जा सकता है। स्पर्श में ललाट समतल और मुख विषमतल का ज्ञात होता है। यदि बहुत बड़ा उपशीर्ष बन गया हो तो निर्णय दुःशक्य हो जाता है।

गर्भ का हृच्छब्द आसन के अनुसार मध्यरेखा के बाईं या दाहिनी ओर सुनाई पड़ता है। गर्भ पृष्ठ के ऊपर कठिनाई से सुन पड़ता है। प्रथमासन की अपेक्षा द्वितीयासन में ध्वनि अधिक अधिक स्पष्ट मिलती है।

निष्क्रमणविधि—निष्क्रमण के चार प्रकार हैं। (१) ललाटोदय के रूप में ही किसी भाँति निकलना (२) मुखोदय में परिवर्त्तित होकर निकलना (३) शीर्षोदय में परिवर्त्तित होकर निकलना (४) सिर के अवरोध होने से मूढ़ भाव को प्राप्त हो जाना।

ललाटोदय रूप में निकलते हुए गर्भ का ललाट सामने की ओर घूमता है जिससे उत्तर हनुसंधानिका के नीचे आजाता है। फिर संकोच होकर ललाट, मध्यशीर्ष और अनुशीर्ष क्रमशः बाहर निकलते हैं। मुख भी संधानिकापृष्ठ से सरक कर नीचे गिरता और निकलता है। फिर प्रत्यावर्त्तन (Restitution) होता है, पूर्व स्कन्ध का सामने की ओर विवर्त्तन होता और सिर का बहिरावर्त्तन होता है। और बालक का जन्म हो जाता है।

प्रायः प्रसव के समय ललाटोदय का परिवर्त्तन मुखोदय या शीर्षोदय में हो जाता है और साधारण रीति से बालक का जन्म होता है। जब ऐसा परिवर्त्तन न हो तो निष्क्रमण असम्भव हो जाता है और सम्मूढ़ ललाटोदय(Persistent

Brow Presentation) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि ललाट साधारण से बहुत छोटा हुआ तो उसका निष्क्रमण कदाचित् संभव भी है—अन्यथा असंभव ही रहता है।

उपद्रव—मुखोदय के सम्बन्ध में जितने उपद्रव बतलाये गये हैं, उन सभी का होना इसमें भी संभव है। प्रसव में अधिक देर लगने से कई बार गर्भाशय के विदार का भी भय रहता है।

शिरोरूपण (Moulding of the head) ललाटोदय में अतिशय मात्रा में पीडित किये गये शिर के आनुशीर्षाधर ब्रह्मरन्ध्रिक, आनुशीर्षोत्तर चैबुक, पार्श्व कापालिक व्यास छोटे हो जाते तथा आनुशीर्ष नासामूलिक, अनुशीर्ष चैबुक, अनुशीर्षाधर लालाटिक प्रभृति व्यास लम्बाई में बढ़ जाते हैं। इस से ललाट अधिक उन्नत हो जाता और करोटिपटल अवनत हो जाता है। उपशीर्ष बहुत बड़ा ललाट के ऊपर बनता है।

ललाटोदय में शिर का अनुकूलन

चित्र ७८

उपक्रम—आवस्थिक उपचार इस प्रकार का करना चाहिये—
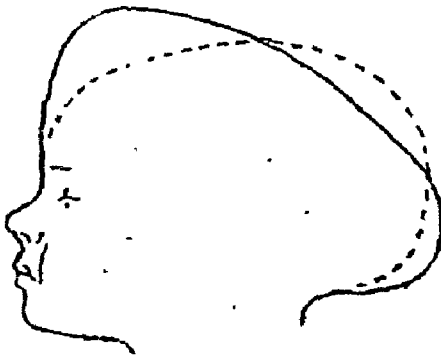
(१) यदि शिर का ग्रहण न हो—यदि गर्भोदक की थैली अभी न फटी हो तो ललाटोदय को मुखोदय या शीर्षोदय में बदल देना चाहिये—जैसा कि मुखोदय कि चिकित्सा में बतलाया जा चुका है—पहले बाह्य विधि से प्रयत्न करे, यदि सफलता न मिले तो संयुक्त विधि से विवर्त्तन करना चाहिये।

यदि ऐसा न हो सके और गर्भोदक की थैली न फटी हो या फटे हुए थोड़ी देर हुई हो विवर्त्तन (Pripolar Podalic Version) के द्वारा नितम्बोदय में बदल कर एक पैर को नीचे कर के खींच लेना चाहिये।

(२) यदि सिर का अवग्रह हो चुका हो जिससे सिर स्थिर हो गया हो इस कारण विवर्त्तन न किया जा सकता हो, यदि सिर आगे को न सरक रहा हो,

आवी शीघ्रता से आरही हो, प्रसव में विलम्ब अधिक हो रहा हो—गर्भाशय के विदीर्ण होने का भय हो तो संदंश के द्वारा प्रसव कराना चाहिये।

यदि संदंश से भी सफलता न मिले तो सिर न निकाला जासके तो भ्रूणशिरोभेदन (Cranitomy), भगास्थिभेदन (Pubiotomy) उदरविपाटन के द्वारा प्रसव करावे। इन शस्त्र कर्मों की आवश्यकता अधिकतर संकुचित श्रोणि की अवस्था में ही पड़ती है।

(घ) श्रोण्यवतरण या नितम्बोदय (Breech or Pelvic Presentation) स्फिक्पूर्व गर्भनिष्क्रान्ति को (वालक के चूतड़ का प्रथम निकलना) नितम्बोदय कहते हैं। अधोशाखा की स्थिति के अनुसार इस के चार प्रकार होते हैं— १. स्फिक् पादोदय २. स्फिगुदय ३. पादोदय ४. जानूदय। इनमें प्रथम को पूर्ण नितम्बोदय और शेष तीन उदयों को अपूर्ण नितम्बोदय कहते हैं। पूर्ण नितम्बोदय (Complete or full breach Presentation) में इस

श्रोणि-अवतरण
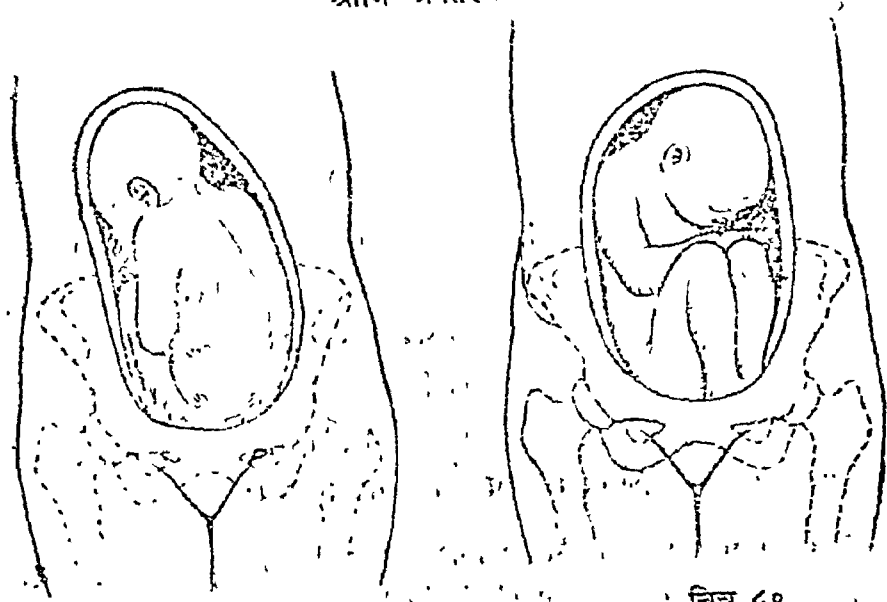
चित्र ७९ चित्र ८०

वालक की जांघे उदर पर और टाँगे जाँघों पर मुड़ी होती हैं। साधारणतया यही आसन मिलता है। इस उदय में स्फिक् और पैर साथ ही निकलते हैं इसीलिये स्फिक् पादोदय की संज्ञा दी गई है। अपूर्ण नितम्बोदय (Incomplete or

Frank Breech Presentation)—इसमें जाँघें तो उदर पर मुड़ी रहती हैं, परन्तु टाँगें सीधी ही रहती हैं। इस प्रकार के अवतरण में बालक का उदय स्फिक् से या पैर से या घुटनों से हो सकता है इसीलिये क्रमशः इनकी स्फिगुदय, पादोदय या जानूदय की संज्ञा दी गई है।

हेतु—जो भी हेतु बालक या गर्भाशय के आकृति अथवा बल के विकार पैदा करते हैं, वे सभी नितम्बोदय पैदा कर सकते हैं। उदाहरणार्थ—गर्भाशय की आकृति और बल के परिवर्त्तनकारक कारण—संकुचित श्रोणि, गर्भोद वृद्धि, बहुप्रजाताओं का गुरु शिथिल गर्भाशय, यमल गर्भ से अतिविस्फारित गर्भाशय, गर्भाशय की विरूपता, तक्रीभूत गर्भाशय, गर्भाशयार्बुद, द्वारस्था अपरा (Placenta praevia)

गर्भ की आकृति और बल में परिवर्त्तन करनेवाले भाव, बृहत्प्रमाण का शिर, अपुष्ट, शुष्क, मृत, यमल, अद्भुत या विरूप गर्भ।

आसन—इस अवतरण में भी पूर्ववत् चार आसन होते हैं। इनका नामनिर्देश त्रिक से किया जाता है।

१. **वाम-पूर्व त्रिकासन** (Left Sacro Anterior)—इसमें बालक का त्रिक् माता के वाम श्रोणिगवाक्ष (Left Obturator Foramen) के पास, नितम्बों के बीच की परिखा दक्षिण तिर्यक् व्यास में, शिखरकान्तरीय व्यास, वाम तिर्यक् व्यास में रहता है। यही आसन अधिकतर पाया जाता है।

२. **दक्षिण-पूर्व त्रिकासन** (Right Sacro Anterior)—वाम के स्थान दक्षिण तथा दक्षिण के स्थान वामकर के उपर्युक्त पाठ के अनुसार पाया जाता है।

दक्षिण-पश्चिम त्रिकासन (Right Sacro Posterion)—गर्भ माता के उदर की ओर मुख करके रहता है। गर्भ का त्रिक् दक्षिण त्रिक् जघनसन्धि के पास नितम्बों के बीच की परिखा दक्षिण तिर्यक् व्यास में, शिखरकान्तरीय व्यास वाम तिर्यक् व्यास में आश्रित रहता है।

वाम-पश्चिम त्रिकासन (Left Sacro Posterior)—सभी तृतीयासन सदृश ही स्थिति होती है केवल वाम और दक्षिण का विपर्यास होता है।

निर्णय—(क) स्पर्शन-परीक्षा—

प्रथमग्रह—गर्भाशय के ऊपर के भाग (Fundus) में गोल तथा कठोर

सिर का अनुभव होगा, जो कि सुगमता से इधर-उधर हिलाया जा सकता है। सिर के नीचे ग्रीवा की परिखा मिलेगी।

द्वितीय ग्रह—एक ओर पीठ दूसरी ओर हाथ और पैर का अनुभव होगा।

तृतीय ग्रह—स्फिक् गर्भाशय के निचले भाग में प्रतीत होगा।

चतुर्थ ग्रह—यदि स्फिक् श्रोणिगुहा में स्थिर हो चुका है तो हाथ से पकड़ा न जा सकेगा।

(ख) श्रवण-परीक्षा—बालक का हृत्स्पन्दन माता के नाभि के ऊपर एक या दूसरी ओर सुनाई देगा।

(ग) योनि-परीक्षा—(१) गर्भोदक की थैली या जरायु गोस्तनाकार (उंगली के रूप में) होकर बाहर निकली मिलती है अथवा कई बार प्रसव के प्रारम्भ में ही फट जाती है और फटी हुई मिलती है।

(२) गर्भोदक में कई बार गर्भमल (Meconium) पाया जाता है।

(३) **गर्भ की अनुत्रिक**—(Coccyx), त्रिक (Sacrum) तथा कुकुन्दरास्थि (Ischial Tuberosities) स्पष्ट प्रतीत होते हैं।

(४) मल-द्वार तथा बाह्य जननेन्द्रियों का स्पर्श से अनुभव किया जा सकता है। मुख और गुदा का भेद कर लेना चाहिये।

(५) एक या दोनों पैरों का अनुभव किया जा सकता है। हाथ और पैर का भेद कर लेना चाहिये। हाथ के अंगुष्ठ का आकार भिन्न होता है। पैर की सभी अंगुलियाँ समान होती हैं तथा एड़ी का अनुभव होता है।

(६) कक्ष और विटपसन्धि (Axilla & groin) का भेद पर्शुकास्थियों की उपस्थिति या अनुपस्थिति लेकर के भी श्रोण्यवतरण का निर्णय किया जा सकता है।

(घ) रश्मिचित्र-परीक्षा—छः मास के पश्चात् के गर्भ में सन्देह का निराकरण 'क्ष'किरण-परीक्षा से कर लेना चाहिये।

निष्क्रमण—शिरोवतरण के सम्बन्ध में संकोच और प्रसार नाम की जो दो गतियाँ बतलाई गई हैं श्रोणि के अवतरण में इनकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इन में निष्क्रमण की चार गतियाँ होती है—१. अवतरण, २. अन्तरावर्त्तन, ३. पार्श्वविनमन, ४. बहिरावर्त्तन। यहाँ पर केवल एक आसन वामपूर्वत्रिक (L. S. A.) जो अधिकता मिलता है—उसका वर्णन किया जा रहा है।

अवतरण—गर्भ का शिखरकान्तरालीय (Bitrochanteric) व्यास श्रोणि के तिर्यक् व्यास में स्थिर होता है और पीठ साधारणतया सामने की होती हैं। जब इससे नीचे को श्रोणि उतरती है तो पूर्व नितम्ब पश्चिम की अपेक्षा अधिक नीचे चला जाता है और वही अवतरण का निम्नतम भाग होकर अग्रणी बनता हैं।

अन्तरावर्त्तन—अब दूसरी गति होती है। पूर्व नितम्ब को मूल पीठ का अवरोध (Resistence) मिलता है जिससे आगे को घूमकर भगसंधानिका के नीचे चला जाता है। शिखरकान्तरालीय व्यास अब श्रोणि के अनुदैर्घ्य व्यास में आजाता है।

पार्श्वावनमन—(Lateral flexion of the breech on the trunk) अपत्यमार्ग की वक्रता का अनुकूलन करने के कारण तीसरी गति गात्र का पार्श्व की ओर झुकना होता है। सामान्यतः पूर्वनितम्ब संधानिका की सतह से सरक कर नीचे को आजाता है जिससे सब से पहले योनिमुख में वही दिखलाई पड़ने लगता है। इस के बाद पश्चिम नितम्ब मूलपीठ (Perineum) पर उतरता है। यदि मूलपीठ हीन या शिथिल हो तो पहले पश्चिम नितम्ब निकलता है बाद में पूर्व नितम्ब। यदि गर्भ का परिमाण बहुत छोटा हो तो दोनों ही (पूर्व तथा पश्चिम) नितम्ब साथ ही निकल सकते हैं। स्फिक् पादोदय की स्थिति में तो नितम्ब के साथ ही साथ पैर भी निकल आते हैं।

बहिरावर्त्तन (Ext. Rotation of the trunk)—सिर के अन्तरावर्तन के कारण यह गति होती है। सिर, श्रोणि के अनुप्रस्थ व्यास में आकार स्थिर हो जाता है। फिर अवतरण के साथ यह बहिर्द्वार में घूमकर सामने की ओर सन्धानिका के नीचे आ जाता है—मुख, त्रिक के गर्त्त (Hollow of the sacrum) में चला जाता है। उसके बाद चिबुक, मुख, ललाट और शीर्ष मूलपीठ पर बाहर निकलते हैं।

गात्र और शिर का निकलना—नितम्ब के निकल जाने के बाद शेष गात्र भी क्रमशः बाहर निकल आता है। पैर नितम्ब के साथ और हाथ वक्ष के साथ निकलते हैं। कन्धों का अंसकूटान्तरीय व्यास श्रोणि के तिर्यक् व्यास स्थिर होता है (जैसे पहले शिखरकान्तरीय व्यास लगता है) और पुनः नीचे को उतरता है। जैसे ही स्कन्ध निर्गमद्वार पर पहुंचता है वैसे ही पूर्वांस के सामने की ओर घूमने से वह श्रोणि के अनुदैर्घ्य व्यास में आ जाता है। पुनः गर्भाशय

के बल से संकुचित हुआ सिर अपने लम्बे व्यास से श्रोणि के तिर्यक् व्यास में प्रविष्ट होता है। मूलपीठ की तलभूमि को स्पर्श करके अनुशीर्ष सामने की ओर घूमता है। घाटा सन्धानिका के नीचे आ जाता है। इसके बाद सिर का भी जन्म हो जाता है। पर हनु, मुख, ललाट, सिर पहले निकलते और अनुशीर्ष सब के अन्त में निकलता है।

इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि श्रोणि में प्रवेश कर लेने पर शिर उत्तर गर्भशय्या (Upper uterine segment) को छोड़ देता है। अतः गर्भाशय आकुञ्चन का बल उसके निकालने में सहायक नहीं हो पाता। इस स्थिति में केवल प्रवाहण का बल ही शेष रह जाता है, साथ ही कुछ कार्य श्रोणितल-भूमि और औदरिक पेशियों की सहायता से भी हो जाता है जिनके ऊपर आश्रित होकर बालक बाहर निकल सकता है। प्रसव में विलम्ब होने से गर्भ के अभिघात का भय रहता है। अत एव नितम्बोदय में निकले हुए जन्म में सिर को निकालने के लिये शीघ्रता की आवश्यकता होती है।

शुभाशुभ—नितम्बोदय में माता के लिये किसी विशेष हानि की सम्भावना नहीं रहती। यद्यपि अकाल में जरायुभेद, बड़े आकार के गर्भ में प्रसव में विलम्ब और कठिनाई, बलपूर्वक आहरण करते हुए अथवा अपूर्ण विकसित गर्भाशय या योनिमुख के विदीर्ण होने की सम्भावना, हस्तादि के सम्पर्क से उपसर्ग पहुंचने का भय प्रभृति सामान्य उपद्रव हो सकते हैं तथापि माता की मृत्यु बहुत ही कम (१.६ प्रतिशत) होती है।

बालक के लिये विशेषतः हानि की सम्भावना श्रोण्यवतरण में रहती है। ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु का प्रमाण इसमें लगभग ग्यारह में एक का है; परन्तु इससे भी अधिक प्रति पाँच में एक तक हो सकता है। ऐसे प्रसव से उत्पन्न बालकों में मृत्यु का सबसे प्रधान कारण मस्तिष्कगत रक्तस्राव तथा श्वासावरोध है। इसके अतिरिक्त बलपूर्वक आहरण करने के कारण इनमें अस्थिभग्न, सन्धि विश्लेष, सिरा, धमनी, स्नायु, पेशी और नाडी आदि के अभिघात होने की भी सम्भावना रहती है। उदाहरण के लिये जघन की रुकावट होने पर टाँगों को खींचने से ऊरु का भग्न, वडिश के प्रयोग से त्वचामांसादि का आघात, स्कन्ध की रुकावट में बाहु के कर्षण से प्रगण्डास्थि और अक्षक का भग्न तथा कक्षगत नाडीप्रवेणिका (Brachial plexus) का अभिघात हो सकता है। सिर की रुकावट में उसको निकालते हुए गात्र को खींचने से पृष्ठवंश का अभिघात, सुषुम्ना का अव-

दारण और सिर-ग्रीवासंधियों को हानि पहुँच सकती है। मस्तिष्कगत रक्तस्राव हो सकता है। उरःकर्णमूलिका पेशी (Sternomastoid) के अन्तः में पड़ी हुई छोटी छोटी रक्तवाहिनियों के टूटने से शोणित ग्रन्थि बन जाती है। मुख के खींचने से हनुभग्न, हनुभ्रंश, जिह्वाभिघात प्रभृति उपद्रवों का भय रहता है।

जन्मकाल में गर्भ की मृत्यु कराने वाले कई कारण उपस्थित हो जाते हैं जिससे बालक की मृत्यु संभव है—

अकाल में अन्तःश्वसन (Premature inspiration)—नितम्बोदय में जब प्रसव में विलम्ब होता है उस समय अपरा के रक्तसंवहनक्रिया में बाधा पहुँचने से अथवा नाभिनाल के ऊपर दवाव पड़ने से गर्भ का आंशिक प्राणावरोध हो जाता है। इसलिये आधे निकले हुए शरीर में शीतल वायु आदि का सम्पर्क होने से गर्भक्षुब्ध हो उठता है। इस प्रकार दोनों तरफ से श्वसन के केन्द्रों को उत्तेजना पहुँचती है जिसके परिणाम स्वरूप अकाल में गर्भ उच्छ्वास लेना शुरू कर देता है। इस अन्तःश्वसन के द्वारा श्लेष्मा, रक्त और गर्भोदक आदि का श्वास मार्ग के भीतर प्रवेश हो जाने से स्रोतोवरोध होकर बालक की मृत्यु हो जाती है।

मस्तिष्काभिघात (Cerebral injury)—जब कि सिर का पूर्ण रूपण (Moulding) नहीं हुआ रहता और वह सहसा बाहर निकलता है, तो उसे अभिघात पहुँचता है जिससे दात्रिका (Falx cerbri) तथा जवनिका (Tentorium cerbelli) कला के संयोग स्थल प्रायः टूट जाते हैं, जिससे अन्तः रक्तस्राव होने लगता है। नितम्बोदय में मृत्यु का यही प्रधान हेतु बनता है।

नाभिनालपीडन (Pressure on the cord)—यदि नितम्बोदय में सिर का प्रसव शीघ्रता से न हो तो, सिर और श्रोणि के अस्थियों के बीच में पड़े हुए नाभिनाल का अतिशय पीडन होता है और गर्भ का रक्तसंवहन रुद्ध हो जाता है। इससे प्राणावरोध होकर गर्भ की मृत्यु निश्चित रूप से हो जाती है।

अपरा का अकाल में वियुक्त होना (Premature seperation of placenta)—यदि सिर योनि में आ गया हो और जन्म न ले रहा हो तो गर्भाशय का तीव्र आकुंचन कई बार अकाल में अपरा को पृथक् कर देता है। इस स्थिति में भी प्राणावरोध से मृत्यु हो जाती है।

उपक्रम-स्थानापवर्त्तन या **विवर्त्तन** (Versions)—यदि गर्भावस्था के अन्तिम महीनों में इस गर्भ का निर्णय हो गया हो तो वाह्य विवर्त्तन के द्वारा सिर को नीचे की ओर घुमा देना चाहिये। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वालक को इस नये आसन में स्थिर रखना कठिन होता है। अतः आठवें मास की गर्भस्थिति तक इस प्रकार विवर्त्तन कई वार प्रतिपक्ष करना चाहिये। यदि प्रसवकाल समीप हो तो विवर्त्तन किया करके गर्भ के सिर को वलपूर्वक श्रोणि में प्रविष्ट करके मजबूत उदरवन्धन के द्वारा उसे स्थिर कर देना चाहिये जिससे उलट कर पुनः वह अपनी पूर्वस्थिति को न प्राप्त कर ले। वीच-वीच में स्थिति की परीक्षा करता रहे। यदि उलट जावे तो फिर उसका वाह्य विवर्त्तन करके शीर्षोदय की स्थिति में परिणत करना चाहिये। कई वार प्रजायिनी स्त्री में विवर्त्तन के द्वारा किये गये उदय को स्थिर करने के लिये जरायु का विदारण करना पड़ता है। यदि गर्भोदक की मात्रा अल्प हो, गर्भ की जाँघें फैली हों (Extend leg. breech), या पैर अँटके हों तो विवर्त्तन कठिन हो जाता है—ऐसी स्थिति में उदर की दीवाल को शिथिल करने के लिये संज्ञाहरण तथा अवरोध को दूर करने के लिये अवाक्शिरःशयन (Trendelenburgposition) की भी आवश्यक होता है।

वाह्यविवर्त्तन का निषेध—

(१) यदि नितम्वोदय ही उचित या इष्ट हो।

(२) यदि स्त्री अप्रजाता हो।

(३) यदि गर्भ महाप्रमाण का (Hydrocephalus or Anencephalus) हो।

(४) यमलगर्भता या वहु-अपत्यता हो।

(५) द्वारस्था अपरा हो इससे अधिक रक्तस्राव का भय रहता है।

(६) संकुचित श्रोणि।

उपर्युक्त परिस्थिति में मूलावदरण (Tear) या गर्भमृत्यु का भय रहता है अतः उदर-विपाटन (Cæsarean section) के द्वारा उपचार हितकर होता है।

स्फिगुदय की चिकित्सा के समय निम्नलिखित उपद्रवों का स्मरण रखना चाहिये—

(क) गर्भाशय की ग्रीवा के पूर्णविकास न होने से विलम्ब होना, विशेषतः यदि जरायु फट चुकी हो।

(ख) भुजाओं का स्थानभ्रंश (Displacement) होना।

(ग) सिर का गर्भाशय से निकलकर योनि में पड़ा रहना। क्योंकि योनि में उसे बाहर निकालने की शक्ति नहीं होती, यह शक्ति गर्भाशय के उपरी भाग के आकुंचन में रहती है सिर के योनि में रहने से इस आकुंचन का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता।

(घ) शीघ्र प्रसव समाप्त करने के उद्देश्य से यदि टाँगों को पकड़कर खींचा जाय तो सिर संकुचित नहीं हो पाता और उसका दीर्घतम शिरोव्यास श्रोणि के बहिर्द्वार पर लग जाता है जिससे प्रसव में विलम्ब हो जाता है।

(ङ) प्राणावरोध या श्वासावरोध का भय रहता है। कारणों का उल्लेख ऊपर में हो चुका है।

आवस्थिक उपचार—

प्रथमावस्था में—(१) सूतिका को लेटाये रखना चाहिये ताकि जरायु शीघ्रता से न फट जावे अर्थात् गर्भाशय ग्रीवा के पूर्णतया विकसित होने के पूर्व न फटे।

(२) सूतिका के सम्बन्धियों को प्रसव की स्थिति तथा बालक-सम्बन्धी भावी विपत्तियों को पहले ही बता देना चाहिये। यदि ग्रीवा के पूर्ण विकास के पूर्व ही जरायु फट गई है तो गर्भाशय-ग्रीवा को चौड़ा करने के लिये गर्म जल की उत्तर वस्ति (Douche) देनी चाहिये।

द्वितीयावस्था में—(१) मूलाधार पीठ (Perineum) के विदारण होने से उसी प्रकार रक्षा करनी चाहिये जिस तरह साधारण प्रसव के सम्बन्ध में बतलाया गया है। यदि आवश्यक हो तो मूलाधार भेदन (Episiotomy) कर देना चाहिये।

(२) बालक के बाहर निकले हुए गात्र की शीत से रक्षा करने के लिये अर्थात् गरम बनाये रखने के लिये गरम तौलिये का इन्तजाम रखना चाहिये तथा प्राणावरोध की चिकित्सा के लिये जो सामान आवश्यक हो उनको तैयार रखना चाहिये।

(३) जब बालक के गात्र का नाभितक जन्म हो जाय तब नाभिनाल को एक ओर कर देना चाहिये। जिससे उसका पीडन न हो सके।

(४) नाल को हाथ में लेकर उसका स्पन्दन देखते रहना चाहिये जिससे बालक की अवस्था का ज्ञान होता रहे।

(५) पैर तथा बालक (जन्म लिये हुए गात्र) को गरम तौलिये में लपेट कर माता के पेट की ओर करके पकड़े रहना चाहिये। इससे प्रसव में सुविधा होती है। गात्र का पार्श्वावनमन हो जाता है।

(६) सिर को आगे की ओर झुकाये रखने के लिये एक सहायक चाहिये जो कि बाहर से गर्भाशय को नीचे की ओर दबाये रखे। गर्भाशयस्कन्ध (Furdus) का पीडन होने से प्रसव में सुविधा होती है।

(७) जब केहुनी (कूर्पर) दिखलाई दे तो अंगुलियों की सहायता से उसे नीचे की ओर निकाल देना चाहिये।

(८) यह भी याद रखना चाहिये कि जब तक नाल का स्पन्दन ठीकप्रकार से हो रहा है तब तक बालक को किसी प्रकार का भय नहीं रहता।

प्रेग की विधि

चित्र ८१

(९) यदि गात्र का जन्म हो चुका हो और कुछ मिनटों तक प्रतीक्षा करने के बाद भी सिर का जन्म न हो रहा हो तो अधिक विलम्ब नहीं करना होता और निम्न लिखित विधियों से उसे शीघ्रता से निकाल लेना चाहिये अन्यथा प्राणावरोध का भय रहता है।

(अ) प्रथम या **प्रेग (Prague) की विधि**—इस में बालक के दोनों पैर (टाँगों) को एक हाथ से पकड़ कर, माता के जंघाओं के ठीक बीच में ले जाते हैं। दूसरे हाथ की मध्यमा और तर्जनी अंगुलियों के बीच में बालक की ग्रीवा और अंसदेश पकड़ लेते हैं, ताकि सिर स्थिर रहे। अब धीरे-धीरे टाँगों को माता के पेट की ओर खींचते हुए सिर

को निकालते हैं। जब सिर श्रोणिकण्ठ के नीचे रहता है तभी यह क्रिया कार्यकर होती है।

(ब) **द्वितीय स्मेली (Smellie) की विधि**—बालक को अपनी अग्रबाहु पर चढ़ाकर बायें हाथ की दो अंगुलियों को मुख के भीतर जिह्वा के ऊपर डालकर अथवा नाक से नीचे ऊपर के जबड़े पर अँटकाकर सिर को सामने की ओर झुकाये रखें। दाहने हाथ की दो अंगुलियों को कंधों पर ग्रीवा के दोनों

स्मेली की विधि
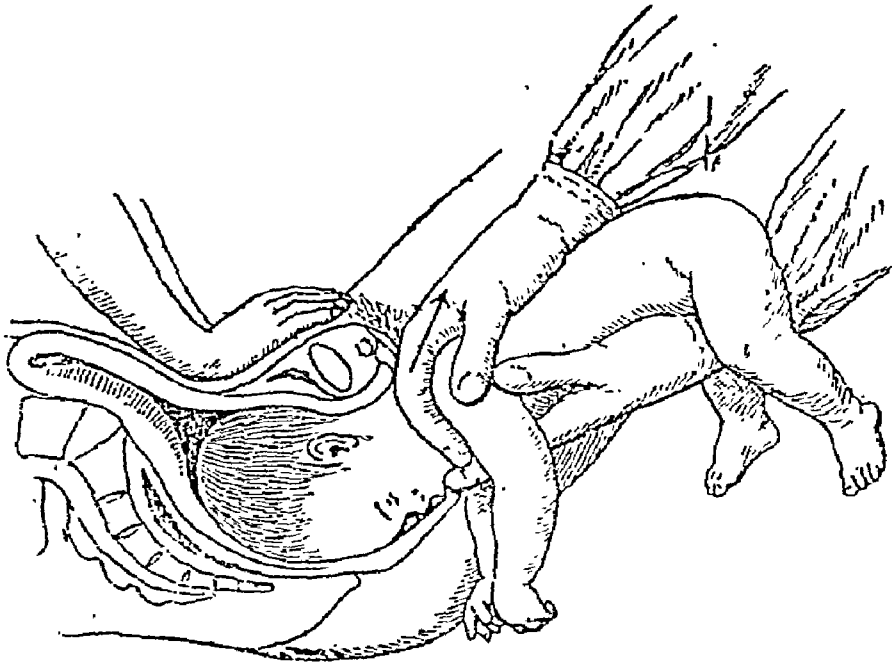
चित्र ८२

ओर ले जाकर ग्रीवा को उन दोनों के बीच में ले ले । अब बालक को ऊपर की ओर खींचकर उसका सिर निकाले।

नोट—उपर्युक्त दोनों विधियों को करते समय एक सहायक चाहिये ताकि वह १. ऊपर से गर्भाशय को (भगास्थि के ऊपर दबाव देकर Suprapubic pressure) दबाये रखे। २. दोनों विधियों के करते समय रोगी का क्लोरोफार्म देकर संज्ञाहरण कर लेना चाहिये। ३. पहली विधि को तभी काम में लेना चाहिये जब सिर वस्ति के प्रवेश द्वार के नीचे आ चुका हो । जब सिर ऊपर को हो तो

दूसरी विधि का प्रयोग करना चाहिये । ४. दूसरी विधि अप्रजाताओं में अधिक लाभदायक होती है क्योंकि इससे योनि-क्षत आदि होने का भय अल्प रहता है।

(स) सिर का बहिर्निष्क्रमण संदंश की सहायता से भी किया जा सकता है; परन्तु पहली दो विधियों की अपेक्षा इसमें देर अधिक लगती है अतः प्रयोग कम होता है । तथापि यदि गर्भ मर गया हो अथवा उपर्युक्त विधियों से उसके प्रसव कराने में सफलता न मिली हो, तो संदंश से पकड़ कर निकालना चाहिये । गर्भ के

सिर का बहिष्करण

चित्र ८२

शरीर को माता के उदर की ओर लेकर ऊपर की ओर खींच कर नीचे से संदंश का सिर को निकालने में प्रयोग करना चाहिये । माता को अभिघात से बचाने के लिये यह उत्तम है कि गर्भ का शिरोवेधन करके पश्चात् संदंश का प्रयोग किया जाय ।

शिरोनिर्गम में विलम्ब होने के हेतु तथा उसके उपक्रम—

शिरःसंग (Impaction of the after coming head)— सिर का प्रसार ही प्रधान हेतु है । ऐसा प्रायः संधानिकोत्तर पीडन (Supra-pubic pressure) के ही गर्भ शरीर के खींचने से होता है जैसा कि बाहु-प्रसरण के समान ही सिर का भी प्रसार होता है । यदि सिर बहुत बड़ा हो और श्रोणि संकुचित हो तब भी प्रसरण हो जाता है। इसके उपचार में पूर्वोक्त विधियों से उपचार करना चाहिये ।

शिरोग्रह (Gripping of the head)-कई वार गर्भाशय के आकुंचन वलय से अथवा ग्रीवा के अपूर्ण विकास के कारण सिर जकड़ जाता है । इससे गर्भ की मृत्यु हो जाती है । ऐसी स्थिति में उपचार के लिये प्रसूता को पूर्णतया संज्ञाहरण के द्वारा मूर्च्छित कर लेना चाहिये। इससे पेशियों का संकोच दूर हो जाता है और वे शिथिल हो जाती हैं । शिरोदारण भी कर सकते हैं। यदि गर्भ जीवित हो तो गर्भाशय ग्रीवा को काटकर उसका निर्हरण किया जा सकता है ।

शिर का प्रतीपावर्त्तन (Malrotation)-कई वार गर्भ का विकृत घुमाव हो जाने से अनुशीर्ष त्रिक के गर्त और मुख भगसंधानिका के पीछे चला जाता है। और प्रसव में बाधा पहुँचती है । ऐसी स्थिति में चिकित्सा के लिये इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये जिसमें हनु सब से पहले बाहर निकले । 'प्रेग' विधि से निकालने का प्रयत्न करना चाहिये । निर्गत शरीर वाले बालक को माता की पीठ की ओर ले जावे इससे निष्क्रमण में सुविधा होती है, अथवा विवर्त्तन के द्वारा अनुशीर्ष को आगे की ओर ले आकर 'प्रेग' की विधि से निकाले ।

श्रोण्यवतरण के उपद्रव तथा उनकी चिकित्सा—प्रथमावस्था में अकाल में ही जरायु के विदीर्ण होने से 'शुष्क' प्रसव की संभावना रहती है । श्रोणि गर्भाशयग्रीवा का हीन प्रसारक होता है इसलिये ग्रीवा को पूर्णतया विकसित करने के लिये उसमें साहाय्य की अपेक्षा रहती है । इसके लिये अंगुलियों के सहारे अथवा 'डी रिब्से के कोष' (De Ribe's bag) के द्वारा ग्रीवा को विकसित करना चाहिये । परन्तु धैर्य से काम लेना ही सर्वोत्तम है और बलात् विकसन नहीं करना चाहिये ।

द्वितीयावस्था में उपर्युक्त सिर के अवरोध के अतिरिक्त भी कई उपद्रव व्यवहार में मिलते हैं—उदाहरणार्थ— ,

१. जघनसंग (Impaction of breech)—स्फिक् या नितम्ब का न निकल सकना—कारण-(क) नितम्ब का वहुत वड़ा होना, (ख) श्रोणि गुहा का छोटा होना, (ग) अपूर्ण नितम्बोदय (Extended breech) इसमें टांगों के फैले रहने के कारण शाखायें गात्र पर नहीं मुड़ सकतीं। इसमें उपचार निम्नलिखित विधि से करें—

गर्भिणी को 'क्लोरोफार्म' से निःसंज्ञ करके अपने विशोधित हाथ को योनि में डाले और वालक के एक पैर को पकड़ कर नीचे की ओर खींच ले। यदि पूर्ण नितम्बोदय हो तो अपना हाथ वालक की जाँघ के साथ-साथ उसके घुटने तक ले जावे। फिर घुटने को वालक की पेट की ओर दवावे जिससे टाँगे घुटने पर झुक जायेंगी। अब पैर को आसानी से पकड़ कर नीचे को खींचा जा सकता है। फिर प्रसव को अपने आप समाप्त होने दे।

यदि हाथ योनि में प्रवेश न हो सके नितम्ब को निकालने के लिये एक विशेष प्रकार वडिश यन्त्र (Breech hook) प्रयुक्त होता है। इसको अपने

ब्रीच-हुक

चित्र ८४

अंगुलियों के साथ-साथ वालक के कमर तक पहुंचाना चाहिये और वहाँ पर लगा के धीरे-धीरे खींचना चाहिये अन्यथा जोर से कर्षण करने से अस्थि भग्न का भय रहता है। यदि इन कर्षण की विधियों से भी सफलता न मिले तो गर्भ को नष्ट करके निकालना चाहिये। वडिशशस्त्र (Sharp hook) अथवा घातनकर्त्तरी (Embryotomy scissors) से पूर्व वंक्षण में लगाकर शाखावों को काटकर निकाले। अथवा शीर्षपीडक (Cephalotribe) से गर्भ की श्रोणि का पीड़न करके निकालना चाहिये।

२. उद्बाहुता—भुजाओं का सिर के ऊपर चला जाना—प्रसव में शीघ्रता लाने के लिये नितम्ब या पैरों का विधिपूर्वक कर्षण न होना तथा गर्भाशय को ऊपर से

दवाये न रखने के कारण यह बाधा उत्पन्न होती है। इसकी चिकित्सा निम्नलिखित की भाँति करनी चाहिये—

वालक के गात्र को माता के पेट की ओर उठाकर पहली भुजा को पहले नीचे की ओर खींचले, फिर वालक को पीछे की ओर कर के सामने की वाहु को निकाले, निकालते समय वाहु को छाती के सामने से घुमावे।

उद्गत-वाहुप्रतीकार विधि
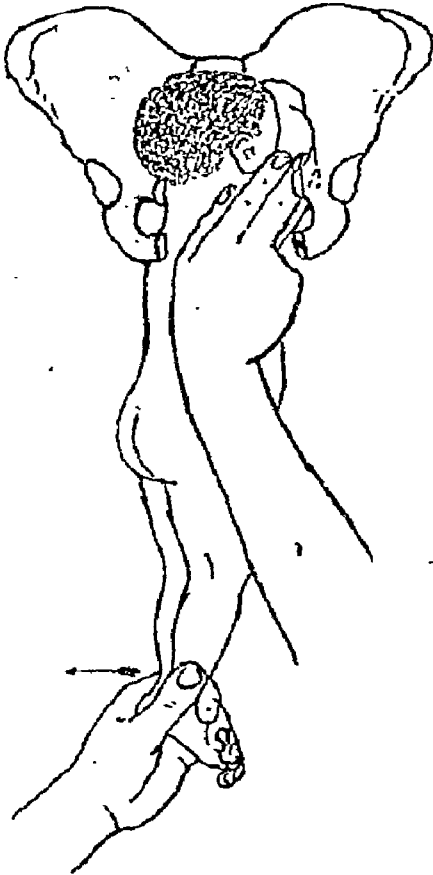
चित्र ८५ चित्र ८६
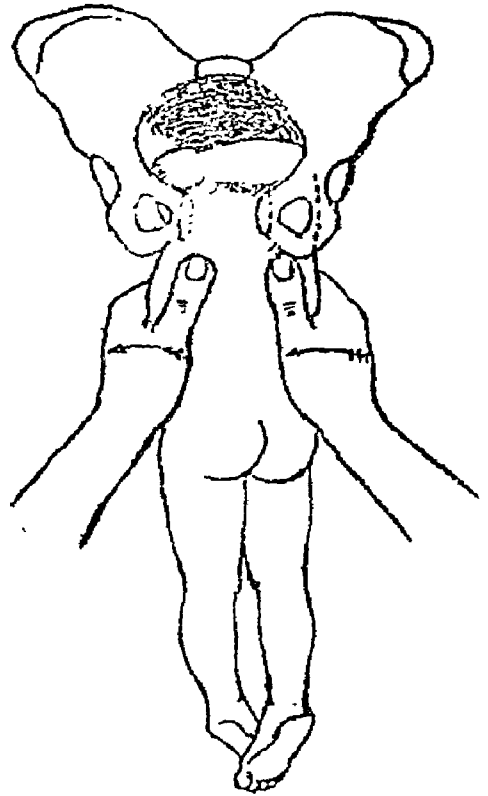
२. भुजा का ग्रीवा के पीछे की ओर चला जाना (Dorsal Displacement of the Arm) इस में उपचार में जिस तरफ ग्रीवा के पीछे वाली भुजा हो उसी ओर वालक के गात्र को घुमाना चाहिये इस घुमाव से भुजा सिर के पार्श्व में आजाती है। यदि इस प्रकार से उपचार करने के वाद भी भुजा सामने न आये तो योनि में हाथ डालकर कूर्पर को अंगुलियों से पकड़कर सामने और

नीचे की ओर खींचकर निकाले। यदि इससे भी सफलता न मिले तो वाहु का छेदन कर के निकालना चाहिये।

४. गात्र के निकल जाने के बाद भी सिरका न निकलना—(Delay in after coming head) इसका वर्णन ऊपर में हो चुका है।

स्कन्धोदय या पार्श्वोदय

(Transvere, oblique, shoulder, presentation or cross birth)

इस अवतरण में गर्भाशय के अन्दर वालक अपने एक पार्श्व पर पड़ा रहता है और एक कन्धा नीचे की ओर होता है। गर्भ का सिर एक श्रोणि फलक पर और निम्व या स्फिक् दूसरे श्रोणिफलक पर रहता है।

इस प्रकार का अवतरण वहुत कम आधे प्रतिशत के प्रमाण में मिलता है।

हेतु—गर्भ तथा गर्भाशय की आकृति तथा वल की विकृति श्रोण्यवतरण के सम्वन्ध में जिस प्रकार हेतु है उसी प्रकार पार्श्वावतरण में भी।

आसन—सिर माता के एक ओर या दूसरी ओर होने के अनुसार तथा गर्भ के पीठ के सामने या पीछे रहने के मुताविक इस अवतरण के भी चार आसन होते हैं।

पार्श्वावतरण पार्श्वावतरण
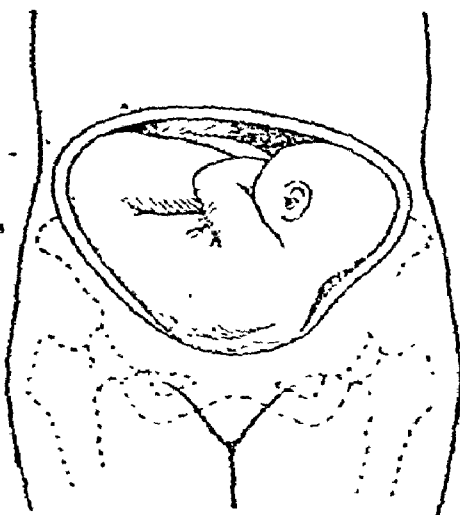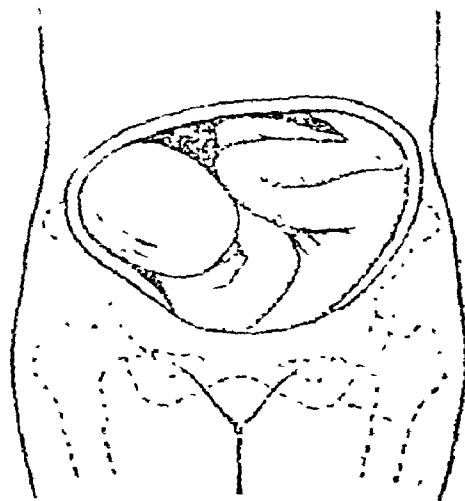
चित्र ८७ चित्र ८८

इन आसनों का नामनिर्देश अंस (कूट) पृष्ठ के अनुसार होता है।

वामपूर्वांसपृष्ठासन (Left Acromio Anterior)—इस आसन में

गर्भ की पीठ सामने की ओर, सिर वाम जघनखात पर (Iliac fossa) तथा दक्षिण अंसकूट नीचे की ओर वामश्रोणि गवाक्ष के पास रहता है, यह सबसे प्रधान आसन है और बहुलता से मिलता है।

दक्षिणपूर्वांसपीठासन—(Right Acromio Anterior) गर्भ की पीठ सामने की ओर सिर दाहिने जघनखात में बायाँ अंसकूट (Acromion) नीचे की ओर दाहिनी श्रोणि गवाक्ष पर पड़ा रहता है।

दक्षिणपश्चिमांसपृष्ठासन—(Right Acromio Posterior) इस आसन में गर्भ की पीठ पीछे की ओर होती है सिर दक्षिण जघनखात में दाहिना अंसकूट नीचे की ओर दक्षिण गवाक्ष के समीप रहता है।

वामपश्चिमांस पीठासन—(Left Acromio Posterior) इसमें भी गर्भ की पीठ पीछे की ओर सिर बांई ओर वाम जघनखात में बायाँ अंसकूट नीचे की ओर वाम गवाक्ष (L. Obturat or foramen) पर पड़ा रहता है।

कुछ विद्वानों के मत से दो ही आसन होते हैं पूर्व पृष्ठांस (Dorso-anterior) तथा पश्चिम पृष्ठांस (Dorso-posterior)।

निर्णय-दर्शन—गर्भाशय चौड़ाई में अधिक और ऊँचाई में साधारण से कम होता है। गर्भाशय उतना ऊपर की ओर नहीं होता जितना कि उन मासों में उसे आमतौर से होना चाहिये।

स्पर्शन—यह तभी सम्भव है, जब प्रसव का आरम्भ न हुआ हो, अथवा आरम्भ हुए थोड़ा ही काल व्यतीत हुआ हो और जरायु न फटी हो। क्योंकि जरायु के विदीर्ण हो जाने के बाद बालक के ऊपर गर्भाशय बहुत सिकुड़ जाता है।

प्रथम—गर्भाशय के ऊपर के भाग में न सिर का अनुभव होगा न स्फिक् का।

द्वितीय—सिर एक ओर के जघन खात में होगा और वहाँ पर वह इधर-उधर हिलाया भी जा सकेगा अर्थात् गर्भ-प्रत्याघात (Ballotment) का चिह्न स्पष्ट प्रतीत होगा। नितम्ब दूसरी ओर सिर के सतह से कुछ अधिक ऊंचाई पर अनुभव किया जा सकेगा।

तृतीय और चतुर्थ—इनसे कुछ पता नहीं चलता।

योनिपरीक्षण—यदि उचित समझा जाय तो रुग्णा को 'क्लोरोफार्म' प्रभृति संज्ञाहर द्रव्यों से मूर्च्छित करके पूरे हाथ को योनि में डाल कर परीक्षा करनी चाहिये।

(१) यदि गर्भकोप की थैली न फटी हो तो थैली (जरायु) गोस्तनाकार

(अङ्गुलि के रूप में) निकलती पाई जायेगी। बालक का अनुभव नहीं हो सकेगा, परन्तु यदि उसकी एक भुजा नीचे लटकती हुई हो तो उसका अनुभव किया जा सकेगा।

(२) जरायु के विदीर्ण होने के पश्चात्—(क) यदि एक भुजा योनि में हो तो निश्चित पार्श्वोदय ही जानना चाहिये। यदि भुजा मुड़ी हुई न हो तो बालक की स्थिति निम्नलिखित प्रकार से जाननी चाहिये।

बालक के निकले हुए हाथ से अपना हाथ मिलावें (Shaking hand) अर्थात् हाथ मिलाने के लिये अपना जिस ओर का हाथ उचित प्रतीत हो उसी की दो अङ्गुलियों को बालक की हथेली पर रखे तो पता लग जायगा कि बालक का कौन सा हाथ है। हाथ को चपटा करने से जिस ओर अङ्गुष्ठ होगा उसी ओर बालकका सिर होगा और हथेली की दिशा में बालक का पेट होगा। इसी तरह जब हम अपने अङ्गुलि को बालक के कक्ष (Axilla) में प्रविष्ट करेंगे तो जिस ओर अंगुली जाने से रुक जायगी उसी दिशा में बालक का सिर होगा।

चित्र ८९

(ख) यदि भुजा योनि में न हो तो पर्शुका, अंसफलक (Scapulla) और अक्षकास्थि का अनुभव करे। कक्ष तल का गढा बालक की सिर की स्थिति का प्रदर्शन करेगा। यदि प्रसव में विलम्ब होने के कारण कन्धे पर शोथ (उपशीर्ष) बना होगा तो वह नितम्ब की तरह प्रतीत हो कर भ्रान्ति पैदा करेगा। अतः ऐसी स्थिति में भली प्रकार संज्ञा-हरण के द्वारा रोगी को मूर्च्छित
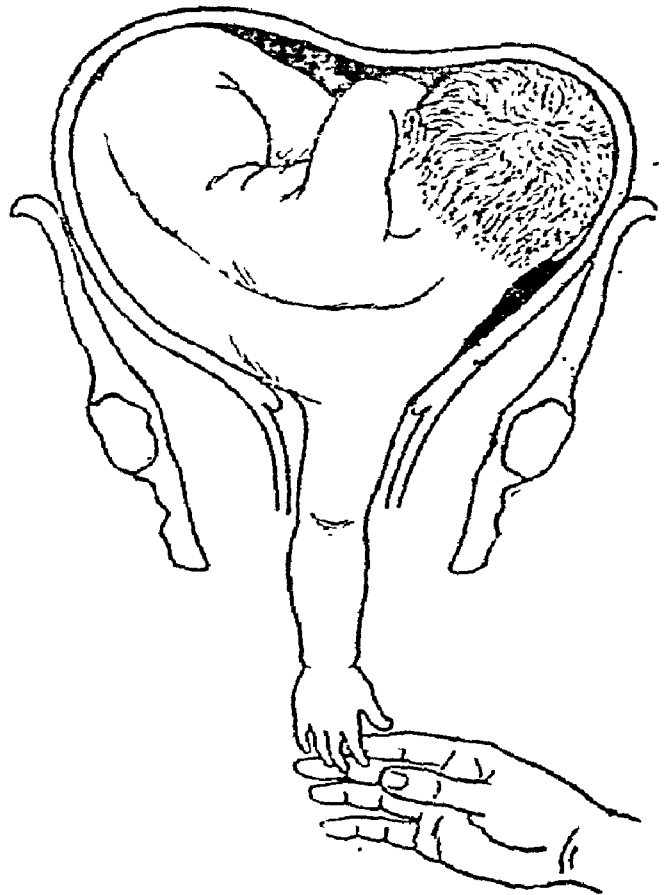
करके ही परीक्षा करनी चाहिये। क्योंकि स्फिगुदय और पार्श्वोदय के उपक्रम में बहुत बड़ा अन्तर है। इस भ्रम में सूतिका के मृत्यु का भी भय रहता है।

निष्क्रमण विधि—यदि बालक और श्रोणिगुहा के परिमाण स्वस्थ हों अर्थात् बालक बहुत छोटा या श्रोणिगुहा बहुत चौड़ी न हो तो बालक का जन्म बिना सहायता के असम्भव हो जाता है। गर्भ बालक के ऊपर खूब सिकुड़ जाता है क्यों कि वह अपनी ओर से बालक को निकालने का यत्न करता है। कभी-कभी बालक के दबने के कारण अन्दर ही मृत्यु हो जाती है कई बार तो सिकुड़ते-सिकुड़ते

स्कन्धोदय का स्वयमेव होना
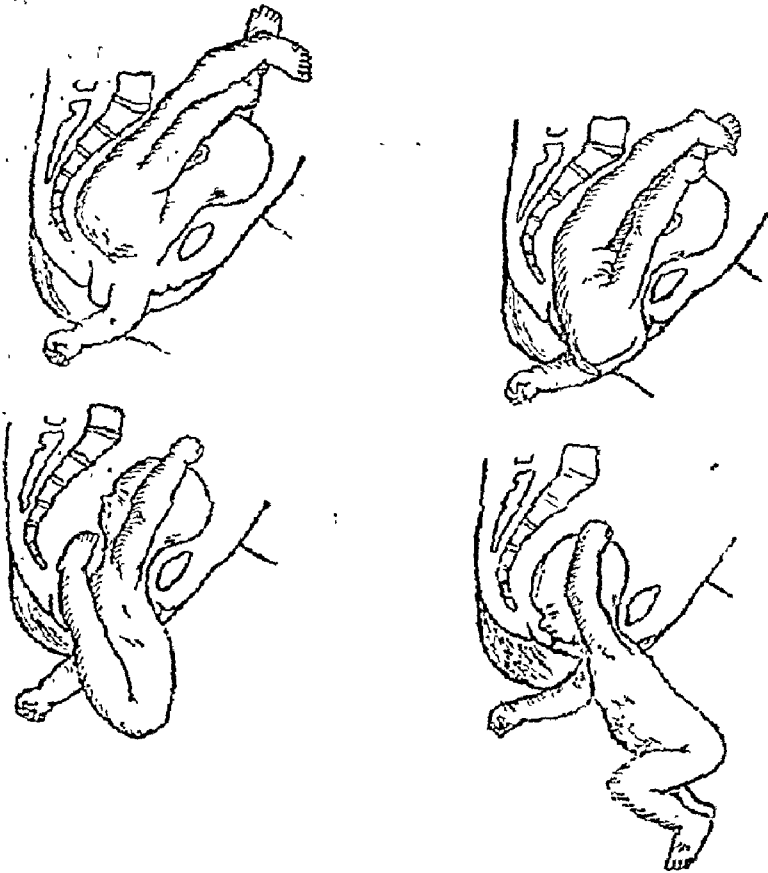
चित्र ९०, ९१, ९२, ९३।

गर्भाशय का निचला भाग फट जाता है परन्तु कभी-कभी गर्भाशय अन्त में थक

जाता है और उसमें सिकुड़ने की शक्ति नहीं रहती। कई वार थकावट के कारण प्रसूतिका की मृत्यु हो जाती है।

यदि वालक साधारण से वहुत छोटा हो अथवा वस्ति गुहा अत्यन्त छोटी हो तो निम्नलिखित तीन विधियों से वालक का जन्म सम्भव हो सकता है।

(१) उदय का स्वयमेव ठीक हो जाना (Spontaneous version) इसमें प्रसव के समय में सिर अथवा स्फिक् नीचे की ओर हो जाते हैं और साधारण रीति से वालक का जन्म हो जाता है।

(२) गर्भोदक की थैली फटने के पश्चात् पिछली ओर के कन्धे का नीचे हो जाना और सामने को घूम कर सन्धानिका के नीचे स्थिर होना तत्पश्चात् छाती, पेट, स्फिक् और टांगों का क्रमशः निकलना इसमें सिर सवसे अन्त में निकलता है।

(३) संख्या २ की तरह पिछले कन्धे का सन्धानिका (Pubic Arch) के नीचे स्थिर होना पाया जाता है, तत्पश्चात् सिर और गात्र एक ही साथ वाहर निकलता है अर्थात् वालक अपने ऊपर दोहरा होकर निकलता है।

शुभाशुभ-(क) यदि इस स्थिति में गर्भ की उपेक्षा की जाय तो संग (Impaction) हो जाता है और सङ्ग के परिणाम स्वरूप निकलने में असमर्थ गर्भ भीतर ही भीतर पीडित होकर रक्तवहन के वन्द होने से मर जाता है। (ख) गर्भ के कारण अत्यन्त आध्मान गर्भाशय में होता है जिससे पतली अधोगर्भशय्या (Lower uterine segment) का दारण (Rupture of the uterus) हो जाता है अर्थात् फट जाती है। (ग) कई वार दारण की अवस्था प्राप्त करने के पूर्व ही आकुञ्चन करते-करते गर्भाशय क्लान्त (Exhausted) हो जाता और सङ्कोच करने से ही विरत (Secondary Inertia of the uterus) हो जाता है। (घ) कई वार आवीप्रणाश (Secondary Inertia) अथवा आकुञ्चन-विरति अथवा गर्भाशय-विदरण के पूर्व ही वल के अत्यन्त क्षय हो जाने के कारण माता की मृत्यु हो जाती है। (ङ) इसके अतिरिक्त जरायु का अकाल विदरण, नाभिनाल-भ्रंश, संक्रमण-भीति, तथा प्रसवोत्तर रक्तस्राव प्रभृति सामान्य उपद्रव भी मिल सकते हैं।

चिकित्सालयों के 'रेकार्डस' के अनुसार ५·२% माताओं की तथा ६०·०% प्रतिशत ऐसे वालकों की स्कन्धोदय की स्थिति में मृत्यु पाई गई है।

उपचार—(१) यदि इस उदय का निर्णय गर्भावस्था के पिछले दो महीने में हो गया हो तो गर्भिणी को सोते समय तथा दिन में कुछ घण्टों के लिये उसी करवट पर लेटाना चाहिये जिस ओर बालक का सिर अनुभव किया गया हो। कई बार इस प्रकार कुछ समय तक करने से उदय स्वयमेव ठीक हो जाता है।

यदि सफलता न मिले तो बाह्य विवर्त्तन के द्वारा (External version) से बालक को घुमा कर उसके उदय को बदल देना चाहिये तथा बालक के दोनों ओर कवलिका रख कर गर्भिणी के उदर पर चौड़ी पट्टी बाँध देना चाहिये, जिससे बालक की स्थिति ठीक रहे और प्रसव के काल तक गर्भिणी की देख-रेख करते रहना चाहिये।

(२) यदि प्रसवारम्भ में ही इस उदय का पता लगे तो जब तक जरायु विदीर्ण न हुई हो तो बाहर से या भीतर से बालक को घुमा कर (External or internal version) उसका उदय ठीक कर लेना चाहिये।

(३) यदि जरायु फट चुकी हो और तब बालक के आसन का निर्णय हुआ हो तो पहले बालक के हृदय का स्पन्दन सुनकर यह मालूम कर लेना चाहिये कि वह जीवित है या मृत अथवा जन्म के पश्चात् उसके जीवन की आशा की जा सकती है या नहीं।

यदि रुग्णा की स्थिति ठीक हो, जरायु के विदीर्ण हुए अल्प ही समय बीता हो, और गर्भस्थ बालक की अवस्था भी अनुकूल और अच्छी जान पड़े तो सूतिका का गम्भीर संज्ञानाशन 'क्लोरोफार्म' के द्वारा करके गर्भाशय के भीतर विशोधित हाथ को डाल कर अन्तः विवर्त्तन के द्वारा पैर या जानु को पकड़ कर नीचे को खींच लेना चाहिये। यदि बालक की पीठ माता के सामने न होकर पीछे की ओर हो तो स्मरण रखना चाहिये कि बालक के ऊपर की ओर का पैर पकड़ कर नीचे को खींचे। जिससे अनुशीर्ष सामने सन्धानिका (Pubis) की ओर घूम जाय अन्यथा बालक का मुख सामने की ओर हो जायेगा। यदि बालक की एक भुजा योनि में हो तो बालक को उपर्युक्त रीति से घुमाने के पूर्व उसकी भुजा में एक फीता या पतला कपड़ा बाँध देना चाहिये ताकि घुमाते समय वह भुजा बालक के गात्र के साथ लगी रहे और सिर की ओर लम्बी न हो जावे।

गर्भच्छेदन—यदि जरायु के विदीर्ण हुए बहुत देर हो चुकी हो अथवा गर्भस्थ बालक मृत हो, अथवा उसके जीने की आशा न हो अथवा अधोगर्भाशय

अतिशय आकुञ्चित हो और उसके विदार (Rupture) का भय उपस्थित हो, अथवा उसके ऊपर आकुंचितवलय (Bandl's ring) स्पष्ट प्रतीत होती हो, अथवा किसी प्रकार का (वाह्य या आभ्यन्तर, शीर्ष या श्रोणि) विवर्त्तन सम्भव न हो, निषिद्ध हो अथवा दुःशक्य हो तो इस स्थिति में गर्भच्छेदन (Embryotomy), ग्रीवाच्छेदन (Decapitation), पृष्ठच्छेदन (Sponditotomy) अथवा कोष्ठाङ्गच्छेदन (Evisceration) प्रभृति शस्त्रकर्मों में से किसी एक के द्वारा गर्भ का आहरण करना उचित है।

उदरविपाटन (Caesarian section)—इस आसन में विधेय नहीं है उसका सदा निषेध ही मिलता है। इस शल्यकर्म की आवश्यकता केवल उस समय पड़ती है जब श्रोणिसंकोच अथवा अर्बुदादि की उपस्थिति हो और योनि से प्रसव होने में कठिनाई दीख पड़े तभी उदर पाटन करके गर्भ का निर्हरण करना चाहिये।

जटिलावतरण (Complex or Compound Presentation)—कई वार सिर के साथ हाथ, पैर, दोनों पैर, हाथ और पैर, अथवा दोनों हाथ और पैर नीचे की ओर भ्रष्ट हो कर साथ ही उदय लेते हैं। ऐसी स्थिति तब मिलती है जब गर्भ सिर अथवा स्त्री श्रोणि के आकार और प्रमाणसम्बन्धी विकार होते हैं जिससे श्रोणि कण्ठ (Brim) का सम्यक् पूरण नहीं हो पाता। गर्भ का निष्क्रमण प्रायः इसमें विना किसी प्रकार की बाधा के हो जाता है। तथापि इस प्रकार के प्रतिपन्न गर्भ के हाथ-पैरों को ऊपर की ओर उत्क्षिप्त करके सिर को अनुलोम ले आ कर निकालना चाहिये। अथवा पैरों को खींच कर गर्भ के नीचे वाले आधे भाग को अपत्यपथ की ओर ले आकर खींच कर निकालना चाहिये।

इस प्रकार के अवतरणों को सुश्रुत की परिभाषा के अनुसार 'प्रतिखुर' कहा जाता है। 'एक ही साथ हाथ, पैर और सिर का मुड़े हुए गात्र के साथ निकलना प्रतिखुर कहलाता है।'

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में विकृत अवतरणों का वर्णन 'मूढगर्भ' के नाम से मिलता है। इसमें विगुण हुए अपान वायु के द्वारा गर्भ की गति विलोम या अवरुद्ध हो जाती है। यह वर्णन इतना विशद है कि एक स्वतन्त्र अध्याय के रूप में इसका उल्लेख करना उत्तम होगा अतः अगले अध्याय में उसका वर्णन किया जा रहा है।

—ooXoo—

आठवाँ अध्याय

मूढगर्भ

(Abnormal Delivery & Difficult labour)

व्याख्या या परिभाषा—'वही गर्भ कई वार वहुत वड़ा ह कर सामान्य निष्क्रमण विधि से बाहर नहीं निकलता और अपत्यपथ में आकर रुद्ध हो जाता है और नहीं निकल पाता (इस यातना से) गर्भ मूर्च्छित हो जाता है ऐसे गर्भ को 'मूढगर्भ' कहते हैं।'

'विगुणवायु से पीडित होकर कभी-कभी गर्भ ठीक तरह से अपत्यमार्ग से न निकल कर अनेक प्रकार से निकलता है इस प्रकार के मूर्च्छित गर्भ को मूढगर्भ कहते हैं। विगुणवायु के पीडन की विचित्रता के अनुसार इसकी असंख्य प्रकार की गतियाँ होती हैं।'

इस प्रकार मूढगर्भ की तीन विचित्रताओं का उल्लेख आचार्यों ने किया है—
१. अनिरस्यमान (Partialy or comletely obstructed) २. असम्यक् आगत (Malpresented) ३. सम्मोहित (Asphyxiated or stillborn)

अनिरस्यमान मूढगर्भ—गर्भिणी या गर्भ के अङ्गों की विगुणता के कारण गर्भ अवरुद्ध हो जाता है और स्वतः उसके निकलने में असमर्थता आजाती है। इस प्रकार की निरुद्ध गति वाले गर्भ का अनिरस्यमान मूढगर्भ की संज्ञा प्राचीनों की है। आधुनिक वर्णनों के आधार पर ये विगुणतायें निम्न प्रकार की हो सकती हैं—

१. माता के अङ्गों की विगुणता—जैसे सङ्कुचित श्रोणि, योनिगर्भाशय श्रोणि तथा बीजग्रन्थि के अर्बुद, गर्भकंषपरासङ्ग (Rtraction ring or Dystochia) योनिसंवरण (Stenosis of the cervix or vagina) योनि तथा गर्भाशय के बनावट सम्बन्धी दोष (Malformatcon of vagina and uterus), गर्भाशय का स्थिति-दोष (Malposition of uterus)

२. गर्भ के अङ्गों की विगुणता—जैसे गर्भ के आसन अवतरण तथा संस्थिति के दोष (Abnormal presentation, position & Attitude), गर्भ के परिमाण का दोषपूर्ण होना-अत्यन्त अल्प या बृहत् होना

(Abnormal size of the entire foetus or its parts), यमल अथवा बहुपत्यता, विकृत गर्भ (Malformation) तथा अर्बुद ।

इन विगुणताओं के कारण गर्भाशय के आकुञ्चन कमजोर हो जाते हैं अथवा अवतरण विकृत हो जाते हैं अथवा उदय तथा निष्क्रमण दोषपूर्ण हो जाते हैं अथवा अन्य उपद्रवों की उपस्थिति प्रसव में हो जाती है जिससे गर्भ अवरुद्ध हो जाता और उसका अपत्यपथ से निकलना दुष्कर हो जाता है ।

३. **असम्यक् आगत मूढगर्भ**—इस विकार के भीतर सभी प्रकार के विकृत अवतरणों का समावेश है ऐसा समझना चाहिये । सभी प्रकार के विकार युक्त निष्क्रमण, अवतरण और उदयों का विशद वर्णन पहले किया जा चुका है । वैकृत अवतरणों का पूरा प्रसङ्ग मूढगर्भ के वर्णनों से मिलता-जुलता है उदाहरणार्थ—

पश्चिम अनुशीर्षासन—का प्रतीपावर्त्तन, मुखोदय, स्फिक्पादोदय, स्फिगुदय, जानूदय, पादोदय, स्कन्धोदय, कूर्परोदय, हस्तोदय, जटिलावरण प्रभृति सभी मूढगर्भ के ही असंख्य रूप हैं ।

अष्टाङ्गसंग्रहकार ने मूढगर्भ की व्याख्या करते हुए लिखा है कि गर्भ की तीन प्रकार की गतियाँ होती हैं ऊर्ध्व (श्रोण्यवतरण), तिर्यक् (पार्श्वावतरण) तथा न्युब्ज (शिरोवतरण) । इनमें संकुचित सिर होकर जब गर्भ सिर के द्वारा श्रोणि में प्रविष्ट होता है और उचित पथ से वह स्वयं निकल जाता है तो उसे सम्यक् आगत (ठीक प्रकार से आया हुआ या निकला हुआ) मानते हैं । जब इसके विपरीत गति होती है तो उसे असम्यक् आगत (ठीक प्रकार से न आया हुआ) या मूढगर्भ कहते हैं । आचार्य सुश्रुत ने लिखा है कि वायु के कोप से इस अवस्था में नाना प्रकार की गतियाँ होती हैं ।

चार प्रकार की गतियाँ—(सु० चि० १५)

कील—ऊपर की ओर पैर, हाथ और सिर का जो कील के समान योनिमुख को रुद्ध करे । यह स्फिगुदय में जघनसंग (Impacted Breech) की स्थिति है ।

प्रतिखुर—जिसमें हाथ, पैर, सिर साथ-साथ निकले परन्तु गात्र का सङ्ग हो जावे । यह जटिलोदय (Complex or Compound presentation) की स्थिति है ।

बीजक—जिसमें एक भुजा और सिर साथ ही निकलें । यह जटिलोदय की ही अवस्था है ।

परिघ—जो परिघ (कील) के समान योनिमुख को रुद्ध करके पड़ा रहे। यह स्कन्धोदय (Cross birth) की अवस्था है।

आठ प्रकार की गतियाँ—(सु० नि० ८)

(१) 'कोई कोई दोनों पैरों से योनिमुख में प्रतिपन्न होता है।' ऐसा स्फिक् पादोदय (Full breech presentation) में होता है।

(२) 'कोई तो एक सक्थि से मुड़ी हुई सक्थि से जन्म लेता है' ऐसा पादोदय या जानूदय (Foottling or knee presentation) में होता है।

(३) 'कोई-कोई स्फिक् प्रदेश से तिरछे आकर मुड़ी हुई जानु से आता है।' ऐसा स्फिगुदय में होता है।

(४) 'कोई-कोई वक्ष, पार्श्व अथवा पीठ में से किसी एक के द्वारा योनि को अवरुद्ध करके पड़ा रहता है।' ऐसा पार्श्वावतरण (Transverse presentation) में मिलता है।

(५) 'कोई कोई अन्तःपार्श्व की ओर अपवृत्त सिर होकर एक बाहु से निकलता है।' ऐसा हस्तभ्रंशयुक्त स्कन्धोदय (Transverse presentation with prolapse of hands) में पाया जाता है।

(६) 'कोई-कोई संकुचित और दोनों बाहुवों से (रुद्ध हो जाता है)।' ऐसा जटिलोदय (Complex presentation) में मिलता है।

(७) 'कोई-कोई (दुहरा होकर) गात्र मुड़े हुए हस्त-पाद एवं सिर के साथ ही साथ रुद्ध हो जाता है।' इस प्रकार की दशा भी जटिलोदय में मिलती है।

(८) 'कोई-कोई एक पैर से योनिमुख में और दूसरे से पायु की ओर होकर रुद्ध होता है। ऐसा पादोदय या जानूदय में (Foot & knee presentation) संभव है।

आचार्य वाग्भट ने (वा० शा० १) विष्कम्भक की संज्ञा से सातवें और आठवें विकार का वर्णन किया है और चिकित्सा में इनके लिये शस्त्रावदारण ही उपाय बतलाया है।

आचार्य माधव ने सुश्रुतोक्त आठ गतियों का इस प्रकार वर्णन किया है—'गर्भ कभी सिर से निरुद्ध होकर (Reverse rotation in occipito posterior position), कभी उदर से निरुद्ध होकर (Cross Birth), कभी कुब्ज शरीर से (Complex presentation), कभी एक पैर से रुद्ध होकर

Transverse presentation with prolapse of hand), कभी दोनो भुजाओं से रुद्ध होकर (Complex presentation), कभी तिर्यक् गत होकर (Breech presentation), कभी नीचे मुख होकर (Face presentation) और पार्श्वपवृत्तगति (Shoulder presentation) होकर इन आठ विविध गतियों से गर्भ निरुद्ध हो जाता है। इसी लिये इन्हें अनि-रस्यमानगर्भ कहते हैं।

सम्मोहित मूढगर्भ—जन्म लेने के बाद बालक का स्वभाव से ही श्वसनकर्म शुरू हो जाता है। कभी-कभी इसके विपरीत श्वसनकर्म जन्म के अनन्तर भी प्रारम्भ नहीं होता और प्राणावरोध से युक्त होकर मूर्च्छित सा मिलता है इस अवस्था (सम्मोहितमूढगर्भ) को (Asplyxiated or stillborn) कहते हैं। नवजात शिशुवों के प्राणावरोध के निम्नलिखित कारण होते हैं—

१. माता का गम्भीर संज्ञाहरण (Deep maternal anaesthesia)

२. अकाल में ही अन्तःश्वसन (Premature inspiratory efforts)

३. शिरोभिघात शिरःपीडन (Compression of the head), संकुचित श्रोणि में संदश कर्षण।

४. रक्तसंवहन में बाधा होना—नाभिनाल-पीडन, अपरा का अकाल में ही वियुक्त होना, गर्भाशय का प्रबल आकुञ्चन (Tonic contraction of the uterus) तथा माता में अतिशय रक्तस्राव के कारण रक्त की कमी होना (Anaemia of the mother as in severe haemorrhage)

भेद—यह गर्भमोह या प्राणावरोध दो प्रकार का होता है—दारुण और अदारुण।

दारुण या श्वेत प्राणावरोध—(Asphyxia pallida or white Asphyia) में जन्म लिये बालक का १. वर्ण पाण्डु या श्वेत रहता है और विषाद-युक्त दिखलाई पड़ता है। उसकी २. हृद्गति का अनुभव नहीं होता। ३. पेशियाँ शिथिल हो जाती तथा प्रत्यावर्त्तन (Reflexes) नष्ट रहते हैं। ४. नाल के स्पन्दन का अनुभव नहीं होता। ५. उसकी सङ्कोचनी पेशियों की क्रिया नष्ट हो जाती है। ६. कनीनक (Pupils) विस्फारित हो जाते हैं।

७. हृच्छब्द मन्द क्षीण (Feeble) तथा अनियमित (Irregular) हो जाते हैं। अदारुणमोह (Asphyxia livida or blue asphyxia)

इस अवस्था में १. वालक का वर्ण नीलरंग का हो जाता है, २. उसका श्वसनकर्म वन्द रहता है, ३. उसके अंग स्पर्श में कठिन होते हैं, ४. प्रत्यावर्त्तन क्रियायें स्थिर होती हैं, ५. नाल का स्पन्दन (Pulsation) भी स्थिर या वन्द सा रहता है, ६. परन्तु संकोचनी पेशियों की क्रियायें चलती रहती हैं, ७. कनीनक संकुचित होते ८. तथा हृच्छब्द मन्द, दृढ़ और नियमित होते मिलते हैं।

साध्यासाध्यता—'अन्तवाले दो मूढगर्भ असाध्य होते हैं।' 'इन दोनों को विष्कम्भक कहते हैं इनमें शस्त्रकर्म की आवश्यकता होती है।' 'यदि इन मूढगर्भों का हाथों से अपहरण न हो सके तो शस्त्र का अवचारण करना चाहिये।

अविशिष्ट मूढगर्भों में भी यदि कई विपरीत उपद्रव दिखलाई पड़ें जैसे अरिष्ट लक्षण, आक्षेप, योनिभ्रंश, योनिसंवरण, मक्कल्ल शूल, गर्भकोषपरासंग, श्वास, कास तथा भ्रम आदि से पीडित गर्भिणी दिखलाई पड़े तो असाध्य होता है और उसका परिवर्जन करना चाहिये। उन उपद्रवों में आक्षेप (Eclampsia), योनिभ्रंश (Malposition of the uterus), योनिसंवरण (Atresia of Vagina) प्रभृति समझने में आसान है; परन्तु मक्कल्ल तथा गर्भकोषपरासंग की व्याख्या आवश्यक है। योनिद्वार का संकोच, मक्कल्ल और गर्भकोषपरासङ्ग माता और वालक दोनों के लिये अरिष्ट (मारक चिह्न) माने गये हैं।

मक्कल्ल—प्रजाता स्त्रियों में यदि उनका शरीर रूक्ष हो और तीक्ष्ण ओषधियों के द्वारा उनके रक्त का विशोधन न किया गया हो तो वायु के द्वारा अवरुद्ध हुआ वह रक्त नाभि के नीचे, पार्श्व, वस्ति और वस्तिशीर्ष के ऊपर एक ग्रन्थि सा उभार पैदा करता है। इससे नाभि, वस्ति और उदर में शूल होने लगता है। प्रारम्भ में यह पीडा सूई चुभाने जैसी ही होती है वाद में वढ़कर भेदन और दारण (चीरा या फाड़ा जा रहा हो) के समान वेदना होने लगती है। सम्पूर्ण उदर आध्मान-युक्त हो जाता है और मूत्रस्राव भी वन्द हो जाता है। इस प्रकार के विशिष्ट शूल को मक्कल्ल कहते हैं।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि यह मूढगर्भ के निकलने के लिये गर्भाशय के प्रवल आकुञ्चनों से उठा हुआ दारुण शूल (Tonic or tetanic contraction of the uterus) अथवा—पश्चात्कालीन शूल (After pain) है। मक्कल्ल के सम्बन्ध में डल्हण ने लिखा है कि यह अप्रजाताओं में भी मिल

सकता है। अतः मक्कक्ष जो केवल प्रजाताओं में ही मिलता है, उसके लिये एक दूसरा पर्याय 'गर्भकोषपरासंग' नाम से दिया गया है। अन्यथा दोनों एक ही हैं। इसमें गर्भकोष गर्भाशय का अतिशय निरोध हो जाता है और माता की मृत्यु भी हो जाती। यह अवस्था Retraction ring अथवा Uterine inertia में मिलती है।

अरिष्ट लक्षण—जिस प्रजायिनी स्त्री में ये लक्षण उपस्थित हो जायँ उसमें स्त्री और गर्भ दोनों के प्राण नष्ट हो जाते हैं—जिसके अङ्ग शीत पड़ गये हों जिसका लज्जा का भाव चला गया हो, वार-वार सिर नीचे करके कँपा या पटक रही हो, जिसके उदर के ऊपर नील वर्ण की उभरी हुई सिरायें दिखलाई पड़ती हों। इस स्थिति में गर्भ माता को तथा माता गर्भ को नष्ट कर देती है। अर्थात् दोनों ही मर जाते हैं।

चिकित्सा—सुश्रुताचार्य ने लिखा है कि मूढगर्भ शल्य के निर्हरण के समान कष्टकर कोई भी शल्य कर्म नहीं है। यह एक कष्टतम उपचार है जहां पर चिकित्सा करते हुए शल्यकर्त्ता को योनि यकृत्, प्लीहा, आन्त्र और गर्भाशय प्रभृति मर्माङ्गों के मध्य से हो कर कर्म करना होता है। इन अङ्गों का केवल स्पर्श के द्वारा विभेद करते हुए गर्भाङ्गों की संस्थिति का ज्ञान करते हुए एक ही हाथ से उत्कर्षण, अपकर्षण, स्थानापवर्त्तन, उत्कर्त्तन, भेदन, छेदन, पीड़न, ऋजुकरण, दारण आदि कर्मों के द्वारा उपचार करना होता है। साथ ही साथ इसमें दो जीवों की-गर्भ तथा गर्भिणी के प्राणों की रक्षा भी करनी पड़ती है। अतः इसे कष्टतम उपक्रम वतलाया गया है एवं चिकित्सक को चाहिये कि गर्भवती के अधिपति (Guardian) से पूछ कर उसकी अनुमति लेकर पूरी सावधानी के साथ उपचार का यत्न करे। संरक्षक को वतला देना चाहिये कि इस स्थिति में यदि कर्म न किया जाय तो गर्भिणी निश्चित रूप से मर जायगी और यदि शस्त्र कर्म का अनुष्ठान किया जाय, तो सफलता मिलने में सन्देह है।

संग्रहकार ने लिखा है पहले शल्य का निर्हरण हाथ से करे, यदि हाथ से अशक्य हो तो यन्त्र से उपचार करें; यदि यन्त्र से भी उसका निकालना संभव न हो तो शस्त्र क्रिया के द्वारा उपचार करना चाहिये। उत्कर्त्तन, भेदन, छेदन, प्रभृति अष्टविध कर्म शस्त्रों के द्वारा सम्पन्न होते हैं तथा उत्कर्षण, अपकर्षण, अपवर्त्तन, पीडन, ऋजुकरण प्रभृति चौवीस कर्म यन्त्रों के द्वारा किये जाते हैं।

असम्यक् आगत मूढगर्भ के उपचार—आचार्य ने मूढगर्भ चिकित्सा प्रकरण पन्द्रहवें अध्याय में विशद विवेचना की है—१. नानाप्रकार के प्रसवोपक्रमों से–नस्य, धूम, अञ्जन, जृम्भण (जमुहाई लेना), चङ्क्रमण, प्रवाहण तथा उत्कटुक आसनों से प्रयत्न करना चाहिये जिसमें असम्यक् आगत गर्भ निकल आवे।

२. च्यावन मन्त्रों का सुनाना।

३. अपरापातन के विधान में कथित ओषधियों का विधिपूर्वक प्रयोग करना।

४. गर्भिणी को उत्तान सुलाकर, पैर को मोड़कर, कटि को तकिये या गद्दी के सहारे ऊँचा करके; धन्वनृक्ष–शल्लकी–शालमली से पिसे घृत से हाथ को चिकना कर योनि में प्रविष्ट करे और गर्भ का निर्हरण करे।

५. यदि गर्भ पैरों से निकल रहा हो तो उसे अनुलोम ही कर्षण करके निकाले।

६. यदि एक पैर से निकल रहा हो तो उसके दूसरे पैर को प्रसारित कर के फिर से निकाले।

७. स्फिक् से उदय हो रहा हो तो उस स्फिक् को ऊपर की ओर दबाकर उछाल कर पैरों को प्रसारित कर के निकाले।

८. यदि गर्भ का तिर्यक् अवतरण हो रहा हो और परिघ (मोटी कील) सदृश होकर रुद्ध हो गया हो तो पीछे वाले आधे भाग को ऊपर की ओर ठेल कर पूर्वार्द्ध भाग (शिरोभाग) को अपत्यमार्ग में ले आकर निकाले।

९. यदि गर्भ का सिर पार्श्व में घूम गया हो तो अंस (स्कन्ध) को पीडित कर ऊपर की ओर ठेल कर और सिर को अपत्यपथ की ओर कर के निकाले।

१०. यदि दोनों बाहुओं से आरहा हो तो उसके अंस ऊपर को ठेलकर सिर को अनुलोमन कर के निर्हरण करे।

११. अन्त वाले दोनों मूढगर्भ असाध्य होते हैं। 'इन दोनों का अपहरण हाथ से करना असम्भव होता है अतः शस्त्र कर्म के द्वारा चिकित्सा करे।'

अनिरस्यमान मूढगर्भ की चिकित्सा—यदि उपर्युक्त उपायों से गर्भ का निर्हरण न हो सके तो शस्त्र कर्म के द्वारा उसका निर्हरण करना चाहिये। शस्त्रावचारण प्रायः मृत गर्भों में ही करना होता है। सुश्रुत ने स्पष्टतया जीवित गर्भ में शस्त्र कर्म का निषेध किया है 'चेतनायुक्त गर्भ को कभी काट कर न निकाले क्योंकि ऐसा करने से माता और गर्भ दोनों की हानि होती है।' तथापि यदि विकार अत्यधिक सांघातिक हो गया हो तो माता की रक्षा के निमित्त गर्भ का

पातन ही श्रेयस्कर होता है; अतएव प्राप्तकाल में अर्थात् उचित समय में गर्भ को निकाल देना चाहिये; ऐसी भी उक्ति मिलती है। परन्तु 'यदि गर्भ मर गया हो तो बुद्धिमान् चिकित्सक को उसकी क्षणमात्र भी उपेक्षा न करनी चाहिये और तत्काल उसको शस्त्र-क्रिया से अपहरण कर देना चाहिये। क्योंकि वह स्वयं तो मरा रहता है, माता को भी शीघ्र ही मार देता है जिस तरह श्वास को रोक देने से (यज्ञों में) पशु प्राणावरोध से मर जाता है उसी प्रकार माता की भी मृत्यु हो जाती है।

निर्हरण में प्रयुक्त-शस्त्र कर्म—

पूर्व कर्म—अग्रोपहरणीयोक्त विधानों से सुसज्जित होकर स्त्री को आश्वासन देकर शस्त्रावचारण करे।

कर्म—१. मण्डलाग्र या अंगुलि शस्त्र से शिरोविदारण (Perforation) कर के सिर की कपालास्थियों को (Crushing) निकालकर, शंकु (Blunt hooks) से चिबुक, तालु वक्ष या कक्षा में लगाकर निर्हरण (Extraction) करे। यदि सिर का भंजन न हो पावे तो अक्षिकूट या गण्ड (कपोल) में फँसाकर निकाले। यह शस्त्र कर्म स्पष्टतया आधुनिक (Embryotomy or craniotomy) नामक कर्म ज्ञात होता है।

२. अंस से संसक्त हो तो बाहु को काटकर (Cleidotomy) से निकाले।

३. यदि गर्भ का उदर मशक (दृति) के समान वायु से आध्मापित हो तो उसके उदर का विदारण कर के आन्त्रों को निकालकर (Evisceration) अपहरण करे। यदि जघन (Breech) से संसक्त गर्भ पाया जावे तो उसके जघन कपालों को काटकर निकालना चाहिये।

४. गर्भ का जो जो अंग रुकावट (संग) पैदा करे उसको विधिपूर्वक सावधानी से काट-काटकर निकाल कर गर्भ का निर्हरण और माता की रक्षा करे। शस्त्र कर्म में गर्भ को काटने के लिये मण्डलाग्र (Round headed knife) या अंगुलि शस्त्र (Finger knife) का ही प्रयोग करना चाहिये वृद्धिपत्र (Scallpel or bistoury) का नहीं क्योंकि इनके अग्र तीक्ष्ण होते हैं और स्त्री के मर्माङ्गों के कटने का भय रहता है।

५. यदि स्त्री मर गई हो; परन्तु उसका गर्भस्थ शिशु जीवित हो और कुक्षि में उसका स्पन्दन ज्ञात हो रहा हो और जन्मकाल उपस्थित हो तो माता का उदर

विपाटन (Caesarian section) कर के जीवित गर्भ का निर्हरण ऊपर से करना चाहिये।

६. कई प्रकार के यन्त्रों का धारण सुख प्रसव कराने में प्रशस्त है।

उभय पंचदशक तथा उभयत्रिंशक यन्त्र का (भै० र०) में वर्णन मिलता है।

पश्चात्कर्म—१. गर्भ शल्य के निर्हृत होने के बाद उष्ण जल से सिंचन करे।

२. शरीर का तैल से अभ्यंग कर के योनि में स्निग्ध पिचु रखे। इस क्रिया से योनि मृदु हो जाती तथा उसका शूल शान्त हो जाता है।

३. वेदना की शान्ति तथा दोष के स्यन्दनार्थ पिप्पली, पिप्पलीमूल, शुण्ठी, एला, हिङ्गु, भारङ्गी, अजमोदा, वच और चव्य इन द्रव्यों के चूर्ण का स्निग्ध कर के अथवा इनके कल्क, चूर्ण और कषाय का बिना स्निग्ध किये ही सेवन कराना चाहिये। प्रारम्भ में रक्तादि दोषों के निर्हरण के लिये स्निग्ध कर के देना उत्तम होता है। बाद में जब दोषों का निर्हरण हो जाय तो इन्हीं द्रव्यों का रूक्ष उपयोग कर सकते हैं।

४. शाकत्वक्, हिङ्गु, अतीस, पाठा, कुटकी, तेजोवती का भी प्रयोग पूर्ववत् किया जासकता है। तीसरे से पाँचवें या सातवें दिन तक स्निग्ध कर के पिलावे। इस काल में अल्प मात्रा में ही स्नेह देना चाहिये। संस्कृत आसव और अरिष्टों का प्रयोग एक सप्ताह के बाद प्रारम्भ कर देना चाहिये। शिरीष और ककुभ (अर्जुन) के कषाय का स्नानादि में व्यवहार करना चाहिये। इस काल में वायु के या ज्वर आदि के जो उपद्रव हों उनका भी सम्यक् उपचार करना चाहिये। दस दिनों के बाद जब गर्भिणी पूर्णतः शुद्ध हो जाय तो उसको स्निग्ध और अल्प मात्रा में खाने के लिये पथ्य देना चाहिये। सूतिका का नित्य अभ्यङ्ग और स्वेद करना चाहिये। उसके मन को प्रसन्न रखना चाहिये तथा उसको क्रुद्ध नहीं करना चाहिये। दूसरे दशाहों में (दस दिनों में) वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध क्षीर पिलाना चाहिये, तीसरे दशाहों में उसको मांसरस देना चाहिये। उसके बाद सम्यक् पथ्य देते हुए चार मास सूतिका को देख-रेख में रखना चाहिये। उसके बाद जब वह शुद्ध, उपद्रवहीन होकर बल-वर्ण से युक्त जान पड़े तब उसे परिहार (पथ्यादि व्यवस्था से) मुक्त कर देना चाहिये।

५. बलातैल (सु० चि० १५)—का सूतिका के योनिसन्तर्पण, अभ्यङ्ग, पान और भोजन में वायु के शमन के लिये इस अवस्था में उपयोग में लाना चाहिये।

प्रसङ्गवश मक्कलशूल की चिकित्सा नीचे दी जारही है (सु. शा. १०)

१. सैन्धव लवण और उष्ण घृत का उष्ण जल से सेवन कराना चाहिये।

२. वीरतर्वादि गण की ओषधियों से सिद्ध कषाय का पिलाना।

३. ऊषकादि प्रतीवाप का पिलाना।

४. यवक्षार चूर्ण का पिप्पल्यादि क्वाथ के साथ प्रयोग करना।

५. पिप्पल्यादि चूर्ण का सुरामण्ड के साथ प्रयोग करना।

६. वरुणादि क्वाथ का एलादि प्रतीवाप के साथ सेवन।

७. पृथक्पर्ण्यादि क्वाथ का भद्रदारु और मरिच मिलाकर सेवन।

८. त्रिकटु, चतुर्जात और कुस्तुम्बुरु मिलाकर पुराने गुड़ का सेवन।

९. अथवा अरिष्ट (अभयारिष्ट) का सेवन उत्तम है।

सम्मोहित मूढगर्भ की चिकित्सा—यदि जन्म लेने के बाद बालक प्रबल मूर्च्छा और ज्वर से व्याप्त होकर रोने में भी असमर्थ हो, निःसंज्ञ अथवा मृत के समान (योनि में अतिशय पीडन के कारण) दिखलाई पड़े तो उसके प्राण के प्रत्यानयन के लिये प्रयत्न करना चाहिये। प्राचीन ग्रन्थों में निम्नलिखित विधान नवजात शिशु के पुनः प्राणन के लिये बतलाये गये हैं :—

१. भली प्रकार से कटे नख एवं प्रक्षालित दाहिने हाथ की प्रदेशिनी अंगुलि को कपास की पिचु से लपेट कर; नवजात शिशु की जिह्वा, ओष्ठ और गले का प्रमार्जन करना।

२. दोनों कानों के जड़ के पास पत्थर के टुकड़ों का बजाना (संघट्टन)।

३. शीतोदक तथा उष्णोदक से बालक का परिषेक कराना। इससे क्लिष्ट हुआ श्वसन कर्म पुनः प्रारम्भ हो जाता है।

४. यदि बालक अचेष्ट ही रहे तो कृष्ण कपालिका (काले रंगे घड़े के टुकड़े) या सूप से हवा करना।

५. दाहिने कान के मूल में 'अङ्गादङ्गात्संभवसि' इत्यादि मन्त्र का उच्चारण करे। जब तक कि बालक चेष्टा में न आ जावे अथवा उसके श्वास कर्म न चालू हो जाय उपचार करते रहना चाहिये।

सम्मोहित मूढगर्भ (Asphyxia or apnoea neonatorum)-की अवस्था में नवजात शिशु का आधुनिक उपचार निम्नलिखित की भाँति प्रचलित है। दारुण और अदारुण भेद से चिकित्सा भी दो प्रकार की हो जाती है।

दारुण मोह (Asphyxia pallida)—१. यह हृदयावसाद की स्थिति होती है। इस लिये बालक को गर्म कपड़े में आवृत कर के सावधानी से रखना चाहिये। पर्शुकाओं के नीचे अङ्गुली रख कर हृत्प्रदेश का अभ्यङ्ग करना चाहिये। तालु पर मद्य (Brandy) रगड़ना चाहिये। 'पिट्यूटरीन' का २ बूंद की मात्रा में कोरामिन ½ से १ सी० सी० एड्रेनेलीन ५ बूंद (सीधे हृदय में भी दे सकते हैं) त्वक् का वेधन करके अन्तर्भरण करना चाहिये। इन क्रियाओं से हृदय का उत्तेजन होकर मस्तिष्कगत हृत्केन्द्र पुनः स्वस्थ हो जाता है फलतः श्वसन कर्म भी अपने आप चालू हो जाता है।

२. श्वसन-केन्द्रों को उत्तेजित करने के लिये जारक (O_2) तथा प्राङ्गार द्विजारेय (Co_2) का पाँच प्रतिशत का मिश्रण देना भी उत्तम होता है। यदि हृत्स्पन्दन तीव्र होने लगे तथा बच्चे का श्वसन आरम्भ हो तो कृत्रिम पुनः-प्राणन (Artificial respiration) के लिये प्रयत्न करना चाहिये। ऐसी स्थिति कई बार मस्तिष्कगत रक्तस्राव में उत्पन्न होती है जो बालक के लिये घातक होती है।

३. अस्पन्दमान नाभिनाल को काट देना चाहिये।

४. बालक का गुल्फ पकड़ कर उसे उल्टा लटकाकर उसका मुख साफ करे। उसके कण्ठगत द्रव का वमन करावे, कण्ठ और नासा का प्रमार्जन करे, उष्ण जल में (११२° फे०) में उसका अवगाहन करावे, अच्छी प्रकार से मर्दन करे और कुछ देर में एक हाथ से पकड़ कर दूसरे हाथ से दबावे।

५. बालक की खर, शीत प्रभृति स्पर्शों से सतत रक्षा करता रहे।

अदारुण मोह (Asplyxia livida)—

१. पैर को पकड़ कर उसका मुख नीचा करके कण्ठ, नासा आदि का शोधन पूर्ववत् करे। कण्ठगत श्लेष्मा का प्रचूषण प्रचूषक (Mucous extractor) से करना उत्तम है।

२. प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं से श्वसन कर्म को उत्तेजित करना—बालक के पीठ तथा नितम्ब पर हल्के हाथ से चपत लगाना (थपथपाना), पृष्ठवंश का मद्य से हल्का मर्दन करना, छाती की मालिश अंगुलियों से करना, शीतल जल से बालक के शरीर का सिञ्चन करना, पर्याय से एक बार ठंडे जल में और एक बार गर्म जल में अवगाहन कराना। इन क्रियाओं से बालक श्वास लेने लगता है।

३. जब तक नाभिनाडी का स्पन्दन सुचारु चल रहा है, उसको न करे। क्योंकि स्पन्दन कालतक अपरा कुछ न कुछ प्राणवायु (O_2) का संवहन करती रहती है।

४. यदि उपर्युक्त उपचार सफल न हों। हृदय का स्पन्दन दृढ़ हो रहा हो, तो कृत्रिम पुनःप्राणन की विधियों से श्वसन कर्म को चालू कराना चाहिये। पुनः-प्राणन की निम्नलिखित विधियाँ बालकों में प्रयुक्त होती हैं:—

प्रथम विधि—(Sylvesters method)—यह विधि ठीक उसी
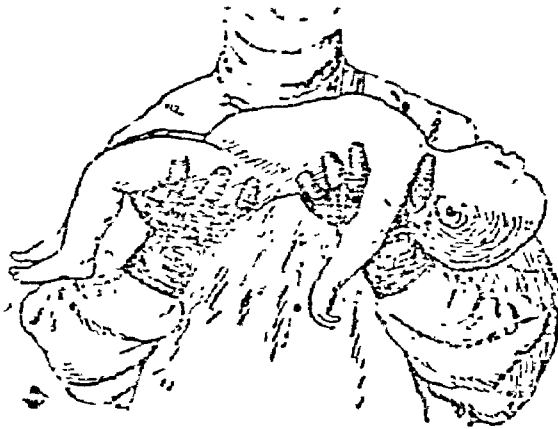
चित्र ९४—उच्छ्वासन

चित्र ९५—निश्वसन

प्रकार की होती है जिस प्रकार की प्रौढ़ों में जलनिमज्जन की अवस्था में की जाती है। नवजात बालकों में यह उपयोगी नहीं होती है।

द्वितीय विधि—(Byrd's method)—यह विधि शिशुओं की चिकित्सा में सर्वोत्तम होती है। इसमें शिशु को अपने हाथों पर चित लेटा दें। एक हाथ को बालक के स्फिक् के नीचे दूसरे हाथ को उसके कन्धों के नीचे रखें। दोनों हाथों से बालक के गात्र को मोड़ने (संकोचन) और फैलाने (प्रसारण) की क्रिया करे। एक बार मोड़े फिर फैलावे इस प्रकार की क्रिया के पुनः पुनः करने से बालक में श्वास-प्रश्वास होने लगता है।

तृतीय विधि-(जिह्वाकर्षण Rhythmic traction of the tongue)-कई वार यह विधि भी लाभदायक होती है। बालक को उसके पीठ पर लेटा कर वस्त्रावेष्टित संदंश से अथवा अंगूठे और उंगली से जिह्वा को पकड़ कर धीरे धीरे बाहर की ओर खींचे और पुनः प्रविष्ट करे। एक मिनट में इस प्रकार की क्रिया २० वार करनी चाहिये।

चतुर्थ विधि—(Mashall hall's method)—शिशु को गोद में सुलाकर संवलन और उद्वेलन से निश्वास और उच्छ्वास को प्रवर्तित करना चाहिये।

पञ्चम विधि—(Direct insufflation method)-इसमें शिशु को पीठ के बल मेज पर लेटा कर स्वच्छ रुमाल उसके मुख पर डाल दें। एक हाथ शिशु के उदर पर रखे दूसरे हाथ से उसके नाक को बन्द कर दे। अब रुमाल के ऊपर से उसके मुख में फूंक मारे। उदर पर रखा हुआ हाथ आमाशय के अत्यधिक प्रसार अथवा उसके विदीर्ण होने से रक्षा करता है, साथ ही नाक को पकड़े हुए दूसरा हाथ नाक द्वारा वायु को निकलने से रोकता है। जब वक्ष वायु से भर जाता है तो उसको आहिस्ते दबाकर छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार यह क्रिया प्रतिमिनट बारह से अठारह वार तक की जाती है। इसमें फूंक मारने की क्रिया सौम्य भाव से करनी चाहिये, अन्यथा वायुकोषों के विदीर्ण होने का भय रहता है। यह आशुलाभप्रद विधि है—फुफ्फुस के वायुकोष तथा (Glottis) खुल जाते और श्वसन कर्म चालू हो जाता है।

ओषधियों में Alphalobeline $\frac{१}{२०}$ ग्रेन की मात्रा में श्वास कर्म का बढ़िया उत्तेजक माना जाता है।

आधार तथा प्रमाण संचय—

१. **परिभाषा**—तमेव कदाचित् विविद्धय, असम्यगागतम् अपत्यपथमनु-

गात्रमनिरस्यमानं विगुणापानसम्मोहितं गर्भं मूढगर्भमित्याचक्षते। (सु० नि० ८)

स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूते। मारुतयोगात् परिवृत्त्य अवाक् शिरा-निष्क्रामति अपत्यपथेन। एषा प्रकृतिः, विकृतिः पुनरतोऽन्यथा। (च० शा० ६)

२. **चतुर्धा अष्टधा गतयः**—(सु० नि० ८) (सु० चि० १५) (मा० नि०)

विष्कम्भक—हस्तपादशिरोभिर्यो योनिं भुग्नः प्रपद्यते।

पादेन योनिमेकेन भुग्नोऽन्येन गुदञ्च यः।
विष्कम्भौ नाम तौ मूढौ शस्त्रदारणमर्हतः। (वा० शा० १)

साध्यासाध्यता—१. तत्र द्वावन्त्यावसाध्यौ–मूढगर्भौ। (सु० नि० ८)

२. शेषानपि विपरीतेन्द्रियार्थाक्षेपक–योनिभ्रंश-संवरण-मक्कल्ल श्वास-कास-भ्रम-निपीडितान् परिहरेत्।

३. मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम्।
कुरुते रुद्धमार्गत्वात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः॥
निरुणद्ध्याशयद्वारं पीडयन् गर्भसंस्थितिम्।
निरुद्धवेदनोच्छ्वासो गर्भश्चाशु विपद्यते॥
बद्धांसरुद्धहृदयां नाशयत्याशु गर्भिणीम्।
योनिसंवरणं विद्याद् व्याधिमेनं सुदारुणम्॥ (सु० नि० ८)

४. प्रविध्यति शिरो या तु शीताङ्गी निरपत्रपा।
नीलोद्धतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा॥ (सु० नि० ८)

५. गर्भकोषपरासंगो मक्कल्लो योनिसंवृतिः।
हन्यात् स्त्रियं मूढगर्भे यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः॥ (सु० सू० ३३)

६ प्रजातायाश्च नार्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं वायुना तद्देशगतेनातिसंरुद्धं नाभेरधः पार्श्वयोर्वस्तौ वस्तिशिरसि वा ग्रन्थिं करोति ततश्च नाभिबस्ति-उदर-शूलानि भवन्ति सूचीभिरिव निस्तुद्यते भिद्यते दीर्यत इव पक्वाशयः समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसंगश्च भवतीति मक्कल्ललक्षणम्। (सु० शा० १०)

चिकित्सा—१. निर्हर्तुमशक्ये च्यावनान् मन्त्रानुपश्रृणुयात्; तान् वक्ष्यामः।

इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि।
उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते॥
इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्रि।

सूतिका प्रकरण

प्रथम अध्याय

सूतिकाकाल तथा उसके उपचार

(Physiology and management of puerperium)

सूतिकाकाल—प्रसव के अनन्तर तत्काल आने वाले समय को सूतिका-काल कहते हैं। गर्भधारण तथा प्रजनन के कारण प्रसूता के धातु और कोष्ठाङ्ग जो विषम हो गये थे, इस काल में परिवर्त्तित होकर अपनी स्वाभाविक स्थिति या पूर्व-स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं। सामान्यतया यह काल छः से आठ सप्ताह तक का होता है लोक व्यवहार में यह काल दस-बारह दिनों का माना जाता है और सूतिकास्नान कराके काल को समाप्त कर देते हैं; परन्तु क्रिया-शारीर की दृष्टि से पुनरार्त्तवदर्शन पर्यन्त इस काल को माना जा सकता है। इस काल के सभी परि-वर्त्तन प्रकृत (Physiological) होते हैं। इन परिवर्त्तनों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—१. अपत्यपथ के परिवर्त्तन २. स्तन के परिवर्त्तन ३. अन्य परिवर्त्तन।

अपत्यपथ या जननाङ्गों के परिवर्त्तन

गर्भाशय संवरण (Involution)—बढ़े हुए गर्भाशय का छोटा होना। गर्भ के निकल जाने के बाद रिक्त हुआ गर्भाशय नीचे गिरकर भगसन्धा-निका के पाँच अङ्गुल ऊपर तक आ जाता है। इसका ऊपरी भाग स्थूल, कठिन और गोलाकार और अधोभाग पतला, शिथिल और रूपहीन होता है। ग्रीवा भी अधो गर्भशय्या के समान ही होती है, परन्तु उससे कुछ अधिक स्थूल रहती है। फलतः गर्भाशय का नीचे वाला शिथिल भाग ऊपरी भाग का भार वहन नहीं कर पाता अतः प्रसव के बाद गर्भाशय की लम्बाई अचानक कम हो जाती है। गर्भा-शय के आभ्यन्तर परिवर्त्तनों में अपरा देश अण्डाकार चार इञ्च लम्बा और तीन इञ्च चौड़ा और विषम (ऊबड़-खाबड़) हो जाता है। इसके अतिरिक्त शेष भाग प्रायः चिकना रहता है यत्र तत्र कला के अवशेषों के कारण विषम भी रहता है। गर्भाशय की उत्तर शय्या (Upper segment) सफेद सी (पाण्डुवर्ण) सी दिखलाई पड़ती है, किन्तु ग्रीवा तथा अधर शय्या (Lower segment, cervix) लाल और फूले हुए दिखलाई पड़ते हैं। विस्तृत ग्रीवा अधोगर्भ-

शय्या के साथ एक समान ही हो जाती है जिससे दोनों की सीमाओं का विभेद करना या अन्तर्मुख (Inter os) का पता लगाना भी कठिन हो जाता है। डेढ़ मास के बाद गर्भाशय संवृत होकर पुनः प्रकृतिस्थ हो जाता है। अप्रजातावस्था के गर्भाशय में और इसमें बहुत थोड़ा ही अन्तर शेष रह जाता है—क्योंकि अप्रजाता की अपेक्षा यह कुछ बड़ा, स्पर्श में अधिक कठिन, अधिक वर्त्तुल, अधिक छोटी ग्रीवा वाला तथा दीर्घ और चौड़े वहिर्मुख (Ext. os) का होता है।

उदर्य्याकला—प्रसव के अनन्तर प्रारम्भिक दिनों में गर्भाशय के संवरण (हठात् छोटे होने) के कारण उसके ऊपर की उदर्य्याकला के आवरण में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं और कई भागों में बँट जाती है (Folds and wrinkles), परन्तु बाद में बढ़े हुए भागों का शोषण होकर कला पुनः चिकनी और समान होकर पूर्ववत हो जाती है।

पेशीसूत्र—संवरण प्रक्रिया में अधिकतम ह्रास इसी धातु का होता है—क्योंकि गर्भाशय का वृहत्तम भाग इसी का रहता है। प्रसवानन्तर गर्भाशय के प्रबलाकुंचनों के कारण बहुत सी रक्तवाहिनियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं जिससे गर्भाशय अपेक्षाकृत रक्ताल्पत्वयुक्त हो जाता है और इसी कारण पेशीसूत्रों में परिवर्त्तन होने लगते हैं। बढ़े हुए पेशीसूत्र रक्त के अभाव में गलने और शीर्ण होने लगते हैं। इनके चिद्रस (Protoplasm) 'पेप्टोनोयाड' पदार्थों के रूप में शोषित होने लगते और लसीकावाहिनियों के द्वारा (Lymphatics) वाहित होकर बाहर फेंके जाते हैं। यही कारण है कि प्रारम्भिक दिनों में सूतिका के मूत्र तथा स्राव से प्रचुर मात्रा में 'नाइट्रोजेनिक' पदार्थ विसर्जित होकर अधिक मिलते हैं। इस प्रकार पेशीसूत्रों में एक प्रकार के कणदार शोष (Granular atrophy) होता तथा उनके स्थान पर सौत्रिकतन्तु (Fibrosis) की निर्मिति नहीं होती। रक्तसंचार के अवरोध से अधिकाधिक तक्राम्ल बनता है और उसके उपचय से अधिकाधिक गलने की क्रिया प्रबल होती चलती है। तीन चार दिनों के बाद जब गर्भाशय की मृदुता से रक्त संचरण पुनः व्यवस्थित होने लगता है; तब मल की शुद्धि हो जाने तथा तक्राम्ल की कमी पड़ने से गलने की क्रिया कमजोर हो जाती है। मूत्र में मलद्रव्यों की कमी हो जाती है संवरण की क्रिया भी मन्द हो जाती है। इस प्रकार पेशियों की मोटाई और लम्बाई के ह्रास से गर्भाशय पूर्ववत् हो जाता है।

सिराधमनियाँ—रक्तवाहिनियों का संवरण मन्द स्वरूप का होता है। दबाव के कारण उनकी लम्बाई और मोटाई छोटी हो जाती है। सिराओं के दीवाल में परिवर्त्तन (Hyaline change) होकर उनके छिद्र संकरे हो जाते उनकी लम्बाई-चौड़ाई भी छोटी हो जाती है। बाद में जाकर उसके बाहर तथा भीतर में लचकीले धातु (Elastic tissues) भर जाते हैं। पेशीसूत्रों के कणदार शोष (Granular arophy) के साथ ही साथ धमनियाँ भी परिमाण में छोटी हो जाती हैं और उनके भीतर की नलिकायें वाहिनी के चारो तरफ संयोकाथः धातु तथा लचकीले धातुओं के संग्रह तथा उनके फूले रहने से, बहुत संकरी हो जाती या रुद्ध हो जाती हैं। इनमें आमतौर से मोटी धमनियों के छिद्र संकरे हो जाते और केश जैसी पतली धमनियाँ पूर्णतया रुद्ध होकर लुप्त हो जाती हैं। इस प्रकार गर्भाशय की पेशिकावृत्ति (Myometrium) में लचकीले धातु बढ़ते जाते हैं और विभिन्न सूतिकाकालों में अधिक-अधिक संचित होते हुए बहुत बढ़ जाते हैं। यही कारण है कि बहुप्रजाता स्त्रियों के गर्भाशय में लचकीले धातुओं की विशेषतः रक्तवाहिनियों के चारो ओर अतिशय मात्रा पाई जाती है।

इसी प्रकार नाडियों और रसायिनियों में भी परिवर्त्तन होकर संवरणकाल में वे अपने प्रकृत भाव को प्राप्त कर लेती हैं।

श्लेष्मधराकला (Decidua)—जब गर्भधाराकला से संसक्त जरायु अपरा के साथ गर्भाशय से पृथक् होती है तब कला का शुषिरभाग (Spongy-layer) टूट जाता है। इस प्रकार विच्छिन्न हुई कला का अवशिष्ट भाग विशेषतः उसका उपरितन भाग (Super ficial) गलकर सूतिकास्राव के साथ बाहर निकल-जाता है। गर्भाशय का अन्तः भाग चौदह दिनों में समतल हो जाता है। फिर मूलदेश से नई कला का उद्भव शुरु होता है और वह बनते हुए बढ़कर फैलकर नष्ट हुए भागों को पूरा कर देता है। प्रायः एक मास में यह कला पूर्ववत् हो जाती है। अपरा देश वाला भाग विलम्ब से पूरित होता है।

सूतिकास्राव (Lochia)—प्रसव के बाद सप्ताह या दो सप्ताह योनिमुख से निकलने वाले स्राव को सूतिकास्राव कहते हैं। प्रारम्भिक तीन-चार दिनों तक इसमें विशुद्ध रक्त ही निकलता है या रक्त के थक्के निकलते हैं और उसका वर्ण गाढ़ा लाल होता है। लगभग पाँचवें दिन इसमें रक्त की कमी, रक्तवारि की

प्रचुरता, श्वेतकण, गर्भधराकला के खण्ड, ग्रैवेय तथा योनिस्राव की विद्यमानता से इसका वर्ण पीताभ हो जाता है। प्रथम सप्ताह के अनन्तर इस स्राव की मात्रा क्रमशः कम होती चलती और यह स्राव श्वेतकण और श्लेष्मास्राव की प्रचुरता से अधिक गाढ़ा, श्वेत और पिच्छिल हो जाता है।

अविकृत सूतिकास्राव उग्रगन्ध होते हुए भी पूतिगन्ध का नहीं होता। चिकित्सक के लिये यह आवश्यक है कि वह सूतिकास्राव के स्वाभाविक गन्ध से परिचित होवे क्योंकि उसकी पूयगन्धता (Putrid Smell) विकृति का द्योतक है। इस स्राव की मात्रा विभिन्न हो सकती है। जिन स्त्रियों में मासिक स्राव अधिक मात्रा में होता है उनमें इस स्राव की मात्रा भी अधिक होती है। जो माताएँ शिशु का स्वयं लालन-पालन नहीं करती और स्तनपान नहीं करातीं उनमें भी इस स्राव की मात्रा अधिक मिलती है। दूसरे सप्ताह के बाद प्रायः इस स्राव में रक्त की उपस्थिति नहीं रहती यदि कभी रक्त पाया जावे तो इसका हेतु माता में विश्राम का अभाव अथवा गर्भाशय का विलम्बित संवरण समझना चाहिये।

सूतिकास्राव प्रतिक्रिया में क्षारीय होता है, अतः योनि के अधोभाग में उपसर्ग पहुंचने पर इस माध्यम में जीवाणुओं की वृद्धि का भय रहता है। जैसे जैसे इसकी मात्रा कम होती चलती है, योनिगत स्राव अम्लप्रतिक्रिया का होता चलता है। परिणामतः सूतिकास्राव भी अम्ल हो जाता है।

बीजग्रन्थि, बीजवहस्रोत और स्नायु—गर्भाशयगत परिवर्तनों के साथ ही साथ ये अवयव भी अपने स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं।

योनि—मृदु, विस्तीर्ण और दीर्ण हुई योनि प्रसव के उपरान्त एक या दो महीने के बाद स्वस्थ हो जाती है।

परिमाण तथा भार—सद्यःप्रसूता स्त्री का गर्भाशय ६ इंच लम्बा, ४½ इंच चौड़ा और ३½ इंच मोटा होता है (१५ × ११ × ९ से. मी.) क्रमशः यह छोटा होकर स्वस्थ स्त्री में प्रसव के बाद छः सप्ताहों में प्रकृत भार को प्राप्त करके ३″ × २″ × १″ (७·५ × ५ × २·५ से. मी.) के परिमाण का हो जाता है। प्रसव के अन्त में जहाँ इसका भार एक सेर का होता है, वह घट कर सूतिकाकाल के अन्त में दो औंस का हो जाता है। भग-सन्धानिका के ऊपर

गर्भाशय स्कन्ध की सीमा देख कर इस ह्रास का निर्धारण किया जा सकता है। मापनकाल में मलाशय और मूत्राशय को खाली कर लेना आवश्यक है क्योंकि भरे मूत्राशय और मलाशय गर्भाशय की सतह को ऊँचा उठा देते हैं। सामान्यतः चौथे दिन गर्भाशयस्कन्ध नाभि के नीचे आ जाता है। दस दिनों में सन्धानिका के पीछे, पन्द्रहवें दिन श्रोणिकण्ठ (Brim) के नीचे आकर पूर्णतया वस्ति गुहा के भीतर आ जाता है। ह्रास की कमी होना विकृति का द्योतक है। इसी प्रकार सहसा ह्रास होना भी गर्भाशय की स्थानविच्युति का निदर्शक होता है।

गर्भाशय का वहिर्मुख (OS)—यद्यपि शीघ्रता से सङ्कुचित होता है, तथापि कुछ काल तक मृदु और विस्फारणशील रहता है। एक सप्ताह के बाद भी उसमें उसके भीतर एक अङ्गुल का प्रवेश सम्भव है। अप्रजाता स्त्रियों में गर्भाशय दृढ़ होता है जिससे दोष शेष नहीं रहने पाता; परन्तु वह प्रजाताओं में आशय की पेशियों की शिथिलता के कारण उसमें रक्त का थक्का वगैरह शेष रह जाता है। इस शेष दोष के निर्हरण के लिये गर्भाशय प्रयत्न करता है जिससे मक्कलशूल (After pain) स्त्री में होता है। स्तन पीने के कारण स्तन में हर्ष होता और शूल अधिक बढ़ जाता है। प्रायः इस प्रकार के शूल एक दो दिनों में शान्त हो जाते हैं।

स्तनगत परिवर्त्तन—स्तन की रचना देख चुके हैं। वह अनेक खण्डों (Lobes) में विभाजित होता है। फिर ये खण्ड कई छोटे उपखण्डों (Lobules) में बँटे रहते हैं। पुनः उपखण्डों में कई कोष (Alveols) होते हैं। इन कोषों से सम्बद्ध छोटी-छोटी दुग्धहारिणी नाड़ियाँ होती है। कई ऐसी छोटी-छोटी नाड़ियाँ मिल कर बड़ी-बड़ी नालिकायें बनाती हैं ये बड़ी नालिकायें (Largera lactiferous ducts) संख्या में पन्द्रह से बीस तक एक स्तन में पाई जाती हैं—ये सभी जाकर चूचुक (Nipple) पर खुलती हैं। गर्भावस्था में स्तन दूध बनाने की तैयारी में बढ़ता चलता है—थोड़ी मात्रा में पीयूष (Cholostrum) भी इससे निकल सकता है।

प्रसव के बाद इनमें स्तन परिवर्त्तन होता है (स्थानिक रक्ताधिक्य बढ़ता है)। तृतीय चतुर्थ दिन से वास्तविक दूध निकलने लगता है। प्रवर्त्तनोन्मुख स्तन में कई परिवर्त्तन मिलते हैं जैसे स्तन का कठिन होना, मोटाई कम होना, स्पर्शासह्य

होना, सिरादर्द, कक्षाग्रन्थियों का बढ़ना तथा ज्वर (Milk fever)। प्रारम्भिक दो दिनों में केवल पीयूष स्रवित होता है—यह पीतवर्ण और तीव्रक्षारीय प्रतिक्रिया का होता है। अणुवीक्षण यन्त्र के सहारे देखने पर इसमें वसाकण तथा चित्केन्द्रयुक्त पीयूषकण (Corpusles) दिखलाई पड़ते हैं। तीन चार दिनों में पीयूषकण लुप्त हो जाते हैं और वास्तविक दूध आने लगता है। वास्तविक दूध में पीयूषकण नहीं रहते। इसकी प्रतिक्रिया मृदु क्षार की होती है। शङ्खाभ (Pale blue) रङ्ग का होता है। इसमें प्रोटीन, शर्करा, खनिजद्रव्य, लवण, पिघले हुए मेदकण मिश्रित रहते हैं। इसका परिमाण नियमित नहीं रहता, आहार, विहार और चूसने के ऊपर भिन्न-भिन्न हो सकता है। यह नवम मास तक यथोत्तर बढ़ता चलता है—सहसा इसकी मात्रा का घट जाना या बन्द हो जाना विकार की विशेषतः संक्रमण की सूचना देता है।

स्तन्यजनन के हेतु के सम्बन्ध में अनेक मत है; परन्तु दो सिद्धान्त विशेषतः उल्लेखनीय हैं। गर्भकालीन स्तन वृद्धि होने में एक विशेष प्रकार अन्तःस्राव (Oestrin) कारण होता है और दूध की उत्पत्ति में अथवा स्तन की क्रिया में सहायता तथा पोषणिका के पूर्व भाग का एक विशिष्ट अन्तःस्राव (Prolactin) करता है।

सुश्रुत ने स्तन्योत्पादन के सम्बन्ध में लिखा है कि कन्याओं की स्तनाश्रित धमनियाँ संवृत होती हैं वे ही गर्भावस्था में विवृत होने लगती हैं तथा प्रसूतावस्था में अत्यधिक विवृत हो जाती हैं। अब इन स्वभावतः विवृत द्वारों से दूध का निकलना सम्भव हो जाता है। दूध की उत्पत्ति इस प्रकार होती है—सूतिका के सेवन किये गये अन्न के पाक से रस की उत्पत्ति होती है, यह रस सम्पूर्ण शरीर पर फैला रहता है—फिर उसका सारभाग जो स्तन को मिलता है उसीसे दूध की उत्पत्ति होती है। यह प्रायः प्रसव के तीसरे, चौथे दिन से निकलने लगता है। इसकी उत्पत्ति सन्तान के स्पर्श, दर्शन, स्मरण और ग्रहण से होती है। जिस प्रकार शुक्र सर्व शरीरचर होते हुए भी एक विशेष प्रकार की उत्तेजना से सर्वशरीर से खिंचकर मुष्क में आ जाता है उसी प्रकार स्तन्य सम्पूर्ण शरीर से खिंचकर उपर्युक्त उत्तेजनाओं से स्तन में आकर निकलने लगता है।

अन्य अङ्गों के परिवर्त्तन—गर्भकाल में हृदय कुछ स्थूल हो गया रहता है,

सूतिकाकाल में वह क्रमशः स्वाभाविक हो जाता है, उसका शिखर-स्पन्दन भी प्रकृत हो जाता है। वहुत वार मृदु मर्मध्वनि भी सुनाई पड़ती है। नाड़ी की गति स्वाभाविक से कम (५०-६० प्रति मिनट) हो जाती है। नाड़ी का मन्द होना इस काल में स्वाभाविक है क्योंकि प्रसवकाल में शोणितस्राव के कारण रक्तधातु का नाश हो जाता है, गर्भाशय फैले हुए मेद की रक्त में उपस्थिति रहती है, सूतिका सदैव पूर्ण विश्राम में शय्या पर आश्रित रहती तथा प्राणदा नाड़ी (Vagus) उत्तेजित रहती है। ज्वर की अवस्था में नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है। ज्वर के अतिरिक्त यदि इस काल में नाड़ी की गति तीव्र मिले तो रक्तस्राव, हृद्रोग अथवा मनोभिघात का अनुमान करना चाहिये। रक्त में प्रारम्भ में श्वेतकायाणुओं की वृद्धि तथा स्कन्दन द्रव्य की प्रचुरता भी मिलती है।

ताप—प्रसव के वाद पहले दिन प्रायः मन्द ज्वर मिलता है। यह परिश्रमाधिक्य के कारण होता है और कतिपय घण्टों (१२ घण्टे) में जाता रहता है। तीसरे या चौथे दिन पुनः ज्वर होता (१०१° फे. डी.) है इसे स्तन्योत्थ ज्वर (Milk fever) कहते हैं। सामान्य हेतुओं से भी सूतिका काल में न्यूनाधिक तापक्रम हो जाया करता है तथापि ९९° फे. या इससे उच्च तापक्रम यदि वारह घण्टे से अधिक चलता रहे तो विचारणीय है क्योंकि इस प्रकार का ज्वर उपसर्ग या किसी अन्य विकार की सूचना देता है।

मूत्रवह-संस्थान—सूतिकाकाल के प्रारम्भिक दिनों में वृक्क अत्यधिक कार्यशील होते हैं, जिससे मूत्रत्याग की मात्रा डेढ़ गुनी वढ़ जाती है। चौथे दिन आपेक्षिक गुरुत्व १०२२ हो जाता है। मूत्र में 'नाइट्रोजेनस' पदार्थों की अधिकता, स्तन्यप्रवृत्ति के वाद क्षीरशर्करा की उपस्थिति भी मिलती है। संवरणक्रिया से उत्पन्न 'पेप्टोन' प्रभृति द्रव्य भी दूसरे-तीसरे दिन मूत्र में विसर्जित होने लगते हैं और धीरे-धीरे कम होते हुए दसवें वारहवें दिन लुप्त हो जाते हैं। कई प्रकार के निर्मोक (Hyaline cast) भी मिलते हैं।

कभी-कभी अप्रजाताओं में इस काल में आंशिक या पूर्ण मूत्रावरोध भी मिलता है। इसमें उत्तानशयन, भीति, उदर की शिथिलता, प्रसव का क्लेश, मूलावदरण, मूत्रस्रोतस का अभिघात या शोथ मूत्ररोध के कारण होते हैं। मूत्रावरोध (Retention) से गर्भाशय का भ्रंश, हीनसंवरण, रक्तस्राव, मूत्रक्षरण, वस्तिशोथ प्रभृति वहुत से उपद्रव होने लगते हैं।

श्वसन-संस्थान—में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं होता। श्वास की गति कुछ बढ़ जाती है। त्वचा से स्वेद बहुत निकलता है। रञ्जनकणों का सञ्चय विलीन हो जाता है। लाल रंग की किकिस रेखायें श्वेत रंग की हो जाती हैं। कक्षा की त्वचा पर मूंग से लेकर मुर्गे के अण्डे के परिमाण के कई उत्सेध (Lumps) भी कई बार दिखलाई पड़ते हैं। इनका प्रारम्भ गर्भिणी में नवम, दशम महीने से ही हो जाता है और सूतिकावस्था में पूर्णतया व्यक्त हो जाते हैं। ये उभार स्वेद ग्रन्थियों के परिवर्तनों की वजह से मिलते हैं ये स्वयं नहीं स्रावित होतीं। इनके दबाने से पहले कणदार मलद्रव्य (Granular debris), फिर पीयूष सदृश द्रव्य और पश्चात् दूध सदृश स्राव इनसे होता है। आर्त्तवकाल में इनमें सूजन और पीडा भी हो जाती है। **उदर की दीवाल**—प्रसवोत्तर काल में उदर की दीवाल शिथिल और झुर्रीदार हो जाती है, दो मास के बाद प्रकृतावस्था में आ जाती है।

श्रोणि-सन्धियाँ—जो पहले मृदु हो गई थी अब उनकी मृदुता नष्ट हो जाती है और वे कठिन हो जाती हैं।

पचन-संस्थान—सूतिकाकाल के आरम्भिक दिनों में क्षुधा कम होती बाद में अधिक तीक्ष्ण हो जाती है। तृषा भी पहले तो रक्तस्राव के कारण पश्चात् स्तन्यप्रवर्त्तन के हेतु अधिक हो जाती है। इस काल में गर्भ के निर्गमन से अन्तः भार की कमी होने से, स्तन्यमूत्रादि के द्वारा जल का नाश होने से शय्या में सदैव पड़े रहने से तथा उदरभित्ति की शिथिलता के कारण मल का विबन्ध भी मिलता है। इस काल में प्रथम सप्ताह में सूतिका का भार तीन, चार सेर तक कम हो जाता है क्योंकि इस काल में वृक्क एवं त्वचा की क्रिया बढ़ जाती है, गर्भाशय का परिमाण एवं भार कम हो जाता है, भोजन की मात्रा अल्प हो जाती है। यह भारक्षय स्तन पिलाने वाली माताओं, यमल गर्भ वाली प्रजाताओं या बहुप्रजाताओं में विशेषतः होता है।

सूतिकोपक्रम (Management)

१—**विश्राम**—अपरा के निकल जाने के पश्चात् प्रसूता को खटिया या पलङ्ग पर उत्तानासन में ही लेटे रहना प्रशस्त होता है। खटिया या पलङ्ग का सिरहाना कुछ ऊंचा करके रखने से सूतिकास्राव की बहने में आसानी होती है। इसलिए प्रसूता को उत्तानासन पर दो से चार सप्ताह तक रखना चाहिए। प्रारम्भ के कुछ दिनों

तक मलमूत्रत्याग और अन्नग्रहण भी लेटे-लेटे करना चाहिए। यदि बहुत ही आवश्यकता हो तो सूतिका थोड़ी देर के लिए बिस्तर से उठ सकती है। साधारणतया जब तक योनि से स्राव का निकलना बन्द न हो जाय तब तक पूर्ण विश्राम करना चाहिए। स्राव बन्द होने के पश्चात् आवश्यक कामों के लिए थोड़े देर तक उसे उठना-बैठना चाहिए। यदि इससे पुनः सूतिकास्राव चलने लगे तो फिर से बैठना बन्द करके उसे सुला कर रखना चाहिए। भारतवर्ष में प्रसूता स्त्री को प्रथम दस दिनों तक पूर्ण विश्राम और पश्चात् एक मास तक अधिकांश विश्राम देने की प्रथा बहुत दिनों से चली आ रही है। यह रिवाज अत्यन्त युक्तियुक्त और स्वास्थ्यवर्द्धक है।

आराम की दृष्टि से स्त्रियों के तीन विभाग कर सकते हैं-जंगली, मध्यवर्ग (देहाती) और पढ़ी लिखी स्त्रियां।

(१) जंगली—ये स्त्रियाँ मजबूत होती हैं और इन्हें आराम की आवश्यकता कम होती है। ये प्रसव के अन्त तक जंगल या रास्ते में काम करती रहती हैं और प्रसव के समय कार्य से तनिक सा विरत हो कर प्रसव के पश्चात् बच्चे को अपनी पीठ पर बांध कर पुनः कुछ दिनों के अनन्तर अपने काम में लग जाती हैं। इनके लिए प्रायः दस दिन का विश्राम पर्याप्त है।

(२) मध्यवर्ग की स्त्रियां—ये स्त्रियां प्रायः अनपढ़ या उनके बराबर ही होती हैं तथा अपने गृहकर्म में लगी रहती हैं। अतः ये न बहुत मजबूत होती हैं और न बहुत कमजोर ही। क्योंकि गृहकर्म के करते रहने से इनके शरीर को व्यायाम का अभ्यास रहता है फलतः अधिक क्लेशसह होती हैं। इन स्त्रियों के लिए प्रसव के पश्चात् पहले वर्ग की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक आराम की आवश्यकता रहती है। इनको एक मास से कम आराम न मिलना चाहिए।

(३) पढ़ी लिखी स्त्रियां—ये स्त्रियां पढ़ने तथा शारीरिक श्रम न करने से अधिक कमजोर होती हैं फलतः इन्हें तीन महीने आराम की आवश्यकता रहती है।

प्रसव के बाद आराम करने के दो कारण हैं। १—गर्भाशय के संवरण (Involution) का ठीक होना। २-क्षुब्ध शारीरिक धातुओं को स्वभाव में लाना।

यह विश्राम शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार का होना चाहिए॥

१—मानसिक आराम और निद्रा—शारीरिक आराम के साथ साथ

प्रसूता को मानसिक आराम मिलना भी आवश्यक है क्योंकि मानसिक आराम न मिलने से शारीरिक आराम मिलने पर भी उससे सन्तोषजनक लाभ नहीं होता। प्रसूता को क्रोध, चिन्ता आदि मानसिक विकारों से दूर रखना चाहिए तथा उसके लिए क्रोध, चिन्ता, रञ्ज आदि पैदा करने वाले भावों को सामने न आने देना चाहिए। इन मानसिक भावों से उसका स्वास्थ्य खराब होकर दूध भी विकृत हो जाता है फलतः बालक को भी हानि पहुंचने की आशङ्का रहती है। प्रसूता को पर्याप्त निद्रा भी मिलनी चाहिए। पूर्ण निद्रा से ही उसे वास्तविक विश्राम का अनुभव होता है अतः निद्रा के बाधक भावों को कथमपि आने नहीं देना चाहिए। इसके लिए शिशु को सूतिकागार से कुमारागार में ले आकर पृथक् रखना चाहिए। दरवाजे पर परदा लटका देना चाहिए। उस कमरे का प्रकाश भी मन्द कर देना चाहिए। कमरे के पास किसी प्रकार का शोरगुल या भीड़-भम्भड़ नहीं होने देना चाहिए। प्रसूतिका को दिन में सोना भी लाभप्रद होता है। यदि नींद की कमी हो तो दो तीन दिनों तक निद्रा के लिये ओषधियों का भी प्रयोग करना चाहिए।

२—**आहार**—प्रसूता स्त्री का आहार रुचिकर, सादा, हल्का, पौष्टिक और पर्याप्त होना चाहिए। प्रसूति के पश्चात् कुछ रोज तक उसको तरल आहार देना चाहिए क्योंकि उस समय उसकी पाचनशक्ति दुर्बल होती है। इसके साथ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि एक समय में अधिक मात्रा में भोजन देने की अपेक्षा अल्पमात्रा में कई बार में उसको भोजन दिया जाय। संक्षेप में गर्भिणी को स्निग्ध, सुपाच्य, मात्रावद्, हृद्य, द्रवप्राय आहार देना चाहिए। खाद्य द्रव्यों में प्रोटीनों की अधिकता होनी चाहिए क्योंकि शारीरिक धातुओं की ह्रास की पूर्ति के लिए प्रोटीनों के अतिरिक्त जीवतिक्तिद्रव्य, खटिक (Calcium) की भी आवश्यकता होती है। पिष्टमय (Carbohydrates) और चर्बीमय पदार्थ अधिक न होना चाहिए। इनके सेवन से पचनक्रिया में बाधा उत्पन्न होती है तथा आध्मान और मलावरोध करते हैं। अतः इनका वर्जन करना चाहिए। इस दृष्टि से प्रसूता को दूध, चाय, काफी, दूध से बने अन्य पदार्थ, मक्खन, मण्डपेया, यवागू, हाथ से कुटे चावल का भात, सम्पूर्ण गेहूँ की रोटी-हलुवा, मधुर रस के फल ऐसे पदार्थ अधिक मात्रा में देना चाहिए। दूध विशेषतः फायदेमन्द है। मिल के साफ किए चावल, ताजी डबल रोटी, आलू, गोभी, कच्ची साग-सब्जी, मद्य तथा अम्ल पदार्थ

इनको नहीं देना चाहिए। यदि रुग्णा बहुत दुर्बल हो और रक्तस्राव आदि उपद्रव बहुत हुए हों तो मद्य पिलाया जा सकता है। यदि सूतिका रक्ताल्पता से युक्त हो तो उसे लौह आदि के योगों को देना चाहिए। मांसाहारी के सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त है कि प्रारम्भ में अण्डा दिया जा सकता है पर मांस न देना ही अधिक प्रशस्त है। बाद में स्वास्थ्य के ठीक हो जाने पर मांस दिया जा सकता है। पीने के लिए प्रसूता को पर्याप्त मात्रा में पानी देना चाहिए। रक्तस्राव, तथा प्रवाहण आदि के कारण उस (प्रसूता) को पिपासा अधिक लगती है एतदर्थ उसे उबाल कर ठण्डा किया जल देना उचित है। सोडावाटर भी दिया जा सकता है।

३—**मलमूत्रविसर्जन**—उदरगुहा की रिक्तावस्था और उदरपेशियों की शिथिलता से, साथ ही प्रसूता की कमजोरी से, मूत्रमार्ग की पीड़ा और सूजन से प्रसव के पश्चात् कुछ दिनों तक प्रसूता स्वयं मल-मूत्र का त्याग करने में असमर्थ हो जाती है। यदि मलावरोध हो तो दूसरे या तीसरे दिन सायङ्काल में या तीसरे दिन प्रातःकाल में एरण्ड तैल देकर कोष्ठशुद्धि करनी चाहिये। यदि इससे सफलता न मिले तो वस्ति देकर मलाशय को रिक्त कर देना चाहिये। यदि विबन्ध चिरकालीन स्वरूप का हो तो एक दिन का अन्तर देकर मृदु स्रंसन प्रयोगों से कोष्ठशुद्धि कर लेना चाहिये। तीव्र रेचन नहीं देना चाहिये।

मूत्राशय की दशा भी परिचारिका को अवश्य देखना चाहिए। छः घण्टे से अधिक यदि मूत्रसंग (Retention of urine) हो तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। बारह घण्टे में कम से कम एक बार स्त्री को अवश्य मूत्रत्याग करनी चाहिए। यदि ६ घण्टे से अधिक मूत्र की रुकावट हो तो उसमें लालामेह, रक्तविशता और वृक्कशोथ आदि का विचार करना चाहिए। यदि अधिक काल तक मूत्र मूत्राशय में पड़ा रहेगा तो वस्ति के विस्फारित और निर्बल होने का भय रहता है। इसलिए ६ या ७ घण्टे में यदि स्त्री मूत्रत्याग न की हो तो वस्तिशिर और भग के ऊपर उष्ण और जीवाणुनाशक स्वेद करना चाहिए। तथा वस्ति प्रदेश पर हाथ से थोड़ा दबाव डालना चाहिए इससे प्रायः मूत्रत्याग हो जाता है। यदि सफलता न मिले तो स्त्री को केवल बैठाने से या घुमाकर जानुकूर्परासन (पेट के बल) पर अधोमुख करके लेटा देना चाहिए। इस आसन परिवर्तन से मूत्रत्याग हो जाता है। परन्तु प्रसूता में यदि हृदय की कम-

जोरी या मूलावदरण हो तो इस आसन पर नहीं लेटाना चाहिए। तीन चार घण्टे प्रतीक्षा करने पर इस आसन से भी मूत्रत्याग न हो तो मूत्रल औषधियों (Doryl) का प्रयोग पेशीवेध के द्वारा करना चाहिए। यदि इससे भी सफलता न मिले और बारह घण्टे तक मूत्रविसर्जन न हो सके तो भग और मूत्र प्रसेकद्वार का जीवाणुनाशक द्रव्यों से विशोधन करके विशोधित पुष्पनेत्र (Catheter) के द्वारा मूत्राशय को खाली करना चाहिए। बार बार शलाका या मूत्र विशोधिनी नाड़ी का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे उपसर्ग तथा अभ्यास की आशङ्का रहती है। इसी प्रकार 'अर्गट' और 'पिच्युटरीन' भी मूत्राशय की पेशियों के बल को बढ़ाकर मूत्र के निकालने में सहायता पहुंचाती है।

४—**मैथुन**—प्रसूतावस्था में मैथुन निषिद्ध है। इसके तीन कारण हैं (१) प्रसव के कारण पथ अत्यन्त दुर्बल और क्षतयुक्त हो जाता है। मैथुन के समय सम्पूर्ण अपत्यमार्ग पर काफी दबाव एवं रगड़ पड़ती है। इससे अपत्यमार्ग के पुनः क्षतयुक्त होने तथा उससे रक्तस्राव होने का डर रहता है। (२) प्रसव के कारण अपत्यमार्ग की श्लेष्मलकला क्षतयुक्त और हीन बल की हो जाती है जिसके कारण उसके ऊपर विकारी जीवाणुओं का उपसर्ग पहुँच कर रोग की उत्पत्ति का भय रहता है। जननेन्द्रियों के बाह्य मार्ग सदा गन्दे हैं और मैथुन के कारण यह गन्दगी और विकारी जीवाणु अन्दर पहुँच कर रोग पैदा कर देते हैं। (३) मैथुन से पुनः गर्भाधान का भय रहता है। गर्भाधान हो जाने से धात्री का दूध विकृत हो जाता है उसे पीकर बालक का स्वास्थ्य खराब हो जाता है। जल्दी-जल्दी गर्भाधान होने से माता का स्वास्थ्य भी बहुत गिर जाता है। माता के स्वास्थ्य विकारयुक्त होने से आगामी सन्तान भी स्वस्थ और पुष्ट नहीं होती। जब दो-दो बच्चे हो जाते है तो उनके लालन-पालन के भार से माता का स्वास्थ्य अधिकाधिक खराब हो जाता है। सामान्यतया ऐसा माना जाता है यदि स्त्री का प्रसव स्वाभाविक हुआ, उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई साथ ही उचित आहार-विहार का इन्तजाम रहा तो स्त्री को पूर्व स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिये छः महीने की अवधि लग जाती है। इसलिये बच्चा जब तक माता का दूध पी रहा हो तब तक गर्भ-धारण का होना ठीक नहीं है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में लिखा है कि गर्भवती का दूध बालकों में विकार पैदा

करता है और उससे बालक को 'पारिगर्भिक' नामक रोग होता है। इसके अनुसार प्रसव के अनन्तर प्रथम तीन मासों में मैथुन निन्द्य या गर्ह्य, छठवें या आठवें मास में हीन, बारहवें मास में या बाद में मध्यम तथा दो वर्ष के बाद करना उत्तम है।

५—**अभ्यङ्ग तथा आयास** (Massage & exercise)—शरीर का स्वास्थ्य चिरन्तन रखने के लिये व्यायाम भी एक आवश्यक कर्म है। प्रसूता स्त्री को भी उसकी आवश्यकता होती है परन्तु उसके शरीर की स्थिति देख कर उसके लिये व्यायाम या शारीरिक परिश्रम अहितकर होते हैं। उसके लिये जैसा पहले बतलाया जा चुका है पूर्ण विश्राम ही करना ही उत्तम है, परन्तु केवल आराम या शय्या पर लेटे रहने से ही स्वास्थ्य सुचारु नहीं रह सकता है। अतएव एक मध्यम मार्ग का अवलम्बन आवश्यक है जिसमें आराम और व्यायाम के गुण हों दोष न हों। इसके लिये निष्क्रिय व्यायाम–अभ्यङ्ग तथा उद्वर्त्तन परमोत्तम साधन हैं। अभ्यङ्ग या मालिश से व्यायाम न करते हुए भी व्यायाम का फल मिलता है।

भारतवर्ष में प्रसूता को बलातैल या अन्य तैलों से अभ्यङ्ग कराने की पद्धति अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलित है। पाश्चात्य देशों में भी मालिश बहुलता से हो रहा है। वे भी मालिश का महत्व समझने लगे हैं और प्रसूता के लिये अभ्यङ्ग को हितकर मानने लगे हैं।

६—**स्नान–अवगाह–परिषेक**—प्रतिदिन मालिश के बाद एक या दो बार गर्म पानी से स्नान कराना चाहिये। स्नान से सम्पूर्ण शरीर की सफाई के साथ–साथ बाह्य जनन्द्रियों की सफाई के ऊपर भी ध्यान देना चाहिये। स्नान के पश्चात् या अन्य समय में भी प्रसूता को हवा के झोंके तथा सर्दी से बचाकर रखना चाहिये।

७—**संक्रमण–निवारण** (Asepis)—प्रसवोपक्रम की भाँति सूतिकोपचार में योनि और गर्भाशय निर्दुष्ट रखना आवश्यक है। भग और मूलपीठ को सदैव विशुद्ध और शुष्क रखना चाहिये। इसके लिये प्रतिदिन दिन में एक बार विसंक्रामक द्रव से (बिन आयडायड, लाइसाल या डेटाल के मृदु द्रवों से) उस स्थान का विशोधन करके सुखा कर; बाष्प विशोधित कवलिका (Vulvar pad) रख कर कौपीन बन्ध (T. Shaped bandage) से बाँध देना

चाहिये। इस कवलिका के स्राव से या मलमूत्र से दूषित होने पर उसको बदल देना चाहिए। आरम्भिक दिनों में इसे दिन में कई बार प्रति दो तीन घण्टे पर बदलना चाहिये, बाद में दिन में दो या तीन बार बदलना चाहिये। मूलपीठ को विशोधन के समय पिचु को योनिमुख में नहीं प्रविष्ट होने देना चाहिये। आगे से पीछे की ओर एक बार पोंछ कर फिर दुबारा उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

विशोधन करते समय परिचारिका को अपने हाथों को स्वच्छ करके जीवाणुनाशक द्रव्यों में डुबो कर शुद्ध कर लेना चाहिये। मुखच्छद (Mask) धारण करके विशोधनादिक क्रिया करनी चाहिये।

८—**चिकित्सक का निरीक्षण**—प्रसवनिवृत्ति के बारह घण्टे के भीतर ही चिकित्सक को प्रसूता को देखना चाहिये। तीन दिनों तक लगातार प्रतिदिन देखे, पश्चात् बारहवें दिन तक एकान्तर दिवसों में देखे। यदि प्रसूता रुग्णा हो तो दिन में एक बार या दो बार देखना चाहिये। चिकित्सक को उपर्युक्त सभी बातों के सम्बन्ध में जानकारी रखनी चाहिये। प्रसूता का तापक्रम, नाड़ी गति पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में सूतिकाचर्या का विशद उल्लेख पाया जाता है। संक्षेप में यहाँ पर उसके सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है। प्राचीन उपचारों का आधुनिक उपचारों से पूर्णतया साम्य है।

(१) **स्नेहादिपान**—सूतिका को बलातैल से अभ्यङ्ग कराके स्नेहपान कराना चाहिये। स्नेहयोग्य रोगी को वातघ्नौषधियों से युक्त घृत का भी पान कराया जा सकता है।

(२) प्रसूता को हित आहार-विहार का सेवन करना चाहिये। व्यायाम, मैथुन क्रोध और ठण्डक से बचना चाहिये। एक मास पर्यन्त उसको सब प्रकार से शुद्ध रहना चाहिये, स्निग्ध, पथ्य और प्रमित भोजन करना चाहिये। उसे नित्य मालिश और स्वेद करना चाहिये।

(३) **उदरवेष्टन**—उसके कुक्षि और पार्श्व की तरफ विशोधित वस्त्र में बन्धन करना चाहिये। इससे उदर अपने स्थान को चला जाता है और वायु शान्त हो जाता है।

(४) **विभ्रंशितावयवों का स्वस्थानायन करना**—योनि का भ्रंश या गर्भाशय भ्रंश हो तो उसे ठीक करना। यदि योनि में दृढ़ता न आती हो वह

मृदु और शिथिल ही बनी रह गई हो तो (१) लोध्र और तुम्बी फलका लेप (२)वेत समूल के क्वाथ से प्रक्षालन (३)वचा, नीलोत्पल, कुष्ठ, मरिच, असगन्ध और हल्दी का लेप (४) मधुयष्टि, मदनफल और कपूर का पूरण (५) सुरगोप और घृत का लेप (६) पलाश, उदुम्बर फल और तिल तैल का लेप। इन प्रयोगों से योनि दृढ़ हो जाती है।

(५) पुनरार्त्तवदर्शन—प्रायः तीसरे चौथे मास से रजोदर्शन होता है। ऐसी स्त्रियाँ जो स्तनपान नहीं करातीं उनके डेढ़ दो मासों में ही रजःस्राव होने लगता है। इस प्रकार पुनः आर्त्तवदर्शनपर्यन्त सूतिकाकाल की मर्यादा जानना चाहिये।

(६) पथ्यादि की विशद व्यवस्था—प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। विस्तार भय से उसका सम्पूर्ण वर्णन नहीं दिया जा रहा है।

(७) स्तनपायन—इसका विशेष उल्लेख प्रसंगानुसार आगे किया जायगा।

आधार तथा प्रमाण सञ्चय—

स्तन्यप्रवृत्तिहेतुः—रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः।
कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥
धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्।
चतूरात्रात्त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्त्तते ॥
तदेवापत्यसंस्पर्शाद् दर्शनात् स्मरणादपि।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत् सम्प्रवर्त्तते ॥ (सु० नि० १०)

सूतिकोपक्रमः—(१) प्रसूताहितमाहारं विहारं च समाचरेत्।
व्यायामं मैथुनं क्रोधं शीतसेवां विवर्जयेत् ॥
सर्वतः परिशुद्धा स्यात् स्निग्धपथ्याल्पभोजना।
स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेन्मासमतन्द्रिता ॥ (भा० प्र०)

(२) सूतिका क्षुद्वती तैलाद् घृताद्वा महतीं पिबेत्।
पञ्चकोलकिनीं मात्रामनुचोष्णं गुडोदकम् ॥
वातघ्नौषधतोयं वा तथा वायुर्न कुप्यति।
विशुद्ध्यति च दुष्टास्रं द्वित्रिरात्रमयं क्रमः ॥
स्नेहायोग्या तु निःस्नेहममुमेव विधिं भजेत्।
पीतवत्याश्च जठरं यमकाक्तं विवेष्टयेत ॥ (वा० शा० १)

(३) ततोऽग्निवलवद्धीक्ष्य त्र्यहं पञ्चाहमेव वा ।
मण्डानुपानमन्वक्षं पिबेत्स्नेहं हिताशिनी ॥
स्नेहव्युपरमेऽश्नीयादल्पस्नेहामसैन्धवाम् ।
यवागूं त्र्यहमेवात्र पिप्पलीनागराश्रिताम् ॥
याद्व्यपेतौषधा पश्चात् सस्नेहलवणोत्तरा ।
कुलत्थयूषः सस्नेहलवणाम्लस्ततः परम् ॥
तथैव जाङ्गलरसः शाकानीमानि चाप्यतः ।
घृतभृष्टानि कुष्माण्डमूलकैर्वारुकानि च ॥
स्नेहस्वेदौ च सेवेत मासमेकमतन्द्रिता ।
उष्णोदकोपचारं च स्वस्थवृत्तमतः परम् ॥

(सूतिकोपक्रमणीये काश्यपः)

दार्ढ्यकरायोगाः—

१. पलाशोदुम्बरफलं तिलतैलं समन्वितम् ।
योनौ विलिप्तं मधुना गाढीकरणमुत्तमम् ॥
प्रसूता वनिता वृद्धकुक्षिह्रासाय सम्पिबेत् ।
प्रातर्मथितसम्मिश्रं त्रिसप्ताहात् कणाजटाम् ॥ (भा०प्र०)

२. वचा नीलोत्पलं कुष्ठं मरिचानि तथैव च ।
अश्वगन्धा हरिद्रा च गाढीकरणमुत्तमम् ॥
यष्टीमधुककर्पूरपूरणं योनिदार्ढ्यकृत ।
सुरगोपाज्यतोऽभ्यङ्गो योनिश्लथविनाशनः ॥ (भै० र०)

३. योनिर्मूषावसाभ्यङ्गान्निसृता प्रविशेदपि ।
लोध्रतुम्बीफलालेपो योनिदार्ढ्यं करोति च ॥
वेतसमूलनिःक्वाथक्षालनेन तथैव च । (भै० र०)

(च० शा० ८, सु० शा० १०, वा० शा० १, सु० नि० ९–१०)
(Midwifery by Johnstone)

विकृति-प्रकरण

प्रथम अध्याय

गर्भकालीन रोग

(Pathology of Pregnancy)

गर्भकाल में होने वाले रोगों के प्रभाव विविध होते हैं तथापि सामान्यतया उनमें गर्भस्राव अथवा अकालप्रसव का भय रहता है। यह भय भी कई कारणों से होता है जैसे यदि गर्भिणी का ज्वर अत्युच्च ताप वाला हो (१०४° के या अधिक) तो गर्भ की मृत्यु हो जाती है। अतितीव्र सन्ताप के अतिरिक्त यदि तृणाणुओं के विष (Bacterial toxins) माता के रक्त में सञ्चरित होने लगें तो उस विषमयता से भी गर्भ की मृत्यु हो सकती है। कई बार इन उपसर्गों से गर्भ ही प्रभावित होकर रोग से पीडित होता और गर्भाशय के भीतर ही उसकी मृत्यु हो जाती है। कभी-कभी कई ज्वरों में रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है जिसके कारण गर्भाशय से रक्तस्राव होने लगता है और उस रक्तस्राव के साथ गर्भ भी अकाल में निकल जाया करता है। कई प्रकार के तीव्र उपसर्ग (विसर्प, लोहित ज्वर, रोहिणी, आन्त्रिक ज्वर, श्वसनक प्रभृति जिनमें अधिक उल्लेखनीय हैं।) अपत्य-मार्ग का स्थानिक संक्रमण पैदा कर देते हैं; इनमें यदि गर्भस्राव हो जाय तो अधिक हानि होने की सम्भावना रहती है।

इन विकारों में गर्भ तथा गर्भिणी की रक्षा की दृष्टि से चिकित्सा करना आवश्यक हो जाता है अत एव इस प्रकार की चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये जिससे गर्भाशय तथा गर्भ के ऊपर कोई हानिप्रद प्रभाव न पड़े।

विषमज्वर—गर्भावस्था के उत्तर काल में विषमज्वर होने से अपरा के रक्त स्रोतसों में रक्त की अधिकता और रक्तसञ्चार की मन्दता के कारण कीटाणुओं से उपसृष्ट रक्तकणों की भरमार होती है इससे रक्तप्रवाह में बाधा होकर गर्भ की हानि होती है। जिससे गर्भपात होता अथवा गर्भ का स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। यद्यपि फिरंग के चक्र कीटाणुओं के सामान विषमकीटाणु स्रोतसों की दीवाल में से गर्भ के शरीर में प्रवेश नहीं कर सकते, तथापि इस प्रकार के प्रवेश की सम्भावना रहती है; विशेषतः अपरा में यदि कहीं विदार हो—गर्भ का पोषण ठीक न होने से, यदि गर्भपात न हुआ तो कई गर्भ मृतावस्था में जन्म लेते हैं, क्योंकि

रक्त की कमी से उनका पोषण ठीक नहीं होता, उनकी वृद्धि ठीक नहीं होती और वे पाण्डु तथा दुर्बलता से पीड़ित होते हैं। गर्भ काल में स्त्रियों में विषमज्वर का उपसर्ग होने से गर्भविषजन्य परम वमन तथा अन्य उपद्रव होने में सहायता मिलती है। क्वचित् अपरा में से रोग के जीवाणु गर्भ के शरीर में प्रवेश करते हैं और जन्म के समय ऐसे बालकों में प्लीहावृद्धि मिलती है। इस काल में गर्भपात रोकने का उत्तम उपाय 'अटेब्रिन' या 'क्विनीन' का सेवन है। यद्यपि क्विनीन के गर्भाशय संकोचक होने के कारण गर्भवती स्त्री को विषमज्वर से पीड़ित होने पर क्विनीन दे या नहीं इस सम्बन्ध में कुछ मतभेद है; लेकिन उसके देने से जितना नुकसान होने का डर रहता है प्रत्यक्ष रोग से उससे अधिक नुकसान होता है। अतः विषमज्वर के नाशन के लिए क्विनीन का प्रयोग करना चाहिए। साथ ही क्विनीन के गर्भाशय संकोचक कार्य प्रसवकाल में जितना दिखाई देता है उतना प्रसव पूर्वकाल में नहीं होता। इसलिए विषमज्वर पीड़ित गर्भवती स्त्री को क्विनीन देने में कोई आपत्ति नहीं है।

देने की विधि—१. रोगी को बिस्तरे पर पूर्ण आराम से रखे। २. प्रत्येक समय ४ या ५ ग्रेन क्विनीन मुख से दे और दिनरात में कुल चार या पांच बार इस प्रकार दे। ३. क्विनीन के साथ अफीम या पोटास ब्रोमाइड (पांच से दस ग्रेन) मिला कर दे अथवा क्विनीन 'हाइड्रोब्रोमाइड' का प्रयोग करे।

पूयमेह—इसके जीवाणु स्त्रियों के योनि, गर्भाशय, बीजवाहिनी, बस्ति, उदरावरण इत्यादि में प्रवेश कर शोथ उत्पन्न करते हैं। जैसे भगौष्ठ शोथ, योनि-शोथ, गर्भाशय-ग्रीवाशोथ, बीजवाहिनी-शोथ, बीजग्रंथि-शोथ। साथ ही इन्हीं के परिणामस्वरूप यदि चिकित्सा न की जाय तो गर्भस्राव अथवा उचितकाल पर प्रसव होने से नवजात को नेत्राभिष्यन्द प्रभृति उपद्रव होते हैं।

चिकित्सा—पूयमेह की आधुनिक चिकित्सा में शूल्वौषधियों तथा पेनेसिलीन स्ट्रैप्टोमाइसीन व्यवहृत होती हैं। इनसे यदि चिकित्सा आरम्भ की जाय तो दो तीन दिनों में ही लक्षणों की निवृत्ति हो जाती है और उपद्रव उत्पन्न नहीं होते हैं तथा रोग का निर्मूलन भी हो जाता है।

नवजातनेत्राभिष्यन्द का प्रतिषेध—इसके लिए एक प्रतिशत 'सिलवर नाइट्रेट' का घोल काम में लाया जाता है। जन्म के पश्चात् बालक की आँखें रुई

के फाया से पोंछने के पश्चात् तिर्यक्पाती जल में बनाए हुए घोल से प्रक्षालित की जाती हैं। आजकल उपर्युक्त घोल के बदले पेनेसिलीन का प्रयोग किया जाता है। पेनेसिलीन का घोल बनाने के लिए दो लाख मात्रा की पेनेसिलीन को बीस शीशी परिस्रुत सलिल में मिलाकर तैयार करते हैं और दिन में कई बार इसकी बूंदें नेत्र में छोड़ते हैं। यह बड़ा ही निरापद, पीडाहीन और लाभकारी योग है।

फिरंग—इसके उपसर्गका परिणाम गर्भावस्था पर पड़ता है। गर्भावस्था से शरीरगत फिरंगदोष उद्दीपित होकर गर्भ को दूषित करता है। अनेक बार गर्भधारण होने पर उत्तरोत्तर फिरंग की गर्भनाशक शक्ति घटती जाती है। इससे फिरंग युक्त स्त्री में प्रारम्भ में गर्भस्राव और उत्तरोत्तर गर्भपात, मृतगर्भजन्म, फिरंगी सजीव बालक का जन्म और अन्त में स्वस्थ बालक का जन्म, इस क्रम से गर्भधारण का इतिहास मिलता है। इस प्रकार के गर्भधारण का इतिहास यदि किसी स्त्री में मिले तो वह फिरंग का सूचक होता है। गर्भधारण के पश्चात् स्त्री को जब फिरंग का नया उपसर्ग होता है तो उपसर्ग काल के अनुसार उसका परिणाम गर्भ पर पड़ता है।

गर्भ पर परिणाम—(१) कारण के अनुसार केवल माता से उपसर्ग पहुंचने पर ६० प्रतिशत मृत्यु होती है और ८० प्रतिशत विकृति दिखाई पड़ती है। दोनों से उपसर्ग पहुंचने पर प्रतिशत प्रमाण बढ़ जाता है। (२) माता में उपसर्ग पहुंचने के पश्चात् तीन साल के भीतर गर्भधारण होने से गर्भमृत्यु का प्रमाण सबसे अधिक होता है और उत्तरोत्तर कम होता जाता है। परन्तु परिणाम पूर्णतया नष्ट कदापि नहीं होता, जिससे आखिर तक फिरङ्गोपसृष्ट बालक उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है।

गर्भधारणकालानुसार—यदि गर्भाधान के पूर्व का उपसर्ग हो तो गर्भमृत्यु का प्रमाण ६५ प्रतिशत और विकृत का प्रमाण ७० प्रतिशत होती है। गर्भाधान के समय यदि उपसर्ग पहुंचा हो तो मृत्यु ७५% और विकृति ९१% होती है। गर्भाधान के पश्चात् उपसर्ग होने पर मृत्यु २९ प्रतिशत और विकृति ७२% होती है। परन्तु गर्भावस्था के काल के अनुसार इसमें फर्क आ जाता है। सातवें महीने के बाद उपसर्ग होने से प्रायः गर्भ फिरंग से बच जाता है। इसका कारण यह है कि उस समय तक अपरा पूर्ण होकर उसमें गर्भ रक्षणार्थ एक रक्षक

पदार्थ बनता है जो फिरंग के जीवाणुओं का नाश करता है। पाँचवें से सातवें महीने के बीच में उपसर्ग होने पर ६०% गर्भ बच सकते हैं, और बाकी उपसृष्ट होते हैं। पाचवें महीने के पूर्व उपसर्ग होने से प्रायः सभी गर्भ उपसृष्ट होते हैं।

चिकित्सा—प्रत्येक गर्भधारण के पश्चात् फिरंग से गर्भ की रक्षा करने के लिए फिरङ्गित स्त्री को प्रत्येक गर्भावस्था में फिरङ्गनाशक चिकित्सा का प्रबन्ध करना चाहिए—

१—चिकित्सा की ओषधियों में पेनेसिलीन का प्रयोग करना चाहिए। साथ ही स्थायी लाभ पहुंचाने के लिए फिरङ्ग की विशिष्ट चिकित्सा नेपाली (As) या भिदातु (Bismuth) या दोनों को मिला संयुक्त चिकित्सा करना श्रेयस्कर है।

१—**एसिटीलार्सन** (M. B.) का प्रयोग गर्भकालीन फिरङ्ग की चिकित्सा में उत्तम है। इसकी दो प्रकार की मात्राएं बाजार में मिलती हैं। दो सी० सी० की शीशियां (बालकों के लिए) और तीन सी० सी० की शीशियां (युवकों के लिए) इनमें बालकों वाली मात्रा में ही सप्ताह में एक या दो बार गर्भिणी को पेशी द्वारा देना चाहिए। नव या दस अन्तर्भरण पर्याप्त होते हैं।

रक्तालपता या पाण्डु-गर्भवती स्त्री में विषमज्वर, अङ्कुशकृमी, संग्रहणी अर्श, रक्तप्रदर, तथा अन्य कारणों से रक्तक्षय हो सकता है। लेकिन यहां पर वह रक्ताल्पता अभीष्ट है जो गर्भधारणा के कारण एक साधारण स्वस्थ स्त्री में उत्पन्न होती या हो सकती है।

प्रकार—१—दैहिकीय (Physiological) गर्भिणी स्त्री के रक्त की राशि कुछ अधिक हो जाती है यह अधिकता कणों की अपेक्षा रक्तरस में हुआ करती है इसलिए यद्यपि सकल लालकणों की संख्या और शोण वर्तुली की राशि गर्भधारण के पूर्वावस्था को अपेक्षा अधिक होती है तथापि रक्तपरीक्षा करने पर लालकणों की संख्या और शोण वर्तुली की प्रतिशत मात्रा कम मालूम होती है। साधरणतया रक्त की स्थिति इस प्रकार की होती है। रक्तरस की वृद्धि २५%, कण और शोणवर्तुली की वृद्धि २०%, कण एक सी० सी० ४० लाख, शोणवर्तुली का प्रमाण ८०% के लगभग रंग देशना एक के करीब, रक्तरस में प्रोभूजिनों की कुछ अल्पता, रक्त की सान्द्रता कुछ कम। संक्षेप में रक्त पानी के समान पतला होता है। इसलिए इस अवस्था को जलमयता (Hydraemia) कहते हैं। यह रक्त-

क्षय गर्भधारण के प्रारम्भिक मासों में होता है। उत्तरकाल में यह कम हो जाता है और प्रसूति के पश्चात् पूर्णतया नष्ट हो जाता है।

सम्प्राप्ति—गर्भधारण होने के पश्चात् माता के शरीर में सब प्रकार की वृद्धि होने लगती है। यह वृद्धि विशेषतया गर्भाशय और अपरा की होती है। इसके अतिरिक्त एक नवीन जीव की भी वृद्धि होती है—साधारणतया यह अनुमान किया गया है कि गर्भ के शरीर में चार सहस्र धान्य अयस इकट्ठा होता है और माता के शरीर के वृद्धि के लिए ५०० सहस्री धान्य की आवश्यकता होती है। प्रसव के समय जो रक्तस्राव होता है उससे करीब २०० सहस्री धान्य अयस (लौह) नष्ट होती है। यह प्रसवकाल के रक्तनाश गर्भवती के रक्तक्षय का विचार करते समय छोड़ दिया जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं। सब मिलाकर गर्भिणी को एक सहस्री धान्य से कुछ अधिक अयस की आवश्यकता होती है। उसमें से मासिक धर्म रुक जाने के कारण प्रतिमास ५० सहस्री धान्य के प्रमाण में करीब ५०० सहस्री धान्य बचा रहता है इस प्रकार गर्भिणी को कुछ ५००-६०० सहस्रधान्य लौह की अधिक आवश्यकता होती है। गर्भिणी का दैहिकीय रक्तक्षय इस कारण से उत्पन्न होता है।

यदि गर्भधारण के पूर्वगर्भिणी का स्वास्थ अच्छा हो, गर्भावस्था में पुष्टिकर आहार मिलता हो और कोई आगन्तुक विकार उत्पन्न न हो तो इस गर्भकालीन रक्तक्षय की उपेक्षा की जा सकती है।

२—**उपवर्णिक रक्तक्षय (सूक्ष्मकायाण्विक)**—गर्भिणी में मिलनेवाला यही मुख्य पाण्डु का प्रकार है। यह गरीब स्त्रियों में २०-३० साल की आयु और प्रारम्भिक गर्भ धारणाओं में अधिक दिखाई पड़ता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि गर्भिणी को नैत्यिक लौह की आवश्यकताओं के अतिरिक्त अधिक लौह की जरूरत होती है। यह आवश्यकता अनेक स्त्रियों में आर्थिक परिस्थितियों के कारण या तत्कालीन अरुचि, अन्न की अभिलाषा का अभाव तथा पोषण की कमी से होता है। इस पाण्डुरोग के उत्पत्ति का सर्व प्रथम यही कारण है। दूसरा कारण जठराम्ल की कमी है। इस अम्ल की कमी के कारण लौह का पाचन और शोषण ठीक नहीं हो पाता। तीसरा कारण आन्त्र विकार है जिससे सेवित और पाचित लौह के शोषण में बाधा उत्पन्न होती है। गर्भ के दबाव के कारण या क्वचित् उसके विष के कारण, वमन प्रवाहिका इत्यादि अनेक विकार उत्पन्न होते हैं।

इससे गर्भिणी में थकावट, सांस का फूलना, कामों में मन न लगना, धड़कन पैरों पर सूजन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं और रक्तक्षय की अधिकता के अनुसार वे उग्ररूप धारण करते हैं, इससे गर्भस्राव गर्भपात और अपूर्ण काल प्रसव इत्यादि उपद्रवों का डर रहता है। तथा गर्भस्थ शिशु के मरने की आशङ्का रहती है। इसकी चिकित्सा में उत्तम लौह द्रव्य युक्त आहार से अयस, ताम्र, उदनीरिक अम्ल और सौम्य विरेचन आदि का व्यवहार करना चाहिए। पूर्वविधानता की दृष्टि से गर्भवती स्त्रियों में लौह का सेवन करते रहना उचित है विशेषतया उन स्त्रियों में जो पहले पाण्डुरोग से पीड़ित हो चुकी हैं।

३—**परमवर्णिक स्थूल कायाण्विक रक्ताल्पता**—इस प्रकार का पाण्डुरोग गर्भवती स्त्रियों में उपर्युक्त पाण्डुरोग के समान अधिक नहीं दिखाई देता। यह पाण्डुरोग ३०-४० साल की आयु की स्त्रियों में अधिकतर बहुप्रसवा स्त्रियों में तथा प्रथम उपवर्णिक रक्तक्षयों से पीड़ित स्त्रियों में दिखाई देता है। इसका प्रथम कारण खाद्य द्रव्यों में वहिर्द्रव्ययुक्त वस्तुओं की कमी है विशेषतया जीवतिक्ती 'A' का बहुत महत्व होता है। दूसरा कारण जाठरिक अन्तर्द्रव्य की कमी है। यह कमी गर्भावस्था के कारण केवल उसी समय के लिए हो सकती है या पहले इस प्रकार की प्रवृत्ति होने पर गर्भावस्था के कारण प्रत्यक्ष, वास्तविक और स्थायी हो सकती है। तीसरा कारण पाचन, प्रचूषण और संग्रह की कठिनाई से रक्तिक द्रव्य का ठीक उपयोग न होना है। इन तीन कारणों में प्रथम और तृतीय कारण अधिक दिखाई देते हैं। इनमें जो परम वर्णिक रक्तक्षय है उसके सहज प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न हो कर, गर्भधारणा के निमित्त स्थायी हो जाता है। यह वास्तविक 'एडिसन' का वैनाशिक रक्तक्षय है। उसे गर्भिणी का रक्तक्षय नहीं कर सकते। परन्तु जो रक्तक्षय आहार या पचन दोष के कारण गर्भधारण के समय में या प्रसूति के पश्चात् कुछ काल तक रहता है और फिर स्वयं या चिकित्सा से ठीक हो जाता है वह वास्तविक गर्भधारणजनित वैनाशिक रक्तक्षय है। इस प्रकार का रक्तक्षय उसके पश्चात् आने वाले गर्भ काल में फिर से उत्पन्न हो सकता है। इसके लक्षण उपवर्णिक रक्तक्षय की अपेक्षा तीव्र होते हैं। इसमें ज्वर, भ्रम, चेहरे और पैरों पर अधिक सूजन, प्लीहावृद्धि, धड़कन आदि होते हैं। इसमें गर्भिणी के मृत्यु की भी सम्भावना रहती है और गर्भ की मृत्यु भी उपवर्णिक की अपेक्षा अधिक हुआ करती है।

चिकित्सा—वैनाशिक रक्तक्षय के समान पूर्ण विश्राम, जीवतिक्ति (वी.सी.) आदि युक्त आहार, जठरसत्व या यकृत् का सेवन तथा उदनीरिक अम्ल (Hcl) देना चाहिये। इसके अतिरिक्त यकृत् कार्य की सहायता के लिये लौह तथा जीवतिक्ति 'वी' के विविध योगों को (Marmites & Nicotinic acid) देना चाहिये। अवटुका ग्रन्थि का सत्व भी लाभप्रद होता है।

४. **शोणांशिक रक्तालपता**—यह गर्भावस्था के अन्तिम तीन मासों में या प्रसूति के पश्चात् हुआ करता है। गर्भावस्था में गर्भ विष के कारण और प्रसूति के पश्चात् मालागोलाणुओं के उपसर्ग से होता है। यह रोग तीव्र और घातक होता है। रोगी का वर्ण फीका पड़ जाता है। प्लीहा यकृत् की वृद्धि होती है, आंखें पीली पड़ जाती हैं। मूत्र में मूत्रपित्ति की उपस्थिति मिलती है। लालकणों का नाश हो कर उनकी संख्या १ लाख से भी कम हो जाती है। शोण वर्तुलि २०% तक या इससे भी कम हो जाती है। श्वेत कणों की संख्या वृद्धि होती है। इस रोग से पीडित स्त्रियों में बच्चा होने पर एक प्रकार का क्षोभ होता है जिसे प्रसव क्षोभ कहते हैं, जिससे उनके मरने का डर रहता है।

इस रोग के लिये रक्त संक्रम (Blood transfusion) ही एक मात्र उपाय है। ३००–५०० सी० सी रक्त का संक्रम एक वार में करके यदि आवश्यक हो तो दूसरी वार भी करना चाहिये। यकृत और लौह आदि इसमें विशेष उपयोगी नहीं होते।

राजयक्ष्मा—प्रथम गर्भावस्था के पश्चात् प्रायः स्त्री की रोगनिवारक क्षमता बहुत कम हो जाती है, परिणामतः वह उत्तरोत्तर कमजोर, रोगग्रसित एवं धारणाशक्ति रहित होती जाती है। यद्यपि उत्तर कालीन मासों में महाप्राचीरापेशी (Diaphragm) के ऊपर उठ जाने से बाह्य दर्शन गर्भिणी अपने शरीर को कुछ अच्छा और हल्का अनुभव करती है। चिकित्सा में ऐसी गर्भवती स्त्रियों में प्रसव काल को जितना छोटा हो सके बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। गर्भावस्था पर्यन्त फुफ्फुस की अवस्था पर विशेष ध्यान देना चाहिये। प्रायः गर्भिणी पूर्ण स्वस्थ एवं प्रगल्भ सन्तान को पैदा करती है तथा उसकी सन्तान पर उसका सहज (Congenital) प्रभाव कुछ भी नहीं होता। परन्तु जन्म के बाद बालक को माता से अलग करके रखना चाहिये, माता का स्तनपान भी नहीं कराना चाहिये। ऐसे बच्चों को कृत्रिम दुग्धपान की व्यवस्था करनी चाहिये।

मसूरिका (Smallpox)—गर्भावस्था में यह रक्तस्रावी प्रकार का होता है, फलतः गर्भस्राव का भय रहता है। क्वचित् रोग काल में पैदा हुए बच्चे रोग से पीड़ित हुए ही जन्म लेते अथवा जन्म के बाद तत्काल रोग से आक्रान्त होते हैं। कई बार गर्भवती के पीडित होने के कुछ मास पश्चात् यदि बालक जन्म ले उसके शरीरपर मसूरिका के दाग मिलते हैं और वे मासूरी टीके (Vaccine) के लिये सह (Resistant) हो जाते हैं। गर्भावस्था में भी टीके (Vaccination) का निषेध नहीं है, परन्तु सूतिकाकाल में टीका नहीं देना चाहिये। क्योंकि इस काल में प्रजाता के रोगनिवारक क्षमता के हीन रहने के कारण संक्रमण का भय रहता है।

विसर्प—यह मालागोलाणु (Streptococcal) का तीव्र उपसर्ग है। गर्भकाल से इसके द्वारा अपत्यमार्ग के उपसृष्ट होने से अपूर्ण प्रसव का भय रहता है। यदि दैवात् किसी प्रकार गर्भिणी में इसका उपसर्ग पहुंच जाय तो भग को उपसृष्ट होने से बचाना चाहिये और भग को ऊपर से जीवाणुनाशक कवलिका रखकर सुरक्षित रखना चाहिये।

आन्त्रिकज्वर—अतितीव्र संताप से गर्भवती में गर्भस्राव का भय रहता है। आन्त्रिकज्वर पीडित गर्भिणियों में मृत्यु का प्रमाण १५% माना गया है। सूतिकाकाल में विशेषतः इस व्याधि का उपसर्ग अनिष्टकर होता है।

रोमान्तिका तथा वातश्लैष्मिक ज्वर (Influenza) में भी गर्भस्राव का भय रहता है। रोहिणी (Dyptheria)—कई बार इस रोग का प्रसार होकर भग और योनि में रोहिणी कला (Membrane) बनती है—विशेषतः यदि प्रसवकाल समीप हो। लोहितक ज्वर (Scarlet fever) जीवाणुनाशक उपक्रमों का व्यवहार प्रसूतिशास्त्र में बहुलता से होने लगा है फलतः इस रोग के वास्तविक उपसर्ग का भय अल्प रहता है। विसूचिका (Chorlera) इस व्याधि में उद्वेष्टन (Cramps) होने के कारण गर्भस्राव या पात का भय गर्भवती में रहता है। कई बार गर्भस्राव होनेके पूर्व ही गर्भिणी की मृत्यु भी हो जाती है। जिनमें गर्भस्राव पहले ही हो जाता है, ऐसी गर्भिणी स्त्रियां प्रायः बच भी जाती हैं क्योंकि संभवतः यह रोग कुछ मृदु स्वरूप का होता है।

तीव्र श्वसनक ज्वर (Pneumonia)- गर्भवती में श्वसनक का तीव्र उपसर्ग होने से अतितीव्र संताप के कारण अथवा सुचारु रूप से प्राणवायु का

संवरण रक्त परिभ्रमण में न होने से गर्भ को बाधा होती है, विशेषतः गर्भधारणा के अंतिम मासों में। उसके प्रसूतिकाल में भी इससे उपसृष्ट होने का भय रहता है, जो अपेक्षाकृत अधिक भयंकर होता है। इसमें मृत्यु का प्रमाण पहले बहुत रहता था; परन्तु आजकल 'पेन्सीलीन' 'आरियो मायसिन' प्रभृति ओषधियों के आविष्कार तथा उनके सम्यक् उपयोग से रोग की साध्यता पर्याप्त मात्रा में बढ़ गई है।

हृद्रोग (Circulatory disease)—गर्भकाल में गर्भवती स्त्रियों में हृदय का विकार युक्त होना बड़ा अनिष्टसूचक लक्षण है। विभिन्न अवस्थाओं का विचार करते हुए तदनुकूल औषध, अन्न और विहार की व्यवस्था करनी चाहिये। रुग्णा को पूर्ण विश्राम देकर यथाविध हृत्पत्री (Digitalis) प्रभृति हृद्योगों का उपयोग करना चाहिये।

अवटुका ग्रन्थि का अधिक क्रियाशील होना (Hyperthyroidism)—इस कारण से वायु प्रबल होकर (Excitibility of Vasomotor system) गर्भवती में गर्भस्राव कराता अथवा हृदयावसाद का भय उत्पन्न करता है। इस अवस्था की चिकित्सा में अवटुका ग्रन्थि का आंशिक छेदन लाभप्रद होता है।

शल्यकर्म की अत्यधिक अवस्थायें (Surgical emergencies)—गर्भावस्था में प्रायः किसी प्रकार का शस्त्रकर्म अच्छा नहीं होता, अतः गर्भधारण के पूर्व ही शल्यकर्मसम्बन्धी रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये। यदि ऐसा संभव न हुआ तो सूतिकाकाल के पश्चात् शस्त्र कर्म करना चाहिये। कई बार गर्भावस्था में उपद्रव रूप में इस प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं जिनमें चिकित्सा की तत्काल आवश्यकता होती है। इसी प्रकार का एक उपद्रव आन्त्रपुच्छ शोथ या विद्रधि है। यदि इसका ज्ञान गर्भाधान के प्रारम्भिक मासों में हो जाय, तो शस्त्रकर्म के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। अन्यथा सूतिकाकाल पर्यन्त शस्त्रकर्म को स्थगित करने से प्रसवकाल में होनेवाले अन्तः औदारिक गर्भ की गतियों से संश्लेप द्वारा सीमित विद्रधि के संश्लेप (Adhesions) के टूट जाने से उस सीमित संचित पूय का उपसर्ग उदरावरण में हो तो उदर्याकला शोथ (Peritonitis) होने का भय रहता है।

आधार तथा प्रमाणसञ्चय—

'जौन्स्टन' तथा 'जिलेट' की मिडविफरी। (डा० घाणेकर का रक्त के रोग)

द्वितीय अध्याय

गर्भ के परिणामस्वरूप होने वाले विकार

(Pathological Conditions Dueto existence of the Pregnancy)

मलावरोध—विवन्ध या मलावरोध नियमतः गर्भवती स्त्रियों में मिलता है। इसकी उत्पत्ति में हेतु गर्भित गर्भाशय का आन्त्रों के ऊपर पड़ने वाला भार ही है। इसके उपचार के सम्बन्ध में उपदेश देना चिकित्सक का कर्त्तव्य है। इसमें भोजन की व्यवस्था इस प्रकार की करनी चाहिये जिससे रोगी में विवन्ध न रहने पावे। तीव्र रेचकों का प्रयोग इस काल में निषिद्ध है। मृदु, मधुर और सौम्य रेचनों का प्रयोग उत्तम होता है। मधुयष्टि, गुलकंद, मुनक्का अथवा यष्टयादि चूर्ण के सम्यक् उपयोग से विवन्ध का दूरीकरण करना चाहिये।

शिराकुटिलता—इसको उत्पत्ति में गर्भित गर्भाशय का भार ही हेतु है। भार के परिणाम स्वरूप अधःशाखाओं तथा भग की शिरायें फूल जाती एवं विस्तृत हो जाती है। ऐसा अधिकतर उसी स्थान की शिराओं में पाया जाता है जहाँ पर इस विकार की पूर्व प्रवृत्ति होती है। यदि गर्भावस्था के पूर्व भी यह विकृति उपस्थित हो तो प्रसव के समय शिरा के विदार का भय रहता है साथ इसके परिणामस्वरूप भग का रक्तार्बुद हो जाने के कारण प्रसव में भी कठिनाई उत्पन्न होने का डर रहता है। अतः प्रतिषेधार्थ स्थितिस्थापक वन्ध (Elastic bandage), पूर्ण विश्राम, समतल आसन (Horizontal position) तथा 'सोडियम् मुरेट' के अन्तर्भरण (Injeetion) से चिकित्सा करनी चाहिये।

कुछ विद्वान् शिराकुटिलता की उत्पत्ति में वर्द्धित शिरान्तभार (Increased Venous pressure) तथा पीतपिण्ड निर्मापक अन्तःस्राव को भी हेतु मानते हैं जिसके कारण विना धारीदार पेशियों में शिथिलता (Relaxing influence) आजाती है।

अर्श—उपर्युक्त कारणों से गर्भावस्था में यह विकार होता है पुनः प्रसव के वाद अपने आप दूर हो जाता है। ऐसी माताओं में जो अनेक प्रसव कर चुकी हैं

यह विकार अवश्य मिलता है। गर्भकाल तक अधिक व्यक्त रहता है, पश्चात् अव्यक्त हो जाता है।

शाखाशोथ—यदि शोथ (सूजन) अधःशाखाओं तक ही सीमित रहे तो इसे भी एकमात्र गर्भित गर्भाशय के भार के हेतु ही मानना चाहिये। इस प्रकार की सूजन प्रसव के बाद अपने आप विना किसी चिकित्सा के निवृत्त हो जाती है। परन्तु गर्भिणी में शोथ की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। विशेषतः सूजन यदि मुख या भग पर हो क्योंकि इस प्रकार की सूजन वृक्कशोथ अथवा आत्मविषसंचारजन्य होता है और रुग्णा के लिये इसकी उपेक्षा घातक सिद्ध हो सकती है। अतः रोगी को पूर्ण विश्राम करने की सलाह देनी चाहिये और उसके मूत्र की परीक्षा तत्काल कराके कारणानुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

वृक्कशोथ (Pyelitis and pyelonephritis)—गर्भावस्था में जिन रोगियों के वृक्क से पूय एवं तृणाणु विसर्जित होकर मूत्र से निकलते हैं उन्हें वृक्कपाक या शोथ से पीडित समझना चाहिये। यह रोग प्रायः २०–३० वर्ष की आयु में और प्रथम गर्भा स्त्री में और गर्भावस्था के पाँचवें या छठवें मास में मिलता है।

वैकृतिकी (Pathology)—५५% दाहिने, ३५% बायें और १०% दोनों वृक्कों में यह शोथ मिलता है। शोथ के परिणामस्वरूप वृक्क का वर्ण फीका पड़ जाता है और स्वाभाविक से अधिक मृदु हो जाता है। वस्तिभाग (Pelvis) के विस्फार के कारण वृक्क का आकार भी बढ़ा हुआ होता है। वस्तिभाग विस्फारित, स्थूल, खरस्पर्श एवं रक्ताधिक्य युक्त हो जाता है। वृक्क बहिर्भाग (Renal cortex) के भीतर विद्रधियों के गर्त्त मिलते हैं। (Pyelonephritis)।

एक या दोनों मूत्रवह स्रोत (Ureter) श्रोणिकंठ के ऊपर तक विस्फारित तथा उसके नीचे अविस्फारित या प्राकृत मिलते हैं। यह विस्फार सामान्यतया पेन्सिल की बराबर की मुटाई का होता है; परन्तु कई बार इतना अधिक विस्तृत हो जाता है कि क्षुद्रान्त्र के तुल्य दिखलाई पड़ता है। इसमें (झुर्रियाँ) वलि या गर्त भी मिल सकते हैं। मूत्रवह स्रोत के विस्फार और वलियों का ज्ञान 'क्ष'–किरण (Pyelogram) से वृक्क संदर्शन से हो जाता है।

वस्ति (Bladder)—में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं होता क्वचित् बस्ति शोथ (Cystitis) के चिह्न मिल सकते हैं। मूत्रवह स्रोत विस्तृति का हेतु भी गर्भित गर्भाशय का भार ही है। इस विस्तृति के परिणाम स्वरूप मूत्र का निरोध (Stasis) हुआ करता है जिससे जीवाणुओं की वृद्धि के लिये क्षेत्र मिलता है। इस विस्तृति के अतिरिक्त गर्भावस्था में मूत्रवहस्रोत के नाडी और पेशीसूत्रों में भी हीन बलता (Atony) आ जाती है।

उपसर्ग पहुंचाने वाले कीटाणु—८०% उपसर्ग विशिष्ट तृणाणु (B coli) के होते हैं इस के अतिरिक्त वृक्कशोथ के हेतुभूत कई अन्य गोलाणु (Strepto, Staphylo & gono Coccus) भी होते हैं।

उपसर्ग के मार्ग—उपसर्ग के तीन संभव मार्ग हैं—

१. रक्तवह मार्ग से। (अधोगामी प्रकार)
२. मूत्रवह मार्ग से। (उर्ध्वगामी प्रकार)
३. आन्त्रगत रसायिनियों के मार्ग से। (सरल प्रकार)

१. रक्तवह मार्ग से—रक्तप्रवाह से उपसर्ग पहुंचकर वृक्क शोथ का होना अधिक संभव है। ऐसा माना जाता है कि स्वस्थावस्था में कई बार भ्रमण शील जीवाणु रक्त में प्रवेश कर जाते हैं ये भ्रमण करते हुए स्वस्थ शरीर पर बिना किसी प्रकार की व्याधि पैदा किये ही मूत्र से विसर्जित हो जाया करते हैं। इस प्रकार के जीवाणु शरीरान्तर्गत किसी दूषित स्थान से जैसे कंठ शालूक, तुण्डिकेरी या आंत्र से निकल कर रक्त में प्रविष्ट होते हैं। यदि वृक्क किसी स्थान पर क्षत युक्त हो तो ये जीवाणु वहीं स्थिर हो जाते हैं इस प्रकार के क्षतयुक्त भाग यदि वृक्क में गर्भावस्था में उपस्थित रहे तो वृक्क उनसे उपसृष्ट होकर शोथ युक्त हो जाता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में कई एक प्रमाण दिये जाते हैं इनमें एक का उल्लेख यहाँ पर किया जा रहा है। अनुभवों के ऊपर गर्भिणी स्त्रियों में तृणाणु मूत्रता (Balcilluria) की स्थिति प्रायः मिलती है (सामान्यतया १०% गर्भिणी स्त्रियों में मिलती है जिनमें ७.५% 'वेसीलसकोलाइ' के उपसर्गजन्य होता है) यद्यपि मूत्रसंस्थान के संक्रमण का कोई भी चिह्न नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में इनका विसर्जन वृक्क के द्वारा होता रहता है फलतः मूत्र में इनकी उपस्थिति मिलती है।

२. **मूत्रवह मार्ग से**—इसमें तृणाणु का उपसर्ग मूत्राशय और मूत्रवह स्रोत से ऊपर की ओर जाकर वृक्क तक पहुंचता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि गर्भिणी आमाशय और आंत्र के पीडा से पीडित हो तो अनेकशः मलत्याग करते हुए आंत्रगत विकारी जीवाणुओं का उपसर्ग मूत्र मार्ग से होकर वस्ति में पहुँचता है पुनः वहाँ मूत्रवह मार्ग का अनुसरण करते हुए वृक्क तक पहुँचकर वृक्कशोथ पैदा करता है। स्वाभाविक है कि इस प्रकार के उपसर्ग में वृक्कशोथ होने के पूर्व वस्तिशोथ हो, परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है अर्थात् मूत्राशय शोथ का चिह्न विना मिले भी वृक्क शोथ हो सकता है।

३. **आंत्रगत रसायिनियों के मार्ग से**—इस मार्ग से जीवाणु आंत्र से सीधे पहुंच कर वृक्क को उपसृष्ट कर सकते हैं। शरीररचना की दृष्टि से बृहदन्त्र का ऊर्ध्व और अधोभाग रासायिनियों के द्वारा सरल रूप से सम्बद्ध हैं—फलतः इन अंगों में पड़े जीवाणुओं का उपसर्ग आसानी से वृक्क तक पहुँच जाता है और वृक्कशोथ पैदा करता है।

लक्षण—तीव्र प्रकार—प्रथमगर्भा स्त्री में गर्भस्थिति के छठवें मास में अचानक कटिशूल या कुक्षिशूल (Illiac fossa or lumbar region) रूप में रोग का आरंभ होता है। शूल का अनुभव बाईं या दाहिनी ओर या दोनों तरफ, परन्तु अधिकतर दाहिनी ओर होता है। इसके वाद शीत के साथ ज्वर आता है तथा संताप १०२°–१०४° के० तक हो जाता है। ज्वर के साथ नाडी की गति तीव्र (१२० प्रतिमिनट) हो जाती है और कई दिनों तक निरन्तर ऐसी ही वनी रहती है। रुग्णा अपने को बहुत वीमार अनुभव करती है उसमें विवन्ध, अतिसार या वमन होने लगता है। जाड़े के वाद (Rigor) के वाद स्त्री को कुछ स्वस्थता प्रतीत होती है। उदर आध्मानयुक्त और स्पर्शनाक्षम (विशेषतः विकृत वृक्क के क्षेत्र पर) हो जाता है। उदर की पेशियाँ कड़ी पड़ जाती हैं।

जीर्ण प्रकार—इसमें लक्षण मृदु तथा विविध हो सकते हैं, तथापि सामान्यतया इस प्रकार के लक्षण मिलते हैं। रोगी दिनों दिन सुस्त होता चलता है, कटिशूल (Lumbar pain) बढ़ता चलता है। साथ ही साथ वस्ति शोथ, आमाशयान्त्र क्षोभ, फुफ्फुसावृति शोथ (Pleurisy) अथवा श्वसनक ज्वर (Pneumonia) सदृश लक्षण मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। तापक्रम किञ्चित् बढ़ा

हुआ और अनियमित हो जाता है। स्पार्शन परीक्षा के द्वारा वृक्क कुछ स्पर्शनाक्षम और बढ़ा हुआ प्रतीत होता है। वृक्क की स्पर्शनाक्षमता, मूत्र से पूय के त्यक्त हो जाने से जाती रहती है। कटिशूल भी एक पार्श्व में शान्त हो कर पुनः दूसरे पार्श्व में होने लगता है। क्वचित् रोग का दौरा अत्यन्त सौम्य होता है, उसमें वृक्कप्रदेश पर पीड़ा के अतिरिक्त कोई लक्षण नहीं मिलते और रोगी में शीत का अनुभव विना किसी प्रकार के प्रत्यक्ष हेतु के ही होता रहता है।

मूत्र—प्रारम्भ में मूत्र की मात्रा घट जाती और उसका विशिष्ट घनत्व बढ़ जाता है। परन्तु बाद में चलकर मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है। प्रारम्भ में त्यक्त मूत्र में तृणाणुओं (Bacilli) के अतिरिक्त कुछ भी नहीं मिलता; परन्तु बाद में वह बहुत गँदला हो जाता है और उसमें पूय तथा निर्मोक (Flocculent debris) मिलते हैं तथा प्रतिक्रिया अम्ल हो जाती है। मूत्र में बदबू नहीं होती। उसके तलछट के विश्लेषण से उसमें तृणाणु, पूयकोष, अपिस्तर कोष (Epithelial cells) कुछ शोणित कायाणु तथा शुक्लि (Albumin) की उपस्थिति मिलती है।

रक्त—श्वेत कायाणुओं की संख्या वृद्धि हो कर २०,०००-३०,००० प्रति घन मीटर तक हो जाती है। सापेक्ष्य कण गणना में बहु (Polimorphs) की अधिकता होती है।

रोगक्रम और साध्यासाध्यता—उचित चिकित्सा की व्यवस्था होने पर कुछ ही दिनों में पीड़ा का शमन हो जाता, ज्वर उतर जाता और मूत्र में पूय का आना बन्द हो जाता है यदि रोग का शमन नहीं हुआ तो पूय वृक्क अथवा परिवृक्क विद्रधि (Pyonephrosis or perinanephric abscess) में शोथ परिणत हो जाता है। माता की मृत्यु का प्रमाण कम होता है और चिकित्सा से रोग प्रायः अच्छा हो जाता है और गर्भ को नष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। मूत्र में पूय की मात्रा की अधिकता कोई अशुभ लक्षण नहीं है, यदि उसके निर्हरण की व्यवस्था ठीक रहे। इस रोग में मृत्यु होने का कारण जीवाणुमयता या विषमयता है। तीव्र रोगों में गर्भस्राव या अपूर्ण काल में प्रसव हो सकता है। किसी भी प्रकार गर्भस्थ बालक इस रोग से प्रभावित नहीं होता।

चिकित्सा—पीड़ा और शोथ के शमन के लिए रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिए। उसको उसी करवट पर लेटना चाहिए जिधर का वृक्कविकार युक्त

हो। उदर की पेशियों को शिथिल रखने के लिए रुग्णा को अपने पैरों को घुटने पर सङ्कुचित कर मोड़ करके रखना चाहिए। स्पर्शनाक्षम स्थलों पर उष्ण स्वेद करना चाहिए। रोगी को पीने के लिये प्रचुरमात्रा में द्रव और जौ का मण्ड (Barley-water) देना चाहिए। क्षारीयमिश्रण (सोडासाइट्रेट, सोडाबाइकार्ब) तीस-तीस ग्रेन की मात्रा में तब तक प्रयोग करते रहना चाहि जब तक कि मूत्र क्षारीय (Ph. 7·6) न हो जाय।

अचूक ओषधियां—१. पहले 'मेंडेलिक' अम्ल का प्रयोग होता रहा। आजकल शुल्वौषधियां अधिक व्यवहृत होती हैं। 'सल्फामेजाथिन' यह एक इस वर्ग की निरापद ओषधि है। शुल्वौषधियों के साथ पेनिसिलीन का प्रयोग भी उत्तम है। परन्तु 'सल्फापिरिडीन' तथा 'सल्फाथायाजोल' अधिक विषाक्त हैं। अतः गर्भावस्थ में इनका प्रयोग नहीं होना चाहिए और यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शुल्वौषधियों का दीर्घकालीन प्रयोग गर्भ को हानि पहुंचा सकता है।।

शल्यचिकित्सा—प्रायः उपर्युक्त ओषधियों से ही रोग का शमन हो जाता है और शल्यचिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती; परन्तु यदि रोग जीर्ण हो जाय और उसमें उपशम के लक्षण न दीख पड़े तो वृक्क के दोषों का निर्हरण मूत्रवहं नाडी (Ureteric catheter) का संयोजन करके करना चाहिए। पूयनिर्हरण का दूसरा उपाय गर्भ को नष्ट करना है (Terminating the pregnancy)। यह क्रिया गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में वृक्कपाक की उपस्थिति में करना हितकर होता है। इससे जीवित बच्चा भी प्राप्त हो जाता है। यदि पूय वृक्क बन जाय तो वृक्कभेदन (Nephrectomy) करना चाहिए। परन्तु यदि दोनों वृक्क विकारयुक्त हों तो नहीं करना चाहिये। परन्तु यदि वृक्क पूर्णतया नष्ट हो गए हों, उनमें नाड़ीव्रण बन गए हों और उनकी कार्यशक्ति नष्ट हो गई हो तो वृक्क-भेदन करना हितकर है।

शर्करामेह या मधुमेह (Glycosuria)—गर्भिणी के मूत्र में शर्करा की उपस्थिति का महत्त्व केवल उसके परिमाण पर ही आश्रित नहीं है बल्कि उसके प्रकार पर भी निर्भर करता है। गर्भावस्था में वास्तविक मधुमेह (Diabeties) नहीं पाया जाता है। गर्भावस्था में इस रोग में अधिकतर दुग्धशर्करा (-Lactose) ही मूत्र में पाई जाती है जो स्तन्य दुग्ध से रक्त में आई हुई होती है—इससे कोई हानि नहीं होती। वास्तविक मधुमेह में द्राक्षाशर्करा (Glucose)

पाई जाती है और यह वास्तविक मधुमेह की अवस्था यदि गर्भावस्था पूर्व से ही वर्तमान हो या यह कमजोरी बहुमूत्रता आदि विकारों से युक्त हो तो माता के लिए तो कम परन्तु गर्भ की दृष्टि से बहुत हानिकारक होती है।

गर्भिणी में मूत्र-शर्करा का पाया जाना मधुमेह के अतिरिक्त दो कारणों से हो सकता है—१. वृक्कज शर्करामेह २. शर्करासह्यता की क्षणिक कमी।

१ वृक्कज शर्करामेह—सामान्यतया रक्तगत शर्करा की मात्रा ०.०९ से १.७ ग्राम प्रति सौ सी० सी० होती है। वृक्कज शर्करामेह में वृक्क का प्रवेश (Theshlold) प्राकृत से कम हो जाता है, जिससे रक्त में शर्करा की वृद्धि न होते हुए भी शर्करा उससे निकल जाती है यद्यपि शर्करा की सह्यता में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। इस प्रकार वृक्कज शर्करामेह में शर्करा चूकर गिर जाती है।

गर्भावस्था में वृक्क का शर्करा प्रवेश बहुत कम हो जाता है—इसीलिये इस काल में शर्करामेह का उद्भव होता और प्रसव के अनन्तर स्वयं लुप्त हो जाता है।

चिकित्सा में 'कार्बोहाइड्रेट' की मात्रा कम देनी चाहिये। भोजन का पथ्यानुसार नियमन कर देना चाहिये।

२. शर्करासह्यता की क्षणिक कमी—सामान्यतया एक स्वस्थ व्यक्ति बहुत अधिक मात्रा में 'कार्बोहाइड्रेट्स' पचाने में समर्थ होता है। अधिक मात्रा में 'स्टार्च' के प्रचुर सेवन से भी उसके रक्तगत शर्करा की मात्रा बढ़कर मूत्र में शर्करा उत्सर्जित होने लगे, ऐसा संभव नहीं है। गर्भावस्था में 'कार्बोहाइड्रेट्स' का संश्लेषण (Assimilation) उतनी मात्रा में नहीं हो सकता जितना अगर्भावस्था में होता है। इसीलिये उसी भोजन से (अगर्भावस्था के) गर्भिणी के मूत्र से शर्करा गिरने लगती है। उत्सर्जित शर्करा की मात्रा बहुत बड़ी (१०-५० ग्राम प्रतिदिन से अधिक) नहीं होती। ऐसी स्थिति गर्भावस्था के अतिरिक्त भी चिन्ता आयास तथा अधिक परिश्रम से उत्पन्न हो सकती है।

इस रोग का निदान रोगी को २५-५० ग्राम तक द्राक्षाशर्करा (Dextrose) खिलाकर उसके रक्तगत शर्करा का परिमाण देखकर किया जाता है। रक्तगत शर्करा की मात्रा वृद्धि से शर्करासह्यता की कमी का ज्ञान किया जा सकता है।

गर्भावस्था यदि यह स्थिति उत्पन्न हो जाय तो चिकित्सा में पथ्य के नियमन से ही ठीक हो जाता है—भोजन में 'स्टार्च' का सेवन कम कर देने से रोग दूर होकर प्रसव के बाद स्वयं भी ठीक हो जाता है। यदि सफलता न मिले तो चीनी

का सेवन बंद कराके ५-१० यूनिट मधुसूदनी (Insulin) का प्रयोग प्रतिदिन कर सकते हैं।

मधुमेह (Dibetes mellitus)—यदि रुग्णा वास्तविक मधुमेह से पीड़ित हो तो उसे स्थायी विकार से पीड़ित समझना चाहिये। ऐसी गर्भिणी स्त्रियों में तृषा, क्षुधा बहुत लगती है, दुर्बलता बहुत होती है, रक्तगत शर्करा की मात्रा भी प्राकृत से बहुत अधिक होती है। जब तक कि चिकित्साजगत् में मधुसूदनी का व्यवहार नहीं था, गर्भावस्था में यह उपद्रव एक बड़ी विपत्ति के रूप में था। क्योंकि इसके कारण केवल गर्भपात या मृतगर्भ का ही भय नहीं रहता था; बल्कि माता का जीवन भी संकटापन्न रहता था। इसी कारण इसकी चिकित्सा में गर्भ के नष्ट करने (Termination) की ही प्रक्रिया प्रचलित रही।

इसकी चिकित्सा में मधुमेह की पूरी औषध, आहार-विहारादि की व्यवस्था करनी चाहिये। औषध में सावधानी के साथ मधुसूदनी (Insulin) का प्रयोग करना चाहिये। मधुसूदनी के प्रयोग से यद्यपि माता के लिये गर्भकाल निरापद हो जाता है, परन्तु गर्भ की रक्षा फिर भी कठिन होती है—गर्भावस्था के प्रारंभिक मासों में ही गर्भस्राव हो जाता है। इससे बच जाने पर मृतप्रसव अथवा जन्म के बाद ही मृत्यु हो जाने की आशङ्का रहती है। बच्चे के जीवित जन्म लेने पर भी वह शर्करा हीनता (Hypoglycaemia) के साथ पैदा होता है जिससे उसमें तत्काल द्राक्षाशर्करा की चिकित्सा प्रारंभ करनी पड़ती है।

मधुमेह से पीड़ित गर्भिणियों में उदर-विपाटन नामक शस्त्रकर्म भी नहीं करना चाहिये। ऐसी स्त्रियों में योनिकण्डु का भी उपद्रव होता है जो बड़ा तीव्र स्वरूप का होता है।

आधार तथा प्रमाण-सञ्चय—

('शा' 'जौन्स्टन' तथा टेनटीचर्स का अंग्रेजी प्रसूतितंत्र)

तृतीय अध्याय

गर्भकालीन विषमयताजन्यरोग

(Toxaemia of Pregnancy)

गर्भविषमयता से कई एक रोगों का ग्रहण होता है। इस समुदाय के रोगों की उत्पत्ति गर्भकालीन विषों से होती है। ऐसा समझा जाता है-गर्भकाल में माता के रक्त में कुछ विषसंचरित होने लगते हैं जिसके परिणामस्वरूप इस समुदाय के रोगों के लक्षण गर्भवती में होने लगते हैं। संभव है इनमें गर्भ विषसंचार एक सामान्य हेतु हो अन्यथा इनमें से बहुत तो अभावात्मक रोग हैं, बहुत से अन्तस्रावी ग्रन्थियों के विपर्यय से होने वाले हैं तथा कुछ निस्सन्देह विशुद्ध विषजन्य होते हैं।

वास्तव में इस समुदाय के रोगों की हैतुकी (Etiology) अभी तक अज्ञात है जब तक ठीक ठीक इनके हेतु नहीं जाने जाते, इन्हें विषसंचारजन्य मानना ही उचित है। इस समुदाय में प्रधानतया पाँच रोग आते हैं—१. अतिवमन, २. गर्भकालीन दुष्ट कामला, ३. गर्भकालीन शुक्तिमेह ४. पूर्व-गर्भाक्षेप और ५. गर्भाक्षेप।

गर्भजन्य अतिवमन अथवा अन्तःसत्वातिवान्ति

(Hyperemesis Gravidorum)

गर्भावस्था में वमन दो प्रकार का हो सकता है—१-मानसिक और २-विषज। १-गर्भवती स्त्रियों में प्रातर्ग्लानि के रूप में वमन या छर्दि का होना स्वाभाविक है। यदि उनकी प्रकृति वातिक हुई तो यह वमन अधिक वृहद्रूप ले लेता है और खट्टे डकार, मिचली आना तथा वमन का होना शुरू हो जाता है। क्वचित् यह इतना भी बढ़ सकता है कि आमाशय में कुछ भी स्थिर न रह सके, तथापि गर्भिणी बहुत अस्वस्थ नहीं जान पड़ती। उसकी जिह्वा साफ रहती है, नाड़ी और तापक्रम भी प्राकृत रहता है। यदि छर्दि अधिक दिनों तक चलती रहे तो उसके शरीर में जलांश की कमी हो जाती है, मूत्र अल्पमात्रा में निकलता है और उसका विशिष्ट घनत्व बढ़ जाता है। मूत्र में शुक्ति, पित्त या निर्मोक की उपस्थिति नहीं रहती परन्तु उसके निजी मेद के अपूर्ण पचन के कारण मूत्र में 'एसीटोन' मिलता है।

धीरे-धीरे रुग्णा का स्वास्थ्य गिरता चलता है और वह दुर्बल होती जाती है और बिना अन्न के रहने के कारण उसकी स्थिति चिन्तनीय होकर विषज अतिवमन सदृश ही हो जाती है। कई वार इस प्रकार का वमन उन स्त्रियों में अधिक होता है जिनमें सन्तान की इच्छा न हो, या सन्तानोत्पत्ति का भय हो या अनुचित गर्भाधान की लज्जा हो। इन कारणों से उनके अवचेतन (Subconcious) मन में सन्तानविरोधी भावनाएं उथल-पुथल मचाई रहती हैं। उसके दूरीकरण के प्रतीक रूप में यह मानसिक अतिवमन होता है। कई वार कुछ श्रोणिगत अंगों में अस्वाभाविकता आने पर, (गर्भाशय का पश्चिमभ्रंश बीजग्रंथि का अर्बुद) आने पर भी इस प्रकार का वमन चलता है। फिर अंगों में सुधार हो जाने पर बन्द हो जाता है।

२. **विषज**—इस प्रकार का वमन प्रजाता तथा अप्रजाता दोनों प्रकार के स्त्रियों में समान भाव से पाया जाता है। गर्भकालीन विषसंचार से होने वाले रोगों में यह एक बहुत ही भयानक रोग है। गर्भावस्था के किसी भी मास में हो सकता है विशेषतः प्रारम्भिक महीनों में ही अधिक होता है। प्रारम्भ में जब अवस्था सौम्य रहती है तो मानसिक छर्दि जैसे ही दीखती है। अवस्था अत्यधिक तीव्र होने पर (यद्यपि ऐसी अवस्था कम आती है) गर्भिणी अत्यधिक क्षीण, विषाक्त त्वचा, सूखी और गन्दी, आँखें पीली और धंसी हुई जिह्वा सूखी और मलावृत, नेत्र कामलायुक्त श्वास, दुर्गन्धित और एसीटोन सदृश गन्धयुक्त मूत्र, अत्यल्प और उसमें शुल्कि, पित्त, निर्मोक, 'एसीटोन', 'डाइएसिटिक-एसिड', कचित् 'ल्यूसिन' और 'ट्यूरोसिन' युक्त हो जाती है।

स्थिति की गम्भीरता के अनुसार नाडी की गति तीव्र हो जाती और तापक्रम बढ़ सकता है। वमन का रंग भूरा या काफी के रंग का हो जाता है। अन्त में रोगी की अवस्था सन्यास में परिणत हो जाती और उसकी मृत्यु हो जाती है। वैकृतिकी (Pathology)—तीव्रपीतयकृच्छोष (Acuteyellow atrophy) सदृश ही यकृत् में परिवर्त्तन इस रोग में मिलता है। यकृत्केन्द्रस्थ धातु का अपजनन, कोथ (Necrosis) होता है। वृक्क में भी अपजनन, कोथ और रक्तस्रुति के चिह्न मिलते हैं।

साध्यासाध्यता—यदि ठीक समय से रोग का निदान हो सके और अनुकूल चिकित्सा की व्यवस्था की जा सके तो रोग साध्य है। परन्तु यदि रोग

की उपेक्षा हुई हो और रोगी की स्थिति चिन्ताजनक ज्ञात हो तो कृत्रिम विधियों से गर्भपात कराके रोगी की प्राणरक्षा की जा सकती है।

चिकित्सा—गर्भावस्था के प्रारम्भिक वमनों को सरलता से सामान्य ओषधियों से ही बन्द किया जा सकता है। रुग्णा को प्रातःकाल में बिस्तर से उठने के तत्काल बाद थोड़ा गर्म दूध, चाय, बिस्कुट या पावरोटी देने से प्रातः ग्लानि दूर हो जाती है। गर्भवती को पूर्णतया लंघन नहीं कराना चाहिये उसको हल्का और सुपाच्य भोजन देते रहना चाहिये अन्यथा बलक्षय होकर कई उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। यदि वमन प्रातः ग्लानि के स्वरूप का न होकर मानसिक (Neurotic) हो तो उसमें योषापस्मारवत् चिकित्सा बरतनी चाहिये। इसके लिये रोगी का पृथक् करण—१. रोगी को उसके निजी घर से हटाकर दूसरे किसी स्थान पर भेज देना चाहिये। कई बार रोगी को अतिप्रियसम्बन्धियों से हटाकर किसी चिकित्सालय के कक्ष या मातृमन्दिर (Maternity home) स्थान-परिवर्त्तन मात्र से वमन बन्द हो जाता है—२. दयार्द्र उपदेश—रोगी को मधुर और दयापूर्ण वचनों से विश्वास दिलाना चाहिये कि इस प्रकार का वमन एक सामान्य रोग है और यही गर्भवती स्त्रियों में मिलता है, इसमें कहीं भी भय नहीं, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं और निश्चितरूप से ठीक हो जायेगी। रोगी को खाने में द्रव न देकर ठोस भोजन देना चाहिये; परन्तु मात्रा अल्प अल्प कई बार में देना उत्तम होता है। इसमें पहले तो छर्दि से पीडित गर्भिणी ठोस भोजन लेने से भयवश इनकार करेगी, किन्तु चिकित्सक के आश्वासन पर वह उसका सेवन करने लगेगी। इन आचरणों से रुग्णा की मानसिक स्थिति बदल जाती और उसमें सुधार के लक्षण प्रतीत होने से वह अधिक विश्वस्त हो जाती है। यदि सुधार न दीखे तो ओषधियों का प्रयोग वातिक रोगियों में करना चाहिये। इसके लिये 'ल्युमिनाल' ½ ग्रेन अथवा 'मार्फिया' $\frac{1}{6}$ ग्रेन दिन में दो या तीन वार देना चाहिये। जीवतिक्ति बी ६ के योग (Pyrrodoxin or adermin) का उपयोग भी लाभप्रद होता है। संशमन के लिये 'ब्रोमाइडस' का भी उपयोग होता है।

यदि स्थिति सुधार में न आवे और वमन अधिक दिनों तक चलता रहे तो मुख द्वारा भोजन देना बन्द करके (२४ घण्टे तक न देकर) गुदा द्वारा पोषण पहुंचाने का प्रयत्न करना चाहिये। गुदा द्वारा मन्द गति से (Drip method) ५% सोडाबायकार्ब और ५% ग्लुकोज का घोल देना चाहिये। इससे गर्भ तथा

गर्भिणी दोनों का पोषण होता रहता है। स्त्री को भी विश्वास दिला देना चाहिये कि जब मुख द्वारा कुछ दिया ही नहीं जा रहा है तो वमन होगा ही कैसे? यदि रोगी की स्थिति अत्यन्त क्षीण जान पड़े तो सिरामार्ग से लवणविलयन में ५% द्राक्षशर्करा का घोल बनाकर निरन्तर विधि (Continuous method) से चढ़ाना चाहिये। कई बार मधुसूदनी और द्राक्षाशर्करा साथ साथ मिलाकर भी देने का विधान बतलाया जाता है। मलावरोध को दूर करने के लिये मुख द्वारा रेचक न देकर साबुन के पानी की वस्ति देकर कोष्ठ-शुद्धि करनी चाहिये। भोजन 'कार्बोहाइड्रेट' पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये, परन्तु मेदस पदार्थों का परिहार रखना चाहिये। दूध इस अवस्था में उत्तम नहीं है। गुदा द्वारा बड़ी मात्रा में 'क्लोरल हाइड्रेट' या 'ब्रोमाइड्स' के प्रयोग से भी प्रायः लाभ होता है।

शल्यचिकित्सा—यदि उपर्युक्त शामक और मानसिक उपचारों के विधिवत् एवं पर्याप्त प्रयोग से भी वमन में सुधार न दिखलाई पड़े तो गर्भ का अन्त करने का उपाय विचारना चाहिये। गर्भस्राव कराने के लिये रोगी को 'क्लोरोफार्म' के स्थान पर 'नाइट्रस आक्साइड' या 'ईथर' से निःसंज्ञ करना चाहिये क्योंकि 'क्लोरोफार्म' के प्रयोग से यकृत् की अधिक हानि होने की संभावना रहती है। बारहवें सप्ताह के पूर्व गर्भाशय को रिक्त करने के लिये गर्भाशय ग्रीवा को चौड़ा करके बीज-संदंश से कर्म करना चाहिये। बारहवें सप्ताह के पश्चात् यदि गर्भाशय को रिक्त करने की आवश्यकता हुई तो इस क्रिया से गर्भाशय के छिद्रित (Perforation) की आशंका रहती है, अतः उसका निषेध है। इस काल में गर्भ का निर्हरण जरायु को विदीर्ण करके करना चाहिये। इसके अलावा इस अवधि में सब से उत्तम विधान औदरिक गर्भाशय-भेदन (Abdominal Hysterectomy) माना जाता है।

तीव्रपीत यकृच्छोष अथवा गर्भकालीन गम्भीर कामला—(Icterus gravis gravidorum)—यह अत्यन्त विरलता से पाया जाने वाला रोग है। यह गर्भावस्था के अतिरिक्त काल में और पुरुषों में भी मिल सकता है। गर्भावस्था में यह एक अत्यन्त भयङ्कर रोग है। यह विकार प्रायः गर्भकाल के अन्तिम मासों में मिलता है।

वैकृतिकी (Pathology)—यकृत् शीघ्रता से परिमाण में घटकर छोटा हो जाता है, जिससे उसका भार भी औसत से आधा हो जाता है। इसके ऊपर

का कोष (Capsule) वलियुक्त (झुर्रीदार) हो जाता है और प्रकृत से अधिक मृदु और भंगुर हो जाता है। काटकर देखने पर पृष्ठ का वर्ण पीत हो जाता है और बीच में लालिमा या नारङ्गी के रङ्ग के छोटे छोटे स्थल पाये जाते हैं। यकृत् के कोषों के मध्य का कोथ (Necrosis) सर्वप्रथम देखने को मिलता है। कोषों के परिसर (Periphery) में कोई भी अस्वाभाविकता नहीं मिलती, कुछ मेदापचय (Fatty degeneration) का चिह्न मिलता है। रोग की अत्यन्त तीव्रावस्था में सम्पूर्ण उपपिण्ड (Lobules) नष्ट हो जाते हैं और उनके स्थान पर नष्ट हुए धातुओं के कणमय पिण्ड बन जाते हैं जिससे यकृत् कोषाओं का ठीक-ठीक पहचानना भी कठिन हो जाता है। प्रतिवाहिनी सिराओं और पित्तवाहिनियों में कोई परिवर्त्तन नहीं होता। वृक्क में भी अपजनन और कोथ के चिह्न मिलते हैं।

निदान—यदि रोगारम्भ अचानक हुआ हो तो तीव्र स्फुट (Phosphorus) विषाक्तता से भेद करना पड़ता है। 'टेट्राक्लोरेथीलीन' विष में भी इस रोग से मिलते-जुलते लक्षण होते हैं। लक्षण—तीव्र उदरशूल, शिरःशूल, अतिवमन, गाढी कामला, रक्तमिश्रित वमन, मूत्राल्पता, मूत्र में शुक्ली विविध प्रकार के निर्मोक और रोग का अचानक आक्रमण प्रभृति लक्षण मिलते हैं। शीघ्रता से रोगी संन्यास की अवस्था प्राप्त करता और मर जाता है।

चिकित्सा—यह रोग असाध्य होता है। गर्भिणी की प्राण-रक्षा के निमित्त गर्भपात कराना चाहिये। रोग का निदान होते ही शीघ्रता से गर्भपात कराने के लिये उद्यत होना, चिकित्सा का सूत्र है। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है तृतीय मास के पूर्व ग्रीवा विस्तृत तथा बीजसंदंश (Ovum forcep) के जरिये तथा बारहवें सप्ताह के बाद के काल में गर्भाशय को रिक्त करने के लिये उदर मार्ग से गर्भाशय-भेदन (Hysterotomy) करके शल्य को निकालना चाहिये। द्राक्षाशर्करा (Glucose) और क्षार का बहुल प्रयोग यदि रोगी समर्थ हो तो मुख से, यदि न ले सकता हो तो गुदा अथवा सिरामार्ग से करना चाहिये। सिरा द्वारा देने के लिये ४० औंस या ६०० सी० सी० सामान्य लवण-विलयन लेना चाहिये। इस में, १०% ग्लुकोज, ५% सोडाबायकार्व और १० यूनिट मधुसूदनी (Insulin) मिली होनी चाहिये। यदि साधन उपलब्ध न हो तो प्रतिदिन १०० सी० सी० ग्लुकोज सिरामार्ग से देना चाहिये।

शुक्लिमेह और गर्भावस्था—शुक्लिमेह (Albuminuria) एक लक्षण है रोग नहीं। गर्भिणी के मूत्र में शुक्लि का पाया जाना कोई बहुत बड़ा विकार नहीं है। पांच प्रतिशत के प्रमाण में प्रायः सभी गर्भिणियों में मिलता है। सब समय इसमें किसी महान् उपद्रव की आशङ्का नहीं कर सकते हैं—तथापि सन्देह का निराकरण अवश्य कर लेना चाहिये। शुक्लीमेह को दो प्रधान भेदों में विभक्त किया जा सकता है।

१. गर्भ विषजन्य शुक्लीमेह—

(क) गर्भकालीन शुक्लीमेह। (ख) पूर्व-गर्भाक्षेपक।

(ग) गर्भाक्षेपक। (घ) पुनरावर्त्तित शुक्लीमेह।

(ङ) विषज अतिवमन की तीव्रावस्था।

२. गर्भकालीन शुक्लीमेह—

(क) योनि स्राव से संक्रमित होकर।

(ख) तीव्र तथा जीर्ण वृक्कशोथ।

(ग) उच्चरक्त निपीडजन्य व्याधियां।

(घ) वस्ति तथा वृक्कशोथ।

(ङ) हृद्रोग (Morbus cordis)

गर्भकालीन शुक्लीमेह या पूर्वगर्भाक्षेपक या गर्भाक्षेपक (Pre Eclampsia)—इन तीनों अवस्थाओं में हेतु तथा विकृति समान होती है।

१. **अन्तर्विष सञ्चार**—सम्भवतः इन अवस्थाओं में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से कुछ विष बनते हैं—इन विषों का उद्भव स्त्रीबीज, अपरा अथवा कोरकाङ्कुरों से होता है, इन विषों का प्रभाव माता के वृक्क और यकृत् पर पड़कर वे विकारयुक्त हो जाते हैं, और शरीरगत त्याज्य पदार्थों के बाहर फेंकने में असमर्थ हो जाते हैं। समवर्त्त (Metabolism) क्रिया से उत्पन्न इन त्याज्य पदार्थों के शरीर के भीतर पड़े रहने से विषमयता के लक्षण व्यक्ति में होने लगते हैं। इन विषों का प्रभाव आन्त्रों पर भी पड़ता है जिससे आन्त्रों के द्वारा त्याज्य वस्तुओं का निकाला जाना भी कठिन हो जाता है फलतः विषाक्तता अधिक तीव्र हो जाती है। ऐसी स्थिति विशेषतः कोष्ठबद्धता में मिलती है।

२. **शरीरगत अम्लाधिक्य** (Acidosis)—भी इस विषमता की उत्पत्ति में सहायक होता है।

३. **अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का विपर्यय**—अवटुका, उप-अवटुका, अधि-वृक्क, पोषणिका तथा विभिन्न प्रकार के बीज ग्रन्थिके स्राव भी इसकी उत्पत्ति में हेतु माने गये हैं। (Thyroid, Parathyroid Adrenal, Pitulary & Various ovasian Secretions) इनके कारण कुछ प्रत्यावर्त्तित क्रियाओं के द्वारा रक्तवह संस्थानगत प्रतिक्रियायें होती हैं।

४. **उदरान्तर्गत भार की वृद्धि**—गर्भावस्था में निश्चित रूप से उदर के भीतर भार की वृद्धि होती है—यदि इस भार में अत्यधिक वृद्धि हो जावे तो यकृत् वृक्क की केशिकाओं का पीडन होकर उनकी विसर्जन क्रिया में बाधा पहुंचती है फलतः विषमयता के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि उदरान्तर्गत बड़े से बड़े अर्बुद में विषमयता के रोग नहीं मिलते वे तो केवलमात्र गर्भित गर्भाशय की अवस्था में ही पाये जाते हैं।

५. **पोषणाभाव**—कुछ विद्वानों के विचार से गर्भाक्षेपक प्रभृति गर्भविषसञ्चारजन्य रोगों में हेतुपोषण तत्वों की कमी विशेषतः जीवतिक्ति द्रव्यों का अभाव है।

वैकृतिकी (Pathology of Eclampsia)—उपर्युक्त तीनों रोगों में विकृति समान ही होती है। केवल विकृतिकी मात्रा में न्यूनाधिकता रहती है। इन रोगों में यकृत, वृक्क, हृदय और मस्तिष्क में निम्नलिखित परिवर्त्तन दिखाई पड़ते हैं। इन परिवर्त्तनों का ज्ञान रोग से पीडित व्यक्ति के मृत्यु के अनन्तर उनके विभिन्न अङ्गों के निरीक्षण से प्राप्त होता है।

१. **यकृत्**—आयाम बढ़ जाता है। आवरण (Capsule) के नीचे यत्र तत्र रक्तस्रुति के स्थल जिनका वर्ण कृष्णाभ होते हैं, मिलते हैं। काटकर देखने पर (On Section) इनमें कोथयुक्त असंख्य क्षेत्र भी मिलते हैं जिनका वर्णपीत होता है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न क्षेत्र पूरे यकृत् में मिलते हैं।

अणुवीक्षण से देखने पर ये विकार यकृत् उपपिण्डों (Lobules) के परिसर (Periphery) में मिलते हैं जिस स्थान पर स्कन्दित (Thrombosed) प्रतिहारिणी शिरायें (Portal veins) मिलती है। यकृत् कोषों का अपजनन होता है और उनके स्थान पर रक्तकोष (Blood-cells) भर जाते हैं। यकृत् कोष की सीमारेखा (Out line) नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार का विकार यकृत् के उपपिण्डों में और अन्तःसत्वातिवमन में भी मिलता है, परन्तु भेद

है। अधिकतर रोगियों में जब तक प्रसव नहीं समाप्त हो जाता तब तक चलता रहता है। यदि रोग कई सप्ताहों तक चलता रहे तो बच्चे की मृत्यु तक गर्भाशय के भीतर ही हो जाती है। निम्नलिखित प्रधान लक्षण तथा चिह्न मिलते हैं।

पादजशोफ—यह सूजन पहले पैरों पर शुरू होती है बाद में फैल कर हाथ, मुख, उदर और क्वचित् भग तक व्याप्त हो जाती है।

भार की अस्वाभाविक वृद्धि—सामान्य गर्भावस्था में गर्भिणी की भार की वृद्धि १ या १½ से प्रतिमास के हिसाब से होती है; परन्तु यदि यह अस्वाभाविक रीति से बढ़ने लगे तो गुप्त शोथ की सूचना देती है। भार की वृद्धि से जल निरोध की संभावना रहती है, परिणामस्वरूप शोथ के प्रत्यक्ष होने के पूर्व ही उसका ज्ञान इस अस्वाभाविक वृद्धि से हो जाता है। इस प्रकार अचानक उत्पन्न होने वाला भाराधिक्य आक्षेप के पूर्वरूप में आ सकता है।

मूत्रगत परिवर्त्तन—प्रारम्भ में अल्प मात्रा में मूत्र में शुक्ली उपस्थित रहती है पश्चात् वह बढ़ कर १००० में ५ भाग तक हो सकती है। मूत्र में पूय तथा रक्त की उपस्थिति तो नहीं मिलती; परन्तु कणमय निर्मोक (Granular cast) मिल सकते हैं। मूत्रत्याग की मात्रा कम हो जाती है और चौबीस घण्टे में कुल ६०० सी० सी० तक (२० औंस) ही निकले तो स्थिति की भयंकरता सूचित होती है।

रक्तनिपीड—मूत्र में शुक्ली की उपस्थिति ज्ञात होने के पूर्व ही उच्च रक्त-निपीड (High blood pressure) मिल सकता है। इस अवस्था में सांकोचिक निपीड की अपेक्षा विस्फारिक निपीड का महत्त्व अधिक होता है। यदि सांकोचिक भार १४० मि० मी० पारद से अधिक हो अथवा विस्फारिक निपीड ८५ मि० मी० पारद के ऊपर हो तो वैकारिक समझना चाहिये।

शिरःशूल—शोफ के समान यह लक्षण भी एक सामान्य लक्षण और अधिक दिनों तक चलता रहता है। प्रारंभ इसकी चिन्ता स्त्री को नहीं होती परन्तु जब पीडा बहुत तीव्र होने लगती है तो वह चिकित्सक की सलाह लेने को तैयार होती है। साथ ही कौडी प्रदेश में पीडा, वमन तथा नेत्रगत विकार भी इसमें मिलते हैं।

यदि ठीक प्रकार से रोग का उपचार नहीं हुआ तो वह पूर्व-गर्भाक्षेपक में परिणत हो जाता है।

चिकित्सा—शुक्लीमेह की चिकित्सा के तीन उद्देश्य हैं—(१) गर्भाक्षेपक उत्पन्न न होने देना (२) वृक्क की स्थायी विकृति होने से बचाना (३) गर्भाशयगत गर्भ की मृत्यु का रोकना। इन प्रथम दो उद्देश्यों के लिये सर्वोत्तम उपाय गर्भ का अन्त (Termenate) करना है। यदि मूत्र में शुक्ली की उपस्थिति हो और चिकित्सा के बावजूद भी ७-१० दिनों के ऊपर तक चलता रहे साथ ही गर्भ की भी प्रसव के बाद जीवन की आशा प्रतीत हो तो शीघ्रता से गर्भान्त कराना ही उत्तम है।

पूर्ण विश्राम—परमावश्यक है। रोगी को शय्या पर लेटा कर रखे उसका चलना, फिरना, उठना, बैठना बन्द कर दें। चिकित्सक अपने पर्यवेक्षण में रखे। निद्रा का अभाव प्रायः इस दशा में मिलता है इसके लिये ल्युमिनाल १ ग्रेन की मात्रा में या क्लोरल हाइड्रेट २० ग्रेन (१·२ ग्रा०) की मात्रा में रोगी को देना चाहिये।

मृदु रेचक—पेट को साफ रखने के लिये मृदुरेचकों को देना चाहिये।

आहार—शुक्लिमेह पीडित गर्भिणी का आहार नियमित रखना चाहिये। उसके भोजन में प्रोटीनों की मात्रा कम कर देना चाहिये। 'कार्बोहाइड्रेट्स' का प्रयोग अधिक होना चाहिये और रुग्णा की रुचि के अनुसार पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये। हरे शाक-सब्जी गोभी आदि के प्रयोग से रोगी में लौह की मात्रा मिलता है और पेट भी साफ हो जाता है, अतः इनका उपयोग प्रचुर मात्रा में करे। यदि रुग्णा में शोथ न हो तो जल का पर्याप्त मात्रा सेवन कराया जा सकता; परन्तु शोथ के व्यक्त होने पर रोगी को जल और लवण का परिवर्जन कर देना चाहिये। चिकित्सा के परिणामों पर सदैव ध्यान रखना चाहिये। रोगी के मूत्रत्याग की मात्रा, मूत्र में शुक्लि की उपस्थिति की मात्रा, शोथ प्रभृति लक्षणों की कमी और रक्त-निपीड प्रभृति बातों पर रोगी की लाभ-हानि का ज्ञान किया जा सकता है। यदि रोगी में सुधार दिखलाई पड़े तब तो प्रसवकाल पर्यन्त उसकी औषधि-चिकित्सा करते हुए गर्भावस्था को खींचते चलना चाहिये; परन्तु यदि लक्षणों में सुधार न दिखलाई पड़े प्रत्युत रोग बढ़ता ही जान पड़े तो कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करके गर्भ का अन्त कराके प्रसव (Induction of labour) करा देना चाहिये।

पूर्वगर्भाक्षेप—(Pre-eclampsia)—पूर्वगर्भाक्षेप, आक्षेपक तथा शुक्लीमेह ये तीनों ही हेतु तथा विकृति के दृष्टि से समान है—ऐसा बतलाया जा

चुका है। लक्षणों की दृष्टि से शुक्लीमेह से अधिक तीव्र अवस्था पूर्व-गर्भाक्षेप की और पूर्व-गर्भाक्षेपक से अधिक तीव्रावस्था गर्भाक्षेपक की है, ऐसा समझना चाहिये।

पूर्व-गर्भाक्षेपक के लक्षण तथा चिह्न—इस रोग का आक्रमण शुक्ली-मेह से अधिक तीव्र, अचानक होने वाले होते हैं-रोग की वृद्धि भी शीघ्रता से होती है। इसमें रोगी में भाराधिक्य होकर अचानक उसके सम्पूर्ण शरीर पर शोफ व्यक्त हो जाता है—मुख, हाथ, उदर, भग सभी स्थानों पर सूजन फैल जाती है। मूत्र की मात्रा अल्प होजाती है और उसमें शुक्लीमेह की उपस्थिति बढ़कर १००० में ५-२० भाग तक हो जाती है। तीव्रावस्था में रक्तकायाणु तथा अपिस्तर (Epithelial cast) निर्मोक भी मिलते हैं। रक्त-निपीड शीघ्रता से ऊँचा हो जाता है। जिसमें सांकोचिक १४० मि० मी० और विस्फारिक ११० मि० मी० तक हो सकता है। सिर में विशेषतः अग्रिम भाग ललाट में तीव्र शूल होता है। रुग्णा दृष्टिमान्द्य (धुंधला दिखलाई पड़ना), द्विधा दृष्टि, (आँखों के आगे चिनगारी देखना, कभी-कभी अन्धता की तकलीफ बतलाती है। नेत्रदर्शक यंत्र से देखने पर दृष्टिवितान (शुक्लीमेहज) शोथ दिखलाई पड़ता है। कौड़ीप्रदेश में पीड़ा, हृल्लास, वमन प्रभृति लक्षण भी यकृत् के विनाश के द्योतक हैं। इसमें रुग्णा की मृत्यु पूर्व-गर्भाक्षेपक से न होकर किसी अन्य उपद्रवों के हेतु होती है।

चिकित्सा—इसमें चिकित्सा प्रतिषेधात्मक करनी होती है। प्रारम्भ में ही यदि रक्त-निपीड, मूत्र की सामान्य-परीक्षा से शुक्ली की उपस्थिति ज्ञात हो तो शुक्लीमेहवत् चिकित्सा करने से रोगी प्रायः ठीक हो जाते हैं और उनमें गर्भाक्षेप का भय नहीं रहता। परन्तु यदि रोग की अवस्था उत्पन्न हो जावे तो पूर्वकथित विधानों (शुक्लिमेहोक्त) के अनुसार चिकित्सा की व्यवस्था करे। १. पूर्ण विश्राम, २. आहार का नियमन, ३. कोष्ठशुद्धि, ४. मूत्रत्याग की मात्रा बढ़ाना, ५. रक्त-निपीड को कम करना, ६. शोथाधिक्य में जल और लवण का परिहार, ७. रेचन, ८. वमन के प्रबल होने पर गुदा से पोषण पहुंचाना (२०० सी० सी० लवण विलयन में ५% द्राक्षाशर्करा और ५% 'सोडाबाईकार्ब' प्रति चौथे या छठे घण्टे पर दें), ९. तीव्र मूत्रल ओषधियों का प्रयोग निषिद्ध है, १०. यदि लक्षणों की शान्ति न हो, रोग का शमन न दिखलाई पड़े तो माता तथा गर्भ दोनों के हित की दृष्टि से गर्भ का अन्त कर देना चाहिये।

पूर्वग्रह की अवस्था (Premmitory stage)—नियमतः आक्षेप का आरम्भ मुख पर होता है, रुग्णा अपनी आँखों को घुमाने लगती है, हाथ और मुख पर खिंचाव होकर झटके से आने लगते हैं। १५–२० सेकेण्ड तक यह अवस्था रहती है।

निरन्तर संकोच की अवस्था (Tonic contraction)—मांस-पेशियों के संकोच के कारण रोगी का शरीर कड़ा पड़ जाता है। वक्ष की पेशियों और महाप्राचीरा के संकोचन के कारण रोगी का चेहराकाला पड़ (Cynosed) जाता है। दाँतों के दवाव से जीभ भी कट सकती है। यह अवस्था ½ मिनट तक रहकर सान्तर संकोच में परिवर्त्तित हो जाती है।

सान्तर संकोच की अवस्था (Clonic stage)—इस अवस्था में संकुचित पेशियाँ शिथिल होती पुनः संकुचित होती और शिथिल होती हैं। इसी-लिये इसको निरन्तर आक्षेप की अवस्था न कह कर सान्तर आक्षेप की अवस्था कहते हैं। जवड़े की पेशियाँ भी इसमें भाग लेती हैं जिससे रोगी अपनी जीभ को काट लेता है। रोगी के मुख से रक्तमिश्रित झाग निकलता है। मुख रक्ताधिक्ययुक्त, श्वसन घर्घरयुक्त और रोगी संज्ञाहीन पड़ा रहता है। यह अवस्था ½ मिनट से २ मिनट तक रहती है। इसके वाद रोगी संन्यास (Coma) की अवस्था में आ जाता है।

संन्यास की अवस्था—आक्षेप के वाद संन्यास की अवस्था आ जाती है। और कई घण्टों तक चल सकती है उसके वाद रोगी चेतना (होश) में आता है। कई वार यह अवस्था अल्पकाल तक ही रह पाती है, जव तक कि दूसरा आवेग शुरू हो जाता है।

रोगक्रम—यदि रोग मृदुस्वरूप का हो तो कोई भय नहीं रहता। यदि रोगी की विधिवत चिकित्सा ठीक समय से आरम्भ हो जाय तव भी साध्य है। तथापि आक्षेप की अवस्था में आक्षेपों के वार–वार आते रहने से गर्भवती की चेष्टा विकृत हो जाती है, चेहरा काला पड़ जाता है, नाडी की गति तीव्र हो जाती है, तापक्रम वढ़ जाता है, रक्त–निपीड वहुत उच्च हो जाता है (दौरे के वाद गिर जाता है), हृदय की पेशियों के ऊपर वल पड़ने से वे दुर्वल हो जाती हैं। यदि अक्षेपों के कारण मस्तिष्क गत रक्तस्राव हो जाय तो वह स्थायी संन्यास की अवस्था को प्राप्त कर लेती है और उसी में मर भी जाती है।

रोग प्रारम्भ होकर अचानक प्रवल रूप धारण करनेवाला आक्षेपक अधिक अनिष्ट-कारक होता है; परन्तु यदि रोग की शुरुवात यदि धीरे-धीरे पूर्वरूपों के साथ हुई हो तो अपेक्षाकृत साध्य होता है।

इस रोग में माता की मृत्यु प्रायः हो जाती है। इस मृत्यु के पाँच कारण हैं—१. आक्षेपों के श्वास के अवरुद्ध हो जाने से, प्राणावरोध से अथवा रक्त या श्लेष्मा या लालास्राव के वेहोशी की हालत में श्वसन मार्ग में प्रचूषण होने से, २. फुफ्फुस के शोथ से (Oedema of the lugs), ३. मस्तिष्कगत रक्तस्राव से, ४. हृद-यावसाद से, ५. उपद्रव रूप में श्वसनक (Broncho pneumonia) होकर।

गर्भस्थ शिशु के पक्ष में—बहुत ही अशुभ है। ४९ प्रतिशत बच्चों का या तो मृतप्रसव होता है या जन्म के वाद अल्प काल में ही उनकी मृत्यु हो जाती है। बच्चों की मृत्यु के निम्नलिखित हेतु हैं—१. आक्षेपों के समय में अपरा में रक्तावरोध होने से प्राणावरोध (Asphyxia) के कारण, २. विषमयता के कारण माता के सदृश ही बच्चों के भी यकृत् एवं वृक्क की विकृतियों से, ३. गर्भ का अन्त करते समय वलात् उनके अंगों के खींचतानी से अभिघात पहुंचने के कारण गर्भस्थ वालक की इस रोग में मृत्यु हो जाती है। इन कारणों के अतिरिक्त कई वार जन्म के वाद बच्चों में भी आक्षेप आने लगते हैं क्योंकि उनमें भी माता का विषाक्त रक्त ही प्रवाहित होता रहता है. इससे भी उनकी मृत्यु हो जाती है। ५. अपूर्ण प्रसव होने तथा ६. करोटिगत रक्तस्राव से भी शिशुओं की मृत्यु हो जाती है।

भविष्य के पक्ष में—यदि रुग्णा आक्षेपक से वच जावे और स्वस्थ हो जावे तो उसे भविष्य के गर्भाधानों में इस रोग से पीडित होने की संभावना रहती है। दूसरा भय उसके वृक्क में स्थायी विकार होने की आशंका का रहना है। १०-२० प्रतिशत गर्भाक्षेपक पीडित माताओं में वृक्क गत किंचित् विकार स्थायी हो जाता है। यद्यपि यह विकृति इतनी अल्प होती है कि उसमें कोई लक्षण या चिह्न वृक्क विकार के नहीं दिखलाई पड़ते और न दूष्यादि की परीक्षा (Pathologicaltet) से कोई खास वात मिलती है, तथापि विकार अवशिष्ट रहता है जो परवर्त्ती गर्भाधान काल में व्यक्त हो जाता है।

प्रतिबन्धक उपचार—१. ऊपर में बतलाया जा चुका है कि गर्भकालीन

स्थानों पर एक तूफानी दस्ता (Flying squads) होता है, जिसमें चिकित्सक और शिक्षित धात्री तथा परिचारिकायें रहती हैं ये दौरा करते रहते हैं और चिकित्सालय से दूरस्थ देहातों में से इस प्रकार की रोग से पीडित माताओं की सेवा करते हैं।

आवेग काल में उपचार—गर्भवती को विस्तर पर लेटा कर रखे, उसका पैताना उठा कर रखे, रोगी को एक पार्श्व पर लेटावे ताकि वमन श्लेष्मा आदि प्रचूषित न होकर मुख से बाहर निकल जाया करें। यदि हिलते हुए दाँत हो तो उनको निकाल दें। रोगी दाँतों से जीभ को न काट ले उसके मुख में मुखविस्फारक या चम्मच डाल कर रखना चाहिये। बीच-बीच में गले को पिचु या प्लोत से साफ करते रहना चाहिये। सेवा में सदैव एक शिक्षित परिचारिका भी होनी चाहिये।

आक्षेपों के नियमन के उपचार—अहिफेन (Morphia) तथा 'क्लोरल हाइड्रेटस' का बड़ी मात्रा में प्रयोग करना चाहिये। इसके प्रभाव से रोगी को पूरे चिकित्साकाल तथा आक्षेपों के बन्द हो जाने के बाद भी चौबीस घण्टे तक रोगी को शान्त रखना चाहिये। चिकित्सा प्रारम्भ करने के साथ ही 'मार्फिया' ¼ ग्रेन अन्तस्त्वक् भेदन के द्वारा और 'क्लोरल हाइड्रेट' ६० ग्रेन की मात्रा में गुदा द्वारा देना चाहिये। इस प्रयोग से एक घण्टे के भीतर रुग्णा शान्त हो जाती और सो जाती है। इस मात्रा को आमतौर से हर तीसरे घण्टे पुनः पुनः देते रहना चाहिये अथवा जब ही जागरण की अवस्था जान पड़े मात्रा को दुहरा देना चाहिये। पहले २४ घण्टे के भीतर 'क्लोरल हाइड्रेट' ४ ड्राम तथा 'मार्फिया' २ ग्रेन तक कुल शरीर के भीतर पहुंचा सकते हैं।

यदि रोगी चेतना की अवस्था में हो और मुख द्वारा पानी लेने में समर्थ हो तो उसको पानी और ग्लुकोज बीच-बीच में देते रहना चाहिये। मुख द्वारा लेने में रोगी असमर्थ हो तो उसे गुदा या अन्तस्त्वक् वेधन या शिरा द्वारा देना चाहिये।

निःसंज्ञावस्था में रुग्णा का मूत्रत्याग अपने आप हो जाता है; इसलिये प्रति चार घण्टे पर मूत्रनाडी (Catheter) के वस्ति को खाली कर देना चाहिये। इससे दो लाभ होते हैं १. शय्या पर मूत्रत्याग होने से, बिस्तरे के भीगे रहने से अनावश्यक उत्तेजनायें आक्षेपों का उत्पादन नहीं करती, २. त्यक्तमूत्र की मात्रा का निर्धारण किया जा सकता है। मूत्रनाडी के प्रवेश से यदि आवेगों के प्रबल

होने का भय हो तो एक दो फुत्कार क्लोरोफार्म देकर नाडी को प्रविष्ट करना चाहिये।

ऐसे रोगियों में जिनमें उपर्युक्त निद्राकर योगों के उपयोग से भी शान्ति न मिले, उनका यकृत् अधिक विकारयुक्त न हो तो आवेगों को रोकने के लिये क्लोरोफार्म देना चाहिये।

वाह्य उत्तेजनाओं से रक्षा करने के लिये—रोगी को शान्त और निवातातप कमरे (Darkened) में रखना चाहिये। रोगी के मुख पर सीधी रोशनी न जा सके इस प्रकार की व्यवस्था करनी चाहिये। किसी भी प्रकार का शोरगुल, जूते, खड़ाऊँ आदि की आवाज उसके कानों तक न जा सके। रोगी का कमरा ऐसे स्थान पर होना चाहिये जहाँ पर विविध सवारियों की आवाज न पहुँच सके। यहाँ तक कि रोगी के परिचारक को भी जूते रवर के तल्ले के पहनने चाहिये। कमरे दरवाजे और खिड़कियों पर परदे लगे रहने चाहिये। यदि रोगी संन्यास की अवस्था में न हो तो उसमें किसी प्रकार कर्षण यन्त्रप्रयोग, वस्ति आदि देते समय उसे 'क्लोरोफार्म' के द्वारा संज्ञाहरण कर लेना चाहिये।

विशिष्ट लक्षणों की चिकित्सा—

मूत्रसाद—प्रचुर मात्रा में पीने के लिये द्रव देने से लाभ होता है। यदि वृक्क के उभयपार्श्वीय कोथ के हेतु ये लक्षण जान पड़ें तो रोगी में रक्तगत शर्करा की मात्रा बढ़ाने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये मुख द्वारा सम्भव हो तो मुख से 'ग्लुकोज' का शर्वत देना चाहिये। यदि मुख द्वारा सम्भव न हो तो सिरा-मार्ग से ५% ग्लुकोज का लवण विलयन में वने घोल को देना चाहिये। यदि इस विधि से शीघ्रता से लाभ न जान पड़े तो तीस प्रतिशत के वने 'ग्लुकोज' का ५० सी० सी० की मात्रा में सिरा द्वारा देना चाहिये। चौवीस घण्टे में कई वार आवश्यकतानुसार यह मात्रा दुहराई जा सकती है।

अत्युच्चतापक्रम—शीतोपचार से चिकित्सा करनी चाहिये। रोगी के सिर पर ठण्डे जल की पट्टी या वर्फ की थैली रख कर तथा पूरे शरीर को ठण्डे जल में भींगे तौलिये से शरीर का प्रमार्जन करके ताप का नियमन किया जा सकता है।

शोफ—जल की मात्रा कम कर देनी चाहिये। सामुद्रेचन (Mgsulph २ औंस) देकर रोगी का रेचन कराना उत्तम है। भग पर शोथ की अधिकता हो,

उसके कारण योनि-परीक्षा में बाधा पड़ती हो, तो प्रच्छान (Puncture) करके शोथ को कम करना चाहिये। रोगी को गरम रखना चाहिये; परन्तु उसके शरीर से स्वेद अधिक न निकलने देना चाहिये क्योंकि इससे रोगी अधिक बलहीन हो जाता है तथा आवेग अधिक प्रबल हो जाते हैं। स्वेदल ओषधियों का प्रयोग भी इस अवस्था में नहीं करना चाहिये।

रक्तनिपीड की वृद्धि (High blood pressure)—यदि रक्त का निपीड अत्यधिक हो तो सिरावेध करके १० से १५ औंस (३००-४५० सी० सी०) तक रक्त निकाल देना चाहिये। यदि एक सिरावेध से रोगी की स्थिति न सुधरती जान पड़े तो बारह घण्टे के बाद पुनः एक बार सिरावेध करके १० औंस रक्त निकालना चाहिये। 'वेरेट्रम विरीडी' का हृदय पर बुरा प्रभाव पड़ता है अतः इस अवस्था में इसका प्रयोग रक्त-निपीड को कम करने के लिये नहीं करना चाहिये।

हृदयावसाद तथा नीलिमा—सिरावेध इस दशा में भी उत्तम है। प्राण वायु (Oxygen) सूंघने को देना चाहिये। 'कोरामिन' १ सी०. सी० की मात्रा प्रति दो घण्टे पर देते रहना चाहिये, जब तक कि खतरे का समय न निकल जावे।

वृक्कशोथ तथा गर्भावस्था—

तीव्र वृक्कशोथ—गर्भावस्था में बहुत कम होता और गर्भकाल में कभी भी हो सकता है। रक्त-रजित मूत्र में शुक्ली और निर्मोक मिल सकते हैं। सामान्य चिकित्सा से रोगी को लाभ पहुंचता है। गर्भ के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। रोग के लक्षण यदि अचानक शुरू हुए हों और तीव्र स्वरूप के हों तो माता और गर्भ दोनों के आहत होने का भय रहता है। कटिशूल, वमन, शिरःशूल, आलस्य, तन्द्रा, मूत्राल्पता दृष्टिवितान शोथ (Retinitis) प्रभृति लक्षण होते हैं।

जीर्ण वृक्कशोथ—इसमें लक्षण पूर्व-गर्भाक्षेप तथा शुक्लीमेह सदृश ही होते हैं। यदि रोग का क्रम तीव्र हुआ तो गर्भपात हो जाता है। यदि इस अवस्था का सम्यक् उपचार नहीं हुआ तो वृक्क कार्य पूर्णतया बन्द हो जाता है। शिरःशूल, श्वयथु, आलस्य, तन्द्रा, कमजोरी, दृष्टिवितानशोथ, मूत्राल्पता न होकर मूत्र की अधिकता होती है।

पूर्वगर्भाक्षेपक विषमयता	वृक्कशोथजन्य विषमयता
(१) मूत्र की मात्रा घट जाती है।	(१) मूत्र की मात्रा बढ़ जाती है।
(२) मिहगाढ़ता परीक्षा (Urea concentration test) दो प्रतिशत या उससे अधिक होता है।	(२) मिहगाढ़ता परीक्षा में गाढ़ापन २% से कम होता है।
(३) रक्तगत मिह (Blood urea) स्वाभाविक रहता है।	(३) रक्तगत मिह स्वाभाविक से कम हो जाता है।
(४) प्रायः अप्रजाताओं में मिलता है।	(४) प्रजाताओं में मिलता है।
(५) वृक्कगत अन्य विकारों का इतिहास नहीं मिलता।	(५) वृक्कगत अन्य विकार शुक्लीमेह तथा गर्भाक्षेपक का भी पूर्व के किसी गर्भ में वृत्त मिलता है।
(६) विषमयता के चिह्न छठवें या सातवें मास के पूर्व बहुत कम प्रकट होते हैं।	(६) शुक्लीमेह गर्भावस्था के प्रारम्भ से ही विद्यमान रहता है। तथा तीसरे चौथे मास से ही प्रायः लक्षण प्रकट हो जाता है।
(७) रक्तनिपीड उच्च होता है।	(७) रक्त-निपीड रहता है, परन्तु बहुत व्यक्त नहीं रहता।
(८) हृदय स्वाभाविक रहता है।	(८) हृदय और रक्तवह संस्थान सम्बन्धी लक्षण मिलते हैं—वामनिलय की विस्तृति पाई जाती है।
(९) दृष्टिवितान (Retina) का शोथ (Oedena) मिलता है।	(९) इसमें दृष्टिवितान व्रणशोथ (Retinitis) पाया जाता है।
(१०) शुक्लीमेह सूतिकाकाल (प्रसवानन्तर) नष्ट हो जाता है।	(१०) सूतिकाकाल के बाद भी नष्ट नहीं होता।

साध्यसाध्यता—रोग बहुत ही गम्भीर होता है। लगभग ५०% रोगियों में गर्भाशय के भीतर गर्भ की मृत्यु हो जाती है या अपूर्णकाल में प्रसव हो जाता है।

चिकित्सा—वृक्कशोथ का निदान होते ही गर्भान्त या कृत्रिम प्रसव ही सर्वोत्तम उपाय है। इस नियम का उल्लंघन निम्नलिखित अवस्थाओं में किया जा

सकता है। १. यदि स्त्री प्रथम गर्भा हो, २. यदि उसके लक्षण अत्यन्त तीव्र न हों, ३. यदि उनमें एक दो सप्ताह की अवधि के बाद ही जीवनयोग्य सन्तान की आशा हो। ऐसी दशा में कृत्रिम प्रसवों से गर्भ का अन्त न करे, प्रत्युत पूर्ण सावधानी से चिकित्सा करते हुए माता एवं गर्भ की रक्षा करनी चाहिये। गर्भ का अन्त करने के लिये औदरिक गर्भाशय भेदन तथा उदर-विपाटन (Abdominal hysterotomy & caesarean section) के द्वारा क्रिया करनी चाहिये। इस शस्त्रकर्म के साथ ही साथ रुग्णा को वन्ध्या करने की राय दी जाती है। इसके लिये बीजवाहिनी (Fallopiau tube) के छेदन का विधान है।

गर्भकालीन उच्चरक्तनिपीड—रक्तनिपीड दो प्रकार के होते हैं—सौम्य तथा घातक (Benign & Maligmant)।

सौम्यप्रकार—इसमें पर्याप्त अधिकता रक्त भार की होती है। सांकोचिक निपीड २०० मि. मी. पा. तक होता है, तथापि कोई भौतिक चिह्न या लक्षण रोगी में प्रकट नहीं रहते। यह धीरे-धीरे बढ़ने वाला रोग है, पुरुष एवं स्त्री दोनों लिङ्गों में समान भाव से पाया जाता है। इसमें कुछ वंशगत प्रवृत्ति होती है। इस रोग से पीडित रोगी प्रायः चालीस की आयु में मर जाते हैं।

यह रोग स्त्री में गर्भाधान के पहले से ही रहता है, गर्भस्थिति के परिणाम स्वरूप अधिक बढ़ जाता है। बहुतों में रक्तभार पर गर्भाधान का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। उच्च रक्त-निपीड के कारण पूर्ण प्रसव के पूर्व ही गर्भाशय के भीतर गर्भ की मृत्यु हो जाती है।

अतएव इस रोग से पीडित स्त्री को पहले से ही सावधान कर देना चाहिये कि इस स्थिति में स्वस्थ सन्तान का पूर्णकाल पर प्रसव होना अनिश्चित है। गर्भाधान के प्रारम्भ से ही गर्भिणी की देखरेख करते रहना भी उचित है। रक्त-भार काफी बढ़ा हुआ हो, साथ ही वृक्क की कार्य-क्षमता ही न हो, तो गर्भाशय को रिक्त करना या अपूर्णकाल में प्रसव कराना चाहिये।

घातक रक्तनिपीड—इसमें उच्चरक्त निपीड के साथ ही साथ वृक्क प्रक्रिया भी विकृत होती है। मूत्र में शुक्ली की उपस्थिति और दृष्टिवितान की धमनियों में परिवर्त्तन दिखलाई पड़ते हैं। जीर्णवृक्क शोथ में भेद इतना ही होता है कि इसमें मूत्र में निर्मोक (Casts) नहीं मिलते और जीर्णवृक्क शोथ में मिलते हैं। यह रोग तीव्रता से बढ़ने वाला होता है।

घातक रक्तनिपीड सौम्य की अपेक्षा अधिक भयंकर है। इस रोग से पीडित स्त्री में गर्भाधान का निषेध करना चाहिये। कदाचित् गर्भाधान हो जाय तो कृत्रिम गर्भस्राव से उस गर्भ को निकाल देना चाहिये।

आयुर्वेद के संग्रह ग्रन्थों में 'गर्भिणी रोगचिकित्सा' नामक एक स्वतन्त्र अध्याय ही पाया जाता है जिसमें गर्भकाल में होनेवाले रोगों का जो पीडन (Pressure) अथवा विषमयता (Toxaemia) के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं ऐसा वर्णन मिलता है। प्राचीन वर्णन भी ऊपर लिखे हुए आधुनिक वर्णनों से मिलता जुलता ही है, चिकित्सा के तत्त्व भी तत्सदृश हैं; द्रव्यों का भेद अवश्य है। यहां पर संक्षेप में कुछ रोगों का उल्लेख किया जा रहा है।

कण्डुविदाह-किक्किस—'गर्भ के द्वारा ऊपर की ओर पीडित वातादि दोष गर्भकाल में हृदय में आश्रित होकर गर्भवती में कण्डु (खुजली), विदाह (जलन) पैदा करते हैं इससे किक्किस की उत्पत्ति होती है।'

चिकित्सा—मधुर ओषधियों से सिद्ध किये गये मक्खन को एक कर्ष (तोले) की मात्रा में लेकर, वेर (कोल) के कषाय के अनुपान के साथ पीने के लिये दे। गर्भवती के उदर और छाती (स्तन) के ऊपर चन्दन और कमलनाल के कल्क या चूर्ण का मर्दन करे, अथवा शिरीष, धातकीपुष्प (धाय के फूल) मधु यष्टि के चूर्ण मर्दन करे; अथवा कुटज, तुलसीवीज, मोथाहल्दी इनके कल्क से अथवा नीम तुलसी मजीठ के कल्क से मर्दन करे। इसके अतिरिक्त हरिण एवं शशक के रक्त में मिश्रित त्रिफला के चूर्ण से अभ्यंग करना भी लाभप्रद है। करवीर (कनेर) की पत्ती से सिद्ध तैल का अभ्यंग भी उत्तम है। मालतीपुष्प तथा मधुयष्टीकाथ से परिसिंचन करना हितकर होता है। यदि खुजली चलती हो तो किक्किस से उत्पन्न होने वाली विरूपता को वचाने के लिये रोगी को खुजलाना न चाहिये। यदि कण्डु असह्य हो तो हाथ के तलवे से मलना या वस्त्र से धीरे-धीरे सुहलाना उत्तम है। अधिक घर्षण से वचाना चाहिये। गर्भिणी को खाने के लिये अल्पमात्रा में मधुर आहारों का सेवन करना चाहिये। भोजन स्नेह, लवण और जल का उपयोग कम परिमाण में करना चाहिये।

छर्दि (वमन या अतिवमन)—अनेक उत्पादक हेतु हो सकते हैं। परन्तु आपन्नसत्वा में यह विशेषतः पाया जाता है। पीडन के कारण वायु का

ऊर्ध्वगमन होना अर्थात् अनुलोमन न होना एक प्रधान कारण है। वमन होने के साथ साथ अप् (जल) धातु का वहुत नाश होता है। फलस्वरूप वायु कुपित होती है। अत एव वमन का अतियोग होने पर प्रतीकार के लिये यथोक्त स्तम्भन और बृंहण योगों का प्रयोग करना चाहिये।

चिकित्सा—(१) घृत, गुड़, मांस, कल्याणघृत, त्र्यूषणघृण, जीवनीयघृत का प्रयोग करना चाहिये। इनके अतिरिक्त हरीतकीसिद्ध क्षीर तथा लेह का प्रयोग भी प्रसक्त छर्दि को शान्त करता है।

(२) कुंस्तुम्बरू का कल्क चावल के धोवन और मिश्री के साथ मिलाकर पीने से छर्दि शान्त होती है। वेल की मज्जा और लाजामण्ड का प्रयोग भी गर्भिणी के वमन में लाभप्रद होता है।

(३) अनारदाने से सिद्ध किया स्नेह और लवणयुक्त मूंग यूप पथ्य है।

अर्श—'आम गर्भ के पतन, विषमप्रसूति तथा वढ़े हुए गर्भ के पीडन (भार) के कारण तथा अन्य इसी प्रकार के हेतुओं से कुपित हुई अपानवायु मलको गुदा की वलियों में रोक देती है। इससे उस देश में मल के अतिसम्पर्क से (वलियाँ) स्थान के अतिक्लिन्न रहने से अर्श उत्पन्न हो जाते हैं।'

चिकित्सा—सामान्य अर्श की चिकित्सा चार प्रकार की होती है—ओषधि, शस्त्र, क्षार तथा अग्नि। गर्भावस्था में इनमें मृदुतम उपाय, ओषधि द्वारा चिकित्सा का ही है। मृदु, मधुर, वातानुलोमक और मृदु रेचनों से मलावरोध को दूर करते रहना चाहिये। शस्त्र-क्षार तथा अग्निकर्म के विधानों से गर्भिणी के अर्श को दूर करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये।

गर्भिणी के विविध रोगों की चिकित्सा—

सामान्यसूत्र—गर्भवती की व्याधियों की चिकित्सा मृदु, मधुर, शीतल, सुखकर, सुकुमार उपायों से करनी चाहिये। चिकित्सा करते हुए जव तक कि नितान्त आवश्यक न जान पड़े उसमें वमन, विरेचन, स्थापन, अनुवासन तथा रक्तावसेचन नहीं करना चाहिये। गर्भिणी की उपमा भरे हुए तैल पात्र से दी जाती है। तेल से भरे हुए वर्त्तन पर तनिक-सा भी आघात तैल को गिरा देता है उसी प्रकार गर्भवती स्त्री में उपचार करते हुए अल्पमात्रा में भी पहुंचा अभिघात गर्भ को क्षुब्ध कर देता है।

ज्वर—१. मुलैठी, चन्द, खस, सारिवा, महुवा और पद्मकाष्ठ के कषाय में चीनी और मधु मिलाकर पिलाना गर्भिणी के ज्वरों में हितकर होता है।

२. चन्दन, सारिवा, लोध्र, मुनक्के इन द्रव्यों के कषाय में चीनी या मिश्री मिलाकर पिलाना भी हितकर है।

३. पयस्या, सारिवा, पाठा, सुगन्धवाला, नागरमोथा, सोंठ इन द्रव्यों से शृत शीत कषाय का सेवन भी ज्वर में लाभप्रद है।

४. मुनक्का, पद्माख, खस, श्रीपर्णी और चन्दन से बने क्वाथ को गर्भकालीन पैत्तिक ज्वरों में देनी चाहिये।

५. **पथ्य**—एक दिन उपवास कराने के बाद में हल्का यूष क्षीर आदि दे। तृषा में पीने के लिये गर्म करके ठण्डा जल देना चाहिये।

विषमज्वर—१. सोंठ को बकरी के दूध में पका कर पीने से गर्भकालीन विषमज्वर नष्ट होता है।

२. ह्रीवेर, अरलु, रक्तचन्दन, बला, धान्यक, मोथा, पर्पट, खस, यवासा तथा अतीस इन द्रव्यों से बना कषाय विषमज्वर और अतिसार में लाभप्रद है। दन्तीभस्म का प्रयोग ज्वर तथा विषमज्वर में लाभप्रद होता है।

ज्वरातिसार—१. गर्भकालीन ज्वरातिसार चाहे वह साम हो चाहे रक्तमिश्रित हो मजीठ, मुलैठी, लोध्र, धातकी पुष्प, राल का प्रयोग चीनी या चीनी की चाशनी के साथ करना चाहिये।

प्रवाहिका—१. साम हो या रक्त के साथ गर्भकालीन प्रवाहिका में आम और जामुन की त्वचा का क्वाथ धान्यलाजा (लावा) के सत्तू के साथ मिलाकर सेवन करना हितकर होता है। शतपुष्पादि चूर्ण का प्रयोग भी किया जा सकता है।

अतिसार और प्रवाहिका में—लोध, मोचरस, पाठा, चन्दन, कुटज, अतीस का प्रयोग उत्तम है। अम्बष्ठादि गण की ओषधियों का प्रयोग लाभप्रद होता है। अनुपान में तण्डुलोदक का प्रयोग करना चाहिये। न्यग्रोधादि गण की ओषधियों का प्रयोग मधु के साथ उत्तम होता है।

ग्रहणी—सोंठ और बेल के कषाय का जौ के सत्तू के साथ मिलाकर सेवन करने से ग्रहणी में लाभ होता है। यह योग इस काल में होने वाले वमन में भी लाभप्रद है।

रक्तपित्त—पृष्ठापर्णी, बला और वासा का स्वरस या क्वाथ लाभप्रद है। क्षतज कास में मुलैठी, शंखपुष्पी (शंखभस्म), पीपल की लाख, मधु और चीनी का प्रयोग उत्तम है।

श्वासकास—कर्कट शृंगी, भार्ङ्गी, शुण्ठी, पिप्पली चूर्ण का गुड़ के साथ सेवन करने से श्वास एवं कास नष्ट होता है। एलादि वटी का प्रचुर मात्रा में सेवन कास तथा रक्तपित्त दोनों को नष्ट करता है।

मन्दाग्नि—अजमोदा, सोंठ, जीरा, पिप्पली, जीरा समान भाग में लेकर गुड़ और मधु से सेवन करने से गर्भिणियों की मन्दाग्नि दूर होती है।

वातरोग—विल्व, अरणी, पाटला, सोंठ इनसे सिद्ध क्वाथ को शीतल करके पीने से गर्भिणी के वात रोग नष्ट होते हैं।

शोफ—निम्नलिखित औषधियों के योग से बने लेप का वाह्य लेप लाभप्रद है—

चन्दन, मुलैठी, खस, नागपुष्पी तिक्त, मेषश्रृङ्गी, मजीठ, मदार का फूल तथा पुनर्नवा। साथ शोफघ्न पथ्य अन्य सामान्य उपचारों का भी युक्तिपूर्वक प्रयोग करना चाहिये।

मुखपाक—हरिद्रा, दारुहरिद्रा के क्वाथ का कवल धारण कराना चाहिये। लोध्र के चूर्ण से प्रतिसारण करे। शुद्ध टङ्कण का मधु से मिलाकर लेप करे। सारिवा-मजीठ-घृषी और मोचरस के चूर्ण का सममात्रा में मिलाकर मधु के साथ अन्तः प्रयोग करे।

आक्षेपक या अपतानक—(Toxaemic eclampsia)—१. बिजौरे नीबू का रसविड (काला नमक) और सेंधानमक मिलाकर पिलावे। २. अरणी, वरुण का क्वाथ तथा वटेर या तित्तिर का मांसरस पिलाना चाहिये। ३. चर्मचटी का रस पिलाना चाहिये। मधुर जांगल मांसरस दे।

कामला—पिप्पली, अंकोठमूल, घोड़े की लीद का रस, भैंस का दूध और दही सब मिलाकर सेवन करना चाहिये।

मूत्रसाद—शतावरी, दर्भमूल, मुलैठी, क्षीरमोरट (मूर्वाभेद), पाषाणभेद, खस, निर्मलीबीज का कल्क या कल्क से सिद्ध क्षीर का उपयोग गर्भिणी के सभी प्रकार के मूत्रग्रह में लाभप्रद होता है।

रसौषधियों के योग—

गर्भविनोद रस—जावित्री २ तोले, लवङ्ग २ तोले, त्रिकटु २ तोले, शुद्ध

हिङ्गुल ४ तोले, स्वर्णमाक्षिकभस्म २ तोले इन द्रव्यों को जल से पीस कर २ रत्ती की गोली बनाकर रख ले। सभी प्रकार के गर्भिणी रोगों में लाभप्रद है।

गर्भचिन्तामणि रस—इसके तीन पाठ भैषज्यरत्नावली में मिलते हैं। इनमें दूसरे और तीसरे का प्रयोग बहुलता से होता है।

(१) पारद, रजत, लौह भस्म प्रत्येक का एक एक कर्ष, अभ्रभस्म २ कर्ष, कर्पूर, वङ्गभस्म, ताम्रभस्म, जायफल, जावित्री, गोक्षुर, शतावरी, बला, अतिबला इन सभी द्रव्यों का एक एक कर्ष, जल के साथ पीस कर वटी बनाकर रख लेना चाहिये। इसका प्रयोग सभी प्रकार के गर्भकालीन जीर्णज्वरों में लाभप्रद होता है। सन्निपात की अवस्था में भी लाभप्रद है।

(२) **वृहत् गर्भचिन्तामणि रस**—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, सुवर्ण-रजत-लौह, सुवर्ण माक्षिकभस्म, शुद्ध हरताल, वङ्गभस्म, अभ्रभस्म सभी को समान भाग में लेकर एकत्र करके पृथक् पृथक् ब्राह्मी, अडूसा, भृंगराज, पित्तपापड़ा तथा दशमूल कषायों में सात सात भावना देकर २ रत्ती की गोलियाँ बना कर रख ले। सभी प्रकार के गर्भिणी रोग में लाभप्रद है।

आधार तथा प्रमाण सञ्चय—

१. गर्भेणोत्पीडिता दोषास्तस्मिन् हृदयमाश्रिताः।
कण्डूं विदाहं कुर्वन्ति गर्भिण्याः किक्किसानि च॥ (अ० हृ० शा० १)

२. आमगर्भप्रपतनाद् गर्भवृद्धिप्रपीडनात्।
ईदृशैश्चापरैर्वायुरपानः कुपितो मलम्॥
पायोर्वलीषु तं धत्ते तास्वभिष्यण्णमूर्तिषु
जायन्तेऽर्शांसि। (अ० हृ० नि० ७)

(च० चि० १४), (च० शा० ८), (सु० नि० ८), (सु० चि० ६), (यो०र० गुर्विणीरोगचिकित्सा प्रकरण) (भैषजयरत्नावली-गर्भिणीचिकित्साध्याय), (काश्यपसंहिता-अन्तर्वत्नी चिकित्साध्याय खिलस्थान १०)

(Midwifery by Tenteachers)

चतुर्थ अध्याय

गर्भावस्था में गर्भाशय का स्थानभ्रंश

(Displacement of Pregnant Uterus)

अन्तर्मुखी या पश्चिमभ्रंश (Retroflexion)—

गर्भाशय का पश्चिम भ्रंश, अग्रिम की अपेक्षा अधिक भयावह है। प्रायः ऐसा देखने को मिलता है कि रुग्णा में इस प्रकार स्थानच्युति गर्भावस्था के पूर्व से ही विद्यमान रहती है; तथा गर्भाशय के गर्भित हो जाने के बाद भी वह बनी रह जाती है। कई बार यह स्थान-भ्रंश गर्भाधान के अनन्तर देखने को मिलता है। इस अवस्था में इसके हेतुरूप में अभिघात कारण होता है। गर्भावस्था में गर्भिणी को चोट लगने से या अचानक गिर जाने से अथवा अधिक परिश्रम (Muscular strains) से यह विकार आ जाता है।

रोगक्रम तथा लक्षण—अधिकतर गर्भाशय स्वयमेव ठीक हो जाता है। फलतः सौम्यस्वरूप के भ्रंश से रुग्णा में कोई लक्षण नहीं मिलते। परन्तु यदि यह स्वयमेव कृत्रिम साधनों से ठीक न हो पावे तो इससे कई उपद्रव हो जाते हैं और इसकी चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है।

गर्भाशय की वृद्धि होने के साथ साथ श्रोणिगुहा भरती जाती है। गर्भाशय स्कन्ध (Fundus) पीछे की ओर बहुत नीचे को हो जाता है। गर्भाशय ग्रीवा क्रमशः ऊपर को खिंचती हुई संधानिका (Symphisis) के ऊपर को आ जाती है। ग्रीवा के ऊपर खिंचने से योनि की अगली दीवाल तथा मूत्र मार्ग इससे खिंचकर लम्बे हो जाते हैं। मूत्राशय के निचले भाग पर गर्भाशय-ग्रीवा का दबाव पड़ने से मूत्राशय क्षुब्ध हो जाता है जिससे बार-बार मूत्रत्याग होने लगता है। भार के अधिक बढ़ने से मूत्रकृच्छ्र या मूत्रसंग (रुकावट) हो जाता है। जब मूत्राशय खूब भर जाता है तो बूंद-बूंद करके मूत्र टपकने लगता है। यदि मूत्र नाडी (Catheter) से मूत्र न निकाला जाय तो वस्तिशोथ या मूत्राशयशोथ होने का भय रहता है। यह मूत्राशय शोथ बड़े तीव्र स्वरूप का होता है और रुद्ध हुए मूत्र के सड़ान से पैदा होता है। इसमें सम्पूर्ण वस्ति की श्लेष्मलकला पूयमय होकर झरने लगती है, कई बार मूत्राशय की दीवालों के पेशीसूत्रों की भी

यही दशा हो जाती है इसे अतितीव्र वस्तिशोथ (Exfoliative cystitis) कहते हैं। इससे वस्ति का विदीर्ण होना भी सम्भव है। फिर उपसर्ग के उदर्याकला में प्रवेश होने से उदर्याकला शोथ की भी सम्भावना रहती है। इतना ही नहीं यदि उपसर्ग और ऊपर को पहुंचा तो वृक्कशोथ, अथवा विपरीत दवाव पड़ने से (Back ward pressure) शुक्लीमेह तथा मूत्रविषमयता (Uraemia) भी हो सकती है। इसी से गर्भवती की मृत्यु तक हो सकती है। गर्भाशयस्कन्ध का भार मलाशय तथा त्रिकनाड़ियों पर पड़ने से श्रोणिगत भारीपन तथा शूल का अनुभव और मलावरोध भी गर्भिणी में पाया जाता है।

तीन मास के बाद गर्भाशय इतना बड़ा हो जाता है त्रिक के गर्त (Promon tary of the sacrum) से ऊपर नहीं उठ पाता अपने आप उसका ऊपर उठना भी असम्भव हो जाता है। फलतः वह पूर्णतःश्रोणि में अवरुद्ध (Incarcerated) हो जाता है। इस अवस्था में मूत्रावरोध प्रभृति उपर्युक्त उपद्रव उत्पन्न होते हैं और गर्भिणी की मृत्यु हो जाती है।

जैसा कि ऊपर में कहा गया है गर्भाशय अधिकतर अपने आप प्रकृत स्थिति में आ सकता है। प्रकृति के द्वारा श्रोणि में अवरुद्ध गर्भाशय निम्नलिखित तीन विधियों से ऊपर की ओर उठ जाता और फिर बढ़ने लगता है।

(१) **स्वतः सुधार**—गर्भाशय के सामने की दीवाल क्रमशः ऊपर की ओर (त्रिक के गर्त से ऊपर) बढ़ने लगती है जिससे गात्र का शेष भाग भी उधर ही फैलता है, धीरे-धीरे सम्पूर्ण गर्भाशय अवरोध से स्वतन्त्र हो जाता है। यह सुधार प्रारम्भिक तीन मासों में ही सम्भव है। यदि किसी कारण से गर्भाशय स्कन्ध त्रिकगर्त के नीचे संश्लेष (Adhesion) से युक्त हो अथवा गर्भाशय का पश्चिम भ्रंश (Retroversion) हो; तो उसका त्रिकगर्त से स्वयमेव ऊपर को उठना असम्भव हो जाता है।

(२) **गर्भस्राव**—यह भी अवरुद्ध गर्भाशय के मुक्ति का एक अच्छा साधन है। गर्भस्राव की सम्भावना दो प्रकार से हो सकती है। (१) गर्भावस्था के आरम्भिक दिनों में यदि गर्भाशय की श्लेष्मलकला शोथयुक्त (Erdometritis) तथा रक्ताधिक्य (Congestion) से युक्त हो जाय तो गर्भस्राव हो सकता है। (२) श्रोणिगुहा में भरे हुए गर्भित गर्भाशय के ऊपर आसपास के श्रोणिगत अव·

यवों के उत्तेजन का प्रभाव पड़ता है जिससे गर्भाशय में आकुंचन होते हैं और गर्भ का स्राव हो जाता है। यद्यपि यह गर्भस्राव पूर्णतया नहीं होता है। इस के पूर्ण निर्हरण करने के लिये कृत्रिम साहाय्य की आवश्यकता पड़ती है।

(३) **गर्भाशय का अवकाश का बढ़ना** (Sacculation)—यदि तीसरे मास के पश्चात् गर्भित गर्भाशय के अवरुद्ध होने की सम्भावना रहती है, तो कुछ प्राकृतिक परिवर्त्तनों के फलस्वरूप यह संकट दूर हो जाता है। इसमें गर्भाशय की अग्रिम दीवाल बढ़ने लगती है और विस्तृत हो (Growth and Expansion) जाती है। इस प्रकार करवह एक थैले का रूप ले लेता है जिसका उदरगुहा में उभार मिलता है। इस थैले के बनने का लाभ यह होता है कि गर्भाशयस्थ शिशु की यथोचित वृद्धि होती है उसका सिर नीचे वाले भाग में गात्र तथा शाखायें ऊपर वाले भाग में होती हैं। इस अवस्था में प्रसव में कठिनाई उपस्थित होती है, इसलिये शस्त्रकर्म की भी आवश्यकता पड़ती है।

निदान—यदि गर्भिणी में मूत्रकृच्छ्र का वृत्त मिले अर्थात् उसको मूत्रत्याग में कठिनाई और पीडा का अनुभव हो और दिनों-दिनों बढ़ता चले तो पश्चिम भ्रंश का अनुमान करना चाहिये। यदि इस प्रकार से बढ़ती हुई मूत्रत्याग सम्बन्धी तकलीफ पूर्णतया मूत्रसंग (Retention) में परिणत हो जाय तो अवरुद्ध गर्भित गर्भाशय (Incarceration) का अनुमान कर सकते हैं।

कई भ्रंशों में वमन की अधिकता पाई जाती है अतः यह भी एक निदानकर लक्षण है। इस प्रकार यदि स्त्री में प्रारम्भिक गर्भकालीन (आर्त्तवादर्शन, वमन, स्तन परिवर्त्तनादि) लक्षण मिले और वह मूत्रत्याग में कठिनाई और पीड़ा होने की तकलीफ बतलावे तो पश्चिम भ्रंश की सम्भावना रहती है; और अपने निश्चय को स्थिर करने के लिये योनि-परीक्षा के द्वारा निर्णय करना चाहिये।

योनिपरीक्षा के द्वारा गर्भाशय का लम्बा मृदु गात्र पीछे की ओर (डगले के गढे में) प्रतीत होगा। गर्भाशय-ग्रीवा बहुत ऊँचाई पर और सामने की ओर मालूम होगी। ग्रीवा का द्वार मूत्राशय की ओर होगा। साधारणतया जहाँ पर गर्भाशय स्कन्ध होना चाहिये वहाँ पर कुछ भी प्रतीत न होगा अथवा मूत्र से भरा मूत्राशय प्रतीत होगा। मूत्र को नाडी द्वारा निकाल देने से वह जगह खाली हो जायगी। यदि वहाँ पर गर्भाशय का कुछ भाग का अनुभव भी हो तो उसकी

ऊँचाई गर्भावस्था के मास के अनुसार साधारण की अपेक्षा बहुत कम होगी।

सापेक्ष्यनिश्चिति—वहिगर्भस्थिति या बीजवाहिनीय गर्भस्थिति (Extra uterine or tubal pregnancy), रक्तजवृद्धि (Haematocele) गर्भाशय के पीछे पड़ा हुआ, बीजग्रन्थि अथवा गर्भाशय के सौत्रिकार्बुद (Fibroids) प्रभृति रोगों से इस रोग का भेद करना होता है। वहिर्गर्भस्थिति में रक्तस्राव तथा पीड़ा होगी तथा गर्भाशयग्रीवा की स्थिति ठीक होगी तथा अर्बुदादि में भी ग्रीवास्थिति के ठीक होने के साथ साथ लक्षणों में भिन्नता होगी।

चिकित्सा—यदि गर्भावस्था के प्रारम्भिक दिनों में भ्रंश का पता चल जाय तो गर्भाशय को आसानी से योनिमार्ग से अंगुलि डालकर सीधा किया जा सकता है। गर्भाशय को ठीक करके छल्ले (Smith-hodge or ring pessary) के द्वारा स्थिति को बनाये रखने का प्रयत्न करना चाहिये। फिर छल्ले को उसी स्थिति में चौथे मास के अन्त तक रखना चाहिये।

यदि तीसरे मास के बाद भ्रंश का निश्चय हुआ हो, गर्भाशय अवरुद्ध स्थिति को प्राप्त कर चुका हो तो मूत्रनाडी के द्वारा वस्ति (Bladder) को खाली कर देना चाहिये। मूत्रमार्ग इस स्थिति में बहुत तम्भ [illegible] गया रहता है अतः मूत्रनाडी यन्त्र का प्रयोग न करके पुरुषों के नं ८ 'गमएलास्टिक' मूत्रनाडी यन्त्र (Catheter) का इस्तेमाल करना चाहिये। मूत्राशय को रिक्त करके मलाशय को भी आस्थापनवस्ति देकर खाली कर देना चाहिये। उसके बाद गर्भाशय की स्थिति को सुधारना चाहिये।

गर्भाशय भ्रंश को ठीक करने की कई विधियाँ प्रचलित हैं १. आसन, २. हाथों से गर्भाशय की स्थिति को ठीक करना, ३. हाथों तथा विशेष आसनों से स्थिति को ठीक करना, ४. हाथों से तथा प्रत्याकर्षक (Volsella) यन्त्र की सहायता से तथा ५. मलाशय में उँगली डाल कर ठीक करना।

अर्धोत्तानशयनासन (Semiprone position or Sims position)—अथवा जानुवक्षासन (Genu pectoral position)—कई बार केवल इन आसनों के प्रयोग से ही गर्भाशय का भ्रंश ठीक हो जाता है। आसनों के प्रयोग में दो बातों का ध्यान रखना चाहिये। १ रोगी के मलाशय तथा मूत्राशय रिक्त कर दिये जायँ। २. उसको 'क्लोरोफार्म' सुंघाकर हल्के संज्ञानाशन में कर

लेना चाहिये। अर्धोत्तानशयन एक उत्तम विधि है इसमें गर्भिणी को एक करवट पर लेटा कर तीन दिनों तक रखना चाहिये। इस विधि से गर्भाशय स्वयमेव त्रिकास्थि के गर्त से सरक कर ऊपर आ जाता है। जब गर्भाशय की स्थिति में सुधार हो जाय तो उसकी इस नई स्थिति को स्थिर बनाये रखने के लिये छल्ले लगा देने चाहिये।

सिमकी स्थिति
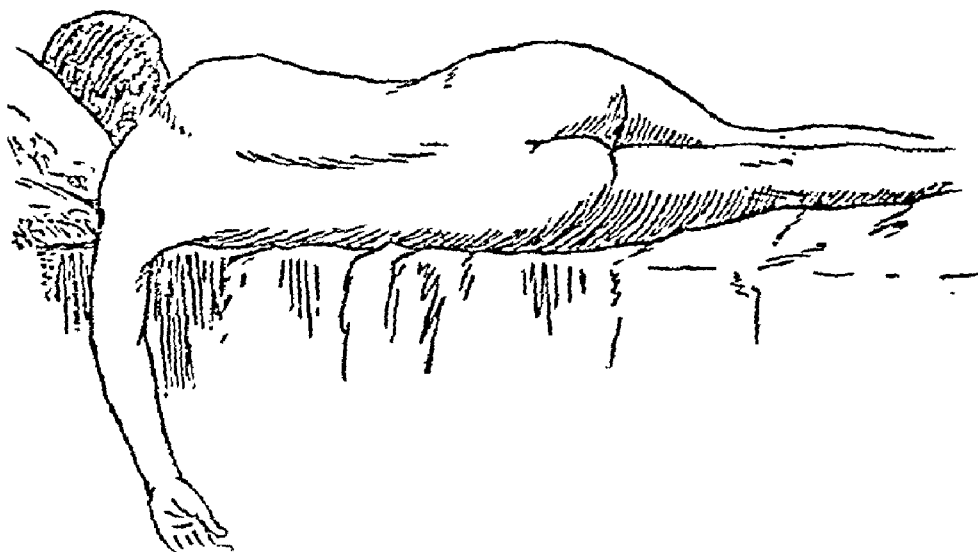
चित्र ९६

हाथ से गर्भाशय की स्थिति सुधारने के लिये एक हाथ की दो अङ्गुलियों को पश्चिम कोण (Post. fornix) में डाल कर गर्भाशय स्कन्ध को ऊपर और आगे की ओर धक्का देना चाहिये। एक अङ्गुली से गर्भाशय ग्रीवा को पीछे पकडे रहना चाहिये। साथ ही दूसरे हाथ को उदर पर रख कर उससे गर्भाशय स्कन्ध को पकड़ कर उसकी स्वाभाविक स्थिति में लाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस विधि में यदि ग्रीवाकर्षक यन्त्र (Volselum) की सहायता ली जाय तो कार्य में सरलता प्रतीत होती है। इस यन्त्र के द्वारा ग्रीवा को पकड़ कर नीचे की ओर खींचना चाहिये। गर्भाशय स्कन्ध को ऊपर उठाने वाली क्रिया में अधिक सुकरता लाने के लिये मलाशय में अङ्गुलि डाल कर उसे ऊपर और आगे को उठाने का प्रयत्न करना चाहिये। इन विधियों को व्यवहार में ले आते समय रोगी को अर्धोत्तानशयनासन पर रख कर सार्वदैहिक संज्ञाहरण भी कर लेना चाहिये।

यदि एक दो बार उपर्युक्त प्रयासों के करने पर सफलता न मिले और गर्भाशय अपनी स्थिति को न प्राप्त कर सके तो अधिक प्रयास नहीं करना चाहिये। केवल यही ध्यान रखे कि मूत्राशय भरा न रहे—उसको बीच-बीच में मूत्रनाड़ी संयोजन से रिक्त करते रहना चाहिये। क्योंकि कई बार मूत्राशय का बार-बार रिक्त करने का परिणाम यह होता है कि विकार स्वयमेव दूर हो जाता है और भ्रष्ट गर्भाशय अपने स्थान पर आ जाता है। अनेक बार के कर्षण (Manipulation) का परिणाम यह होता है कि गर्भस्राव हो जाता है; फिर भार के हल्का हो जाने से गर्भाशय पुनः स्वस्थिति को प्राप्त कर लेता है।

संज्ञाहरण की दशा में किया गया अङ्गुलीकर्षण का विधान (Digital manipulation) कभी विफल नहीं होता और प्रायः सफलता मिल जाती है; परन्तु कदाचित् सफलता न मिले तो योनि में जलपूर्ण दृति (Hydrostatic bag) रखने से गर्भाशय स्कन्ध पर सततकर्षण का प्रभाव होने से भी स्थिति सुधर सकती है।

यदि उपर्युक्त विधियों से सफलता न मिले तो दो ही अन्तिम उपाय शेष रह जाते हैं–१. गर्भपात करना, २. उदरभेदन करके गर्भाशय की स्थिति ठीक करना।

गर्भपातन की सुगम विधि यह है कि योनि के पश्चिम कोण से पिचकारी के सहारे १० सी. सी. गर्भोदक निकाल डालें, थोड़ी देर में अपने आप गर्भपात हो जायेगा।

यदि वस्तिशोथ उपस्थित हो तो उदर भेदन (Laprotomy) नहीं करना चाहिये, अन्यथा यह सर्वोत्तम उपाय है। वस्ति (Bladder) की स्थिति उपसर्गयुक्त हो तो केवल गर्भपातन ही चिकित्सा है।

वस्ति की स्थिति को सुधारने के लिये उसका स्थानिक शोधन हल्के जीवाणु-नाशक घोलों से करना चाहिये। साथ में विश्राम प्रभृति सामान्य चिकित्सा भी करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त मूत्राशय शोथ विरोधी योगों का 'सैलाल' 'यूरोट्रोपिन,' 'सीस्टोप्युरिन' प्रभृति योगों को देना चाहिये। यदि मूत्र क्षारीय हो तो उसे अम्ल बनाने के लिये 'सोडियम एसिडफास' देना चाहिये। पीने के लिये प्रचुर मात्रा रोगी को जल देना चाहिये। भोजन में द्रव पदार्थों का ही उपयोग करना चाहिये। वार्ली यूष प्रचुर मात्रा में देना चाहिये।

उदावर्तिनी या अग्रिमभ्रंश (Anteflexion)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि गर्भावस्था के प्रारम्भिक मासों में गर्भाशय का झुकाव आगे की ओर अधिक रहता है। यह अवस्था सामान्यतया मिलती है जिससे मूत्राशय पर दबाव पड़ने के कारण गर्भिणी में बार–बार मूत्रत्याग की इच्छा जगती है।

बाद में जाकर गर्भावस्था के अन्तिम दिनों में यही अग्रिम भ्रंश लटकने सा लगता है, उसे लटकने वाला उदर (Pendulous belly) कह सकते हैं। बहुप्रजाताओं में इस चिह्न का कोई भी महत्त्व नहीं होता क्योंकि उनमें अनेक प्रसवों और गर्भधारणों के कारण उदर की दीवाल शिथिल पड़ गई रहती हैं और बड़े गर्भ का भार उदर का यह रूप कर देता है। कई स्त्रियों में तो उदरदण्डिका पेशियों के मध्य में अन्तर (Seperated) पड़ जाता है—जिसके कारण गर्भाशय बिलकुल आगे की ओर सन्धानिका के ऊपर लटकने लगता है—उसके ऊपर केवल उदर की दीवाल की त्वचा और कला (Fascia) का आवरण रह जाता है। गर्भाशय की ग्रीवा और स्कन्ध भी इसी सतह पर आ जाते हैं।

प्रथमगर्भा स्त्री में यदि गर्भकाल में उदर लटका दीखे तो वह एक महत्त्व का चिह्न है और किसी न किसी भाँति की श्रोणिगत विकृति का द्योतक है। इस प्रकार के गर्भ का उदर में बहिर्गत (बाहर निकलना) होना तभी सम्भव है जब कि श्रोणि का अन्तर्द्वार संकुचित हो जिसके कारण सिर का श्रोणि के भीतर प्रवेश नहीं हो पाता और जो पूरे गर्भाशय को उदर गुहा में ठेल देता है। इसके कारण उदर की दीवाल या पेशियों पर बल पड़ने लगता है और उदर बाहर को निकल जाता है तथा बहिर्गत (Pendulous belly) उदर का रूप ले लेता है।

ऐसी स्थिति में श्रोणि का मापन अवश्य करना चाहिये ताकि संकुचित श्रोणि का पता लग जाय।

गर्भाशय के अग्रिम भ्रंश में मूत्राशय की क्षुब्धता बहुत अधिक हो जाती है, जिससे बार–बार मूत्र त्याग होता रहता है। बाद में जाकर चलने में तकलीफ और कठिनाई मालूम होती है। साधारणतः पेट पर पट्टी बाँधने से चलने फिरने में आराम मिलता है।

गर्भाशय के तिर्यक् होने के कारण विकृत उदय (नितम्ब, पाद अथवा मुख) होता है। ग्रीवा का विकास बहुत कम होता है।

चिकित्सा—१. यदि कोई मूढ़ गर्भ हो तो ठीक कर दे। २. गर्भाशय को उसके अक्ष पर ले आवे। ३. गर्भिणी को चित लेटाकर उदर पर दृढ़ वन्धन लगाना चाहिये, ताकि गर्भाशय की स्थिति ठीक वनी रहे।

प्रसंस्निनीया गर्भाशय का अधोभ्रंश (Prolapse of the uterus)

गर्भावस्था में यह विकार प्रायः दुर्लभ रहता है। क्योंकि गर्भाशय भ्रंश के कारण गर्भाधान में बाधा पहुँचती है, दूसरी वात यह भी है कि यदि पहले से अधो-भ्रंश हो तो वह भी गर्भाधान के कारण ठीक हो जाता है। कदाचित् गर्भस्थिति के साथ–साथ यदि गर्भाशय का भ्रंश पाया जाय तो इसमें भ्रंश पहले से ही वर्त्त-मान रहता है ऐसा मानते हैं। कई वार गर्भिणी के अचानक गिरने या चोट लगने से गर्भावस्था में भी गर्भाशय का अधोभ्रंश हो सकता है। कई वार ग्रीवा की अतिवृद्धि होने से वह अधोभ्रंश के समान ज्ञात होता है। ग्रीवा की अति वृद्धि से भी योनि की दीवाल का नीचे की ओर भ्रंश हो सकता है। चिकित्सा में उसको सीधा कर छल्ले (Ring pessary) के सहारे स्थिर कर देना चाहिये।

वृद्धि (Hernia)—कई गर्भाशय स्तानच्युत होकर औदरिक वृद्धि का रूप ले लेता है, परन्तु वहुत ही कम पाया जाता है। इससे भी कम पाई जाने वाली एक प्रकार की और वृद्धि होती है जिसमें गर्भाशय औवींय या वंक्षणीय हर्निया का रूप ले सकता है।

द्विश्रृंगीय गर्भाशय (Bicornute uterus)—

यदि किसी स्त्री में विकाससम्वन्धी विकृति के कारण दो दो गर्भाशय हों तो उसके वैकारिक गर्भाशय के एक या दोनों श्रृंगों में गर्भाधान हो सकता है। यदि एक श्रृंग में गर्भाधान हुआ तो दूसरे श्रृङ्ग में भी साथ ही साथ वृद्धि, मृदुता और गर्भधराकला (Decidua) का निर्माण होने लगता है। गर्भाधान स्वाभा-विक रीति से ही चलता है। पूरा गर्भकाल विना किसी उपद्रव के वीत जाता है। यहाँ तक कि प्रसव भी लगभग प्राकृत ही होता है और किसी प्रकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं पड़ती। कदाचित् योनि और ग्रीवा भी दो दो रहें तो प्रसव काल में वाधा उपस्थित हो सकती है और चिकित्सक की सहायता की अपेक्षा रहती है। गर्भाशय का आधा अगर्भित भाग स्पर्श में सौत्रिकार्बुद (Fibroid) जैसा ज्ञात होता है।

गर्भधरकला के रोग (Diseases of the decidua)

गर्भकालीन उदकमेह (Hydrorrhoea gravidorum) कई वार गर्भावस्था में एक प्रकार जल सदृश पतला स्राव होता रहता है। कई स्त्रियों में बूंद बूंदकर अनवरत स्रवित होता रहता है और किसी किसी में कुछ अन्तर से धार के रूप में निकलता है। इस प्रकार स्राव कई कारणों से हो सकता है—

१. गर्भधराकला का जीर्णशोथ। कला से सम्बन्ध ग्रन्थियाँ शोययुक्त होकर स्रवित होती हैं।

२. कई वार कलासम्बन्धी ग्रन्थियाँ स्राव के रुक जाने से जलग्रन्थि (Cyst) का रूप ले लेती हैं और उनके फटने से बीच-बीच में वेग के साथ स्राव होता है।

३. कई वार जरायु के विदीर्ण होने से गर्भोदक का स्राव होता है। इसके परिणामस्वरूप गर्भस्राव हो जाता है।

४. विकृत गर्भ (Hadatid form mole) में स्राव हो सकता है।

५. ग्रीवा के घातक रोगों में भी इस प्रकार का स्राव चलता है।

गर्भधराकला शोथ—(Decidual Endo metritis)।

तीव्र प्रकार में ज्वर होता फलतः गर्भस्राव होता है। जीर्ण प्रकार शोथ १. मातृगत रोगों में (जिसमें सिरागत प्रवाह का निरोध होता हो), २. पूर्वकालीन गर्भाशय श्लेष्मलकला शोथ के परिणाम स्वरूप, ३. गर्भित गर्भाशय के स्थान-भ्रंश के कारण उत्पन्न होता है और इसके परिणामस्वरूप भी गर्भस्राव गर्भवती स्त्रियों में पाया जाता है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में गर्भावस्था में पाये जाने वाले इन भ्रंशों का वर्णन स्पष्ट-रूप से नहीं मिलता; तथापि योनि-व्यापदों के सम्बन्ध में आचार्यों ने विविध प्रकार के भ्रंशों का उल्लेख आचार्यों ने विभिन्न संज्ञाओं से की है। संक्षेप में उनकी व्याख्या नीचे दी जा रही है। योनि से यहाँ पर गर्भाशय समझना चाहिये। अत एव योनि-व्यापद से गर्भाशय-व्यापद ग्रहण किया जा सकता है।

१. **अन्तर्मुखी**—अतिशय (पेटभर) भोजन करके विषम स्थिति में मैथुन करने पर योनि के स्रोत में स्थित वायु अन्न से पीडित होकर योनि के मुख को अस्थि तथा मांस के साथ टेढा कर देती है इसे अन्तर्मुखी कहते हैं। संभवतः यह Retro flexion अथवा Retroversion का वर्णन है।

२. **उदावर्तिनी**—वेग के अवरोध से वायु उदावर्त्तित हो (ऊपर की ओर हो) कर योनि को ऊपर की ओर उठा देता है। वह योनि उदावर्तित रज को वेदना के साथ वाहर निकालती है। रज के निकल जाने पर स्त्री को तत्क्षण आराम का अनुभव होता है। रज के ऊपर की ओर जाने से वैद्य उसे उदावर्त्तिनी कहते हैं। यह वर्णन Anteflexion अथवा Antroversion से मिलता-जुलता है।

३. **प्रसंसिनी**—इस अवस्था में योनि से स्राव निकलता है, योनि क्षुब्ध रहती और वड़े कष्ट से संतान होती अथवा प्रसव होता है। इस वर्णन का सादृश्य गर्भाशय के अधोभ्रंश Prolapse of the uterus के साथ है।

चिकित्सा—इन योनि-व्यापदों की उत्पत्ति में प्रायः वायु का हाथ रहता है। अतः योनिरोगों में सामान्यतः वातनाशक चिकित्सा हितकर है। स्नेहन, स्वेदन और वस्तिकर्म उत्तम है। प्रथम वायु को शान्त करे पश्चात् अन्य दोषों के शमन का उपाय करना चाहिये।

रोग से पीडित स्त्री को वलातैल, मिश्रक स्नेह तथा सुकुमार तैल पिलावे। स्नेहन-स्वेदन करके विषम योनि को यथास्थान वैठावे। कुटिल तथा वक्र योनि को योनि में हाथ प्रविष्ट करके हाथ के अग्रभाग से झुकावे। संवरण के कारण अणु-भूत योनि को फैलावे। वाहर निकली योनि को धीरे-धीरे अन्दर की ओर दवाकर प्रविष्ट करे। विवृत योनि को परिवर्त्तित करके ठीक करे। स्थानापवृत्त (Displa-ced uterus) योनि स्त्रियों के लिये शल्यरूप होती है। अतः उसको स्वाभाविक स्थिति में लाना परमावश्यक है।

आधार तथा प्रमाण सञ्चय—

१. अत्याशिताया विषमं स्थितायाः सुरते मरुत्।
अन्नेनोत्पीडितो योनेः स्थितः स्रोतांसि वक्रयेत्।
सास्थिमांसं मुखं तीव्रं रुजमन्तर्मुखीति सा। (अ. हृ. उ. ३३।)

२. वेगोदावर्त्तनाद्योनिमुदावर्त्तयतेऽनिलः।
सा रुगार्त्ता रजःकृच्छ्रेणोदावृत्तं विमुञ्चति॥
आर्त्तवे सा विमुक्ते तु तत्क्षणं लभते सुखम्।
रजसो गमनादूर्ध्वं ज्ञेयोदावर्त्तिनी बुधैः॥ (च. चि. ३०)

३. प्रसंसिनी स्यंदते तु क्षोभिता दुष्प्रजायिनी। (च. चि. ३०)

४. योनिव्यापत्सु भूयिष्ठं शस्यते कर्म वातजित्
स्नेहनस्वेदवस्त्यादि वातजासु विशेषतः।
न हि वाताहते योनिर्वनितानां प्रदुष्यति
अतो जित्वा तमन्यस्य कुर्याद्दोषस्य भेषजम्।
पाययेत बलातैलं मिश्रकं सुकुमारकम्
स्निग्धां स्विन्नां तथा योनिं दुःस्थितां स्थापयेत्समाम्।
पाणिनोन्नमयेज्जिह्मां संवृतां वर्धयेत्पुनः
प्रवेशयेन्निःसृतां च विवृतां परिवर्तयेत्।
स्थानापवृत्ता योनिर्हि शल्यभूता स्त्रियो मता। (अ. हृ. उ. ३४)

(Midwifery by Johnstone)

पञ्चम अध्याय

गर्भस्राव-पात—(Abortion)

गर्भावस्था में योनि से रक्तस्राव का होना सदैव विकृति का निदर्शक है। इस सिद्धान्त के अपवाद रूप में कभी-कभी रक्तस्राव मासिक ऋतुकाल में भी मिलता है; परन्तु यह बहुत ही अल्प मात्रा में विशेषतः गर्भावस्था के प्रथम और द्वितीय मासों में ही होता है और स्वयमेव एक दो दिनों में निवृत्त हो जाता है।

प्रथम तीन मासों में यह लक्षण प्रायः निम्नलिखित विकृतियों की ओर संकेत करता है।

(१) गर्भस्राव (२) विकृत गर्भ (३) वहिर्गर्भस्थिति। इनके अतिरिक्त अन्य भी विरलता से पाये जाने वाले हेतु हैं, जिनसे रक्तस्राव हो सकता है जैसे (४) गर्भाशय ग्रीवा का भक्षण (Ercsion) (५) श्लेष्मलकला के अर्श (Mucous polypus of the cerisa) तथा (६) घातक अर्बुद प्रभृति।

इनमें प्रथमोक्त तीन ही महत्त्व के हैं अत एव उन्हीं की विवेचना की जायगी।

परिभाषा—जीवन के योग्य संतान के पैदा होने की छोटी से छोटी काल-

मर्यादा २८ सप्ताह की है। अतः २८ सप्ताह के पूर्व के होनेवाले प्रसवों को गर्भ-स्राव या गर्भपात (Abortion or Miscarriage) कहते हैं तथा इसके वाद के होने वाले प्रसवों को, जो पूर्णकाल के पहले पैदाइशें होती हैं अपूर्णकाल प्रसव या अपक्व प्रसव (Premature labour) कहलाती हैं।

अंग्रेजी में गर्भस्राव के अर्थ में दो शब्द व्यवहृत होते 'एवोरशन' तथा 'मिसकैरीज' ये दोनों पर्य्याय रूप में व्यवहृत होते हैं और २८ सप्ताह के पूर्व होने वाले प्रसवों के द्योतक होते हैं। इनमें कोई विशिष्ट भेद नहीं है। लोकव्यव-हार में 'एवोरेशन' शब्द का प्रयोग गैरकानूनी ढंग से हुए स्राव में लोग करते हैं और 'मिसकैरीज' शब्द का रोग सूचक अर्थ में।

अकाल प्रसवों के सम्बन्ध में आयुर्वेद के ग्रन्थों में दो शब्द व्यवहृत होते हैं— गर्भविच्युति या गर्भस्राव तथा गर्भपात। सुश्रुत ने स्पष्टतया लिखा है कि चार मास (१६ सप्ताह) के अकाल प्रसव को गर्भस्राव कहा जाता है और उसके वाद होनेवाले स्थिर शरीर के पात को गर्भपात कहते हैं। फलतः प्राचीन परिभाषा के अनुसार गर्भस्राव का अर्थ 'एवोरशन' तथा गर्भपात का 'प्रेमैच्योर लेवर' करना उचित प्रतीत होता है।

प्रमाण—गर्भस्राव का प्रतिशत प्रमाण देना वड़ा ही कठिन है, तथापि तद्विदों के अनुसार प्रति ५ गर्भों में १ का अकाल प्रसव देखा गया है। गर्भस्राव सवसे अधिक गर्भकाल के ग्यारहवें सप्ताह में पाया जाता है।

हेतु—अभी तक गर्भस्राव के हेतुओं का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हो पाया है, तथापि निम्नलिखित वर्गीकरण अधिक सम्मत प्रतीत होता है।

१. **पितृगत हेतु** –शुक्रकीटों की विगुणता (Abnormalitixs)

१. **मातृगत हेतु—सार्वदैहिक स्थिति**—१. अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का असंतुलन विशेषतः क्षेत्रसञ्जनन रसों की कमी (Defficiency of prolan B & Progesterone)। २. जीवतिक्ति द्रव्यों की कमी (विशेषतः जीवतिक्ति E की कमी)। ३. जीर्ण वृक्कशोथ, मधुमेह। ४. 'प्रोटोजोवल', 'वैक्टिरियल' तथा धातवीय विषमयता (जैसे फिरंग में) तथा तीव्र औपसर्गिक ज्वर तथा नागविषाक्तता। ५. अतितीव्र सन्ताप। ६. उच्चरक्त-निपीड।

स्थानिक स्थिति—१. श्रोणिगत अङ्गों की विगुणता—जैसे पश्चिम स्थान भ्रंश, गर्भाशय के सौत्रिकार्बुद, बीजग्रन्थि के अर्बुद गर्भाशय ग्रीवा का क्षत, २. गर्भधराकला की विगुणता।

३. **स्त्रीबीजगत (Ovular) हेतु**—१. विकाससम्बन्धी विगुणतायें, विकृत गर्भ (Hydatid form mole) गर्भोदकातिवृद्धि अपरा के विकार। २. पोषकस्तर के प्राकृतिक विकास का न होना—जैसा कि अपरा के नीचे की अवस्थिति में होता है। ३. उत्पादक कोषाणुओं (Germs cells) की जीवनी शक्ति की कमी जिससे गर्भ का शोष (Atropy) अथवा भ्रूणक्षेत्र (Embryonic area) का निर्माण सम्यक् नहीं हो पाता।

४. **अभिघातज**—१. दण्डनीय गर्भस्राव—(Criminal) क. किसी के विजातीय पदार्थ या शल्य का प्रवेश करके अथवा किसी प्रकार के क्षोभक रासायनिक पदार्थ को योनि या गर्भाशय में प्रविष्ट करके। ख. जरायु का विदारण करके। २. गर्भाशय का क्षोभ या क्षत–गर्भाशयपेशी छेदन, (Myomectomy) बीजग्रन्थि छेदन (Oophorectomy) अथवा पश्चिम भ्रंशित गर्भाशय को यथास्थान ले आने में। ३. आवेगों (Emotions) के परिणामस्वरूप गर्भाशय की प्रतिक्रिया। ४. गर्भावस्था के प्रथम तीन मासों के भीतर का मैथुन कर्म।

गर्भस्राव का रूप—प्रथम दो मास में प्रायः गर्भाशय गत पदार्थ एक समूह में निकल जाते हैं। इस अवस्था में परिसरीया–गर्भधराकला (Deciduavera) तथा तलदेशीया गर्भधराकला (Decidua basalis) गर्भाशय में एक लगभग त्रिकोणाकार अवशेष (Cast) निर्माण करती है जिसके हटाने के बाद कौषिकी गर्भधराकला (Decidua capsularis) भ्रूण को आच्छादित करते हुए दृष्टिगोचर होती है। इन अवस्थाओं में गर्भधराकला का गर्भाशयस्थ भाग खुरदरा प्रतीत होता है और इसके विपरीत गुहा के बाहर पड़नेवाला भाग मृदु स्पर्श में होता है।

अन्य अवस्थाओं में कौषिकी गर्भधराकला (Decidua capsularis) विदीर्ण हो जाती है, तथा अविदीर्ण अन्तरावरण तथा बाह्यावरण और कभी–कभी केवल अन्तरावरण से आच्छादित भ्रूण बाहर आता है तथा गर्भधराकला अनुगामिनी होकर बाद में बाहर निकलती है।

निदान में सरलता हो जाती है। सापेक्ष्यनिश्चिति निम्नलिखित रोगों से करनी चाहिये—वहिर्गर्भस्थिति, विकृत गर्भ, गर्भाशयार्श (Uterine polypus), गर्भाशय के आघातजन्य रोग, वीजवाहिनी शोथ (Salpingitis) इनके भेदक लक्षणों का वर्णन स्वतंत्रतया उन उन अध्यायों में किया जायगा।

प्रकार—

गर्भस्राव या पात {
- स्वयमेव या सहज
- आगन्तुक (Induced)
  - क. चिकित्सार्थ
  - ख. दण्डनीय

} —
- अपरिहार्य { पूर्ण, अपूर्ण }
- परिहार्य
- लीन

परिहार्य (Threatened abortion)—इसमें गर्भपात के लक्षण तीव्र नहीं होते, हल्की पीड़ा तथा थोड़ा-थोड़ा रक्तस्राव होता है। अप्रजाता स्त्रियों में परीक्षा करने पर गर्भाशय का वहिर्मुख वन्द रहता है, और प्रजाताओं में डिम्ब का स्पर्श नहीं प्रतीत किया जा सकता। सम्यक् चिकित्सा करने पर गर्भाशय में गर्भ रहकर वृद्धि कर सकता है।

अपरिहार्य (Inevitable abortion)—जब गर्भस्राव की प्रक्रिया को नहीं रोक सकते तो उस प्रकार के गर्भस्राव को अपरिहार्य कहते हैं। जब पीड़ा और रक्तस्राव अधिक होता है, गर्भ और अपरा गर्भाशय से अधिक पृथक् होती है। गर्भाशय का मुख काफी विवृत हो जाता है। डिम्ब गर्भाशय मुख के समीप होता है एवं कभी-कभी गर्भोदक भी निकल जाता है।

पूर्ण (Complete)—जब गर्भ गर्भधराकला एवं जरायु सहित पूर्णतया निकल जाता है तब १. पीड़ा का अभाव रहता है, रक्तस्राव कम होता है, २. गर्भाशय स्पर्श में कठिन तथा स्थितिस्थापकता से हीन (Inelastic) होता और उस काल के अनुसार अपेक्षाकृत बहुत छोटा होता है, ३. ग्रीवा किंचित् विवृत होती है, ४. इस प्रकार का स्राव प्रथम दस सप्ताहों में (गर्भस्थिति के) होती है।

अपूर्ण (Incomplete)—यह प्रायः दसवें से अट्ठाइस सप्ताह तक होता है जब तक कि अपरा पूर्णतः संश्लिष्ट हो जाती है। इन अवस्थाओं में जरायु विदीर्ण होती है तथा गर्भ वाहर निकलता है। लेकिन अपरा कुछ जरायु तथा गर्भधराकला के अवशेषांशों के साथ शेष रह जाती है। वेदना गर्भ के निकलने के

हो पर्याप्त मात्रा में देना चाहिये। जीवतिक्ति 'ई' की पूर्ति के गोधूमाङ्कुरोत्थ तैल का प्रयोग २ बूंद की मात्रा में दिन में दो वार (Wheat germ oil. 2. c. c.) करके करना चाहिये।

३. रोगी को इस प्रकार का आदेश देना चाहिये कि वह अपने प्रत्याशित ऋतुकाल के नियत तिथि के तीन दिन पूर्व से लेकर तीन दिन पश्चात् तक विश्राम करे। रोगी में किसी रेचक औषधि का प्रयोग विशेषतः इस काल में नहीं करना चाहिये।

४. यदि गर्भस्राव के हेतु का पता लग जाय तो गर्भाधान के पूर्व ही उसकी पूरी चिकित्सा कर लेनी चाहिये। यदि गर्भाशय का स्थान भ्रंश, फिरङ्ग अथवा श्रोणिगत रक्तसञ्चय (Pelvic conijestion) प्रभृति रोग हों तो उनका उपचार यथोचित रूप से करे।

५. रुग्णा के उदर और योनिगत परीक्षाओं से (परीक्षा मन्द और मृदु भाव से करे) गर्भस्राव का प्रकार निर्णय करके यह परिहार्य है या अपरिहार्य यथोक्त चिकित्सा का अनुष्ठान करना चाहिये। यदि परिहार्य तो उसको बचाने की चेष्टा करे अन्यथा नहीं करे।

६. यदि गर्भमुख विस्तृत हो, गर्भ का कुछ भाग निकल चुका हो और कुछ ग्रीवा से निकलता दिखलाई पड़ रहा हो तो गर्भाशय को विना किसी विलम्ब के रिक्त कर देना चाहिये। यदि गर्भाशय मुख कम भी विस्तृत हो, यदि रक्तस्राव अनवरत और वेग से चल रहा हो गर्भाशय मृदु और भारी सा प्रतीत हो रहा हो, गर्भाशयस्थ पदार्थ का कुछ भीतर में अवशिष्ट हो तो भी गर्भाशय को रिक्त कर देना चाहिये।

यदि विश्वास हो जाय कि गर्भ की मृत्यु हो गई है तो तत्काल गर्भाशय को रिक्त कर देना चाहिये अन्यथा अतिरक्त स्राव और उपसर्ग का भय माता में रहता है।

विशिष्ट-चिकित्सा

परिहार्य गर्भस्राव की चिकित्सा

१. स्त्री को आराम से विस्तरे पर रखना चाहिये। स्नान, पान, मलमूत्र विसर्जन के लिये उठना, बैठना, चलना, फिरना, कुन्थन आदि कर्मों का वर्णन करना चाहिये। तीव्र विरेचन या वस्ति नहीं देना चाहिये। पथ्य में रोगी को सदा द्रवप्राय भोजन देना चाहिये। इसके लिये दूध, साबूदाना, जौ का यूष,

चावल का गीला भात प्रभृति हल्का भोजन देना चाहिये। भोजन या जल गर्म न देकर ठण्डा करके देना चाहिये।

२. रोगी को अहिफेन के यौगिक देना चाहिये। दो तीन दिनों तक अहिफेन से प्रभावित करके रोगी को रखना चाहिये इसके लिये मार्फिया ¼ ग्रेन की मात्रा में सूचीवेध के द्वारा देना चाहिये। संशामकों में 'ब्रोमाइड्स' का प्रयोग करना चाहिये। जैसे ही रोगी में लक्षण प्रकट हों रोगी को 'प्रोजेस्टेरान' २० मि. ग्रा. की मात्रा में पेशी द्वारा देना चाहिये। यह चिकित्सा तब तक चालू रखनी चाहिये जब तक लक्षण शान्त न हो जायँ। रक्तस्राव के बन्द हो जाने के कुछ दिनों बाद तक भी यथोचित चिकित्सा की व्यवस्था करनी चाहिये। धीरे-धीरे 'प्रोजेस्टरान' की मात्रा को कम करते हुए ५ मि. ग्राम की मात्रा में सप्ताह में तीन बार करके देते रहना चाहिये। लक्षणों के शान्त हो जाने पर भी एक सप्ताह तक रोगी को बिस्तरे पर ही रखना चाहिये, अन्यथा रोग के पुनरावर्त्तन का भय रहता है। इस मिश्रण का प्रयोग भी उत्तम है—लाइकरहाइड्रास आधा ड्राम, चिकचरहायोसाइमस १० बूंद, कैल्शियमलैक्टेट आधा ड्राम—ऐसी दिन में तीन मात्रायें।

अपरिहार्य गर्भस्राव की चिकित्सा—साधारणतया इसमें किसी चिकित्सा की आवश्यकता नहीं होती। यदि प्रकृति के ऊपर छोड़ दिया जाय तो वह स्वयं बिना किसी उपद्रव के पूर्ण कर देती है।

प्रकृति के कार्य में हस्तक्षेप निम्न अवस्थाओं में करना चाहिये। (१) यदि रक्तस्राव अत्यधिक हो रहा हो, (२) यदि भ्रूण गर्भाशयमुख में आ गया हो, (३) यदि मन्द रक्तस्राव सप्ताहों से चल रहा हो और गर्भिणी निर्बल हो गई हो। (४) यदि निकले हुए पदार्थों की परीक्षा के आधार पर गर्भस्राव अपूर्ण सिद्ध हो रहा हो, (५) यदि रक्ताल्पता और उपसर्ग की उपस्थिति लक्षणों से ज्ञात होती हो, (६) यदि गर्भाशय के आकुञ्चनों की अल्पबलता प्रतीत होती हो।

इस अवस्था में यदि रक्तस्राव अत्यधिक हो रहा हो तो एक मात्र चिकित्सा गर्भाशय को रिक्त करना ही है। गर्भाशय को रिक्त करने की विधियाँ ग्रीवा की विस्तृति की मात्रा तथा रक्तस्राव की अवस्था के ऊपर निर्भर करती हैं। विधियाँ निम्नलिखित हैं:—

अपूर्ण अपरिहार्य गर्भस्राव की चिकित्सा—तीन ही मूल सिद्धान्तों का

अनुसरण करना चाहिये । १. उपसर्ग से रक्षा, २. अत्यधिक रक्तस्रुति से बचना, ३. गर्भाशय को पूर्णतया रिक्त करके उसके संवरण (Involution) को प्राप्त करना।

गर्भावस्था के प्रथम तीन मासों में यदि परिस्थिति अनुकूल हो तो उपचार का सर्वोत्तम उपाय लेखन-यन्त्र (Blunt flushing curette) से लेखन (खुरच) करके गर्भ का स्राव कराना है। अन्यथा गर्भाशय मुख की विस्तृति के ऊपर चिकित्सा की विधियाँ भिन्न-भिन्न हो जाती हैं।

(क) यदि गर्भाशय में दो अङ्गुलियों का प्रवेश हो सके—रुग्णा को उत्तान शयन कराके 'क्लोरोफार्म' देकर निःसंज्ञ कर ले। हाथ तथा बाह्यजननेन्द्रियों का भली प्रकार विशोधन कर ले। मूत्रनाड़ी के द्वारा मूत्राशय को खाली कर ले। उत्तर वस्ति (Douche) देकर योनि को प्रक्षालित कर ले।

तत्पश्चात् जीवाणु-विरहित अङ्गुलित्राणक (दास्ताने) को हाथ में पहन कर एक या दो अङ्गुलि को गर्भाशय के अन्दर प्रविष्ट करे। दूसरे हाथ को उदर पर रख कर गर्भाशय को पकड़ कर स्थिर कर ले। अङ्गुलियों को गर्भ (Ovum) के ऊपर ले जाकर उसे धीरे-धीरे गर्भाशय की दीवाल से पृथक् करके निकाल ले।

बीज का पृथक्करण
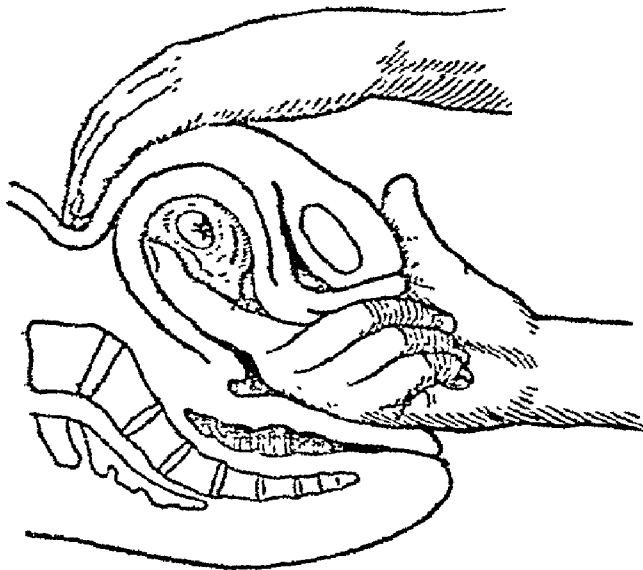
चित्र ९७

यदि इससे सफलता न मिले तो बीजसंदंश (Ovumforceps) या

लेखनयन्त्र का प्रयोग करे। जब गर्भाशय पूर्णतया रिक्त हो गया, ऐसा विश्वास हो जाय तो द्विमुखा गर्भाशयगा नाडी (Doublechannel Intra uterine catheter) से गर्भाशय के प्रक्षालन करना चाहिये। तत्पश्चात् पीयूषसत्व (Pitutary extract) का सूचिका भरण करना चाहिये अथवा 'अर्गामिट्रीन' (Ergometrin 5 Mg) या 'पिटोसिन' (Pito cin 5 units) देना चाहिये।

(ख) यदि गर्भाशयमुख में दो अङ्गुलियाँ न जा सके—रुग्णा को पूर्ववत् तैयार करे इसके बाद ग्रीवाकर्षक यन्त्र (Volsellum) या गोली संदंश (Bullet forcep) से ग्रीवा को पकड़ कर (Cervix) नीचे खींच ले। अब वर्त्ति (Gauze) एक लम्बे से टुकड़े को लेकर गर्भाशय में जितनी दूर तक जा सके उसे अन्दर में डाले, फिर ग्रीवा को वर्त्ति से भर दे। योनि को भी वर्त्ति से मजबूती से भरे। वर्त्ति के स्थान पर भीगे हुए विशोधित रुई की कवलिका से भी योनि को भरा जा सकता है। योनि के कोणों को भी वर्त्ति से पूरित कर दे। फिर एक कौपीन बन्ध लगाकर उसको स्थिर कर दे। आठ से दस घण्टे के अनन्तर पट्टी को खोले। इस क्रिया से गर्भवर्त्ति के ऊपर पड़ा मिल सकता है। फिर भी गर्भाशय मुख को दो अङ्गुल प्रवेश हो सके इस प्रकार की विस्तृति आवश्यक है। इस वर्त्ति पूरण के बाद सदैव गर्भाशय का प्रक्षालन आवश्यक है।

इस विधि से चिकित्सा करने में उपसर्ग का भय रहता है अतः ग्राही, जीवाणु-विरहित तथा जीवाणुविरोधि उपक्रमों का ध्यान रखना चाहिये।

(ग) यदि गर्भाशय ग्रीवा सर्वथा बंद हो और रक्तस्राव घातक हो तो रुग्णा को क्लोरोफार्म सुंघाकर 'हेगार' के विस्तारक से गर्भाशय ग्रीवा को चौड़ा करके गर्भ को अङ्गुलि के सहारे लेखनयंत्र के द्वारा लेखन करके (खुरच कर) निकाल लेना चाहिये।

इस विधि से गर्भाशय को रिक्त करने के बाद विशोधित ग्लिसरीन और 'डेटाल' सम परिमाण में लेकर उसमें वर्त्ति को भिगोकर उस वर्त्ति से गर्भाशय को भर देना चाहिये।

बड़े बड़े चिकित्सालयों में (ख) और (ग) में कथित अवस्थाओं में योनि-मार्ग से गर्भाशय भेदन (Vaginal hysterotomy) नामक शस्त्रकर्म से चिकित्सा की जा सकती है।

उपसृष्ट गर्भस्राव की चिकित्साः—यदि गर्भाशयगत पदार्थ उपसर्ग युक्त हो (Septic) तो सिद्धान्ततः उसको स्वयमेव निकल जाने देना चाहिये। किसी प्रकार की वाह्य साधनों के सहायता से उसको रिक्त नहीं करना चाहिये।

गर्भाशय से निकले हुए पदार्थों की परीक्षा करके इस बात का निश्चय करना चाहिये कि उपसर्ग किस प्रकार का है दूषित करने वाले कौन से कीटाणु हैं। इसके ऊपर ही चिकित्सा में किस प्रकार की ओषधि के प्रयोग से लाभ होगा निर्णय किया जा सकता है। ओषधियों में शुल्व (Sulpha) का प्रयोग लाभ-प्रद होगा या 'पेन्सिलीन' अथवा उससे भी बढ़कर किसी बड़े तृणाणुनाशक 'अरियोमायसिन' या 'टेरामाइसिन' का। इस निर्णय पर पहुंचते हुए देर हो सकती है; परन्तु विलम्ब रोगी के लिये घातक हो सकता है। अतः शीघ्रता से तब तक किसी 'शुल्वौषधि' का योग देना आरम्भ कर देना चाहिये।

कई वार गर्भाशयस्थ पदार्थों को निकालने में चिकित्सक को सक्रिय भाग भी लेना पड़ता है। विशेषतः उस समय जब ग्रीवा पूर्णतया विकसित हो, उदय लेने वाला गर्भ आसानी से अंगुलियों के सहारे अथवा बीज संदंश (Ovumforcep) से निकाला जा सकता हो तो उसको निष्कासित कर देना चाहिये। पूर्व कथित दूसरे उपाय से भी निकाल सकते हैं अर्थात् ग्रीवा को ग्रीवाकर्षक यन्त्र से स्थिर कर उदर पर हाथ रख कर गर्भाशय स्कन्ध को दबाकर अंगुलियों की सहायता से निकाल सकते हैं। इन कर्मों में उपसर्ग के फैलने का भय रहता है. इन यन्त्र कर्मों को सावधानी से करना चाहिये। लेखन कभी न करे क्योंकि उसके द्वारा रस-वाहिनियों के जरिये उपसर्ग के फैल जाने से जीवाणुमयता (Septicaemia) की उत्पत्ति का भय रहता है।

इसके अतिरिक्त पूर्व कथित ग्रीवा विस्तारक का प्रयोग योनिगत गर्भाशय-भेदन (Vaginal hysterotomy) तथा योनि द्वारा 'ग्लिसरीन' के अन्तर्भरण के द्वारा भी चिकित्सा की जा सकती है।

गर्भाशयान्तर्गत गर्भ की मृत्यु
(Intra uterine death of the foetus)

कठिन प्रसव और पीडन आदि कारणों की उपस्थिति से प्रसवकाल में बहुत से शिशुओं के मृत्यु हो जाती है, इसके अतिरिक्त बहुत बार प्रसव प्रारम्भ होने के

पूर्व ही गर्भाशय के भीतर में ही बालक मर जाता है। सामान्यतया मरने के बाद ऐसे गर्भ स्वयमेव गर्भाशय से निकल जाते हैं। अपवाद रूप में कई बार ये नहीं निकल पाते और गर्भाशय के भीतर महीनों तक पड़े रह जाते हैं।

इस प्रकार के प्राक्-प्रसव बालमृत्यु के कई कारण हो सकते हैं। जैसे—

१. विष प्रभाव—(क) विषमज्वर, फिरंग प्रभृति उपसर्ग (Infeetions)। (ख) रासायिनिक विष, मद्य तथा नाग प्रभृति। (ग) अत्युच्च तापक्रम। (घ) सार्वदैहिक रोग—जीर्ण वृक्कशोथ, शुक्लीमेह, मधुमेह और उच्च-रक्त निपीड प्रभृति।

२. अपरागत रक्तावरोध—अपरा के बड़े भाग का एक साथ विच्युत होना, विस्तृत रक्तस्कन्दन (Extensive thrombosis), अपरा का श्वेत अन्तःशल्यता (Infarction)।

३. गर्भ का विकृतनिर्माण (Malformation) जैसे बहु ग्रन्थियुक्त वृक्क।

४. गर्भ का प्रत्यक्ष अभिघात।

५. कालातीत प्रसव (Post maturity)।

६. रक्तगत असमानता (Rhesus icompatibility)।

यदि Rh अस्त्यात्मक पुरुष Rh नासात्यात्मक स्त्री के साथ संयोग करता है तो गर्भ Rh अस्त्यात्मक बनता है। ऐसी स्थिति में माता के रक्त में आत्मरक्षा के लिये एक Rh विरोधी तत्त्व का निर्माण (Anti Rh agglutinins) होता है। तत्त्व जब माता के रक्त से अपरा के द्वारा गर्भ के शरीर में पहुंचता है—गर्भगत रक्तकण उसके प्रभाव से नष्ट (Haemolysis) होने लगते हैं। इसके प्रभाव से या तो बच्चे का अकाल प्रसव होता अथवा गर्भाशय में ही उसकी मृत्यु हो जाती है। इस अवस्था में कई बार पहले गर्भ की तो रक्षा हो जाती है; परन्तु परवर्त्ती दूसरे तीसरे गर्भस्थितियाँ अवश्य नष्ट हो जाया करती हैं।

७. अज्ञात कारण—५०% अवस्थाओं में रोग का कारण ठीक नहीं ज्ञात हो पाता। तथापि उनमें फिरंग आदि का शोध करके देखना चाहिये।

विकृत शरीर—इस अवस्था में बच्चे मरे और दुर्बल तथा मृदु पैदा होते हैं-त्वचा झुर्रिदार और गुलाबी भूरे रंग की होती है क्योंकि रक्तरञ्जक (Blood pigments) का शोषण हो गया रहता है। पूरा शरीर मुलायम और ढीला (Toneless) होता है; करोटि की अस्थियाँ शिथिल हो जाती और हिलायी

जा सकती है। गर्भोदक तथा अन्य शरीर गत जलावकशों में तरल के साथ रक्तरञ्जक पदार्थों की उपस्थिति भी रहती है। गर्भ शरीर में किसी प्रकार की बदबू नहीं रहती।

यदि मृद्वीभवन (Maceration) नहीं हुआ तो गर्भाशय के भीतर का मृत गर्भ सूखने लगता है और कुछ ही दिनों पूर्णतया सूख कर उपशुष्क (आयुर्वेद) का रूप ले लेता है। इस अवस्था को अवपीडित (Foetus-compressus) या उपविष्टक (Foetus papyraceus) कहते हैं। आम तौर से ऐसा यमलगर्भों में मिलता है जब कि एक बच्चा मर जाता है वह कुछ काल तक गर्भाशय में ही पड़ा रहता है और स्वस्थ बच्चा जरायु के साथ ही जन्म लेता है।

लक्षण तथा निदान—कई दिनों तक गर्भ की गतियों का अनुभव नहीं होता, स्तन का परिमाण तथा स्पर्शनाक्षमता कम हो जाती है। हृल्लास और वमन यदि रुग्णा में हो तो वे भी बन्द हो जाते हैं। कई निश्चित चिह्न भी मिल सकते हैं।

१. गर्भ के हृच्छब्द का अभाव।

२. गर्भाशय की क्रमिक वृद्धि का अभाव।

३. गर्भाशय का बढ़ने के बजाय पर छोटा होना। गर्भोदक के शोषण होने के कारण गर्भाशय का आयाम घट जाता है।

५. गर्भाशय की स्थितिस्थापकता का कम होना।

६. योनिपरीक्षा के द्वारा—रक्त के परिवर्त्तनों के कारण ग्रीवा का श्लेष्मलस्राव भूरे (Brown) रंग का होता है।

७. 'क्ष'किरण से देखने पर करोटि की अस्थियाँ एक दूसरे को ढकती हुई दिखलाई पड़ेगी।

८. गर्भ की मृत्यु के एक सप्ताह के भीतर जैविक (Biological) परीक्षायें नास्त्यात्मक मिलेंगी।

९. माता के रक्तगत क्षेत्रसंजनरस (Oestrogen) की मात्रा गर्भाशयगत गर्भ की मृत्यु हो जाने पर घट जाती है।

१०. गर्भस्थ शिशु की मृत्यु का निदान बड़ा कठिन होता है—अतः रोगी को कुछ दिनों तक अपने निरीक्षण में रख कर बाद में निदान की घोषणा करनी चाहिये; केवल रोगी के कथनानुसार ही शीघ्रता में निदान नहीं करना चाहिये।

चिकित्सा—अधिकतर रोगियों का गर्भस्थ शिशु की मृत्यु के बाद ही प्रसव हो जाता है। बहुत से ऐसे भी रोगी मिलेंगे, जिनमें गर्भ की मृत्यु के चिह्न उपस्थित रहते हैं, तथापि कई सप्ताहों तक उनका स्वयमेव प्रसव नहीं होता। इस दशा में भी चिकित्सक के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि रोगी के स्वास्थ्य पर उसका कोई बुरा असर नहीं पड़ता। कई बार गर्भान्त (Termination) की आवश्यकता भी उपस्थित हो जाती है।

इसके लिये 'स्टिल्वे स्टाल' ५ मिली ग्राम की मात्रा में प्रति घण्टे, छः अन्तर्भरण (Injection) करके; एरण्डतैल क्विनीन अथवा 'पिटोसिन' देकर गर्भाशय को रिक्त करना चाहिये। प्रसव हो जाने के बाद प्रसवोक्त विधियों के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

षष्ठ अध्याय

मशक गर्भ

(Molar Pregnancy)

मांस गर्भ—गर्भस्थिति के प्रारम्भिक मासों में डिम्ब (Ovum) की मृत्यु हो जाती है। इसके नाश के परिणाम स्वरूप कुछ अज्ञात कारणों से वहाँ (गर्भधराकला और जरायु के अवकाश) पर रक्तस्राव होने लगता है। यह रक्तस्राव माता के रक्त से होता है। यदि रक्तस्राव तीव्र स्वरूप का हुआ तब तो गर्भस्राव हो जाता है। यदि रक्तस्राव विस्तृत या तीव्र हो तो रक्तस्राव डिम्ब के चारों ओर होता है। बहिर्जरायु तथा कोरकाङ्कुर कम नष्ट होते हैं। रक्तस्राव असमान रूप में फैल कर अन्तर जरायु का उभार पैदा कर देता है। यह उभार नियमित न होकर अनियमित स्वरूप का होता है। इस प्रकार से बाहर निकला हुआ रक्त, वर्द्धनशील डिम्ब के पोषण का अवरोध कर देता है और डिम्ब मर जाता है।

इस मृत डिम्ब को मांस गर्भ (Carneous mole) कहते हैं। इस प्रकार का मृत डिम्ब कई सप्ताहों तक गर्भाशय में पड़ा रह सकता है। डिम्ब के चारों ओर के रक्त और द्रव के शोषित हो जाने कारण उसकी दीवालें बहुत मोटी हो

सकती हैं। इसीलिये इसे मांसगर्भ (Fleshy mole) कहते हैं। इस अवस्था में गर्भोदक की अधिकता पाई जाती है।

लक्षण—

१. प्रारम्भ में जब तक डिम्ब की मृत्यु नहीं हुई रहती गर्भावस्था के प्रारम्भिक सभी चिह्न मिलते हैं।

२. रोगारम्भ के साथ अल्पमात्रा में योनिगत रक्तस्राव होता है जिससे परिहार्य गर्भस्राव का भ्रम पैदा हो सकता है। कई बार गुलाबी भूरे रङ्ग का स्राव होता है।

३. गर्भाशयगत पदार्थ कई बार मासों तक नहीं स्खलित होता। स्राव कई सप्ताहों तक चल सकता है।

४. गर्भाशय के रिक्त हो जाने पर भी कई मासों तक आर्त्तवचक्र पुनरावृत्ति नहीं हो पाती। स्त्री में मिथ्यागर्भ के चिह्न विकसित होने लगते हैं।

५. परीक्षा करने पर गर्भाशय प्राकृत से अधिक कठिन और कम लचकीला (Elastic) प्रतीत होता है। उसमें गर्भाशय के आकुञ्चनों की प्रतीति नहीं होती।

६. गर्भाशय बढ़ने के बजाय गर्भोदक के शोषित हो जाने से छोटा भासता है।

७. जैविक परीक्षायें नास्त्यात्मक मिलती हैं।

८. कुछ सप्ताहों से लेकर तीन मासों में अन्ततोगत्वा गर्भ का स्वयमेव स्खलन हो जाता है।

रोगविनिश्चय—सौत्रिकार्बुद से इस रोग का कुछ साम्य होता है-शारीरिक चिह्नों की समानता होती है; परन्तु इतिहास में विभिन्नता तथा प्रचुर मात्रा में रक्तस्राव का वृत्त मिलने से उसको मांसगर्भ से पृथक् कर सकते हैं।

चिकित्सा—मांसगर्भ एक शल्य (Foreign body) का काम करता है। अतः उसका निर्हरण आवश्यक होता है। मांसगर्भ के निर्हरण की आवश्यकता निम्न अवस्थाओं में होती हैं—

१. रोगी का धैर्य नष्ट हो जाने से; २. अनवरत रक्तस्राव; ३. दुर्गन्धयुक्त स्राव तथा ४. ज्वर।

'स्टिलवेस्ट्राल' (५ मि. ग्रा.) का प्रति घण्टे पर ६ बार अन्तर्भरण करके औषध तथा यान्त्रिक विधियों से निर्हरण करना चाहिये।

साधारण से अधिक होने लगती है, जिससे गर्भाशय भित्ति की गहराई में प्रविष्ट होकर कई बार पूरी मुटाई को छेद लेता है और गर्भाशय को छिद्रयुक्त कर देता है।

मूत्र में अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के स्राव उत्स्रष्ट होते हैं, जिससे 'आश्चिम जोण्डेक' प्रतिक्रिया या अत्यधिक व्यक्त मिलती है।

लक्षण तथा चिह्न—१. गर्भावस्था के प्रारम्भिक दिनों में होने पर अल्पकालीन आर्त्तवादर्शन एवं स्तनवृद्धि मिलती है।

२. सामान्य गर्भस्थिति की अपेक्षा गर्भाशय की इस दशा में शीघ्रता से वृद्धि होती है। तीसरे या चौथे मास में देखने पर गर्भाशय छठवें मास के सदृश प्रतीत होगा।

३. कुछ में प्रत्यावर्त्तित (Reflex) लक्षण वमनाधिक्य आदि व्यक्त रहते हैं।

४. गर्भाशय स्पर्श में मृदु और आध्मानयुक्त होता—परन्तु गर्भप्रत्याघात, हृच्छब्द तथा गर्भाङ्गों का अनुभव नहीं होता।

५. कई बार आध्मापित होने से गर्भाशय स्पर्शनाक्षम होता है।

६. अनियमित रक्तस्राव पाया जाता है। किसी-किसी में अल्प और बीच-बीच कुछ दिनों के लिये रुक-रुक कर तथा किन्हीं में अनवरत और प्रचुर मात्रा में स्राव होता है। कई बार स्राव में श्लेष्मल द्रव तथा अंगूर के फलों के समान जलग्रन्थि भी टूट कर निकलते पाये जाते हैं।

७. रोगी में कई बार विषमयता जन्य रोग पूर्व गर्भाक्षेपक आदि मिलते हैं।

रोग विनिश्चय—निम्नलिखित रोगों से इस दशा का भेद करना पड़ता है।

यमल गर्भ में गर्भाङ्ग तथा हृद्शब्दों की उपस्थिति मिलती है। बीजग्रन्थि के अर्बुद से पार्थक्य करने से सार्वदैहिक संज्ञानाशन के पश्चात् निर्णय कर सकते हैं। गर्भोदकातिवृद्धि में गर्भाशय में तरङ्ग प्रतीत होती तथा गर्भप्रत्याघात उपस्थित मिलता है। गर्भाशय स्थितिस्थापक तथा तना हुआ रहता है। परिहार्य गर्भस्राव में गर्भावस्था काफी विकसित मिलता है, रोगी को ठीक तिथि का स्मरण नहीं रहता। गर्भ के चिह्न उपस्थित मिलते हैं।

विकृत गर्भ (Hydatidiformmole)—का निर्णय तब तक विश्वसनीय नहीं माना जा सकता जब तक कि उसमें योनिस्राव में विशेष प्रकार जलीय ग्रन्थियाँ (Cysts) न निकलती दिखलाई पड़ें। यदि इनकी उपस्थिति हो तो निदान कठिन होता है। 'एश्चिमजोण्डेक' की परीक्षा से निदान स्थिर किया जा सकता है। विकृत गर्भ की उपस्थिति में इसकी प्रतिक्रिया उग्ररूप में अस्त्यात्मक होती है।

साध्यासाध्यता—

रक्तस्राव—प्रायः चौथे या पाँचवें मास में ही आम गर्भ का पात हो जाता है। गर्भपात के समय विशेषतः अङ्गुलियों के द्वारा गर्भ को निकालते समय रक्तस्राव का भय रहता है। अत्यधिक रक्तस्राव होने से माता के जीवन को खतरा रहता है।

उपसर्ग—इस अवस्था में गर्भाशय पूर्णतया गर्भ को नहीं निकल पाता। अतः अवशेषांशों को निकालते समय अङ्गुलियों की सहायता लेनी पड़ती है। इस क्रिया में संक्रमण पहुंचने का अत्यधिक भय रहता है।

भक्षण (Erosion)—जब कोरक गहराई में प्रविष्ट होता है तब गर्भाशय की दीवाल इतनी पतली हो जाती है कि उसके विदीर्ण होने का भय रहता है। उसके विदीर्ण होने पर रक्त का संचय उदर्याकला के नीचे होता है। हाथों के जरिये निकालते समय विदारण का भय और अधिक रहता है। जरायु का घातक अर्बुद विकृत गर्भों की स्थिति में इस प्रकार के (Chorion Epithelioma) घातक अर्बुद होने का भय रहता है।

चिकित्सा—विकृत गर्भ की चिकित्सा में गर्भाशय को सावधानी से पूर्णतया रिक्त करना तथा गर्भाशय के आकुंचनों और दृढ़ आकुंचनों को बढ़ाना है। यदि ग्रीवा का पूर्ण विकास हो तो गर्भ को स्वयमेव निकल जाने देना चाहिये। हरेक तरह से यह कोशिश करनी चाहिये कि गर्भ का निष्कासन स्वयमेव हो जाय क्योंकि अङ्गुलि द्वारा रिक्त करने में रक्तस्राव का भय रहता है। 'एरगोमेट्रिन' अथवा 'पिटोसिन' का प्रयोग करना चाहिये। जहाँ तक सम्भव हो इस प्रकार के विकृत गर्भों को ऊपर से दबाकर निकालना उत्तम होता है—खींचकर निकालना उचित नहीं है।

कई वार गर्भाशय में अवशिष्ट भागों को निकालने के लिये आवश्यकता उपस्थित होती है। निकालते समय इस स्थिति में डिम्ब संदंश (Ovumforcep) अथवा लेखनयन्त्रों का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि लेखन के द्वारा गर्भाशय के विदीर्ण और रक्तस्राव होने का भय रहता है।

यदि गर्भाशयग्रीवा विस्तृत न हो और विकृत गर्भ का निदान स्थिर हो चुका हो तो 'हेगार' के विस्तारक से ग्रीवा को विस्फारित करके योनि के द्वारा विकृत गर्भ को निकालना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तो योनिमार्ग से गर्भाशय का भेदन करके भी निकाला जा सकता है। यदि यह विधि भी सम्भव न हो पाई और रुग्णा आर्त्तवनाश (Manopause) के समीप की आयु की हो तो गर्भाशयच्छेदन (Hysterectomy) नामक शस्त्रकर्म के द्वारा गर्भाशय को ही निकाल देना चाहिये। क्योंकि ४० वर्ष से ऊपर वताये गये, घातक अर्बुद के होने की सम्भावना रहती है।

शल्यकर्म के वाद यदि सूतिका स्राव (Lochia)—चार सप्ताह के अनन्तर भी चालू रहे तो गर्भाशय का लेखन करके तद्गत स्राव की नैदानिक परीक्षा के लिये भेजे। विकृत गर्भ के निष्कासन के वाद यह परीक्षा मास में एक वार जरूर करा लेनी चाहिये। परीक्षा नास्त्यात्मक रहे तो कोई चिन्ता का विषय नहीं है। यदि वारह सप्ताह के वाद यह परीक्षा अस्त्यात्मक हुई और उसमें भावी घातकार्बुद की सम्भावना मिली तो सम्पूर्ण गर्भाशय को निकाल देना ही बुद्धिमानी है। प्राचीन शास्त्रीय वर्णनों के लिये अगला अध्याय स्वतंत्र दिया जा रहा है।

आधार ग्रन्थ—

'जिलेट' 'टेनटीचर्स' तथा 'जौन्सटन' की मिडवाइफरी।

उपर्युक्त गर्भों के लिये आयुर्वेद के ग्रन्थों में इस प्रकार का वर्णन पाया जाता है।

गर्भस्राव तथा पात—'जैसे कीड़े के खाने, वायु के लगने तथा चोट के पहुंचने से फल अकाल में ही गिर जाते हैं, वैसे ही उपद्रवों से युक्त होकर गर्भ भी अकाल में ही गिर पड़ता है।' कई बार उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त भय और तीक्ष्ण एवं उष्ण पदार्थों के सेवन से भी पीड़ा के साथ रुधिर का स्राव होकर गर्भपात हो जाता है।

चार मास तक का गर्भ गिरे तो उसे स्राव (गर्भस्राव) कहते और उसके पश्चात् शरीर के स्थिर हो जाने पर पाँचवें या छठे मास में गिरने को गर्भपात कहते हैं।

लक्षण—पूर्वोक्त कारणों से यदि गर्भ गिरने लगे तो गर्भाशय, कटि, वंक्षण, बस्ति इन स्थानों में पीड़ा और योनि से रक्तस्राव होता है।

चिकित्सा—विश्राम, शीतल परिषेक, अवगाहन, बाह्यप्रलेपों से बाह्योपचार करे तथा आभ्यन्तरीय उपचार के लिये निम्नलिखित विधियों को अपनावे। गर्भ के स्फुरण में उसको शान्त करने के लिये उत्पलादि गण की ओषधियों से सिद्ध क्षीर का पान कराना चाहिये।

गर्भस्राव के काल में (Threatened Abortion)—पार्श्व एवं पृष्ठ में दाहयुक्त शूल होता है, योनि से रक्तस्राव, आध्मान और मूत्रावरोध पाया जाता है। गर्भ के एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते समय कोष्ठ में खलबली मच जाती है, इसकी शीतल और स्निग्ध चिकित्सा करनी चाहिये। वेदना की उपस्थिति में माषपर्णी, मुद्गपर्णी, मुलैठी और गोखरू इनसे सिद्ध दूध में खांड और मधु मिलाकर पिलाना चाहिये। मूत्रावरोध में दर्भादि सिद्ध (तृण पंचमूल सिद्ध) क्षीर को पिलावे। आनाह में हींग, सौवर्चल-लवण, लहसुन और वच से सिद्ध दूध पिलावे। अत्यधिक रक्तस्राव होने पर कोष्ठागारिका नामक कीड़े के घर की मिट्टी, मंजीठ, धाय के फूल, वनमल्लिका के फूल, गेरू, राल, रसाञ्जन इनमें से जितने भी द्रव्य मिले उनका चूर्ण मधु के साथ चटावे। अथवा न्यग्रोधादि वृक्षों की त्वचा अथवा उनके अंकुरों के कल्क को दूध के साथ पिलावे। अथवा उत्पलादि गण की ओषधियों के कल्क को, कसेरू (सिंघाड़ा) तथा कमलकन्द के कल्क को उबाले

हुए दूध के साथ पिलावें। अथवा शालिधान्य के पिष्ट को शर्करा और मधु से मधुर किये गये गूलर के फल के साथ या (कमलादि) जलकन्द के क्वाथ के साथ पिलावे अथवा न्यग्रोधादि वृक्षों के स्वरस में भिगोये हुए कपड़े को योनि में धारण करावे। रक्तस्राव के बिना पीड़ा होने पर मुलैठी, देवदारु, मजीठ और क्षीरकाकोली इनसे सिद्ध दूध का पान करावे। अथवा पाषाणभेद, शतावरी क्षीरकाकोली से सिद्ध अथवा विदारी गन्धादिगण से सिद्ध दूध पिलावे। अथवा छोटी बड़ी कटेरी, नीलोत्पल, शतावरी, अनन्तमूल, क्षीरकाकोली और मधुयष्टि से सिद्ध क्षीर पिलावे।

उपर्युक्त शीतल और ग्राही चिकित्सा के परिणाम स्वरूप गर्भस्रावजन्य स्त्री की वेदनायें नष्ट होती हैं—गर्भ की वृद्धि पुनः ही प्रारम्भ हो जाती है। गर्भ के व्यवस्थित हो जाने पर गर्भिणी को खाने के लिये कच्चे गूलर से सिद्ध किये गाय के दूध के साथ भोजन देना चाहिये।

यदि गर्भ गिर जाय (Inevetable Abortion) उसकी रक्षा न हो सके तो पाचन ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। दीपनीय औषध गुण और अरिष्ट पिलाना चाहिये। अथवा केवल तीव्र मद्य पिलाना चाहिये। गर्भाशय के शोधक तथा पीडा के शमन के लिये लघुपञ्चमूल से सिद्ध रूक्ष पेया पिलानी चाहिये। यदि रोगी मद्य पीने वाला न हुआ तो पंचकोल से सिद्ध पेया पिलानी चाहिये। बिल्वादि पंचमूल से बने क्वाथ में तिल, उद्दालक तण्डुल (कोदो के चावल) के साथ खिलाना चाहिये। इस प्रकार लघु और दीपनीय ओषधियों का प्रयोग बिना स्नेह और लवण के करना चाहिये। इस क्रम को जितने मास का गर्भपात हुआ हो उतने दिनों तक प्रयोग करना चाहिये। इससे गर्भकोष्ठ पूर्णतया शुद्ध हो जाता है।

चरक ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ गर्भपात की चिकित्सा बतलाई गई है। लिखा है यदि गर्भिणी को अचानक योनि से रक्तस्राव होने लगे तो उसे पुनः स्थापना की शीघ्र व्यवस्था करनी चाहिये।

१. रुग्णा को तत्काल पूर्ण विश्राम करावे। उसके लिये मृदु, शिशिर और संस्तीर्ण बिस्तर पर सुला देना चाहिये। चारपाई का पैताना-ऊँचा करके रखना चाहिये ताकि उसका सिर कुछ नत हो जाय।

२. उसके नाभि के नीचे के भाग पर शतधौत या सहस्रधौत घृत का लेप करे, परम शीतल जल में रखे हुए घी और मधुयष्टि के कल्क का लेप करे। गाय के

दूध, मुलैठी के शीतल कषाय, अथवा न्यग्रोधादि गण की ओषधियों से सिद्ध कषाय के द्वारा परिषेक करे।

३. अथवा इसी जल में गर्भिणी के अधोभग अवगाहन (डुबोना) करे।

४. क्षीरी वृक्षों के कषाय को शीतल कर उसमें कपड़ा भिगोकर उसकी पट्टी रखे।

५. न्यग्रोधादि गण की ओषधियों से सिद्ध घृत या क्षीर की पिचुकायोनि में धारण करे।

६. रुग्णा को क्रोध, शोक, परिश्रम, मैथुन प्रभृति अपचारों से बचावे।

७. मनोनुकूल बातों से कथा प्रसंगों से उसको सन्तुष्ट रखना चाहिये।

८. इसके अतिरिक्त विभिन्न शीतल, बृंहण, स्निग्ध ओषधियों से युक्त क्षीर पीने को दे।

९. **मांसरसों में**—घी में पकाये गये लावा, कपिञ्जल (गौरैया), कुरंग (हरिण विशेष), शम्बर (बारह सिंगा), शशक, (खरगोश), हरिण, एण (काला हरिण) कालपुच्छक (हरिण जिसकी पूंछ काली हो गई हो) इन पशु-पक्षियों के मांसरसों को चावल के साथ खाना चाहिये।

१०. शोधन को छोड़कर रक्तपित्त की पूरी बाह्य तथा आभ्यन्तर चिकित्सा करनी चाहिये।

कई ग्रन्थों में मासानुमासिक क्रम से चिकित्सा का विधान मिलता है। प्रथम मास में गर्भ को क्षोभ हो, स्राव या पात की सम्भावना हो किन ओषधियों का प्रयोग करे तथा दूसरे तीसरे अथवा परवर्ती मासों में स्राव की आशंका हो तो किन योगों को बरते इसका विशद उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। यहाँ पर एक सामान्य क्रम उल्लेख किया जा रहा है।

मासानुमासिक औषध क्रम—

प्रथममास में—मधुयष्टि, सागवान का बीज, क्षीरकाकोली, देवदारु।

द्वितीयमास में—पाषाणभेद, काली तिल, मजीठ, शतावर।

तृतीयमास में—वृक्षादनी, विदारी, प्रियंगु, गुडूची, अनन्तमूल और चन्दारु।

चतुर्थमास में—अनन्तमूल, कृष्ण सारिवा, रास्ना, पद्मा, मधुयष्टि, श्वेत सारिवा, रास्ना, भारंगी मधुयष्टि।

पञ्चममास में—छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गम्भारी, क्षीरी वृक्षों के अंकुर, त्वक्घृत।

षष्ठमास में—पृष्ठपर्णी, बला, शोभाञ्जन, गोखरू, गुडूची, मधुपर्णी।

सप्तममास में—सिंघाड़ा, बिस (कमल मूल), मुनक्का, कसेरू, मुलैठी, खांड।

अष्टममास में—कपित्थ, बिल्व, बड़ी कटेरी, बेल, पटोल, ईख की छोटी कटेरी।

नवममास में—मधुयष्टि, अनन्तमूल, क्षीरकाकोली, कृष्ण सारिवा अथवा सोंठ, मधुयष्टि, देवदारु।

उपर्युक्त औषधियों से सिद्ध क्षीर का प्रयोग करना चाहिये। पथ्य में लाल चावल का भात और दूध या पूर्वकथित मांसरसों को देना चाहिये।

रसौषधियाँ—गर्भपाल रस का प्रयोग अपराजिता स्वरस के साथ करने से गर्भ का स्तम्भन होता है। परिहार्य गर्भस्राव में इसका प्रयोग उत्तम है।

विकृत गर्भ—कई प्रकार गर्भावस्था की विकृतियों का वर्णन भी प्राचीन ग्रन्थों मिलता है। वे निश्चित रूप से पूर्व कथित पाश्चात्य वैज्ञानिकों की परिभाषा के अनुसार विकृत गर्भ ही हैं। तथापि उनका निश्चित पर्याय देना कठिन है।

गर्भाशयस्थ मृत गर्भ (Intra uterine death of the foetus)-को उपशुष्कक या उपविष्टक के वर्ग में रख सकते हैं। लीन गर्भ का वर्णन बहुत कुछ लीन गर्भस्राव (Missed Abortion) से सादृश्य रखता है। इसी प्रकार मांसगर्भ (Carneous mole) का वर्णन भी लीन गर्भ से ही मिलता-जुलता है। कहना कठिन है कि इनमें लीन गर्भ कौन-सा है और उपशुष्कक कौन-सा। तथापि पर्याय कथन में सुविधा लाने के लिये 'मिस्डएबोरशन' को लीन गर्भ तथा 'कार्नियस मोल' को नागोदर कह सकते हैं। यहाँ पर प्राचीन आचार्यों के मौलिक शब्दों में इन रोगों का उल्लेख नीचे किया जा रहा है:—

लीनगर्भ—जिस गर्भिणी का गर्भवातोपस्तब्ध होकर स्रोतस में लीन (विलीन) हो जाता है। वह प्रसुप्त हो जाता है उसमें स्पन्दन नहीं होता। वह बहुत काल तक गर्भाशय में रह कर नष्ट हो जाता है।

उपचार—१. मृदु, स्निग्ध उपचार करे। उत्क्रोश के मांसरस से साधित यवागू को पर्याप्त स्निग्ध करके पिलावे। उड़द, तिल, बिल्व शलाटु से साधित कुल्माष खिलावे और पश्चात् सात दिनों तक मधु माध्वीक पिलावे। २. गर्भिणी को चाहिये कि अधिक काल तक रहने वाले गर्भ में हलचल पैदा करने के लिये वह उलूखल में धान्य डाल कर कूटे अथवा विषमासन पर बैठा करे।

उपशुष्कक—यदि गर्भ का पोषण ठीक न हो तो वह सूख जाता है अथवा स्रवित होकर वह जाता है। ऐसे गर्भ का प्रसव गर्भिणी बहुत काल के पश्चात् करती है। ऐसा गर्भ कई वर्षों के बाद हृष्ट-पुष्ट होकर जन्म लेता है। इसी उपशुष्कक को नागोदर कहते हैं।

गर्भनाड़ी के प्रवाह के रुद्ध होने तथा रस की अल्पता से गर्भ का चिरकाल में वृद्धि होती है। गर्भिणी के अकाल भोजन का परिणाम भी इसी रोग में होता है। इसमें अपेक्षाकृत कुक्षि (उदर या गर्भाशय) पूरा भरा (बढ़ा) हुआ नहीं मिलता गर्भ का स्पन्दन भी मन्द होता या नहीं होता है।

उपविष्टक—जिस गर्भवती का गर्भ बढ़ा हो चुका हो और मांसादिक धातुओं के स्तर बन चुके हों, वह यदि गर्भकाल में वर्ज्य पदार्थों का त्याग न करे तो उसके योनि से स्राव होने लगता है। जिसके कारण वायु कुपित होती है और पित्त एवं कफ को पकड़ कर गर्भ की रसवह-नाड़ी का पीड़न करते हुए स्थिर हो जाती है। पुनः गर्भ-नड़ी में दोष जाकर उसका अवरोध उसी प्रकार पैदा करते हैं, जिस प्रकार क्यारी के नालियों के मुख में पत्तियाँ गिर कर उसका अवरोध कर देती हैं। परिणाम स्वरूप गर्भ तक रस का संवहन सम्यक् भाव से नहीं हो पाता और गर्भ का पोषण नहीं हो सकता। फलतः गर्भ बैठ जाता है (उपविष्टक) या सूख जाता है (उपशुष्कक) उपविष्टक में गर्भिणी के उदर की वृद्धि रुक जाती है।

चिकित्सा—उपविष्टक तथा नागोदर (उपशुष्कक) दोनों अवस्थाओं में भूतोन्माद की चिकित्सा में कथित महापैशाचिक घृत का सेवन, वचा गुग्गुलु आदि के प्रयोग तथा जीवनीय बृंहणीयगण की ओषधियों से सिद्ध घृतों का उपयोग करना चाहिये। ये सभी मधुर और वातघ्न होते हैं—इनके उपयोग से गर्भ का पुनः पोषण होकर गर्भ-शोष के दूर होने की आशा रहती है।

नागोदर की चिकित्सा में तो योनि-व्यापद में निर्दिष्ट गर्भ की वृद्धि करने वाले क्षीरों का, आमगर्भों (पक्षियों के अण्डों) का तथा अन्य गर्भवृद्धिकर योगों का सेवन करना चाहिये। भूख लगने पर इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध घृतों से संस्कृत भोजन का सेवन भी करना चाहिये। निरन्तर यान (गाड़ी आदि की सवारी), वाहन (घोड़े ऊँट आदि की सवारी), अवमार्जन (स्नान अभ्यङ्गादि), अवजृम्भण, प्रसारण तथा प्रिय एवं आश्वासन देने वाले बचनों से ऐसी गर्भवती का उपचार करना चाहिये।

जिस गर्भिणी का गर्भ सोया रहता है, स्पन्दन नहीं करता उसे श्येन (बाज), मछली, गवय, तीतर, मुर्गा, मोर में से किसी एक का मांसरस प्रचुर घृत से संयुक्त करके देना चाहिये। अथवा उड़द का यूष, मूली का यूष भी प्रचुर मात्रा में घी डाल कर दे। इस यूप के साथ रुग्णा को खाने के लिये शालि चावल का गीला भात भी देना चाहिये। पेट, वंक्षण, उरु, कमर, पार्श्व तथा पीठ पर निरन्तर उष्ण तैल की मालिश करे।

गर्भ के क्षय होने पर कुक्षि का पिचक जाना तथा गर्भ में स्पन्दन का न होना मिलता है। गर्भिणी को हरिण, बकरी, भेंड़ तथा शूकरों के गर्भस्थित बच्चों को सविध पकाकर खाने की इच्छा होती है। इसी प्रकार वसा और मांस के बने हुए कबाब आदि पदार्थों को भी खाना चाहती है।

आयुर्वेदोक्त इन मृत गर्भों का वर्णन निम्नलिखित तीन अवस्थाओं से बहुत सादृश्य रखता है—

१. लीनगर्भ—Macerated foetus से।

२. उपशुष्कक—Mummified foetus से।

३. उपविष्टक—Compressus foetus से।

आधार तथा प्रमाण सञ्चय—

गर्भस्रावपात—कृमिवाताभिघातैस्तु तदेवोपद्रुतं फलम्।
पतत्यकालेऽपि यथा तथा स्याद्गर्भविच्युतिः॥
आचतुर्थात्ततो मासात् प्रस्रवेद् गर्भविच्युतिः।
ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः॥ (सु० नि० ८)
भयाभिघातात्तीक्ष्णोष्णपानाशननिषेवणात्।
गर्भे पतति रक्तस्य स शूलं दर्शनं भवेत्॥ (मा० नि०)

चिकित्सा—

परिहार्य—गर्भिण्याः परिहार्याणां सेवया रोगतोऽथवा।
पुष्पे दृष्टेऽथवा शूले बाह्यान्तः स्निग्धशीतलम्॥
सेव्याम्भोज-हिम-क्षीरि-वल्कक्ल्काऽज्यलेपितान्।
धारयेद्योनिबस्तिभ्यामार्द्रार्द्रान् पिचुनक्तकान्॥
शतधौतघृताक्तां स्त्रीं तदम्भस्यवगाहयेत्।
ससिताक्षौद्रकुमुद-कमलोत्पलकेसरम्॥

पिबेत्कान्ताब्जशालूक–वालोदुम्बरवत्पयः ॥
शृतेन शालिकाकोली–द्विवलामधुकेक्षुभिः ।
पयसा रक्तशाल्यन्नं मद्यात्समधुशर्करम् ॥
रसैर्वा जाङ्गलै············(अ० हृ० शा० २)

अपरिहार्य—गर्भे निपतिते तीक्ष्णं मद्यं सामर्थ्यतः पिबेत् ॥
गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमर्त्तिविस्मरणाय च ।
लघुना पञ्चमूलेन रुक्षां पेयां ततः पिबेत् ॥
पेयाममद्यपा कल्के साधितां पाञ्चकौलिके ।
विल्वादिपञ्चकक्काथे तिलोद्दालकतण्डुलैः ॥
मासतुल्यदिनान्येवं पेयादिः पतिते क्रमः ।
लघुरस्नेहलवणो दीपनीययुतो हितः ॥ (अ० हृ० शा० २)

उपविष्टक, उपशुष्कक, नागोदर तथा लीनगर्भादि—

(१) यस्याः पुनर्वातोपसृष्टः स्रोतसि लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः । (अ० सं०)

(२) यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद्गर्भिण्या महति संजातसारे गर्भे पुष्पदर्शनं स्यादन्यो वा योनिप्रस्रावः स्यात् तस्या गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति निःस्रुतत्वात् । स कालान्तरमवतिष्ठतेऽतिमात्रं तमुपविष्टकमित्याचक्षते केचित् । (च० शा० ८)

(३) आहारमाप्नोति यदा न गर्भःशोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा ।
तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात् ॥ (च० शा० २)

(४) उपवासव्रतकर्मपरायाः पुनः कदाहारायाः स्नेहद्वेषिण्या वातप्रकोपणान्यासेवमानाया गर्भो न वृद्धिं प्राप्नोति परिशुष्कत्वात् । स चापि कालान्तरमवतिष्ठतेऽतिमात्रम् । अतिमात्रं स्पन्दनश्च भवति। तं नागोदरमित्याचक्षते । (च० शा० ८)

(५) तं गर्भमुपशुष्ककनागोदशब्दाभ्यामचक्षते । (इन्दु)

(६) तदुपशुष्ककं नागोदरञ्च । (अ० सं०)

(७) गर्भनाड्यास्त्ववहनादल्पत्वाद्वा रसस्य च ।
चिरेणाप्यायते गर्भस्तथैवाकालभोजनात् ॥
अकुक्षिपूरणं गर्भस्पन्दनं मन्दमेव च । (वृ० का०)

(सु० नि० ८, मा० नि० मूढगर्भाध्याय, च० शा० ८, अ० हृ० शा० २, सु० शा० २,८ टीका से डल्हण, वृद्धकाश्यप, इन्दु की उक्तियाँ)

अष्टम अध्याय

वहिर्गर्भस्थिति

(Extra Uterine Pregnancy or Ectopic Gestation)

गर्भाशय गात्र के श्लेष्मलकला के अतिरिक्त अन्यत्र किसी भाग में गर्भाधान का होना वहिर्गर्भ-स्थिति कहलाती है। स्थानानुसार प्रायः तीन प्रकार की ऐसी गर्भधारणा मिलती है—

वीजग्रन्थिगत (Ovarian)—ऐसा माना जाता है कि शुक्रकीट-वीजपुटक के विदीर्ण होने के पहले ही वीजपुटक को छेद कर भीतर में प्रविष्ट हो जाते और स्त्रीवीज से मिलकर वहीं पर गर्भाधान कर लेते हैं। फिर यहीं पर गर्भस्थिति हो जाती और वृद्धि होती चलती है। इस प्रकार की गर्भस्थिति वहुत ही कम मिलती है।

औदरिक गर्भस्थिति—उदर्य्याकला के किसी भाग में स्त्रीवीज के साथ पुंवीज संयुक्त होकर गर्भाधान करता और वहीं पर रह कर वृद्धि करता है। इसमें आद्य गर्भाधान (Primary engrafting) तो कोरे सिद्धान्त के रूप में सत्य है; परन्तु औपद्रविक रूप (Secondary grafting) में वीजवाहिनीगत गर्भाधान के विदीर्ण होने के अनन्तर पाया जाना प्रत्यक्ष सत्य है। प्रमाणरूप में वैज्ञानिकों को इस प्रकार के औदरिक गर्भस्थिति कुछ सीमित संख्या में (३० के लगभग) प्रत्यक्ष देखने को मिला है; तथापि यह भी वहुत कम पाया जाता है।

वीजवाहिनीगत—वर्हिगर्भस्थितियों में सवसे अधिक यह प्रकार मिलता है। अत एव इसी की प्रधान रूप से विवेचना करना इस अध्याय का लक्ष्य है। डिम्ब की स्थिति वीजवाहिनी के उपाङ्गों के आधार पर चार स्थानों में हो सकती है—

१. गर्भाशयाविष्ट भाग (Interstitial) २. योजनिक (Isthmic)

३. कलसिकागत (Ampullar) ४. पुष्पित प्रान्तगत (Infundibullar)

इनमें प्रथम चतुर्थ वहुत कम तथा द्वितीय और तृतीय अपेक्षाकृत अधिक हुआ करते हैं।

हैतुकी—गर्भावक्रान्ति के अध्याय में वतलाया जा चुका है कि स्वाभाविक रीति से सर्वप्रथम गर्भ का आधान बीजवाहिनी के वीजग्रन्थीय छोर में होता है जहाँ से चल कर गर्भाशय तक पहुंचने में गर्भित वीज (डिम्ब) को कई दिन लग

जाते हैं। साथ ही इसमें वृद्धि भी होती चलती है और गर्भाशय तक पहुंचते पहुंचते उसमें विकास की अवस्था आ जाती है तथा पोषकस्तर (Trophoblast) बन जाता है। इस प्रकार वह स्थानिक धातुओं के भक्षण में समर्थ हो जाता है।

यदि इस प्रक्रिया में गर्भधारणा के स्थल से गर्भाशय तक आने में यदि किसी कारणवश विलम्ब हो जाय तो बीज-वाहिनी में पड़े हुए डिम्ब में पोषकस्तर के कार्य-शील होने के कारण वहीं पर वह अवस्थान करता है। डिम्ब के पोषकस्तर स्थानिक-भक्षण करने के योग्य हो जाते हैं और बीजवाहिनी की श्लेष्मलकला को भक्षित करके उसी की दीवाल में अवस्थित (Embeded) हो जाता है।

कहने का सारांश यह है कि ऐसी सभी अवस्थायें जो स्त्री बीज को गर्भाशय में आने में विलम्ब पैदा करे तथा शुक्राणु को स्त्री-बीज तक पहुंचने में किसी प्रकार का अवरोध न डालें; बीजवाहिनीगत गर्भस्थिति के हेतु रूप में आ सकती हैं।

ऐसी प्रमुख अवस्थायें निम्न हैं—

(१) **सहज**—(क) बीजवाहिनी की अधिक लम्बाई। (ख) बीजवाहिनीगत श्लेष्मलकला के अन्धविस्फार (Blindder verticula)। (ग) बीजवाहिनी का अधिक टेढ़ामेढ़ा (Tortuosity) होना।

(२) **जन्मोत्तर**—(क) श्रोणिगत उदर्याकलाशोथ, (ख) बीजवाहिनी के अर्बुद, (ग) बीजवाहिनी के शोथ, (घ) स्त्रीबीज का बहिर्भ्रमण।

इस अवस्था में एक बीजग्रन्थि से निकला हुआ स्त्रीबीज दूसरी बीजवाहिनी से प्रविष्ट होकर गर्भाशय में आता है। यदि बीजग्रन्थि के पृष्ठ पर इस प्रकार के स्त्रीबीज के साथ पुंबीज संसृष्ट हुआ तो दूसरे स्रोत (Tube) तक पहुंचते उसको इतनी देर हो जाती है कि वह स्रोत में ही स्थित हो जाता और वृद्धि करने लगता है।

वैकृतिकी—जैसा कि ऊपर से वर्णन किया जा चुका है—स्त्रीबीज पोषकस्तर की सहायता से बीजवाहिनी की श्लेष्मलकला में अवस्थान करता है; किन्तु यहाँ की श्लेष्मलकला इतनी पतली होती है कि डिम्ब अपना मार्ग मांसपेशी तक बना लेता है। बीजवाहिनी के स्रोत से पृथक् करके श्लेष्मलकला जो भाग छिद्रको

वन्द करके डिम्बको रुद्ध करता है उसे पिधानकला (Capsular membrane) कहते हैं वह कोषकी गर्भधराकला (Decidua capsularis) का प्रतिनिधि होता है। जैसे जैसे गर्भित स्त्रीवीज अपने वपन गर्त की दीवालों से संश्लिष्ट होता चलता है; श्लेष्मलकला गर्भधाराकला के निर्माण का प्रयत्न करती है। यद्यपि इसमें वह मुश्किल से ही सफल हो पाती है। क्योंकि यहां गर्भधराकला ठीक उस प्रकार की नहीं वन पाती जिस प्रकार कि प्राकृत गर्भस्थापना में गर्भाशय में निर्मित होती है। वीजवाहिनीगत गर्भस्थिति के साथ ही साथ गर्भाशय तथा दूसरी ओर के वीजवाहिनी में गर्भधराकला का निर्माण होता चलता है; परन्तु यह वहुत ही हीनवल का होता है।

गर्भित वीज के वाहिनी में दृढ़ गर्भधराकला के निर्माण में असफलता मिलने के कई महत्त्व के परिणाम होते हैं। प्राकृत गर्भाशयगत गर्भधराकला के कोषाणु (Decidual cells); पोषकस्तर के अपजननक्रिया से स्थानिक धातुओं की रक्षा करने में समर्थ होते हैं—यह विशिष्ट गुण वीजवाहिनीगत गर्भधराकला के कोषाणुओं में नहीं रहता जिसके परिणाम-स्वरूप, (क) वीजवाहिनी की मांसल-रचना ढीली हो जाती है; (ख) वड़ी रक्तवाहिनियाँ भक्षित हो जाती हैं; (ग) अपरा में प्राधनतः गर्भगत कोरक (Villi) ही रहते हैं जिससे माता के तन्तुओं के साथ अपरा का दृढ़ सम्वन्ध नहीं हो पाता। इन तीन अवस्थाओं के कारण निम्नलिखित आपत्तियाँ पैदा हो सकती हैं-(१) समीपस्थ वीजवाहिनी की भित्तिका विदीर्ण होना, (२) वीजवाहिनीगत रक्तस्राव, (३) डिम्बवियोजन (Seperation)।

डिम्व की वृद्धि के साथ साथ वीजवाहिनी की अतिपुष्टि (Hypertrophy) होती है। परिपुष्टि की शक्ति कमजोर होने की वजह से उसका विस्तार होने पर भित्ति पतली हो जाती है। वहुतों में वीजवाहिनी का मुख आठवें सप्ताह के आस-पास रुद्ध या वन्द हो जाता है। वन्द होने का कारण पुष्पित प्रान्त का शोथ, रक्ताधिक्य अथवा रक्त का जमा हुआ थक्का होता है।

रोगक्रम तथा परिमाण—कलसिकागत (Ampullar) वीजवाहिनी गर्भ-स्थिति में तीन सम्भाव्य परिणाम हो सकते हैं—(१) वाहिनी के अन्तर्गत विदारण से वहीं पर गर्भस्राव का होना जिसे अन्तर्वाहिनी विदारण कहते हैं, (२) वहिर्वाहिनी विदारण, (३) गर्भावस्था की पूर्णता प्राप्त होना।

अन्तर्वाहिनी विदार—डिम्ब के संयोजन स्थल पर रक्तस्राव होता है, डिम्ब वियुक्त होता है और उसको निकालने में बीजवाहिनी के आकुञ्चन ठीक उसी प्रकार के होते हैं जिस प्रकार का गर्भाशय का आकुचन गर्भाशयगत पदार्थों के निकालने के लिये होता है। डिम्ब अपने ऊपर के आच्छादन कौपिकी गर्भधराकला को फाड़कर बाहर आकर बीजवह स्रोत में आ जाता है। पुनः वह आकुञ्चनों के द्वारा पुष्पित प्रान्त से होते हुए उदरावरण में आ जाता है। यह एक पूर्ण बीजवाहिनी-गत गर्भस्राव का प्रकार है—जो प्रायः दो मास की गर्भावस्था तक में गर्भस्राव होने पर पाया जाता है; जब तक कि पुष्पित प्रान्त (Fimbriated opening) मुख खुला रहता है। लेकिन प्रायः अपूर्ण स्वरूप का ही गर्भपात अधिक देखने को मिलता है। इस हालत में न्यूनाधिक अंश गर्भ का स्रोत के अन्दर ही शेष रह जाता है।

यदि रक्तस्राव मन्दगति से बहुत दिनों तक चलता रहे तो रक्त डिम्ब के चारों ओर इकट्ठा होकर उसको संयोजन नष्ट कर उसे मार डालता है। लेकिन बीजवाहिनी को गर्भपात के लिये उत्तेजित नहीं करता तथा रक्तमशकगर्भ (Blood mole) का निर्माण करता है। इसे बीजवाहिनीगत मशकगर्भ (Tubal mole) कहते हैं। यदि रक्तस्राव अधिक दिनों तक चलता रहे तो क्रमशः बढ़ता चलता है और आगे चलकर गर्भाशयगत मांस गर्भ के सदृश वह दिखलाई पड़ता है।

नलिकान्तर्गत रक्तस्राव का प्रारंभ प्रायः बीजवाहिनियों में वेदना तथा रक्तस्राव पैदा करता है, फिर उसी के जरिये उदर्याकला में भी यही लक्षण होने लगते हैं। यदि गर्भ-स्राव पूर्वस्वरूप का हुआ तो नलिका संकुचित हो जाती है, रक्तस्राव बंद हो जाता है और बीजवाहिनी अपनी प्रकृतावस्था को प्राप्त कर लेती है। यदि गर्भ-स्राव अपूर्णस्वरूप का हुआ तो उदरावरण की गुहा में बूंद बूंद करके रक्तस्राव होता चलता है; फिर बाद में जाकर उस रक्त के जम जाने से एक थक्का बन जाता है, रक्तगुल्म (Haematocele) का रूप धारण कर लेता है और बीजवाहिनी के मुख पर 'डोगला' के कोष में पड़ा रहता है।

बहिर्वाहिनी विदार—पोषकस्तर के कार्यशील होने के फलस्वरूप बीजवाहिनी की भित्ति कमजोर हो जाती और फट जाती है। कभी कभी विदारण आघात-जन्य होता है। विदार प्रायः छोटा होता है, परन्तु रक्त जमता नहीं। यह आघात

प्रायः असावधानी से बलपूर्वक परीक्षा करते हुए हो सकता है; जिससे बीजवाहिनी फट जाती है। विदारण (Rapture) या तो औदर्यागुहा या पक्षवन्वनिका के स्तरों के बीच में होता है उसे स्थान के अनुसार अन्तर्वन्वनिका कहते हैं ।

औदर्याकलागत बीजवाहिनी-विदारण
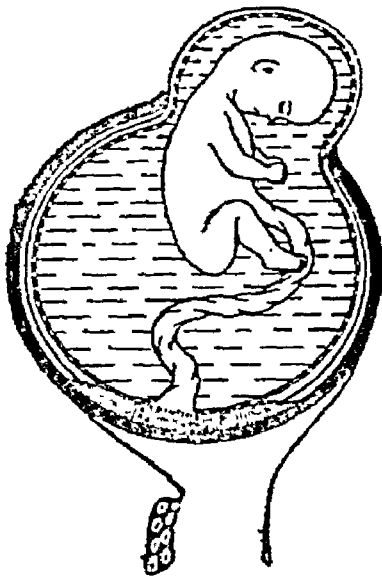
चित्र ९८
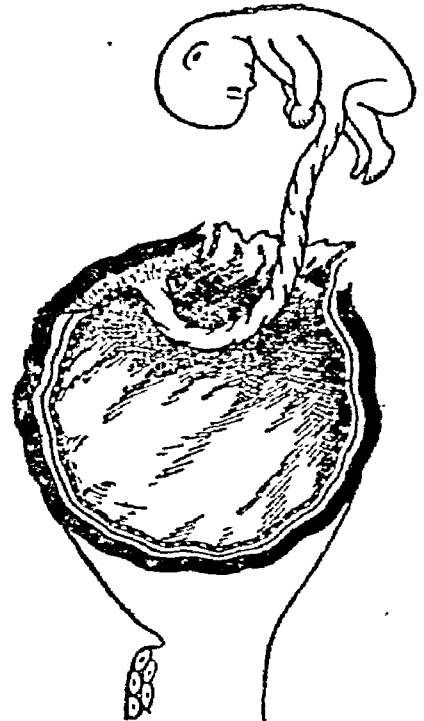
चित्र ९९

अन्तरौदर्या-विदारण में प्रायः उदर गुहा में रक्तस्राव तीव्र होता है, जो माता के लिये घातक होता है। इसमें पूरा डिम्ब उदरगुहा में बाहर आ जाता है तथा गर्भ की मृत्यु हो जाती है। दूसरी अवस्था में यद्यपि वियोजन (Seperation) पूर्णतया नहीं होता तथापि गर्भ के मारने के लिये पर्याप्त होता है। अन्तर्जरायु की विदीर्णता प्रायः गर्भ के लिये घातक होती है। कई बार उदरगुहा में यह गर्भ जाकर सुरक्षित रहता है और यदि उसके पोषण में किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई तो वह बढ़ता हुआ पूर्ण गर्भावस्था को प्राप्त कर सकता है। इसी अवस्था को 'औपद्रविक औदारिक गर्भस्थिति' (Secondary Abdomial Pregnancy) कहते हैं।

यदि विदारण अतर्वन्धनिका स्वरूप (Intra legamentous) का रहा तो रक्तस्राव, पक्षवन्धनिका (Broadligament) के द्वारा सीमित कर लिया

अतर्वन्धनिकागत बीजवाहिनीविदार
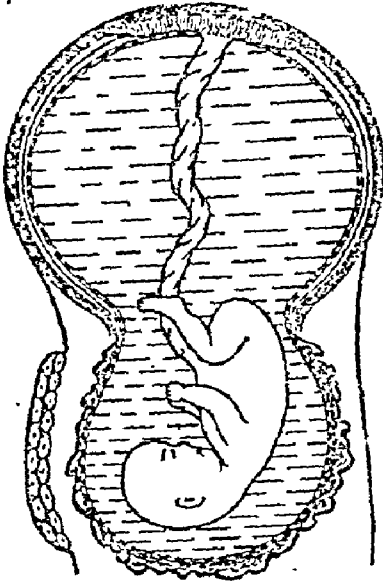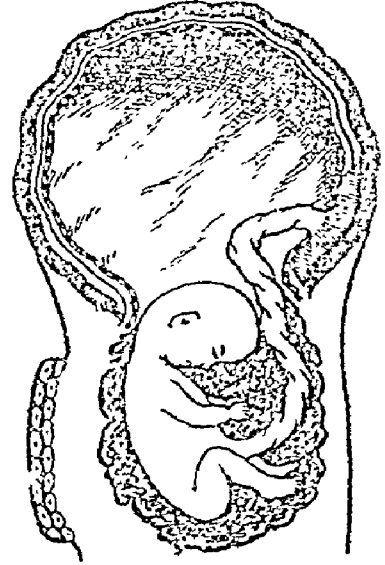
चित्र १००

चित्र १०१

जाता है अर्थात् सीमित मात्रा में ही होता है तथा माता के जीवित बचने की उम्मीद रहती है। परन्तु गर्भ के लिये पुनः वे ही आपत्तियां उपस्थित होती हैं। यदि जच्चा और बच्चा दोनों ही जीवित रहें तो गर्भ-स्थिति पक्षवंधनिका के दोनों स्तरों के बीच में रहकर चलती रहती है। इसकी तीन स्थितियाँ मिल सकती हैं- उदर्याकलाधोभाग में, उदर्याकला के बहिर्भाग में (Extraperitoneal) तथा पक्षवन्धनिका के स्तरों के बीच (Ligamentous)।

यदि गर्भ की वृद्धि होती चली तो पुनः दूसरी बार उदर्याकला में विदारण होता है जिसके परिणामस्वरूप या तो गर्भ की मृत्यु हो जाती है अथवा कई बार जीवित रहकर वह वहीं पर वृद्धि करता है (Secondary Abdominal Pregnancy)। अधिकतर प्रथम विदारण में ही गर्भ की मृत्यु हो जाती है।

गर्भावस्था का पूर्ण होना—पूर्ण गर्भकाल तक गर्भ का उदर्याकला में, औपद्रविक गर्भस्थिति के रूप में जीवित रहना बहुत ही विरल पाया जाता है।

यदि किसी प्रकार वह जीवित चलता भी रहे तो प्रसवकाल आने पर गर्भाशय से कुछ गर्भधराकला के अवशेष गिरते हैं और गर्भ की निश्चितरूप से मृत्यु हो जाती है। गर्भ की मृत्यु इस अवस्था में कैसे होती है नहीं कहा जा सकता।

यदि प्रारम्भिक सप्ताहों में ही गर्भ की मृत्यु होती है तो उसका शोषण हो जाता है। यदि इस प्रकार मृतगर्भ वहुत वड़ा हुआ और शल्यक्रिया द्वारा न निकाला जा सका तो आंत्रों से संक्रमण पहुंच कर उसमें पूयोत्पत्ति भी संभव है। तीसरे मास के वाद के गर्भ की मृत्यु होने पर उसका शोपण नहीं हो पाता और संक्रमण पहुंचने पर उसमें पूयोत्पत्ति होती है जिससे वह विद्रधि का रूप ले लेता है। विद्रधि के फट जाने पर उसका पूय अपना मार्ग मलाशय, उदर की दीवाल, योनि अथवा वस्ति में लेता है और इन्हीं अंगों में खुलता है। कई वार उसमें शोष होकर वह सूख जाता है और उपशुष्कक (Mummified) का रूप लेता है। क्वचित् इसके ऊपर खटिक के लवण सञ्चित होकर गर्भाश्मरी (Litho-poedion) का रूप दे देते हैं।

वीजवाहिनी के विभिन्न भागों में स्थिति के अनुसार भी परिणाम भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—**गर्भाशयान्तः** भाग में स्थित गर्भ का स्राव होकर गर्भाशय से निकल जाता है। **योजनिक** भाग में स्थित गर्भ का स्राव वहुत कम होता है; वीजवाहिनी का विदीर्ण होना पाया जाता है। पुष्पित प्रान्त में स्थित गर्भ का अन्त सदा गर्भस्राव में ही होता है।

लक्षण गर्भस्राव अथवा विदार के पूर्व—कोई भी उल्लेखनीय लक्षण या चिह्न नहीं मिलता, यहाँ तक कि गर्भिणी को गर्भधारण का आभासतक नहीं हो सकता। वहुतों में पूर्व–गर्भाक्षेपक सदृश कुछ लक्षण प्रकट होते प्रतीत होते हैं। जो भावी विपत्ति की सूचना देते हैं।

कुछ स्त्रियों में प्रारम्भिक गर्भावस्था के लक्षण पाये जाते हैं और यदि गर्भावस्था काफी लम्बे समय से हो तो एक दो मासों में आर्त्तवादर्शन का इतिहास मिलता है। कई वार आर्त्तवादर्शन का वृत्त विल्कुल ही नहीं मिलता। तथापि अधिकतर मूत्राशय–क्षोभ, प्रातर्ग्लानि तथा परावर्त्तित लक्षणों (Reflex symptom) की उपस्थिति पाई जाती है।

दूसरी ओर कई वार ऐसी भी वीज–वाहिनी–गर्भाधान वाली रुग्णायें मिलेंगी जिनमें योनिगत रक्तस्राव एवं वेदना होती है। रक्तस्राव गर्भाशयान्तर्गत निराश्रया

बहुत से रोगियों में लक्षण क्रम तीव्र होते हैं और इतनी शीघ्रता में या अचानक नहीं मिलते। ऐसी दशा अपूर्ण बीजवाहिनी-गर्भस्राव में होती है। इसमें रक्तस्राव धीरे-धीरे होकर उसका स्कन्दन होता रहता है उसका जमा हुआ थक्का बीजवाहिनी के मुखपर 'डोगला' के कोप में रक्तगुल्म के रूप में (Haematocele) पाया जाता है।

निदान—वाह्यनलिकाविदार का निदान करते समय रोगी का इतिवृत्त तथा युग्मविधि (Bimanual examinetion) से प्राप्त चिह्नों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। अन्यथा इसका भ्रम बीजग्रन्थि के अर्बुद, जल-बीजवाहिनी (Hydro salpinx), पूय-बीजवाहिनी (Pyo-salpinx) से हो जाता है; लेकिन इनका निराकरण इतिहास में भिन्नता तथा 'एश्चिमजोण्डेक' प्रतिक्रिया परीक्षा से कर सकते हैं।

अधिकांशभ्रम अपूर्ण गर्भस्राव तथा गर्भित गर्भाशय के पश्चिमभ्रंश के साथ होता है। अपूर्ण गर्भस्राव के प्रायः सभी लक्षण इस अवस्था में उपस्थित मिलते हैं; परन्तु सावधानीपूर्वक युग्म परीक्षण विधि से परीक्षा करने पर इसमें बीजवाहिनी की परिपुष्टि (Hypertrophy) मिलती है तथा गर्भधराकला के कोरक विहीन अवशेष मिलते हैं इन लक्षणों के आधार पर दोनों का भेद करना सम्भव है।

गर्भित गर्भाशय का पश्चिम भ्रंश भी बीजवाहिनी विदार के सदृश लक्षणों से ही युक्त रहता है। परन्तु विभेद इन लक्षणों के आधार पर कर सकते हैं—भ्रंश में गर्भाशय-ग्रीवा सामने और ऊपर की ओर खिंची रहती है, जिससे गर्भाशय मुख सन्धानिका के ऊपर स्थित होता है। इसके विपरीत बीजवाहिनीगत गर्भ-स्थिति में यदि रक्तगुल्म (Hæmatocele) की उपस्थिति रही तो गर्भाशय आगे की ओर अपसारित (Displaced) रहता है, ग्रीवा नीचे की ओर की झुकी रहती है, गर्भाशय-गात्र सन्धानिका के ऊपर स्पर्शलभ्य होता है।

इन रोगों के अतिरिक्त औदारिक अन्यान्य अंगों के विदार से भी भेद करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ—आमाशयिक व्रण, आन्त्र पुच्छशोथ तथा बीजग्रन्थि के अर्बुद के वृन्त का मरोड़ (Torsion of the pedicle of the ovarian cyst)।

७. एक दूसरा विधान यह है कि उदर का विपाटन करके नाभिनाल को वाँध कर अपरा के पास से काटकर बच्चे को पृथक् कर ले। अपरा को विना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये वहीं छोड़ दे। उदर का सीवन कर दे। अपरा प्रभृति अंग प्रकृति द्वारा स्वयमेव शोषित हो जायँगे।

आयुर्वेद मतानुसार वहिर्गर्भस्थिति का अन्तर्भाव भी प्राचीनोक्त गर्भस्राव-पात के अध्याय में ही हो जाता है। क्योंकि लाक्षणिक दृष्टि से इसमें योनिगत रक्तस्राव और शूल ये ही दो प्रधान लक्षण मिलते जो सामान्यतया सभी गर्भ-स्रावों में मिलते हैं।

आधार तथा प्रमाणसञ्चय—

('शा' टेनटीचर्स तथा जौन्स्टन की मिडवाइफरी)

नवम अध्याय

प्राक्प्रसव तथा उत्तरकालीन रक्तस्राव

(Ante Partum & Post Partum Haemorrhages)

प्रसवप्राक् (Ante partam haeamorrhage) **रक्तस्राव—** उस रक्तस्राव को कहते हैं जो गर्भस्थिति के अंतिम वारह सप्ताहों में अथवा प्रसव के प्रथम एवं द्वितीय अवस्थाओं में अपरा के क्षेत्र (Placental site) से होता है। यद्यपि रक्तस्राव अपरा क्षेत्र के अतिरिक्त स्थलों से भी इस काल में हो सकता है—जैसे लोहित व्रण (Erosion), योन्यर्श (Polypus), गर्भाशय ग्रीवा के कैन्सर या भग की सिराकुटिलता प्रभृति अवस्थाओं में। परन्तु इस प्रकार के रक्तस्राव को प्रसव-प्राक् रक्तस्राव की परिभाषा के अन्दर नहीं लेते हैं।

प्राक्प्रसव रक्तस्राव के दो प्रकार हैं—

१. आकस्मिक—गर्भाशय के ऊर्ध्वभाग में स्वाभाविक रूप में स्थित अपरा के आंशिक विच्छेद से रक्तस्राव का होना।

२. अपरिहार्य अथवा पुरःस्था अपरा (Placenta Praevia)—अस्वाभाविक रीति से गर्भाशय के अधोभाग में (Lower uterine segment) स्थित अपरा के आंशिक विच्छेद से होने वाला रक्तस्राव। इसमें रक्तस्राव अपरिहार्य होता है। इसलिये इस प्रकार को अपरिहार्य की संज्ञा दी गई।

आकस्मिक रक्तस्राव (Accidental Heamorrhage)

आकस्मिक या परिहार्यस्राव
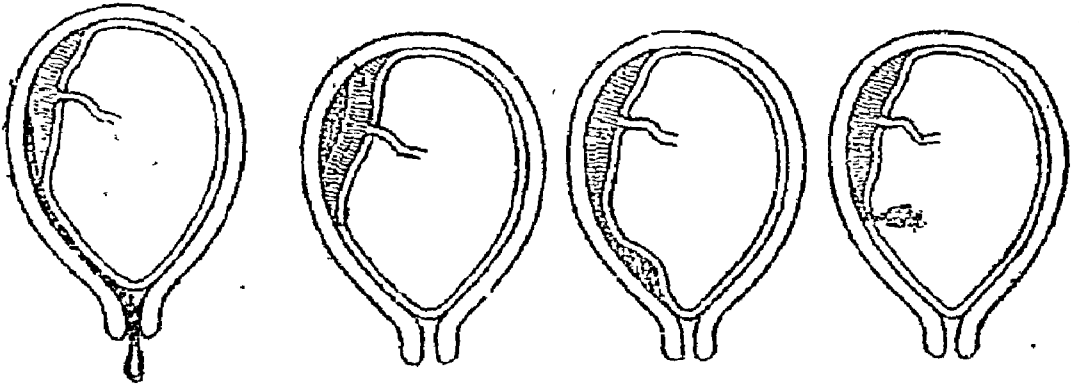
चित्र १०२–१०५

प्रकार—(१) वाह्य या प्रकट, (२) आभ्यन्तर या गुप्त, (३) मिश्र।

१. **वाह्य या प्रकट** (External)—जब योनि से रक्तस्राव होता दिखलाई पड़े। यही प्रकार आमतौर से मिलता है।

२. **आभ्यन्तर या गुप्त** (Concealed)—जब रक्तस्राव गर्भाशय के अन्दर ही सीमित रहे और योनि से वाहर निकलता न दिखलाई पड़े। इसकी तीन अवस्थायें उपलब्ध होती हैं:—(क) रक्त अपरा के पीछे इकट्ठा होता है अपरा पश्चाद्भाग में स्कंदित (Retro-Placental clot) होता जाता है। (ख) रक्त स्रवित होकर गर्भाशय की दीवाल और जरायु के वीच में एकत्रित होता है, परन्तु गर्भाशय के अन्तर्मुख तक (Internal OS) नहीं आ पाता। (ग) कई वार अन्तजरायु अवकाश के (Amniotic Cavity) के भीतर एकत्रित होता है।

३. कई वार रक्तस्राव आंशिक रूप से प्रकट और कुछ अंश में गुप्त भी रहता है इस प्रकार को मिश्र प्रकार कहते हैं।

हेतु—१. अप्रजाता की अपेक्षा वहु–प्रजाता में यह रोग चार गुना अधिक पाया जाता है। रोग के कारण दुर्वल तथा शीघ्र–शीघ्र गर्भधान करने के हेतु दुर्वल हुई स्त्रियों में अधिक मिलता है। सम्भवतः इन अवस्थाओं में गर्भधराकला शोथ (Decidual Endometritis) रहता है जिसके कारण अपरा का गर्भाशय की दीवाल के साथ दृढ़ सन्धान (Attachments) नहीं हो पाता।

२. माता के कुछ रोगों में आकस्मिक रक्तस्राव की बड़ी सम्भावना रहती है- विशेषतः जीर्ण वृक्कशोथ, हृद्रोग, रक्त के रोग, फिरंग तथा पहले के गर्भस्थितियों में विषमयता का पाया जाना।

३. गर्भाशयान्तर्गत सौत्रिकार्बुद (Fibroids) तथा अपरा के भागों का मातृरक्त में परिभ्रण (Infarcts) भी रोगोत्पादन के कारणभूत होता है। कई वार गुप्त प्रकार के आभ्यन्तर आकस्मिक रक्तस्रावों के साथ गर्भाक्षेप भी पाया जाता है, सम्भवतः गर्भाक्षेपक के परिणाम स्वरूप यह रक्तस्राव होता हो; अथवा गर्भविष के कारण दोनों ही रोग (रक्तस्राव तथा आक्षेपक) उत्पन्न होते हों।

४. जीवतिक्ति E की कमी गर्भस्राव की भाँति आकस्मिक रक्तस्राव में भी हेतु होता है।

५. नाभिनाल का स्वभाविक से छोटा होना जिससे अपरा का अपूर्णावस्था में ही वियोजन हो जाता है।

६. अभिघात तथा भय प्रभृति आकस्मिक मानसिक उत्तेजनायें भी रोग के उत्पादन में सहायक होती हैं।

लक्षण तथा चिह्न—

बाह्य आकस्मिक रक्तस्राव—बिना किसी प्रकार की उत्तेजना के अथवा कुछ उत्तेजक हेतुओं की उपस्थिति में रोगी को योनि से रक्तस्राव होता दिखलाई पड़ता है। कुछ हल्की सी बेचैनी मिलती है; परन्तु वेदना का पूर्णतया अभाव मिलता है। अवतरणों में अधिकतर शीर्षोदय इस स्थिति में पाया जाता है, कई बार अपरा के अकाल वियोजन के कारण बालक की मृत्यु भी हो गई रहती है। योनिपरीक्षा से अपरा का अनुभव नहीं होता; परन्तु जमे रक्त के थक्के मिल सकते हैं। रक्तस्राव की मात्रा साधारण स्राव से लेकर तीव्र वेगयुक्त स्राव तक पाई जा सकती है।

हेतु—इसी प्रकार यदि रक्तस्राव अपरा से भी हो परन्तु वह गर्भस्थिति के प्रारम्भिक मासों में हो तो उसे गर्भस्राव (Abortion) ही कहेंगे। अत एव प्रसव प्राक् रक्तस्राव शब्द का व्यवहार एक विशिष्ट अवस्था के रक्तस्राव में ही होता है; जिसकी व्याख्या पूर्व में की जा चुकी है।

आभ्यन्तर आकस्मिक रक्तस्राव—रोग की गम्भीरता के अनुसार लक्षणों में विविधता हो सकती है। इसमें आभ्यन्तर रक्तस्राव (Internal

Haemorrhage) के सभी लक्षण उपस्थित रहते हैं साथ में गर्भाशय का आध्मान तथा मर्माभिघात (Shock) के लक्षण भी व्यक्त होते हैं। गम्भीरस्थिति होने पर नाडी क्षीण और तीव्रगतियुक्त तथा त्वचा कृष्ण वर्ण की हो जाती है। रोगी का शरीर शीतल और स्वेदयुक्त होता है तथा प्राणवायु की कमी के लक्षण (Airhunger) उपस्थित मिलते हैं। गर्भाशय के अत्यधिक आध्मापित होने के कारण उदर में अनवरत तीव्र पीडा होती रहती है। गर्भाशय (स्थितिकाल की अपेक्षा) अधिक बढ़ा हुआ और गोलाकार हो जाता है। वह काठ जैसे कड़ा और स्पर्शनाक्षम रहता है। उसमें आकुंचन और प्रसारण की गतियों का अनुभव नहीं हो पाता, गर्भ की सीमा रेखाओं का परिज्ञान नहीं हो सकता तथा हृद्ध्वनि भी नहीं सुनाई पड़ती। योनिपरीक्षण से गर्भाशय ग्रीवा बंद (अविकसित) पाई जाती है। यदि किसी प्रकार गर्भाशय के आकुञ्चनों के प्रभाव से थोड़ी विकसित हुई तो अल्प मात्रा में योनिगत रक्तस्राव भी दिखलाई पड़ सकता है। ऐसी स्थिति को मिश्र प्रकार का आकस्मिक रक्तस्राव कहा जाता है।

यदि रक्तस्राव अल्प परिमाण का हुआ तो लक्षण अपेक्षाकृत मन्द मिलेंगे। रोगी एक प्रकार के शूल का वृत्त देगा। शूल के साथ ही उसमें वमन और हृल्लास का भी वृत्त मिल सकेगा। नाडी की गति तीव्र मिलेगी और गर्भाशय का भाग विशेषतः अपराक्षेत्र स्पर्शनाक्षम मिलेगा। हृच्छब्द का अभाव रहेगा। मूत्र में सामान्यतया शुक्ली की उपस्थिति मिलेगी।

गुप्त एवं प्रकट प्रकार का आकस्मिक रक्तस्राव (Mixed concealed & External Haemorrhage)—यह प्रकार गुप्त और प्रकट के मध्य का है। इसके भीतर बाह्य रक्तस्राव का तीव्रतम प्रकार तथा आभ्यन्तर रक्तस्राव का मन्दतम प्रकार आ जाते हैं। इसके लक्षण अधिकतर गुप्त प्रकार के आकस्मिक रक्तस्राव से मिलते-जुलते होते हैं। इसमें अल्प मात्रा में योनि से रक्तस्राव होता दिखलाई पड़ता है, ग्रीवा की अल्प विस्तृति मिलती है, इसमें गर्भाशय का आध्मान अल्प पाया जाता है। यद्यपि प्रसव के बाद अपरा के पीछे की ओर रक्त का स्कंदन दिखलाई पड़ता है तथा जरायु में भी रक्तस्राव की उपस्थिति के चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। मूत्र में शुक्ली की उपस्थिति भी रह सकती है तथापि दृष्ट रक्तस्राव की अवस्था में केवल योनि से निकलते हुए रक्तस्राव को देखकर ही रोगी की स्थिति का निर्णय नहीं करना चाहिये। रोगी की साधारण स्थिति का

पूर्ण विचार अपेक्षित है—क्योंकि अल्प मात्रा में पाया जाने वाला वाह्य रक्तस्राव कई वार तीव्र आभ्यन्तर रक्तस्राव के साथ मिश्रित रहता है।

रोगविनिश्चय-वाह्य आकस्मिक रक्तस्राव का विभेद—पुरःस्था अपरा या अपरिहार्य रक्तस्राव से करना होता है। यह विभेद योनिपरीक्षा से अपरा के मातृपृष्ठ का अनुभव करके किया जा सकता है। यदि अंगुलियों से अपरा के मातृपृष्ठ का अनुभव न हो तो उसे आकस्मिक रक्तस्राव समझना चाहिये। इस परीक्षा को वड़ी सावधानी के साथ शल्यागार (Operation theatre) में करना चाहिये।

दूसरी वात यह भी है कि अपरिहार्य रक्तस्राव (Unavoidable heamorrhage or Placenta praevia) में इतिवृत्त भी विशिष्ट मिलेगा। जैसे—१. वारवार रक्तस्राव होने का वृत्त, २. विषमयता के चिह्नों का अभाव, ३. विकृतोदय, ४. उदय लेने वाले अंग का वहुत ऊंचा होना।

आभ्यन्तरिक आकस्मिक रक्तस्राव—का विनिश्चय वड़ा ही कठिन होता है। कई वार इसका भ्रम गर्भाशय के निरन्तर आकुञ्चनों (Tonic retraction) के साथ हो जाता है। परन्तु यदि कई वातों का विचार कर लिया जाय तो भ्रम जाता रहता है और गलती नहीं हो सकती। १. निरन्तर आकुञ्चन प्रायः प्रसव की वहुत आगे वढ़ी हुई स्थिति में होते हैं, २. पीड़ा अत्यधिक तीव्र होती है, ३. गर्भाशय प्राकृत से अधिक वढ़ा हुआ नहीं रहता, ४. गर्भाशय गोलाकार नहीं होता, वल्कि गर्भ के आकार का ढला हुआ रहता है, ५. जरायु विदीर्ण हो गई रहती है।

इसके अतिरिक्त इसका विभेद उदरावरणगत रक्तस्राव (वहिर्गर्भ स्थिति की विदीर्णता से) गर्भाशय के स्वयमेव होने वाले विदार से तथा तीव्र गर्भोदकातिवृद्धि से भी करना होता है। इनका विभेद रोगी के इतिहास और प्राप्त शारीरिक चिह्नों के आधार पर करना चाहिये।

शुभाशुभ—१. गर्भाशय के आकुञ्चनों की शक्ति—यदि आकुञ्चन विना विलम्ब के चालू हो जायँ तो रोग में सुधार हो जाता है। २. विषमयता, मर्माभिघात तथा रक्तस्राव के परिणाम के ऊपर भी साध्यासाध्यता आश्रित रहती है। गर्भकोषपरासंग (Uterine Inertia), प्रसवोत्तर रक्तस्राव तथा मर्माभिघात से प्रसव होते ही रुग्णा की मृत्यु हो सकती है। ३. शिशु की दृष्टि से भी प्रायः अशुभ

होता है-प्रायः ८०% बालक मर जाते हैं। क्योंकि इस दशा में उनमें प्राणवायु का अभाव, विषमयता तथा अपूर्णकाल प्रसव का प्रभाव होता है और वे मर जाते हैं।

बाह्य आकस्मिक रक्तस्राव की चिकित्सा—

यदि रक्तस्राव मन्द स्वरूप का हो, बालक जीवित हो या जीवन के योग्य हो तो समयानुकूल प्रतिषेध—

१. रोगी को शय्याशायी करके पूर्ण विश्राम देना।

२. शामक औषधियों में मार्फिया का प्रयोग कर फिर 'ब्रोमाइड्स' का उपयोग करे।

३. वस्ति विरेचन प्रभृति गर्भाशय के आकुञ्चनों के उत्तेजक उपचारों को बंद कर दे।

यदि रक्तस्राव तीव्रस्वरूप का हो और बालक मृत हो—इस स्थिति में चिकित्सा के तीन उद्देश्य रहते हैं, (क) गर्भाशय को रिक्त करना, (ख) गर्भाशय को आकुञ्चित रखना, (ग) कम से कम रक्तस्राव को होने देना। इन उद्देश्यों को सफल बनाने के लिये निम्नलिखित भाँति से प्रतिषेध करना चाहिये।

१. गर्भाशय को स्वयमेव रिक्त होने देना उत्तम है—शीघ्रता में कृत्रिम प्रसव कराना हानिप्रद हो सकता है। सावधानी से प्रसव की तृतीयावस्था के पार होते ही अर्थात् बच्चे के प्रसव के बाद माता को 'एरगामेट्रीन' (५ मिली ग्राम) पेशी द्वारा देना चाहिये।

२. दूसरी ओर यदि गर्भाशय का आकुञ्चन ही न जान पड़े तो उसको बढ़ाने के लिये 'पिटोसिन' ३ इकाई की मात्रा में दे। यदि आवश्यकता हो तो यही मात्रा पुनः पुनः दुहराई जा सकती है। यदि इससे रक्तस्राव न बन्द हो तो दूसरा उपाय काम में लाया जा सकता है।

३. जरायु विदारण—यह क्रिया विशोधित मूत्रनाडी तथा शलाका (Sound or catheter) द्वारा किया जाता है। इस विधि से गर्भोदक के निकल जाने का परिणाम यह होता है कि गर्भाशय गर्भ शरीर के ऊपर संकुचित हो जाता है और इस प्रकार अपरा गर्भ के शरीर तथा गर्भाशय की दीवाल के भीतर दब जाती है; रक्तप्रवाह बन्द हो जाता है। पुनः आकुञ्चन होने लगते हैं और प्रसव स्वयमेव हो जाता है।

४. जरायुविदारण के बाद उदर के ऊपर एक कस कर बन्धन बाँध देना होता है (Tight abdominal bander) ताकि अनावश्यक रक्तनाश न हो सके।

५. यूनिपूरण—इस विधि में प्रचुर मात्रा में विशोधित द्रव्यों की आवश्यकता पड़ती है। ६ इञ्च चौड़ाई के विशोधित वर्त्ति का पट्ट होना चाहिये उसे 'डेटाल' के जीवाणुघ्न घोल में भिगोकर (१:४०) निचोड़ लेना चाहिये। रोगी को एक पार्श्व लेटा कर या उत्तान शयन कराके, उसके मूत्राशय को रिक्त करके, 'डेटाल क्रीम' से भग आदि का विशोधन कर विधिपूर्वक क्रम से योनि में भरना शुरू करना चाहिये। पहले ऊपर में भरना शुरू करे फिर क्रमशः भरते हुए नीचे को आवे। यदि गर्भाशय ग्रीवा खुली हो तो पहले उसको भरे फिर एक एक करके दोनों योनि कोणों को, फिर योनि की नलिका को भरे। पुनः एक कौपीन बन्ध लगाकर उसको स्थिर कर देना चाहिये। साथ में उदरबन्ध भी लगा देना चाहिये।

इस पूरण क्रिया के दो लाभ हैं—(१) पीडन के कारण (ऊपर से उदरबन्ध तथा नीचे से योनिपूरण के द्वारा) गर्भाशय की धमनियाँ दब जाती हैं और रक्तस्राव बन्द हो जाता है। (२) गर्भाशय विकसित होता है तथा गर्भाशय के आकुञ्चन प्रबल होने लगते हैं। योनि पूरण को तब तक पड़े रहने देना चाहिये जब तक कि तीव्र-वेदना का प्रादुर्भाव न हो जाय। यह काल प्रायः कुछ घण्टों का ही रहता है।

६. शिरा द्वारा लवण जल अथवा रक्त का अन्तर्भरण—बिन्दुपद्धति से (Drip method) से देना चाहिये।

७. यदि योनि-पूरण के अनन्तर भी रक्तस्राव न बन्द हो तो गर्भाशय मुख को विस्तृत करके विवर्त्तन क्रिया के द्वारा (अन्तरीय या मिश्रित विवर्त्तन से) बच्चे को पैर पकड़ कर निकाल देना चाहिये।

८. यदि योनि का पूरण किये आठ घण्टे के ऊपर हो गया हो; तथापि वेदना प्रबल न उठ रही (गर्भाशय के आकुञ्चनों को उत्तेजना न मिल रही) हो, रोगी की साधारणस्थिति लवणविलयन तथा रक्त-भरण के द्वारा सुधर गई हो और परिस्थिति स्वीकृति दे तो उदरविपाटन के द्वारा गर्भाशय भेदन (Caesarean section) का अनुष्ठान किया जा सकता है।

मिश्र (बाह्य तथा आभ्यन्तर) आकस्मिक रक्तस्राव की चिकित्सा— इसमें चिकित्सा के दो उद्देश्य हैं, (क) रक्तस्राव को बन्द करना, (ख) रक्तस्राव जनित परिणामों (हृदवसाद आदि) से रुग्णा की रक्षा करना। अत एव निम्न लिखित चिकित्साक्रम को अपनाना श्रेयस्कर है:—

१. जरायु का विदारण करके 'पिटोसिन' (३ यूनिट) पेशी द्वारा देकर, उदरबन्ध लगाना ।

२. हृदयावसाद की चिकित्सा के लिये ।

(क) रोगी को गर्म रखना ।
(ख) गुदा द्वारा लवणजल देना । } जब तक रक्तस्राव बन्द न हो जाय इन दोनों उपक्रमों को न करते ।
(ग) सिरा द्वारा योग्य रक्त का प्रवेश कराना ।

३. यदि रोगी की साधारण स्थिति में सुधार हो जाय तो प्रसव स्वयमेव हो जाता है । स्त्री के अधिकतर बहुप्रजाता होने तथा बालक के छोटा होने से प्रसव आसानी से हो सकता है ।

४. गर्भाशयभेदन कदापि नहीं करनी चाहिये ।

आभ्यन्तर या गुप्त रक्तस्राव की चिकित्सा—इसमें चिकित्सा के दो प्रधान उद्देश्य रहते हैं । (क) मर्माभिघात (Shook) का उपचार । (ख) दशा के सुधरने पर प्रसव कराना ।

१. रोगी को गर्म कपड़े, कम्बल आदि ओढ़ाकर तथा गर्म पानी के बोतल रखकर उष्ण रखना, शय्या के पैताना को ऊँचा करके रखना और कमरे को निःशब्द या शान्त बनाये रखना ।

२. मार्फिया १/४ ग्रेन की मात्रा में पेशी द्वारा देना ।

३. सिरा द्वारा १५–२० औंस (४५०–६०० सी. सी.) तक रक्त पहुँचाना । यदि रक्त का प्रबन्ध न हो सके तो रक्तरस (Blood plasma) या लवण–जल को प्रविष्ट करना । यदि मुख द्वारा हो सके तो प्रचुर मात्रा में जल एवं द्राक्षाशर्करा का घोल देना । यदि मुख द्वारा सम्भव न हो तो गुदा द्वारा देना । चार–चार घण्टे के अन्तर से रोगी का निरीक्षण करते रहना चाहिये । यदि पीड़ा शान्त न हो तो १/६ ग्रेन 'मार्फिया' पुनः देना चाहिये ।

४. जब निश्चित रूप से रोगी की साधारण स्थिति में सुधार दिखलाई पड़े, साथ ही गर्भाशय की स्थिति ठीक होती जान पड़े अर्थात् उसकी कठिनता जाती रहे और उसका आकुंचन नियमित हो जाय और जब योनि से रक्तस्राव दिखलाई पड़ने लगे तभी प्रसव कराने की व्यवस्था करनी चाहिये । इसके लिये निम्नलिखित उपाय करे—

१. जरायु का विदारण करके गर्भोदक को निकाले ।

२. इस अवस्था की चिकित्सा में योनि-पूरण की क्रिया नहीं करनी चाहिये।

३. रोगी की स्थिति में पर्याप्त सुधार हो जाय और परिस्थिति अनुकूल जान पड़े तो अप्रजाताओं के गुप्त रक्तस्राव की चिकित्सा में उदरपाटन या गर्भाशयछेदन (Caesarean section or hysterectomy) किया जा सकता है।

प्रसवोत्तर चिकित्सा या पश्चात् कर्म
(Treatment after the labour is over)

प्रसव के वाद दोनों हाथ से दवा कर रक्तस्राव को वन्द करे। गर्भाशय में स्थायी संकोच लाने के लिये 'एरगोमेट्रिन' का पेशी द्वारा भरण करे। योग्य चिकित्सा के अभाव में प्रसव के वाद रुग्णा की कुछ ही घण्टों में हृदयावसाद से मृत्यु हो जाती है। ऐसे रुग्णा को जव तक हृदयावसाद तथा मर्माभिघात के लक्षण न दूर हो जायँ नहीं छोड़ना चाहिये, वल्कि इन उपद्रवों की शान्ति के लिये— १. शय्या का पैताना ऊँचा करना, २. मुख द्वारा प्रचुर पोषण देने की व्यवस्था करना, ३. रोगी को उष्ण रखना, ४. लवण-जल का शरीर के भीतर प्रविष्ट करना तथा ५. कोरामिन का पेशीद्वारा देना प्रभृति उपचारों को करते रहना चाहिये। रोगी में रक्त-भरण (Blood tranfusion) भी करना चाहिये।

यदि प्रसव के तत्काल वाद अपरा न निकल पाई हो तो उसे तत्काल निकालना चाहिये। निकालने के वाद गर्मजल की उत्तर वस्ति (Hot douche) या 'पिच्युट्रीन' देना चाहिये।

अपरिहार्य रक्तस्राव या पुरःस्था अपरा

व्याख्या—नाम से ही स्पष्ट है अपरा का पुरः-आगे की ओर पाया जाना (Placenta praevia)। जव अपरा पूर्ण या अपूर्ण रूप में गर्भाशय के अधोभाग में रहती है। यह विकृति प्रति ५०० गर्भिणी में एक में पाई जाती है और अधिकतर वहु प्रजाताओं में मिलती है।

प्रकार, पूर्ण या मध्यस्थ (Complete or central)—जव कि अपरा ग्रीवा अन्तर्मुख को पूर्णतया आच्छादित कर ले। प्रत्यक्षतया जव ग्रीवा-नलिका से अंगुलि प्रविष्ट की जाय तो वह जरायु को नहीं स्पर्श कर सकती वीच में अपरा का व्यवधान मिलता है।

अपूर्ण—जव अपरा पूर्णतया ग्रीवा के अन्तर्मुख को आच्छादित नहीं करती। अपूर्णपुरःस्था अपरा के दो प्रकार हैं—

१. पार्श्वस्थ—जब अपरा अन्तर्मुख (Internal OS) तक न पहुंच पावे, किन्तु गर्भाशय के अधोशय्या (Lower uterine segment) में स्थित रहे।

२. तटस्थ (Marginal)—जब अपरा की स्थिति पार्श्व में ही अधोशय्या में हो; परन्तु उसका केवल एक सिरा अन्तर्मुख ढकता हो।

आजकल ये परिभाषायें 'मध्यस्थ' और 'पार्श्वस्थ' कम व्यवहृत होती हैं। आधुनिक वर्गीकरण इस प्रकार से किये गये हैं—स्थिति के अनुसार ४ प्रकार किये जाते हैं—

प्रथम स्थिति (Type)—अपरा अधोशय्या में ही रहती है, परन्तु उसका निचला किनारा अन्तर्मुख तक नहीं पहुंच पाता।

द्वितीय स्थिति—अपरा का निचला किनारा अन्तर्मुख तक तो पहुंचता है, परन्तु उसको वार-पार नहीं करता (Does not cross)।

तृतीय स्थिति—अपरा का निचला किनारा अन्तर्मुख को वार-पार (Crosses) करता है, परन्तु परीक्षक की अंगुली से अन्तर्मुख के समीप जरायु का भी अनुभव हो सकता है।

प्राकृतविकृत अपरास्थिति
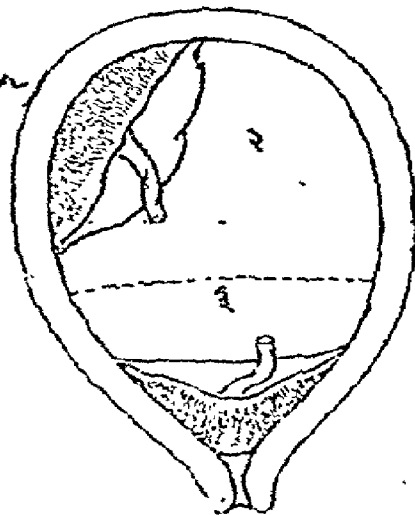
चित्र १०६
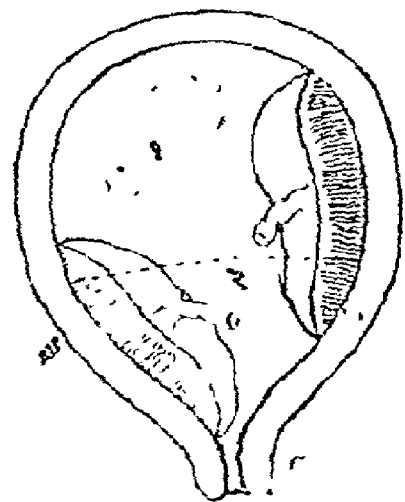
चित्र १०७

चतुर्थ स्थिति—अपरा पूर्णतया अन्तर्मुख को आच्छादित करती है और

इसके पूर्णतया व्यवधान होने के कारण जरायु का स्पर्शानुभव परीक्षक की अंगुलियों को नहीं हो पाता।

विकृत शरीर—१. अपरा प्राकृत से अधिक क्षेत्र में फैली रहती है। २. इस अवस्था में वह पतली एवं अनियमित आकार की होती है। ३. कई स्थानों पर अपचययुक्त (Degenerated) होती है। ४. इसमें अन्तःशल्य (Infarcts) मिलते हैं जिनका खटिकीभरण (Calcification) हो जाता है। ५. इन परिवर्त्तनों के कारणभूत स्थान स्थान पर हीन मात्रा में रक्त की पूर्ति (Supply) होती है। ६. नाभिनाल का अधिकतर मध्य में निवेश न होकर किनारे की ओर निवेश (Insertion) होता है। ७. अधोगर्भशय्या तथा ग्रीवा प्राकृत से अधिक मृदु एवं रक्ताधिक्यमय होती है फलतः इनका विदरण (Tear) भी आसानी से हो सकता है।
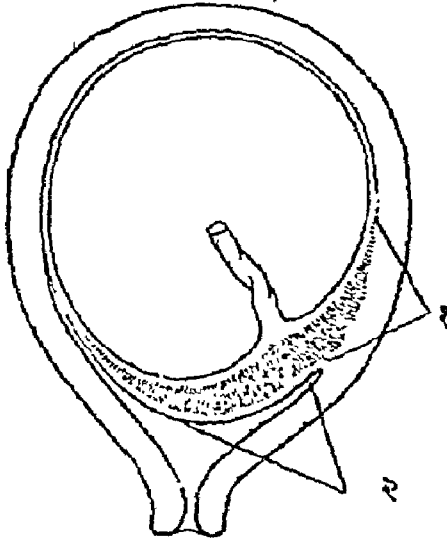
चित्र १०८

रक्तस्राव का कारण—रक्तस्राव अधोगर्भाशय्या की रक्तवाहिनियों से (मातृगत रक्त से) होता है। जब अधोगर्भशय्या विस्फारित होती है, तो अपरा के वियोजन (Seperation) से रक्तवाहिनियों के मुख खुल जाते हैं और रक्तस्राव होने लगता है। गर्भ के रक्तसंवहन (Foetal circulation) से रक्तस्राव प्रायः नहीं होता; होता भी है तो उस समय कर्षण (Manipulation) केकारण अपरा के टूट जाने से होता है।

लक्षण तथा प्रसवक्रम—प्रधान लक्षण केवल रक्तस्राव है। जो बिना किसी स्पष्ट कारण के भी होने लगता है। प्रथम मन्द होता है और एकाएक प्रारम्भ होता है; परन्तु कई घण्टे और दिनों तक जारी रहता है। यह किसी भी समय में यहाँ तक कि आधी रात या निद्रा की अवस्था में भी शुरू हो सकता है। किसी प्रकार बाह्य अभिघात से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। रोगी को वेदना नहीं होती। इस अवस्था में सामान्यतया रक्तस्राव की पुनरावृत्ति होती रहती है,

कई वार प्रारम्भ में अल्पमात्रा में रक्तस्राव होकर अनवरत कुछ दिनों के लिये भूरे रंग का स्राव होता रहता है।

प्रथमावस्था में प्रसव बड़ा विरक्तिकर होता है क्योंकि गर्भाशय के आकुञ्चन वहुत कमजोर होते हैं। जल पुटक (Bag of water) नहीं बनने पाता क्योंकि अपरा• डिम्ब का अधो-ध्रुव बनाती है जिससे विस्फारण की क्रियाहीन होती है। जरायु के विदीर्ण होने के वाद, अपरा की वाधाओं के कारण उदय लेने वाले अवयव की उत्तेजना भी (गर्भाशय के आकुञ्चनों को कराने वाली) कम हो जाती है जिससे अधोगर्भशय्या की विस्तृति अधिक आसानी से हो जाती है।

तृतीयावस्था में प्रसवोत्तर रक्तस्राव का भय रहता है क्योंकि अपरा का क्षेत्र प्राकृत से अधिक फैला हुआ रहता और पूर्णरूपेण अधोगर्भाशय्या के हिस्से में पड़ा रहता है और अधोगर्भशय्या का प्रत्याकुंचन (Retraction) बढ़िया नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त अधोगर्भशय्या में रक्ताधिक्य बहुत होता है और अल्प क्षत भी अधिक मात्रा में रक्तस्राव करा सकता है।

रोगविनिश्चय—रक्त-स्राव की पुनरावृत्ति जो प्रारम्भ में अल्प और वाद क्रमशः बढ़ती हुई मात्रा में होना पुरःस्था अपरा का द्योतक होता है।

औदारिक परीक्षा से गर्भाशय में गर्भ की स्थिति तिर्यक् रहती है अथवा सिर, श्रोणिकंठ के बहुत ऊपर रहता है—क्योंकि अधोर्भशय्या तो अपरा से पूर्ण रहती है। गर्भाशय स्पर्श में अविकृत प्रतीत होता है—मूत्र में शुक्ली की उपस्थिति संभवतः नहीं रहती।

योनि मार्ग से देखने पर किसी कोण से मृदु सुषिर अपरा को स्पर्श किया जा सकता है। शीर्ष को भी प्रतीत किया जासकता है। निश्चित निदान तो तभी संभव है जब अन्तर्मुख (Inter. OS) से अंगुलि को भीतर में प्रविष्ट करके अपरा को प्रतीत किया जाय। परन्तु इस विधि से परीक्षा करते समय तीव्र रक्तस्राव का भय रहता है। आजकल—'क्ष' किरण के द्वारा भी निदान में सरलता आगई है और पुरःस्था अपरा का निदान भी उसके द्वारा कर सकते हैं।

शुभाशुभ-मातृपक्ष में—रक्तस्राव की मात्रा के ऊपर शुभाशुभ निर्भर करता है। रोग का शीघ्रातिशीघ्र निदान हो जाने से यथोचित चिकित्सा की व्यवस्था हो जाने पर रोग का क्रम साध्य हो जाता है—अन्यथा अत्यधिक रक्त-स्राव के परिणाम स्वरूप माता की मृत्यु की संभावना रहती है; साथ ही तीव्र उपसर्ग

पहुंचने का भी भय रहता है। बहुप्रजाताओं की अपेक्षा अप्रजाताओं में रोग अधिक कष्टसाध्य होता है। यदि गर्भाशय में आकुंचन चल रहे हों तो तत्काल चिकित्सा प्रारम्भ कर देनी चाहिये अन्यथा रक्तस्राव अधिक बढने का भय रहता है। यदि रोगी की चिकित्सा उसके घर पर करनी हो और वह किसी सेवाश्रम में न जासके तो भी रोग कृच्छ्रसाध्य हो जाता है।

पुरःस्था अपरा नामक इस विकार में माता की मृत्यु तीन कारणों से होती है। १. संक्रमण, २. रक्त-स्राव ३. तथा मर्माभिघात (Shock)। इनमें संक्रमण का भय रक्त-स्राव के कारण रोगनिवारक क्षमता की कमी से रहता है साथ ही कर्षण प्रभृति उपचारों से भी संक्रमण के पहुंचने की आशंका रहती है। रक्तस्राव प्रसवपूर्व तथा प्रसवोत्तर भी हो सकता है। शीघ्रप्रसव के कारण मर्माभिघात का भय उपस्थित रहता है।

प्रसवोत्तर रक्तस्राव—१. गर्भकोष परासंग (Inertia), २. अपराक्षेत्र के विस्तृत होने तथा ३. रक्ताधिक्ययुक्त ग्रीवा के क्षत से होता है। यह माता के लिये घातक हो सकता है। कई बार फुप्फुस रक्तवाहिनी की अन्तःशल्यता (Pulmonary embolism) के कारण भी गर्भिणी की मृत्यु हो जाती है।

शिशु के पक्ष में—जब तक कि गर्भाशयभेदन (Caesarean section) न किया जाय अथवा पार्श्वस्थ अपरा न हो प्रसूत शिशु की स्थिति ठीक नहीं मिलती। शिशु की मृत्यु प्राणावरोध के कारण होती है। प्राणावरोध के निम्नलिखित कारण हैं—१. अपरा की पीडन या वियोजन, २. नाभिनाल का पीडन, ३. वियुक्त अपरा का रक्तस्राव, ४. अकाल प्रसव। इन कारणों से बालक में प्राणवायु की कमी पड़ती और मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—पुरःस्था अपरा का सन्देह या निदान होते ही रोगी को किसी चिकित्सालय में प्रविष्ट कराना चाहिये। यदि रक्तस्राव तीव्र हो तो उसके घर पर ही उसे ¼ ग्रेन मार्फिया अन्तस्त्वक्भेदन कर के देना चाहिये। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि चिकित्सालय में भेजने के पूर्व उसकी योनिपरीक्षा या योनि-पूरण न की जावे ताकि यदि परिस्थिति अनुकूल दीखे तो चिकित्सालय में उसका शीघ्र गर्भाशयभेदन के द्वारा गर्भशल्य का निर्हरण किया जासके।

रोगी के सकुशल चिकित्सालय पहुंच जाने पर उसको शल्यागार (Operation theater) में ले जाकर जीवाणुविरोधी तथा जीवाणुनाशक साधनों

के अपनाते हुए उसकी योनि की परीक्षा करके निम्न लिखित बातों का परिज्ञान करना चाहिये।

१. रोगी की आयु।

२. पूर्व की गर्भस्थितियों का वृत्त।

३. गर्भ की पूर्णता, अपूर्णता, अवतरण एवं उदय का निर्णय।

४. रक्तस्राव का परिमाण तथा रोगी की साधारण दशा।

५. प्रसवकाल प्रारंभ हो गया है या नहीं।

६. गर्भाशय-ग्रीवा की विस्तृति किस कोटि की है।

७. पुरःस्था अपरा का कौन सा प्रकार है।

८. अपरावरोध के उपस्थित या अनुपस्थित आधारभूत लक्षण।

९. गर्भ जीवित है या मृत।

रोगी की स्थिति यदि अधिक चिन्ताजनक दीखे तो उसमें योग्य व्यक्ति का रक्त-भरण करके पश्चात् योनिपरीक्षण प्रभृति उपचारों को प्रारम्भ करना चाहिये। यदि पुरःस्था अपरा तृतीय एवं चतुर्थ प्रकार की हो, गर्भाशयस्थ शिशु जीवित अथवा जीवन के योग्य जान पड़े तो स्त्री अप्रजाता हो या बहुप्रजाता सभी अवस्थाओं में तत्काल उदर-विपाटन या गर्भाशय-भेदन कर के जीवित शिशु का निर्हरण करे। यदि गर्भाशयभेदन का शल्यकर्म संभवन हो और रक्तस्राव हो रहा हो तो जरायु का विदारण करके प्रसव करावे। यदि रक्तस्राव न हो रहा तो और योनि-परीक्षा से अपरा की प्रतीति न हुई हो तो प्रसव को प्रकृत भाव से ही होने को छोड़ देना चाहिये।

कई बार चिकित्सालय में प्रविष्ट होने के अनन्तर गर्भिणी का रक्त-स्राव बन्द हो जाता है और शिशु की पूर्णता में कुछ सप्ताहों की कमी रहती है। ऐसी स्थिति में उसको चिकित्सालय में रखते हुए ही पूर्ण विश्राम की व्यवस्था करनी चाहिये। उसको मुक्त नहीं करना चाहिये। कभी तीव्र रक्त-स्राव होने पर रोगी निःसहाय हो जाता है।

गर्भाशयभेदन या कुक्षिपाटन एक बड़ा जघन्य उपक्रम है, अतः शिक्षित सहायक एवं अनुकूल परिस्थिति में ही करना चाहिये। इस शल्यकर्म को निम्न-लिखित तीन वर्ग के रोगियों में नहीं करना चाहिये—१. पुरस्था अपरा से पीड़ित रुग्णाओं में यदि चिकित्सालय की सुविधा उपलब्ध न हो, २. पुरःस्था अपरा यदि

तीसरे और चौथे प्रकार की न हो, ३. यदि की स्थिति शस्त्रकर्म के सहन करने के अनुकूल न हो।

गर्भाशयभेदन के अतिरिक्त उपायों में तीन उद्देश्यों को ध्यान में रखना चाहिये—१. रक्तस्राव का नियंत्रण, २. रक्तस्रावजनित उपद्रवों की चिकित्सा, ३. जब तक रोगी की दशा न सुधर जावे तब तक प्रसव न कराना। इन प्रमुख उद्देश्यों को ध्यान में रखते उपचार करना चाहिये।

रक्तस्राव का नियन्त्रण—अपरादेश को पीडित करना यह सभी प्रकार के रक्तस्रावों में सामान्य रूप से व्यवहृत होता है। सबसे सरल उपाय जरायु का कृत्रिम विदारण तथा उदरबन्ध है। उदरबन्ध के द्वारा गर्भ सिर नीचे उतरता और अपरादेश को दबाता है जिससे अपरास्थलगत रक्तस्राव बन्द हो जाता है। 'विलेट'

विलेट संदंश का प्रयोग
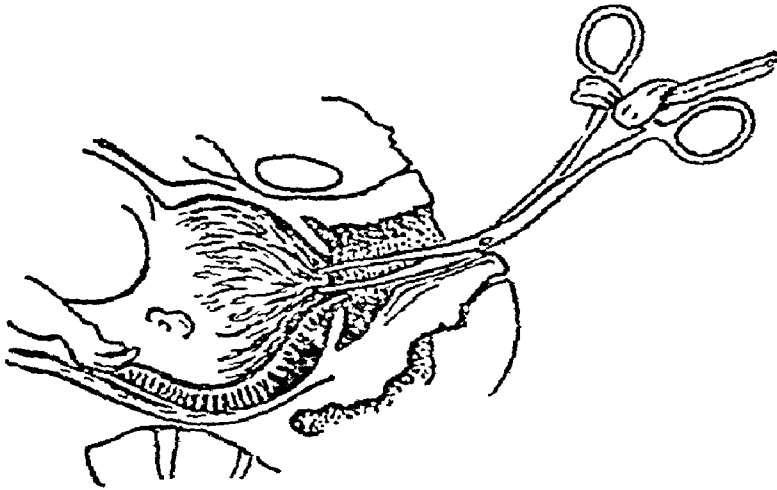
चित्र १०९

का शिरःसंदंश (Scalp Forcep) भी रक्तस्राव को बन्द करने में व्यवहृत होता है, इससे शिशु के सिर के ऊपर के चर्म को पकड़ नीचे की ओर कर्षण करते हैं। कर्षण में करीब आधा सेर का भार देते हैं। यदि जरायु विदारण से रक्तस्राव न बन्द हो तो इस विधि से रक्तस्राव को स्थिर करते हैं। यह कम से कम निरापद उपाय है—विवर्त्तन आदि से संक्रमण का अधिक भय रहता है।

यदि गर्भाशयभेदन की सुविधा न प्राप्त हो, रक्तस्राव तीव्र हो, अपरा आंशिक रूप से या पूर्णतया अन्तर्मुख को आच्छादित किये हो तो और भी सक्रिय ढंग से

दशम अध्याय
प्रसवोत्तर रक्तस्राव
(Post Partum Hæmorrhage)

व्याख्या—प्रसव के अनन्तर (बच्चे के निकल जाने के बाद) अपरा पतन के पूर्व तृतीयावस्था में होने वाले अत्यधिक रक्तस्राव को प्रसवोत्तर रक्तस्राव कहते हैं। यह प्रायः प्रसव के पश्चात्प्रथम छः घण्टे की भीतर ही मिलता है। सामान्यतया २० औंस (६०० सी. सी.) तक का रक्तनाश स्वाभाविक माना जाता है। इससे अधिक मात्रा में रक्तस्रुति का होना इस विकार का सूचक होता है। छः घण्टे के पश्चात् भी यदि रक्तस्राव चलता रहे तो प्रासूतिक रक्तस्राव (Puerperal Haemorrhage) कहना चाहिये।

प्रसवोत्तर रक्तस्राव को दो बड़े विभागों में बाँट सकते हैं। १. अपरास्थल से रक्तस्राव का होना (हीनबलताजन्य), २. जननपथ के अभिघात या क्षतों से रक्तस्राव का होना (अभिघातज), इनमें प्रथमोक्त अधिकतर मिलता है।

अपरास्थल से रक्तस्राव (Atonic)—इस अवस्था में प्रसवोत्तर रक्तनिरोध के प्राकृतिक साधनों की शक्ति कमजोर पड़ जाती है। उदाहरणार्थ—१. गर्भाशय आकुंचन एवं प्रत्याकुंचनों (Contraction & Retraction) की हीनबलता, २. विदरित धमनियों में न संकुचित होने की प्रवृत्ति, ३. रक्तस्कंदन (जमने) की कमी या अभाव, ४. गर्भाशय के आगे और पीछे की दीवालों के समत्व (Apposition) का अभाव।

हेतु—अपरास्थल से रक्तस्राव का प्रधान हेतु गर्भाशय के आकुंचनों की हीनबलता है। इसके दो विभाग हैं—१. गर्भाशय के रिक्त न रहने के कारण आकुंचनों की हीनबलता, २. गर्भाशय के रिक्त रहने के कारण गर्भाशय की क्लान्ति (Exhaustion); जिससे या तो अल्प आकुंचन होता या पूर्णतया बन्द हो जाता है।

अपरा के पतन के पूर्व का रक्तस्राव—१. अपरा का आंशिक वियोजन या विच्छेद, २. अनुचित काल में परिचारकों के द्वारा अपरा वियोजन के लिये किये गये प्रयास। ये दो हेतु हैं।

अपरा-पतन के पश्चात् के रक्तस्राव में—१. गर्भाशय के आकुंचनों का अभाव। २. क्लान्ति के कारण गर्भाशय के आकुंचनों की हीनबलता। ३. गर्भा-

शय का यमल गर्भादि के कारण अधिक फूला हुआ होना। ४. देर तक क्रियागम्भीर संज्ञानाशन। ५. गर्भिणी का बहुप्रजाता होना जिसे पेशीसूत्र अपचययुक्त हो गये रहते हैं। ६. पुरःस्था अपरा जिसमें अधोगर्भशय्या में पड़ा हो। जहाँ पर संकोचन का बल ही नहीं पड़ता। ७. अपरास्थल का विस्तृत होना।

इन हेतुओं का वर्गीकरण कई ग्रन्थकारों ने इस प्रकार का किया है—

प्रसवोत्तर रक्त-स्राव के हेतु

सहायक कारण	उत्तेजक कारण
१. बहुप्रसूता होना।	१. औपद्रविक गर्भकोप परासंग की स्थिति में शीघ्र तथा कृत्रिम प्रसव कराना।
२. प्रसूता की निर्बलता।	२. अपरा का अपूर्ण वियोजन।
३. अधिक काल तक गर्भाशय का आध्मान (Distension)।	३. अपरा का पूर्ण वियोजन परन्तु गर्भाशय के बाहर न आना।
४. गर्भाशय के अर्बुद (सौत्रिक)।	४. अपरा के खण्डों की गर्भाशय के भीतर अवशिष्ट रहना।
५. प्रसवप्राक् रक्तस्राव।	५. प्रसव की तृतीयावस्था में समुचित उपचार का न होना।
६. विकृतावतरण या उदय।	
७. संकुचित श्रोणि।	
८. विलम्बित या अवरुद्ध प्रसव।	
९. गर्भकोप परासंग (Primary uterine Inertia)।	
१०. 'क्लोरोफार्म' का देर तक देना।	
११. गोधूलिनिद्राकर ओषधियों का असम्यक् उपयोग।	
१२. रक्तस्कन्दन की कमी।	

रोगविनिश्चय—रक्तस्राव को देखकर सबसे प्रथम विचार इस बात का करना होता है कि यह रक्तस्राव अपरास्थल से हो रहा है अथवा अभिघात या क्षत के कारण गर्भाशय की हीनबलता के परिणाम स्वरूप गर्भाशय गुहा में रक्तस्राव इकट्ठा हो रहा है, जिसमें बाहर से कुछ स्पष्ट नहीं प्रतीत होता है।

अतः गर्भाशय के आध्मान का विचार कर लेना भी आवश्यक है। कई बार स्वान्तः प्रविष्ट गर्भाशय से भी पृथक्करण आवश्यक होता है।

लक्षण—रक्तस्राव के सभी लक्षण उपस्थित रहते हैं। यदि रोग की अवस्था तीव्र हो तो—

विवर्णता (Pallor)—त्वचा का रंग मोम जैसे पाण्डुवर्ण का हो जाता है। ओष्ठ काले पड़ जाते (नीलिमा) हैं। आँखें नीचे को धँसी हुई और नेत्रगत श्वेतमण्डल रक्तहीन दिखलाई पड़ता है।

नाड़ी—गति तीव्र, कम तनावयुक्त और अल्प भरी हुई प्रतीत होती है।

ताप—निम्न होकर ९६.५° फे. तक आ जाता है।

तृषा—अधिक रहती है। कई बार वमन, हृल्लास तथा डकार की बहुलता मिलती है।

श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea)—श्वसन गम्भीर और परिश्रम के साथ होता है। रोगी की साँस फूलती है। प्राणवायु को अन्तःश्वसन के द्वारा लेने में श्वसन की सभी सहायक पेशियाँ कार्य करती हैं। साथ में उरःशूल (Praecordial pain) या हृत्क्षेत्र पर रोगी को पीड़ा भी होती है।

बेचैनी—रोग की तीव्रावस्था में अधिक मिलती है। इससे रोग की गम्भीरता लक्षित होती है।

दृष्टिनाश (Amaurosis)—थोड़े काल के लिये आंशिक या पूर्णतया दृष्टि का नाश हो जाता है और चौबीस घण्टे के भीतर रोग पूर्णतया जाता रहता है।

चेतना—सामान्यतया रोगी संज्ञा-हीन नहीं होने पाता।

चिकित्सा—प्रतिबन्धक (Prophylactic) प्रसवोत्तर रक्तस्राव की चिकित्सा में इसका बड़ा महत्त्व है। इसलिये गर्भिणी स्त्री की पूर्ण नैदानिक परीक्षा करके स्थिर कर लेना चाहिये कि उसे औपद्रविक पाण्डु तो नहीं है। इसके लिये उनके रक्त की पूरी परीक्षा [सकलशोणित तथा श्वेतकायाणु की गणना, श्वेतकायाणुओं का सापेक्ष्य कणगणन, रक्तकणों का परिगणन (Platelet counts), शोणितवर्तुलि (Hb) का मापन, रक्तस्कन्दन काल (जमने में १०–१५ मिनट स्वभावतया लग जाता है।) तथा रक्तस्रावकाल (Bleeding time 2–5 Minutes by Duke's method) आदि की] करनी चाहिये।

यदि रक्तस्कन्दन या स्रावकाल का कोई विपर्यय दिखलाई पड़े तो 'कैल्शियम सोडियम लैक्टेट' २० ग्रेन की मात्रा में प्रतिदिन; एक एक सप्ताह का अन्तर देकर पूरे गर्भकाल तक देता चले। गर्भावस्था के अन्तिम कुछ सप्ताहों में जीवतिक्ति K का प्रयोग करना चाहिये।

बहुत से प्रसवोत्तर रक्तस्रावों का निम्नलिखित विधियों का अनुसरण करने से नियमन किया जा सकता है—१. प्रसव की प्रथमावस्था में यदि गर्भाशय के आकुंचनों की निर्बलता हो तो रोगी को निद्राकर ओषधियों को देकर सुलाना चाहिये। इससे जगने पर गर्भाशय के आकुंचन स्वाभाविक पर आ जाते हैं। प्रसव की द्वितीयावस्था में यदि गर्भाशय की निर्बलता जान पड़े तो यान्त्रिक साहाय्य से (Instruments assistance) प्रसव कर्म को करना चाहिये। प्रसव की तृतीयावस्था में उपद्रवों से रक्षा करने के लिये सर्वप्रथम यदि प्रसवप्राक् रक्तस्राव चलते रहे तो उसको यथाशीघ्र बन्द करे। उसके लिये रक्तस्राव-निरोधक साधनों से सुसज्ज रहना चाहिये। जैसे उष्णजल, उत्तरबस्तियन्त्र, विशोधित अंतस्त्वगवेधन की पिचकारी तथा गर्भाशयाकुञ्चक ओषधियाँ (Oxytocic drugs).

रोगनिर्मूलन चिकित्सा (Curative)

अपरापतन के पूर्व—गर्भाशय को अपरा से रिक्त करना। (क) रोगी को पीठ के बल उत्तान सुला दें, चिकित्सक अपने बायें हाथ को उदर पर रखे, उससे गर्भाशय को तब तक रगड़ता रहे जब तक कि वह कड़ा न हो जाय पुनः गर्भाशय स्कन्ध को पकड़कर उसे दबाकर निचोड़कर (Squeezying the uterus) अपरा को निकाले।

गर्भाशय को निचोड़कर अपरा के निकालने की विधि 'क्रेडे' की विधि कहलाती है। इस विधि को बरतते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिये—

१. इसके लिये एक ही हाथ से क्रिया करनी चाहिये। २. दाहिने हाथ से काम करने वाले व्यक्तियों को बायें हाथ से और बायें हाथ से काम करने वालों को दाहिने हाथ से गर्भाशय को पकड़कर दबाना चाहिये। कई बार निचोड़ने में दोनों हाथों की आवश्यकता पड़ सकती है। ३. गर्भाशय स्कन्ध को पकड़ते समय चिकित्सक का अंगूठा गर्भाशय की पूर्व दीवाल की ओर और अंगुलियाँ पश्चिम दीवाल की तरफ होनी चाहिये। ४. गर्भाशय स्कन्ध को निचोड़ना चाहिये और नीचे को श्रोणि में दबाना नहीं चाहिये। ५. यदि गर्भाशय मृदु और शिथिल हो तो उसके

ऊपर पीडन नहीं करे क्योंकि ऐसी दशा में उसके स्वान्तःप्रविष्ट (Inverted) होने का भय रहता है। ६. यदि दोनों हाथों के लगाने पर भी अपरा को दबाकर निकालने में सफलता न प्राप्त हो तो यह समझना चाहिये कि या तो अपरा गर्भाशय की दीवाल से संसृष्ट है या आकुंचनवलय (Contraction ring) बन गया है। ७. ऐसी दशा में पुनः 'क्रेडे' की विधि से निकालना हानिप्रद हो सकता है क्योंकि प्रासूतिक मर्माभिघात (Obstetric shock) की सम्भावना रहती है। इसलिये योनि में हाथ डालकर अधोलिखित विधि से अपरा को निकाले।

संसक्ता (अपतन्ती) अपराविलग्नीकरण
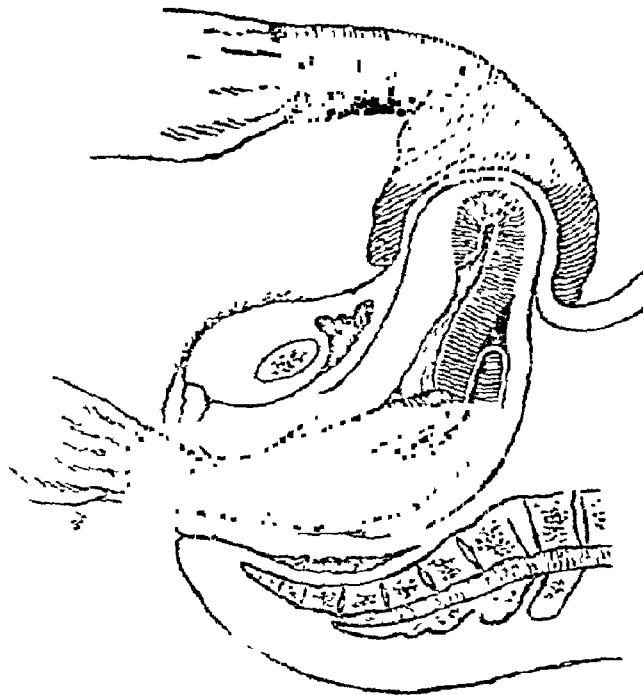
चित्र ११०

(च) **हस्तद्वय से कर्षण**—कर्षण की विधि को खतरे से खाली नहीं समझना चाहिये क्योंकि इससे माता के पक्ष में कई एक हानियों की सम्भावना रहती है। अंगुलियों से अपरा का वियोजन करते समय विदार का भय रहता है। कई बार गर्भाशय की दीवाल के टुकड़े टूट कर निकलने लगते हैं। वे अपरा खण्डों के भ्रम से बाहर भी निकाले जा सकते हैं। अंगुलि के रक्तकुल्याओं के सम्पर्क

में आना स्वाभाविक है, यदि कहीं संक्रमण पहुंचा तो परिणाम घातक होते हैं। अतः अंगुलियों से निकालने का प्रयत्न न करके रोगी को निःसंज्ञ करके पूर्वोक्त विधि से निचोड़ कर निकालना ही सर्वोत्तम है। अपराजन्म के बाद 'एरगामेट्रिन' (·५ मि· ग्राम) की मात्रा में देने से रक्तस्राव का नियमन किया जा सकता है।

अपरा जन्म के पश्चात् चिकित्सा—यदि अपरा जन्म के अनन्तर भी रक्तस्राव होता रहे तो पहला उपक्रम गर्भाशय को पकड़ कर उसे निचोड़ कर उसमें इकट्ठे रक्त का निकालना है। 'पिटोसिन' ५ यूनिट की मात्रा में अथवा 'एरगामेट्रीन (·५ मि· ग्राम) की मात्रा में पेशी द्वारा दें। आम तौर से इतनी चिकित्सा पर्याप्त होती है। इसके बाद गर्म जल या 'लाइसोल' के घोल की उत्तर वस्ति देना चाहिये।

उपर्युक्त विधियों से ही साधारणतः रक्तस्राव बन्द हो जाता है; परन्तु यदि बन्द न हो तो निम्नलिखित उपायों का उपयोग करना चाहिये। करद्वयपीडन (Bi manual compression) एक हाथ की मुट्ठी को योनि के अग्र-कोण पर रख कर दूसरे हाथ को बाहरसे उदर पर गर्भाशय के पश्चाद् भाग पर रखकर दोनों के बीच गर्भाशय को दबावें। इस विधि से गर्भाशय की आगे की दीवाल पीछे की दीवाल पर दबती है जिससे अन्दर से सब कुछ निकल आता है और रक्तस्राव बन्द हो जाता है। तीव्र रक्तस्राव की दशा में जैसे ही अपरा गिरे वैसे ही इस विधि का प्रयोग करना चाहिये। इसमें प्रतीक्षा में कालक्षेप न करके तत्काल इस विधि से चिकित्सा शुरू कर देनी चाहिये। यदि उचित ढंग से पीडन किया जाय तो यह प्रसवोत्तर रक्तस्राव के निरोध का सर्वोत्तम उपाय है। इस पीडन को
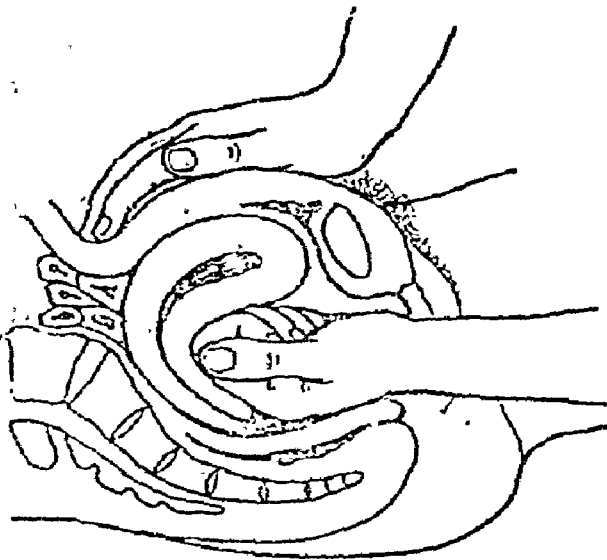
चित्र १११

तब तक बनाये रखना चाहिये जब तक गर्भाशय प्रत्याकुञ्चन (Retraction) न हो जाय। यदि गर्भिणी की उदर की दीवाल शिथिल हो तो चिकित्सक उसके उदर पर ही दोनों हाथों को रखकर बाहर से ही गर्भाशय की पूर्व एवं पश्चिम की दीवालों को दबा सकता है।

रक्तस्राव के परिणामस्वरूप होने वाले हृदयावसाद की चिकित्सा—

१. रुग्णा के सिर को नीचे करके सुलाना जिससे गुरुत्वाकर्षण के हेतु (Medulla) के रक्तसंचार में बाधा न पड़े।

२. शीघ्रातिशीघ्र रक्तरस या रक्त का अन्तर्भरण।

३. यदि उपलब्ध न हो तो गुदामार्ग से ग्लुकोज तथा लवण जल पहुंचाना चाहिये।

४. गर्म पानी के बोतल, कम्बल का ओढना, प्राणवायु का सुंघाना भी हितावह है।

५. रोगी को पूर्ण विश्राम करना चाहिये, हिलने डुलने से उसमें मूर्छा उत्पन्न होने का भय रहता है।

प्रसवोत्तर रक्तस्राव की सूत्ररूप में चिकित्सा—

(क) गर्भाशय को रिक्त करें। औदरिक कर्षण से कोशिश करे। यदि सफलता न मिले तो तत्काल अपरा को योनि में हाथ डालकर निकाले।

(ख) उदर की मालिश करके गर्भाशय को संकुचित करे साथ ही साथ 'एरगोमेट्रीन' और 'पिटोसीन' का सूची वेघ करे।

(ग) यदि गर्भाशय फिर भी संकुचित न हो तो उपर्युक्त विधि से करद्वय पीडन के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

औपद्रविक प्रसवोत्तर रक्तस्राव—(Secondry post partum hæmorrhage)—बच्चे के प्रसव के चौबीस घण्टे के बाद कई बार रक्तस्राव पाया जाता है इसी को औपद्रविक या प्रसूतिक रक्तस्राव कहते हैं।

चिकित्सा कारणानुरूप होती है। इस रक्तस्राव का हेतु गर्भाशय में अपरा के टुकड़ों का अवशिष्ट रहना है उन टुकड़ों को अंगुलियों की सहायता से निकाल देने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

अभिघात या क्षत के कारण होनेवाले प्रसवोत्तर रक्तस्राव की चिकित्सा—

प्रसव के बाद कई बार गर्भाशय ग्रीवा के क्षत के कारण रक्तस्राव होता है। इस रक्तस्राव में कई बार गर्भाशय की धमनी विदीर्ण हो जाती है जिससे सतत रक्तस्राव

होने लगता है और शीघ्रता से उसका निरोधन किया जाय तो माता का जीवन का भय रहता है।

इस अवस्था की आदर्श चिकित्सा रक्तस्रावी विन्दुओं (Bleeding points) का वन्धन करना तथा क्षतयुक्त ग्रीवा का सीवन करना है। सीवन के लिये आन्त्र-सूत्रों (Cat gut) का प्रयोग करना चाहिये। यदि यह सम्भव न हो तो रक्तस्रावी विन्दुओं को दवा देना चाहिये, योनि में वर्त्ति भर कर पूरण कर देना चाहिये और गरम उत्तर वस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

यदि वृहद् भगोष्ठ की सिरा कुटिलता के अभिघात से रक्तस्राव हो तो उस स्थिति में सीवन के द्वारा कार्य नहीं हो सकता वहाँ पर विशोधित रुई की कवलिका (Pad) रखकर पट्टी बाँध देना चाहिये। भग शिश्निका, योनि और मूत्र पीठ के विदारों में सीवन कर्म से रक्तस्राव रोका जा सकता है।

प्रसवोत्तर मर्माभिघात (Obstetric shock)

प्रसव के बाद विशेषतः उस अवस्था में जब रक्तस्राव के बाद शीघ्र प्रसव हुआ हो तो रोगी में घातक मर्माभिघात के लक्षण पैदा हो जाते हैं। रोगी विवर्ण हो जाता, उसका शरीर ठंडा पड़ जाता है, शीत स्वेद होने लगता है, क्षीण एवं तीव्र गतिक नाडी हो जाती है और कई बार वह वेहोश पड़ जाती है। इस से रोगी की शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। ऐसी अवस्था में ग्रीवा को हाथों के जरिये विस्तृत करते हुए, अपरा को हाथों के जरिये बलपूर्वक निकालने से, अपरा का गलती ढंग से पीडन करने से अथवा गर्भाशय का शीघ्रता से रिक्त करने से उत्पन्न होती है। चिकित्सा मर्माभिघात की करनी चाहिये।

अपरा तथा जरायु का विलम्बित प्रसव

गर्भाशय से अपरा के विच्छेद और बाहर निकलने के पश्चात कई चिन्ह उपस्थित मिलते हैं। १. गर्भाशय ऊपर को उठता है, २. छोटा हो जाता है, ३. अधिक कठिन और गतिशील हो जाता है; ४. नाभिनाल बढ़ जाता है तथा ५. योनि से अल्प मात्रा में रक्तस्राव होता रहता है।

अपरा का गर्भाशय की दीवाल से पृथक् होना दो बातों पर निर्भर करता है—(क) गर्भाशयिक सम्बन्ध की मजबूती, (ख) गर्भाशयिक संकोचों की शक्ति। अपरा का गर्भाशय में एक घंटे से ऊपर तक रहना विकार का सूचक है।

हेतु—१. गर्भाशयिक संकोचों की निर्बलता, २. गर्भाशय की दीवाल के साथ अपरा का विकृतरूप से संश्लिष्ट होना, ३. आकुञ्चनवलय (Contraction ring) की उपस्थिति अथवा गर्भाशय का विदार।

चिकित्सा—१. यदि अपराजन्म में विलम्ब होने के साथ ही रक्तस्राव भी पाया जाय तो अपराजन्म के पूर्व प्रसवोत्तर-रक्तस्राव के सदृश चिकित्सा करनी चाहिये।

२. यदि रक्त-स्रुति तीव्र न हो तो कुछ काल तक प्रकृति के ऊपर छोड़कर प्रतीक्षा करनी चाहिये।

३. यदि गर्भाशय का आकार छोटा होना, गर्भाशय स्कंध का ऊपर उठना, अधिक गतिशील होना, साथ ही नाभिनाल का अधिक लम्बा होना प्रभृति लक्षणों से अपरा के केवल योनि में पड़ा रहना पाया जाय तो गर्भाशय स्कंध को दबाकर अपरा को निकालना चाहिये।

४. यदि उपस्थित चिन्हों के आधार पर यह निश्चित हो कि एक घंटे के बाद भी अपरा गर्भाशय से ही संलग्न है तो 'क्रेडी' की विधि से उसे निचोड़कर निकाले।

५. विकृत संश्लेष्ट (Morbid adhesion) संकोचन के कारण अपरा का वियोजन न हो रहा हो तो रोगी को किसी आतुरालय में प्रविष्ट कर देना चाहिये और वहाँ पर रोगी को निःसंज्ञ करके योनि के अंदर में एक हाथ को प्रविष्ट करके (Manul removal) अपरा को निकालना चाहिये। दूसरे हाथ को उदर के ऊपर रखकर गर्भाशय प्रति-पीडन करना चाहिये। योनिगत हाथ से इधर-उधर हिलाते हुए (Saw like movement) अपरा को निकालना चाहिये।

६. यदि अपरा बहुत संश्लिष्ट हो तो उसको खण्ड-खण्ड करके निकालना उत्तम होता है। यन्त्र का प्रयोग निर्हरण में नहीं करना चाहिये। अपरा के निकल जाने के बाद उत्तर वस्ति देकर गर्भाशय का विशोधन करना चाहिये।

७. कई अवस्थाओं में गर्भाशय-छेदन (Hysterectomy) की भी आवश्यकता पड़ती है।

८. यदि आकुञ्चनवलय अपरा के आहरण में बाधक होता हो तो 'एमिल नाइट्राइट' के दो (५ बूंद के 'एम्प्यूल्स') शीशियों को तोड़कर सुंघाना चाहिये। इस क्रिया से आकुञ्चन दूर हो जाता है, गर्भाशय में शिथिलता आ जाती है और कुछ

ही मिनटों में अपरा अपने आप निकल जाती है। यदि सफलता न मिले तो अधिक मात्रा में 'एमिल नाइट्राइट' का प्रयोग इसी विधि से अथवा पेशी द्वारा (१० बूंद + १: १००० ऐड्रेनेलिन घोल) दिया जा सकता है। इस विधि से जब वलय शिथिल होता जान पड़े तो योनि में अंगुलि डाल अपरा को पृथक् कर बाहर निकाला जा सकता है।

जरायु का अवरुद्ध होना—(Retention of the membranes) प्रसव की तृतीयावस्था में गर्भाशय को संकुचित होने का अवसर देते हुए, गर्भाशय की दीवाल से जरायु के पृथक् करण में शीघ्रता करने से यह स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कई बार वहिर्जरायु में संसृष्ट होने और पृथक् न होने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

यदि जरायु का संश्लेष अल्प हो तो उसे मरोड़ते हुए रस्सी जैसे बनाकर निकालना चाहिये। यदि संश्लेष दृढ़ हो तो इस विधि से हानि की संभावना रहती है। कभी कभी संश्लिष्ट स्थल पर रस्सी टूट जाती है जिससे जरायु का कुछ भाग गर्भाशय में अवशिष्ट रह जाता है। इसलिये वहिर्जरायु बहुत संश्लिष्ट (Adherent) हो तो उसको बिना मरोड़े ही धीरे-धीरे निकाले। गर्भाशय के आकुञ्चन एवं प्रत्याकुञ्चन उसको निकालने में पर्याप्त होते हैं।

यदि निकालते समय बहिर्जरायु टूट जाय तो उसे 'स्पेन्सरवेल' के संदंश से पकड़ कर निकालना चाहिये। यदि वहिर्जरायु का कुछ भाग गर्भाशय के भीतर अवशिष्ट जान पड़े और गर्भाशय ग्रीवा से लटकता दिखलाई पड़े तो अन्तगर्भाशयिक परीक्षण विधियों से उसका आहरण कर सकते हैं। यदि जरायु का अनुभव न हो तो अन्तगर्भाशयिक विधियों (Intra-uterine) से उसका निर्हरण नहीं करना चाहिये।

वास्तव में जरायु का गर्भाशय के भीतर का अल्प अवशेष कोई लक्षण नहीं पैदा करता। उसके लिये अधिक व्यग्र होने की आवश्यकता भी नहीं रहती क्योंकि उसके टुकड़े सूतिका स्राव (Lochia) के साथ अपने आप बाहर निकल आते हैं।

अवरुद्ध जरायु के परिणामस्वरूप तीन उपद्रवों की सम्भावना रहती है—१. हीन संवरण (Sub-involution), २. लाल रंग का सूतिका स्राव, ३. तथा उपसर्ग (Ifection)। इनमें तीसरा अधिक भयावह होता है और इसका प्रतीकार

निर्जीवाणुक (Aseptic) उपक्रमों के द्वारा आसानी से किया जा सकता है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में विभिन्न रक्तस्रावों का वर्णन भिन्न भिन्न प्रसंगों में किया मिलता है। एक स्थान पर संग्रहीत इस रूप का स्वतन्त्र अध्याय नहीं मिलता। चिकित्सा प्रयोग रक्तपित्त सदृश करनी होती है। गर्भपात और गर्भस्राव में कथित उपचारों का भी उपयोग करना चाहिये।

आधार तथा प्रमाणसंचय—

(Midwifery by Tenteachers)

—ooXoo—

एकादश अध्याय

जरायु, अपरा तथा नाभिनाल के विकार

(Diseases & Abnormalities of Amnion Placenta & cord)

गर्भोदकातिवृद्धि (HydramniOS)—जैसा कि नाम से ही विदित है इस विकार में गर्भोदक (Liquor amnii) की मात्रा अधिक हो जाती है। किस मात्रा को अधिक या अत्यधिक मानना चाहिये, यह बताना कठिन है; जब कि गर्भोदक की प्राकृत मात्रा १०–५० औंस (३००–१५०० सी० सी०) तक हो सकती है। तथापि गर्भ की पूर्णावस्था में ५ पिण्ट से कम गर्भोदक का होना अतिवृद्धि नहीं कहलाता।

यह विकार अधिकतर गर्भावस्था के मध्य में पाई जाती है, आम तौर से एक बीजात्मक यमलों और विकृत गर्भों से यह अवस्था पाई जाती है। कारण अज्ञात है।

प्रकार, तीव्र—बहुत कम पाया जाता है। जल शीघ्रता से इकट्ठा होता है। इसके द्वारा उत्पन्न अल्प आध्मान भी रोगी के जीवन के लिये खतरा पैदा कर सकता है। प्रधान लक्षण शीघ्रता से बढ़ने वाला उदर शूल होता है। साथ ही तीव्र एवं सतत बनी रहने वाली छर्दि (कै) भी रोगी में मिलती है। दबाव के कारण उत्पन्न लक्षणों में श्वासकृच्छ्र, उरःशूल और पादशोफ भी मिल सकता है।

जीर्ण—यही प्रकार सामान्यतया मिलता है। इसमें गर्भोदक की वृद्धि शीघ्रता से न होकर शनैः शनैः होती है। रोगी में तीव्र लक्षणों की उपस्थिति नहीं मिलती। रोगी उदर के आयाम बढ़ने की तकलीफ बतलाता है और गर्भ की गतियों का अधिक अनुभव करता है। रोगी में आध्मान, मन्दाग्नि, हृद्द्रव (Palpitation) श्वासकृच्छ्र, ओष्ठों की नीलिमा भी मिलती है। पैर में शोफ या सिराकुटिलतायें भी मिल सकती हैं।

शारीरिक चिह्न (Physical signs)—उदर का आयाम साधारण की अपेक्षा अधिक बड़ा मिलता है तथा गर्भाशय-स्कन्ध अधिक ऊँचाई पर मिलता है। उदर की दीवाल पतली एवं औदरिक पेशियाँ अन्तराल युक्त मिलती हैं। उदर कड़ा और स्पर्शनाक्षम रहता है। गर्भ के अंगों का स्पर्शन (Palpation) तथा प्रतीति कठिन होती है। गर्भ के अत्यन्त गति-शील होने से गर्भ-प्रत्याघात अत्यन्त व्यक्त मिलता है। तरंग प्रतीति (Fluctuation) की उपस्थिति तथा गर्भासनों की भी विकृति मिलती है। गर्भ का हृच्छब्द नहीं स्पष्ट रहता है। माता की नाडी की गति तीव्र मिलती है। कई बार उदर की दीवाल का शोफ भी मिलता है और कभी कभी मूत्र में शुक्लो की उपस्थिति मिलती है।

रोगविनिश्चय—बहु गर्भ (Multiple pregnancy), बीजग्रन्थिका सद्रवग्रन्थि (Ovarian cyst) तथा विकृत गर्भ (Hydatidi form mole) प्रभृति समान लक्षणों वाले गर्भों से विभेद करना आवश्यक है।

गर्भोदकातिवृद्धि का गर्भावस्था तथा प्रसव पर प्रभाव—गर्भ के अधिक गतिशील होने के कारण गर्भ की विकृत उदय एवं अवतरणों की बहुत सम्भवना रहती है। ५०% गर्भिणी में अपूर्णकाल प्रसव होते देखा गया है। जरायु के विदीर्ण होने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है, नाभिनाल का भ्रंश अधिकतर मिलता है। गर्भाशय की हीन-बलता के कारण प्रसवोत्तर रक्तस्राव की घटना भी पाई जाती है।

चिकित्सा—गर्भोदक की उत्पत्ति के नियन्त्रण तथा शोषण की कोई भी विधि ज्ञात नहीं है। जीर्ण स्वरूप की गर्भोदक वृद्धि में किसी प्रकार की चिकित्सा की आवश्यकता नहीं पड़ती; परन्तु यदि दबाव के कारण श्वासकृच्छ्र अथवा हृदय के ऊपर भार पड़ने के लक्षण होने लगें तो गर्भोदक की कुछ मात्रा निकालनी चाहिये।

यदि 'क्ष' किरण परीक्षा से गर्भ जीवन योग्य हो अथवा अस्वाभाविक जान पड़े तो जरायु के वेधन करके कृत्रिम प्रसव करा देना चाहिये।

'क्ष' किरण परीक्षा द्वारा यदि गर्भ स्वस्थ एवं अविकृत हो और जीवित रहने योग्य नहीं हो पाया हो; तो उदर की दीवाल से गर्भाशय का वेधन (सुषुम्ना जल निकालने वाली सूची के द्वारा) कर गर्भोदक का विस्राव करना चाहिये। इस विधि के प्रयोगकाल में मूत्राशय को रवर की मूत्रनाड़ी संयोजन के द्वारा रिक्त कर लेना चाहिये, साथ ही अपरा का वेधन न हो तो इस वात का ध्यान रखना चाहिये। एक वार वेधकर ४ पिण्ट तक जल सुरक्षित भाव से निकाला जा सकता है। आवश्यकतानुसार गर्भकाल में पुनः इस शल्यकर्म को दुहराया जा सकता है।

गर्भोदक की कमी या गर्भोदक का भाव (Oligohydramnios)-उपर्युक्त अवस्था की ठीक विपरीत दशा इसमें रहती है। गर्भोदक की अतीव कमी हो जाती है। यह विकार वहुत कम पाया जाता है तथा कारण अज्ञात है। अधिकतर ऐसी गर्भस्थितियों में जिनमें गर्भस्थ शिशु के शुक्र प्रसेक में छिद्र नहीं (Imperforate urethra) होता यह स्थिति मिलती है। इसमें वच्चे की त्वचा मोटी और सूखी हुई रहती है।

यदि गर्भोदक का पूर्णतया अभाव हो तो अन्तर्जरायु संश्लिष्ट हो जाती है। गर्भ का विकृत अवस्थिति होने से प्रसव में वाधा होती है। गर्भकोष परासंग (गर्भाशय की हीन वलता) वहुत मिलती है।

अपरा के दोष तथा विकार (Anomalies of placenta)

१. आयामगत विपर्यय—पूर्ण प्रगल्भ अपरा साधारण रीति से व्यास में ८ इंच की और मोटाई में ¾ से १¼ इंच की होती है; परन्तु एक वीजात्मक यमल गर्भों में वह वहुत वड़ा भी हो सकता है।

२. भार के विपर्यय—पूर्ण प्रगल्भ अपरा औसतन १¼ पौण्ड भार में होती है। सामान्यतया यह वच्चे के पूरी तौल का ⅙ होता है। फिरङ्गोपसृष्ट वालकों में इसकी तौल वढ़ जाती और गर्भ के भार ¼ या ½ तक हो सकता है। शुक्लीमेह की उपस्थिति में गर्भस्थ शिशु के सर्वाङ्ग शोफ के परिमाण स्वरूप इसका भी भार वढ़ जाता है।

वनावट के विपर्यय—

१. नाभिनाल ठीक केन्द्र पर न लगकर इधर-उधर लगे तो उसे केन्द्र भ्रष्टा अपरा (Batlledore placenta) कहते हैं।

२. अपरा से कुछ दूरी पर नाभिनाल जरायु से सम्बद्ध रहता है, रक्तवाहिनियाँ इस सम्बद्ध स्थल से (Attachment) चल कर अपरा के किनारे तक आकर प्रविष्ट होती हैं इसे दूरस्था अपरा (Placenta velamentosa) कहते हैं।

३. अपरा का एक मण्डल न होकर अनेक खण्डों में विभाजित हो सकती है। इस प्रकार द्विखण्डीय (Bipartite) अथवा त्रिखण्डीय (Tripartite) हो सकती है।

४. कई वार प्रधान अपरा से कुछ दूरी पर जाकर दूसरा खण्ड निर्मित होता है इसे द्वीपीभूता अपरा (Placenta succenturiata) कहते हैं। कई वार एक से अधिक भी ऐसे द्वीप खण्ड इसमें मिल सकते हैं। ये सभी द्वीप प्रधान अपरा के साथ रक्तवाहिनियों द्वारा सम्बद्ध रहते हैं। इस विकार का वड़ा महत्त्व है। क्योंकि प्रधान अपरा के पतन के वाद भी ये गर्भाशय में अँटके रह सकते हैं। इसके परिणाम स्वरूप प्रसवोत्तर रक्तस्राव, तीव्र मक्कलशूल (After pains) तथा संक्रमण हो सकता है। इसलिये अपरा की परीक्षा करते समय इसका भी शोध कर लेना चाहिये।

५. एक ऐसी अवस्था भी होती है जिसमें अपरा के गर्भधराकला (Decidua basalis) तक ही सीमित नहीं रहती; वल्कि पूरे डिम्व को ढकती रहती है। इस प्रकार वहिर्जरायु कोरक डिम्व के चारों ओर को क्रियाशील होते हैं, जिससे अपरा का निर्माण विस्तृत फैला हुआ होता है। इसीलिये इसे विकीर्णा अपरा (Placenta Diffusa) कहते हैं। वालक के पोषण में वाधा नहीं होती है।

६. कई वार अपरा गर्भाशय की दीवाल के साथ पूर्णतया संश्लिष्ट हो जाती है। यह एक प्रकार का वैकारिक रूप है। इस अवस्था में गर्भधराकला के धातुओं में और अपरा में कोई पार्थक्य ही नहीं रह जाता, सुषिर स्तर गायव हो जाता है। वहिर्जरायु के कोरक गर्भाशय की पेशियों को छेद कर उसमें घुस जाते हैं। इस भाँति अपरा एवं गर्भाशय की दीवाल एक में मिलकर एक ठोस पिण्ड रूप ले लेती हैं। इस प्रकार का वैकारिक संश्लेष वहुत कम प्रति २०००० प्रसवों में एक

के अनुपात से मिलता है। इस प्रकार की अपरा को अन्तर्निविष्टा अपरा (Placenta Increta) कहते हैं।

अन्तर्निविष्टा अपरा में रक्तस्राव नहीं होता है क्योंकि इसमें अपरा के किसी अंश का विच्छेद होता ही नहीं। चिकित्सा में इसके टुकड़े-टुकड़े अलग-अलग करके निकाला जा सकता है; परन्तु यह खतरे से खाली नहीं है। अतएव इसकी चिकित्सा में सर्वोत्तम उपाय गर्भाशयच्छेदन (Hysterectomy) है।

७. कचित् अन्तर्जरायु के अपरा क्षेत्र पर सम्यक्तया चिपक जाने के बाद वहिर्जरायु करोकों की संख्या वृद्धि अपरा के किनारों के चारों ओर होने लगती है। जिससे अपरा का भ्रूणपृष्ठ केन्द्र में अवनत हो जाता (Depressed) है तथा उसके चारों ओर उभरा भाग दिखलाई पड़ने लगता है। इस अवस्था की अपरा को प्राकारा (Placenta circumvattata) कहते हैं।

अपरा के रोग—

१. **अपरा का क्षय—**वहुत कम पाया जाता है। माता के क्षय पीड़ित होने से क्षय के कीटाणु (अम्लसह दण्डाणु) अपरा में मिल सकते हैं। कई बार गर्भ के शरीर में क्षय के कीटाणुओं की उपस्थिति वनी रहने पर भी अपरा में कोई भी चिह्न नहीं मिलता।

२. **अपरा का फिरङ्ग—**सामान्य अपरा से फिरङ्गोपसृष्ट शिशु की अपरा, भार में अधिक होती है; परन्तु अपरा की भार में अधिकता दूसरे कारणों से भी आ सकती है। अणुवीक्षणात्मक छेदनों (Microscopic sections) में कई वार फिरङ्ग का प्रमाण मिल सकता है। फिरङ्गोपसृष्ट अपरा में वहिर्जरायु कोरक अपेक्षाकृत लम्बे होते हैं, संख्या में अधिक होते हैं और उनमें रक्तवाहिनियों का अभाव दिखलाई पड़ता है अतः धमनीशोथ (Endarteritis) मिल सकता है; परन्तु फिरङ्ग जीवाणुओं की उपस्थिति आसानी से नहीं मिल सकती।

३. **अपरा का खटिकीभरण** (Calcification)—अपरा के मातृ पृष्ठ पर गर्भस्थिति के अन्तिम मासों में कुछ इस प्रकार के परिवर्त्तन मिलते हैं। पूरे अपरापृष्ठ पर छोटी-छोटी गांठे वन जाती हैं जो अपरा के वृद्धावस्था का द्योतन करती हैं।

४. **अन्तःशल्य** (Infarcts)—कई वार रक्त के जमे हुए थक्के के टुकड़े अपरा की रक्तवाहिनियों में प्रविष्ट होकर शल्यवत् कार्य करते हैं। उनके

द्वारा रक्तवाहिनियों के स्रोत रुद्ध हो जाते और अपचित हो जाते हैं। अधिकतर अपरा की प्रगल्भावस्था में ये मिलते हैं और गर्भस्थिति के अन्तिम दिनों में पाये जाने के कारण अपरा की वृद्धावस्था की सूचना मात्र देते हैं। कई वार ये वैकारिक होकर गर्भ को पोषण में भी वाधा पहुँचा सकते हैं। ये अन्तःशल्य रंग में भूरे-श्वेत या लाल भी हो सकते हैं। अपरा के पीछे रक्तस्कन्दन होने पर या अपरा के धातुओं में रक्त के जमने पर (Retroplacental or Intraplacental clot के) अन्तःशल्य भयंकर होते हैं। इनका कुछ सम्बन्ध पूर्व-गर्भाक्षेप या गर्भाक्षेपक के साथ ज्ञात होता है क्योंकि इन अवस्थाओं में प्रचुर (Extensive) अन्तःशल्यता पाई जाती है।

५. अपरा की सद्रवग्रन्थियाँ (Cysts)—छोटी वेर से लेकर मुर्गी के अण्डे के आकार तक की हो सकती है। इनका वहिर्जरायु से उद्भव होता है। ग्रन्थि की दीवाल श्वेतकला की वनी होती है उसके भीतर स्वच्छ श्वेत तरल भरा रहता है, जो क्वचित् रंजित होकर लाल भी हो सकता है। इनके कारण गर्भावस्था या प्रसव पर कोई भी असर नहीं पड़ता।

६. अर्वुद—अपरा के अर्वुदों का होना विरले ही पाया जाता है। वहुत इस प्रकार की अर्वुद कही जाने वाली रचनायें वास्तव में अपरागत अन्तःशल्यतायें ही होती हैं। इन अर्वुदों का गर्भ के ऊपर कोई परिणाम तवतक नहीं होता जव तक कि ये अपरा के एक वड़े क्षेत्र को न घेर लें और अपरा के वड़े क्षेत्र को कार्य हीन न कर दें।

कई प्रकार के सौम्य और घातक अर्वुदों का उल्लेख पुस्तकों में मिलता है। **उदाहरणार्थ**—श्लेष्मार्वुद (Myxoma) सौत्रिकार्वुद, रक्तार्वुद (Angioma) मांसार्वुद (Sarcoma) तथा जरायु रक्तार्वुद (Chorio-Angioma)।

नाभिनाल की अस्वभाविकतायें—नाभिनाल की प्राकृतिक लम्वाई उतनी ही होती, जितनी गर्भशरीर की अर्थात् २० इञ्च (५० से. मी.)। इसमें विभिन्नता मिल सकती है। लम्वाई की अधिकता होने से उसमें भ्रंश या गाँठों के होने की सम्भावना रहती है। यदि प्राकृत से वहुत छोटा हुआ तो उसके गर्भ के किसी अवयव में लपटाने की सम्भावना रहती है। इसके कारण प्रसव की द्वितीयावस्था में विलम्व, नाभिनाल का विदीर्ण होना, अपूर्णावस्था में ही अपरा का वियोजन,

गर्भाशय का स्वान्तःप्रवेश (Inversion) सम्भव है। इस अवस्था में चिकित्सा के रूप में नाल को मुक्त करना यदि बालक की ग्रीवा से लिपटा हो, या दो स्थानों को दबाकर नाभिनाल काट देना, या बालक प्रसव के शीघ्रता से कराना प्रभृति उपचार किये जाते हैं। कई बार ग्रीवा में लिपटा हुआ नाभिनाल अपरा के गर्भगत रक्तसंचार में बाधा पहुंचाकर गर्भाशय में ही गर्भ की मृत्यु तक करा सकता है।

गाँठें—नाभिनाल में गांठे दो प्रकार की हो सकती हैं—वास्तविक तथा मिथ्या। कई बार नाभिनाल में यत्र तत्र 'व्हार्टन की जेली' के बैठ जाने से उभार बन जाते हैं और उनका सादृश्य गाँठों से होता है। इस अवस्था को मिथ्या गाँठ कहते हैं क्योंकि यहाँ पर भ्रम मात्र ही रहता है। वास्तव में नाल में गाठें नहीं पड़ी रहतीं हैं।

वास्तविक गांठे गर्भ की गतियों के कारण उत्पन्न होती हैं। यदि बच्चा दैवात गति करते हुए नालरूपी रस्सी के फन्दे (Loop) के बीच से होकर निकल गया तो फन्दे में बाँध सी होकर गाँठ पड़ जाती हैं। ये गांठे कचित् इतनी कस-कर बंधी मिल सकती हैं, जिससे रक्तप्रवाह में बाधा पहुँचकर उसका निरोध हो जाता है। सामान्यतया इन गाँठों से कोई भी हानि गर्भ को नहीं पहुंचती। परन्तु कभी कभी ऐसी घटना सम्भव हो जाती है जिससे रक्तप्रवाह का रोध हो जाता है तथा गर्भ का गर्भाशय को भीतर मृत्यु हो जाती है।

अस्वाभाविक निवेश (Insertion)—अपरा के वर्णन के प्रसंगों में ही इसका वर्णन हो चुका है। कई बार नाल अपरा के किनारे पर लगता है। तथा कई बार जरायु में सन्निविष्ट होता है। यहाँ रक्तवाहिनियों की शाखायें निकल-कर पुनः अपरा पृष्ठ तक पहुंचती है। पहली अवस्था को केन्द्रभ्रष्ट निवेश तथा दूसरी को जरायु निवेश कहते हैं। इनका कोई निदान एवं चिकित्सा सम्बन्धी महत्व नहीं है और न ये गर्भ अथवा प्रसव में ही बाधक होते हैं।

आधार तथा प्रमाणसंचय—

(Midwifery by Tenteachers.)

द्वादश अध्याय

जननाङ्गों के क्षत

Traumatic Lesions of the Genitaltract.

गर्भाशय का विदीर्ण होना

गर्भाशय का विदार एक सांघातिक अवस्था है। ऐसी घटना आमतौर से प्रसवकाल में घटती है, क्वचित् प्रसव के पूर्व गर्भस्थिति के अन्तिम सप्ताहों में भी घट सकती है।

गर्भाशय का विदार

चित्र ११२

१-२. आकुञ्चनवलय
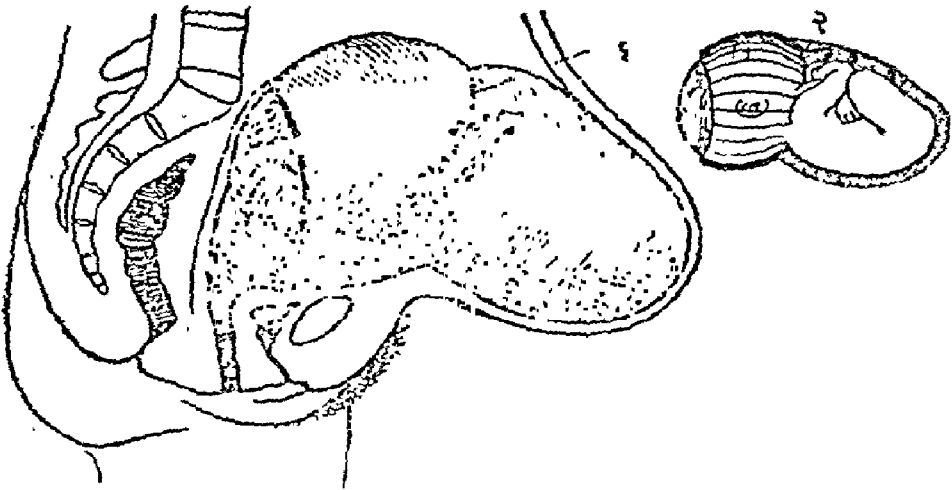
हेतु—१. गर्भावस्था में उदर के ऊपर पड़ा हुआ सीधा अभिघात गर्भाशय को विदीर्ण कर सकता है।

२. निरुद्ध प्रसव या सव्यापप्रसव।

३. अन्तर्विवर्त्तन (Internal version)।

४. गर्भाशय का कमजोर व्रणवस्तु—पूर्व में गर्भाशय भेदन के अनन्तर व्रण के पूरण होने के अनन्तर जो व्रणवस्तु (Scar) बनता है वह यदि कमजोर हुआ तो परवर्ती प्रसवों में गर्भाशय को विदीर्ण कर सकता है।

५. संश्लिष्ट अपरा का निर्हरण (Morbidly Adherent placenta)।

६. वहुगर्भधारणा के कारण गर्भाशयिक पेशियों की दुर्बलता।

७. गर्भाशय ग्रीवा का वलपूर्वक प्रसारित करना।

८. पीयूषग्रन्थिसत्व (Pitutarine) का असम्यक् प्रयोग।

वैकृतिकी—विदार दो प्रकार के हो सकते हैं (१) पूर्ण या अन्तः औदर्या गुहागत (२) अपूर्ण या वहिः औदर्याकलागत। पक्षवन्धनिका में विदार का होना पूर्ण नहीं कहा जा सक्ता जवतक कि रक्त औदर्याकला में न दिखलाई पड़े।

सवाधप्रसवों में विदार अधोगर्भाशय्या के पतले एवं अत्यन्त तने हुए भाग में होता है, इसलिये इसी भाग तक सीमित रहता है, परन्तु कभी ऊपर या नीचे की ओर भी फैला मिलता है। माता की उदर की शिथिलता में ('पेंडुलसवेली' की स्थिति में) विदार गर्भाशय की पीछे वाली दीवाल में तथा गर्भाशयगत गर्भ की तिर्यक् आसनों में पार्श्व की दीवाल में होता है। सवाध प्रसवों में गर्भाशय का प्रत्याकुंचन एवं अधोगर्भशय्या (Lower segment) का अत्यन्त पतला होना विदारकारक होता है।

सवाध प्रसवों में अधिक विलम्व होने से गर्भाशय स्वयमेव विदीर्ण हो जाता है, कई वार प्रसव में यान्त्रिक सहाय्य लेने के कारण जैसे ग्रीवा को जवर्दस्ती फैलाने, विवर्त्तन, सन्दंश के प्रयोग अथवा शिरोभेदन करते हुए भी विदीर्ण हो जाता है। यदि विदार पूर्ण हुआ तो गर्भ अपरा के साथ औदर्यागुहा (Peritoneum) में निकल आता है; परन्तु यदि विदार अपूर्ण रहा और उदय लेने वाला भाग श्रोणि में स्थिर हो चुका हो तो गर्भ का थोड़ा सा हिस्सा वाहर निकल पाता है।

लक्षण तथा चिह्न—

गर्भावस्था में-निदान कठिन होता है जव तक कि उदर को खोलकर न देखें।

प्रसवावस्था में—

१. उदर के अधोभाग में तीव्र शूल।

२. विदार के तत्काल वाद मर्माभिघात के लक्षण-ललाट पर शीत स्वेद, चेहरा विवर्ण एवं क्षुब्ध हो जाता है। नाड़ीक्षीण एवं तीव्रगतिक हो जाती है। कई वार इतने गम्भीर लक्षण नहीं भी मिलते।

३. **रक्तस्राव**—यदि शिशु आंशिक रूप में गर्भाशय के बाहर निकला हो तो गर्भाशय का आकुंचन रक्तस्राव को बन्द कर देता है। गर्भाशय संकुचित होकर शिशु के शरीर पर चिपक जाता है। अपूर्ण विदार में लक्षण हल्के मिलते हैं और रक्तस्राव विदीर्ण क्षेत्र के रक्ताधिक्य (Vascularity) के अनुसार न्यून या अल्प हो सकता है।

गर्भाशय विदार की स्थिति में बाह्य रक्तस्राव बहुत कम होता है-यदि रक्तस्राव हुआ भी तो वह औदर्य्या गुहा में होता है।

४. उदर की परीक्षा करने पर (यदि गर्भ पूर्णरूपेण औदर्य्या गुहा में चला गया हो) तो छोटे और कठिन गर्भाशय के पार्श्व में एक पिण्ड का अनुभव होता है। योनिपरीक्षा से उदय लेने वाले भाग की अनुपस्थिति रहती है; परन्तु यदि उदय लेने वाला भाग पूर्णरूपेण श्रोणि में स्थिर हो चुका हो और उसके बाद विदार हुआ हो तो उसकी उपस्थिति भी मिल सकती है।

५. कई बार विदार का ज्ञान, तृतीयावस्था में सतत रक्तस्राव की उपस्थिति में योनिपरीक्षा करते हुए होता है। गर्भाशय में हाथ डालकर अपरा का निर्हरण करते समय यह जान पड़ता है कि गर्भाशय विदीर्ण है और अपरा औदर्य्या गुहा में बाहर निकल गई है। अतः प्रसव की तृतीयावस्था में दृढ़भाव से प्रत्याकुंचित गर्भाशय में यदि सतत रक्तस्राव होता चले तो विदार की सम्भावना रहती है।

शुभाशुभ—गर्भाशय के विदार माता के लिये बड़े घातक होते हैं। इससे लगभग ५०% माताओं की मृत्यु हो जाती है। अपूर्ण की अपेक्षा पूर्ण विदार अधिक भयंकर होता है। शिशुओं के पक्ष में भी यह अवस्था हानिप्रद प्रमाणित हुई है क्योंकि लगभग ९०% बच्चों की मृत्यु हो जाती है।

रक्त का अन्तर्भरण, शुल्ववर्ग की ओषधियों के प्रयोग तथा 'पेनीसीलीन' प्रभृति जीवाणुनाशक योगों के उपयोग से माता की मृत्यु बहुत कुछ बचाई जा सकती है।

चिकित्सा-प्रतिबन्धक उपचार—

१. विषम अनुपात का यदि प्रारम्भ में निदान हो सके तो उसका पहले सम्यक् उपचार से ठीक करना।

२. तिर्यक्गत गर्भासनों में विवर्तन न करे, बल्कि गर्भ की ग्रीवा का छेदन करके निकाले।

३. यदि बच्चा जलशीर्ष (Hydrocephalus) हो तो शिरोवेधन से उसकी चिकित्सा करे।

४. यदि पूर्व गर्भस्थिति में उदरविपाटन या गर्भाशयभेदन के द्वारा गर्भ निर्हरण का वृत्त मिले तो उसे किसी चिकित्सालय में प्रविष्ट करे जहाँ पर सभी प्रकार की सुविधायें उपलब्ध हों।

विदार हो जाने पर चिकित्सा—

१. किसी भी प्रकार का बृहत् औदरिक शल्यकर्म करने के पूर्व रोगी की साधारण दशा को रक्त के अन्तर्भरण, उष्णोपचार और मार्फिया देकर ठीक कर लेना उचित है।

२. उन रोगियों में जिनके गर्भ आंशिक रूप से या पूर्णतया औदर्य्या गुहा (Peritoneal cavity) में चले गये हों उदर-विपाटन के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

३. उन रोगियों में जिनमें बच्चे के जन्म के अनन्तर विदार का निदान हुआ हो और यदि अपरा औदर्य्या गुहा में हो तो उसे कर्षण के द्वारा (नाभिनाल को नीचे खींचते हुए गर्भाशय की दरार से) नहीं निकालना चाहिये क्योंकि उससे दरार के अधिक बढ़ने तथा रक्तस्राव के अधिक होने का भय रहता है। अतएव अपरा पातन के लिये उदर-विपाटन करना ही श्रेयस्कर है। अपरा को निकाल कर दरार का सीवन कर देना चाहिये। यदि सीवन सम्भव न हो तो गर्भाशयछेदन (Hysterectomy) करना उचित है।

४. पक्षबन्धनिका (Broad ligament) का निदान प्रसव के बाद ही सम्भव होता है। छिद्र से अंगुलि डालकर यह स्थिर किया जा सकता है। विदार पक्षबन्धनिका तक ही सीमित है। इस दशा में रक्तस्राव को रोकने के लिये पक्ष-बन्धनिका के गर्त का वर्त्ति के द्वारा पूरण कर देना चाहिये।

५. यदि योनि के पश्चात् कोण का विदार हो और आन्त्र का कुछ भाग उससे बाहर आता दिखलाई पड़े तो उसे ऊपर उठाकर 'डोगलास' के कोष में ले जाकर विदार का सीवन कर देना चाहिये।

६. उदर के खोलने के बाद गर्भाशय के विदार की चिकित्सा—यदि गर्भाशय का विदार सीवन के योग्य न हो तो गर्भाशय छेदन नामक शल्यकर्म (Hysterectomy) करना चाहिये। सीवन के योग्य जान पड़े तो अवान्तर सीवनों से

गर्भाशय की पेशियों की पूरी मोटाई में सीना चाहिये और गाँठ लगानी चाहिये। औदर्य्या कला का सीवन महीन आन्त्रसूत्रों (Catgut) से अविच्छेद विधि से करनी चाहिये। यदि मूत्राशय भी दरार युक्त हो तो दो स्तरों में सीना चाहिये साथ ही मूत्रनाडी का भी संयोजन करना चाहिये। यदि संक्रमण का भय हो तो शुल्वा तथा 'पेनिसिलीन' भी देते रहना चाहिये।

गर्भाशय का तीव्र स्वान्तःप्रवेश (Acute inversion)—प्रसव काल में ही ऐसी घटना होती है। इससे गर्भाशय आंशिकरूप से या पूर्णतया अपने गर्त में प्रविष्ट हो जाता है। इसकी तीन अवस्थायें देखने को मिलती है, (क) गर्भाशय स्कन्ध गर्भाशयगुहा में निकला रहता है, परन्तु ग्रीवा से बाहर लटकता नहीं दिखलाई पड़ता। (ख) जब स्कन्ध ग्रीवा से बाहर लटकता दिखलाई (Protuding) पड़ता है। (ग) जब कि अन्तःप्रविष्ट गात्र गर्भाशय मुख से पूर्णतया दिखलाई पडे। इनमें द्वितीय और तृतीय (ख. ग.) दशाओं में गर्भाशय स्कन्ध के नीचे की ओर भ्रंश होकर गात्र से बाहर पड़ जाता है। स्वान्तः प्रवेश अपरा के विच्छेद के पूर्व या पश्चात् भी हो सकता है।

हेतु—प्रसव की तृतीयावस्था का असम्यक् उपक्रम प्रधान रूप से इस विकार का उत्पादक है। निर्बल गर्भाशय (Inert uterus) के स्कन्ध का पीडन या अपरा को निकालते हुए नाल का अधोकर्षण इन दो कारणों से गर्भाशय का अन्तःप्रवेश होता है। इसके अतिरिक्त ऐसा कई बार स्वयमेव भी हो जाता है। जैसे—यदि गर्भाशय का अपराक्षेत्र शिथिल हो तो गर्भाशय के आकुञ्चनों के साथ गर्भाशय के अतिरिक्त भाग के आकुंचित होने पर अपरा का शिथिल क्षेत्र नीचे को दबाकर इसी स्थिति (अन्तःप्रवेश) को उत्पन्न कर देता है।

लक्षण तथा चिह्न—मर्माभिघात या मर्महत (Shock), रक्तस्राव और भग के समीप में सूजन ये तीनों लक्षण उपस्थित मिलते हैं। कई बार शूल (Pain) भी होते मिलता है। मर्महत के लक्षण बडे तीव्र रूप में मिलते हैं। कई बार लक्षण इतने मृदु होते हैं कि रोगी को चिकित्सक की सलाह तक लेने की जरूरत नहीं रहती। जब गर्भाशय का सम्वरण होने लगता है तब जीर्ण अन्तःप्रवेश की अवस्था में रुग्णा चिकित्सा के निमित्त आती है।

रोग का निदान सरल है। यदि गर्भाशय का गात्र स्वस्थान पर न अनुभव किया जा सके, साथ ही ग्रीवा से बाहर निकलता हुआ गोल पिण्ड दिखलाई पड़े

तो रोग का विनिश्चय कर सकते हैं। शुभाशुभ तीव्र स्वान्तःप्रवेश की स्थिति में ४०% से ऊपर मृत्यु का प्रमाण पाया जाता है। मृत्यु का कारण मर्माभिघात तथा अत्यधिक रक्तस्राव का होना है।

चिकित्सा-स्थानास्थापन या स्थानानयन (Replacement)—गर्भाशय के स्वान्तःप्रवेश का निदान होते ही तत्काल उसको (अन्दर घुसे हुए भाग को ऊपर उठाकर) स्वाभाविक स्थिति में लाने का प्रयास करना चाहिये। अन्यथा देर होने से अन्तःप्रविष्ट भाग अधिकाधिक शोथयुक्त होता चलता है जिससे उसका स्थानानयन बाद में कठिन हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि स्थानानयन होने के साथ ही गर्भाभिघात के लक्षण तथा रक्तस्राव दोनों ही बन्द हो जाते हैं।

स्थानानयन विधि—

१. जैसे ही निदान हो रोगी को ¼ ग्रेन 'मार्फिया' का सूचीवेध करना चाहिये। रोगी को सम्मोहित (Anaesthetized) करके उसके भग, योनि एवं अन्तः-प्रविष्ट पिण्ड को 'डेटाल' के घोल से स्वच्छ करके यदि अपरा न निकली हो तो उसको निकाल दे। गर्भाशय को पकड़ कर उसे पीछे की ओर उठाते हुए स्वाभाविक स्थिति में ले आने का प्रयत्न करे। जो भाग सबसे आखिर में घुसा हो उसको सबसे पहले उठावे और स्कन्ध को सबके अन्त में यथास्थान लावे। इस उत्कर्षण की क्रिया के पूरे काल तक उदर के ऊपर दूसरे हाथ का दबाव देता रहे।

दूसरी विधि योनि के अन्तर्गत द्रव पहुंचा कर उसके दबाव से ठीक करने की है। इसके लिये 'हिगिन्सन' की वस्ति (पिचकारी) व्यवहृत होती है। इसमें वस्ति के द्वारा 'डेटाल' का द्रव योनिमार्ग से गर्भाशय में भर दिया जाता है तथा हाथ से योनि के छिद्र को बन्द करके योनि का अन्तर्भार बढ़ाया जाता है। इस क्रिया से गर्भाशय स्वस्थान पर स्थित हो जाता है।

रक्तस्राव का निरोध—जब स्थानानयन पूर्ण हो जाय तब रक्तस्राव को बन्द करने का प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये 'पिटोसिन' तथा 'एरगोमेट्रीन' का प्रयोग पेशी द्वारा करना चाहिये। ये ओषधियाँ रक्तस्राव को रोकने के साथ ही साथ पेशी का बल भी बढ़ा देती है जिससे अन्तःप्रवेश की पुनरुत्पत्ति की सम्भावना भी जाती रहती है।

यदि ग्रीवा के स्तम्भ (Spasm) तथा गर्भाशय स्कन्ध के सूजन की वजह से

पूर्ण यथास्थान स्थापन न हो सके और रक्तस्राव चालू रहे तो योनि का वर्त्ति द्वारा पूरण करके रक्तस्रावी क्षेत्र का पीडन करके रक्तस्राव को बन्द करे।

स्थानानयन की अन्य विधियाँ—यदि प्रसव के कुछ दिनों के बाद इस विकार का विनिश्चय हो तो रोगी को सम्मोहित करके (क्लोरोफार्म के द्वारा) गर्भाशयगत अन्तःप्रविष्ट भाग का यथास्थान स्थापन करे।

उपर्युक्तविधि से सफलता न मिलने पर पूर्ण संवरणकाल (Involution) तक प्रतिक्षा करे और गर्भाशय स्कन्ध पर सतत भार बनाये रखने के लिये 'एवलिङ्ग' का यथास्थान स्थापक (Repositor) का व्यवहार करे।

जननपथ (Genital canal) के क्षत (Laceration)

ग्रीवा का विदार—ग्रीवा का क्षत एक आम घटना है; परन्तु इसका कोई महत्त्व नहीं दिया जाता क्योंकि इसके द्वारा तत्काल कोई उग्र लक्षण नहीं प्रकट होते हैं।

ग्रीवा का विस्तृत विदार—शीघ्र प्रसव (Precipitatel abour) में, अथवा ग्रीवा के अपूर्ण विकास की अवस्था में बलपूर्वक कर्षण करते हुए, अथवा संदंश के द्वारा प्रसव करते हुए अथवा ग्रीवा में व्रणवस्तु के पहले से ही उपस्थिति रहने के कारण बल पड़ने से होता है। ग्रीवा के विस्तृत विदार की दशा में प्रसव की तृतीयावस्था में और उसके बाद भी तीव्र रक्तस्राव होता है और यह रक्तस्राव तब तक चालू रहता है, जब तक कि विदार की सीवन न कर दी जाय।

इसके लिये रोगी को निःसंज्ञकर लेना चाहिये। सुषिरसंदंश (Sponge Forceps) से ग्रीवा के पूर्व एवं पश्चिम ओष्ठों को पकड़ कर नीचे की ओर खींच ले आना चाहिये। ग्रीवा की पूरी मोटाई में सीवन लगाना चाहिये। ये सीवन अवान्तर (Interupted) होने चाहिये। सबसे पहले ऊपर का सीवन देना चाहिये। फिर सीवनों की गाँठ देकर रक्तस्राव को बन्द किया जा सकता है।

मूलाधार तथा योनि का विदारण—सौम्य प्रकार के क्षत में दरार मूलाधार पीठ के पूर्वभाग और योनि की पश्चिम दीवाल में बनती है; परन्तु यदि भगोष्ठ पृथक् पृथक् न हो तो किसी प्रकार की व्यग्रता की आवश्यकता नहीं रहती है।

उग्र प्रकार—दूसरी कोटि में विदार मूलाधार बहिर्गुदसंकोचनी (Ext. Sphinctre) तक पहुंच जाता है साथ ही योनि में भी उसी प्रकार का विदार होता है। यह भी संभव है कि मूलाधार में बिना किसी प्रकार की दरार पड़े, योनि की

दीवाल में दीर्घ चिदार हो जाय। इसलिये हमेशा योनि की दीवालों की जाँच कर लेनी चाहिये।

सौम्य तथा उग्र प्रकार के विदारों की चिकित्सा
(Ist & 2st degree of tears)

तत्काल सीवन ही एकमात्र उपाय है क्योंकि सीवन न करने से वह दरार एक प्रकार से जीवाणुवर्द्धन का माध्यम बन जाती है और सूतिकाकाल में विभिन्न जीवाणुओं का उपसर्ग पहुंचा कर सूतिका के लिये घातक सिद्ध होती है। सबसे पूर्व योनिगत विदारों की सीवन करनी चाहिये। यह सीवन आन्त्र सूत्रों से अवान्तरविधि से करनी चाहिये। उसके पश्चात् मूलाधार के विदारों का 'सिल्कवर्म गट' या 'कैट गट' के मोटे सूत्रों से सीवन उसी विधि से करनी चाहिये। इन दोनों सीवनों के टाँके अपरा के निकलने के पूर्व ही लग जाने चाहिये और धमनी हस्तिकों उन्हें पकड़ कर रख लेना चाहिये। जब तृतीयावस्था समाप्त हो जावे तब गाँठों को लगा देना चाहिये। अपराजन्म के पूर्व टाँकों में गाँठ नहीं लगावे।

स्थानिक संज्ञाहरण—(नेवोकेन २%) के द्वारा यथाविधि सीवन लगाने की भी विधि प्रचलित है।

पूर्णविदार की चिकित्सा—यह विदार की एक तीसरी कोटि (3rd degree of tear) है। इसमें विदार बड़ा लम्बा होता है। इसमें मूलाधार का चिदार नीचे की ओर बढ़कर गुदसंकोचनी को भी विदीर्ण कर देता है और मलाशय के एक दो इञ्च ऊपर तक पहुंच जाता है। इसको मूलाधार पीठ का पूर्ण विदार कहते हैं।

भली प्रकार से सीवन के लिये पूर्ण प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। यदि विदार रात्रि में हो तो बल्कि उसका सीवन दूसरे दिन दिन में करना चाहिये, उत्तम प्रकाश के साथ ही दक्ष सहायकों की भी आवश्यकता पड़ती है। अपरा के जन्म के लिये प्रतीक्षा करनी चाहिये। जब अपरा निकल जावे, तब सीवनकर्म में चिकित्सक को प्रवृत्त होना चाहिये।

रोगी को उत्तानासन में जानु और कूर्पर को संकुचित कर सुलावे (Lethotomy Position)। उसको निःसंज्ञ करले। स्थानिक शुद्धि के लिये जीवाणुघ्न घोल को पिचु से सफाई कर ले। गुदा की श्लेष्मलकला की सीवन सर्वप्रथम (Chromic catgut & Atraumatic needle से) करे। सूत्रों को

पेशी की दीवालों से निकाल कर सीवन करे और गाठें मूलाधार के ऊपर दे। फिर गुद संकोचनी के विदीर्ण भागों के संयोजन (Medium chromic catgut) में भी दो टाँके लगावे। फिर मूलाधार और योनि का सीवन करके शस्त्रकर्म को समाप्त करे।

पश्चात् कर्म—रोगो को 'फाउलर' के आसन पर रखे। ताकि सूतिका स्राव से व्रण सुरक्षित रह सके। मूलाधार पीठ को बीच-बीच में जीवाणुनाशक घोल में डुबोये हुए पिचु से सुखाते रहना चाहिये—विशेषतः मल एवं मूत्रत्याग के अनन्तर। वस्ति देना निषिद्ध माना गया है। स्थानिक अवचूर्णन 'पेनीसिलीन' या 'सल्फाथायोजोल' के चूर्णो का करना चाहिये। प्रथम एवं द्वितीय कोटि के विदारों में ४८ घण्टे के बाद रेचक देकर कोष्ठ-शुद्धि कर लेना चाहिये। तृतीय कोटि के विदारों में एक सप्ताह तक रेचन नहीं देना चाहिये। रोगी को तीसरे दिन बड़े चम्मच से १ चम्मच दिन में तीन बार करके 'लिक्विड पैराफीन' दे। छठवें दिन 'कैस्करा सैगेरेडा' द्रव पीने को दे (१ ड्राम की मात्रा में)। सातवें दिन जब ऐसा ज्ञात हो या रोगी को वेग का अनुभव हो तो गुदा में ४ औंस की मात्रा में जैतून का तेल पिचकारी द्वारा भर देना चाहिये। इससे स्यूत संकोचनी (Sutured) पेशी के ऊपर बल नहीं पड़ने पाता। बारहवें दिन के पूर्व आस्थापनवस्ति (Enema) नहीं देना चाहिये।

भगन्दर या नाडीव्रण (Fistulae)—इनका उद्भव विलम्बित प्रसवों में उदय लेने वाले भाग विशेषतः शीर्ष के पीडन तथा यांत्रिक प्रसव कराते समय साक्षात् अभिघात आदि से होता है।

इनके चार प्रकार मिल सकते हैं १. वस्ति—ग्रीवा भगंदर (Vesico-cervical), २. वस्ति—योनिभगंदर (Vesicovaginal), ३. प्रसेक—योनिभगंदर (Uretho-vaginal) ४. गुद—योनिभगंदर (Recto vaginal fistula)

लक्षण—मूत्र और मल का त्याग योनि के मार्ग से होने लगता है।

चिकित्सा—बच्चे के जन्म के चार मास के बाद शल्यकर्म से चिकित्सा करके ठीक करना चाहिये।

योनि और भग का रक्तगुल्म—यह गर्भ तथा प्रसवकाल का एक महत्त्व का उपद्रव है और बहुत कम पाया जाता है। अन्तर्गत भार की वृद्धि एवं तनाव के

कारण विदीर्ण हुए सिरा कुटिलताओं (Varicose) से इनकी उत्पत्ति होती है। संदंश से प्रसव कराते समय तथा द्वितीयावस्था में गर्भाशयान्तःपीडन के कारण कुटिल सिरायें विदीर्ण हो जाती हैं, यद्यपि सिरा प्रति-पीडन (Counter pressure) से तत्काल रक्तस्राव नहीं होता किन्तु बच्चे के जन्म के कई घण्टों के बाद रक्तस्राव हो सकता है। इसमें रोगी केवल पीड़ा का अनुभव करता है।

यह रक्तगुल्म भग के किसी एक पार्श्व स्पर्शनाक्षम, फूले हुए शोथ के रूप में मिलता है। आमतौर से इसमें नीचे की ओर फैलने की प्रवृत्ति होती है क्वचित् ऊपर की ओर जाने से योनि के पार्श्व में भी सूजन मिल सकती है।

परिणाम—अन्ततोगत्वा इसका शोषण हो जाता है। क्वचित् विकारी जीवाणुओं (पूयोत्पादक) से उपसृष्ट होकर विद्रधि का रूप ले लेता है।

चिकित्सा—यदि सिरा बाहर से विदीर्ण हुई हो तो सीवन एवं बन्धन के द्वारा रक्तस्राव का निरोध कर लेना चाहिये।

यदि शोथ का तनाव बहुत हो तो भेदन करना चाहिये। यदि विदीर्ण सिरा दिखलाई पड़े तो सीवन एवं बन्धन से उसका मुख रुद्ध कर देना चाहिये। उसके बाद दबाव डालने के लिये बन्धन कर देना चाहिये (Dressing and Bandage)।

यदि गुल्म में पूयोत्पत्ति हो जाय तो उसका भेदन (भग के जितना समीप हो सके) करके शोधन-रोपण करना चाहिये।

श्रोणिगत रक्तगुल्म—कभी-कभी यह गुल्म गुदोत्तंसिनीपेशी (Levtores ani) के किंचित् ऊपर या नीचे बनता है। वहाँ से फैलकर पक्षबन्धनिका के आधार तक पहुंच जाता है और गर्भाशय एवं मूत्राशय के मध्य में अथवा मलाशय के पार्श्व प्रतीत होने लगता है। इसमें भी किसी सिरा की दीवाल पीडन के कारण निर्जीव होकर (Pressure necrosis) फटती है और रक्तगुल्म की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार घटना प्रसव के पूर्व में, मध्य में या अन्त में भी हो सकती है। ऐसे रक्तगुल्म बहिः औदार्यागुहागत गर्भाशय के विदार (Extra peritoneal rupture) में भी मिल सकते हैं। इनमें रक्तस्राव प्रसव के बाद होता है। इसलिये इनका ज्ञान प्रसव के कुछ घंटों बाद से लेकर कुछ दिनों बाद तक होता है। हाथ द्वारा परीक्षा करने से गुदोत्तंसिनी पेशियों के ऊपर इनकी उपस्थिति मिलती है।

परिणाम—१. या तो पूर्णतया शोषण हो जाता है अथवा २. पूयोत्पत्ति होकर विद्रधि का रूप ले लेते हैं। ३. जीवाणुमयता (Septicaemia) होने से रोगी की स्थिति भयंकर हो जाती है।

चिकित्सा—पक्षवन्धनिका में स्थित रक्तगुल्म का भेदन नहीं करना चाहिये। विद्रधि का रूप धारण कर लेने पर भेदन आवश्यक हो जाता है। इस अवस्था में भेदन योनि की दीवाल में करे और पूय के शोधन के लिये लम्बी रबर की नलिका भीतर में (Large drainage tube) प्रविष्ट कर पूर्वनिर्हरण की व्यवस्था करनी चाहिये।

चरक ने 'कर्णिका' नामक एक विशेष विकृति का वर्णन किया है। उनके अनुसार प्रसवावस्था में अकाल में प्रवाहण करने से गर्भ के द्वारा रुद्ध हुई वायु-श्लेष्मा और रक्त से मिलकर 'कर्णिका' का उत्पन्न कर देता है। सम्भवतः यह आधुनिक 'हीमैटोमा' का वर्णन हो।

आधार तथा प्रमाणसंचय—

अकाले वाहमानाया गर्भेण पिहितोऽनिलः।
कर्णिकां जनयेद्योनौ श्लेष्मरक्तेन मूर्च्छितः। (च. चि. ३०)

(Midwifery By Tenteachers)

त्रयोदश अध्याय

शक्ति के दोष या बहिःप्रेरक शक्तियों की अस्वाभाविकता

(Abnormalities of the Expulsive Forces)

गर्भाशय की पेशियों में दो प्रकार की अस्वभाविकता आ सकती है या तो वे अधिक क्रियाशील (संकोचनशील) हो जायँ तो या हीन क्रिया (संकोच) वाली हो जायें।

जब गर्भाशय की पेशियों के संकोचन प्रसव के प्रारम्भ से हीनबल का होने लगता है तो उसी स्थिति को गर्भकोष का प्राथमिक परासंग (Primary uterine Inertia) कहते हैं। इस परासंग का एक दूसरा प्रकार होता है जिसको औपद्रविक (Secondary Inertia) कहते हैं।

गर्भकोष का प्राथमिक परासंग-हेतु—

(क) भीति (Nervous)—यह खासकर अधिक वय में **प्रथम गर्भ** धारण करने वाली स्त्रियों में तथा वातिक प्रकृति की गर्भिणियों में होता है। गर्भिणी परिचर्या के काल में चिकित्सक या परिचारक का यह भी कर्त्तव्य है कि उसके भीति को दूर करें एवं उसके मानसिक स्थिति को ठीक रखने की चेष्टा करें।

(ख) प्राकृतिक उत्तेजनाओं की कमी—गर्भाशय संकोच के लिये स्वाभाविक उत्तेजनाओं का अभाव भी गर्भकोष परासंग कारक होता है। ऐसी स्थिति निम्न कारणों की उपस्थिति में पैदा हो सकती हैं—

१. अधोगर्भशय्या से जरायु का विकृत संश्लेष (Abnormal Adhesion) जिससे वारिपुटक (Bag of wter) का निर्माण ठीक नहीं हो पाता।

२. पश्चिम अनुशीर्षासनों में शीर्ष का श्रोणिकण्ठ (Brim) से ऊपर स्थिर होना। जिससे वेदनायें कमजोर एवं विरल हो जाती हैं।

३. संकुचितश्रोणि। ४. गर्भाशय की तिर्यक्स्थिति।

(ग) गर्भाशय का आध्मान तनावयुक्त होना—ऐसी स्थिति यमलगर्भ तथा गर्भोदकातिवृद्धि में होती है।

(घ) मलाशय एवं मूत्राशय की पूर्णता के कारण भी ऐसा होता है।

(ङ) अतिशीघ्र रोगी को विश्रामावस्था या लेटी हुई स्थिति (Recumbaent position) में आ जाने से भी गर्भाशय को आवश्यक उत्तेजना नहीं मिलती और इस कारण भी परासंग होता है।

(च) गर्भाशय के पेशियों की स्वाभाविक कमजोरी—ऐसा प्रायः उन स्त्रियों में होता है जिनमें सन्तानोत्पत्ति अधिक हुई हो या पूर्व में किसी रोग की विद्यमानता रही हो अथवा सौत्रिक तन्तुओं की गर्भाशय में अधिकता हो अथवा सौत्रिकार्बुद की उपस्थिति हो। इन कारणों से गर्भाशय के आकुंचन कमजोर हो जाते हैं फलतः गर्भाशय गर्भ को बाहर नहीं निकाल पाता।

(छ) उचितकाल के पूर्व प्रसव—ऐसी अवस्था में गर्भाशय के ऊपर अन्तःस्रावों (Harmones) का प्रभाव नहीं पड़ता जिससे आकुंचनों में बाधा पड़ती है।

(ज) चूर्णातु (Calcium) की कमी—इसके कारण भी परासंग में सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त प्रसवप्राक् रक्तस्राव, राज्यक्ष्मा प्रभृति दीर्घकालीन रोगी की स्थिति में भी गर्भकोष परासंग की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

लक्षण—गर्भाशय के ऊपर हाथ रखने से आकुंचनों का अनुभव नहीं होता, यदि होता भी है तो एक देशीय संकोचन का। वेदना का अभाव रहता है।

साध्यासाध्यता—जब तक जरायु नहीं फटी है तब तक विशेष हानि की आशंका नहीं रहती है। जरायु के विदीर्ण होने के बाद गर्भ के ऊपर अधिक काल तक दबाव पड़ने के कारण गर्भ की मृत्यु की संभावना रहती है। प्रसव परिचर्या करने में रोग विनिश्चय का बड़ा महत्त्व है क्योंकि समयोचित उपचार न किया जाय तो विलम्ब होने से गर्भ की मृत्यु हो जाती है और समय के पूर्व किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने से उपसर्ग का भय रहता है। इसलिये सोच-विचार कर रोग का पूर्ण निर्णय करके नियमानुकूल उपचार करने से रोगी को लाभ पहुंचने की आशा रहती है।

चिकित्सा—यदि चिकित्सक गर्भासन्न, गर्भावतरण तथा गर्भ के आकार को ठीक समझ रहा हो तो रोगी और उसके सम्बन्धियों को सान्त्वना देते हुए उपचार शुरू कर दे।

प्रथमावस्था में—(१) सर्वप्रथम मूत्राशय और मलाशय को खाली कर दे। (२) गर्भाशय की तिर्यक् स्थिति हो तो उसको सुधार दे। (३) रोगी को बिस्तर पर लेटा कर प्रचुर मात्रा में सद्रव आहार 'ग्लुकोज' का शर्बत प्रभृति दे। (४) रोगी 'क्लोरलहाइड्रेट' और 'ब्रोमाइड्स' (प्रत्येक की ३० ग्रेन की मात्रा में) देकर उसका शमन करे साथ ही आश्वस्त कर दे कि कोई बड़ा विकार नहीं है। शामक ओषधियों में 'नेम्बुटाल' (३ ग्रेन), 'सोडियम एमीटाल' (६ ग्रेन) भी दे सकते हैं। इन विधियों से उपचार करते हुए यदि ग्रीवा का पूर्ण विकास हो जाय तो प्रसव स्वयमेव हो जाता है। (५) इसमें यान्त्रिक प्रसव अथवा ग्रीवा का बलपूर्वक विकसन हानिप्रद हो सकता है। इसलिये नहीं करना चाहिये। अलबत्ते उदरविपाटन करके गर्भाशयभेदन की यदि अनुकूलता हो तो उत्तम है। (६) इस काल में 'पिट्यूटरीन' या 'एरगाट' के प्रयोग भी अनियमित आकुञ्चन पैदा करते हैं। अतः इनका भी प्रयोग नहीं करना चाहिये। सर्वोत्तम 'इस्ट्रोजेन' का प्रयोग है। कुछ लोग 'एसीटीलकोलीन' का प्रयोग भी करते हैं; परन्तु यह भी निरापद नहीं

है। 'एस्ट्रायडलवेन्जोयेट इन आयल' (२ मि० ग्रा०) का प्रति घण्टे पर आठ से दस वार पेशी द्वारा देना सर्वोत्तम है। इससे माता या शिशु किसी के ऊपर हानिप्रद प्रभाव नहीं होता।

द्वितीयावस्था में—(१) ग्रीवा के विस्तार के साथ वेदनायें तीव्र हो जाती और प्रसव उचित समय पर कराया जा सकता है। प्रथमावस्था के विलम्ब के कारण माता क्लान्त हो गई रहती है। यदि बच्चे में भी अनिष्टसूचक लक्षण प्रतीत हों तो आरम्भ में ही संदंश की सहायता से प्रसव कराना चाहिये।

(२) 'क्लोरोफार्म' तथा 'ईथर' से निःसंज्ञ करना गर्भाशय के आकुञ्चनों के निर्वल करता है। अतः निःसंज्ञ करने के लिये स्थानिक संज्ञाहरण तथा 'गैसऐण्ड आक्सीजन' का व्यवहार करना उत्तम है। 'कौडल एनेल्जिसिया' (Caudal analgesia) भी उत्तम होती है। संदंश द्वारा कर्षण करने से गर्भाशय उत्तेजित होता है जिससे उसके आकुञ्चन वलवान् होने लगते हैं। इस अवस्था में 'पिटोसिन' (२½ यूनिट) पेशी द्वारा देना चाहिये। इसके परिणाम स्वरूप तृतीयावस्था में गर्भाशय अधिक सक्रिय हो जाता है।

तृतीयावस्था में—(१) सावधानी के साथ गर्भाशय स्कन्ध का नियन्त्रण करना चाहिये। इसी प्रकार अपरा के निकल जाने के एक घण्टे वाद तक भी करना चाहिये।

(२) 'एरगोमेट्रिन' (·५ ग्राम) अपरा जन्म के वाद देना चाहिये। 'पिट्यूटरीन' 'एरगोमेट्रीन' का प्रभाव अधिक स्थायी होता है।

औपद्रविक गर्भपरासंग—(Secondary uterine inertia)—इस अवस्थाको गर्भाशय की पेशियों की थकान या श्रान्ति (Exhausted uterus) कहा जा सकता है। यह प्रथमावस्था के अन्त में या द्वितीयावस्था के प्रारम्भ में होता है। कभी कभी तृतीयावस्था में भी अचानक हो जाता है और प्रसवोत्तर रक्त-स्राव का कारण वनता है। जब गर्भाशय में प्रसव के समय में किसी प्रकार की वाधा या रुकावट उत्पन्न होती है तो गर्भाशय की पेशियाँ थक जाती हैं फलतः औपद्रविक परासंग उत्पन्न हो जाता है। जैसे—

१. गर्भ के आकार में असाधारण वृद्धि होना।

२. गर्भासनों की विकृति होना।

३. अवतरण में विकार का आना।
४. पेशीगत मार्ग (Soft passages) अथवा अस्थिगत मार्ग (Hard passage) का संकोच होना।
५. गर्भिणी का अत्यधिक रुग्ण होना।
६. 'मार्फिया', 'क्लोरोफार्म', 'ईथर' इन ओषधियों के प्रयोग।
७. आकस्मिक रक्तस्राव।

शुभाशुभ—ऐसी अवस्था में गर्भ को गर्भाशय से बाहर निकालना बहुत खतरनाक है, क्योंकि बलपूर्वक प्रसव कराने से अत्यधिक प्रसव पश्चात् रक्तस्राव की सम्भावना रहती है। औपद्रविक परासंग की अवस्था में 'पिट्युरीन' का प्रयोग भी हानिप्रद होता है। अतएव निषिद्ध है।

चिकित्सा—१. विश्राम तथा निद्रा—प्रसव की प्रथमावस्था में औपद्रविक परासंग हो तो रोगी को बिस्तर पर सुलाकर निद्राकर ओषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इससे गर्भाशय के आकुञ्चन पुनः लौट आते हैं और बाद में सुधर जाते एवं स्वाभाविक हो जाते हैं। 'स्कोपोलो मीन' अहिफेन अथवा 'क्लोरलहाइड्रेट' और 'ब्रोमाइड्स' का प्रयोग लाभप्रद होता है। इस तरह निद्रा कर तथा शामक ओषधियों का प्रयोग तब तक जारी रखना चाहिये, जब तक कि गर्भाशय में पुनः स्वस्थ आकुञ्चन प्रारम्भ न हो जायँ। यदि गर्भ का सिर मूलाधार पीठ पर पड़े तो गर्भाशय के आकुञ्चनों को अधिक बलवान् बनाने के लिए 'पिटोसिन' (२½ यूनिट) की मात्रा में देना चाहिये। यदि आकुञ्चनों के लौट आने के बाद भी स्वयमेव प्रसव न हो सके तो संदंश-प्रसव कराना चाहिये—साथ ही प्रसवोत्तर रक्तस्राव से रोगी को बचाने का भी ध्यान रखना चाहिये।

प्रसव की द्वितीयावस्था में गौण शक्ति की निर्बलता
(Inefficiency of the secendary power in the second stage)

प्रसव की द्वितीयावस्था में औदरिक पेशियाँ भी गर्भ को बाहर निकालने में बहुत सहायक होती हैं। इनका अपूर्ण संकोच प्रसव में बाधक होता है। अपूर्ण संकोचन के निम्नलिखित कारण माने गये हैं:—

१. उदरगत पेशियों में नाड़ी संस्थानगत संवेदनाओं का अभाव।
२. पक्षाघात (Paraplagia)।
३. उदर के ऊपर किसी प्रकार बाह्य आघात।

४. गर्भाशय स्कन्ध के ऊपर हाथ का अत्यधिक प्रभाव।

५. उदरबन्ध (Abdominal binder) का उदर के ऊपर अत्यधिक दबाव युक्त उपयोग।

गर्भाशय की पेशियों का अतिसंकोच या अधिक क्रियाशील होना (Excessive action of the uterine muscles)—इस प्रकार के संकोचों का विवरण निम्नलिखित चार शीर्षकों में किया जासकता है:—

(अ) प्रत्याकुचन-अतिशय आकुञ्चनवलय (Exaggerated retraction ring)

(ब) गर्भाशय का निरन्तर संकोच (General tonic contraction)

(स) आकुञ्चनवलय (Contraction ring)

(द) शीघ्र या सहसा प्रसव (Precipitate labour)

इनमें से पूर्वोक्त तीनों तो सबाध प्रसव (Obstructed labour) के भीतर ही समाविष्ट है। जब गर्भ का गर्भाशय से निःसरण प्रारम्भ होता है, उस समय गर्भाशय अपने संकोच की क्रिया से गर्भ को बाहर निकालना चाहता है। इस परिस्थिति में यदि मार्ग (Pasage) में अथवा गर्भ शरीर में विषमता होती है तो गर्भ को बाहर निकाल फेंकने में गर्भाशय की मांसपेशियों को अत्यधिक कार्य करना पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप ऊपर लिखी (अ० ब० स०) घटनायें होती हैं। इन अवस्थाओं का संक्षेप में उपचारों के साथ नीचे में वर्णन दिया जा रहा है।

(अ) प्रत्याकुञ्चनवलय—यह वलय गर्भाशय के ऊर्ध्व एवं अधोगर्भशय्या के (Upper & lower uterine segment) मध्य में बनता है। गर्भाशय की यह स्थिति स्वाभाविक प्रसव में भी होती है; किन्तु फटते समय ऊर्ध्व तथा अधोभाग का पार्थक्य नहीं प्रतीत होता। जब वहाँ पर किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न होती है तो गर्भाशय के मध्य में स्थित यह वलय (Ring) परीक्षा के समय स्पष्टतया प्रतीत होता है। इस स्थिति में गर्भाशय के फटने (विदार) का भय रहता है।

उपचार—गर्भाशय की अत्यधिक बढ़ती हुई क्रिया को कम करने के लिये संज्ञाहर द्रव्यों (Anaesthetics) का प्रयोग करना चाहिये साथ ही इस

चिकित्सा—'क्लोरोफार्म' 'मार्फिया' या 'एमिलनाइट्राइट' का नासा द्वारा प्रयोग करके पेशियों के संकोचन को शिथिल करना चाहिये। यदि बहुत काल तक इस प्रकार की स्थिति बनी रही हो निश्चितरूप बालक मर गया रहता है, केवल माता की सुरक्षा का ही प्रश्न शेष रह जाता है। अत एव शिरश्छेद (Craniotomy) प्रभृति विनाशक उपायों से बालक का निर्हरण करके माता की रक्षा करनी चाहिये।

(ख) आकुञ्चनवलय—(Contraction ring)—इसको गर्भाशय का एकदेशीय अनवरत संकोच (Partial tonic contraction) कह सकते हैं। ऐसा बहुधा देखा गया है कि गर्भाशय का एक भाग गर्भ के किसी एक छोटे अवयव पर जैसे ग्रीवा पर स्थिर रूप से आकुञ्चित हो जाता है और एक वलय (Ring) का रूप धारण कर लेता है। गर्भाशय का शेष भाग चाहे उस वलय के ऊपर का हो या नीचे का वह स्वाभाविक रीति से संकोच और विकास करता रहता है। इस प्रकार का एकदेशीय संकोच गर्भाशय के अधोभाग या ग्रीवा में सामान्यतया मिलता है। क्वचित् प्रसव की तृतीयावस्था में भी मिलता है और ऊर्ध्वगर्भशय्या का भाग अपरा के ऊपर आकुञ्चित हो जाता है जिसे 'बैण्डल' के वलय (Bandles ring) कहते हैं। इसके पास गर्भाशय बहुत सँकरा हो जाता है जिससे गर्भाशय दो हिस्से में बँटकर बालू की घड़ी (Hour glass contraction) का रूप ले लेता है।

हेतु—उचित समय से पूर्व जरायु का विदीर्ण होना, गर्भाशयान्तर्गत यन्त्रादि के कर्षण, बिना निःसंज्ञ किये अपरापातन का प्रयत्न इड़ा स्वतन्त्रनाडीमण्डल की उत्तेजना (Sympathetic) इन कारणों से आकुञ्चनवलय बनता है। यह आकुञ्चनवलय गर्भाशय के गोलपेशियों के संकोच और स्तंभ के कारण बनता है।

निदान—आकुञ्चनवलय का पृथक्करण प्रत्याकुञ्चन वलय (Retraction ring) से करना होता है। आकुञ्चन वलय में निम्नलिखित विशिष्ट लक्षण मिलते हैं।

१-इसमें नाडी की गति तीव्र और वेदना सतत मिलती है साधारण स्वास्थ्य ठीक रहता है।

२. औदरिक परीक्षा से वलय न प्रतीत होता है और न देखा ही जा सकता है,

किन्तु उस स्थान पर स्पर्शनाक्षमता मिलती है। वलय के ऊपर की गर्भाशय का भाग शिथिल रहता है और स्पर्श में भी स्पर्शनाक्षम नहीं रहता है।

३. जब सिर का अवग्रहण श्रोणि में हो जाता है तो वह स्वाभाविक स्थिति में इधर-उधर हिलाया नहीं जा सकता और स्थिर सा हो जाता है; परन्तु वलय की उपस्थिति में एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व को आसानी से हिलाया जा सकता है।

४. बच्चा सदैव जीवित रहता है, इसलिये गर्भ हृच्छब्द सुनाई पड़ता है।

५. अधोगर्भशय्या में हाथ डालने पर गर्भसिर के नीचे भी वलय मिल सकता है; परन्तु सामान्यतया ग्रीवा के चारों ओर मिलता है।

६. तृतीयावस्था में वलय की उत्पत्ति होने से निरुद्धा अपरा (Retained) की स्थिति आ जाती है फलतः जब तक गम्भीर संज्ञाहरण न कर लिया जाय अपरा का निर्हरण कठिन होता है।

७. योनिपरीक्षा के द्वारा प्रत्येक आकुञ्चनकाल में (Contraction) (गर्भ का) सिर परीक्षक की अङ्गुलियों का अवरोध करता प्रतीत होगा। इसी प्रकार का अवरोध संदंश प्रसव कराते समय भी प्रत्येक कर्षण के साथ अनुभव किया जा सकेगा।

उपचार—यथोचित पीडाशामक ओषधियों का प्रयोग करके गर्भाशय की क्षुब्धावस्था को शान्त करना चाहिये। इससे आकुञ्चन वलय नहीं बनने पाता। यदि वलय बन जाय तो उदरविपाटन के द्वारा (Caesarian section) गर्भाशयभेदन करके बालक का निर्हरण करना सर्वोत्तम है। परन्तु यह शस्त्रकर्म तभी करे जब बालक जीवित ज्ञात हो और साथ ही वलय का भी भेदन (Incise) करना चाहिये। संदंश आदि के द्वारा कर्षण करने में संक्रमण का भय रहता है।

प्रसव में शीघ्रता करते हुए बलात्कर्षण के द्वारा प्रसव कराने से गर्भाशय के विदीर्ण होने का भय रहता है। भरसक संकोचहारक (Antispasmodic) तथा पीडाशामक (Analgesic) ओषधियों के प्रयोग से यह कोशिश करनी चाहिये कि गर्भाशय शिथिल हो जाय। यदि ग्रीवा का पूर्ण विकास न हो तो मार्फिया ¼ ग्रेन अथवा 'पेथीडीन' १०० मि० ग्रा० की मात्रा में पेशी द्वारा देकर, आवश्यकतानुसार प्रति घण्टे पर पुनः पुनः देकर संकोच को दूर करे। यदि संभव हो तो 'कौडल एनेल्जिसिया' (सौपुम्निक संज्ञाहरण) से भी यह कार्य किया जा

सकता है। जहाँ तक हो सके योनि परीक्षा न करके औदारिक परीक्षा से ही काम करना चाहिये। क्योंकि योनि परीक्षण आकुञ्चन को अधिक प्रवल कर देता है।

यदि ग्रीवा का पूर्ण विकास हो तो शल्यकर्म के योग्य (Surgical) संज्ञाहरण का प्रयोग करके 'एमीलनाइट्रेट' सुंघाकर (१० बूंद) संदंश के द्वारा कर्षण करते हुए सिर को वाहर लाना चाहिये।

तृतीयावस्था के आकुञ्चन वलय की चिकित्सा में रोगी को पूर्ण निःसंज्ञ (Full Surgical anaeSthesia) करके हाथ के द्वारा कर्षण करते हुए अपरा को निकालना चाहिये।

सहसा प्रसव (Precipitate labour)

इसे अतिशीघ्र प्रसव कह सकते हैं। ऐसी अवस्था में गर्भिणी को गर्भाशय नाडीगत संवेदना की कमी के कारण (Diminished sensibility to Painfull stimulii) प्रसव वेदना का अनुभव नहीं होता है और जहाँ कहीं भी मोटर में चलते हुए, रास्ते में, मल विसर्जन गृह में अथवा कोई भी काम करते वक्त सहसा प्रसव हो जाया करता है। इस प्रकार के प्रसव में वालक के सिर के ऊपर आघात के कारण या रक्तवाहिनियों के टूट जाने के कारण रक्तस्राव से वालक की मृत्यु हो जाने की संभावना रहती है। माता की मृत्यु भी प्रसवोत्तर रक्त-स्राव के कारण हो सकती है। इसके अतिरिक्त प्रसव मार्ग भी बुरी तरह से व्रणित हो जाता है। ज्यादातर श्रोणितल अथवा मूलाधार पीठ विदीर्ण होता है।

उपचार—१. संज्ञानाशन द्रव्यों का प्रयोग करना। २. कुंथन करने से रोगी को रोकना। ३. साधारण गर्भाशयगत रक्तस्राव की चिकित्सा करना।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में सवाव प्रसव (Obstrueted labour) का वर्णन मिलता है उसका प्रसवावस्था के वर्णन के प्रसंग में उल्लेख हो चुका है। वाग्भट ने गर्भसंग नामक अवस्था का विशेष उल्लेख किया है। यद्यपि शब्द का वास्तविक अर्थ 'गर्भ की रुकावट होना' इतना ही होता है एवं इसके अन्दर अनेक ऐसे कारणों का समावेश है, कि निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह Abnormality of the expulsive forces का द्योतक है तथापि उस शब्द का इस रूप में ग्रहण कर सकते हैं।

इसकी चिकित्सा में कृष्णसर्प की केचुल से योनिका धूपन, हिरण्यपुष्पीमूल का पाणिपाद में धारण, सुवर्चला या कलिहारी का हाथ पैर में वन्धन आदि का

उपदेश है। यही चिकित्सा जरायु तथा अपरा के न गिरने पर भी करने का विधान है। इसके अतिरिक्त स्त्री को बाहु पर उठाकर हिलाये, झकझोरे, एड़ी से कटि पर आघात करे, नितम्बों को जोर से दबावे, बालों की वेणी से तालु कण्ठ को छुए; शिर पर थूहर का दूध लगावे। इससे भी सफलता न मिले तो भोजपत्र, कलिहारी, कड़ुई तुम्बी, सांप की केंचुली, कूठ, सरसों इन द्रव्यों से पृथक्-पृथक् या दो दो को मिलाकर या सबका योनि पर लेप करे या योनि का धूपन करे। कूठ और सुरामण्ड का पिलाना भी लाभप्रद होता है। पिपल्यासव (बल्वजासव) तथा कुलत्थयूष (कुलथी की बनाई दाल) का भी व्यवहार गर्भ संग को दूर करने में होता है।

गर्भकोष परासंग (Ineria) मक्कलशूल (Tonic contraction) आदि का उल्लेख प्रसव प्रकरण में हो चुका है।

आधार तथा प्रमाणसंचय—

(सं. शा. १०, अ. हृ शा. १)

(Midwifery By Tenteachers & Johnstone)

चतुर्दश अध्याय

जरायु, नाभिनाल तथा गर्भ की अस्वाभाविकता या दोष

(Anomalies of the Membrane Cord & Foetus)

जरायु की अस्वाभाविकता—

जरायु का कार्य पहले बतलाया जा चुका है। संक्षेप में जरायु की थैली के तीन प्रधान कार्य हैं—(क) गर्भाशय के दबाव से गर्भ को दबने से बचाना, (ख) वारिपुटक (Basgofwater) के रूप में मध्यकील (Wedge) का आकृति ग्रहण करके ग्रीवा की विस्तृति में सहायक होना, (ग) शुष्क प्रसव (Dry labour) से बचाना। शुष्क प्रसव के कारण गर्भ तथा गर्भिणी दोनों को हानि हो सकती है जैसे गर्भ के सिर के ऊपर दबाव पड़ने से मस्तिष्कान्तर्गत रक्तस्राव, मूर्च्छा, प्राणावरोध तथा मृत्यु हो सकती है तथा गर्भिणी की गर्भाशय ग्रीवा व्रणित हो सकती है।

प्रसव के आरम्भ हो जाने पर प्रसूतिशास्त्रज्ञों का एक दल गर्भोदक की थैली को फाड़ने का उपदेश देता है, परन्तु उसके विपरीत दूसरा वर्ग अपनी राय देता है। पहले वर्ग के अनुसार प्रसवारम्भ के बाद थैली को फाड़ देने से प्रसव की अवधि कम हो जाती है एवं प्रसव में सुविधा होती है। दूसरा दल ठीक इसके विपरीत कथन करता है। अतएव दोनों का मध्यम मार्ग ग्रहण करना सर्वोत्तम है। इस विचार के अनुसार यदि गर्भ का शीर्ष श्रोणिगुहा में स्थिर हो गया हो, एवं ग्रीवा विस्तृत हो तो थैली का फाड़ना हानिप्रद नहीं हो सकता क्योंकि ऐसी अवस्था में फाड़ने से गर्भोदक काफी मात्रा में अन्दर रह जाता है, जो मार्ग को स्निग्ध रखते हुए गर्भ को बाहर ले जाने में सहायता करता है। परन्तु यदि इसके विपरीत अवतरण लेने वाला भाग श्रोणिकण्ठ के बहुत ऊपर हो और जरायु को फाड़ दें तो ज्यादे से ज्यादे गर्भोदक बाहर निकल जायेगा तथा शुष्क प्रसव की स्थिति आ जायेगी। गर्भाशय का दबाव सीधे गर्भ पर पड़ेगा जिससे गर्भ को हानि हो सकती है।

जरायु की कठोरता (Toughness)—जरायु या तो अतिकठोर हो सकती है या अत्यन्त लचकीली। दोनों अवस्थाओं में ग्रीवा के पूर्ण विकास होने पर भी स्वयमेव नहीं फटती। कई बार इस परिस्थिति में गर्भोदक की थैली से आच्छादित (In a caul) प्रसव हो जाता है। इसके उपचार में वेदनाओं के मध्य में (Between pains) किसी नुकीले संदंश से या मूत्रनाडी (Catheter) या नुकीली शलाका (Stylet) से वेधन करके फाड़ देना चाहिये। यदि वेदनाओं के मध्य में विदारण न किया जाय तो गर्भोदक का अत्यधिक शीघ्रता से स्राव होकर नाल के भ्रंश होने का डर रहता है।

अधोगर्भशय्या (Uterine segment)—से जरायु का संपृक्त या संश्लिष्ट होना इस प्रकार की स्थिति गर्भधराकला शोथ तथा परिहार्य गर्भस्राव की पूर्वोपस्थिति में हो जाता है, जरायु विकृत रूप से गर्भाशय के अधोभाग से चिपक जाती है। जिससे वारिपुटक का निर्माण नहीं हो पाता। इसके उपचार में गर्भाशय मुख में अंगुली डालकर उसे चारों तरफ से पृथक् कर लेना चाहिये।

जरायु का अकाल में ही विदीर्ण होना (Premature rupture)—(प्रसवारम्भ या ग्रीवा के विकास के पूर्व ही जरायु का फट जाना) इस अवस्था में

योनि के रास्ते से जलस्राव होने का वृत्त मिलता है; परन्तु इस प्रकार का वृत्त अन्य कारणों में भी मिल सकता है। जैसे—अनैच्छिक मूत्रस्राव अथवा गुर्विणी मूत्रातिसार (Hydrorrhœa gravidorum) यहाँ पर योनि परीक्षा से विनिश्चय सम्भव है। मूत्र के गन्ध एवं वर्ण से भी पार्थक्य सम्भव है। साथ ही योनि की प्रतिक्रिया से भी निश्चय कर सकते हैं। सामान्यतया योनि स्वाभाविक रीत्या गर्भकाल में अम्ल प्रतिक्रिया वाली होती है। यदि उसकी प्रतिक्रिया वदल कर क्षारीय अथवा निष्प्रतिक्रिय (Neutral) हो गई है तो गर्भोदक का स्राव समझना चाहिये।

गर्भोदक की थैली के फटने के दो सम्भव हेतु है १. उसका वहुत पतला होना २. उदय लेने वाले भाग तथा श्रोणि प्रवेश द्वार की विषमता. (ठीक न बैठना)। थैली के पहले फट जाने से शुष्क प्रसव होता है। यदि विकृत अवतरण अथवा सङ्कुचित श्रोणि की दशा में गर्भिणी हुई, तो अवस्था और भी साङ्घातिक हो जाती है।

उपचार—यदि सङ्कुचित श्रोणि या मूढ़ गर्भ का उपद्रव न हो तो गर्भाशय-ग्रीवा को प्रसारित करने के लिये गरम-गरम उत्तर वस्ति दें। गर्भाशय के आकुञ्चनों को कम करने के लिये 'अहिफेन' अथवा 'कोरलहाइड्रेट' का प्रयोग करे। गर्भ परासङ्ग (Inertia) हो तो क्लोरोफार्म सुँघावे। यदि उत्तर वस्ति से लाभ न हो तो गर्भाशय मुख को अङ्गुलियों से विस्तृत करे अथवा 'डी रिबेज वैग' (De Ribes bag) से प्रसारण करे। प्रसारण के वाद संदंश का प्रयोग करके प्रसव करावे।

वारिपुटक का अभाव—शीर्ष का अधोगर्भशय्या के साथ रुकावट होकर जैसा कि ऊपर में वतलाया गया है वारिपुटक का निर्माण नहीं हो पाता। इसके लिये गर्भ-शीर्ष को पीछे ठेल देने से गर्भोदक का कुछ भाग आगे को आता है और वारिपुटक वना कर प्रसव कराता है।

गर्भोदकातिवृद्धि तथा गर्भोदकाभाव—इन दोनों का उल्लेख पूर्व के अध्याय में हो चुका है।

गर्भ की अस्वाभाविकता

प्रसव के ऊपर लिङ्ग का प्रभाव—सामान्यतया स्त्री गर्भ की अपेक्षा पुंगर्भ आकार में वड़ा होता है। इसीलिये प्रसव के उपद्रव तथा कठिनाईयाँ भी स्त्री

गर्भ की अपेक्षा पुरुष गर्भ में अधिक होती हैं। माता की मृत्यु अथवा रुग्ण होना भी स्त्री प्रसवों की अपेक्षा पुरुष प्रसवों में अधिक देखा जाता है। बालमृत्यु की दृष्टि से विचार किया जाय तो भी बालिकाओं की अपेक्षा बालकों में मृत्यु तथा रोग का प्रमाण अधिक मिलता है। इस प्रकार का प्रमाण प्रसवकाल में ही मिलता हो ऐसा नहीं, आगे चल कर बालग्रह अधिकतर पुरुष बच्चों मेंही मिलते हैं।

बृहत् परिमाण का गर्भ—औसतन प्रगल्भ शिशु की तौल ७ पौण्ड होती है, कई बार बारह पौण्ड तथा कचित् २० पौण्ड का भी हो सकता है।

हेतु—१. वंशज प्रभाव—लम्बे माता-पिता की सन्तानें लम्बी हो सकती हैं।

२. अधिक काल तक गर्भस्थिति (Prolonged Gestation)।

उपचार—इनमें विकृत प्रसव (Dystocia) होती है। बालक के जीवित रहने पर संदंश प्रसव कराना उत्तम है। गर्भाशय में ही मृत हों तो शिरोवेधन करके निकालना चाहिये।

३. शिरका परिमाण बड़ा होना अथवा अपूर्णकाल अस्थिभवन (Pre mature ossification) इसमें सम्पूर्ण शरीर स्वाभाविक बनता है। केवल सिर बृहत् हो जाता है जिससे रूपण (Moulding) में कठिनाई होती है।

४. गर्भ के परिमाण वृद्धि के रोगजन्य प्रकार—

(१) गर्भ की वस्ति (Bladder) का आध्मान।

(२) गर्भ का जलोदर। (३) गर्भ का सर्वाङ्ग शोफ।

(४) गर्भाशयान्तर्गत सहज सद्रवग्रन्थिक वृक्क (Cystic kidney)।

(५) मृत गर्भ के सड़ान के कारण उदर का वायु के कारण अध्मान है।

(६) युग्म अद्भुत गर्भ (Double Monsters)—एक बीजात्मक यमक के अपूर्ण पृथक् होने से ऐसा होता है।

(७) **अविकसित शीर्ष**—(Anencephalus)—इस प्रकार के बालक जीवित नहीं रहते; परन्तु प्रसव में कठिनाई जरूर पैदा करते हैं क्योंकि इनके स्कन्ध चौड़े होते हैं विशेषतः इनके विकृत बने हुए शीर्षग्रीवा के अपूर्ण प्रसारक होते हैं। वास्तव में यह वैकासिक विकार है जिसमें किन्हीं कारणों से इनका विकास अचानक रुद्ध हो जाता है। इनके सिर के पश्चाद् भाग के करोटिका पूर्णतया अभाव रहता है जिससे सुषुम्ना द्विधा विभाजित (Spina bifida)

तथा मतिष्कावरण सौषुम्न वृद्धि (Meningomyelocele) की आंशिक उपस्थिति मिलती है ।

उपचार—'क्ष' किरण से निदान करके समय पूर्व ही कृत्रिम प्रसव करना चाहिये ।

(८) सहज जल शीर्ष—(Congenital Hydrocephalus)

इस अवस्था में मस्तिष्क गुहायें (Ventricles) मस्तिष्क सुषुम्ना जल से भर जाते हैं । गर्भाशय में ही बच्चे में यह विकार शुरू होता है और जन्म के बाद भी बढ़ता चल सकता है । गर्भकाल में ही यदि जल अधिक भर जाये तो स्वयमेव प्रसव का होना असम्भव हो जाता है । ऐसी अवस्थाओं में वेधन करके कई पिण्ट की मात्रा में जल निकाल लेना चाहिये । जल-शीर्ष वाले बच्चों में अधिकतर शीर्षोदय होता है; परन्तु स्फिगुदय या पादोदय भी बहुलता से मिलता है ।

चित्र ११३

रोग विनिश्चय—स्फिगुदय या शीर्षोदय दोनों अवस्थाओं में शिर श्रोणिकण्ठ के बहुत ऊपर पाया जाता है । यद्यपि गर्भाशय के बाहर फेंकने वाली शक्ति, सङ्कुचित श्रोणि अथवा अवरोध कर हेतु नहीं पाया जाता तथापि श्रोणिकण्ठ के ऊपर सिर का निरोध मिलता है । सिर स्पर्श से अनुभव करने पर 'कलारूपी समुद्र के भीतर अस्थिरूपी द्वीप' की प्रतीति होगी । सिर अधिक बड़ा और बृहत् ज्ञात होगा सीमन्त चौड़े तथा ब्रह्मरन्ध्र एवं शिवरन्ध्र अधिक दरारयुक्त और चौड़े मालूम होंगे । यदि स्फिगुदय हो तो भगसन्धानिका के ऊपर शीर्ष बड़ा गोला भगस्पर्शलभ्य होगा ।

'क्ष' किरण चित्र से निदान को स्थिर कर सकते हैं । यदि अस्वाभाविकता अधिक प्रतीत हो तो कृत्रिम प्रसव से अन्त करा देना चाहिये ।

शुभाशुभ—गर्भाशय के विदीर्ण होने का भय रहता है। ऐसे सन्तान के जीवन योग्य अवस्था में प्रसव होने पर भी आजीवन उसमें मूढ़ता (Idiosy) की सम्भावना रहती है।

उपचार—इसमें वेधन कर्म ही सन्तोषजनक उपाय है। वेधन के पूर्व संदंश का प्रयोग भी खतरनाक है। अतः विना वेधन किये संदंश का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

शीर्षोदय की अवस्था में वेधक, आचूषक सूचिका अथवा तीक्ष्ण कर्त्तरी का प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार शिरोवेधन करके गर्भस्थ शिशु को नष्ट करके शिरोऽस्थिपीड़क (Cranioclast) से अथवा संदंश की सहायता से सिर का आहरण करना चाहिये। स्फिगुदय में यदि सिर का सम्भव न हो तो अनुशीर्ष के आधार से वेधन करे अथवा मुख के छत से वेधन करे। यदि सिर पहुँच के बाहर हो तो सौषुम्निक नलिका का वेधन (Tap) करके, मेरुदण्ड का छेदन करके सौषुम्निक नलिका से एक मजबूत मूत्रनाड़ी को प्रविष्ट करके या आचूषक सूची को प्रविष्ट करके, यदि सम्भव हो तो उसको मस्तिष्क तक पहुँचा कर जल-शीर्ष का जल निकाले। यह सब समय में सम्भव नहीं है क्योंकि कई बार 'मोनरो' का (Foramen of Monro) छिद्र बन्द भी हो जाता है।

नाल की अस्वाभाविकता—

नाल की अस्वाभाविकताओं का उल्लेख पूर्व के अध्यायों में हो चुका है यहाँ पर केवल नालोदय या नाल भ्रंश का वर्णन ही लक्ष्य है।

नालोदय या नालभ्रंश (Presentation or the cord)—

नाभिनाल का अवतरण दो अवस्थाओं में हो सकता है—

१. **नालोदय**—जरायु के विदीर्ण होने के पूर्व यदि उदय लेने वाले भाग के नीचे नाभिनाल आ गया हो तो उसे नालोदय कहते हैं।

२. **नालभ्रंश**—जरायु के विदीर्ण होने के पश्चात् यदि नाभिनाल उदय लेने वाले भाग के नीचे ग्रीवा योनि में पाया जावे तो उसे नालभ्रंश कहते हैं।

कई ग्रन्थों में एक तीसरे प्रकार की भी उल्लेख मिलता है अवपीडित या आचूषित (Expressed) जिसमें जरायु के विदीर्ण हुए काफी समय बीत गया हो और नाल सिर या स्फिक् के बीच में दबकर सूख गया हो।

हेतु—१. मूढ़ गर्भ तथा यमल गर्भ या लघु गर्भ (Small foetus)।
२. संकुचित श्रोणि या चपटी श्रोणि।
३. गर्भाशय के अर्बुद। ४. नाल का लम्बा होना।
५. गर्भोदकातिवृद्धि। ६. 'पेण्डुलस' उदर।

संक्षेप में जब भी उदय लेने वाला भाग अधोगर्भशय्या को पूरी तौर से नहीं भरता अथवा गर्भ अत्यन्त गति-शील होता है अथवा श्रोणि गुहा के एक पार्श्व से गर्भ का अवतरण होता है, नाभि-नाल गिर जाता है।

विनिश्चय—नालोदय का निदान कई बार कठिन होता है क्योंकि प्रसव की प्रथमावस्था में योनि-परीक्षा की आवश्यकता कम पड़ती है। अतः ज्ञात नहीं हो सकता नालभ्रंश की अवस्था का निदान बहुत ही सरल है, नाल का फन्दा योनि या भग पर स्पर्श द्वारा प्रतीत किया जा सकता है। योनिपरीक्षा से ही निदान सम्भव है। नाल में स्पन्दन होता मिलेगा।

शुभाशुभ—नाभिनाल का भ्रंश स्वयं प्रसव में विशेषतः माता के पक्ष में किसी प्रकार का खतरा नहीं पैदा करता है। परन्तु इसकी उपस्थिति से संकुचित श्रोणि अथवा विकृत अवतरणों की सूचना मिलती है—जिनके विद्यमान रहने पर प्रसव में निश्चित रूप से हानि की सम्भावना रहती है। दूसरी बात यह है कि नालभ्रंश की चिकित्सा में हस्तक्षेप करते हुए संक्रमण का भय रहता है।

बच्चे के पक्ष में विशेषतः शीर्षावतरण में यह परिस्थिति बड़ी ही चिन्ताजनक होती है। बच्चे के कड़े सिर एवं श्रोणि की दीवाल के बीच नाल के दब जाने से अपरा तक रक्त पहुंचना बन्द हो जाता है। इस रक्तावरोध से बच्चे की शीघ्र मृत्यु हो जाती है; यदि तत्काल प्रसव न कराया जाय या नाभिनाल को ऊपर न उठा दिया जाय तो स्फिगुदय या अंसोदय में नाल पर दबाव पड़ने की सम्भावना कम रहती है। यदि नाल में स्पन्दन न प्रतीत हो तो गर्भ को मृत समझना चाहिये। यदि यह दबाव अल्पकालीन हो एवं गर्भ के हृद्गति का श्रवण यन्त्र से श्रवण हो तो पुनः प्राणन से उसके जीवन की आशा कर सकते हैं; परन्तु यदि स्पन्दन पाँच से दस मिनट तक बन्द रहे हो बच्चे के जीवन की आशा नहीं कर सकते। नालभ्रंश की दशा में ज्यादा तर मृत-प्रसव होता है।

चिकित्सा—यदि गर्भोदक की थैली फटी नहीं है तो उसको फटने से बचाने की कोशिश करनी चाहिये, क्योंकि जब तक जरायु विदीर्ण नहीं हुई रहती बच्चे

के लिये कोई खतरा नहीं रहता। रोगी को तुरन्त बिस्तरे पर लेटा देना चाहिये और आसनों की चिकित्सा से नाल को स्वाभाविक स्थिति में लाने का प्रयत्न करना चाहिये। इस कार्य में तीन आसनों का व्यवहार होता है। १. जानुवक्षासन (Genu pectoral position), २. 'सिम' का आसन तथा ३. ट्रेंडेलेन वर्ग' का आसन।

आजानुवक्षस्थिति में नालभ्रंश

चित्र ११४

जानुवक्षासन सर्वोत्तम विधि है; परन्तु अधिक देर तक इस स्थिति पर गर्भिणी को रखना कठिन होता है। इस आसन पर लेटने से नाल गुरुत्वाकर्षण से ऊपरको आ जाता है, बशर्त्ते कि शीर्ष स्थिर न हुआ हो यदि नाल अपनी स्थिति पर न आवे तो उदय लेने वाले भाग को ऊपर की ओर ठेल कर नालको लौटाना चाहिये। एक सहायक को चाहिये कि वह इस समय भ्रूण के उदय लेने वाले भाग को श्रोणिकण्ठ के भीतर मजबूती से दबा दे। तत्पश्चात् माता को पेट तथा पार्श्व पर ('सिम' के आसन पर) लेटा देना चाहिये और उसे इस आसन पर तब तक लेटाये रखे जब तक कि गर्भोदक की थैली न फट जाये।

यदि गर्भोदक की थैली फट चुकी और वास्तविक नालभ्रंश की अवस्था है तो

चिकित्सा के पूर्व वह पता लगाना चाहिये कि बालक जीवित है या मृत। यदि बालक की मृत्यु हो गई हो तो चिकित्सा की आवश्यकता नहीं। यदि नाल में स्पन्दन हो रहा हो, अर्थात् बालक जीवित हो तो पता लगाना चाहिये कि नाल का स्पन्दन कैसा हो रहा है। स्पन्दन मन्द मन्द, क्षीण, या एकान्तरित (Intermitent) हो रहा है या भली प्रकार का हो रहा है। यदि स्पन्दन की अवस्था अच्छी है तो बालक की स्थिति भी ठीक होगी और चिकित्सा की तत्काल आवश्यकता है। इसके विशोधित अंगुलित्राणक (दास्ताने) पहन कर योनिद्वारा परीक्षा करके देखना चाहिये कि ग्रीवा की विस्तृति किस कोटि की है तथा यदि सम्भव हो तो यह भी पता लगाना चाहिये कि नालभ्रंश का कारण क्या है। यदि कारण स्कन्ध, ललाट, मुखों का अवतरण ज्ञात हो अथवा चपटी श्रोणि जानी जाय अथवा पूर्वस्था अपरा मालूम पड़े तो गर्भ का विवर्त्तन करके एक पैर का कर्षण करना उत्तम है।

ग्रीवा के पूर्ण विकास के पूर्व ही यदि नालभ्रंश हो तो गर्भ को तुरन्त बाहर निकालना माता के लिये खतरनाक हो सकता है। ऐसी अवस्था में संज्ञाहर द्रव्य का प्रयोग करके नाल को अपने स्थान पर पहुंचाने का यत्न करना चाहिये। उसके लिये नाल को पहले उदय लेने वाले भाग के ऊपर पहुंचा कर उदय लेने वाले भाग को अधोगर्भशय्या में नीचे को दबाकर, उदरबन्ध कसकर (Abdominal binder) लगा देना चाहिये। यदि श्रोण्यवतरण हो तो नाल को ऊपर पहुंचा कर गर्भ के पैर को नीचे को खींच लेना चाहिये।

नाल का पुनः स्थापन (Reposition)—इसके लिए कई प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख कई ग्रन्थकारों ने किया है; परन्तु सर्वोत्तम उपाय अंगुलियों और विशोधित वर्त्ति के द्वारा करना है। दूसरा उपाय विशोधित नमनशील मूत्रनाडी (Sterlized Gum elastic catheter) के द्वारा नाल को स्वस्थान पर पहुंचाना है। इसमें
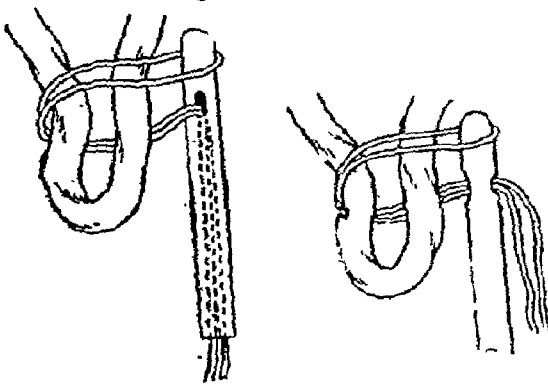
चित्र ११५

मूत्रनाडी के छिद्र में से विशोधित सूत्र या फीते का फन्दा बनाकर उसके सहारे नाल को फँसाकर ऊपर में पहुंचाते हैं। फिर सावधानी के साथ ताकि नाल पुनः न लौट सके मूत्रनाडी के वाहण निकाल देते हैं यदि निकालने में नाल के पुनः गिर जाने की शंका हो तो उसको उस स्थिति में छोड़ देना चाहिये। प्रसव के साथ ही वह मूत्रनाडी भी निकल आवेगी।

विवर्त्तन—नालभ्रंश की बहुत सी अवस्थाओं में अन्तः विवर्त्तन से अच्छी सफलता मिलती है। बालक के घूमने के साथ नाल भी उसी के साथ ऊपर को चला जाता है। यह क्रिया पश्चिम अनुशीर्षासनों, मुखोदय एवं ललाटोदय में विशेषतः लाभप्रद है। इसके करने में गर्भाशयमुख का पूर्ण विकास होना आवश्यक है। अन्तर्विवर्त्तन करने के पूर्व गर्भिणी को क्लोरोफार्म देकर संज्ञानाशन कर लेना आवश्यक है ताकि गर्भाशय की पेशियाँ शिथिल हो जावें। विवर्त्तन के पश्चात् प्रसव को अपने आप होने देना चाहिये; परन्तु यदि स्पन्दन मन्द एवं अनियमित जान पड़े तो शीघ्र प्रसव कराना चाहिये।

यदि ग्रीवा का पूर्ण विकास हो तो तत्काल प्रसव करावे। शीर्षोदय हो तो संदंश प्रसव करावे। यदि सिर श्रोणिकण्ठ के ऊपर हो तो भगास्थिछेदन (Episiotomy) करे। श्रोण्यवतरण में पैर का कर्षण करते हुए सावधानी से प्रसव करावे। यदि सिर और श्रोणि की अधिक विषमता हो तो उदरविपाटन करे।

पञ्चदश अध्याय

श्रोणिमापन तथा 'क्ष' किरण श्रोणिमापन

(Pelvimetry & Rediological pelvimetry)

श्रोणि प्रकृत है या प्रकृत (Normal) से छोटी या बड़ी इस बात के निश्चय के लिये श्रोणि के कई एक माप लिये जाते हैं, इस क्रिया को श्रोणिमापन कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्य माप श्रोणिमापक यन्त्र के द्वारा (Pelvimeter) 'इञ्च' अथवा 'सेण्टीमीटर्स' में लिया जाता है; अन्तः मापन योनि परीक्षाकाल में अंगुलियों के सहारे किया जाता है।
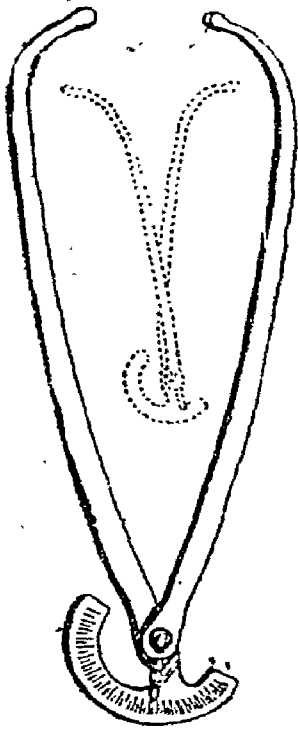
श्रोणिमापक यन्त्र

चित्र ११६

बाह्यमापन-बाह्यश्रोणि व्यास संख्या में सात हैं।

१. **पुरः कूटान्तरालिक** (Inter spinous diameter)—दोनों पूर्व ऊर्ध्व जघन कूटों के बीच का अन्तराल यह औसतन १० ईञ्च (२५ से.मी.) का होता है।

२. **जघनधारान्तरालिक** (Inter cristal)—दोनों जघन धाराओं के बाह्य ओष्ठों के बीच का अवकाश। यह दीर्घतम व्यास है औसतन ११ ईञ्च (२७.५ से. मी.) का होता है।

३. **कटि-सन्धानिकान्तरालिक** (External congugate or Bandelocque's diameter)—पञ्चम कटिकशेरुक के अग्र से लेकर भग-सन्धानिका की उर्ध्वधारा तक का मापन करते हैं। औसतन यह व्यास ७½ ईञ्च (१९ से. मी.) का होता है। इस व्यास के पामन के काल में रोगी को खड़ा करके या बायें पार्श्व पर लेटाकर रखना होता है। इस व्यास में से ३½ ईञ्च (८ से. मी.) घटा देने से वास्तविक अनुरूप व्यास (True conjugate) निकल आता है।

४. **शिखरकान्तरालिक** (Inter trochanteric)—उर्वस्थि के

दोनों महाशिखरक (Greater trochanteres) के बीच की दूरी। यह १२ से १२½ इंच के लगभग होता है।

५. वहिर्द्वार का पूर्व-पश्चिम (अगे से पीछे का) व्यास (Antero posterior Diameter of the out let)—इसके मापन के लिये रोगी को संकुचित जानुकूर्परासन (Lithotomy) पर लेटाकर रखते हैं और भगसन्धानिका के शीर्ष (Apex) से लेकर अनुत्रिकास्थि के अग्र (Tip) तक नापते हैं। यह व्यास औसतन ५½ इंच (१३·१ से. मी.) का होता है। यदि अनुत्रिकास्थि पीछे की ओर चली जाय तो दूरी ½ इंच (१·२५ से. मी.) बढ़ जाती है।

निर्गम द्वार का अनुप्रस्थ व्यास का मापन
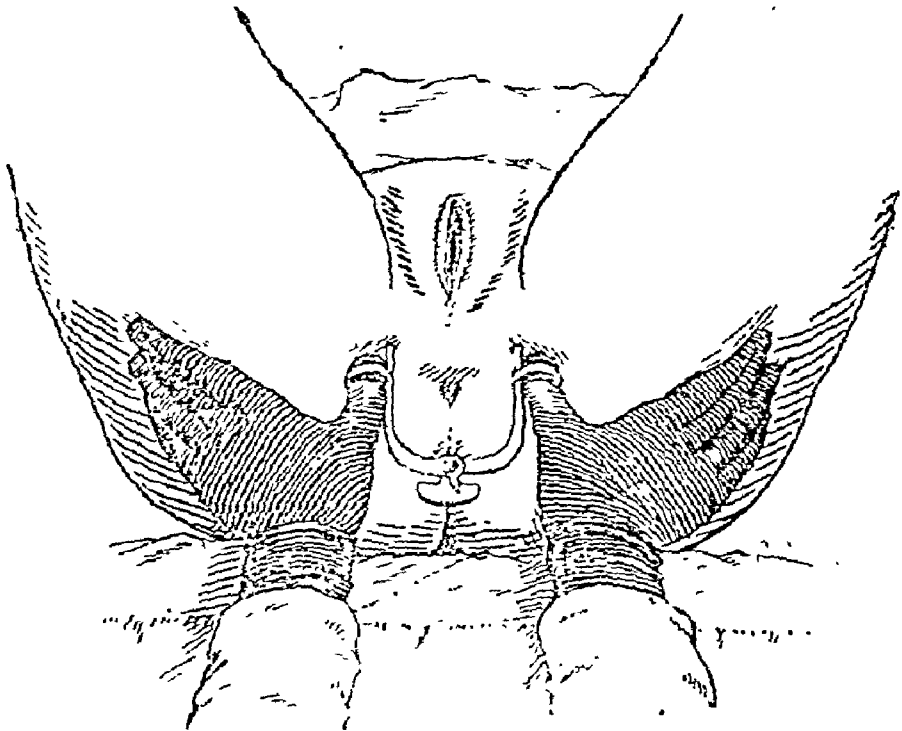
चित्र ११७

६. वहिर्द्वार का अनुप्रस्थ व्यास (Transverse diameter of the out let) इसमें दोनों कुकुन्दर पिण्डों के अन्तःपृष्ठ (Inner surfac of Ischial Tuberosities) की दूसरी माप ली जाती है। नापते समय

मुट्ठी बाँधकर अवकाश को जोर से दबाते हैं फिर माप लेते हैं। यह व्यास ४३ ईञ्च (११ से. मी.) का हो सकता है।

७. **पश्चिम कूटान्तरालिक** (Posterior Interspinous)—दोनों पश्चिम ऊर्ध्वकूटों के बीच की दूरी है। यह पुरः कूटान्तरालिक व्यास का ⅓ होता है। औसत परिमाण २⅓ ईञ्च (८·२ से. मी.) का होता है। यदि यह व्यास प्रसवकाल में नापने से छोटा जान पड़े अर्थात् पुरः कूटान्तरालिक व्यास का ¼ या ⅙ हो तो श्रोणि का चपटापन समझना चाहिये। स्थूल स्त्रियों में इसका नापना बड़ा कठिन होता है। फीते (Tape) से मापना श्रोणि के तिरछेपन (Obliquity) का निर्णय करने के लिये फीते के द्वारा भी मापन किया जा सकता है। इसमें कशेरुक अथवा पश्चिमोर्ध्व जघनकूट से फीते को घुमाते हुए दूसरी ओर के पूर्वोर्ध्व जघनकूट तक की दूरी लेते हैं। यदि ये दोनों विभिन्न लम्बाई के हों तो श्रोणि तिर्यक् है; ऐसा समझना चाहिये।

आभ्यन्तर व्यास

अन्तःकर्णव्यास (Diagonal conjugate)—भगसन्धानिका की अधोधारा से लेकर त्रिकास्थि के उत्सेध (Promontory) तक की दूरी। यह वास्तविक अनुरूप व्यास (True onjugate) से ½ ईञ्च (१·२५ से. मी.) लम्बा होता है। ऐसे रोगियों में जिनकी त्रिकोत्सेध कुछ अधिक ऊँचाई पर हो तो यह अन्तर अधिक हो जाता है (As in Gynecoid pelvis) और कर्णव्यास में से ¾ ईञ्च या इससे भी अधिक घटाने पर वास्तविक अनुरूप व्यास आता है।
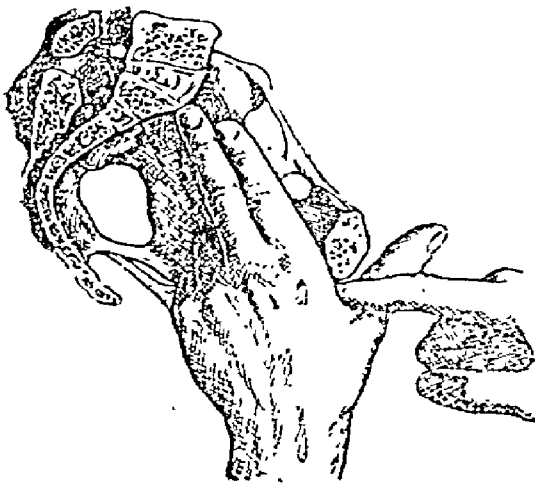
आभ्यन्तर श्रोणिमापन

चित्र ११८

मापन विधि—रोगी को वाम पार्श्व पर या घुटनों को मोड़कर पीठ के बल लेटाना चाहिये। दास्ताने पहने हुए दाहिने हाथ की तर्जनी एवं मध्यमा

अंगुलियों को योनि के भीतर प्रविष्ट कर त्रिकास्थि के उभार को छूने की कोशिश करे। यदि श्रोणि प्राकृतिक से बृहत् है तो अंगुलियाँ वहाँ तक नहीं पहुंच सकतीं यदि श्रोणि संकुचित है तो वड़ी आसानी से उसका स्पर्श किया जा सकेगा। जव मध्यमाङ्गुलि त्रिकोत्सेध का स्पर्श करती है तव उसी समय तर्जनी का ऊपरी किनारा सन्धानिका का स्पर्श करता रहता है। इस चिह्न को दूसरे हाथ की अंगुलि से स्थिर कर लेना चाहिये। अव अंगुलियों को वाहर निकालकर मध्यमाङ्गुली के अग्र से लेकर तर्जनी के चिह्नित स्थान की दूरी नाप ले। स्वाभाविक स्थिति में यह दूरी ४$\frac{3}{4}$ इंच (१२ से. मी.) की होती है। यदि यह अन्तःकर्ण व्यास ४$\frac{3}{4}$ इंच से अधिक हो तो श्रोणि को संकुचित नहीं समझना चाहिये; परन्तु यदि यह ३$\frac{3}{4}$" या इससे कम हो तो संकुचित श्रोणि समझना चाहिये और 'क्ष' किरण के द्वारा निर्णय कर लेना चाहिये कि श्रोणि का अन्तः द्वार संकुचित तो नहीं है।

प्रसूति-शास्त्र के ग्रन्थों में लघु श्रोणि (True pelvis) के अन्तः मापन (Internal Measurments) को तीन क्षेत्रों में विभाजित करके वर्णन की प्रणाली है। जैसे प्रवेश द्वार या श्रोणिकण्ठ (Brim) का, गुहा के मध्य का तथा निर्गम द्वार (Out let) का। इसके अलावे प्रत्येक क्षेत्र के व्यासों का चार दिशाओं के विचार से भी वर्णन करना पड़ता है। जैसे पूर्व-पश्चिम, (आगे से पीछे का), अनुप्रस्थ (Transvese) तथा तिर्यक् (तिरछा) वाम एवं दाहिने के भेद से। निम्नलिखित कोष्ठक में एक स्वाभाविक श्रोणि के मापनों का परिमाण (औसत) दिया जा रहा है—

	पूर्व-पश्चिम	तिर्यक्	अनुप्रस्थ
प्रवेशद्वार (Inlet)	४$\frac{1}{4}$" (१०·६ से.मी.)	४$\frac{3}{4}$" (११·८ से. मी.)	५$\frac{1}{4}$" (१३·१ से.मी.)
गुहा का मध्यभाग (Cavity)	४$\frac{3}{4}$" (११·८ से. मी.)	,,	४$\frac{3}{4}$" (११·से.मी.)
निर्गमद्वार (Out let)	५$\frac{1}{4}$" (१३·१ से. मी.)	,,	४$\frac{1}{4}$" (१०·६से.मी.)

१. **पुरः पश्चिम व्यास** प्रवेशद्वार के मापन (Measurments at the plane of the inlet)—इस व्यास को त्रिकास्थि के उत्सेध के मध्य
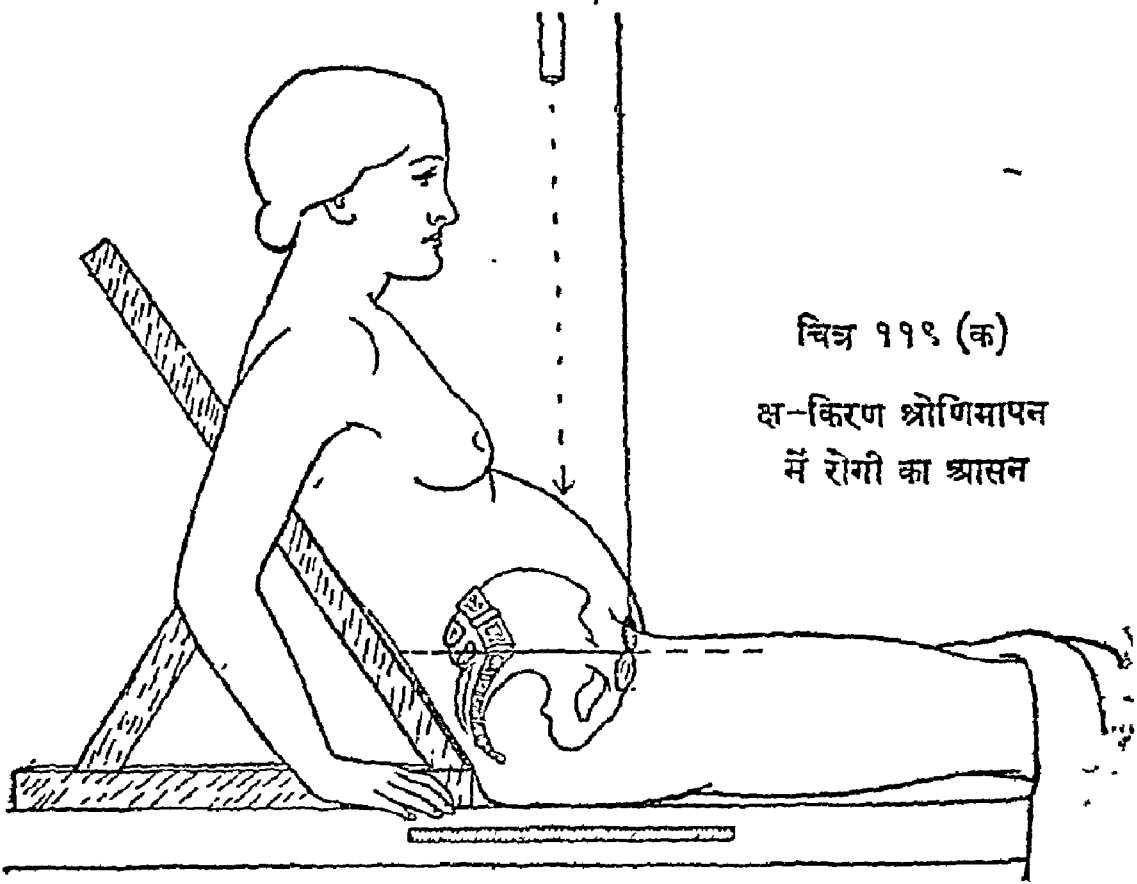
चित्र ११९ (क)

क्ष-किरण श्रोणिमापन में रोगी का आसन
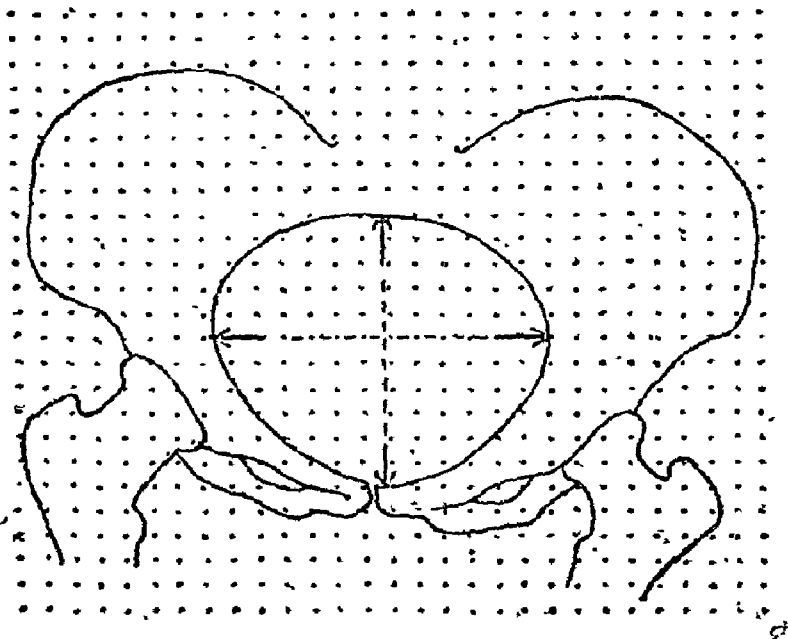
चित्र ११९ (ख)

सच्छिद्र धातु के बने पत्तर जिसके आधार पर सेण्टीमीटर्स में माप लेते हैं।

से लेकर भगसन्धानिका के पश्चाद्भाग के निकटतम विन्दु तक नाप कर लेते हैं। यह प्रवेश द्वार का लघुतम व्यास है तथा श्रोणि के मापों में सबसे अधिक महत्व का है। इसका अन्दाजा कर्णव्यास की लम्बाई के जरिये ये क्ष किरण श्रोणिमापन (X,ray pelvimetry) के द्वारा करना होता है। इसको वास्तविक अनुरूप व्यास (True conjugate) भी कहते हैं।

२. **तिर्यक् या तिरश्चीन व्यास**—दक्षिण तिरश्चीन व्यास (Right oblique diameter) दाहिनी ओर की त्रिक जघन सन्धि से (Sacro-Iliac joint) बाईं ओर के श्रोणिकंकतिकोत्सेध (Ilio pectineal Eminence) तक तथा वाम तिरश्चीन व्यास वाम त्रिक्-जघन सन्धि से दाहिने ओर की श्रोणिकंकतिकोत्सेध तक की दूरी है।

३. **अनुप्रस्थ व्यास** (Transverse diameter)—यह जघन-कङ्कतिका रेखाओं (Iliopectineal lines) की अधिकतम दूरी है।

प्रवेश द्वार के व्यास
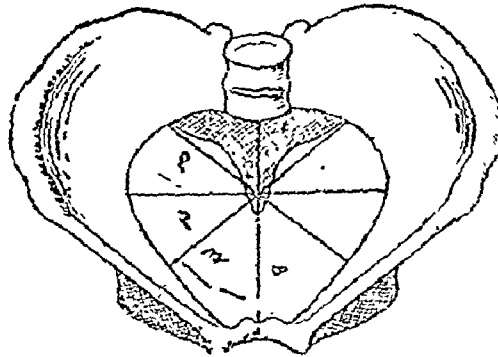
चित्र ११९

१. दक्षिण तिरश्चीन व्यास २. अनुप्रस्थ व्यास ३. वाम तिरश्चीन व्यास ४. अनुदीर्घ व्यास

त्रिक् कङ्कतिका व्यास (Saero-coty loid Diameter)—इस नाम के वाम और दक्षिण भेद से दो व्यास माने गये हैं। त्रिकास्थि के उत्सेध के मध्य (Promontory) से लेकर जघन कङ्कतिकोत्सेध तक दोनों पार्श्वों में पाया जाने वाला व्यास है। इसका माप ३$\frac{3}{8}$" (९·२ से. मी.) होता है।

इन व्यासों में पश्चिम अनुशीर्षासनों (O. P) में गर्भ का पार्श्विक (Biparietal diameter) लगता है। पूर्व अनुशीर्षासनों में गर्भ का यह व्यास श्रोणि के अधिक अवकासयुक्त व्यास तिरश्चीन व्यासों में लगता है। यदि श्रोणि चपटी हो एवं पश्चिम अनुशीर्ष के अवस्था हो पार्श्वीय व्यास (Parietal) त्रिक् कंकतिका व्यास में ही लगता है जिससे बालक का सिर मुड़ने के बजाय फैल जाता है, श्रोणिकण्ठ में स्थिर नहीं हो पाता और ललाटोदय या मुखोदय का कारण बनता है।

गुहा के मध्य का मापन (At the midplane of the cavity)

१. **पुरःपश्चिम** (Antero-posterior)—भगसन्धानिका के पश्चाद्भाग के मध्य से लेकर दूसरे और तीसरे त्रिककशेरुक सन्धि के मध्य तक (Middle of the junction of the II & III S. V.) २. **अनुप्रस्थ** तथा ३. **तिरश्चीन**। ये तीनों व्यास कुकुन्दरास्थि (Ischial bone) के अन्तःपृष्ठों के बीच में पाये जाते हैं। इनका मापन 'क्ष' किरण श्रोणिमापन के द्वारा ही सम्भव है।

निर्गम या बहिर्द्वार का मापन (Measurment of the plane of the out let)

बाह्य श्रोणिमापन के प्रसंग में शरीररचना की दृष्टि के निर्गमद्वार का माप बतलाया जा चुका है। अन्तर्मापन से निर्गमद्वार का कोई ठीक ठीक नाप करना सम्भव नहीं है; अनुमानतः अल्पतम परिमाण के क्षेत्र का इसके द्वारा किसी भाँति पता लगाया जा सकता है। इसका पुरःपश्चिम व्यास सामने की ओर भगसन्धानिका की अधोधारा (Lower border) से लेकर पीछे की ओर त्रिकानुत्रिक सन्धि (Sacro-coccygeal joint) तक होता है। यह लगभग ४" का होता है। अनुप्रस्थव्यास जघनधाराओं के अग्रों के बीच की दूरी है (Tips of the ischial spine)। 'क्ष' किरण श्रोणि-मापन के द्वारा ठीक ठीक परिमाण का ज्ञान सम्भव है।

भेद—स्त्रीश्रोणि में पुरुषश्रोणिकी अपेक्षा अस्थियाँ हल्की (Slighter) और मुलायम होती है। लघुश्रोणि अधिक उथली होती है। महत् श्रोणि (False pelvis) अधिक चौड़ी होती है। भगास्थि चाप (Pubic arch) अधिक

चौड़ा होता है। भगसन्धानिका उतनी गहरी नहीं होती। निर्गमद्वार तथा प्रवेशद्वार के व्यास अधिक बड़े होते हैं।

सन्धियाँ अधिक गतिशील (Movable) होती हैं। 'क्ष' किरण श्रोणिमापन (Radiological pelvimentry) श्रोणि का सर्वोत्तम या ठीक ठीक (Accurate) मापन 'क्ष' किरण (Xray) के द्वारा ही सम्भव है।

इस मापन की कई विधियाँ प्रचलित हैं। यहाँ पर संक्षेप में एक विधि 'सेण्टीमीटर ग्रिडमेथड' का संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है। रोगी को अर्धोपविष्ट आसन पर (In sitting position with back rest) बैठाकर पीठ की ओर एक तख्ता लगा देते हैं, रुग्णा पैर को फैलाये रखती है। इस आसन का उद्देश्य श्रोणिकण्ठ (Brim) को 'ट्रे' के समानान्तर रखने का है जिस पर रोगी बैठता है। इस आसन को ठीक बनाये रखने के लिये इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सन्धानिका का ऊपरी किनारा और चतुर्थ पञ्चम कटिकसेरुक के अन्तराल के समानान्तर रहे और आसन (Couch) से समान दूरी पर हों। यदि इन दोनों विन्दुओं के बीच से एक काल्पनिक रेखा खींची जाय तो वह श्रोणिकण्ठ के पुरःपश्चिम (Antero-posterior diameter) से होकर गुजरेगी।

अब 'क्ष' किरण नलिका (Tube) श्रोणिकण्ठ के मध्य में ऊपर से इस प्रकार लगाना चाहिये कि वह भगसन्धानिका के ऊपरी किनारे से लगभग २ इञ्च पीछे और 'फिलम' से ३० ईञ्च ऊपर हो। अब 'क्ष' किरण से चित्र ले लेना चाहिये। नलिका और 'फिलम' को उसी स्थिति में पड़े रहने देना चाहिये। रोगी को उस स्थान से हटा देना चाहिये। अब उसके श्रोणिकण्ठ से घिरे हुए स्थान पर सछिद्रधात्वीय पत्तर (Perforated metal sheet) लगा देनी चाहिये। पुनः 'क्ष' किरण का प्रकाश उसी 'फिलम' पर फेंकना चाहिये। पत्तर के छेदों के (जो १, १ से० मी० की दूरी पर होते हैं) चित्र 'फिलम' में काले विन्दुओं के रूप में मिलेंगे। इनके मिलाने से श्रोणि-कण्ठ के व्यासों का माप 'सेण्टीमीटरर्स' मिल जायगा; ये सभी छिद्र एक सेण्टीमीटर की दूरी पर बने रहते हैं।

इस विधि से श्रोणि के प्रवेशद्वार का सभी दिशाओं में व्यासों का परिगणन हो सकता है साथ ही प्रवेशद्वार के आकार का भी निर्णय हो सकता है।

इसी प्रकार पार्श्व पर रोगी को लेटाकर भी किया जा सकता है; परन्तु इसमें कई एक कठिनाइयाँ आ जाती हैं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये सर्वोत्तम उपाय रोगी को खड़ी स्थिति में (Standing) रख कर 'क्ष' चित्र लेना है। इस विधि से श्रोणिकण्ठ का झुकाव, आकार, दिशा, चन्द्राकार मोड़ (Curvature) तथा त्रिकास्थि के झुकाव प्रभृति बातों का भी ज्ञान हो जाता है।

कपाल मापन (Cephalometry)—गर्भशिर का चित्र 'क्ष'किरण के द्वारा लेने के भी कई विशिष्ट विधान प्रचलित हैं इनके द्वारा पार्श्वकापालिक व्यास का (Biparietal diameter) ठीक ठीक पता लगाया जा सकता है। इसके आधार पर पुनः श्रोणि तथा गर्भशिरकी विषमता (Disproportion) का भी विनिश्चय किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त गर्भसिर के संकोच एवं विस्तार की मात्रा, शिरोरूपण (Moulding), श्रोणिसन्धियों की गतिशीलता, गर्भाशय के आकुञ्चनों की शक्ति, मृदु अवयवों का प्रतिरोध (Resistence) प्रभृति बातों का भी पता लगाया जा सकता है। इन सभी लाभों के बावजूद भी यह ध्यान में रखना चाहिये कि 'क्ष' किरण मापन पर अत्यधिक भरोसा करना माता और बालक दोनों के पक्ष में घातक भी सिद्ध हो सकता है, अतः अपने निरीक्षणों तथा अनुभवों के ऊपर अधिक निर्भर रहकर निदान करना उत्तम है; तथापि जहाँ पर संकुचित श्रोणि का बहुत बड़ा सन्देह हो 'क्ष' किरण मापन से इसका निराकरण अवश्य कर लेना चाहिये।

प्रसूतिशास्त्र में 'क्ष' किरण का महत्त्व

१. **गर्भस्थिति के निदान में**—१६वें सप्ताह के बाद गर्भ में अस्थियाँ बन जाती हैं—चित्र में उनकी उपस्थिति गर्भ के निदान में सहायक होती है।

२. **गर्भ की अवस्थिति** (Lie)—अङ्गसंस्थिति (Position) तथा आसनों के निर्णय में सहायक होता है।

३. **बहुगर्भ या यमल गर्भ के निदान में**—'क्ष' चित्र सहायक होता है।

४. **गर्भावस्था के काल निर्णय में**—अस्थिजनन केन्द्रों (Centres of ossification) आधार पर गर्भ की आयु का निर्णय किया जा सकता है।

५. **अस्वाभाविक गर्भ**—(Abnormal foetus) के निदान में

जलशीर्ष, सौषुम्ना द्विधाविभजन (Hydrocephalus & Spina bifida) का निर्णय आसानी से हो सकता है।

६. **गर्भाशयान्तर्गत गर्भ की मृत्यु**—मृतगर्भ कुछ ही समय में उपशुष्कक (Macerated) or उपविष्टक (Compressed) का रूप ले लेता है। कपाल की अस्थियों के रूपण (Moulding) आदि के द्वारा चित्र से निर्णय सम्भव है।

७. **अपरा की संस्थिति** (Postion)—का निर्णय। विशिष्ट विधियों से इसका भी विनिश्चय किया जा सकता है।

८. **गर्भशिर का परिमाण** (Size)।

९. **प्रसव की प्रगति** (Progress)—जहाँ पर साधन सुलभ हो इसका ज्ञान भी किया जा सकता है।

१०. **मूत्रवह-संस्थान का ज्ञान**—विशिष्ट विधियों (Pyelography) से इस वृक्क के उपाङ्गों के विस्फार आदि का विनिश्चय किया जा सकता है।

११. **श्रोणिगत सन्धियों की गति**—विभिन्न सन्धियों की गति-शीलता का भी परिज्ञान 'क्ष' किरण देखने से हो सकता है।

प्रसूतितन्त्र में दिनों दिन 'क्ष' किरण का महत्त्व बढ़ता जा रहा है और रोग निर्णय भी बहुत कुछ सरल हो गया है; तथापि इस बात को सदैव स्मृति में रखना चाहिये कि 'क्ष' किरण दर्शन या चित्र 'सावधानीपूर्वक किये गये निरीक्षणों के स्थानापन्न (Substitute) उपाय नहीं है वरन उन्हीं के सहायभूत अङ्गमात्र हैं।'

अतएव लक्षण और चिह्नों के आधार पर किये गये निर्णय ही अधिक महत्त्व के हैं; उनके महत्त्व किसी कदर भी कम नहीं कहे जा सकते। जिस स्थल पर सन्देह का अवसर आवे 'क्ष' किरण की सहायता से अपने लाक्षणिक आधार पर किये गये विनिर्णयों की पुष्टि कर सकते हैं।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में श्रोणिमापन सम्बन्धी कुछ वर्णन पाया जाता है। यद्यपि यह वर्णन पूर्णतया उपर्युक्त आधुनिक श्रोणिमापन के समकक्ष का तो नहीं है; तथापि प्राचीन आचार्यों ने श्रोणिप्रमान बतलाया है। उदाहरणार्थ-निम्नलिखित सूत्रों को देखें।

१. पुरुष के उर (छाती) के प्रमाण (विस्तार) के तुल्य (आदर्श) स्त्री-श्रोणि होनी चाहिये।

२. योनि का स्वाभाविक विस्तार बारह अङ्गुल का होना चाहिये।

३. स्त्रियों में जघन (Pelvis) और छाती प्रमाण तुल्य हो तो प्रशंसनीय है।

कहने का तात्पर्य यह है कि उपरोक्त प्रमाण स्वाभाविक हैं—इसके विपरीत प्रमाण वैकारिक हैं। महर्षि चरक ने कटि का विस्तार १८ अङ्गुल और सुश्रुत ने पुरुष के उर (छाती) के बराबर (अर्थात् पुरुषों के उर की प्राकृतिक चौड़ाई ३४–३६ इँच तक मानी जाती है) आधुनिक मतानुसार अक्षरशः प्रतिपादित होती है। चरकोक्त प्रमाण पुरःकूटान्तरालिक (Inter spinous) व्यास (जिसकी चौड़ाई ९½ – १० इंच) तक मानी जाती है। तथा सुश्रुतोक्त प्रमाण नितम्ब पिण्डान्तरीय (Inter Tuberosities) का प्रतिनिधित्व करते हैं।

आधार तथा प्रमाणसंचय—

(१) पुरुषोरःप्रमाणविस्तीर्णा स्त्रीश्रोणिः। (सु. सू. ३५)
(२) द्वादशाङ्गुलभगविस्तारः। (सु. सू. ३५)
(३) षोडशाङ्गुलविस्तारार्कटिः। (च. वि. ८)
(४) जघनमुरसा तुल्यं प्रशस्यते। (वा. सू. २८)

(Midwifery by Tenteachers)

षोडश अध्याय

श्रोणि की अस्वभाविकता या दोष

(Abnormalities of Pelves)

स्त्री की श्रोणि आकार में विभिन्न प्रकार की हो सकती है। श्रोणिगत विभिन्नतायें वैकासिक दोषों (Developmental Defets) के कारण मिलती हैं। इसके अतिरिक्त बाह्य अभिघात तथा रोग जिनका सीधा सम्बन्ध अस्थिकङ्काल के साथ होता है, वे भी श्रोणि के आकार एवं परिमाण में विचित्रता ला सकते हैं।

श्रोणि का वर्गीकरण

अस्वाभाविक

स्वाभाविक

आदर्श स्त्रीश्रोणि (Gynecoid pelvis)

वैकासिक

१. सङ्कुचित या लघु गोल श्रोणि (Contracted or small Round pelvis)
२. लघु नरकल्पश्रोणि चौंगा जैसी या पुरुष जैसी श्रोणि (Small Android pelvis)
३. लघु वानरकल्पश्रोणि (Small anthropoid pelvis) यह नर के समान आकार वाले वानरजातीय पशुओं की श्रोणि से मिलता हुआ होता है।
४. सादी चपटी श्रोणि (The small platy pelloid pelvis)

रोग अथवा मेरुदण्ड के अस्वाभाविक विकार के हेतु

१. कुब्ज श्रोणि (Kyphotic pelvis)
२. पार्श्वविनमित श्रोणि (Scoliotic pelvis)
३. कुब्ज–पार्श्वविनमित श्रोणि (Kypho-scoliotic pelvis)
४. सन्धि–दोषाक्त श्रोणि (Spondylolisthetic pelvis)
५. समीकृत श्रोणि (Assimilation pelvis) या समीकरण श्रोणि

रोगज या अभिघातज

१. फक्कीय चपटी श्रोणि (Rachitic flat pelvis)
२. अस्थिवक्रीय श्रोणि (Osteo malacic pelvis)
३. भग्न श्रोणि (Fractured pelvis)
४. अर्बुद

अधःशाखा की अस्वभाविकता के हेतु

१. कटिसन्धि के रोग (Hip disease)।
२. कटिसन्धि का सहजभग्न (Congenital dislocation of hip)।
३. शूलपाद (Club foot)।
४. एक पैर का दोष जिसके कारण शरीर भार का विभजन समान नहीं होता एवं श्रोणि अस्वाभाविक हो जाती है। (Defect of one limb which alters the distribution of the body weight)

१. 'नेग्ली' की तिरश्चीन श्रोणि (Naegele's oblique pelvis)

२. 'राबर्ट' की श्रोणि (Robert's pelvis)

सङ्कुचित श्रोणि या लघु स्त्रीश्रोणि (Generally contracted pelvis)

यह अवस्था छोटी कद की औरतों में, जिनकी अस्थियाँ अनुपात में छोटी होती हैं पाया जाता है। सङ्कुचित श्रोणि वामन (Dwarfs) स्त्रियों में मिलता है; परन्तु कई बार पूर्ण विकसित, स्वस्थ एवं औसत कद की औरतों में भी देखने को मिलता है।

इसका निदान श्रोणि मापन के द्वारा सम्भव है। पुरःकूटान्तरालिक (Inter-spinous), जघनधारान्तरालिक (Inter cristal) तथा 'बाडलक' का व्यास (Ext. Conjugate) जो क्रमशः १०″, ११″ और ७½″ इंच के स्वाभाविक रहे तो बदल कर इस स्थिति में ८″, ९″ और ७½″ इंच के हो जाते हैं। स्वाभाविक दशा में पूर्व ऊर्ध्वजघन कूटों के बीच की दूरी पश्चिमोर्ध्वजघन कूटों के अवकाश के २ या २½ गुनी होती है; परन्तु सामान्य सङ्कुचित श्रोणि की अवस्था में वह दो या ढाई गुनी रहती है। अतः परीक्षण पर त्रिकास्थि का उत्सेध काफी ऊँचाई पर मिलता है, यहाँ तक कि उस विन्दु तक अङ्गुलियों की पहुँच भी कठिन हो सकती है; यद्यपि सन्धानिका से उसकी दूरी स्वाभाविक से भी कम होती है। तथापि 'क्ष' किरण के द्वारा भी सामान्य सङ्कुचित-श्रोणि का ज्ञान किया जा सकता है।

गर्भावस्था में प्रभाव—महत्व का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु यह स्मृति में रखना चाहिये कि अप्रजाता में ३६वें सप्ताह तक सिर श्रोणि-गुहा के भीतर नहीं प्रविष्ट हो पाता, वह श्रोणिकण्ठ के ऊपर गति करता रहता है। उसको नीचे की ओर दवाया भी जा सकता है; परन्तु वह कुछ ही दूर तक स्वाभाविक श्रोणि की भाँति अधिक गहराई तक नहीं दवाया जा सकता। प्रसव पर प्रभाव—लघु स्त्री श्रोणि में प्रायः प्रसव प्राकृत होता है क्योंकि इस स्थिति में बच्चे भी छोटे होते हैं। ऐसे बच्चे में ३ सेर तक वजन का होना कोई नई घटना नहीं होती। यदि कहीं बच्चा औसत दर्जे का हुआ तो पश्चिम अनुशीर्षासन पाया जाता है और यदि श्रोणि विशेषरूप से छोटी हुई तो निम्नलिखित घटनायें हो सकती हैं।

प्रथमावस्था—श्रोणिकण्ठ छोटा होता है जिससे शिरोवग्रहण कठिन होता है। गर्भ की संस्थिति (Lie) अनुदीर्घ (Longitudinal) रहती है।

चपटी श्रोणि (Rhachitic flat pelvis)

बाल्यावस्था के फक्करोग के परिणामस्वरूप यह होता है। बच्चा जब सिर्फ बैठना जानता है; खड़ा होने या चलने में असमर्थ रहता है उसी समय में रोग के फलस्वरूप श्रोणि चपटी हो जाती है। शरीर का पूरा भार मेरुदण्ड के जरिये त्रिकास्थि उत्सेध (Promontory), जघनास्थियों और कुकुन्दर कूटों पर

फक्कज चपटी श्रोणि
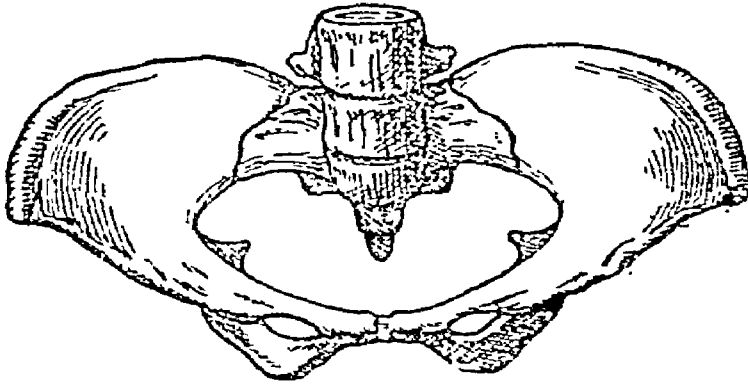
चित्र १२०

पड़ता है। रोग की वजह से अस्थियाँ मृदु हो गई रहती हैं, त्रिकास्थि घूम जाती है। और उसका उत्सेध नीचे और आगे की ओर होकर सन्धानिकोन्मुख हो जाता है।

सर्वप्रथम जब यह पश्चाद्भाग की ओर जाने की चेष्टा करता है तो त्रिकण्टकी (Sacro spinous) तथा त्रिक् पिण्डीया (Sacro-Tuberous)

फक्कज चपटी श्रोणि
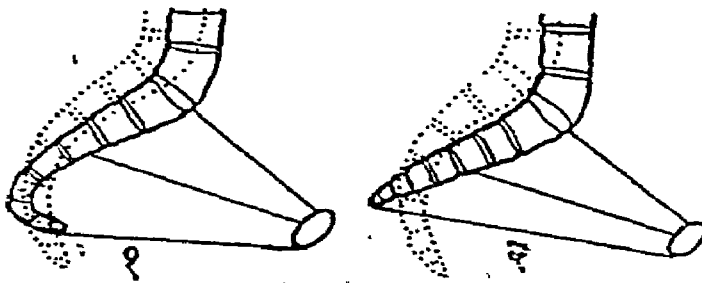
चित्र १२१

स्नायु इसको पीछे जाने से रोकता है और आगे की (Anteriorly) भग-सन्धानिका की ओर ले जाता है। इसके अतिरिक्त पूर्वोर्ध्वजघनकूट (Ant.

Sup. Ilia. Spine) बाहर की ओर फैलता है और स्वाभाविक व्यास से बड़ा व्यास बनाता है। इसका प्रभाव भगसन्धानिका बन्धनों पर पड़ता है जिससे भगसन्धानिका उत्सेधोन्मुख (Towards the promontory) हो जाती है। जिस से कटि की अस्थियाँ झुक जाती हैं।

आकृति—जघनधारा (Iliac crest) बाहर की ओर उभरी हुई मालूम पड़ती है, जघनखात आगे को निकला मालूम होता है और महाश्रोणि की गहराई उथली हो जाती है। श्रोणिकण्ठ, त्रिकास्थि के उत्सेध अत्यधिक निकले रहने की वजह से श्रोणिकण्ठ वृक्काकार हो जाता है। त्रिकास्थि चौड़ी और चपटी हो जाती है और इसका निचला भाग अनुत्रिकास्थि (Coccyx) के साथ साथ आगे की ओर मुड़ जाता है। कई बार त्रिकास्थि ऊपर से नीचे को छोटी और बिल्कुल सीधी पड़ जाती है। सभी रोगियों में इस अवस्था में त्रिकास्थि अपने अनुप्रस्थ अक्ष पर घूमकर इस प्रकार हो जाती है कि उसका उत्सेध आगे की ओर उभर जाता है। कुकुन्दर पिण्डों के बीच की दूरी काफी बढ़ जाती है जिससे ये दोनों बिन्दु स्वाभाविक से अधिक दूरी पर हो जाते हैं। सन्धानिका चाप (Pubic Arch) चौड़ा पड़ जाता है। चपटी श्रोणि का व्यास पर प्रभाव—महाश्रोणि के जघनधारान्तरालिक और पुरःकूटान्तरालिक व्यासों के आपसी सम्बन्ध में विपरिवर्तन हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप जिससे एक दूसरे के करीब-करीब बराबर हो जाते हैं। पूर्व-पश्चिम या बाह्य अनुरूप व्यास (Ext. Cenjugate) का माप ७½" (९ से. मी.) से भी कम हो जाता है।

लघुश्रोणि-प्रवेशद्वार-आभ्यन्तरी पूर्व-पश्चिम व्यास (Int. conjugate) छोटा पड़ जाता है। तिर्यक् व्यासों (Oblique diameters) में कोई परिवर्तन नहीं होता है। अनुप्रस्थ व्यास (Transevrse diameters) भी अपेक्षाकृत बढ़ जाता है।

श्रोणिगुहा (Cavity)—के सभी व्यास बढ़ जाते हैं।

निर्गमद्वार—अनुप्रस्थ व्यास बढ़ता है। पूर्व-पश्चिम व्यास (Antero. Post. Diameters) भी बढ़ जाता है।

निदान—१. फक्क रोग (Rickets) के चिह्नों की अन्य अंगों में उपस्थिति, २. बाह्य श्रोणिमापन, ३. आभ्यन्तर श्रोणिमापन, ४. 'क्ष' किरण इन साधनों से निदान में कठिनाई नहीं होती। ५. साथ प्रसव की प्रक्रिया (Mechamism) के द्वारा भी इसका पता लग सकता है।

प्रसव पर प्रभाव—श्रोणि की उपर्युक्त स्थिति में गर्भ-शीर्ष का अवतरण तिर्यक् व्यास में न होकर अनुप्रस्थ में होता और इसी व्यास में उसका अवग्रहण (Engage) भी होता है। इसी समय शीर्ष पार्श्व की ओर घूमकर श्रोणि में उस स्थान पर आ जाता है, जहाँ पर अनुशीर्ष (Occipit) रहता है। इसके परिणामस्वरूप गर्भ का शंखान्तरीय व्यास (Biteporal) श्रोणि के अनुप्रस्थ (Antero-posterior diameter) में आ जाता है और पार्श्वकपालान्तरीय व्यास त्रिकोत्सेघ के पार्श्व में श्रोणि के अधिक चौड़े व्यास में आ जाता है—शाखान्तरीय व्यास अनुरूप व्यास (Conjugate) में आकर स्थिर हो जाता है। इस प्रकार सिर का अनुशीर्षनासामूलिक (Occipito frontal) श्रोणि के प्रवेशद्वार के अनुप्रस्थ व्यास में शंखान्तरीय व्यास प्रवेशद्वार के अनुरूप व्यास (Conjugate) में स्थिर हो जाता है। जैसे ही वह और नीचे उतरने की कोशिश करता है। सिर के चौड़ा पश्चाद् भाग की अपेक्षा उसके आगे वाले सँकरे भाग को प्रतिरोध (Resistence) का कम सामना करना पड़ता है, जिससे सिर का कुछ प्रसारण हो जाता है तथा दोनों रन्ध्र (Frontanelles) एक ही स्तर पर आ जाते हैं।

गर्भ-शिर जब प्रवेशद्वार में आता है तो वहाँ पर त्रिक का उत्सेधशीर्ष को नीचे जाने से रोकता है; परन्तु भगसन्धानिका रुकावट कम डालती है जिससे मध्य-सीमन्त (Sagital suture) त्रिकोत्सेघ की तरफ आ जाता है। इस स्थिति को नेगेली की तिरश्चीनता (Naegle's obliquity) कहते हैं। जब सिर पूर्ण पार्श्वभाग (Anterior parietal) भगसन्धानिका पीछे आकर कुछ स्थिर हो जाता है तो पार्श्व की ओर घूमना शुरू हो जाता है और सिर पश्चिम पार्श्वभाग (Posterior parietal) नीचे को त्रिकोत्सेघ के नीचे चला जाता है। इस क्रिया से तिरछापन (Obliquity) जाती रहती है और मध्य-सीमन्त पुनः भगसन्धानिका की ओर आता है तदुपरान्त सर्वप्रथम शीर्ष का पश्चाद्भाग श्रोणि-गुहा में पहुंच जाता है।

कभी कभी इसके विपरीत निष्क्रमण होता है—श्रोणिकण्ठ पर सिर लगने के साथ ही उसका पश्चिमपार्श्वभाग (Posterior parirtal) निम्नतम भाग बनता है और मध्यसीमन्त सन्धानिका के समीप लगता है। इस अवस्था में प्रसव में कठिनाई होती है। निष्क्रमण का यह प्रकार बहुत कम देखने को मिलता है।

जब गर्भ-शिर प्रवेशद्वार से निकल जाता है, तो सारी कठिनाई दूर हो जाती है। इसके आगे के रास्ते के विस्तृत होने के कारण प्रसव आसानी और शीघ्रता से हो सकता है। कई वार सहसा-प्रसव का भी रूप ले लेता है। आगे का निष्क्रमण स्वाभाविक रीति से ही होता है।

साधारण चपटी श्रोणि (Simple flat pelvis)

हेतु—विकास के दोष या मृदु (Mild) स्वरूप का फक्करोग।

साधारण संकुचित श्रोणि

२

चित्र १२२

आकृति—फक्कजन्य चपटी श्रोणि से कम संकोच इस प्रकार में मिलता है।
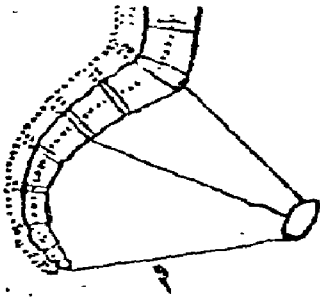
महाश्रोणि (False-pelvis)—के व्यासों में विशेष अस्वाभाविकता नहीं रहती। त्रिकास्थि का घुमाव कम रहता है और सन्धानिका की ओर झुकी रहती है। त्रिकास्थि की गोलाई में कोई अन्तर नहीं रहता (Curvature affected); परन्तु प्रथम और द्वितीय कशेरुक की सन्धि आगे की ओर झुकी रहती है जो दूसरे त्रिकोत्सेध का भ्रम पैदा करती है। श्रोणिपूर्व-पश्चिम (Antero-posterior) व्यास प्रवेशद्वार, गुहा तथा निर्गमद्वार सभी में छोटा हो जाता है।

निदान—१. आभ्यन्तर श्रोणिमापन, २. 'क्ष' किरण, ३. प्रसव प्रक्रिया (Mechanism) के द्वारा यह विकार जाना जा सकता है।

निष्क्रमण प्रकार—इसमें सहसा प्रसव की सम्भावना न होकर प्रसव में पूरे समय तक विलम्ब ही विलम्ब होता है।

नरकल्प-स्त्रीश्रोणि (The small android pelvis)

इस प्रकार मृदु स्वरूप के संकोच से युक्त श्रोणि बहुत मिलती है; परन्तु अत्यधिक संकोच से युक्त होना जिसमें निर्गमद्वार अतिसङ्कुचित होकर कुप्पी (Funnel) का रूप ले ले ऐसा बहुत कम पाया जाता है।

'क्ष' किरण-परीक्षण से प्रवेशद्वार हृदय के आकार का होता है—जघनधारा प्रकृत से अधिक व्यक्त मिलती है। त्रिक्-गृध्रसीखात (Sacro sciatic notch) उथला होता है। त्रिकास्थि आगे की ओर निकली हुई और गुहा तथा बहिर्द्वार (Out let) कुप्पी के आकार का होता है। सन्धानिकाधः कोण (Sub-pubic

angle) सँकरा होता है जिससे निर्गमद्वार (Out let) का अनुप्रस्थ व्यास छोटा हो जाता है। कुकुन्दर पिण्ड स्वाभाविक की अपेक्षा समीप आ जाते हैं। सन्धानिकाधः कोण के छोटे होने से गर्भ का सिर बड़ा पड़ता है और वह यहाँ पर स्थिर नहीं हो पाता बल्कि निर्गमद्वार के पश्चादर्ध में पीछे की ओर चला जाता है। अनुप्रस्थ व्यास के अतिरिक्त अन्य बाह्य व्यासों के मापन का कोई महत्त्व नहीं होता।

गर्भावस्था पर प्रभाव—प्रसवारम्भ के पूर्व सिर के स्थिर न होने से विकृत अवतरणों (मूढ़गर्भ) की सम्भावना रहती है।

प्रसवावस्था पर प्रभाव—प्रसव में विलम्ब होता है। नरकल्प स्त्री श्रोणि में सबसे अधिक महत्त्व का माप निर्गमद्वार का होता है; यद्यपि निर्गमद्वार का अतिसंकोच कदाचित् पाया जाता है।

प्रथमावस्था—प्रवेशद्वार का पश्चादर्ध छोटा होता है, इसलिये आगे की ओर सँकरे भाग में आ जाता है। अधिक विकृति होने पर सिर का अवग्रहण हो ही नहीं पाता। इसलिये उसको सुधारने के लिये उदर विपाटन (Caesarean section) की आवश्यकता पड़ती है। यदि सिर के अवग्रहण (Engage) के लिये अवकाश हो तो पश्चिमानुशीर्षासन की स्थिति हो जाती है।

द्वितीयावस्था— निर्गद्वार के अनुप्रस्थ व्यास के छोटे होने के कारण संदंश प्रसव कराना आवश्यक हो जाता है। संधानिकाधः चाप (Sub pubic arch) सँकरा होता है। अतः उसके नीचे से सिर नहीं निकल सकता और उसे संदंश की सहायता से पीछे रखते हुए निकालना पड़ता है। इससे कई बार मूलाधार-विदारण की सम्भावना रहती है इसलिये मूलाधारभेदन (Epsiotomy) करना चाहिये। कई बार पूरा घुमाव (Complete rotation) न होने से जघन-वोरा की सतह पर सिर का अनुप्रस्थ अवरोध हो जाया करता है। यदि श्रोणि अत्यधिक संकुचित रही और सिर का अवग्रहण भी हो गया तब भी श्रोणि की गुहा तथा निर्गमद्वार के कुप्पी (Funnel) जैसे होने से अवरोध का पूरा भय रहता है।

लघु वानरकल्पश्रोणि (The small anthopoid pelvis)

इस प्रकार की स्त्रीश्रोणि बहुत कम देखने में मिलती है। इसमें अनुप्रस्थ व्यास से पूर्व-पश्चिम व्यास (Antero-post) अधिक लम्बा होता है जिससे

प्रवेशद्वार लम्बा एवं सँकरा और दो पार्श्वों में चपटा हो जाता है। त्रिकगृध्रसीखात (Sacro-Sciatic Notch) चौड़ा एवं उथला हो जाता है जिससे श्रोणिकण्ठ (Brim) की लम्बाई बढ़ जाती है। त्रिकोत्सेध ऊँचा उठ जाता है। त्रिकास्थि का गात्र पीछे की ओर झुक जाता है—त्रिककुकुन्दर पिण्डीय बन्ध (Sacro-tuberous) स्नायु स्वाभाविक से अधिक लम्बा हो जाता है। अनुप्रस्थ व्यास शुरू से अन्त तक प्रवेशद्वार, गुहा एवं निर्गमद्वार सभी में छोटा पाया जाता है।

गर्भावस्था पर प्रभाव—गर्भ पश्चिमानुशीर्षासन में पड़ा रहता है।

प्रसव पर प्रभाव—श्रोणिकण्ठ के अनुप्रस्थ व्यास के पर्याप्त रहने से कोई कठिनाई नहीं होती पश्चिमानुशीर्षासन की स्थिति अन्त तक बनी रहती है और उसी में प्रसव भी होता है। यदि अनुप्रस्थ-व्यास बहुत छोटा है तो विषमता उपस्थित होती है और शिरोग्रहण नहीं हो सकता।

द्वितीयावस्था—यदि सिर पश्चिमानुशीर्षांश में स्थिर (Engage) हो जाय और गर्भ का आयाम छोटा हो तो प्रसव स्वाभाविक रीति से सम्पन्न हो जाता है। यदि माता अप्रजाता हो और सिर पश्चिमानुशीर्षासन में स्थिर हो तो संदंश की आवश्यकता प्रसव में पड़ती है।

सादी चपटी श्रोणि (Platy pelloid)

इस प्रकार की श्रोणि बहुत ही विरल है। इस से प्रवेशद्वार चपटा होता है। अनुप्रस्थ व्यास बढ़ जाता है तथा पूर्व-पश्चिम व्यास छोटा हो जाता है। यह स्थिति श्रोणि के प्रत्येक भाग में मिलती है।

त्रिकगृध्रसीखात स्त्रीकोटि का ही रहता है। जघनधारान्तरालिक तथा पुरःकूटान्तरालिक व्यासों का अनुपात प्राकृत रहता है; परन्तु बाह्य अनुरूप-व्यास (Ext. Conjugate) छोटा हो जाता है। त्रिकोत्सेध (Promotory) को योनि के रास्ते स्पर्श कर सकते हैं और अन्तःकर्ण-व्यास (Diagonal) का मापन भी सम्भव रहता है।

गर्भावस्था पर प्रभाव—इसी प्रकार की श्रोणि में पश्चाद्भ्रंशयुक्त (Retroverted) गर्भित गर्भाशय का बारहवें सप्ताह के आस-पास में (Incarceration) होता है। सिर का ग्रहण न होकर मूढ़गर्भ की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

प्रसव के ऊपर प्रभाव—प्रथमावस्था में यदि सिर का ग्रहण (प्रवेशद्वार के अनुप्रस्थ व्यास में) हो जावे तो जरायु का अकाल में विदीर्ण तथा नाभिनाल का अंश मिल सकता है।

द्वितीयावस्था में—निष्क्रमण प्रकार पक्वरोगजन्य चपटी श्रोणि की भाँति ही होता है।

अस्थिवक्रीय श्रोणि (Osteomalacic)

अस्थिवक्रता जीवतिक्ति 'डी' की कमी से होने वाला रोग है। इसमें सार्वदैहिक लक्षणों में शाखाओं में पीडा, खाँसी, झुनझुनी और अस्थियों में अतिमृदुता पाई जाती है। इसके आक्रमण के पश्चात् श्रोणि की अस्थियों में स्थायी विकृति बन जाती है। अस्थियों की मृदुता खटिक के लवणों के मूत्र द्वारा विसर्जित हो जाने के कारण मिलती है। चिकित्सा में ताजी वायु, सूर्यप्रकाश, काड तथा हैलिबट मछलियों के तेल तथा 'कैल्शियम लैक्टेट' प्रभृति औषधियाँ व्यवहृत होती हैं।

निदान—१. योनिपरीक्षा से श्रोणि का संकोच प्रतीत होता है, २. अस्थियों की अतीव मृदुता तथा ३. सामान्य सार्वदैहिक लक्षणों का आधार पर रोग का निदान कर सकते हैं।

इस रोग में हड्डियाँ इतनी कमजोर हो जाती हैं कि वे तुलादण्ड (Lever) का काम नहीं कर सकती जिससे श्रोणि का आकार विकृत हो जाता है।

भग्नश्रोणि (Fractured pelvis)

विभिन्न आकस्मिक दुर्घटनाओं के परिमाणस्वरूप बहुत प्रकार के श्रोणि की अस्थियों के भग्न सम्भव है। यदि उचित चिकित्सा की समय से व्यवस्था हो जाय, तब तो लघु-श्रोणि की इतनी अधिक सङ्कुचित होने की जिससे प्रसव में बाधा हो; सम्भावना कम रहती है अन्यथा श्रोणि की विकृत रूपता अवश्यम्भावी है।

न्याय की दृष्टि से भी इस प्रकार के श्रोणि-भग्न का बड़ा महत्त्व है। क्योंकि घायल हुआ दल श्रोणि की विकृत रूपता का दूसरे पक्ष पर दावा कर सकता है।

श्रोणि के अस्थियों के अर्बुद

बहुत से ऐसे अर्बुद हैं, जिनके कारण प्रसवकाल में कठिनाई हो सकता है।

कुब्ज श्रोणि (Kyphotic pelvis)

यह पृष्ठवंश के कोणाकार विरूपता के कारण होता है। यद्यपि इसमें श्रोणि-

गुहा में वैरूप्य आने की कोई सम्भावना नहीं रहती; परन्तु यदि कोणाकार विरूपता बहुत नीचे में हुई तो श्रोणिगुहा के झुकाव में अन्तर आ सकता है।

प्रसव पर प्रभाव—श्रोणि के अग्रावनमन (Lardosis) के कारण गर्भाशय अत्यधिक मात्रा में आगे को निकल जाता है जिससे उदर 'पेण्डुलम' की भांति बाहर को निकल आता है। पश्चिम अनुशीर्षासनों की सम्भावना रहती है। प्रसवकाल में जब तक सिर निर्गमद्वार तक नहीं पहुँचता तब तक कठिनाई नहीं उत्पन्न होती। यहाँ पर पहुँच कर सन्धानिका के सँकरेपन की वजह से वह पीछे की ओर चला जाता है। यदि कुकुन्दर पिण्डों का अन्तर सिर के लिये छोटा पड़ा तो वह पूर्ण तया पिण्डों के पीछे से ही निकलता है, जिससे मूलाधार पूर्णतया विदीर्ण होने की आशङ्का रहती है।

पार्श्वावनमित या पार्श्वकुब्ज श्रोणि (Scoliotic pelvis)

यदि पृष्ठवंश का पार्श्वावनमन (Laterally curved) हो, या एक पैर दूसरे से छोटा पड़ जाय तो श्रोणि छोटे पैर की ओर झुक जाती है जिससे शरीर के भार का समान विभजन नहीं होता तथा आधे से अधिक श्रोणि के भार को छोटा पैर वहन करता है; परिणामस्वरूप श्रोणि तिरछी हो जाती है। यदि बाल्यावस्था में यह विकार नहीं हुआ तो श्रोणि के आकार में अत्यल्प परिवर्त्तन होता है। तथापि इस अवस्था में तीव्र स्वरूप का अवरोध प्रसव में नहीं होता।

इस विकार का विनिश्चय—१. पृष्ठवंश की विरूपता, २. लंगड़ापन, ३. आभ्यन्तर परीक्षा, ४. तथा 'क्ष' किरण चित्र के आधारों पर कर सकते हैं।

सन्धिदोषाक्त श्रोणि (Spondylolisthetic pelvis)

इस दशा में पञ्चम कटिकशेरुक आंशिक रूप से भ्रष्ट होकर आगे की ओर को झुक जाता है। यह एक सहज विकार है जिसमें इस कशेरुक की बनावट ठीक नहीं रहती। इस प्रकार से भ्रष्ट हुआ कशेरुक श्रोणिकण्ठ को रुद्ध करता है। इस प्रकार श्रोणिदोष बहुत विरल मिलता है।

समीकरण श्रोणि (Assimilation pelvis)

इस विरूपता का ज्ञान 'क्ष' किरण श्रोणिमापन क्रिया से सम्भव है। इसमें यदि कटिकशेरुक (Lumbar) संख्या में ६ हों तो त्रिकास्थि चार की बनती है और यदि त्रिकास्थि ६ के संयोजन से बने तो कटिकशेरुक चार रहते हैं। इसके परिणाम

स्वरूप त्रिकोत्सेध की स्थिति में परिवर्त्तन हो जाता है जिससे गर्भ-शिर के अवग्रहण में वाधा होती है।

कटिसन्धि के रोग

वाल्यावस्था में १६ वर्ष की आयु के पूर्व होने वाले कटिरोगों में लँगड़ापन आ जाता है फलस्वरूप श्रोणि के तिर्यक् व्यास सङ्कुचित हो सकता है। यह सङ्कोच अधिकतर एक पार्श्व में ही सीमित रहता है। विकृत पैर के विरुद्ध दिशा के व्यास में विरूपता आती है। इसका भी परिणाम अन्तःपार्श्वविनमन (Scoliosis) में ही होता है।

नेगेली की तिरश्चीन श्रोणि—

श्रोणि की यह विरल पाई जाने वाली विरूपता है। इसमें त्रिकास्थि के पार्श्वपिण्ड के एक पार्श्व में विकास सम्बन्धी दोष आता है और विकृत भाग के साथ जघनास्थि का विकृत अस्थिसंयोजन (Synostosis) हो जाता है। इसमें त्रिकास्थि के विकृत पार्श्व की ओर सङ्कोच हो जाने से श्रोणि तिर्यक् (Oblique) हो जाती है। यह विरूपता आयुवृद्धि के साथ-साथ वढ़ती चलती है और युवावस्था में एक वहुत ही तिरछी श्रोणि का रूप धारण कर लेती है।

भगसन्धानिका स्वस्थपार्श्व की स्थानान्तरित हो जाती है, जघनधारा और त्रिकास्थिधाराओं के बीच की दूरी वढ़ जाती है। प्रसव का शुभाशुभ अन्तरावकाश के ऊपर निर्भर करता है। यह उदरविपाटन का निर्देश है।

'रावर्ट' की श्रोणि (Robesrt's pelvis)

इसमें श्रोणि के सभी व्यास सङ्कुचित हो जाते हैं। सन्धानिकाकोण सँकरा हो जाता है। यदि गर्भस्थिति होवे तो प्रसवकाल में उदारविपाटन ही श्रेयष्कर होता है।

श्रोणि के सङ्कोच का विनिश्चय—१. वाह्य तथा अभ्यन्तर श्रोणि-मापन। २. 'क्ष' किरणमापन। ३. योनिपरीक्षण—आभ्यन्तर कर्णव्यास का मापन करे। ४. जघन-कङ्कतिका रेखा (Ilio pectineal line) का वाहर से पता लगा कर देखे कि श्रोणि में तिरछापन तो नहीं है। ५. सन्धानिका चाप का मोटे तौर से मापन करके देखे कि वह सँकरा तो नहीं है। ६. कुकुन्दरपिण्डों के बीच की दूरी का ज्ञान मुट्ठी वाँध कर दोनों के वीच रख कर करे। ७. अगुलि डाल कर श्रोणिगुहा के अन्तराल का पता लगावे कि उसमें गर्भशिर के लिये प्राप्य स्थान

कुल कितना है। ८. इसके अतिरिक्त यदि रोगी में मूढ़गर्भ, नालभ्रंश अथवा उदय लेने वाले भाग की ऊँचाई की अधिकता दीखे तो सङ्कुचित श्रोणि का अनुमान करे। ९. आमतौर से सङ्कुचित श्रोणि की दशा में श्रोणि का प्रवेशद्वार ही परिमाण में घटा हुआ रहता है अतः गर्भशिर सर्वोत्तम श्रोणिमापक होता है उसके द्वारा यह अन्दाज लग जाता है कि वह स्थिर होगा और निकल जायेगा या नहीं। १०. 'मुनरोके' की विधि—रुग्णा को पीठ के बल उत्तान लेटा दे। उसे संज्ञाहर द्रव्यों से निःसंज्ञ कर ले। दाहिने हाथ की दो अङ्गुलियों को योनि में डाल कर सिर का पता लगावे कि वह किस सतह पर है। परीक्षक का उसी हाथ का अंगूठा भगसन्धानिका के ऊपर रहे। अब बायें हाथ को ऊपर रख कर सिर को नीचे की ओर दबावे और पार्श्वकपालास्थि (Parietal bone) भगसन्धानिका के कितना आगे निकल रही है (Projection) इसका दाहिने हाथ से अन्दाजा लगावे। ऐसा माना जाता है कि जितनी मात्रा में उभार (Projection) होगा उतनी ही मात्रा में शिरोरूपण (Moulding) की भी आवश्यकता (गुहा में सिर के प्रविष्ट होने के लिये) पड़ती है।

गर्भशिर एवं श्रोणि की विषमता (Disproportion) का उपचार

गर्भावस्था में—गर्भावस्था में संकुचित श्रोणि का निदान होने पर उसकी समुचित चिकित्सा की व्यवस्था करने के पूर्व सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि (क) श्रोणि का परिमाण क्या है, (ख) गर्भशिर का परिमाण क्या है, (ग) रोगी की आयु तथा साधारण स्वास्थ्य कैसा है?

श्रोणि का परिमाण (Size)—श्रोणिमापन करते हुए अनुरूप व्यास (Conjugate) का मापन करके यदि संकुचित श्रोणि की आशंका हो तो 'क्ष' किरण श्रोणिमापन भी कर लेना चाहिये। इस प्रकार का क्रम अप्रजाता या प्रजाता दोनों प्रकार की गर्भिणियों में रखना चाहिये। साथ ही पूर्व प्रसवों में किसी तरह की कठिनाई पैदा हुई हो तो उसका भी वृत्त लेना चाहिये।

गर्भशिर का परिमाण—सिर के परिमाण का ज्ञान जैसा ऊपर में बता जा चुका है, संकुचित श्रोणि की अवस्था में बड़े महत्त्व का होता है। पूर्वोक्त विधियों के अनुसार इसका निर्णय करके भविष्य कथन किया जा सकता है कि श्रोणिगुहा से सिर सुरक्षित भाव से निकल जायगा या नहीं। तीन प्रकार की अवस्थायें मिल सकती हैं—

(१) कुछ ऐसे रोगी मिलेंगे जिनमें सिर को आसानी से श्रोणिगुहा में दबाया जा सकता है । ऐसे रोगियों में गर्भकाल के पूर्ण हो जाने पर स्वयमेव प्रसव निश्चित रूप से होता है ।

(२) रोगियों का एक ऐसा वर्ग भी संकुचित श्रोणि का मिलेगा जिसमें गर्भशिर को श्रोणिकण्ठ (Brim) के नीचे नहीं दबाया जा सकता जिससे श्रोणिगुहा में सिर का प्रवेश ही नहीं हो पाता । ऐसी अवस्था में प्रतीक्ष्य प्रसव (Trial Labour) कराना चाहिये ।

(३) उन रोगियों में जिनमें श्रोणि अत्यधिक संकुचित हो, सिर निश्चित रूप से श्रोणि के भीतर नहीं जा सकता और भगसन्धानिका को आच्छादित (Overlap) करते हुए सिर पाया जा रहा है । ऐसी अवस्था में उदरविपाटन के द्वारा गर्भाशय छेदन ही एकमात्र उपाय शेष रह जाता है ।

यदि बच्चे का शीर्षोदय न हो तो चिकित्सा-सूत्र के निर्णय करने में और भी कठिनाई उपस्थित होती है । यदि मूढ़गर्भ की उपस्थिति हो तो गर्भकाल में ही बाह्य विवर्त्तन के द्वारा सिर को श्रोणिकण्ठ पर ले आने का प्रयत्न करना चाहिये । यदि यह विवर्त्तन सम्भव न हो तो उदर विपाटन (Caesarean section) ही सर्वोत्तम उपाय है ।

रोगी की आयु तथा साधारण स्वास्थ्य—यदि गर्भवती अधिक वय की हो, उसमें प्रथम वार की गर्भधारणा हो, भावी गर्भाधानों की सम्भावना कम हो और उसकी श्रोणिसन्धियों में गतिशीलता कम हो तो अल्प संकुचित श्रोणि में भी पाटनक्रिया (Caesarean section) के द्वारा प्रसव कराना ही अधिक उत्तम है । दूसरी तरफ यदि स्त्री प्रथमगर्भा हो, परन्तु आयु उसकी छोटी हो; तो प्रतीक्ष्य प्रसव (Trial labour) कराने का ही विधान है । यदि स्त्री बहुप्रजाता हो और उसमें पूर्व के प्रसवों में कठिनाई का वृत्त मिले तो उसमें पूर्णकाल के पहले ही कृत्रिम प्रसव के द्वारा गर्भ का निर्हरण करना उत्तम होता है ।

पाटनकर्म के द्वारा चिकित्सा करने के पहले माता की साधारण दशा के ऊपर भी विचार कर लेना उचित है । उदाहरणार्थ यदि हृदय के कपाटों के विकार हों और वह अत्यधिक भय का कारण न बनता हो, तो गर्भावस्था को पूर्णकाल के लिये छोड़ देना चाहिये, बशर्त्ते कि श्रोणि का संकोच अल्प स्वरूप का हो । गर्भ के पूर्ण होने पर पुनः पाटनक्रिया से उसका निर्हरण करे ।

पड़ता है। संक्रमण से सदैव रोगी को बचाना पड़ता है। उदर-परीक्षा की सहायता से ही निदान को स्थिर करना पड़ता है जब तक जरायु विदीर्ण न हो जाय योनि-परीक्षा नहीं की जाती।

प्रसवकाल में जब जरायु विदीर्ण हो जाय उदर एवं योनि-परीक्षा करनी चाहिये। ग्रीवा के विकास की मर्यादा और गर्भशिर की स्थिति का ज्ञान करे। यदि रोगी में प्रति पाँच मिनट के अन्तर से वेदनायें (Pains) आ रही हों और प्रसव में प्रगति दिखलाई पड़ती हो जैसे ग्रीवा विकसित हो रही हो और सिर नीचे को आता जा रहा हो तब तो प्रसव को स्वयमेव होने को छोड़ दे। परन्तु यदि दो घण्टे के बाद भी कोई अन्तर या प्रगति न दिखलाई पड़े तो पाटनकर्म (Caesarean section) के द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जब तक प्रसव में प्रगति के चिह्न दिखलाई पड़ते रहे हों, माता और शिशु में कोई आपत्तिसूचक लक्षण नहीं मिलते हों, प्रसव को प्रकृति के ऊपर छोड़कर प्रतीक्षा करती रहनी चाहिये।

कृत्रिम प्रसव की विधि—एक युग में इस विधि का संकुचित श्रोणि की चिकित्सा में बहुत प्रचलन था विशेषतः अप्रजाताओं में इस विधि का बहुल प्रयोग होता था। परन्तु इसमें अधिकतर अनावश्यक होते रहे। प्रसव की कोई भी विधि तब तक सफल नहीं मानी जा सकती जब तक कि उस विधि से प्रसूत बच्चों की जीवन-रक्षा नहीं की जा सके। गर्भस्थ बच्चे की मृत्यु न हो इसके लिये दो बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है (१) गर्भ की पूर्णता, (२) माता की श्रोणि का परिणाह। सामान्यतया ऐसा मानते हैं-यदि बच्चा ढाई सेर भार का हो गया है तो उसका समय से कुछ पूर्व भी प्रसव हो तो उसके जीवन की आशा रहती है। परन्तु गर्भस्थ शिशु के भार का मापन दूरूह होता है। इसलिये एक नियम बना लिया गया है कि छत्तीसवें सप्ताह के पूर्व कृत्रिम प्रसव कराना ही नहीं चाहिये। यदि ढाई सेर के भार के बच्चे का प्रसव बिना किसी अभिघात के कराना हो तो श्रोणि परिणाह की स्थिति पर भी विचार कर लेना चाहिये अन्यथा अभिघात का भय रहता है। वास्तविक अनुरूप व्यास चपटी श्रोणि में ३$\frac{1}{2}$ इञ्च और लघु संकुचित श्रोणि में ३$\frac{3}{4}$ ईञ्च लम्बाई का होना आवश्यक है। उचित काल का निर्णय प्रसूति-शास्त्रज्ञ के अनुभवों के आधार पर व्यवस्थित रहता है। एक मोटे हिसाब से उसे छत्तीसवें सप्ताह में कह सकते हैं। यदि इस काल में गर्भशिर को श्रोणि में दबाया

आ सके तो उसमें प्रतीक्षा करे; परन्तु यदि प्रतिसप्ताह परीक्षा करते हुए भी उसको श्रोणिगुहा में न दबा सके तो उसका कृत्रिम प्रसव कराना ही न्याय संगत है।

कृत्रिम प्रसव कराने में कई एक दोष आते हैं–१. बच्चेका अपूर्ण काल में जन्म होता है, २. उसमें जन्मकाल में अभिघात की सम्भावना रहती है, ३. कई बार करोटिगत (Intra cranial) रक्तस्राव की सम्भावना रहती है, ४. इनका पालन-पोषण कठिन होता है, ५. तथा जन्म के अनन्तर लम्बे समय तक इनके दक्ष-परिचर्य्या की आवश्यकता पड़ती है।

माता के पक्ष में भी कई एक भयों की सम्भावना रहती है–१. अस्वाभाविक गर्भाशयीय आकुञ्चन, २. गर्भाशय का परासंग (Inertia), ३. आकुञ्चन वलय, ४. जरायु का अकाल या पूर्वकाल में विदीर्ण होना, ५. उपसर्ग के पहुंचने की सम्भावना तथा ६. यदि कृत्रिम प्रसव कराना बहुत बाद में प्रारम्भ किया हो तो अन्त में पाटनकर्म से ही उपचार करना होता है।

प्रसवकाल में उपचार

यदि गर्भिणी प्रसवकाल में ही पहुंची हो अथवा प्रसवकाल में संकुचित श्रोणि अर्थात् गर्भशिर और माता की श्रोणि की विषमता ज्ञात हुई हो तो चिकित्सा निम्नलिखित तीन बातों के आधार पर आश्रित रहेगी–(क) माता की स्थिति कैसी है, (ख) गर्भ की स्थिति कैसी है तथा (ग) श्रोणि का संकोच किस श्रेणी का है।

यदि प्रसव के प्रारम्भ होते ही संकुचित श्रोणि वाली गर्भिणी चिकित्सा में आ गई है, उसकी नाड़ी, ताप एवं साधारण दशा अच्छी हो और गर्भहृच्छब्द सुनाई दे रहा हो तो उसे उपर्युक्त विधि के अनुसार प्रतीक्ष्य प्रसव में ही रखकर निगरानी करते रहना चाहिये। यदि ऐसा जान पड़े कि श्रोणि अतिसंकुचित है इसमें प्रसव खतरनाक हो सकता है तो अधोगर्भशय्यापाटन के द्वारा ही चिकित्सा करनी चाहिये। क्योंकि यह शल्यकर्म माता तथा शिशु दोनों की दृष्टि से हितावह होता है।

जब प्रसव के आरम्भ हुए बहुत विलम्ब हो गया हो, माता क्लान्त (थकी) दीखती हो, उसकी साधारण दशा बहुत गिरी जान पड़ती हो, उसकी नाडी क्षीण और तीव्र गति की हो साथ उपसर्ग के संक्रमण से उसका तापक्रम (ज्वर) बढ़ा हुआ मिले तो निश्चित रूप से पाटनक्रिया के द्वारा चिकित्सा करना भयावह होता है। तथापि यदि यह शल्यकर्म ही एक मात्र प्राण-रक्षा का उपाय समझा जाय

तो संक्रमण से रक्षा करने के विचार गर्भाशय का भेदन करने में ऊर्ध्वगर्भशय्या (Upper segment) न करके अधोगर्भशय्या (Lower uterine segment) में करना चाहिये। साथ ही शुल्वौषधियों के चूर्णों को (डायजिल, सिबेजाल, सल्फोने माइड प्रभृति के) तथा 'पेन्सिलीन' के स्थानिक प्रयोग से विशेषतः गर्भाशय और उदरगत भेदनों में छिड़कर उपसर्ग से बचाया जा सकता है। यदि यह भी सम्भव न हो तो शिरोवेधन (Cranitomy) और संदंश की सहायता से प्रसव करावे।

यदि गर्भस्थ शिशु की मृत्यु हो गई हो, गर्भहृच्छब्दों का अभाव हो और निर्णय ठीक हो गया हो तो शिरोवेधन करके गर्भ का निर्हरण करे। यदि बच्चा जीवित हो, माता की दशा बहुत क्षीण हो, उसमें प्रतीक्षा सम्भव न हो, अथवा गर्भाशय के विदार का भय हो तो शिशु का शिरोवेधन करके संदंश की सहायता से बच्चे का प्रसव कराके माता की रक्षा करनी चाहिये। यदि गर्भाशय में अतितीव्र आकुञ्चन (Vigorous) न हो तो कुछ काल के लिये माता को 'ग्लुकोज सेलाइन' गुदा, सिरा या अन्तस्त्वक् द्वारा देते हुए प्रसव की प्रतीक्षा कर सकते हैं। इस दशा में कई बार यदि बच्चे की सिर की हड्डियों में रूपण (Moulding) हुआ तो प्रसव स्वयमेव हो जायगा अथवा संदंश की सहायता की आवश्यकता पड़ेगी। संदंश का प्रयोग करते समय प्रत्येक वेदना के साथ मध्यम (Moderate) कर्षण करना चाहिये। यदि प्रसव में प्रगति दिखलाई पड़े कर्षण के क्रम को बनाये रखना चाहिये; परन्तु कोई भी प्रगति न दिखलाई पड़े तो कर्षण की क्रिया बन्दकर गर्भशिरका बन्धन करके आहरण करे।

निर्गमद्वारसंकोच—यदि निर्गमद्वार अतिसंकोचयुक्त हो, यद्यपि ऐसा संकोच कम पाया जाता है, तो एक मात्र उपाय गर्भाशय का पाटन करके प्रसव कराना है। यदि संकोच अल्पस्वरूप का हो जैसा कि प्रायः मिलता है और उसमें द्वितीयावस्था में प्रसव की कठिनाई होती जान पड़े तो संदंश की सहायता से गर्भ का आहरण करे। कई बार सन्धानि चाप (Arch) के सँकरे होने से प्रसवकाल में गर्भ का सिर पीछे और नीचे को स्थिर हो जाता है। ऐसी अवस्था में मूलाधार को विदीर्ण होने से बचाने के लिये मूलाधार-भेदन (Episiotomy) की आवश्यकता पड़ती है।

सप्तदश अध्याय

प्रसवमार्ग की अन्य बाधायें

(Fault in the Passage)

प्रजनन मार्ग में दो प्रकार की रचनायें मिलती हैं, जिनसे होकर प्रसवकाल में गर्भस्थ शिशु का निष्क्रमण होता है। १. कठिन मार्ग (श्रोणि के दोष) २. मृदु मार्ग (Soft passage) इनमें कठिन मार्ग (Hard passage) का विस्तृत उल्लेख इसके पूर्व वाले अध्याय में हो चुका है। इस अध्याय में केवल मृदु मार्ग के दोषों का ही वर्णन प्रसंगिक है।

(१) **गर्भाशयग्रीवा की कठिनता** (Rigidity) ग्रीवा में कठिनता दो कारणों से आ सकती है—क्रियासम्बन्धी (Functional)-ग्रीवा की गोल पेशीसूत्रों के स्तम्भ (Spasm) के कारण ग्रीवा कड़ी पड़ जाती है। इसमें गर्भाशयके वहिर्मुख (OS. Ext.) का पतला किनारा आवीकाल में फैलने के बजाय संकुचित हो जाता है। ऐसा प्रायः वातिक अथवा भीति से युक्त स्त्रियों में होता है। कई बार गर्भाशय के परासंग, मूत्राशय या मलाशय के भरे रहने के कारण अथवा आकुञ्चनों के अधिक पीडायुक्त होने से भी इस प्रकार की दशा ग्रीवा की हो जाती है। क्वचित् समय के पूर्व ही प्रसवारम्भ हो जाने से भी ग्रीवा में कठिनता आ जाती है।

इसमें भीति संभवतः इड़ा स्वतन्त्र नाडीमण्डल (Sympathetic N. S.) को उत्तेजित करता है, जिसके फलस्वरूप गर्भाशय के गोलाकार पेशीसूत्रों में क्रिया बढ़ जाती है, परन्तु लम्बे वाले सूत्रों की क्रिया का रोध हो जाता है। इसी कारण ग्रीवा का विकास रुक जाता है।

चिकित्सा—उपचार में अहिफेन की प्रायोगिक ओषधियों का तथा 'क्लोरल हाइड्रेट' का व्यवहार करना चाहिये।

(२) **अङ्गसम्बन्धी** (Organic)—गर्भाशय ग्रीवा में किसी प्रकार अंगसम्बन्धी विकार आ जाने से भी ग्रीवा में काठिन्य उत्पन्न हो सकता है। जैसे-

१. गर्भाशयग्रीवा में व्रण-वस्तु की उपस्थिति।

२. ग्रीवा का अंश के साथ अधिक लम्बा होना (परिपुष्टि के कारण) (Hyper trophic longation)

३. सौत्रिकार्बुद की उपस्थिति ।

४. घातक रक्तार्बुद (Carcinoma) की उपस्थिति ।

चिकित्सा—उपचार में अङ्गुलि द्वारा ग्रीवा को विकसित करना चाहिये। यदि अङ्गुलि द्वारा न सम्भव हो तो भेदन (Incision) के द्वारा करना चाहिये ।

(३) **गर्भाशय की असम्यक्स्थिति** (Malposition)—यदि गर्भाशय का सम्मुख भ्रंश हो तो (Anteversion) ग्रीवा का विकास बहुत धीरे-धीरे होता है । इसके उपचार में गर्भिणी को पीठ के बल लेटाकर चौड़ा उदर-बन्ध लगा देना चाहिये, ताकि गर्भाशय अपने उचित अक्ष में रह सके ।

(४) **ग्रीवोष्ठ का पीडन** (Impaction)—ग्रीवा के पूर्वोष्ठ के श्रोणि-गुहा तथा गर्भशिर के बीच दब जाने से वहां पर उत्सेध या सूजन हो जाती है । इस दशा में इस सूजन के साथ कई बार उपशीर्ष, पूर्वःस्या अपरा वारिपुटक (Bag of membrane) का भ्रम हो जाता है । ऐसी अवस्था प्रसव में विलम्ब होने की वजह से उत्पन्न होती है तथा रोगी के लिए बहुत ही कष्टदायक होती है । इस परिस्थिति में प्रसवपरिचर्या में आवीकाल के मध्य में शोथयुक्त भाग को (ग्रीवोष्ट) को अङ्गुलि से दबाकर रखना चाहिये; जब तक कि सिर का जन्म न हो जाय ।

(५) **योनि तथा मूलाधार का काठिन्य**—अधिक आयु में प्रथम गर्भधारण करने वाली स्त्री में योनि तथा मूलाधार के धातु फैलने में उतने समर्थ नहीं होते, जितना कि नई उमर की गर्भिणी या प्रजाताओं में वे विस्तृत हो सकते हैं । इससे मार्ग में संकीर्णता आ जाती है । इसके अतिरिक्त सतीच्छद (Hymen), की कठोरता, मूलाधार के धातुओं में पूर्व के विदार के कारण पाया जाने वाला व्रण वस्तु भी इस कठिनाई के उत्पादन में सहायक होता है । कुछ स्त्रियों में सहज विकारजन्य भग को छोटा होना पाया जाता है जिससे मूलाधार पीठ बहुत आगे को आ जाता है (Comes farward) ।

चिकित्सा—१. संज्ञाहर द्रव्यों का प्रयोग करके ग्रीवा को विकसित करना । २. पश्चिम-पार्श्वभेदन (Post. Lat. Incis.) देकर मूलाधारभेदन नामक शल्यकर्म करना चाहिये ।

(६) **मूत्राश्मरी** (Vasical Calculus)—कई बार वस्ति में पड़ी हुई अश्मरी भी प्रसव में बाधा उत्पन्न कर सकती है। यदि यह छोटी हो तो अंगुली द्वारा भगसंधनिका के ऊपर पीछे की ओर उठा देने से या मूत्रमार्ग द्वारा निचोड़कर बाहर निकाल देने से बाधा को दूर कर सकते हैं। यदि इससे सफलता न मिले तो योनिमार्ग द्वारा मूत्राशय का भेदन करके निकालना चाहिये।

(७) **आन्त्रवृद्धि** (Enterocele)—आन्त्र का भाग जब 'डगलस' के कोष (Powch) में आ जाता है तब भी प्रसव में विलम्ब हो सकता है। यद्यपि यह बहुत ही कम देखने को मिलता है तथापि अधिक काल तक आन्त्र पर अनवरत पीडन होने से भयंकर लक्षण भी उत्पन्न हो सकते हैं। अतएव इस विकार को सुधारने के लिये यथाशीघ्र प्रयत्न करना चाहिये। इसमें रोगी को जानुवक्षासन पर रख कर आन्त्र को धीरे-धीरे पीछे की ओर उठाना चाहिये। यदि सफलता न मिले तो तत्काल संदंश प्रसव कराना चाहिये। कई बार बीजग्रन्थि के अर्बुद के साथ भी इस रोग का भ्रम उत्पन्न हो जाता है।

(८) **मूत्राशय तथा मलाशय का आध्मान** (Distension)—इससे गर्भाशय के नियमित कार्यों में ही बाधा नहीं पड़ती प्रत्युत गर्भ-शिर के बाहर निकलने में भी बाधा पहुंचती है। वस्तिवृद्धि (Cystocele) की स्थिति में मूत्र उसमें एकत्रित होकर वह उदय लेने वाले उपाङ्ग के सम्मुख आ जाता है और वारिपुटक (Bag of water) का भ्रम पैदा करता है।

गर्भावस्था के अर्बुद—यों तो गर्भाशय या तत्सम्बन्धी अवयवों के अर्बुद सदैव ही कष्टप्रद होते हैं, परन्तु गर्भवती स्त्री में वे सगर्भावस्था, प्रसव के समय तथा सूतिकाकाल में अधिक कष्टकर होते हैं। इन विभिन्न अवस्थाओं में अर्बुद क्या प्रभाव पड़ता है इसे एकैकशः देखना है।

सौत्रिकार्बुद (Fibroids)

गर्भावस्था में—१. विकृत अवतरण, २. गर्भाशय का स्थानभ्रंश, ३. गर्भाशय की श्लैष्मिक कला में रक्ताधिक्य, ४. गर्भधराकलाशोथ (Decidual endometritis) तथा ५. पीडन (दबाव) के लक्षणों की उत्पत्ति इनके परिणामस्वरूप होती है। अर्बुदों के भीतर भी कुछ परिवर्तन गर्भ के परिणामस्वरूप होते हैं। जैसे—१. अर्बुद स्पर्श में अधिक मृदु हो जाते हैं, २. उनके आकार में भी परिवर्तन

होता है, ३. उनमें अरुणापचय (Red degeneration) होता है, ४. साथ ही उनमें पीडा की उपस्थिति मिलती है।

चिकित्सा—अधिकतर अर्बुदों में किसी उपचार की आवश्यकता नहीं रहती उनके कारण गर्भ को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचती और गर्भ अपने पूर्णकाल तक पहुंच कर प्रसवकाल में जन्म भी सरलता से ले लेता है। इसलिये गर्भावस्था में भरसक शस्त्रकर्म के द्वारा उनका निर्हरण नहीं करना चाहिये। यदि अरुणापचय शुरु हो गया है तो अहिफेन आदि के प्रयोगों से पीडा का शमन करते हुए केवल काय-चिकित्सा से ही शमन करना चाहिये।

जब अर्बुद के हेतु अवरोध, पीडन अथवा मूत्रावरोध (Retention) के चिह्न मिलने लगे तो उसे शल्यकर्म के द्वारा निकालने का यत्न करना चाहिये। उदरमार्ग से अर्बुद का सम्पूर्ण निर्हरण (Enucleation) औदरिक गर्भाशय-पेशीछेदन (Abdoninal myomectomy) नामक शस्त्रकर्म के द्वारा करे।

कई वार निर्हरण के कारण अत्यधिक रक्त स्राव होने लगता है अथवा अर्बुद की गर्भाशय में स्थिति इस प्रकार की होती है कि गर्भाशयछेदन (Hysterectomy) का एक मात्र उपाय शेष रह जाता है।

सौत्रिकार्बुदों की उपस्थिति में कृत्रिम प्रसव अथवा अपूर्ण काल प्रसव कराने का विधान नहीं क्योंकि इससे एक तो बच्चे की मृत्यु हो जाती है दूसरी ओर रोग का निर्मूलन नहीं हो पाता वह जैसे का वैसे ही बना रह जाता है।

प्रसवकाल में—अधिकांश कोई भी वाधा नहीं पहुंचाते। गर्भपरासङ्ग (Inertia) उपस्थित कर सकते हैं। उदर्याकला के नीचेवाले (Subperitoneal) तथा श्लेष्मलकलाधः (Sub-mucous) अर्बुद प्रसव में वाधा कर सकते हैं—विशेषतः यदि वे उदय लेने वाले भाग से नीचे हो। ग्रीवा का अर्बुद और अधिक रुकावट पैदा करता है। इन अर्बुदों के कारण कई वार गर्भाशय का स्वान्तःप्रवेश (Inveesion) तथा प्रसवोत्तर रक्तस्राव भी हो सकता है।

चिकित्सा—१. यदि सम्भव हो गर्भाशयगत अर्बुद को ऊपर और पीछे की ओर ठेल कर शिशुका प्रसव योनिमार्ग से करा लेना चाहिये। सूतिकाकाल में अर्बुद के व्रणित हो जाने से संक्रमण पहुंचने का भय रहता है।

२. यदि सौत्रिकार्बुद प्रसव में वाधा पहुंचा रहा हो तो सर्वोत्तम और सर्वमान्य उपाय यह है कि पाटन क्रिया के द्वारा शिशु का प्रसव उदरमार्ग से करा के

सौत्रिकार्वुद को निकालने के लिये गर्भाशय को पेशियों का छेदन (Myomectony) नामक शल्यकर्मों को करे।

सूतिकाकाल में—इस काल में उपसर्ग पहुंचने से रोगी के मृत्यु का भय रहता है। कई वार रक्तस्राव तीव्र होता है। कई वार अर्वुद का अपने अक्षपर घूम जाने (Rotation) की सम्भावना रहती है। अरुणापचय का होना विशेष मिलता है।

चिकित्सा—उपचार की प्रायः आवश्यकता नहीं रहती। यदि गर्भाशयार्श (polypus) हो तो योनि मार्ग से काट कर निकालना चाहिये। यदि सौत्रिकार्वुद संक्रमित हो जाय तो गर्भाशयछेदन करे।

वीजकोषगत अर्वुद (Tumour of the ovury)

गर्भावस्था में—यदि आकार वड़ा तो उसके कारण दवाव के लक्षण उत्पन्न होते हैं—जैसे यदि इनकी उपस्थिति 'डग्लस' के कोष में हो तो मूत्रसम्वन्धी उपद्रव या गर्भस्राव अथवा श्वासकृच्छ्र तथा रक्तवह संस्थान के विविध लक्षण मिल सकते हैं। भार के लक्षणों के अतिरिक्त अर्वुद वृन्त के घुमाव (Torsion)के लक्षण तथा रक्तस्राव, विदार तथा पूयोत्पत्तिके लक्षण भी मिल सकते हैं। यदि अर्वुद छोटा हुआ तो कोई भी लक्षण नहीं मिलता वल्कि उसका निदान भी कठिन हो जाता है।

चिकित्सा—यदि वीजकोषगत अर्वुद का निदान चौदहवें सप्ताह के पूर्व हो जाय तो उसे तत्काल निकाल देना चाहिये। यदि छः मास के गर्भ तक इसका निदान न हो सके तो प्रसव पर्यन्त उसके लिये प्रतीक्षा करनी चाहिये, खास कर यदि वे वहुत वड़े न हो और किसी प्रकार उपद्रवों से जुष्ट न हो।

गर्भावस्था में यदि उसमें घुमाव (Torsion), उपसर्ग, प्रतीपावर्त्तन (Incarceration) अथवा उदर का अत्यधिक आध्मान (Distension) प्रभृति उपद्रव खड़े हो जायँ तो गर्भावस्था के जिस किसी काल में उसका निर्हरण शस्त्रकर्म के द्वारा कर सकते हैं।

प्रसवकाल में—यदि उदय लेने वाले भाग को वाधा न पहुंचावे तो उसे छोड़ दें। यदि इस प्रकार की कोई वात हो तो माता को जानुवक्षासन (Genu-pectoral position) में रखें। धीरे-धीरे अर्वुद को ऊपर उठा दें। वलपूर्वक गर्भ का कर्षण न करे क्योंकि इससे अर्वुद के विदीर्ण होने का भय रहता है। योनि अथवा उदर मार्ग से वीजकोष-भेदन करके अर्वुद को निकाल दे। पश्चात् यदि स्वाभाविक प्रसव के लिये रोगी को छोड़ दे। यदि स्वाभाविक प्रसवकठिन दिखलाई पड़े तो पाटनकर्म से गर्भाशय का भेदन करके वच्चे को निकाले।

सूतिकाकाल में—इस काल में बड़ी विचित्रता के साथ अर्बुद अपने वृन्त के अक्ष पर घूम जाता है साथ ही उसमें पूयोत्पत्ति या कोथ भी शुरू हो जाता है। जिसके परिणामस्वरूप उदर्याकला-शोथ होने की सम्भावना रहती है। सावधानी-पूर्वक परीक्षा करके रोग का विनिश्चय करे। सूतिकाकाल में उसका शल्यकर्म द्वारा निर्हरण न करे जब तक अत्यधिक आवश्यक न हों। सूतिकाकाल के समाप्त होते ही शस्त्रकर्म द्वारा बीज कोषार्बुद को शस्त्रक्रिया से निकाल देना चाहिये।

ग्रीवा का घातक रक्तार्बुद (Cancer)—गर्भकाल में अधिकांश घातक अर्बुदों में रक्तार्बुद (कैन्सर) पाया जाता है और बड़ा ही घातक उपद्रव होता है। कई बार गर्भाशय गात्र का 'सारकोमा' भी देखा गया है। बहिर्जरायु घातकर्बुद (Chorion epithelioma) भी गर्भाशय की दीवाल तक प्रसार करके बड़े और घातक अर्बुद का रूप ले सकता है।

अनियमित रक्तस्राव पूयमिश्रित दुर्गन्धित रक्तस्राव आदि मिलता है। यदि निदान का निश्चय करना हो तो ग्रीवा के टूटे हुए (Friable) छोटे से टुकड़े की सूक्ष्मदर्शक से परीक्षा करके देख ले। इसके उपद्रव रूप में कई गर्भ-स्राव भी देखा गया है। यद्यपि शुरू में इसका निदान बड़ा ही कठिन होता है और बीच-बीच में रक्त-स्राव के अतिरिक्त कोई लक्षण उपस्थित नहीं रहता।

चिकित्सा—यदि रोग का निश्चय हो जाय तो गर्भावस्था के प्रारम्भिक दिनों में गर्भाशयच्छेदन (Hysterectomy) अथवा उदरविपाटन के द्वारा गर्भाशय का भेदन करके यदि शिशुजीवन के योग्य जान पड़े तो उसका निर्हरण करे। पश्चात् व्रण के भर जाने पर 'रेडियोलाजिकल' चिकित्सा करे।

ऐसे रोगियों में जिनमें गर्भावस्था बहुत प्रगति कर चुकी हो, निर्मूलन चिकित्सा (Radical) सम्भव न हो तो गर्भ को पूर्ण काल तक बढ़ने के लिये छोड़ दे। पश्चात् पाटन कर्म (Caesarean) करके 'रेडियम' और 'क्ष' किरण चिकित्सा करे। यदि प्रारम्भ में ही निदान हो जाय तो पूरे गर्भाशय को काट कर निकालना तथा पश्चात् 'क्ष' किरण और 'रेडियम' से चिकित्सा करनी चाहिये। स्वाभाविक प्रसव के लिये छोड़ने से कई प्रकार के खतरे का अन्देशा रहता है। जैसे-तीव्र रक्तस्राव, गर्भाशयविदार तथा सूतिकाकालीन उपसर्ग।

सूतिका रोग प्रकरण

प्रथम अध्याय

सूतिकोपसर्ग

(Puerperal Sepsis)

पर्याय—सूतिकारोग, सूतिकासंक्रमण, सूतिकाज्वर।

व्याख्या—'इस शीर्षक में सूतिका काल में होने वाले, जननमार्ग के जीवाणुओं से संक्रमित होने के परिणामस्वरूप उन सम्पूर्ण विकृतियों का समावेश हो जाता है जो प्रसव के पूर्व, मध्य या पश्चात् काल में गर्भस्राव, पात अथवा पूर्ण काल प्रसव काल में जीवाणुओं के प्रवेशजन्य होती हैं।' भावार्थ यह है कि अपत्य-मार्ग के व्रणों द्वारा विकारी जीवाणुओं के संक्रमण से उत्पन्न होने वाले लक्षणों को सूतिकोपसर्ग कहते हैं। अपत्यमार्ग में यह संक्रमण प्रसव के पूर्व, मध्य अथवा पश्चात् काल में पहुंच सकता है, इसी प्रकार चाहे गर्भस्राव या पात अथवा पूर्ण-काल प्रसव सभी प्रकार के प्रसवों में उनकी पहुंच हो सकती है। विकारी जीवाणुओं के प्रवेश के परिणामस्वरूप सूतिका में सर्वसामान्य लक्षण ज्वर (१००.४° फ० के ऊपर) पाया जाता है। इसलिये इसके पर्याय में 'सूतिकाज्वर' का भी प्रचलन है।

हैतुकी :—

प्रधान कारण—स्वस्थ गर्भाशय तथा योनि अम्लग्राही होने के परिणाम-स्वरूप अपने भीतर किसी प्रकार के उपसर्गकारी जीवाणुओं को पनपने नहीं देते; लेकिन प्रसूतावस्था में निकलने वाले गर्भोदक के क्षारीय प्रतिक्रिया से उनकी अम्ल प्रतिक्रिया कम हो जाती है, जिससे जीवाणु सरलता से पनप सकते हैं। ये जीवाणु प्रसवावस्था के दूसरे तीसरे दिन योनि में मिलने लगते हैं; तथा धीरे-धीरे गर्भाशय की ओर अग्रसर होते हैं।

जीवाणूपसर्ग के मार्ग—प्रसव के पश्चात् या प्रसवकाल में उपसर्ग के पहुंचने के तीन मार्ग हैं। अपत्य मार्ग में विकारी जीवाणुओं का उपसर्ग और वपन १. हाथ, श्वास, यन्त्र परिचारक के सम्पर्क, गात्रसंस्पर्श अथवा रुग्णा के निजी हाथों से हो सकता है।

२. जीवाणु पहले से ही गर्भिणी के भीतर या बाहर मौजूद रहे हों और हाथ या यन्त्रों के जरिये योनि के अन्दर प्रविष्ट हो जायँ।

३. प्रसव के पूर्व से योनि में तीव्रविकारी जीवाणु (Virulent) पड़े रह कर प्रसव के अनन्तर गर्भाशय में प्रविष्ट होने का मार्ग प्राप्त कर प्रवेश कर जावे।

४. जीवाणुओं के प्रवेश का एक चौथा मार्ग भी सम्भाव्य है—गर्भिणी के गात्र में किसी दूरस्थ अङ्ग पर उपसृष्ट केन्द्रों (Septic focus) हो और वहां से रक्त-सम्वहन के द्वारा जीवाणु अपराक्षेत्र में पहुंच कर गर्भाशय को संक्रमित करके सूतिकोपसर्ग का रूप दे दें। इनमें प्रथम प्रकार बाह्य (Exogenous) और शेष अन्तः (Endogenous) के हैं।

सूतिकोपसर्ग के सम्बन्ध में तीन बातें स्थिर रूप से मिलती हैं—१. यह प्रथम प्रसव में परवर्त्ती प्रसवों की अपेक्षा अधिक मिलता है। २. प्रसवमार्ग के मृदु धातुओं के व्रणित होने का निश्चित सम्बन्ध इस रोग की उत्पत्ति में पाया जाता है क्योंकि इस प्रकार क्षति की स्थिति में उपसर्ग की अधिक सम्भावना रहती है और व्रणित-क्षेत्र की विस्तृति के ऊपर उपसर्ग की मात्रा आश्रित रहती है। ३. यान्त्रिक प्रसवों के साथ भी इस उपसर्ग का सम्बन्ध है क्योंकि यान्त्रिक सहायता की आवश्यकता अधिकांश परवर्त्ती प्रसवों की अपेक्षा प्रथम प्रसवों में ही होती है, साथ ही स्वाभाविक प्रसवों की अपेक्षा यांत्रिक प्रसवों में क्षति की भी विशेष सम्भावना रहती है। इन अभिघातों के फलस्वरूप वहां की धातुओं की रोग निवारक क्षमता कम हो जाती है, जिससे जीवाणुओं का प्रवेश तथा प्रसार अधिक सरलता से हो सकता है।

सहायक कारण—उपर्युक्त कथन पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि निम्नलिखित कारण सूतिकोपसर्ग में सहायता करते हैं—

१. मूलाधार पीठ या योनि का विदार।

२. गर्भाशय के अन्तः भाग अथवा ग्रीवा का क्षत।

३. कष्ट प्रसव (जिस यन्त्रादिकी आवश्यकता हो)।

४. प्रसवोत्तर रक्तस्राव की अधिकता।

५. अपरा एवं जरायु का गर्भाशय में अवशिष्ट रहना।

६. मलावरोध। ७. प्रथम प्रसवा।

जीवाणु—सूतिकोपसर्ग में प्रधानहेतुभूत जीवाणु (Streptococcus haemolyticus) है और ७५% सूतिकोपसर्गपीड़ित रोगियों में यही मृत्यु का कारण होता है। ये जीवाणु लसीका परीक्षाओं के आधार पर नौ उपविभागों

(ए से के तक) बँटे हैं। इनमें 'ए' वर्ग सबसे अधिक पाया जाता है और ६०% सूतिकोपसर्ग पैदा करता है। इसमें लक्षण भी तीव्र होते हैं और मृत्यु भी अधिक होती है। यद्यपि 'बी', 'सी' और 'जी' समुदाय के जीवाणुओं से भी रोग के तीव्र होने एवं मृत्यु की सम्भावना कम नहीं रहती तथापि 'ए' वर्ग अधिक उत्कट है।

Streptococcus haemolyticus के बाद दूसरा सामान्यतया इस उपसर्ग में मिलनेवाला जीवाणु वात भी Streptococcal है। इसके अतिरिक्त (Non haemolytic streptococii) भी मृदु स्वरूप का उपसर्ग पैदा करता है। 'बी कोलाइ' सीधे सूतिकोपसर्ग में भाग नहीं लेता मूत्रवहसंस्थान का शोथ पैदा करता है, जिसके परिणामस्वरूप सूतिकाकाल में ज्वर हो सकता है।

(Staphylococcus areus एवं Albus) भी मृदु स्वरूप के रोग को पैदा करते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी जीवाणु हैं (Clostridium welchii) जो कभी-कभी रोग के कारण बनते हैं। उनके उपसर्गों में गर्भाशय-पेशियों का कोथ तथा यकृत् का अपचय मिलता है। लक्षणों में कामला तथा मूत्र में शोणवर्तुलि की उपस्थिति मिलती है। इस प्रकार का उपसर्ग बड़ा ही घातक होता है कुछ ही दिनों में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

बिन्दूत्क्षेप से जीवाणूपसर्ग—बाह्य जीवाणुओं का उपसर्ग कई बार चिकित्सक या परिचारक के बोलते, छींकते खाँसते, जोर से हँसते समय थूक का सेक (Spray) यन्त्र, शस्त्र, पट्ट, परिचारक के हाथ तथा रोगी के भग आदि बाह्य जननाङ्गों पर हो जाते हैं। यदि व्यक्ति के थूक में विकारी जीवाणु विद्यमान रहे (विशेषतः स्ट्रैप्टोकोकसहीमोलिटकस)तो निश्चितरूप से अपत्य मार्ग उनसे प्रभावित और दूषित हो जाता है। इसीलिये चिकित्सक तथा परिचारिका दोनों के लिये आच्छादक (Mask) लगाने का विधान बतलाया गया है।

कई बार संक्रमित त्वचा से सम्पर्क होकर, कभी-कभी शल्यागार की धूलि से और कचित् गर्भिणी के पुरीष से भी जीवाणूपसर्ग पहुंच सकता है।

जीवाणुओं के प्रवेश के स्रोत—अनेक हैं। मूलाधार तथा योनिविदार आरम्भिक बिन्दु बन सकते हैं। ग्रीवा का व्रणित होना भी उनके प्रवेश का कम साधन नहीं बनता। गर्भाशय के भीतरी भागों से भी जीवाणुओं के प्रवेश का मार्ग मिल सकता है और यही सर्वाधिक पाया जाने वाला और खतरनाक प्रवेश का

स्रोत है। यदि किसी भाँति एक बार भी विकारी जीवाणुओं को प्रविष्ट करने का मौका लगा तो उनके लिये वह वृद्धि और संख्यावृद्धि का केन्द्र मिल जाता है। क्योंकि उन जीवाणुओं के लिये वहाँ पर (गर्भाशय में) उचित ताप, योग्य आर्द्रता, रक्त के थक्के-सड़े गले धातु प्रभृति सभी बातें सम्यक् पोषण के लिये मिल जाती हैं। यहाँ पर ये बढ़ते हुए स्थानिक शोथ आदि पैदा करते और अपने विष को रक्तसंचार में डाल कर विभिन्न लक्षणों को पैदा करते हैं।

वैकृतिकी—जब जीवाणु अपत्य-मार्गस्थित क्षत या क्षतों में अपना पैर रख लेते हैं तो वहाँ पर पूयोत्पादन या कोथ उत्पन्न करना आरम्भ कर देते हैं। निम्नलिखित तीन बातों के ऊपर पश्चात्कालीन घटनाओं की (विकार की) न्यूनता या अधिकता आश्रित रहती है, (१) जीवाणुओं की तीव्रता तथा प्रवेश और प्रसार की क्षमता, (२) रोगी की निजी प्रतिकार शक्ति, (३) तत्रस्थ धातुओं के क्षत की मात्रा। यदि जीवाणु उसी स्थान पर पड़े रहें स्वयं प्रसरित न हों तो उनके विषों के शोषण के परिणामस्वरूप रुग्णा में गाढ़ विषमयता के चिह्न मिल सकते हैं तथापि ये लक्षण अपेक्षाकृत उन लक्षणों से कम प्रबल होते हैं; जब कि जीवाणु अपने मूलविकार केन्द्र (Original focus) प्रसरित होकर फैलते चलते हैं। इस प्रकार के जीवाणुओं के प्रसार दोनों प्रकार के स्थानिक तथा सार्वदैहिक हो सकते हैं।

स्थानिक प्रसार—सर्वप्रथम उपसृष्ट होने वाले भाग के आसपास के धातुओं में सिरा तथा लसीका वाहिनियों के द्वारा वे फैलते हैं। उदाहरणार्थ—गर्भाशयपेशियों में उसके बाद बीजवह स्रोत में (बीजवह स्रोतशोथ पैदा करते हैं) फिर उससे होते हुए उदर्याकला में फैल जाते और फैल कर उदर्याकलाशोथ (Peritonitis) पैदा कर देते हैं। यदि प्रथम उपसृष्ट स्थल अपरान्त्र अथवा ग्रीवा या योनि का व्रण रहा तो पार्श्व के धातुओं (Cellular tissues) में उन जीवाणु का प्रसार और प्रवेश होकर श्रोणि का अन्तस्त्वक्पाक (Pelvic cellulitis) हो जाता है।

सार्वदैहिक प्रसार (General spread)—इसका अर्थ है रक्तवह संस्थान में जीवाणुओं का प्रवेश होकर रक्तगत जीवाणुमयता (Septicaemia) का पैदा होना। यह अवस्था बड़ी ही गम्भीरता की होती है क्योंकि मूलविकार केन्द्र से दूरस्थित अवयव भी दूषित होकर शोथयुक्त हो जाते हैं जैसे—फुफ्फुस,

फुफ्फुसावृति तथा हृदयावृति। कई बार दूरस्थ विभिन्न अंगों में विद्रधियाँ (अन्तर्विद्रधियाँ) भी बनती है इस अवस्था को पूयमयता (Pyaemia) कहते हैं। जब उपसर्ग एक स्थान पर सीमित रहता है विषमयता के लक्षण कम तीव्र रहते हैं। परन्तु जब उपसर्ग रक्त के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में फैलता हैं, तो विषमयता के चिह्न अति तीव्र मिलते हैं।

इस तरह संक्षेप में निम्न वैकारिक परिवर्त्तनों की सम्भावना रहती है:—

(१) श्रोणिगत अन्तस्त्वक्पाक (Pelvic cellulitis)।

(२) श्रोण्युदरावरण शोथ (Pelvic peritonitis)।

(३) सिराशोथ (Phlebitis)।

(४) दोषमयता या जीवाणुमयता (Septicæmia)।

(५) पूयमयता (Pyaemia)।

(६) गर्भाशयान्तरावरण शोथ (Endometritis)।

(क) गलित गर्भाशयावरण शोथ (Putrid endometritis)।

(ख) दूषित गर्भाशयावरण शोथ (Septic endometritis)।

(७) गर्भाशयपेशी शोथ (Metritis)।

गलित गर्भाशयावरण शोथ—यह अवस्था प्रायः गर्भाशय के अन्दर विशेषतः मृतधातुओं, अपरा एवं जरायु के टुकड़ों के अवशेष रह जाने के कारण होती है। अस्तु, पूर्ण प्रगल्भ प्रसव की अपेक्षा गर्भस्राव, पात एवं अपूर्ण प्रसव के बाद अधिक पाई जाती है।

गर्भाशय बड़ा रहता है, स्पर्श में पीडायुक्त एवं पिलपिला (Flabby) प्रतीत होता है। इसका आभ्यन्तरिक भाग मृदु, पिच्छिल एवं दुर्गन्धयुक्त अवशेष से परिपूर्ण रहता है जो गंदे, रक्तरञ्जित और दुर्गन्धयुक्त सूतिकास्राव (Lochial discharge) से सिंचित (Bathed) रहता है। इस अवस्था में सूतिका-स्राव की मात्रा बढ़ जाती है।

दूषित गर्भाशयावरण शोथ—में गर्भाशय आकार में बड़ा रहता है, लेकिन उतना मृदु नहीं होता जितना गलित प्रकार में रहता है। सूतिकास्राव भी मात्रा में बढ़ सकता है; परन्तु बहुत से रोगियों में इसकी मात्रा कम हो जाती है या पूर्णतया अभाव हो जाता है। इस स्राव में उतनी दुर्गन्ध नहीं रहती, परन्तु यदि 'बी कोलाई' की उपस्थिति हो तो वह दुर्गन्धयुक्त भी हो सकता है।

श्रोणिगुहा-अन्तस्त्वक् शोथ—यह गर्भाशय गुहा के लसवाहिनियों के द्वारा फैले हुए उपसर्ग के कारण हो सकता है; लेकिन ज्यादातर ग्रीवा के विदार के उपसर्ग से होता है। प्रथम परिवर्तनों में साधारण उपसर्गजन्य शोथ होता है, यदि उपसर्ग तीव्र स्वरूप का नहीं रहा, तो शोथ का शनैः शनैः उपशम हो जाता है। कई वार पक्षवन्धनिका (Broad ligament) के संयोजक धातुओं से पूयोत्पत्ति होकर विद्रधि-निर्माण भी होता है।

श्रोणिगत उदर्य्याकला शोथ (Pelvic peritonitis)—यह गर्भाशय की श्लेष्मलकला से लसीकावाहिनियों के द्वारा प्रत्यक्ष विस्तार के फल-स्वरूप होता है। सौम्यावस्था में इसका मुख्य लक्षण सूत्रमय स्राव तथा संश्लेष-निर्माण (Fibrinous exudation & Adhesion formation) का होना मिलता है। उग्रावस्था में पूयनिर्माण होता है और पूय 'डगलसपाउच' अथवा गर्भाशय के सामने इकट्ठा होता है। यदि इनमें संश्लेष का निर्माण होकर पूय को सीमित प्रकृति न कर सके तो उदर्य्याकला शोथ हो जाता है जो सूतिकोपसर्ग में मृत्यु का एक सामान्य हेतु वनता है।

सिराशोथ (Thrombo phlebitis)—यदि गर्भाशयभित्ति के अपरा क्षेत्र या अन्यत्र की सिरायें किसी प्रकार उपसृष्ट हो जाती है तो उनमें शोथ उत्पन्न हो जाता है। यह शोथ रक्त के उपसृष्ट थक्के (Throbus) के सिराओं में पहुंचने से होता है। इस शोथ का प्रसार ऊपर की ओर बीजकोषा-नुगा तथा अधिश्रोणिक सिराओं से होकर अधोमहासिरा में अथवा नीचे की ओर और्वी (Femoral) तथा अधोगा (Saphenous) सिराओं में होता हुआ वढ़ता है। इसके परिणाम स्वरूप पूरा पैर शोथयुक्त हो जाता है। यह एक प्रकार का श्लैष्मिक शोफ होता है जिसमें दवाने पर गड्ढा नहीं पड़ता। अंग सूजन के कारण ठोस-सा प्रतीत होता है, पैर की त्वचा श्वेत और चमकीली हो जाती है। इसीलिये इस रोग को श्वेतपाद अथवा श्लैष्मिक श्वेतशोथ (White leg or Phlagmasia Alba dolens) कहते हैं।

पूयमयता—यदि किसी प्रकार उपसृष्ट थक्के कुछ भाग पृथक् होकर रक्त परिभ्रमण में आ जाय अथवा जीवाणु स्वयं ही रक्त में भ्रमण करने लगे तो शरीर के विभिन्न अवयवों में विद्रधियाँ वन सकती हैं। इसी अवस्था को पूयमयता कहते हैं।

स्थानिक लक्षणों में—सूतिकास्राव की अधिकता, वर्णवैपरीत्य (गन्दे और भूरे रङ्ग का स्राव) तीव्र दुर्गन्ध युक्त होना पाया जाता है। **गर्भाशय** की स्वसंवृति रुक जाती है और गर्भाशय बृहत्, मृदु और स्पर्शनाक्षम हो जाता है। गलित गर्भाशयावरण शोथ का रूप हो जाता है।

निदान या रोगविनिश्चय—शारीरिक चिह्नों की अपेक्षा लक्षणों के ऊपर ही निश्चय करना चाहिये।

पोड़ायुक्तस्तन शोथ—इसमें भी ज्वर होता है, परन्तु यह अधिक दिनों तक नहीं चलता। ज्वर मन्द स्वरूप का होता है।

मूत्रवहसंस्थान का 'वी कोलाई' उपसर्ग—मूत्र में पूय तथा विशिष्ट जीवाणु की उपस्थिति मिलेगी। बाद में मूत्र का वर्द्धन करके विकारी जीवाणु का पता लगा सकते हैं।

कोष्ठबद्धता या विबन्ध—इससे भी हल्के ज्वर का असर सूतिका में हो जाता है।

हीमोलिटिकस्ट्रेप्टोकोकाई की उपस्थिति—सूतिकाज्वर की अवस्था में रोगी की सामान्य एवं पूर्ण परीक्षा करे विशेष ध्यान उसके स्तन एवं उदर की परीक्षा पर दे। मूलाधार का निरीक्षण करे। योनिव्रणेक्षणयन्त्र (Speculum) के द्वारा योनि अथवा ग्रीवा क्षत या व्रण का पता लगावे। वहां से स्राव का पिचु लेकर उसकी पट्टी (Slide) बनाकर उसी प्रकार गले तथा मूत्र की अणुवीक्षण की सहायता से तृणाणुविषयक परीक्षा करके विशिष्ट विकारी जीवाणु का विनिश्चय करे। 'स्ट्रेप्टो' गोलाणुओं पाया जाना यद्यपि पक्का प्रमाण तो नहीं है; परन्तु सूतिकोपसर्ग का निश्चित रूप से सूचक होती है। 'स्टेफिलो', 'वी कोलाई' तथा 'डिपथीरिया' के कीटाणुओं की उपस्थिति पाया जाना उतनी मात्रा में निदान की स्थिरता का सूचक नहीं होती।

रक्त का संवर्द्धन (Culture) मूत्र की भांति रक्त का संवर्द्धन करके उसमें विशिष्ट जीवाणु का पता लगाकर विनिश्चय करे। रक्त में जीवाणुओं की उपस्थिति दोषमयता की सूचना देता है।

स्थानिक परीक्षा—गर्भाशय का स्पर्शनाक्षमता; मूलाधार-योनिग्रीवा के विदारों में पूयोत्पत्ति और कोथ की उपस्थिति; सूतिकास्राव का बन्द होना या

पूययुक्त तथा दुर्गन्धयुक्त होना; गर्भाशय की हीन संवृति आदि बातें सूतिकाज्वर के पक्ष में मिल सकती हैं।

साध्यसाध्यता—ऐसे रोगियों में जिनमें रोग तीव्र हो; किन्तु चिह्न (Physical Signs) अल्प मिलें या पूर्णतया न मिलें असाध्यता अधिक होती है। जिन रोगियों के रक्त में (Haemolytic streptococcus) की उपस्थिति मिले उनके रोग की भी गम्भीर ही स्थिति होती है। यदि रक्त में इनकी उपस्थिति न हो तो रोगी की स्थिति आशाजनक है ऐसा समझे। उदर्याकलाशोथ, जीवाणुमयता की अवस्था अधिक भयंकर होती है, इनमें मृत्यु अधिक होती है। यद्यपि आज के शुल्व ओषधियों तथा पेन्सीलीन का चिकित्सा में समय से उपयोग से बाधायें बहुत कम हो गई हैं। सूतिकाज्वर में तापक्रम की उच्चता का शुभाशुभ की दृष्टि से उतना महत्त्व नहीं होता जितना कि नाडी की गति की तीव्रता का। यदि सूतिकाज्वर से पीडित रुग्णा की नाडी १२० या उससे अधिक प्रतिमिनट सन्तत बनी रहे तो दशा को गम्भीर समझना चाहिये। कम्प की प्रबलता या बार-बार जाड़े का अनुभव होना भी अनिष्टसूचक लक्षण है क्योंकि यह रक्तगत विषसंचार की अधिकता के कारण होता है। रक्तगत श्वेतकायाणुओं की संख्यावृद्धि पूयोत्पत्ति के कारण होती है-साथ ही पूयोत्पत्ति के साथ श्वेतकायाणुमयता का पाया जाना भी एक शुभ लक्षण है। इससे रोगी की प्रतीकार शक्ति का ज्ञान हो जाता है। इसकी विपरीत स्थिति अनिष्ट की सूचना देती है। इसी प्रकार रोगकाल में अतिसार तथा मूत्रकृच्छ्र का मिलना भी हानिप्रद लक्षण होता है। आध्मान, वमन, श्वासकृच्छ्र (छाती में बिना किसी प्रकार के चिह्न के) आदि लक्षण भी अनिष्टसूचक ही होते हैं।

चिकित्सा—प्रतिबन्धक १.-चिकित्सक तथा परिचारक का कर्त्तव्य है कि वह हरेक प्रकार से गर्भावस्था तथा प्रसवकाल में रोगी की बाह्य साधनों से आने वाले जीवाणुओं के उपसर्ग को रोके।

२. यदि गर्भकाल में दोषकेन्द्र (Septic focus) ज्ञात हो उसकी प्रसव के पूर्व ही चिकित्सा करे। इसके अतिरिक्त यदि रोगी में रक्ताल्पता हो तो उसकी भी चिकित्सा करे। गर्भावस्था के अन्तिम दो मासों में स्त्रीप्रसंग का निषेध होना चाहिये।

३. गर्भकाल तथा प्रसवकाल में जहाँ तक सम्भव हो योनिपरीक्षा जब अत्यावश्यक न हो तो नहीं करे। यदि करना आवश्यक हो तो अत्यधिक निर्जीवाणु-विधियों की सावधानी रखते हुए करे।

४. वाह्य उपसर्गों से रक्षा करने के लिये यन्त्र-शस्त्र-पिचु-प्रोत शलाका आदि द्रव्यों का विशोधन करके प्रयोग करे। सदैव हाथों में विशोधित दास्तानों (अंगुलित्राणक) का इस्तेमाल करे। मुख नासा आदि का आच्छादक (Mask) धारण करके शल्यकर्म या परीक्षा करे।

५. परिचारक एवं चिकित्सक के नासा और गले का स्राव लेकर जीवाणु-परीक्षा करे। यदि उनमें 'स्ट्रप्टेकोकस हीमोलिटिक्स' की उपस्थिति पाई जाय तो ऐसे चिकित्सक को गर्भिणी या प्रसवपरिचर्य्या में रोक लगा देनी चाहिये। जब तक उनके स्राव नास्त्यात्मक न प्रमाणित हो जायँ उन्हें इस प्रकार की परिचर्या नहीं करनी चाहिये।

६. सूतिकारोग से पीडित रुग्णा को अन्य स्वस्थ प्रसूताओं से पृथक् रखे। यदि सम्भव हो तो एक परिचारक जो इस उपसर्ग से पीडित सूतिका की चिकित्सा कर रहा हो, दूसरे स्वस्थ प्रसूता की परिचर्या में भी न जावे।

चिकित्सा—चिकित्सा में शुल्वौषधियों (Sulphadrugs) का व्यवहार किसी काल में वहुत प्रचलित रहा। जब से 'पेन्सीलीन' नामक ओषधि का चिकित्सा जगत् में व्यवहार होने लगा है, सूतिकोपसर्ग की भयंकरता वहुत कुछ कम हो गई है। इसीलिये आज 'शुल्वौषधियों' का विधान उतने महत्त्व का नहीं माना जाता जितना 'पेन्सीलीन' का। यद्यपि उनका महत्त्व कई एक अवस्था में विशेषतः 'वी कोलाई' के उपसर्ग में आज भी कम नहीं हैं क्योंकि 'पेन्सीलीन' इस उपसर्ग विशेष में कार्यकर नहीं है। 'वी कोलाई' के अतिरिक्त विकारी जीवाणुओं के उपसर्गों में 'पेन्सीलीन' लाभप्रद होता है। इसीलिये सूतिकोपसर्ग में यह विशेषतः हितकर है। जब तक संक्रमण का नियन्त्रण न हो जाय, जलीय 'पेन्सीलीन' का प्रयोग प्रति आठ घण्टे पर १ लाख यूनिट्स की मात्रा सन्तत वनाये रखना चाहिये। पुनः धीरे धीरे मात्रा कम कर देनी चाहिये। तैलीय 'पेन्सीलीन' (Procain penicillin 4 lacs units) की प्रति चौवीस घण्टे पर उपसर्ग की तीव्रता कम होने पर चलाई जा सकती है। तीव्रोपसर्ग में जलीय 'पेनीसीलीन' ही लाभप्रद होती है। कई विद्वान् 'शुल्वा' तथा 'पेनीसीलीन' का साथ-साथ प्रयोग करने की

होते हुए भी कुछ न कुछ पोषण देते रहना चाहिये। इसके लिये द्रव आहार, ग्लुकोज का शर्बत, दूध बीच-बीच में देते रहना चाहिये, ताकि रोगी का बल बना रहे। इसके लिये गुदा या सिरा द्वारा 'ग्लुकोजसेलाइन' भी दिया जा सकता है। यदि अवस्था अतितीव्र हो तो योग्य रक्त का अन्तभरण करे। ४. अन्य-पदार्थ इसके अतिरिक्त ताजी हवा, सूर्य प्रकाश प्रभृति बातों की भी व्यवस्था रोगी के लिये होना चाहिये। ५. यदि तापक्रम १०२° फे. से ऊपर जाय तो शीतोपचार करे। ६. यदि विबंध रहे तो मृदु रेचनों से कोष्ठशुद्धि कर लिया करे, परन्तु तीव्र रेचकों का प्रयोग न करे अन्यथा अतिसार होने का भय रहता है, जो रोगी को दुर्बल करने में प्रधान हेतु बनता है।

शल्यकर्मीय चिकित्सा—वास्तव में सूतिकोपसर्ग में किसी प्रकार के शल्यकर्म की आवश्यकता नहीं रहती है। यदि उपसर्ग अतितीव्र हो, गर्भाशय में सौत्रिकार्बुदों की उपस्थिति हो अथवा गर्भाशय के बाहरी भाग में विकारकेन्द्र (Septic focus) हो जैसे बीजवह स्रोत, बीजकोष की विद्रधि अथवा श्रोणिगत अन्तस्त्वक् पाक हो अथवा 'पेन्सीलीन' का प्रयोग असफल रहे तो गर्भाशयछेदन किया जा सकता है।

सूतिकोपसर्ग के रूप में होने वाले रोग

और्वीसिरा-शोथ (Femoral thrombo-phlebitis)—के हेतु १. सिराकुटिलता, २. रक्त की कमी, ३. सूतिकोपसर्ग का प्रसार।

प्रकार—गम्भीर (Deep) तथा उत्तान (Superficial)।

गम्भीर प्रकार लक्षण—पिण्डिकाओं (Calf), घुटने के पीछे और गुल्फसन्धि में पीड़ा होती है। पिण्डिकाओं में सूजन रहती है। पैर के अधोभाग में सूजन आ जाती है। कुछ रोगियों में यह सूजन ऊपर की ओर बढ़ती हुई जंघे (उरुभाग) की उत्तान तथा गम्भीर सिराओं को प्रभावित करती हुई फैल जाती है। यदि अधःशाखा की प्रधानता रसवाहिनी दोषयुक्त हो तो पूरे पैर में ठोस सूजन सफेद रंग की हो जाती है जिसका उल्लेख ऊपर में हो चुका है।

चिकित्सा—रोगी के पैर को ऊँचा करके रखना इसके लिये चार पाई के पैताने को ६-१२ इंच तक ऊपर उठा दे या पैर के नीचे तकिया लगाकर ऊँचा करे, जानुसन्धि को थोड़ा संकुचित करके रखे। पादच्युति (Drop) को बचाने

के लिये पाद (Foot) को वालू की थैली के सहारे पैर के समकोण (Rt. agle) पर रखे। शोथयुक्त पैर को विशेप प्रकार के वन्धन (Elasto plast) में अंगूठे से लेकर विटपसन्धि (Groin) तक बांध दे। पीड़ाशामक औषधियों का प्रयोग किया जा सकता है। 'नोवोकेन' का परिकशेरुक अन्तर्भरण (Para-vertibral injection) करके पीड़ा को शीघ्र शान्त कर सकते हैं। जब तापक्रम और शोथ कम हो जाय तो धीरे-धीरे पैर को समान आसन पर लावे. उसमें निष्क्रिय गतियाँ करना आरम्भ करे। रोगी को कुछ मासों तक रेशम के स्थितिस्थापक (Elastic) मोजे पहन के रहना चाहिये।

उत्तान प्रकार—पैर की ऊपरी सिराओं के प्रभावित होने से होता है। सिरायें लाल हो जाती हैं। उनमें स्पर्श के द्वारा रक्तस्कन्दन (Thrombosis) का भी पता लग जाता है। स्थानिक पीडनाक्षमता रहती है और पीडा धीरे-धीरे जाती रहती है।

चिकित्सा—पूरे क्षेत्र को स्थितिस्थापक वन्ध (Elasto plast) में स्थिर कर दे। प्रतिवन्धन-चिकित्सा में यदि रोगी में सिराकुटिलता रहे तो प्रसव तथा सूतिकाकाल में उसकी अभिघात से वचाने की कोशिश करे। इसके उसके दूषित स्थान पर या पैर में गंजीदार तन्तुओं की वनी पट्टी से वन्धन करे।

श्रोणि-अन्तस्त्वक् शोथ या श्रोणिगुहापाक (Pelvic eellulilis)

चिकित्सा—१. 'सल्फा' तथा 'पेनीसीलीन' का तत्काल प्रयोग। २. पीड़ाशमन के लिये अहिफेन अथवा अन्य वेदना-शामक। ३. स्थानिक स्वेदन उदर पर ज्वालास्वेद (Radiant heat), योनि का उष्ण उत्तर वस्ति देकर स्वेद करे अथवा 'डायथर्मी' की छोटी तरंगों से करे।

जैसे ही विद्रधि वने उसको वंक्षणीय वन्धन से होते हुए भेदन का उपाय करे।

बीजवहनस्रोत-शोथ-लक्षण—उदर के अधोभाग में वेदना और प्रायः तीव्रस्वरूप की होती है। उदराधोभाग की दीवाल स्पर्श कठोरक्षम हो जाती है। आन्त्रों में आध्मान और वमन रोगी में होते हैं। शीत के साथ ज्वर आकर १०३-१०४° फे. तक हो जाता है। यह विकार कभी एक पार्श्व तक ही सीमित रहता है, अधिकतः उभयपार्श्वीय होता है। उपसर्ग के फैलने से उदर्याकला शोथ तक हो सकता है। यदि रोग का उपशम हो तो रोगी की स्थिति शीघ्र ही सुधर

जाती है। परन्तु यदि सुधार न हो तो बीजवाहिनी के भीतर पूय भर जाती है, (Pyosalpinx) बीजवाहिनी विद्रधि का रूप रोग ले लेता है।

चिकित्सा—श्रोणिगुहापाक की भाँति पीडाशामक तथा विशिष्ट चिकित्सा करते हुए रोग के उपशम के लिए प्रयत्न करे। परन्तु विद्रधि अथवा उदर्याकला शोथ की दशा में रोग के आ जाने पर शीघ्रता के साथ उदर को खोलकर (Lapratomy) चिकित्सा करे।

काश्यप संहिता में सूतिकोपक्रमणीयाध्याय में सूतिकाल में पाये जाने वाले चौंसठ रोगों का उल्लेख मिलता है। इन रोगों का नाम इस प्रकार के हैं— १. योनिक्षत (Loceration of the perineum and vagins), २. विभिन्न (Rupture), ३. पार्श्वपृष्ठकटिशूल (Pain in the back and Lumbur region), ४. हृच्छूल (Cardiac pain or angina or heart complaints), ५. मूत्रसंग (Retention of urine), ६. योनिशोफ (Vulvitis or vaginitis), ७. योनिप्रसुप्ता ८. योनिवेदना (Vaginal pain), ९. योनिस्राव (Vaginal discharge), १०. विसूचिका (Vomiting and diarrhoe), ११. प्लीहा (Enlargement of spleen), १२. महोदर (Distension of Abdomen or Peritonitis.), १३. शाखावात (Thrombo-Phlebitis of legs), १४. अङ्गमर्द (Pain in the body), १५. भ्रूक्षेपक १६. हनुस्तम्भ (Lock jaw), १७. मन्यास्तम्भ (Spasm of sterno cleido mastoidmuscle), १८. अपतानक (Tetanus), १९. मक्कल विद्रधि (Putrid Endometritis), २०. शोफ (Oedema or Thrombo phlebitis), २१. प्रलाप (Delirium), २२. उन्माद (Insanity), २३. कामला (Jaundice), २४. दौर्बल्य (Debility), २५. भ्रमली (Vertigo), २६. कार्श्य (Emaciation), २७. भोजनद्वेष (Anarexia), २८. अविपाक (Indigestion), २९. ज्वरातिसार (Fever & diarrhoea), ३०. विसर्प (Erisepelas), ३१. वमन (Vomiting), ३२. तृष्णा (Thirst), ३३. प्रवाहिका (Dysentery), ३४. हिक्काश्वास (Hiccough & Breathelessness),

३५. कास (Cough), ३६. पाण्डु (Anaemia), ३७. रक्तगुल्म (Haematoma), ३८. आनाह (Distension), ३९. आध्मान (Tympanitis), ४०. मूत्रग्रह (Suppression of urine), ४१. मलसंग (Constipation) ४२. मुखरोग (Stomatitis), ४३. अक्षिरोग (Diseases of the eye), ४४. प्रतिश्याय (Coryza), ४५. गलग्रह (Throat affectations), ४६. राजयक्ष्मा (T. B.) अर्दित (Facial paralysis), ४७. कम्प (Tremors), ४८. कर्णस्राव (Otorrhoea), ४९. प्रजागर (Insomnia), ५०. उष्णवात (Incontinence of urine), ५१. ग्रहबाधा , ५२. स्तनरोग (Different affection of breast), रोहिणी (Dyptheria), ५३. वातष्ठीला ५४. वातगुल्म (Gaseous Distension of the Intestinal Coils), ५५. रक्तपित्त (Haemorrhagic diseases), ५६. विचर्चिका (Eczyma) प्रभृति रोग सूतिकाकाल में हो सकते हैं।

इस सूची से स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक ग्रन्थों में पठित प्रायः उन सभी रोगों का समावेश हो जाता है जो सूतिकोपसर्ग के लक्षण, चिह्न अथवा उपद्रवरूप में मिलते हैं; साथ ही उन रोगों का वर्णन भी मिल जाता है जो सूतिकोपसर्ग के अतिरिक्त सूतिकाकाल में मिलते हैं।

सूतिकारोग का हेतु—मिथ्याचार तथा अत्यपतर्पण। गर्भावस्था में गर्भ की वृद्धि के लिए गर्भिणी के शरीर के धातु बहुत क्षयित हो जाते हैं, जिससे उनका शरीर शिथिल हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रसवावस्था में प्रवाहण, वेदना, क्लेदन और रक्तनिःस्रुति प्रभृति कारणों से प्रजाता स्त्री का शरीर खाली हो गया रहता है। अत एव इस शून्य शरीर की यथोक्त विधि से चिकित्सा करनी चाहिये।

लक्षण—(अ) प्रजाता स्त्रियोंमें सब से अधिक कष्टप्रद लक्षण ज्वर का होता है। वेगसन्धारण, रूक्षता, व्यायाम, रक्तक्षय, शोक, अधिक देर तक अग्निसेवन कट्वम्ल एवं उष्ण पदार्थों का सेवन, दिवास्वाप, पुरवैया हवा, गुरु एवं अभिष्यन्दी भोजन का सेवन, दूध आगमन, ग्रहबाधा, अजीर्ण और विकृत प्रभृति कारणों से प्रजाता स्त्रियों में ज्वर हो जाया करता है। जिसके हेतु भेद से छः

प्रकार होते हैं। नामतः १. वातिक, २. पैत्तिक, ३ श्लैष्मिक, ४. सान्निपातिक, ५. स्तन्योत्थ, ६. ग्रहोत्थ।

(ब) अंगमर्द, ज्वर, कम्प, पिपासा, शरीर का भारीपन, शोथ, शूल और अतिसार का होना सूतिका रोग के लक्षण हैं। मिथ्योपचार, संक्लेश, विषमभोजन और अजीर्ण में भोजन करने से सूतिका में जो रोग होते हैं वे परम दारुण हैं। सूतिका रोग में ज्वर, अतिसार, शोथ, शूल, आनाह, बलक्षय, तन्द्रा, अरुचि, प्रसेक तथा अन्य कफ और वात से उद्भूत लक्षण मिलते हैं। इन सभी उपद्रव तथा लक्षणों के समुदाय को सूतिका रोग कहते हैं। यदि रुग्णा की मांसबल और अग्निक्षीण हो तो चिकित्सा में यह अवस्था कृच्छ्रसाध्य हो जाती है।

साध्यासाध्य—मिथ्याचार और अत्यपतर्पण के कारण सूतिका में जो व्याधि होती है वह कृच्छ्रसाध्या या असाध्य होती है। इसलिये देशकाल आदि का विचार करते हुए सात्म्य उपायों द्वारा उसकी चिकित्सा करे जिससे उसकी मृत्यु न हो जाय।

चिकित्सा-सूत्र—भौतिक, जीवनीय, बृंहणीय, मधुर और वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग (मालिश), उत्सादन (उबटन), परिषेक (सिंचन), अवगाहन (शरीर का डुबोना) तथा इसी प्रकार के अन्नपानों का भी विधान करना चाहिये क्योंकि प्रसव के बाद सूतिका-शरीर शून्य-सा हो गया रहता है।

(१) देवदारु, वचा, कुष्ठ, पिप्पली, सोंठ, चिरायता, कटफल, मोथा, कुटकी, धनियां, हरड़, गजपिप्पली, छोटी कटेरी, गोखरु, धन्वयास (धमासा) बड़ी कटेरी, अतीस, गिलोय, काकड़ासिंगी, काला जीरा, मिश्री २ तोले, क्वाथार्थ जल ३२ तोले, शेष क्वाथ ४ तोले। इस क्वाथ में ४ रत्ती सेंधा नमक और आधी रत्ती हींग का प्रक्षेप देकर प्रसूता स्त्री को पिलावे। इसके सेवन से शूल, कास, ज्वर, श्वास, मूर्च्छा, कम्प, शिरोवेदना, प्रलाप, तृषा, दाह, तन्द्रा, अतिसार एवं वमन आदि उपद्रवों से युक्त सूतिका रोग नष्टकर होता है। यह क्वाथ वातज, पित्तज एवं कफज सूतिका रोग को नष्ट करता है। यह क्वाथ प्रसूता के लिए परम औषधि है तथा अनुभूत है।

(२) **सूतिकारिरस**—पारद, गन्धक, अभ्रक भस्म, ताम्र भस्म इन्हें समान परिमाण में मिलाकर मण्डूकपर्णी के रस से मर्दन कर आधी रत्ती की गोली बनाकर

छाया में सुखा लें। इसका अनुपान अदरख का रस है। यह रस सूतिका रोग ज्वर, तृष्णा, अरुचि तथा शोथ को नष्ट करता है और अग्नि को प्रदीप्त करता है। यह रस सूतिका रोग के उपद्रव रूप प्रलाप को भी शान्त करता है।

सूतिकाहर रस—लौंग, पारद, गन्धक, यवक्षार, अभ्रक भस्म, लौह भस्म, ताम्र भस्म, सीसक भस्म प्रत्येक एक पल तथा जायफल, केशराज, त्रिफला, भृङ्ग, छोटी इलायची, मोथा, धाय के फूल, इन्द्रजौ, पाढ़ा, काकड़ासिंगी, वेलगिरी, गन्धवाला प्रत्येक दो तोला इन्हें एकत्र प्रसारिणी के रस से मर्दन कर १ रत्ती की वटी बनावे। इसके सेवन से सम्पूर्ण अतिसार, शूल तथा सूतिका रोग नष्ट होता है। यह रस सूतिका रोग में जब शोथ, अतिसार, पाण्डुता आदि उपद्रव हों तब बहुत लाभदायक है तथा अनुभूत है।

इनके अतिरिक्त अनेक क्वाथ अवलेह तथा रसादि का वर्णन किया गया है। जैसे—अमृतादि, दशमूलादि, सहचरादि क्वाथ, भद्रोत्कटाद्यवलेह, वृहत्सौभाग्यशुण्ठी, वृहत्सूतिकावल्लभरस, सूतिकाभरणरस आदि।

आधार तथा प्रमाणसंचय—

अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता।
शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम्॥
मिथ्योपचारात्संक्लेशाद् विषमाजीर्णभोजनात्।
सूतिकायाश्च ये रोगा जायन्ते दारुणास्तु ते॥
ज्वरातिसारशोथाश्च शूलानाहबलक्षयाः।
तन्द्राऽरुचिप्रसेकाद्याः कफवातामयोद्भवाः॥
कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमांसबलाग्नितः।
ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः॥ (मा. नि. सू. रो.)
मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते।
स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात्॥
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिं सात्म्येन कर्मणा।
परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात्॥ (सु. शा. १०)
सर्वेषामेव रोगाणां ज्वरः कष्टतमो मतः।
वेगसन्धारणाद्रौद्याद् व्यायामादत्यसृक्क्षयात्॥
शोकादत्यग्निसंतापात् कट्वम्लोष्णादिसेवनात्।

दिवास्वप्नात् पुरोवाताद् गुर्वभिष्यन्दिभोजनात् ॥
स्तन्यागमाद् महावाघादजीर्णाद्दुष्प्रजायनात् ।
ज्वरः संजायते नार्याः षड्विधो हेतुभेदतः ॥ (का. सं. सू. अ.)

(मा. निदान, सु. शा. १०, च. शा. ८, भै. र. स्त्रीरोगाधिकार, का. सं. सूतिकाध्याय) ।

(Midwifery by Tenteachers)

द्वितीय अध्याय

सूतिकाकालीन अन्य रोग

(Othepuerepral Diseases)

सूतिका में सामान्यतया तीन प्रकार के अन्य रोग मिलते हैं—

१. सूतिकोन्माद अथवा प्रसवोन्माद । २. स्तन रोग ।

३. श्वसनक, विषमज्वर, इन्फ्लुयेञ्जा, गर्भाशय का स्थानभ्रंश प्रभृति उपद्रुत रोग । चिकित्सा सामान्य चिकित्सासूत्रों के अनुरूप ही करनी होती है । इनमें स्तनरोग तथा प्रसवोन्माद सर्वाधिक महत्त्व के हैं । अतएव इस अध्याय में इन्हीं दोनों का वर्णन भी अपेक्षित है ।

प्रसवोन्माद (Childbirth and insanity)

प्रकार—१. उत्साद—विषादयुक्त मनोदोष (Maniac depressive psychoses.)

२. असामयिक मनोह्रास या स्थिरभ्रम मनोदोष (The paranoid schizophrenic psychoses.)

३. विषमयताजन्य मनोदोष (The toxic confusional psychoses.)

इनमें विषमयताजन्य मानसिक विपरिवर्त्तन तो प्रलाप के स्वरूप के होते हैं और किसी भी प्रकार की आंगिक विकृति के कारण हो सकते हैं । विषमयता की न्यूनाधिकता के अनुरूप मानसिक परिवर्त्तन भी न्यूनाधिक हो सकता है । इस अवस्था को वास्तव में उन्माद नहीं कह सकते । वास्तविक उन्माद की दशा तो पूर्वोक्त प्रथम तथा द्वितीय प्रकारों में मिल सकती है। उसके हेतु निम्नलिखित हैं :—

१. **परिस्थितिजन्य परिणाम**—गर्भिणी या प्रसूता की सामाजिक आर्थिक अथवा पारिस्थितिक (Environ mental) कारणों का उसकी मानसिक स्थिति पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि उसके पति, शिशु या गृह की ओर से उसकी मनस्तुष्टि नहीं हो पाई प्रत्युत उनके व्यवहारों से उसकी इच्छा का निरोध होता चला तो उसके मनोभिघात के परिणाम या प्रतिक्रियारूप उन्माद हो सकता है।

२. **गर्भकालीन शारीरिक उपद्रव**—गर्भकाल में गर्भिणी को विभिन्न शारीरिक उपद्रवों के परिणाम स्वरूप मानसिक स्थिति के ऊपर बहुत बल (Strain) पड़ता है इसकी प्रतिक्रिया रूप में उन्माद होने का भय रहता है।

३. **कष्टप्रसव के कारण क्लान्ति या दौर्बल्य**—प्रसवोत्तर रक्तस्राव प्रभृति कारण।

४. **कुलज प्रवृत्ति**।

५. **गर्भाधान या गर्भस्थिति की आन्तरिक अनिच्छा**—अधिक वय की स्त्रियों में प्रथम गर्भ में अधिक यातना हो अथवा अविवाहित अल्पवय की कन्या में गर्भाधानजन्य मानसिक कष्ट तथा लज्जा के परिणामस्वरूप भी प्रसव के बाद उन्माद होते देखा गया है।

६. **युद्ध के युग में**—उन प्रसूताओं में जिनके पति घर पर न होकर विदेश में रहते हैं उन प्रसूताओं में भी मनोभावों और आवेगों के परिणाम स्वरूप उन्माद होते देखा गया है।

७. **सूतिकोपसर्ग**—वास्तव में उपसर्गजन्य उन्माद कम देखने को मिलता है।

८. **रोगी के व्यक्तित्व की विशेषता**—यदि रोगी स्वभाव से ही औदासीन्ययुक्त हो तो उसमें इस रोग के उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है।

९. **मानसिक ग्रन्थि (Conflict)**—प्रसूता की पति या शिशु के प्रति सुप्त विद्रोह के परिणामस्वरूप ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

निदान—उन्माद का भविष्य कथन करने वाले निम्नलिखित लक्षण प्रसूता में सर्वप्रथम उत्पन्न होते हैं—१. अनिद्रा, २. क्लान्ति या औदासीन्य, ३. भोजन करने की अस्वीकृति, ४. पति के प्रति विद्वेष की दबी हुई भावना, ५. शिशु की चाह न रखना। रोगविनिश्चय का कार्य वस्तुतः किसी मानस-शास्त्री (Expert-in psychiatry) का है—वह पूर्ववृत्तों का इतिहास लेकर वर्तमान तथा

परिस्थिति-जन्य वृत्तों का संग्रह करते हुए रोग के कारण के समुचित निर्णय में समर्थ हो सकता है।

शुभाशुभ—रोग की साध्यासाध्यता-कारणों की न्यूनाधिकता, मनोभावों के विकारों के प्रकार, शारीरिक विकार तथा परिस्थितिजन्य प्रभावों के ऊपर निर्भर होती है।

चिकित्सा—१. उन्माद प्रभृति प्रत्येक मानसिक उत्तेजनासम्बन्धी रोगी को उसके परिवार के व्यक्तियों तथा सम्बन्धियों से पृथक् करके रखना चाहिये। क्योंकि उस स्थान में यदि रुग्णा की चिकित्सा की गई और वह स्वस्थ भी हो गई तो उस परिस्थिति तथा वातावरण के प्रति उस में एक स्थायी विद्वेष की भावना जाग्रत हो जाती है। जिसके परिणामस्वरूप स्थान के स्थायीरूप से बदलने की आवश्यकता पड़ सकती है।

२. प्रसव के अनन्तर शिशु को माता से पृथक् करके रख लेना चाहिये और उसके पास किसी भी छोटे बच्चे को नहीं जाने देना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार के उन्माद से पीडित स्त्री में पति, परिचारक और शिशु के प्रति भयंकर विद्वेष की भावना रहती है, जिससे उसमें आत्मघात और परघात की भावना जाग्रत रहती है।

३. रोगी को एक नीचे के फर्श पर स्वतन्त्र और शान्त कमरे में रखना चाहिये और उसकी परिचर्या में तीन व्यक्ति रहें जिनमें दो दिन में और एक रात में सेवा करे। रोगी आत्महत्या न कर ले इस दृष्टि से उसके पास चाकू, छुरी, कैंची, आग, बिजली प्रभृति अन्य साधनों को न रखे।

४. रोगी को सन्तोषजनक पूर्ण पोषण पहुंचाने का प्रयत्न करना चाहिये। उसे तीव्रावस्था में पूर्ण विश्राम करावे। त्वचा और पेट की मलविसर्जन क्रिया को सुचारु रखे। सादा भोजन तथा पर्याप्त मात्रा में दूध पीने को दे। यदि रोगी भोजन न खाये तो उसमें नासा द्वारा पोषण देना चाहिये।

५. निद्रानाश के लिये रोगी को सदैव दिन-रात खुली हवा में रखे। स्नान के लिये १००° फे० तापक्रम वाले जल से आधे घण्टे तक या कुछ अधिक देर तक स्नान करावे। निद्राकर निम्नलिखित ओषधियों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करे—

(१) 'पैरेल्डीहाईड' १—२ ड्राम तक-गुदा द्वारा जैतून का तेल मिलाकर दे। (दिन में एक या दो बार)।

(२) 'ब्रोमाइड्स' (३०-६० ग्रेन की मात्रा में) दिन में दो तीन बार दे।

(३) 'क्लोरल हाइड्रेट' (१५–३० ग्रेन की मात्रा में) दिन में दो तीन बार दें।

(४) 'मेडिनाल' १५ ग्रेन की मात्रा में।

(५) 'ट्रियोनाल' १०–२० ग्रेन की मात्रा में।

(६) यदि उत्तेजना की अवस्था अतितीव्र हो तो अहिफेन $\frac{१}{६}$–$\frac{१}{४}$ ग्रेन तक की मात्रा में या हायसीन हाइड्रोब्रोमाइड $\frac{१}{१००}$–$\frac{१}{५०}$ ग्रेन तक की मात्रा में दें।

६. रोगमुक्तावस्था में दौर्बल्य के लिये कुपीलु, लौह, कुमारी आदि का प्रयोग करे। चुल्लिका ग्रन्थिसत्त्व (Thyroid Extract) का भी प्रयोग किया जा सकता है।

७. यदि यह पहले से ही ज्ञात हो कि रोगी में पूर्व के प्रसवों में भी इसी प्रकार का उन्माद हुआ रहा हो और यदि स्त्री को पहले एक दो संताने जीवित हों तो गर्भकाल में अकाल प्रसव कराके गर्भ का अन्त कर देना उत्तम उपाय है।

८. अधिकांश रोगी सूतिकाकाल के प्रथम पक्ष में ही रोग से पीडित होते हैं। अतः इस काल में रोगी को पूर्ण विश्राम, प्रचुर पोषण, बल्य ओषधियाँ देकर सूतिका के शरीर को स्वस्थ करना चाहिये। उसके शरीर के स्वस्थ हो जाते ही मन भी स्वस्थ हो जाता है और उन्माद नहीं हो पाता।

९. जीवतिक्तियों के प्रयोग विशेषतः उन रोगियों में जिनमें क्लान्ति के चिह्न अधिक व्यक्त हों 'यीस्ट' की गोलियाँ या जीवतिक्ति 'बी' योगों के प्रयोग होने चाहिये। पेशी द्वारा जीवतिक्ति 'बी १' ५० मि० ग्रा० तथा निकोटिनिक एसिड २०० मि० ग्रा० की मात्रा में दे। भूख की कमी होने पर भोजन के दो घण्टे पूर्व मधुसूदनी (Insulin in 5 units dose) का प्रयोग भी उत्तम होता है।

१०. औदासीन्य की अवस्था में विद्युत् चिकित्सा (Electrical Convulsion therapy) की भी व्यवस्था की जा सकती है।

११. आध्यात्मिक चिकित्सा—जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है। यह रोग परिस्थितिजन्य मानसिक प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप होता है। इसलिये त्रासन और सान्त्वना देना भी आवश्यक है। अधिकतर यह रोग विवाहित जीवन के निरानन्द धार्मिक मानसिक ग्रन्थि (Conflicts), पति का विदेश गमन, अनुचित गर्भधारणा प्रभृति कारणों से उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रिया के परिणाम

स्वरूप होता है। अत एव चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि वह इन गुत्थियों को अपने प्रभाव से सुलझावे।

स्तनरोग

स्तनकोप (Engorged Breasts)—तीसरे दिन प्रायः स्तनगत रक्ताधिक्य हो जाता है और दूध का स्राव होने लगता है। यदि बच्चा उस दूध को पूर्णतया रिक्त करने में असमर्थ हो तो स्तन आध्मानयुक्त हो जाते हैं। वे आकार में बढ़ जाते हैं और उनके ऊपर चौड़ी सिरायें फैल जाती हैं, स्तन के ऊपर का चर्म भी लाल हो जाता है, स्पर्श में स्तन कठिन और गाँठदार हो स्पर्शनाक्षम हो जाते हैं। कक्षा में भी गाँठें मिलती हैं। इसमें पीडा अधिक होने से रोगी को निद्रा तक नहीं आ सकती।

चिकित्सा—प्रारम्भिक अवस्था में यदि बच्चा दूध पीने में समर्थ हो जाय और पर्याप्त मात्रा में दूध को रिक्त कर सके तो कोप की अवस्था दूर हो जाती है; परन्तु जब कोप की स्थिति पूर्ण रूप से बन जाती है और दुग्धहारिणी नलिकाओं के ऊपर पीडन होकर दूध का स्राव कठिन हो जाता है तो सक्रिय चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है। सामान्य चिकित्सा में १. स्वेदन चार घण्टे तक कृष्ण चूचुक को छोड़कर पूरे स्तन का करे। २. किंचिदुष्ण तैल का स्तन पर अभ्यङ्ग करके हाथ के तलवे से ऊपर से नीचे चूचुक की ओर को विम्लापन (मालिश) करे (With palms of both hands)। ३. दोहन—'ब्रेस्ट पम्प' की सहायता से स्तन का दोहन सदैव करता रहे। ४. विरेचन दे। ५. दशा के सुधरने पर बच्चे को स्तन पर लगावे।

चूचुक दारण—(Cracked Nipple)—कई बार चूचुक पर दरारें पड़ जाती हैं या व्रण बन जाते हैं। हेतु—१. चूचुक का खुरण्ड आदि से स्वच्छ न रखना, २. चूचुक का चपटे होने पर उसका सम्यक् प्रतीकार न करना, ३. चूचुक को सूखा और निर्जीवाणुक (Aseptic) न रखना, ४. शिशु के अति बुभुक्षित होने से बलपूर्वक खींच कर स्तन का पीना जिससे बच्चे के मसूड़ों से स्तन के ऊपर के स्तर व्रणित हो जाते हैं, ५. बार बार शिशु को स्तन से लगाना, ६. कई बार बच्चे के मुखपाक से स्तन-चुचूक व्रणित हो जाता है।

लक्षण—परिणामस्वरूप माता को पिलाते समय स्पर्शनाक्षमता और पीडा का अनुभव होता है। कई बार स्तनविद्रधि भी हो सकती है। कई बार बच्चा दूध

के साथ स्तन के व्रण से निकला हुआ रक्त भी पी लेता है, जिससे परिवर्तित रक्त का वमन करता है।

चिकित्सा—बच्चे को पिलाने के पूर्व चूचुक को 'लेनीलीन', मक्खन प्रभृति स्निग्ध द्रव्यों से स्निग्ध कर ले। चूचुक को मुंह में लिये हुए बच्चे को छोड़ कर वैसे ही न सो जाय; बल्कि माता को चाहिये कि चूचुक को उसके मुंह से बाहर कर ले फिर सोवे या सुलावे। व्रणित हो जाने पर वहां पर जीवाणुविरोधी द्रव्यों का लेप करे जैसे 'टिंकचर बेञ्जोइन' का। यदि स्तन की पीड़ा अधिक हो तो बच्चे को चौबीस घण्टे तक विकृत स्तन पर न लगावे और उसे 'टिंक्चर बेञ्जोइन से' बन्द करके रखे। स्तन का दोहन आचूषक (Breast pump) या मर्दन क्रिया से कर ले।

औपसर्गिक स्तनशोथ—सूतिकाकाल में कभी भी हो सकता है। रोगी को स्तन में पीड़ा होती और ताप १०५° फे. तक हो जाता है। स्तन रक्ताधिक्ययुक्त, लाल, स्पर्शनाक्षम हो जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप स्तनविद्रधि हो सकती है।

चिकित्सा—१. पेनीसीलीन के पेशी द्वारा प्रयोग, २. स्तन पर बन्धन करना, ३. उष्ण 'कावलिन' (Kaolin) का प्रयोग।

स्तनविद्रधि—चूचुक के दरारों से विकारी जीवाणु का भीतर में प्रवेश हो जाने से स्तनविद्रधि उत्पन्न होती है। प्रारम्भ में तीव्र स्तनशोथ की अवस्था होती है, बाद में पूयोत्पत्ति हो कर विद्रधि बनती है। रोगी का तापक्रम बढ़ता, नाडी की गति तेज हो जाती और कक्षा की ग्रंथियाँ स्पर्शनाक्षम और बढ़ी हुई रहती हैं। उपसर्ग पहुंचाने वाले जीवाणु अधिकतर स्तबक गोलाणु (Staphylococcus) होते हैं।

चिकित्सा—१. बच्चे को दूध पिलाना छुड़ाकर, दूध को कम करने के लिये 'इस्ट्रीन' चिकित्सा आरम्भ करे। २. शस्त्र कर्म की आवश्यकता शीघ्र नहीं पड़ती जब तक कि तरङ्ग-प्रतीति न होने लगे शस्त्र कर्म न करे। पेनीसीलीन का अन्तः प्रयोग पेशी द्वारा करे। विद्रधि के खुल जाने पर शोधन रोपण क्रिया में भी पेनीसीलीन का स्थानिक प्रयोग करे। ३. विद्रधि को बिना खोले पिचकारी से आचूषण (Aspiration) और उसी छिद्र से पेन्सीलीन का अन्तर्भरण भी किया जा सकता है। ४. कई अवस्था में अनेक भेदन करके विद्रधि को खोलना और शोधन-रोपण की व्यवस्था करनी पड़ती है। ५. स्तन्य निरोध (दूध का जलाना) कई अवस्थाओं में विशेषतः

व्रण शोथ एवं विद्रधि की अवस्था में दूध को जला देने की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये तीन उपाय हैं—१. रुग्णा को विरेचन देना, २. द्रव आहार का निषेध करना, ३. 'इस्ट्रोजेन चिकित्सा'-इसके लिये रोगी को १०–१५ मि. ग्राम की मात्रा में 'स्टिल्वेस्ट्राल' पाँच दिनों तक निरन्तर देते हैं जिससे दूध का स्राव बन्द हो जाता है।

दुग्धहारिणी ग्रन्थि (Glactocele)—किसी बड़ी दुग्धहारिणी नलिका के अवरोध से ग्रन्थि बन जाती है। इस स्तनग्रन्थि के भीतर केवल दूध भरा रहता है। सम्भव है—व्रणशोथ के परिणामस्वरूप उनके छिद्र या मुख बन्द हो जाते हों जिससे ग्रन्थि की उत्पत्ति होती हो। इसके परिणामस्वरूप उन ग्रन्थियों में दूध के अतिरिक्त मेद और पूय भी भरा मिलता है। ग्रन्थि के ऊपर का चर्म लाल हो जाता है और तरङ्ग-प्रतीति मिलती है। ग्रन्थि देखने पर विद्रधि जैसे ही प्रतीत होती है। परन्तु पीड़ा का अभाव तथा अन्य शारीरिक चिह्न नहीं मिलते। चिकित्सा में ग्रन्थिका छेदन (Excision) करना होता है।

दुग्धातिसार (Glactorrhoea)—इस अवस्था में चूचुक से निरन्तर दूध का स्राव होने लगता है। यद्यपि बाहर से स्तन की क्रियाधिक्य का कोई भी चिह्न नहीं मिलता तथापि दूध अनवरत बहता चलता है। कई बार एक ही स्तन, रोग से प्रभावित होता है। दूध पानी जैसे पतला और भूरे रङ्ग का होता है और दिन में काफी मात्रा में स्रवित होता है। कारण अज्ञात है।

स्रवित दूध का पोषण की दृष्टि से मूल्य अल्प होता है। बच्चोको दोनों स्तनों का दूध पिलाना बन्द करके कृत्रिम भोजन पर रखना चाहिये। दूध को बन्द करने के लिये ५–१० मि. ग्रा. की मात्रा में 'स्टिल्वेस्ट्राल' का प्रयोग पाँच दिनों तक लगातार करना चाहिये।

स्तन का घातक रक्तार्बुद (Cancer)—जब दूध पिलाने वाली माता को यह रोग हो जाता है तो बड़ी तीव्र गति से बढ़ता है और अत्यन्त घातक होता है। स्तन का आकार बढ़ जाता है, चर्म मोटा हो जाता है—पीड़ा का प्रायः अभाव रहता है। चिकित्सा शल्यकर्मों से होती है।

आयुर्वेद के ग्रन्थों में स्तनगत रोगों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। लिखा है कि स्तन रोग (Inflemmatory Affectation of the breast) अधिकतर प्रजाता एवं गर्भिणी स्त्रियों में ही होता है किन्तु बालिकाओं में नहीं होता।

इसका कारण यह है कि कन्याओं के स्तन के साथ सम्बन्ध रखने वाली धमनियाँ छोटी उम्र की बालिकाओं में सङ्कुचित रहती हैं। इसलिये उनमें दोषों का प्रवेश और प्रसार नहीं हो पाता। उन्हीं के प्रसूता या गर्भवती होने पर दुग्धहारिणी नाड़ियाँ पुनः विस्तृत हो जाती है। इसलिये स्तन के रोग होने लगते हैं।

चिकित्सा में संशोधन से लिये निम्ब क्वाथ से वमन करा के त्रिफला घृत, आरग्वधादि कषाय पिलाना चाहिये। अपक्वावस्था में व्रणशोथवत् स्नेहन, स्वेदन, विम्लापन (Massage) आदि से उपशमन करे। बालक को स्तनपान कराना बन्द कर दे। धात्रीक्षीर का दोहन कर लिया करे। पक्वावस्था में विद्रधिवत् भेदन, शोधन और रोपण करे।

इस अध्याय में दूसरा वर्णन सूतिकोन्माद का आया है। वास्तव में सूतिकोन्माद या प्रसवोन्माद नाम से किसी विशिष्ट रोग का स्वतन्त्र वर्णन आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता। काश्यपसंहिता के सूतिकोपक्रमणीयाध्याय में उन्माद का उपद्रव होना (सूतिकाकाल में) लिखा है। हेतु और सम्प्राप्ति तथा चिकित्सा सामान्य उन्मादके सूत्रों के अनुसार ही है। सम्भवतः इसीलिये इसका स्वतन्त्र वर्णन करना ऋषियों ने अनावश्यक समझा हो।

सामान्य हेतु तथा सम्प्राप्ति—विरुद्ध-दुष्ट तथा अपवित्र भोजन; देवता-ब्राह्मण-गुरु की अवहेलना; मानोभिघात; चौर-राजा तथा शत्रुओं के द्वारा डराया जाना; धन तथा मित्र का नाश; प्रेमी का वियोग प्रभृति कारणों से उत्कट मानसिक विकार उन्मादरूप में प्रकट होता है। इसमें चेतना के आश्रयभूत हृदय दोष से पूर्ण हो जाता है और मनोवह स्रोत विकृत हो जाते हैं।

सामान्य लक्षण—बुद्धिविभ्रम, मन की चञ्चलता, व्याकुल और चञ्चल दृष्टि, धीरज का नष्ट होना, वाणी का संयम न रहना, हृदय का शून्य होना ये सामान्य लक्षण होते हैं। दोषभेद से लक्षणों में विभिन्नता पाई जाती है। भूतोन्मादों में भी देव, असुर, गन्धर्व यक्ष प्रभृति कारणों के अनुसार विविध लक्षण तथा चिह्न मिल सकते हैं।

सामान्य चिकित्सा-आहार—गेहूं की रोटी, चावल, मूंग की दाल, गाय का धारोष्ण या शृत क्षीर, पटोल, कूष्माण्ड, गुलकन्द, घृत, मुनक्का, अंगूर, चौलाई का शाक आदि शीतवीर्य द्रव्य भोजन में दे। पीने के लिये खुरासानी अजवाइन और जटामांसी से शृत जल दे।

विहार—आश्वासन, मित्रों के वचनों द्वारा तसल्ली देना, इष्टनाश की खबर देकर चेतना में लाना, अद्भुत चीजों को दिखलाना, कोड़े से मारना, डाँट देना, बाँध कर निर्जन घर में छोड़ देना, सर्षप तैल की मालिश उत्तान सुलाकर धूप में करना, सर्प आदि से कटाने का भय दिखलाना, शीतल जल से स्नान कराना, सिर पर शतधौत गोघृत की मालिश करना, शिरोरेचन-धूपन-अञ्जन-विरेचन-वस्ति प्रभृति कर्मों से शोधन करके हृदय को शुद्ध करना प्रभृति कर्मों को करना चाहिये।

ओषधियों में ब्राह्मी, वचा, शङ्खपुष्पी, कुष्ठ, मधु, घृत मिश्री, सर्पगन्धा का बहुल प्रयोग करना उत्तम है। सारस्वतारिष्ट का प्रयोग भोजनोत्तर करे। एरण्ड तैल का विरेचन दें। रसौषधियों में उन्मादगजकेशरी का अथवा योगेन्द्र का प्रयोग उत्तम है। घृतों में कई घृतों का पाठ मिलता है उसमें कल्याणघृत का प्रयोग उत्तम होता है।

आधार तथा प्रमाणसञ्चय—

१. धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुलादृष्टिरधीरता च।
अबद्धवाक्यं हृदयञ्च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम्॥ (मा नि.)

२. ब्राह्मीकूष्माण्डषड्ग्रन्थाशङ्खिनीस्वरसाः पृथक्।
मधुकुष्ठयुताः पीताः सर्वोन्मादापहारिणः॥
ब्राह्मीरसः स्यात् सवचः सकुष्ठः सशङ्खपुष्पः ससुवर्णचूर्णः।
उन्मादिनामुन्मदमानसानामपस्मृतेर्भूतहतात्मनां हि॥

३. रोगं स्तनोत्थितमवेक्ष्य भिषग् विदध्याद्, यद्विद्रधावभिहितं बहुशो विधानम्।
सम्पच्यमानमपि तं तु विनोपनाहैः सम्भोजनेन खलु पाचयितुं यतेत॥
शीघ्रं स्तनौ हि मृदुमांसतयोपनद्धः सर्वं प्रकोपमुपयात्यवदीर्यते च।
पक्के च दुग्धहारिणीः परिहृत्य नाडीः कृष्णं च चूचुकयुगं विदधीत शस्त्रम्॥
आमे विदाहिनि तथैव गते च पाकं धात्र्याः स्तनौ सततमेव च निर्दुहीत।

(सु. नि. ११, सु. चि. १८, सु. उ. ६२, मा. नि., यो. र. तथा भै. र.)

(Midwifery–by Tenteachers)

शिशु प्रकरण

प्रथम अध्याय

सद्योजात शिशु की शारीरिक क्रिया तथा परिचर्या

(Physiology & Care of the newborn child)

सद्यो-जात शिशु की शरीर की बनावट, कार्य तथा विकार प्रौढ़ों से कुछ भिन्नता लिये हुए होते हैं। बालक जन्म के बाद ही नये वातावरण में पहुँचता है, जब कि नौ मास तक ऐसे स्थान में रहता है जहाँ का तापक्रम उष्ण रहता है, जहां पर प्रकाश का अभाव और अन्धेरा छाया रहता है, सभी प्रकार के आघातों से दूर रहता है, वहां पर उपसर्ग की भीति नहीं रहती तथा बिना किसी प्रयास के वह जारक (Oxygen) और तरल पदार्थों के द्वारा पोषण माता से वह ग्रहण करता है। जब शिशु गर्भाशय से बाहर आकर नये वातावरण में समययापन करने लगता है तब इस काल को नवजात काल (Neo-Natal phage) कहते हैं।

जब शिशु बाहर आता है तब उसकी शारीरिक क्रिया में भिन्नता होती है। सर्वप्रथम जिस समय वह गर्भाशय से निकलता रहता है, उस समय उसे बहुत से आघातों का सामना करना पड़ता है। इन आघातों के परिणामस्वरूप जो विकृति होती है उसको शरीरक्रियासम्बन्धी अभिघात (Physiological traumatism) के अन्दर लेते हैं। इसके अन्दर उपशीर्ष आदि का ग्रहण किया जाता है। अतएव बालक जिस समय जन्म ले रहा हो, अत्यन्त सावधानी से उसकी परिचर्या करनी चाहिये।

नवजात काल प्रायः चार सप्ताह का माना जाता है या ऐसा कह सकते हैं कि जब तक वह पुनः अपने जन्मकालीन भार (Birthweight) को नहीं प्राप्त कर लेता है उस पूरे काल को नवजात काल कहते हैं। उस काल में शिशु को अचानक इस नये गर्भाशय-बाह्य वातावरण के सम्पर्क में आने से बचाना चाहिये। इस वातावरण से उसे क्रमशः परिचित कराना चाहिये। गर्भाशय के बाहर की परिस्थिति में रखने को क्रमशः सात्म्य कराने का प्रयास करना चाहिये। इस वातावरण को सात्म्य करने में जो समय लग जाता है इसे भी नवजात काल के अन्दर ही समझना चाहिये।

सर्वप्रथम शिशु बाहर आते ही क्रन्दन शुरू करता है, उसी काल में फौफ्फुसिक-क्रिया प्रारम्भ होती है जिससे बालक श्वासोच्छ्वास करने लगता है। शिशु के रक्त-

में प्रांगद्विजारेय (Co_2) तथा जारक (O_2) की स्थिति पर श्वास क्रिया निर्भर रहती है। गर्भाशयान्तःकाल में बालक माता के रस द्वारा जारक (O_2) का ग्रहण करता है। प्रसव के बाद बालक के रक्त गत (O_2) की मात्रा कम हो जाती है और (Co_2) की मात्रा बढ़ जाती है इस प्रांगद्विजारेय की अधिकता का परिणाम यह होता है कि बच्चे का श्वसनकेन्द्र उत्तेजित हो जाता है; जिससे श्वसन कर्म चालू हो जाता है। 'बारक्राफ्ट' (Barcroft) की खोजों के अनुसार श्वसन कर्म नाडी तथा मांसपेशियों की संयुक्त क्रिया (Neuro muscular mechanism) के ऊपर निर्भर करता है। गर्भाशय के अन्दर बालक जब प्रथम तृतीयांश समय व्यतीत कर चुकता है उस समय त्रिधारा नाडी की ऊर्ध्वहन्वस्थि शाखा (Maxillary branch of the trigeminal) विकसित हो जाती है। इसके द्वारा मांसपेशी की संज्ञासंवहन क्रिया प्रारम्भ हो जाती है; लेकिन श्वासनलिका का छिद्र खुला न रहने के कारण फुफ्फुस के अन्दर कुछ भी प्रवेश नहीं कर सकता है। दूसरी बात यह है कि पूर्व मस्तिष्क (Fore-brain) की संज्ञावरोधन क्रिया भी साथ ही साथ चलती रहती है जिससे श्वासक्रिया को पूर्ण उत्तेजना नहीं मिल पाती फलतः बालक गर्भाशय के अन्दर श्वासोच्छ्वास नहीं कर सकता।

सर्वप्रथम जब बालक का मुँह बाहर निकलता है उस समय मुख की नाड़ियाँ (Nerves) शीतलता तथा वायु के सम्पर्क में आती हैं और उत्तेजित हो जाती हैं, साथ ही संज्ञावरोधक केन्द्र प्राणावरोध के कारण दब जाता है। श्वासोच्छ्वास की सहायता करने वाली एक तीसरी घटना भी उपस्थित हो जाती है—शिशु जब प्रथम उच्छ्वास लेता है तो उसके बाद क्रमशः श्वसनसंस्थान, नासिका, कण्ठ, महाप्राचीरा पेशी तथा छाती की गति से नई नई उत्तेजनायें केन्द्र को पुनः पुनः मिलने लगती हैं। अब इस अवस्था में अवरोधक केन्द्र नियामक केन्द्र का काम करने लगता है और केवल श्वास-प्रश्वास आवश्यकता से अधिक न होने लगे इसी कार्य का नियन्त्रण करने लगता है।

यहाँ पर सम्पूर्ण फुफ्फुस का विकास एक बार भी नहीं होता है बल्कि इसके पूर्ण फैलाव या विकास (Expansion) में कई दिन लग जाते हैं।

सद्योजात शिशु का तापक्रम बहुत शीघ्रता से गिरने लगता है—शिशु का गात्र शीतल हो जाता है और उसे शीतलता का अनुभव होने लगता है क्योंकि ताप

नियन्त्रण केन्द्र का कार्य अभी पूर्ण रूप से व्यवस्थित नहीं हुआ रहता है। साथ ही उसकी त्वचा का क्षेत्र भी शरीर के भार के अनुपात में प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक होता है। अतएव बालक के पैदा होने के साथ ही उसको वस्त्र से आच्छादित करके गरम रखने की आवश्यकता पड़ती है और कम से कम एक घण्टे तक उसे गरम रखना चाहिये। यदि बालक का शरीर अधिक कमजोर प्रतीत हो अथवा कष्टप्रसव के बाद बाहर आया हो तो कई घण्टे तक उसको गरमस्थिति में ही रखना चाहिये।

जन्मकाल से ही शिशु का पचन-संस्थान कार्य करने लगता है फलतः वह चूसने और निगलने में समर्थ रहता है। जन्म के बाद तुरन्त ही बालक मलत्याग करता है जो गाढ़े हरे रंग का जीवाणुहीन (Sterile) होता है और गर्भमल कहलाता है। दो-तीन दिनों में मल का वर्ण सर्षप तैल जैसे और गाढता में मलहम सदृश हो जाता है। दिन रात में तीन, चार बार मलत्याग होता है। उसमें मुख और गुदा द्वारा जीवाणुओं की पहुंच भी होने लगती है।

वृक्क की क्रिया गर्भाशय के अन्दर ही गर्भावस्था के अन्तिम मासों में शुरू हो जाती है। बाहर आने पर वह अपनी क्रिया पूर्णरूपेण चालू कर देता है। पहले चौबीस घण्टों में जलांश की मात्रा शिशु-शरीर में कम पहुंचती है। अतः मूत्र अल्पमात्रा में निकलता है और पीला रंग लिये रहता है। पश्चात् इस मूत्र-त्याग की मात्रा प्रथम सप्ताह में क्रमशः बढ़ती चलती है और चौबीस घण्टे के अन्दर शिशु छः से आठ बार तक मूत्रत्याग करता है।

जन्मकाल में शिशु के रक्त में कोषाणु की अधिकता मिलती है जिसमें श्वेत तथा शोणितकायाणु दोनों ही बढ़े रहते हैं और शोणवर्त्तुलि की भी अधिकता रहती है। इस काल में रक्तसंचार पूर्णतया नहीं हो पाता और रक्त में जारक (O_2) की कमी रहती है। जब फौफ्फुसिक श्वसन कर्म भली प्रकार से कार्यक्षम हो जाता है तो रक्तगत कोषाणुओं की संख्या कम होने लगती है, रक्त शुद्ध होने लगता है और तन्तुओं को आवश्यकतानुसार जारक मिलने लगता है। जन्म के बाद रक्तकणों तथा शोणवर्त्तुलि की आवश्यकता कम हो जाती है फलतः कणों का नाश होने लगता है। शोणवर्त्तुलि (Haemoglobin) 'हीमोसाइडोरीन' के रूप में परि-वर्तित होने लगता है जो कि लौहांश की पूर्त्ति करने की कोशिश करता है। रक्त-कणों के नाश के परिणामस्वरूप रक्तपित्ति (Bilirubin) की मात्रा रक्त में

बढ़ती है, जिससे शिशु के जन्म के दो, तीन दिनों बाद उसकी त्वचा पीतवर्ण की हो जाती है। यह नवजात कामला का एक मृदु प्रकार है जो जन्म के प्रथम सप्ताह में मिलता है।

जन्म के समय में बालक की त्वचा उल्व (Vernixcaseosa) से आच्छादित रहती है जिससे त्वचा की तैलीय और स्वेदग्रन्थियों (Sabaceous glads) का उत्पादन होता है। यह पीठ तथा संकोचक भागों पर अधिक लगा रहता है। प्रथम स्नान के समय में ही इसको हटाने का प्रयास किया जाता है उस समय त्वचा कोमल, अतिसुकुमार तथा गुलाबी रंग की दिखलाई पड़ती है। दो-तीन दिनों के अन्दर त्वचा का वर्ण में लाल रंग की हो जाती है उसके ऊपर से अपिस्तर (Epidermis) के पतले खुरण्ड झड़ जाते हैं।

कभी-कभी शिशु के चूचुक से दुग्ध स्राव होते पाया जाता है, उसके स्तन रक्ताधिक्य युक्त मिलते हैं और योनि से रक्तस्राव भी होते दिखलाई पड़ता है। इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है, तत्काल किसी उपचार की भी आवश्यकता नहीं रहती। इस सभी उपद्रवों का कारण माता के कुछ अन्तःस्रावों (Hormones) रक्त के द्वारा बालक के शरीर में आ जाना माना गया है।

दबाव के फलस्वरूप बना हुआ उपशीर्ष चौबीस घण्टे के भीतर सामान्यतया विलीन हो जाता है। इस प्रकार का उपशीर्ष बालक के चूतड़ या जननाङ्गों पर भी (स्फिगुदय में) बन सकता है। मुखोदय में उपशीर्ष धीरे-धीरे विलीन होता है, विशेषतः नेत्रश्लेष्मावरणाधः रक्तस्राव तथा ओष्ठों के रक्तस्रावयुक्त भाग (Petechial heaemorrhages) जो स्वाभाविक आकृति को बिगाड़ से देते हैं; अधिक देर से दूर होते हैं।

करोटि की अस्थियों के रूपण (Moulding) दो तीन दिनों में दूर हो जाते हैं; परन्तु जहाँ पर दबाव अधिक हुआ रहता है, वहां पर कुछ कुछ शिरोरूपण के चिह्न स्थायी रूप से बने रह जाते हैं।

शिशु का नालावशेष (Stump) सातवें से ग्यारहवें दिन तक में उसमें शुष्क कोथ (Dry necrosis) होकर स्वयमेव गिर जाता है।

सद्योजात शिशु का रक्षाविधान (Care of the Newborn child) तथा मातृ-स्तन्यपान (Brest feeding)—

स्वस्थ शिशु को प्रथम कुछ सप्ताहों तक क्षीर–पान और निद्रा में ही व्यतीत करना चाहिये। शिशु को प्रथम दिन से ही नियमानुकूल खाने तथा सोने की आदत डालनी चाहिये।

शिशु को प्रथम चौवीस घण्टे के अन्दर दो या तीन वार दूध पिलाना चाहिये। इससे बालक को चूसने का अभ्यास होता है। इस समय शिशु पीयूष (Colostrum) को लेता है जो पौष्टिक, स्रंसन तथा कुछ जीवतिक्तियों से युक्त होता है। उसके अतिरिक्त यह प्रचूषण स्तन के लिये ओजक रूप में कार्य करता है जिससे स्तन भली प्रकार से दुग्ध उत्पन्न कर सकता है। यदि शिशु माता से आवश्यकतानुसार दूध नहीं प्राप्त कर सकता है तो उसे दूध और पानी मिलाकर देना चाहिये (जैसे १ चम्मच दूध हो तो २ चम्मच पानी)। इसे रूई के फोये के द्वारा शिशु के मुख पर रखकर चूसने को देना चाहिये। जब माता को दूध आने लगे तो वालक को नियमित समय पर दूध पिलाना चाहिये। स्वस्थ शिशु जिसका भार लगभग ३½ सेर है वह प्रत्येक चार घण्टे पर दुग्धपान कर सकता है। उसे दिन में तो प्रति चार घण्टे पर दूध पिलावे; परन्तु रात्रि में विल्कुल नहीं पिलाना चाहिये। दुग्धपान के लिये उचित समय प्रातःकाल ७ बजे, १० बजे, दिन में २ बजे, सन्ध्या में ६ बजे और रात में एक वार १० बजे का है। कमज़ोर तथा अस्वस्थ शिशुओं में प्रत्येक तीन घण्टे पर दिन में तथा रात में एक वार दूध पिलाना चाहिये। स्तन को पिलाते समय वदलते रहना चाहिये और क्रमशः एक के वाद दूसरे का प्रयोग करना चाहिये तथा उसको फटने (Cracking) से वचाने के लिये तत्पर रहना चाहिये। शिशु को दूध पिलाने के पूर्व स्तन को स्वच्छ जल में भिगोकर साफ रुमाल से साफ कर लेना चाहिये और पान कराने के वाद उस पर 'वोरो ग्लिसरीन' का लेप कर लेना चाहिये। शिशु के ओष्ठों को भी इसी समय साफ कर लेना चाहिये, परन्तु पूरे मुखगह्वर के प्रक्षालन की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि मातृस्तन्य स्वयं निर्जीवाणुक (Sterile) रहता है और उससे मुखपाक की सम्भावना नहीं रहती। साथ ही वार वार मुखगह्वर का प्रक्षालन से वहाँ की श्लेष्मलकला के छिलने का भय रहता है जिससे लाभ के वजाय हानि का अन्देशा रहता है।

दूध पिलाने वाली माता के लिये यह वहुत आवश्यक है कि वह दत्तचित्त

होकर दूध पिलावे। उसे दूध पिलाने के पूर्व आधे घण्टे तक विश्राम करना चाहिये। अन्य लोगों के सामने दुग्धपान न कराना चाहिये। दुग्धपान कराते समय माता और शिशु को समुचित स्थिति पर (आसन पर बैठ कर गोद में बच्चे को रख कर) रहना चाहिये ताकि बालक को दूध खींचने में किसी प्रकार की बाधा न हो। स्तन के भीतर जितना दूध हो पूरा पिला देना चाहिये क्योंकि इस क्रिया से नये दूध के बनाने के लिये उत्तेजना मिलती है, दूसरी बात यह होती है कि पहली बार में निगले गये दूध से बाद में आने वाला दूध अधिक पोषणयुक्त (वसायुक्त) होता है। अतः पूर्ण पान कराना चाहिये। एक बार में प्रायः एक ही स्तन पिलाया जाना चाहिये; परन्तु यदि दूध की कमी दीखे तो एक ही बार दोनों स्तनों का बारी-बारी से स्तन्य पिलाया जा सकता है। एक बार में बीस मिनट से अधिक समय तक दूध पिलाने में न बिताना चाहिये। यदि स्तन्यपान के परिमाण में शङ्का हो कि पर्याप्त मात्रा में बालक को दूध मिला या नहीं तो शिशु को स्तनपान के पूर्व और पश्चात् तौल कर लेना चाहिये। इसमें यदि फर्क नजर आवे तो उसके आधार पर निश्चित किया जा सकता है कि उसके लिये पूरक दूध की पुनः आवश्यकता है या नहीं। यदि कमी प्रतीत हो तो उसकी पूर्त्ति करनी चाहिये।

भारमापन या तौल—प्रथम कुछ दिनों में शिशु का भार घट जाता है क्योंकि उसकी त्वचा, वृक्क, फुफ्फुस और आन्त्रों से जलीयांश का नाश होता रहता है; परन्तु नियमानुसार यह कमी सात या दस औंस से अधिक नहीं होती। यदि शिशु के देखने पर कोई विभिन्नता न दिखलाई पड़े और वह भला-चङ्गा प्रतीत हो और भार में आरम्भिक वृद्धि न हो तब भी कोई चिन्ता का विषय नहीं है। तथापि जब शिशु का भार बढ़ने लगता है तो प्रथम कुछ सप्ताहों में वह पाँच से सात औंस तक भार में बढ़ता है। शिशु के इस भार का लेखा (Record) लिखितरूप में जन्म से लेकर पूरे शिशुकाल भर का रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि इसी के आधार कार्याकार्य-सम्बन्धी बातों का विचार करना पड़ता है।

शिशु को प्रथम दिन जल से स्नान कराया जाता है। उसके बाद जब तक उसका नाल पूर्णतया शुष्क होकर गिर न जाय जलावगाहन नहीं कराना चाहिये। उसके अङ्गों का प्रमार्जन जल में भिगोये वस्त्र से करना चाहिये। शिशु के शरीर को

को पोंछते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि नाल में जल का स्पर्श न होने पावे। क्योंकि नाल को शुष्क रखना परम कर्त्तव्य है। प्रमार्जन के बाद नाल पर शुष्क चूर्ण का अवचूर्णन करके पुनः बन्धन कर देना चाहिये, नाल के गिर जाने के बाद भी उस स्थान को तब तक इसी तरह बाँधना चाहिये जब तक कि वह स्थान भर न जाय (रोपण पर्यन्त)।

बालक को उष्ण रखने का महत्त्व पहले ही बतलाया जा चुका है। इसलिये चौथे या पाँचवें दिन यदि वह स्वस्थ हो तो उसके शरीर को वस्त्रावृत करके किसी शुभ दिन को बाहर निकालना चाहिये। धीरे-धीरे उसको खुली हवा में सोने की आदत डालनी चाहिये। प्रारम्भिक सप्ताहों में उसकी आँखों को किसी चमकीले पदार्थ या धूप से बचाने की कोशिश करते रहना चाहिये।

स्तन्यपान कराने वाली माता की परिचर्या—१. भय, क्रोध; चिन्ता प्रभृति मानसिक उद्वेगों से माता को दूर रखे। २. उसकी निर्बाध पूर्ण निद्रा की व्यवस्था करे। ३. भोजनोत्तर मध्याह्नकाल में एक घण्टे का विश्राम करने को दे। ४. भोजन पौष्टिक हो इसके लिये उसे दिन में तीन बार भोजन करने को दे। भोजन हरे शाक, फल, दूध पर्याप्त मात्रा में रहें, जीवतिक्तियों की पहुँच का भी ध्यान रखे। ५. अस्वादु या अरुचिकर पदार्थों से परे धात्री को रखे। ६. पेय में स्तन पिलाने वाली माताओं को जलीयांश प्रचुर मात्रा में देना चाहिये। ७. विबन्ध की अवस्था में रेचन न देकर स्रंसन (Liquid paraffin ½ ounce or liqu. Cascara xv miniums) अमल्तास, मधुयष्टि, द्राक्षा आदि देकर कोष्ठ शुद्धि कर लेनी चाहिये। ८. अभ्यङ्ग और ताजी हवा की भी सुविधा मिलनी चाहिये।

मातृस्तन्यपान का माहात्म्य—प्राचीन काल से माता का दूध बालक के लिये सर्वोत्तम पोषण माना गया है। मातृस्तन्य की प्रशंसा शास्त्र में भूरिशः मिलती है। उसे १. जीवन (Full of vitality), २. बृंहण (Envigorating) ३. सात्म्य (Agreable and assimilable), ४. स्थैर्यकर (Full of steadiness), ५. शीतल (Cooling), ६. स्निग्ध (Rich in fats), ७. चक्षुष्य (Usefull for the eyes), ८. बलवर्द्धक (General tonic and full of energy), ९. लघु (Light), १०. दीपन (Stomachic), ११. पथ्य (Food for invalid), १२. पाचन (Digestive), १३. रोचन

(Taste full) प्रभृति उत्कृष्ट गुणों से युक्त बतलाया गया है। अर्वाचीन वैज्ञानिक ठीक इसी मत के समर्थक हैं। उनका कथन है कि—

१. मातृस्तन्य शिशु के लिये एक प्राकृतिक भोजन है। पूर्णतया सन्तोषजनक कोई भी अन्य द्रव्य नहीं हैं जो इसके अभाव में मातृक्षीर का प्रतिनिधित्व (Substitute) कर सके। प्रकृति अपनी विभिन्न उपजातियों के लिये विशेष विशेष प्रकार का क्षीर तैयार करती है और वे एक दूसरे के स्थान में नहीं बदले जा सकते। उदाहरणार्थ—गाय का दूध उससे उत्पन्न बछड़े के लिये जितना उपयोगी हो सकता है मानव बच्चे के लिये नहीं। यद्यपि गाय के दूध के संगठन में परिवर्त्तन करके उसका सादृश्य गोदुग्ध से किया जा सकता है और मातृस्तन्य के अभाव में दिया भी जा सकता है; परन्तु वह तद्रूप नहीं हो सकता।

२. मातृस्तन्य विकारी जीवाणुओं से रहित होता है और यथोचित तापक्रम पर शिशु को पीने के लिये मिलता है।

३. उचित समय से पहले जन्म लेने वाले बच्चों में केवल स्तन्य-पान ही उनके जीवन-धारण का साधन होता है। उनके अभाव में उनकी मृत्यु हो जाती है।

४. मातृस्तन्य पीने वाले बच्चों में मृत्यु का प्रमाण कम मिलता है। क्योंकि इन बच्चों में माता के दूध से एक प्रकार की रोगनिवारक क्षमता प्राप्त होती है, जिससे वे रोग के लिये कृत्रिम क्षीरपायी बच्चों की अपेक्षा कम रोग ग्रसित होते हैं।

५. मातृस्तन्य शिशु की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्त्तन शील (Modifications) होता है। जैसे पीयूष क्षीर में बदल जाता है और अन्य भी परिवर्त्तन उसके संगठन में होते रहते हैं।

६. गाय की दूध की अपेक्षा नारीक्षीर आसानी से शोषित होता है। उसका प्रोटीन अधिक घुलनशील होता है, मेदविन्दु (Fat globules) शीघ्र घुलनशील है और शीघ्रता से कणशः प्रसरित हो जाते हैं। दधि भी कम एवं मृदु बनती है।

७. मातृस्तन्य, काल और अर्थ (Time and money) दोनों की रक्षा करता है।

८. मातृस्तन्य में प्राङ्गोदीय (Carbohydrates), वसा (Fat) तथा प्रोटीन की उचित मात्रा विद्यमान रहती है।

९. स्तन्यपान शिशु के लिये तो हितकारी है ही, मातृपक्ष में भी वह गर्भाशय के उचित संवरण (Involution) में भी भाग लेता है।

नारीक्षीर का संगठन—मातृस्तन्य का वर्ण यदि अधिक मात्रा में संगृहीत हो तो नीलापन लिये सफेद दिखलाई पड़ता है। चूचुक से तत्काल दूह कर देखा जाय तो किञ्चित् पीलापन लिये होता है। इसकी प्रतिक्रिया हल्की क्षारीय होती है। कुछ निरापद (Hramless) जीवाणुओं की उपस्थिति रहती है। इसमें प्रोटीन शर्करा, लवण, जल तथा उसमें लटकते मेद के वलय (Globules) मिलते हैं। प्रोटीनों में 'लैक्टेलव्युमिन' (दधिशुक्ति) तथा 'कैसिनोजेन (दुग्ध प्रोभूजिन) पाये जाते हैं। शर्करा दुग्धशर्करा (Lactose) के रूप की होती है। लवणों में 'कैल्शियम फास्फेट' 'पोटाश कार्व' 'सोडियम क्लोराइड' तथा 'मैगकार्व' रहते हैं। इसकी उष्ण-वीर्य (Caloric value) २० प्रति औंस की होती है। मेद में 'ओलीन' 'स्टीरिन' और 'पामेटिन' मिलते हैं। नारी-क्षीर के संगठन का पूर्णतया ठीक अंकन नहीं किया जा सकता क्योंकि व्यक्ति, काल और परिस्थिति भेद से उसमें विभिन्नता होती है तथापि एक सामान्य संगठन का निर्देश अधोलिखित तालिका में किया जा रहा है:—

प्रोभूजिन { दुग्ध प्रोभूजिन ०·४% ; दधिशुक्ति १·१% }	१·५ प्रतिशत
मेद	३·५ ,,
शर्करा	६·५ ,,
लवण	०·१ ,,
जल	८८·४ ,,

शिशु की अतिस्तन्यपान से रक्षा—जन्म के अनन्तर प्रथम दो दिनों में प्रकृति की ओर से ही शिशु के भोजन का निषेध रहता है। पुनः उसके वाद पचनशोषण के अनुसार क्रमशः दूध की मात्रा बढ़ाते हुए प्रकृत मात्रा पर आ जाती है। एक वैज्ञानिक विवेचना इस प्रकार की है—प्रथम दो दिनों में कुछ भी न दे, तीसरे दिन ६ औंस, चौथे दिन ९ औंस, पाँचवें दिन १२ औंस, प्रथम सप्ताह के अन्त में १५ औंस, दसवें दिन १८ औंस और क्रमशः बढ़ाते हुए दूसरे सप्ताह के अन्त में पूरे एक पिण्ट तक की मात्रा में पिलाया जा सकता है। अब इसके वाद शिशु के शरीर भार के अनुसार मात्रा भिन्न-भिन्न हो सकती है। प्रति आधे सेर

भार के अनुसार २½ औंस दूध पहुंचना चाहिये। ये मात्रायें चौबीस घण्टे के भीतर की है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार एक शिशु जिसका भार ८ पौण्ड का हो उसको ८ × २½ = २० औंस दूध की मात्रा चौबीस घण्टे अन्दर पहुंचनी चाहिये।

स्तनपायी बच्चों के अतिपोषण या अपोषण (अतिभोजन या अभोजन) का निर्णय विशेषतः उपर्युक्त मात्रा के अनुसार निर्धारण करना बड़ा ही कठिन होता है। इसके निर्धारण के कई सम्भाव्य विधान हैं—१. दूध का दोहन कर के तौलना, २. आचूषक (Breast pump) के द्वारा दूध को निचोड़ कर तौलना और मात्रा का ठीक ज्ञान करना, ३. तथा सन्तुलन या तुला-परीक्षा (Test weighing) अर्थात् बच्चे को दूध पिलाने के पूर्व और पश्चात् तौल कर दोनों के अन्तर से पिये हुए दूध की मात्रा का निर्धारण करना, इनमें तराजू के जरिये मापना अधिक व्यावहारिक है। यदि तुला-परीक्षा से ऐसा जान पड़े कि बच्चा अपने निर्धारित मात्रा से (-अर्थात् प्रथम दो सप्ताहों में १२-१८ औंस; तीसरे सप्ताह में २१ औंस; चौथे सप्ताह में २४ औंस; दो मास की आयुतक २५-२७ औंस और तीसरे मास की आयुतक २७-३० औंस तक) अधिक भोजन ले रहा है तो स्तनपान का काल (Duration of frequency) का नियन्त्रण करना ही पर्याप्त होता है। यदि इसके विपरीत ऐसा जान पड़े कि शिशु का स्तन्यपान (भोजन) अल्प मात्रा में मिल रहा है तो उसे जल्दी-जल्दी स्तन पर लगाना अर्थात् यदि पहले चार-चार घण्टे के अन्तर से पिलाया जाता रहा हो तो अब उसे प्रति तीसरे घण्टे पर पिलाना प्रारम्भ करे। यदि माता में क्षीर की अल्पता प्रतीत हो तो उसे अधिक मात्रा में द्रव देना अथवा स्तन्यजनन विधियों से माता के दूध का परिमाण बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिये। कई बार स्तनों के मर्दन तथा शीत और उष्ण स्वेदों के पर्याय क्रम की व्यवस्था से भी माता में दूध अधिक बनाने लगता है। यदि इन सभी स्तन्यजनन उपायों के बावजूद भी माता के स्तन्य की मात्रा बढ़ती न प्रतीत हो तो उसमें मिश्र विधिसे (स्तन तथा बाहर का दूध) पोषण का क्रम चालू करना चाहिये।

मिश्र-माता के दूध तथा अन्य दूध का पोषण (Mixed)—कुछ लोगों की ऐसी धारणा है कि शिशु को एक ही प्रकार का दूध पिलाना चाहिये। या तो उसे माता का दूध पीने को दे अथवा सिर्फ बाहरी दूध पिलावे। दोनों का पिलाना ठीक

नहीं; परन्तु यह धारणा पूर्णतया भ्रान्त है और आवश्यकतानुसार माता की दूध की कमी होने पर शिशु को बाहरी दूध पिलाया जा सकता है।

मिश्र पोषण को दूसरे शब्दों में सहपोषण (Complimentary feeding) कह सकते हैं। इसका उद्देश्य यह होता है कि यदि शिशु ने आवश्यक परिमाण से कम दुग्धपान किया है तो उसके हिसाब से उसे उसी समय फिर बाहरी दूध पिलाया जाय। उदाहरणार्थ—यदि शिशु को सातवें दिन तक १ औंस दूध स्तनों से मिल रहा है, तो और डेढ़ औंस दूध उसको सहपोषण के रूप में देना चाहिये। इस पोषण की पूर्त्ति जहां तक हो सके स्तन्यपान के द्वारा ही करने की कोशिश करनी चाहिये। सहपोषण काल में मातृस्तन्य को बढ़ाने का भी प्रयत्न करते रहना चाहिये ताकि शिशु अपने प्राकृत भोजन पर ही आ जावे और बाह्य दूध अनावश्यक हो जावे। सहपोषण की यही सफलता है। विफलता के रूप में इसका परिणाम पूर्णतया मातृस्तन्य का बन्द हो जाना पाया जाता है।

इसलिये सह-पोषण में प्रत्येक बार बच्चे को स्तन से पूरा दूध खींच लेने दें। उसके बाद उसकी पूर्ति के लिये ऊपरी दूध पिलावे। ऐसा नहीं करने से बालक की धीरे-धीरे स्तन्यपान से अनिच्छा होती जाती है क्योंकि चूचुक से दूध चूसना उसे कठिन प्रतीत होता है। इस दूध का माधुर्य भी ऊपरी दूध से कम होता है। फलतः बाहरी दूध पीने का इच्छुक हो जाता है और स्तन कम पीना चाहता है। परिणाम मातृस्तन्य की स्राव उत्तेजना के अभाव में बन्द हो जाता है। वास्तव में सह-पोषण का विधान पूर्णतया कृत्रिम पोषण (Artificial feeding) से अथवा पूरक पोषण (Supplementary feeding) से भी श्रेष्ठ है।

पूरक पोषण (Supplementary feeding) में शिशु कभी-कभी स्तनपान के स्थान पर बाहरी पोषक पदार्थ लेता है। यह वास्तव में उस समय के लिये उपयोगी है जब बालक कुछ बड़ा हो चुका हो, माता का दूध कम हो रहा हो अथवा उसे क्रमशः मातृ-स्तन्य को बन्द करने की आवश्यकता हो।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इस विषय का (Care of newborn-child) विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। नवजात संगोपन नामक शीर्षक में सद्योजात शिशु की परिचर्या का वर्णन किया जा चुका है। अतः उसकी जानकारी के लिये प्रसव की द्वितीयावस्था के उपक्रमों को (अध्याय ४ बालोपचार) देखें। यहाँ पर

जिज्ञासुओं की जानकारी के लिये स्तन्यपान का माहात्म्य, स्तन्यनाश के हेतु तथा स्तन्याभाव में प्रतिनिधिरूप से प्रयुक्त होने वाले शिशुओं के पोषण की चर्चा की जा रही है। स्तन्यपालन (Breast feeding) को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

स्त्रीस्तन्य की विशेषता—यह शीत वीर्य, लघु, मधुररस एवं कषायानुरस युक्त द्रव्य है, जो वात-पित्त-रक्त तथा अभिघातजन्य रोगों (Traumatic diseases)को दूर करता है। इसका प्रयोग रक्त-पित्त में नस्य के द्वारा और चक्षुरोगों में आश्च्योतन के द्वारा भी किया जाता है। यह गुणों की दृष्टि से जीवन-बृंहण-सात्म्य-स्थैर्यकर-शीतल-स्निग्ध-चक्षुष्य-वलवर्द्धक-लघु-दीपन-पाचन तथा रोचक होता है। इसका सेवन कच्चा ही करना होता है। इसीलिये यह शिशुओं के लिये सर्वोत्तम पोषण होता है।

स्तन्यनाश के हेतु—क्रोध, शोक तथा अवात्सल्य (शिशु के प्रति माता का अनुराग न होना) के कारण स्तन्य का नाश होता है। रुक्ष अन्नपान, लङ्घन (उपवास), अपतर्पण तथा अन्य गर्भधारणा के कारण भी माता का दूध अल्प या नष्ट हो जाता है।

स्तन्याभाव में अभाव द्रव्य (Substitute)—मातृ-क्षीर के अभाव में वच्चे को गाय या वकरी का दूध देना चाहिये। क्योंकि वे लगभग उन्हीं गुणों से युक्त होते हैं—जिनसे माता का दुग्ध युक्त होता है। इसके लिये उनमें से साढ़ी की मात्रा कम करके जल मिश्रित करके पिलावे जिससे वे मातृ-क्षीर के गुणों से पूर्णतया संयुक्त हो जावें।

स्तनपायन (पिलाने की विधि)—माता को चाहिये कि वह वैठ कर वालक को गोद में लेकर अपने स्तनों का प्रक्षालन करके किञ्चिन्मात्र चूचुक से दूध निकाल कर निम्नलिखित मंत्र से अभिमन्त्रण करके वालक को दूध पिलाना प्रारम्भ करे। थोड़ा-सा चुवा कर (विना धार फाड़े) दूध पिलाने का प्रभाव वालक पर वुरा पड़ता है। वालक जव अतिस्तन्य और दूध से भरे स्तन को मुंह में लेता है तो उसे खांसी आती, सांस फूलने लगती और वमन होने लगता है।

स्तन्यपायन का निषेध—यदि प्रसूता क्षुधित, शोकार्त्त, श्रान्त (थकी हुई), धातुओं की विकृति से युक्त, ज्वरयुक्त, अतिक्षीण, अतिस्थूल, विदग्ध भोजन की हुई, विरुद्धाहार के सेवन की हुई, ज्वरित, सदा रोगी रहने वाली या अजीर्ण में

ही पुनः भोजन कर लिये हो तो उसे बालक को अपना दूध नहीं पिलाना चाहिये।

इसके अतिरिक्त यदि धात्री या माता बहुत ऊँची, बहुत छोटी कद की बहुत मोटी अथवा अत्यन्त कृश हो तो उसे भी शिशु को स्तन्य नहीं पिलाना चाहिये। माता या धात्री छोटे कामों में लगी हो, दुःखार्त्त हो अथवा चञ्चल हो तो उस काल में उसे दूध का पिलाना बालक के लिये हानिप्रद और रोगोत्पादक हो सकता है।

क्षीरजनन (दूध के उत्पादक) उपाय—क्षीरोत्पादन के लिये सूतिका के मन को प्रसन्न रखना चाहिये। उसे पथ्य में जौ, गेहूँ, शालि एवं षष्टिक का चावल, मांसरस, सौवीरक, पिण्याक (तिल की खाली), लहसुन, मछली, कशेरुक, सिंघाडा, बिस, विदारीकन्द, मुलैठी, शतावर, नलिका (नाडीशाक), लौकी, कालशाक देने चाहिये।

सीधु के अतिरिक्त सभी मद्य; गाम्य-आनूप-औदक (जलीय) सभी शाक, अन्न और मांस, द्रव-मधुर-अम्ल और लवण रस से युक्त आहार, क्षीरिणी वनस्पतियाँ, दूध का पीना, जल का अधिक सेवन, परिश्रम की कमी (विश्राम) ये सभी बातें क्षीरोत्पादक होती हैं। वीरण, षष्टिक, शालिक, ईक्षुवालिका, कुश, काश, दर्भ, गुन्द्रा, इत्कट, मूलक प्रभृति द्रव्यों के कषायों का सेवन करना भी स्तन्यजनन होता है।

हरिद्रादि, वचादि और काकोल्यादि गण की ओषधियां तथा वज्रकांजिक का पीना परम स्तन्यवर्धक होता है।

शुद्ध स्तन्य के लक्षण—जिस दूध के पीने से शिशु नीरोग रहते हुए सुख पूर्वक बढ़ता है और उसके बल-शरीर तथा आयु को किसी प्रकार की हानि नहीं होती है—शिशु तथा माता में किसी को भी कोई विकार नहीं हो लाक्षणिक दृष्ट्या वही शुद्ध क्षीर है।

शुद्ध क्षीर शीतल, अमल और वर्ण में शंख के सदृश होता है। पानी में छोड़े जाने पर वह मिलकर एकीभाव को प्राप्त करता है। उसमें फेन नहीं उठता, तन्तु नहीं बनते, न पानी के ऊपर तैरता और न तले में ही बैठता है। यह शुद्ध नारीक्षीर का लक्षण है—इसके पीने से कुमार के शरीर की वृद्धि होती है—वह नीरोग रहता है उसकी बल की वृद्धि होती है।

नारीक्षीरवैशिष्ट्यम्

आधार तथा प्रमाणसञ्चय—

(१) जीवनं बृंहणं सात्म्यं स्नेहनं मानुषं पयः ।
नावनं रक्तपित्ते च तर्पणं चाक्षिशूलनुत् ॥ (च०. सू. २७)

(२) नार्यास्तु मधुरं स्तन्यं काषायानुरसं गुरु ।
स्निग्धं स्थैर्यकरं शीतं चक्षुष्यं बलवर्द्धनम् ॥
पावनं रोचनञ्च तत् । (सु. सू. ४५) राजनिघण्टु–क्षीरादिवर्ग ।

(३) मानुषं वातपित्तसृगभिघाताक्षिरोगजित् । (अ. हृ. सू. ५)

(४) नार्या लघुपयः शीतं दीपनं वातपित्तजित् ।
चक्षुःशूलाभिघातघ्नं नस्याश्च्योतनयोर्हितम् ॥ (भा.प्र. दुग्धवर्ग)

स्तन्यनाशस्य हेतवः—अवात्सल्याद् भयाच्छोकात् क्रोधादत्यपतर्पणात् ।

(१) स्त्रीणां स्तन्यं भवेत् स्वल्पं गर्भान्तरविधारणात् । (भा. प्र.)

(२) रुक्षान्नपानक्रोधशोकादिभिः स्तन्यनाशः । (अ. हृ. उ. १)

स्तन्याभावे—स्त्रिया स्तन्यमाममेव हि तद्धितम् ।
स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत् ॥

स्तन्यपायनविधिः—शोकाकुला क्षुधार्त्ता च श्रान्ता व्याधिमती सदा ।
गर्भिणी ज्वरिणी पथ्यवर्जिताजीर्णभोजिनी ॥
अत्युच्चा नितरां नीचा स्थूलातीव भृशं कृशा ।
आसक्ता क्षुद्रकार्येषु दुःखार्त्ता चञ्चलापि च ।
एतासां स्तन्यपानेन शिशुर्भवति सामयः । भावमिश्र ।
(सु. शा. १० ।)

स्तन्यपायनमन्त्रः—चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिणः ।
भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये ॥
पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने ! ।
दीर्घमायुरवाप्नोतु देवा प्राश्यामृतं यथा ॥

शुद्धक्षीरलक्षणम्—अव्याहतबलाङ्गायुररोगो वर्द्धते सुखम् ।
शिशुधात्र्योरनापत्तिः शुद्धक्षीरस्य लक्षणम् ॥ (का. सू. १९)

(Midwifery by Tenteachers & Johnstone)

—०—

द्वितीय अध्याय

कृत्रिम भोजन या पोषण या पालन

(Artificial feeding)

स्तन्यपान-निषेध (Weaning)—

निम्नलिखित अवस्थाओं में कृत्रिम पोषण की आवश्यकता शिशुओं में होती है।

शिशुगत हेतु		मातृगत हेतु	
स्थानिक	सार्वदैहिक	स्थानिक	सार्वदैहिक
१. मुखपाक २. रसनासङ्ग (Tongue tie) ३. तालु का असंयोजन या विदार (Cleft palate) ४. छर्दि—स्थानिक आध्मान, शोथ अथवा स्तम्भ (Spasm) के कारण ५. ग्रहणी द्वारसन्निरोध (Pyloric stenosis)	१. अपूर्णकाल प्रसव २. दौर्बल्य ३. दुःस्वास्थ्य ४. मातृस्तन्य पीने में अरुचि ५. छर्दि ६. अतिसार ७. विबन्ध (कोष्ठबद्धता)	१. स्तनकोप २. स्तनशोथ ३. स्तनगत व्रण या विदार ४. अपूर्ण दुग्ध-स्राव या स्तन्याभाव	१. प्रसवकालीन गम्भीर उपद्रव जैसे रक्तस्राव, सूतिकोपसर्ग आपेक्षक आदि २. सूतिकाकालीन तीव्र रोग ३. जीर्णकालीन दुःस्वास्थ्यकर रोग पाण्डु, हृद्रोग, वृक्करोग ४. पुनर्गर्भस्थिति ५. सूतिकोन्माद ६. राजयक्ष्मा ७. मानसिक विकृति स्तनपान कराने की अप्रवृत्ति, अज्ञान अथवा आतुरता ८. चाञ्चल्य

वालक के पालन-पोषण का विषय कौमार-भृत्य से सम्बद्ध है। यहाँ पर कृत्रिम-पालन की विधियों का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया जायेगा।-मातृ-स्तन्य का सर्वोत्तम प्रतिनिधि द्रव्य गाय का दूध है। यह तीन रूपों में मिलता है—१. ताजा या द्रवरूप, २. घनीकृत (Condensed), ३. तथा शुष्क या चूर्ण (Dried) के रूप में। ताजे गोदुग्ध में प्रायः वही घटक पाये जाते हैं जो माता के दूध में मिलते हैं; परन्तु उनमें मात्रा की भिन्नता होती है जैसा कि निम्न कोष्ठक से स्पष्ट है :—

नारीस्तन्य		प्रतिशत	गोक्षीर		प्रतिशत
प्रोभूजिन	केसिनोजेन . ४% दधिशुक्ति १·१%	१·५	प्रोभूजिन	केसिनोजेन ३% दधिशुक्ति . ७५%	३·७५
मेद		३·५	मेद		३·५०
शर्करा		६·५	शर्करा		४·२५
लवण		०·१	लवण		०·५०
जल		लगभग ८८·४	जल		८८·००

इसके अतिरिक्त प्राकृतिक विभेद भी माता और गाय के दूध में मिलता है। जैसे—१. गाय का दूध प्रतिक्रिया में अम्ल होता है और जीवाणुओं से भरपूर रहता है। इसके विपरीत मातृ-स्तन्य क्षारीय प्रतिक्रिया वाला तथा अपेक्षाकृत जीवाणु-रहित होता है। गाय के दूध को मातृरूप में वदलने के लिये निम्न उपाय हैं—(१) जल मिला कर पतला करना, (२) दधि निर्माण का रूप (Formation of Curd) वदलना।

द्रव दुग्ध से पोषण

१. **तन्वीकरण** (Dilution)—गोदुग्ध में स्त्री-दुग्ध की अपेक्षा प्रोभूजिन अधिक रहता है; परन्तु स्त्रीदुग्ध में स्नेह की मात्रा लगभग ६ प्रतिशत होती है। जब कि गोदुग्ध में ४ प्रतिशत पाई जाती है। यही प्रतिशत अनुपात शर्करा के सम्बन्ध में भी लागू होता है। अतः यदि शिशु को स्त्रीदुग्ध के स्थान पर गोदुग्ध देना हो उसे मानवीय क्षीर (Humanized milk) वनाने के लिये सबसे सरल उपाय उसमें उवाला हुआ जल मिला कर उसको तनु या पतला करना है। इसके लिये समान मात्रा में जल मिला लेते हैं। समान मात्रा में जल मिलाने का परिणाम यह होता है कि गोदुग्ध में पाई जाने वाली दुगुनी प्रोभूजिन की मात्रा

स्त्रीदुग्ध के बराबर हो जाती है। साथ ही यह भी देखना होता है कि गोदुग्ध को पानी मिला कर हल्का करने से उसकी वसा और शर्करा की मात्रा भी लगभग २% कम हो जाती है। इस कमी की पूर्ति के लिये अब उसमें नवनीत (Cream) और शर्करा मिलाना भी आवश्यक हो जाता है। शर्करा के लिये दधिशर्करा (Lactose) मिलना उत्तम है। २. दधिनिर्माण का रूपान्तर करना (Altering the formation of curd), यह क्रिया गर्म जल के अतिरिक्त किसी दूसरे तनुकारक पदार्थ (Diluents) को मिलाकर या 'सोडियम साइट्रेट' का प्रयोग करके की जाती है। तनुकारक पदार्थों में जौ-यूष का बहुल प्रयोग होता है।

'साइट्रेटेड' क्षीर—दूध को 'साइट्रेट' युक्त करने के लिये १ औंस (½ छटाँक) दूध में १ ग्रेन (½ रत्ती) की मात्रा में 'सोडियम साइट्रेट' मिलाना होता है। जौ-यूष (बार्लीवाटर) बनाने के लिये तैयार की हुई जौ के यूष का एक चाय की चम्मच भर की मात्रा लेकर उसमें ठंडा जल मिलाकर एक पतला लेप (Paste) सा बना लेते हैं। फिर इस लेप में ½ पिण्ट (५ छटाँक) की मात्रा में उबाला हुआ जल मिलाते हैं फिर इस मिश्रण को उबालते हैं और पाँच मिनट तक हिलाते रहते हैं। दूध में इस प्रकार का जौ का यूष मिलाकर बच्चों के लिये कई बार देने से हितकर होता है; जिससे जिस बालक को दूध हजम नहीं होता रहा अब हजम होने लगता है। इस क्रिया में दधि अधिक ठोस बनती है। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जौ-यूष अन्न (स्टार्ची) पदार्थ है। इसलिये जिन शिशुओं को कोष्ठ-बद्धता की प्रवृत्ति रहती है, उनमें तो यह लाभप्रद होता है। क्योंकि जौ के अपचित कणों का उनके आन्त्रों पर क्षोभ का प्रभाव पड़ता है और आन्त्र के क्षुब्ध होने से उनका पेट साफ हो जाया करता है। परन्तु इसके विपरीत कई बच्चों में इन अन्नकणों के कारण अतिसार होने लगता है। इसलिये सावधानीपूर्वक जौ-यूष का प्रयोग करना चाहिये।

स्वाभाविक भार के एक स्वस्थ शिशु के लिये जिसकी आयु एक मास तक की हो निम्नलिखित पोषण उत्तम है :—

मानवीकृत क्षीर (Humanized milk)

बालोपयोगी दूध (Top)	९ औंस (४½ छटाँक)
उबाला हुआ जल	११ औंस (५½ छटाँक)

दुग्ध शर्करा (Sugar of milk) २ बड़े चम्मच भर (Table spoon) मिलाकर उबालें (Pasturize) और शीघ्रता से ठंडा करें।

छेने (Whey) के पानी के साथ मानवीकृत क्षीर

उबाला हुआ पूरा दूध	९ औंस (४½ छटाँक)
वसा (Fat emulsion) ५०%	६ चम्मच (Tea spoon)
छेने का पानी (Whey)	१० चम्मच (Tea spoon)।
उबाला हुआ जल	११ चम्मच (छोटी Tea spoon)।
दुग्धशर्करा	२ बड़ी चम्मच भर।

इसमें छेने के पानी को १५५° फे० डी० उबाल लेना चाहिये ताकि उसका 'रेनिन' नष्ट हो जाय अन्यथा दूध के फटने का भय रहता है।

शिशु के जन्म के बाद प्रथम दो दिन कुछ भी नहीं देना चाहिये। केवल उबाला हुआ जल या २½% का दुग्धशर्करा (Lactose) का शर्वत प्यास बुझाने के लिये देना चाहिये। तीसरे दिन मानवीकृत क्षीर का ½ छटाँक बराबर मात्रा में उबाला हुआ जल मिलाकर देना चाहिये। चौथे दिन ¾ छटाँक (१½ औंस) मानवीकृत क्षीर को उसी प्रकार पतला करके दें। सप्ताह के अन्त में बच्चे को बिना तनु किये ही मानवीकृत क्षीर पिलाना शुरू कर देना चाहिये।

गरीब परिवारों में सबसे कम खर्चीला, सस्ता और बढ़िया उपाय बच्चों के पोषण के लिये दूध और जल को सम परिमाण में मिलाकर देना है। दूध और पानी दोनों को उबाल लें और उन्हें मिलाकर उसमें सामान्य शर्करा (चीनी), २ छटाँक दूध में १ छोटी चम्मच भर मिलाकर देना चाहिये। इस दूध के उबालने का विधान यह है कि दूध + पानी + चीनी मिलाकर उसे आग पर चढ़ा दें; जब उबाल आवे तो उसे उतार कर तत्काल शीतल करने के लिये ठंडे जल से भरे किसी बर्तन में गर्म दूध वाले बर्तन को रखे। फिर इस दूध में प्रति २½ छटाँक पर १ चम्मच (छोटी) काडमछली के यकृत् का तैल भी डाल देना उत्तम होता है। बच्चों को पानी विशेषतः ग्रीष्म ऋतु में बीच-बीच में पिलाते रहना चाहिये।

मानवीकृत क्षीर में दोष—(१) प्रोभूजिन नारी-क्षीर में दधिशुक्ति (Lactalbunain) को अधिक मात्रा में मिलती है; परन्तु गोक्षीर में दधिशुक्ति अत्यल्प और 'केसिनोजेन' अतिशय मात्रा में होता है। जब दूध को और तनु

कर देते हैं तो शिशु के उपयोग की दधि-शुक्ति और भी कम हो जाती है; जिससे बच्चे में पोषण को अत्युपयोगी प्रोभूजिन की मात्रा कम हो जाती है। इसीलिये प्रयोगों में यह देखा गया है कि बहुधा बिना तनु बनाये दूध से भी कोई विशेष हानि नहीं होती और बालक अपना काम चला लेता है।

(२) जीवतिक्ति और लवण ये दोनों शिशु जीवन के लिये अत्युपयोगी होते हुए भी तन्वीकरण (Dilution) की क्रिया से शिशु में कम मात्रा में पहुंचते हैं।

(३) शर्करा—दुग्धशर्करा के स्थान पर सामान्य इक्षुशर्करा (चीनी) से भी काम चल सकता है; परन्तु शर्करा के किण्वीकृत (Fermented) होने पर अकिण्वीय शर्करा (Non-fermentable) शर्करा जैसे द्राक्षायवशर्करा (Dextri maltose) का प्रयोग करना चाहिये। किण्वीकरण की स्थिति में शिशुओं का मल ढीला होने लगता और उसकी प्रतिक्रिया अम्ल हो जाती है। इस अवस्था में 'ग्लुकोज' का प्रयोग शिशुओं में नहीं करना चाहिये।

(४) स्नेह—गो-स्नेह का पाचन शिशुओं के लिये अतिदुस्तर होता है। अतः अतिसार होने की सम्भावना रहती है। इसलिये नवनीत (Cream) का प्रयोग कई बार हितकर नहीं होता।

दोषों का परिमार्जन—उपर्युक्त दोषों का विचार करते हुए यह निष्कर्ष निकलता है—

(१) जहां तक हो सके गोदुग्ध की मात्रा बढ़ाई जावे ताकि दधिशुक्ति, खनिज और जीवद्रव्य शिशु को पर्याप्त मात्रा में मिल सके।

(२) साधारण इक्षुशर्करा का प्रयोग किया जावे। यदि बालक में विबन्ध ज्ञात हो तो उसकी मात्रा बढ़ाकर दी जाय और पतले दस्त होने लगें तो मात्रा घटा दी जाय।

(३) स्नेहांश का अतिरिक्त योग न किया जाय।

इस दृष्टि से वास्तविक मानवीकृत क्षीर का स्वरूप विभिन्न आयु के बालकों के लिये विभिन्न होगा। जैसे—

आयु	गोदुग्ध	जल	शर्करा	काडलिवर तैल
१० दिन	४ तोले	४ तोले	१½ चम्मच	½ चम्मच (छोटी) प्रतिदिन
१७ „	१ छटाँक	४ „	„	¼ „ „ „
१ मास	१¼ „	४ „	„	„ „ „
१॥–२ मास	१½ „	४ „	„	„ „ „

गोदुग्ध का मिश्रण शिशु के स्वास्थ्य का ध्यान रखकर देना चाहिये। यदि शिशु बराबर भार में बढ़ रहा है, मलत्याग ठीक कर रहा है, उसका स्वास्थ्य सुधार की ओर हो तो दुग्ध मिश्रण इसी प्रकार चलता रहे अन्यथा परिवर्त्तन अपेक्षणीय है।

जब शिशु की अवस्था तीन मास या उससे ऊपर की हो जाती है तो उसे छः बार दूध न देकर चार बार ही दूध देना पर्याप्त होता है। उस समय उसे कुछ और तीव्र दुग्ध का मिश्रण देना चाहिये। जैसे—

आयु	गोदुग्ध	जल	शर्करा	काडलिवर तैल
४ मास	२¼ छटाँक	४ तोला	२ चम्मच	१ चम्मच प्रतिदिन
८ मास	३॥–४ „	„	२–३ „	„ „

परिशुष्क अथवा शुष्कीकृत क्षीर (Dried milk)—दुग्ध को शुष्क करने की निम्न विधियाँ प्रचलित हैं–१. दुग्ध को संतप्त 'रौलर्स' (Heated rollers) पर छोड कर रवड़ी बनाना और फिर उसे खुरच कर एकत्र कर लेना। २. किसी अतितप्त कोष्ठ (Chamber) में दुग्ध की बौछारें करना जिससे नीचे पहुंचते-पहुँचते उसका समस्त जलांश नष्ट होकर वह चूर्ण के रूप में कोष्ठतल में एकत्र हो जाता है। इन दोनों विधियों में से कोष्ठ का स्नेहांश पृथक् नहीं होता, जब 'रोलर' वाली विधि में सूखे हुए खुरचन को जल में मिलाते समय उसका स्नेहांश पृथक् हो जाता है।

शुष्कीकृत दुग्ध के लाभ—१. साधारण दूध की अपेक्षा इसे पूर्णतया जीवाणुविरहित (Sterile) रखा जा सकता है।

२. यात्राओं में जहां सद्यःप्राप्त दुग्ध की प्राप्ति सम्भव नहीं होती वहां पर भी यह शिशु की प्राण रक्षा कर सकता है।

३. घर-गृहस्थी में किसी व्यक्ति के उपसर्ग से पीडित होने पर उसके उपसर्ग से गाय आदि के दूध के संक्रमित होने का भय रहता है; परन्तु यह स्थिति परिशुष्क

दुग्ध की नहीं होती है। अर्थात् वहां पर जीवाणुओं का प्रवेश आसानी से हो सकता है। लेकिन शुष्कीकृत दूध में उनके प्रवेश की आशङ्का नहीं रहती।

परिशुष्क दूध में सबसे बड़ा दोष यह होता है कि इसमें जीवतिक्ति विशेषतः जीवतिक्ति 'सी' की कमी पड़ जाती है। अतः उसकी पूर्त्ति के लिये उसे अलग से सन्तरे, नीबू, नारंगी या टमाटर के स्वरस के रूप में देने की आवश्यकता पड़ती है।

दो प्रकार के शुष्कीकृत दूध आजकल मिलते हैं—

१. सनवनीत शुष्कीकृत या शुष्कीकृत समग्र क्षीर (Full cream dried or dried whole milk)

२. संस्कृत मानवीकृत परिशुष्क क्षीर (Dried modified humanized milk.)

शुष्कीकृत समग्र क्षीर—इस प्रकार के सूखे दूध में दूध के सभी घटक, स्नेहादि रह जाते हैं। इस प्रकार के सर्वघटक सम्पन्न या सस्नेह परिशुष्क दूध कई एक व्यवसायियों के बनाये हुए विविध नामों से बाजार में मिलते हैं। इनकी एक तुलनात्मक सूची नीचे में दी जा रही है:—

दुग्ध प्रकार	दुग्ध में प्राप्त होने वाले घटकों के विश्लेषण			विवरण
	प्रोभूजिन	स्नेह	प्राङ्गोदीय	
१. एम्ब्रीयोशिया (फुलक्रीम)	३·३	३·५	४·६	१ ड्राम चूर्ण में १ औंस (२½ तोला)
२. काऊ एण्ड गेट ,,	३·३	३·४	४·७	जल डाले।
३. डार्सेला ,,	३·१	३·४	४·८	हर पिण्ट में १६५
४. ग्लैक्सो ,,	३·१	३·३	४·८	यूनिट जीवतिक्ति डी मिलता है।
५. ओस्टर मिल्क नं० २	३·१	३·३	४·८	नं० २ में जीवतिक्ति
६. लैक्टा नं० १	३·४	३·२	४·६	डी के साथ लौह
७. ट्रूफुड (फुलक्रीम)	३·९	३·६	५·४	भी मिलता है।

संस्कृत मानवीकृत परिशुष्क दूध

इसमें शर्करा मिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसमें स्नेहांश की कमी होती है। इसलिये शिशुओं के लिये विशेषतः लाभप्रद है। जब भी शिशु को डब्बे वाले दूध पर रखना हो तो उसे पहले तीन मासों में इसी प्रकार के दूध पर बिताना

चाहिये, पश्चात् सर्वघटक सम्पन्न दूध का प्रयोग किया जा सकता है। मानवीकृत दुग्ध का मान १६ से १८ तक है।

घनीकृत (Condensed milk)

वायुविरहित स्थान में शुद्ध दूध को इतना औटाते हैं कि उसका जलीयांश उड़ जाय उस, आयतन घट का ⅓ हो जाय अर्थात् वह घना हो जाय। बाजार में यह मधुर (Sweetened) तथा अमधुर (Unsweatened) दो प्रकार का मिलता है। इसमें मधुर या शर्करायुक्त मीठे प्रकार के द्रव दूध बनाने के लिये १ भाग जमाते हैं और दूध में ८ भाग जल मिलाते हैं—इस प्रकार के मिलावट से दुग्धस्थ प्राङ्गोदीयों की मात्रा माता के दूध के समान हो जाती है; परन्तु प्रोटीन और स्नेहांशों की मात्रा कम हो जाती है। अमधुर घनीकृत दूध एक विशुद्ध दूध होता है। इसे चौगुने उबाले हुए जल में मिलाकर पतला करना होता है। साथ ही १½ छटाँक (२ औंस) के मिश्रण में १ छोटी चम्मच भर दुग्धशर्करा और दो चम्मच भर नवनीत (Cream) मिलाना चाहिये। सुकुमार अल्पायु के शिशुओं को इस दूध से विधिवत् पोषण पहुंचाया जा सकता है और ऐसे ही अप्रगल्भ शिशुओं में भी लाभप्रद होता है। परन्तु यदि कई मासों तक लगातार इसी का सेवन कराते रहें तो बच्चे को फक्करोग होने की सम्भावना रहती है। इस दोष के परिहार के लिये बच्चे को जीवतिक्ति डी-युक्त पदार्थ जैसे 'काडलिवर का तैल' दूध में मिलाकर (प्रति २½ छटाँक पर १ छोटी चम्मच की मात्रा में) देते रहना चाहिये। इससे पर्याप्त मात्रा में जीवतिक्ति 'ए' और 'डी' मिल जाते हैं।

घनीकृत दूध निर्देशक तालिका

नाम	प्रकार	प्रोभूजिन	स्नेह	प्राङ्गोदीय
नेस्टले	शर्करायुक्त (मधुर)	९.४	१०.२	५.२
डिप्लोमा	"	८.४	९.६	५४.६.
नेस्टले आइडियल ब्रान्ड	शर्करा रहित (अमधुर)	८.८	९.५.	१२.२
लिवीका	"	९.६.	९.२	११.५
कानेकान	"	८.८	९.२	११.३

दूध के अतिरिक्त अन्य 'पेटेण्ट पोषण'—इनमें बैंगर का फुड, मैलिन्सफुड, सैकेरो एण्ड फुड ,'अलेनबरी नं० ३ आदि आते हैं। इन सबों में

स्टार्च अधिक होता है। इसलिये छः या सात मास के नीचे की आयु के बालकों में इसका व्यवहार नहीं करना चाहिये।

पेप्टोनाइज्ड दूध—इसका भी व्यवहार शिशुओं के पोषण में होता रहा है, किन्तु आजकल बहुत कम मिलता है।

छेने का पानी (Whey)—इस अवस्था में दूध का बहुत सा केसिन और स्नेहांश निकाल कर बच्चे को पीने को देते हैं। यह विशेषतः उन बच्चों में जिनका पचनसंस्थान बिगड़ा हुआ हो अधिक लाभप्रद होता है। इसको बच्चे के योग्य बनाने के लिये उबाल कर थोड़ी मात्रा में चीनी और दुग्धशुक्ति मिलाना पड़ता है।

दूध बनाने की विधि—१. विशेष प्रकार के यन्त्र (Soxhlet's apparatus) दूध के १६०° फे. पर २० मिनट तक उबाल कर उसे ठण्डा करते हैं। इस क्रिया से दूध के विकारी जीवाणु नष्ट हो जाते हैं और फक्कनिरोधी तत्त्व नहीं नष्ट होने पाते हैं। इसको पाश्चराइज्ड् दूध कहते हैं।

२. दूध को उबाल कर शीघ्रता से ठण्डा करना यही विधि आमतौर से व्यवहृत होती है और लाभप्रद भी होती है।

३. कृत्रिम पोषण का दूसरा पर्याय शीशी का पोषण (Bottle feeding) भी है। इसका अर्थ होता है—बच्चे को विविध प्रकार के दूधों को बोतल में भर कर पिलाना। यहाँ पर इस बात को याद रखना चाहिये कि जिस प्रकार बच्चे के पोषण के लिये दूध के विशोधन का महत्त्व है उससे कम महत्त्व शीशी के सफाई का नहीं। अतः दूध पिलाने वाली शीशी के विशोधन का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये। शीशी को हर बार गर्म पानी से धो लेना चाहिये। उसके रबर वाले चूचुक को खूब अच्छी तरह से भीतर बाहर से साफ करके उसे टङ्कण द्रव में डुबो देना चाहिये ताकि वह विशुद्ध हो जावे। शीशी का निरीक्षण बीच-बीच में परिचारिका या माता के द्वारा होते रहना आवश्यक है। शीशी को तकिया के सहारे रख कर बच्चे को पीने को नहीं देना चाहिये बल्कि उसे हाथ में पकड़ कर माता या परिचारिका को पिलाना चाहिये। बच्चे को धीरे-धीरे १०-१५ मिनट तक पिलाते रहना चाहिये। छः मास की आयु के पूर्व शिशु को केवल दूध पिलाने और बाद की आयु में दूध में स्टार्ची भोजन भी मिला कर देना चाहिये।

तृतीय अध्याय

नवजात शिशु के आघात तथा रोग

(Injuries & Diseases of the newborn child)

नवजात प्राणावरोध—इसका वर्णन मूढ़ गर्भ के प्रसङ्ग में हो चुका है।

मृत प्रसव (Still birth)—ऐसे प्रसव को कहते हैं, जिसमें जन्म के समय में शिशु की लम्बाई पादतल से लेकर शीर्ष पर्य्यन्त १२ इंचों (३२ से. मी.) की हो और जिसमें जीवन के कोई भी चिह्न न प्रतीत हों अर्थात् हृदय पूर्णतया अपना कार्य बन्द कर दिये हो, बच्चे की नाभि के पास नाभिनाल में स्पन्दन न प्रतीत होता हो और जिसमें हृच्छन्द या स्पन्दन नहीं सुनाई पड़ता हो। जीवन के गौण चिह्न क्रन्दन और श्वसन का भी जिनमें अभाव हो। मृतप्रसव की यह वास्तविक व्याख्या है; परन्तु एक सर्वमान्य संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार की समझना चाहिये 'ऐसा नवजात शिशु जिसमें सन्तोषप्रद श्वसन कर्म नहीं व्यवस्थित हो पाया हो।'

हेतु—ऐसा देखा गया है कि ५०% मृतप्रसव प्राणावरोध (Aspyxia) के कारण होते हैं और शेष करोटिगत अभिघात या रक्तस्राव (Intra-Cranial injury) के कारण होते हैं।

प्राणावरोधकर हेतु—१. गर्भाशय का निरन्तर सङ्कोच, २. पूर्वस्था अपरा या अपरा का पीड़न, ३. नालभ्रंश, ४. नालग्रन्थि (Knots), ५. स्फुगद में सिर का विलम्ब से निकलना, ६. विलम्बित प्रसव, ७. जरायु का अकाल में विदीर्ण होना।

शिरोभिघातके हेतु—१. अत्यधिक रूपण (Moulding), २. सिर का आकार बदलना, ३. श्रोणि का सङ्कुचित होना, ४. संदंश प्रसव, ५. सिर और मुख भगास्थिप्रदेश पर उदय लेना, ६. सहसा प्रसव, ७. संदंश का अनुचित प्रयोग।

नवजात मृत्यु—जन्म के प्रथम मास के भीतर बालक की मृत्यु होना नवजात मृत्यु (Neo-natal death) कहलाता है। इसके अनेक कारण हैं तथापि अपूर्णकाल प्रसव और उपसर्ग का भय सबसे बड़े हेतु होते हैं।

उपशीर्ष (Caput succedeneum)—का वर्णन हो चुका है। उदय लेने वाले भाग का एक शोथ होता है जिसमें गहराई की रचनायें नहीं प्रभावित होती हैं। अधिकतर सिर के शीर्ष के ऊपर बनता है। इसीलिये उपशीर्षक कहलाता है। इसमें दबाव के कारण शिर के किसी भाग के उपरितन स्तर में सूजन हो जाती है। आमतौर से चौबीस घण्टे के भीतर विलीन हो जाता है।

रक्तस्राव—तीन प्रकार का होता है।

(क) उपरितन (Superficial)

(ख) मस्तिष्कगत या करोटि अन्तर्गत (Intracranial)

(ग) कोष्ठाङ्गगत (Visceral)

(क) उपरितन रक्तस्राव—

१. **शिरोगत रक्तग्रन्थि या गुल्म** (Cephal heamatoma)—शिशु के जन्म के समय आघातों के कारण करोटिगत रक्तस्राव होकर, एक स्थान पर एकत्रित होकर गुल्म या ग्रन्थि का रूप ले लेता है। अधिकतर ऐसा स्वाभाविक प्रसव (Spontaneous labour) में ही होता है। प्रसव के घण्टे दो घण्टे के भीतर सूजन प्रारम्भ हो जाती है–यह सूजन एक दो दिन तक निरन्तर बढ़ती जाती है; फिर बहुत धीरे–धीरे घटने लगती है। क्वचित् आठवें सप्ताह तक

शिरोगत रक्तग्रन्थि या गुल्म
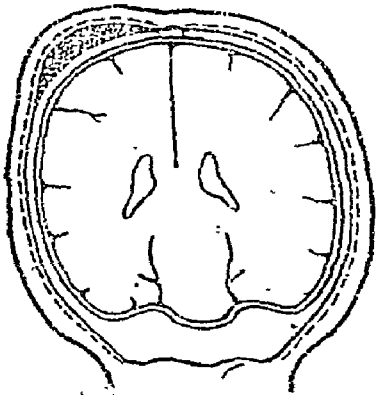
चित्र १२३
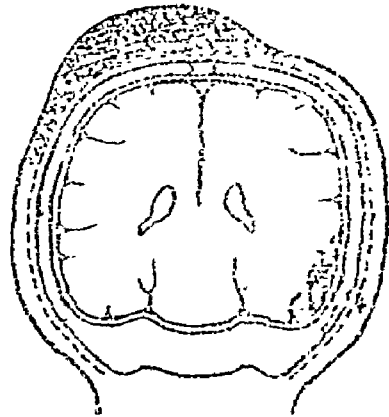
चित्र १२४

भी दिखलाई पड़ता है। कई बार इस स्थान पर अस्थिनिर्माण (Ossification) हो जाता है। इस प्रकार का अस्थिनिर्माण कपालास्थियों में से किसी एक

के ऊपर विशेषतः दक्षिणपार्श्व कपालास्थि के ऊपर होता है। कभी-कभी दोनों पार्श्वकपालों पर यह शोथ और अस्थिनिर्माण मिलता है। इसके किनारे कड़े होते हैं। परन्तु मध्य भाग दबा हुआ प्रतीत होता है जिससे कभी-कभी अस्थिभग्न का भ्रम हो जाता है। उपशीर्ष से इसका पृथक्करण निम्न लक्षणों के आधार पर करते हैं—

उपशीर्ष	शिरोरक्तग्रन्थि या गुल्म
(अ) बिल्कुल जन्म के समय होता है।	(अ) जन्म के बाद प्रारम्भ होता है।
(ब) सीमन्त तक सीमित रहता है।	(ब) सीमन्त तक सीमित रहता है।
(स) एक दो दिनों में समाप्त हो जाता है।	(स) छठें से आठवें हफ्ते तक रहता या क्रमशः विलीन होता है।

चिकित्सा—यदि गुल्म में पूयोत्पत्ति होती हो तो चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है अन्यथा नहीं। इसका वेधन नहीं करना चाहिये।

२. **मस्तिष्कावरणगतार्बुद** (Meningocele)—कपालास्थियों के मध्य भाग में यह होता है। जब शिशु क्रन्दन करता है तो यह कड़ा हो जाता है। यदि इसको दबाया जाय तो श्वसनकर्म बन्द हो जाता है और उसमें आक्षेप आने लगते हैं।

चिकित्सा—पूयोत्पत्ति होने पर विद्रधिवत् उपचार करे।

(ख) करोटि के अन्तर्गत रक्तस्राव—

(अ) उपवराशिकीय (Sub-dural)

(ब) उपनीशारिकीय (Sub-arachnoid)

(स) गुहान्तरीय (Intra ventricular)

(अ) यह प्रायः पूर्णकाल में प्रसूत शिशुओं में पाया जाता है। कारणरूप में श्रोण्यवतरण या विवर्त्तन (Version) आते हैं—इन अवस्थाओं में दात्रिका कला (Falx cerebri) और (Tentorium cerebelli) के संगम स्थल पर जवनिका कला (Tentorium cerebelli) के फटने से रक्तस्राव होता है। सिर के एक पार्श्व में अधिक दबाव पड़ने से भी यह सम्भव है। इसमें 'ड्यूरल सेप्टा' वराशिकीया पत्रिका (Dural sepla) के फटने से बड़े जोर का रक्तस्राव होता है। रक्तस्राव होने का प्रधान हेतु रक्त में 'प्रोथोम्बीन' की कमी ही है। मस्तिष्कगत रक्तस्राव को कम करने के लिये आजकल विलम्बित प्रसव की दशा

में जीवतिक्ति 'के' के योगों को बरतते हैं। माता को १० से २० ग्रेन की मात्रा में पेशी द्वारा देना चाहिये ताकि उसके रक्त के भीतर रक्तस्कन्दन का गुण (प्रोथोम्बीन की मात्रा) बढ़ जावे। शिशु को उत्पन्न होने के साथ ही १ मि० ग्रा० की मात्रा में इसी ओषधि का प्रयोग नितम्ब पर पेशी द्वारा करना चाहिये।

मस्तिष्कगत रक्तस्राव में शिशु मरता तो नहीं है, परन्तु वातिक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे–मांसपेशियों का कड़ा होना, आराम का अनुभव न होना, अनिद्रा, घबड़ाहट, बेचैनी, जल्दी-जल्दी थोड़ी देर के लिये चिल्लाना या रेंकना और आक्षेपों का आना प्रभृति लक्षण मिलते हैं। चिकित्सा में शामक ओषधियों को 'क्लोरल हाइड्रेट' १–२ ग्रेन की मात्रा में तथा जीवतिक्ति 'के' का प्रयोग करना चाहिये।

(ब) (स) (Sub arachnoid & Intra craniaheamorrhage) उन शिशुओं में होता है जो समय के पूर्ण होने के पूर्व ही गर्भाशय से बाहर निकल आये हों। ऐसा प्रायः प्राणावरोध अथवा माता की विषमयता (Toxaemia) के कारण होता है। प्राणावरोध उत्पन्न होने पर इसका भी ध्यान रखना चाहिये।

(ग) **कोष्ठगत रक्तस्राव**—इस अवस्था में फुफ्फुस, यकृत्, वृक्क प्रभृति अंगों से रक्तस्राव होता है। यकृज्जन्य रक्तस्राव में आघात का एक विशेष कारण माना जाता है। यह तब होता है जब कि करीय परीक्षा करते समय या प्रसवकाल में कर्षण करते समय श्रोणि के बदले उदर भाग को पकड़ा जाता है।

वातनाड़ियों की क्षति (Injuries to the nerves)

अर्दित (Fascial paralysis)—यह मस्तिष्कगत रक्तस्राव के कारण अथवा संदंश प्रसव में नाड़ी के ऊपर दबाव पड़ने से होता है और जीवन पर्यन्त रह सकता है। आमतौर से मुख के एक ही पार्श्व में होता है। एक से दो मास तक बना रह जाय तो चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है। विद्युत् द्वारा चिकित्सा करे अथवा आयुर्वेदोक्त अर्दित रोग की वातहर चिकित्सा करे।

पक्षाघात (Brachial or cervical paralysis)—विलम्बित प्रसवों में विशेषतः बच्चे के शरीर के बड़े होने पर पूर्व अंस (Ant. shoulder) को बाहर निकलते समय खिंचाव जोर का पड़ता है। फलस्वरूप बाहीय नाड़ीजाल या उसके मूल को क्षति पहुंचने की सम्भावना रहती है। सिर के प्रतीपावर्त्तन में

भी यही (After-coming head) स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इसलिये पञ्चम और षष्ठ ग्रैवेयक नाडी से पोषित होने वाली सभी पेशियाँ घातित हो जाती हैं।

चिकित्सा में—(Abduction splint) बाँधते हैं। अभ्यंग उद्वर्त्तन विद्युच्चिकित्सा से भी कर सकते हैं और आयुर्वेदोक्त विधियों से घात की चिकित्सा कर सकते हैं।

अस्थिभग्न तथा सन्धिविश्लेष श्रोण्यतरण की उन स्थितियों में जिनमें शिशु को खींच कर बाहर निकालना होता है। भग्न या विश्लेष जैसी स्थिति उत्पन्न होती है। अक्षक तथा प्रगण्डास्थि के भग्न में कक्षा के भीतर रूई की कवलिका रख कर हाथ को मोड़कर, छाती पर रखकर बाँध कर रखना चाहिये। इसमें दो तीन सप्ताह का समय लग जाता है, फलतः अंग का स्थिरीकरण भी तीन मासों तक बन्धन करके रखना चाहिये। उर्वस्थि के भग्न में जंघे का प्रसारण–कर्षण उसे संकुचित कर समकोण पर रख कर करना चाहिये। इसकी चिकित्सा में विशेष सावधानी की आवश्यकता रहती है।

करोटि के भग्न—(कपालास्थियों का अवनत भग्न) यह प्रायः संदंश के पीडन अथवा शीर्ष के संकुचित मार्ग से गमन करने के कारण होता है। जब तक मस्तिष्क क्षोभ अथवा मस्तिष्कान्तर्गत पीडन के लक्षण न उपस्थित हो तो भग्न की चिकित्सा (शल्य चिकित्सा) की आवश्यकता नहीं रहती। विपरीत अवस्थाओं में जब रोग गम्भीरस्वरूप का हो तो कपालास्थियों के दबे हुए भाग को ऊपर उठाना चाहिये। परन्तु यह योग्य शल्य चिकित्सक के द्वारा ही सम्भव है। यदि इस प्रकार के चिकित्सक अथवा प्रबन्ध की व्यवस्था न हो सके तो एषणी यन्त्र (Blunt director) के द्वारा उसे अन्दर घुसा कर आगे के सीवन सीमन्त से (पास से) ऊपर (अस्थियों के दबे भागों) को उठा देना चाहिये।

जन्मबलप्रवृत्त रोग (Congenital defects)—

सन्निरुद्ध गुद, गुदच्छिद्राभाव (Imperforate anus), अण्ड का अनवतरण (Undescended teslicles), निरुद्धप्रकश (Phimosis), तालुविदार या असंयोजन (Cleft palate), जलशीर्ष (Hydrocephalus), अद्भुत गर्भ तथा युग्म अद्भुत गर्भ (Monsters), मूत्रप्रसेक छिद्राभाव (Imperforate meatus), नाभिगत आन्त्रवृद्धि (Umbelical hernia), आमाशय के ग्रहणी भाग की सहज अतिपुष्टि (Conge-

nital hypetrophy of the pylorus) प्रभृति विकारों का भली प्रकार से विनिश्चय करके आवश्यकतानुसार उसकी चिकित्सा करनी चाहिये।

रसनासंग (Tongue tie)—इसमें जिह्वा की सीवनी जिह्वा के अग्र-भाग तक लगी रहती है। उस सीवनी को काट देना चाहिये नहीं तो शिशु को स्तन्यपान करते हुए भी कठिनाई होती है। बच्चा बड़ा होने पर इस विकार के कारण बोलने में असमर्थ रहता है। सीवनी को काटते समय इतना ध्यान रखना चाहिये कि कोई बड़ी रक्तवाहिनी न कटने पावे।

उपसर्गजन्य रोग—नवजात के नेत्राभिष्यन्द–जन्म लेते हुए शिशुओं में उनके अपत्यमार्ग से निकलते हुए नेत्रों के उपसृष्ट हो जाने से जन्म के दूसरे या तीसरे दिन यह अभिष्यन्द उत्पन्न होता है। यह प्रधानतया पूयमेह के जीवाणु से होता है और क्वचित् पूयजनक गोलाणुओं के उपसर्ग से भी हो सकता है।

लक्षण—संचयकाल अल्प होता है, जन्म चौबीस घण्टे बाद नेत्रवर्त्म अत्यन्त शोफयुक्त होकर चिपक जाते हैं। नेत्र श्लेष्मावरण, रक्ताधिक्य और शोफ से युक्त होकर लाल हो जाता है। उसमें पूययुक्त स्राव भर जाता है। इसके उपसर्ग कृष्णमण्डल तक पहुंचता है। वह व्रणित और पूयमय होकर स्रवित होने लगता है जिससे उसमें छिद्र होकर पूर्णतया नेत्रगोलक नष्ट हो जाता है।

साध्यासाध्यता—जब तक चिकित्साजगत् में 'पेन्सीलीन' 'शुल्वौषधियों' का प्रयोग नहीं रहा यह नेत्र विकार की अतिगम्भीर स्थिति मानी जाती थी। बच्चों के नेत्र अकाल में कवलित हो जाते थे और बच्चे जन्म से अन्धे हो जाते थे। नेत्र हीन विद्यालयों में छात्रों के चतुर्थांश के नेत्र इसी विकार से नष्ट पाये जाते रहे। आजकल प्रारम्भ से ही उपर्युक्त रामबाण ओषधियों के द्वारा चिकित्सा करने से रोग की असाध्यता बहुत कम हो गई है।

चिकित्सा—प्रतिबन्धक–सभी गर्भिणियों में यदि उनके योनिस्राव उपसर्ग-युक्त जान पड़े तो उनकी गर्भावस्था में शुल्वौषधियों से चिकित्सा करनी चाहिये। बच्चे के जन्म लेने के साथ विशोधित दो स्वतन्त्र पिचुओं से (बोरिक द्रव के घोल में भिगोकर) नेत्रों का प्रमार्जन करना चाहिये। यह आँखों के खोलने के पूर्व ही कर लेना चाहिये। शिशु को स्नान कराने के बाद पुनः उसके नेत्रों को पोंछना चाहिये। यदि माता में पूयमेह का इतिवृत्त मिलता हो तो शिशु के जन्म

के अनन्तर तुरन्त उसके नेत्रों में १% के बने ताजे रजतद्रव (Silvenitrate solution) का एक दो बूंद का प्रक्षेप डालना चाहिये। दस मिनट के बाद फिर उसे धोने के लिये लवण विलयन से नेत्रों का प्रक्षालन करना चाहिये।

साधारण चिकित्सा—'पेन्सीलीन' घोल का स्थानिक आश्च्योतन के रूप में तथा सार्वदैहिक पेशी द्वारा प्रति चार घण्टे पर चौबीस घण्टे के १००० यूनिट की मात्रा में देना चाहिये। स्थानिक चिकित्सा के लिये पहले नमक के पानी अथवा बोरिक लोशन से नेत्रों का प्रक्षालन कर पश्चात् 'पेन्सीलीन' का घोल (२५०० यूनिट प्रति सी. सी. की मात्रा में) का आश्च्योतन करे। प्रति पाँच मिनट यह आश्च्योतन चालू रखे जब तक कि स्राव न बन्द हो जाय। बाद में क्रमशः अन्तर बढ़ाते हुए चलना चाहिये। नेत्रों का प्रक्षालन भी आवश्यक है।

यदि 'पेन्सीलीन' लभ्य न हो तो शुल्वौषधियों में 'सल्फामेजाथीन' ¼ गोली (·१२५ ग्राम) प्रति तीन घण्टे पर चौबीस घण्टे के लिये देना चाहिये। फिर इसी मात्रा को ४, ४ घण्टे पर दूसरे दिन देना चाहिये। फिर ६, ६ घण्टे पर तीसरे दिन तक देता रहे। बाद में क्रमशः अन्तरकाल को बढ़ाते हुए बन्द कर देना चाहिये। आजकल शुल्वौषधियों के बने द्रव नेत्रों का आश्च्योतन में बरते जाते मिलते हैं–इनका भी प्रयोग किया जा सकता है। आँखों के चिपकने से बचाने के लिये नेत्रों में एरण्ड तैल का प्रक्षेप भी किया जा सकता है।

आँख का स्राव दो तीन दिन में उपर्युक्त चिकित्साक्रम के अनुसार अनुष्ठान करने से जीवाणु विरहित हो जाता है तथापि इसकी देख-रेख तीन मास तक करते रहना चाहिये। इस काल में माता के उपसर्ग की चिकित्सा भी करनी चाहिये। नेत्र की चिकित्सा में व्यवहृत होने वाली सभी उपकरण विशोधित होने चाहिये तथा नेत्रों को अधिक रगड़ से बचाना चाहिये।

नवजात कामला (Icterus neo-natorum)—नवजात कामला का नाम पहले के अध्यायों में आ चुका है। इस प्रकार अवैकारिक कामला ५०% शिशुओं में मिलता है जो दूसरे दिन शुरू होकर पक्ष के अन्त में पूर्णतया लुप्त हो जाता है अर्थात् बिना किसी चिकित्सा के स्वयमेव अच्छा हो जाता है। कई एक वैकारिक कामला के रूप में भी दिखलाई पड़ते हैं। जैसे—

१. गम्भीरकामला (Icterus gravis)।

२. औपसर्गिक या दुष्ट कामला (Infective or malignant)।

३. पित्तवाहिनी का सहज निरोध (Congenital obliteration)।

४. सहज फिरंग।

इनमें द्वितीय प्रकार जिसे औपसर्गिक या दुष्ट कामला कहते हैं यह अत्यन्त भयङ्कर होता है। इसका कारण नाभि का तीव्र उपसर्ग है। नाभिजाल शोफयुक्त रहती है और उसके किनारों पर चारों ओर स्राव इकट्ठा हो जाता है। यहाँ पर जीवाणुओं के लिये अच्छा माध्यम बन जाता है और वेग से संवर्द्धित होते हैं। इनका संवहन अन्तःशल्य (Infarct) के रूप में नाभिसिरा (Umbelical vein) से होकर शिशु के यकृत् तक पहुँचता है और पूयमयता के चिह्न प्रकट हो जाते हैं। शिशु बहुत अस्वस्थ हो जाता है और इसे अतितीव्र ज्वर और कामला हो जाता है। प्रायः शिशु मर जाते हैं।

तीसरा प्रकार अर्थात् पित्तवाहिनी के सहज निरोधजन्य कामला में बच्चा कामला से पीडित होता है उसका पुरीष पित्त से रंजित नहीं रहता, कामला बहुत व्यक्त होती है। यह भी अवस्था घातक है यद्यपि कुछ सप्ताहों या मासों तक बच्चा जीवित रह सकता है।

चौथा प्रकार सहज फिरंग में—यकृत् का शोफ होकर कामला की उत्पत्ति होती है। फिरंगनाशक चिकित्सा से लाभ पहुँचता है।

नवजात गम्भीर कामला—प्रायः ८५% आदमियों में उनके लाल कणों में एक प्रकार का प्रतिरोधी द्रव्य (Antigen) पाया जाता है, जिसे Rh (Rhesus factor) कहते हैं। यदि किसी पुरुष के रक्त में Rh द्रव्य विद्यमान हो और उसकी स्त्री में Rh द्रव्य की अनुपस्थिति हो तो मेण्डल के पुरुषप्रधान के सिद्धान्तानुसार उनके गर्भ में Rh द्रव्यों की रक्त में उपस्थिति पायी जाती है। यदि गर्भस्थ शिशु का रक्त Rh अस्त्यात्मक (Positive) हो तो यह स्वाभाविक है कि माता के रक्त में आत्मरक्षा की दृष्टि से कुछ Rh प्रतिरोधी या विरोधी (Anti Rh agglutinis) बनें। ये विरोधी द्रव्य अपरा से होते हुए गर्भस्थ शिशु के शरीर में पहुँच कर कभी-कभी उसके रक्त का विनाश (Haemolysis) प्रारम्भ कर देते हैं; जिसके परिणाम स्वरूप रक्त के विनाशजन्य विविध रोग गर्भस्थ शिशु में उत्पन्न हो जाते हैं। रोग की तीव्रता विरोधी द्रव्यों की उत्पत्ति की मात्रा तथा गर्भावस्था में उनकी शरीर में पहुँचने के ऊपर आश्रित रहती है।

नवजात बालकों में इस प्रकार के रक्त नाशजन्य होने वाले रोगों का प्रमाण प्रति चार सौ गर्भाधानों में एक का है। Rh द्रव्यों के अतिरिक्त रक्तनाश पैदा करने वाले कारणों में एक कारण P द्रव्य (Agglutinogen p) भी है जिससे शिशु के रक्तकणोंका विनाश होता है और तज्जन्य रोग पैदा होते हैं।

विनिश्चय तथा शुभाशुभ—नवजात गम्भीर कामला इसी वर्ग का रोग है। उसका विभेद स्वाभाविक कामला से करना होता है। रक्तपरीक्षा से रोग का विनिश्चय सम्भव है। इसमें माता का रक्त Rh नास्त्यात्मक तथा शिशु का रक्त Rh अस्त्यात्मक मिलता है। यह रोग बहुत तेज गति से वढ़ता है और साथ ही रक्ताल्पता या पाण्डु की उपस्थिति भी वच्चे में मिलती है। यह एक अत्यन्त घातक रोग है जिससे जन्म के कुछ दिनों के भीतर ही शिशु की मृत्यु हो जाती है। यदि कहीं वचा जीवित भी रहा तो उसमें अंगों के घात, आक्षेपक, मनोदौर्बल्य या स्मृतिनाश आदि उपद्रव होने लगते हैं।

चिकित्सा—१. यदि रोग का विनिश्चय प्रसव के पूर्व हो जाय और गर्भस्थ शिशु जीवन-धारण के योग्य हो चुका हो तो उसे उदर विपाटन कर गर्भाशय भेदन के द्वारा निकाल लेना चाहिये।

२. यदि शिशु जीवित पैदा हो तो उसके नाल से रक्त लेकर उसकी परीक्षा करके देखे। यदि उसमें शोण वर्त्तुलि (Hb) की कमी एवं चित्केन्द्रयुक्त शोणित-कायाणु (Nucleated R. b. c) पाये जायँ तथा कामला गम्भीर एवं तीव्र गति से वढ़ती हुई प्रतीत हो तो उसके शरीर में Rh नास्त्यात्मक रक्त का अन्तर्भरण (Transfusion) करे। इसकी मात्रा प्रति आधे सेर शिशुशरीर के भार पर १० सी. सी. की होती है।

नाभि का संक्रमण—(Infection of umbelical cord)।

यह नाभिवृन्त के अलग होने के पूर्व या पश्चात् कभी भी हो सकता है। संक्रमण विरोधी उपक्रमों को चिकित्सा में वरतना होता है।

रक्तस्रावी रोग या रक्तपित्त (Haemorrhagic diseases)—ये एक प्रकार से अभावजन्य (Deficiency) रोग हैं। रक्तनिष्ठीवन, रक्तवमन, मल में रक्त की उपस्थिति, नाभि तथा श्लेष्मलकला से रक्तस्राव प्रभृति नवजात शिशुओं में होने वाले रोग इसी वर्ग में आते हैं। इसमें जीवतिक्ति 'के' 'प्रोथोम्बीन' (Prothrombin) की कमी पाई जाती है जिससे शिशुओं में रक्तस्राव होता है।

इसकी चिकित्सा में गर्भिणी के गर्भावस्था में ही उसके आहार पर ध्यान रखना चाहिये। प्रसव के पूर्व तथा पश्चात् जीवतिक्ति 'के' का प्रचुर उपयोग करना चाहिये। शिशु में रक्त का अन्तर्भरण भी करना चाहिये। कई बार माता के फटे हुए स्तन से दूध का पान करते हुए बच्चे उस स्थान के रक्त को भी निगल जाते हैं, जिससे उनके वमन तथा पुरीष में रक्त की उपस्थिति मिलती है। परन्तु यह एक साधारण घटना है। इसमें उतना रक्तस्राव नहीं होता है जितना रक्तस्रावी रोग के परिणामस्वरूप होता है। रक्तस्राव के बहुलता होने पर बच्चे को २.५ मिली ग्राम की मात्रा में जीवतिक्ति 'के' पेशी द्वारा देना चाहिये।

मुखपाक (Thrush)—'ओडियम एल्बिकन्स' नामक 'फंगस' जो मुख की श्लेष्मलकला में वृद्धि करते हैं उन्हीं कारण से मुखपाक होता है। ऐसा प्रायः शीशी से दूध पीने वाले बच्चों में मिलता है और सम्भवतः स्वच्छता का अभावहेतु होता है। इसके अलावे कमजोर बच्चों में विशेषतः यदि वे अर्दित रोग से पीडित हों तो अधिक पाया जाता है। गाल और मृदु तालु के श्लेष्मलकला में सफेद रंग के छाले उत्पन्न होते हैं। रोग के तीव्र होने पर इसका प्रसार होकर गलनलिका, आमाशय तथा आंत्र भी पाकयुक्त हो जाते हैं। शिशु के पोषण में बाधा पहुँचती है उसे हरे रंग के दस्त होने लगते हैं। मधु और शुद्ध टंकण का लेप चिकित्सा के लिये पर्याप्त होता है। अधिक भयंकर स्थिति में 'जेन्शियन वायलेट' का २% का घोल बनाकर लेप करने से शीघ्र लाभ होता है।

त्वक्गत स्फोट (Skin rashes)—फिरंग के अतिरिक्त भी त्वचा पर दाने निकल सकते हैं। यह प्रायः ऐसे बच्चों में मिलता है जो सदैव उष्ण वस्त्रों से आवृत रहते हैं और जिसमें स्वेद अधिक निकलता हो। ग्रीवा और ललाट पर विशेषतया ये दाने निकलते हैं, बाद में पूययुक्त भी हो जाते हैं। इसके लिये अवचूर्णन (बोरिक एसिड और स्टार्च) करके त्वचा को सूखा रखना चाहिये।

नवजात विस्फोट (Pemphigus)—इस प्रकार बड़े बड़े विस्फोट शिशु के पीठ, जंघा और चूतड़ पर निकल सकते हैं। उनके हाथ-पैर के तलवे और ललाट बच जाते हैं जिस पर ये विस्फोट नहीं निकलते। छाले या फफोले के रूप में ये विस्फोट बनते हैं। प्रारम्भ में इनके भीतर स्वच्छ द्रव भरा रहता है जो बाद में पूययुक्त हो जाते हैं। इनके कारणभूत जीवाणु 'स्ट्रेप्टोकोकस हिमोलीटिकस'

माना जाता है। कभी-कभी यह तीव्र रूप से फैलने वाला और भयंकर होता है। यह शिशु के लिये घातक भी होता है।

चिकित्सा—रोगी का पृथक्करण आवश्यक है। चिकित्सा में 'पेन्सीलीन' का मलहम (५०० यूनिट प्रति ग्राम) पेशी द्वारा भी प्रयोग करना लाभप्रद होता है।

अहि-पूतनक (Sore buttocks)—सफाई की कमी और पाखाने के रास्ते की आर्द्रता बच्चों में एक प्रकार का फैलने वाला व्रण है। चिकित्सा में मलद्वार को साफ और शुष्क रखना, धोने में पानी और साबुन का व्यवहार न करके जैतून के तैल या मधुच्छिष्ट द्रव (Liquid paraffin) से सफाई करना चाहिये। 'काडलिवर' तैल या 'जेन्शियन वायलेट' (२%) से व्रण का शोधन और रोपण करना चाहिये। बालक का पोषण के ऊपर विचार करते हुए उचित पोषण की व्यवस्था करना चाहिये। ऐसा प्रायः अधिक मात्रा में दूध पिलाने वाली माताओं की सन्तानों में तथा ऐसे बच्चों में जिन्हें 'कार्बोहाइड्रेट' की अधिक मात्रा मिल रही हो, पाया जाता है। अतः दोनों कारणों का परिहार करना चाहिये।

नाभिगत रक्तस्राव—यह प्रधान तथा औपद्रविक भेद से दो प्रकार का हो सकता है।

प्रधान—नालबन्धन की शिथिलता के कारण अथवा बन्धन के बहुत कस जाने से या नाल के कट जाने से ऐसा रक्तस्राव होता है। चिकित्सा में नाल का निरीक्षण करके पुनः बन्धन करना चाहिये।

औपद्रविक—रक्तस्राव, रक्तस्रावी रोगों के कारण अथवा संक्रमण के परिणाम-स्वरूप होता है।

तीव्रोदर शूल—साथ में वमन एवं अतिसार भी चल सकता है। इसका निदान बच्चे के क्रन्दन, पैर को बार बार ऊपर की ओर खींचने, उदर की दीवाल के संकोचन आध्मान तथा स्पर्शनाक्षमता के द्वारा हो सकता है। चिकित्सा में उदर का स्वेदन, साबुन की गुदवर्त्ति का प्रयोग, भोजन में सुपाच्य पोषण का प्रबन्ध करना होता है।

आक्षेप हेतु—जन्म के बाद प्रथम तीन दिनों में आने वाले आक्षेप (Convulsions) कष्ट प्रसव में होने वाले शिरोगत या मस्तिष्कगत अभिघातों के

कारण होते हैं। इसके पश्चात् प्रथम या द्वितीय सप्ताह में आने वाले शिशुओं के आक्षेप आमाशय-आंत्र के विकारों (प्रक्षोभों) के कारण होते हैं।

लक्षण—पहले साधारण स्वरूप की ऐंठन-सी मुख तथा ऊर्ध्वशाखा में होती है। पश्चात् वह व्याप्त होकर पूरे शरीर में फैल जाती है और पूरे शरीर में आक्षेप आने लगते हैं। पेशियों में स्तम्भ तथा आकुंचन होने लगते हैं, जिससे कई बार शिशु की साँस तक रुक जाती है।

चिकित्सा—१. बच्चे के वस्त्रों को ढीला करे या शरीर पर से हटा दे। २. उसकी जीभ को पकड़ कर बाहर निकाल ले। ३. गर्म पानी से स्नान करावे। ४. जीभ को आगे पीछे करते हुए कृत्रिम विधि से श्वसन कर्म को उत्तेजित करे। ५. यदि पुनः आक्षेप आने लगे तो 'क्लोरोफार्म' की एकाध फुत्कार (Whiffs) दे। यदि बच्चे में विबन्ध हो तो एक चाय की चम्मच भर एरण्ड और जैतून के तेल के मिश्रण (समपरिमाण में बने) को दें। ६. 'क्लोरल' तथा 'ब्रोमाइड' प्रभृति शामक औषधियों को १ ग्रेन की मात्रा में दे। ७. बच्चे को पोषण जल और दूध देता चले।

शल्यकर्म प्रकरण

प्रथम अध्याय

कृत्रिम गर्भान्त

(Atrificial termination of Pregnancy)

कृत्रिम विधियों से गर्भ का अन्त करना सम्भव है। यह दो प्रकार का हो सकता है—(क) बच्चे के बाहर आने पर जीवनधारण योग्य आयु के पूर्व (ख) तथा बच्चे के जीवनधारण योग्य आयु में। इन दोनों अवस्थाओं में कृत्रिम साधनों से गर्भ का नाश किया जाता है। प्रथम को गर्भस्राव कराना तथा दूसरे को कृत्रिम प्रसव या गर्भपात कराना कह सकते हैं।

कृत्रिम गर्भस्राव कराना (Induction of Abortion)—

निर्देश—निम्नलिखित अवस्थाओं में गर्भ का स्राव कृत्रिम उपायों से करना समुचित है—

रक्तस्रावी तथा गर्भ-सम्बन्धी माता के रोग	१. गर्भ (Ovum) के आंशिक या पूर्णतया विच्छेद होने से रक्तस्राव होना। २. मांसगर्भ (Moles)। ३. गर्भ-विषमयता। ४. गर्भकालीन शुक्लिमेह। ५. गर्भशिर का प्रतीपावर्त्तन। ६. गर्भोदकातिवृद्धि।
माता का दुःस्वास्थ्य	ऐसे रोग जिनका गर्भावस्था के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं है तथापि इन रोगों की उपस्थिति में गर्भावस्था का बना रहना गर्भिणी के लिये हानिप्रद हो सकता है—उदाहरणार्थ १. हृद्रोग, २. फुफ्फुस के रोग, ३. वृक्क रोग, ४. लास्यक (Chorea), ५. आवर्त्तक (Relapsing) उन्माद, ६. अवटुकास्रावाधिक्य (Thyrotoxicosis), ७. तीव्र पाण्डु, ८. श्वेत कायाणुमयता (Leukæmia), ९. अपस्मार, १० क्षय।

विधि—(१) ग्रीवा का विस्फारण तथा योनिमार्ग से गर्भाशय को रिक्त करना। (२) औदरिक गर्भाशयभेदन (रोगी को वन्ध्या करते या न करते हुए)।

ग्रीवा का विस्फारण—१२ वें सप्ताह के पूर्व गर्भाशय को शीघ्रता से रिक्त करने के लिए यह सर्वोत्तम उपाय है।

कर्म—मूत्राशय और मलाशय को रिक्त करे, भग के केशों को साफ कर ले और रोगी को निःसंज्ञ करके जानुकूर्परासन पर रखे। योनि को डेटाल द्रव से प्रक्षालित करके, एक भारी योनिवीक्षण यन्त्र (Speculum) को भीतर में प्रविष्ट करके ग्रीवाकर्षक (Volsellum) से ग्रीवा को नीचे खींच ले। अब ग्रीवा को सावधानी से विस्तृत करे। विस्तारक (Dilators) को ग्रीवा में डाले। यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक विस्तारक का अग्र गर्भाशयगुहा में पहुँचे बल्कि इनको इतनी ऊँचाई तक प्रविष्ट करे कि अन्तर्मुख (Interanal OS)

क्यौसे की विधि
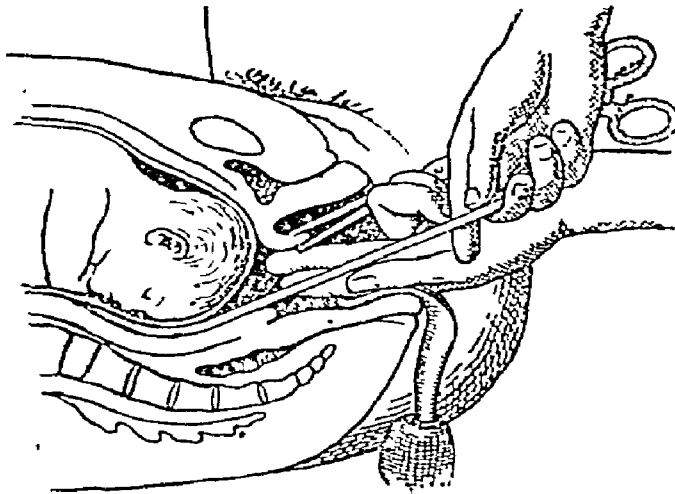
चित्र १२५

तक ही वह पहुँच कर विस्तृत कर सके। ग्रीवा का विस्फारण इतना करे कि उसमें तर्जनी अङ्गुली का प्रवेश हो सके। इसके लिए २२ से लेकर २४वें तक विस्तारक पर्याप्त होते हैं। ग्रीवा के विस्तृत हो जाने के बाद एक बीज संदंश या मुद्रा-संदंश (Ovum or Ring) को प्रविष्ट करे। जब यह यन्त्र गर्भाशयगुहा में पहुँचता है उस समय उसे धीरे-धीरे खोलना होता है और धीरे-धीरे बन्द करना होता है। आमतौर से यह यन्त्र गर्भ को पूर्णतया पकड़ने में समर्थ होता है। गर्भ का आहरण यन्त्र के द्वारा मन्द और मृदु गति से करना चाहिए। मुद्रा-

संदंश से गर्भ के पर्याप्त भाग के निकल जाने के अनन्तर गर्भाशय में अङ्गुलियाँ प्रविष्ट करके यदि जरायु और अपरा के अवशेष रहे हों तो उनको निकाल लेना चाहिए।

गर्भ के निर्हरण के पश्चात् पिचु से गर्भाशयगुहा का प्रमार्जन करे और यदि रक्तस्राव प्रबल हो तो 'पिटोसीन' का सूची द्वारा प्रयोग करे। यदि आवश्यक हो तो गर्भाशयगुहा को वर्त्ति के द्वारा भर देना चाहिए। चिकित्सक को यह स्मरण रखना चाहिए कि इस शस्त्रकर्म में तीन बातों का भय रहता है १. गर्भाशय का छिद्रयुक्त होना, २. रोगी का संक्रमित होना और ३. रक्तस्राव।

यदि गर्भावस्था के १२वें सप्ताह के बाद भी ग्रीवामुख बन्द रहे तो गर्भाशय को योनिमार्ग से रिक्त करना बड़ा ही कठिन है। क्योंकि इस काल तक गर्भस्थ शिशु का सिर इतना बड़ा हो गया रहता है, कि वह आसानी से इस कम विस्तृत ग्रीवा से नहीं निकल सकता—साथ ही ग्रीवा के भी क्षतयुक्त होने का भय रहता है तथा तीव्र रक्तस्राव की भी सम्भावना रहती है। इसलिए १२वें सप्ताह के पश्चात् गर्भ को निकालने के लिए उदरमार्ग से गर्भाशय का भेदन कर के आहरण करना चाहिए। इस अवस्था में योनिमार्ग की अपेक्षा गर्भाशयभेदन उत्तम माना जाता है। इसलिए १२वें सप्ताह के अनन्तर गर्भ का आहरण 'सिजेरियन सेक्शन' से ही करना चाहिए।

गर्भपात कराना (Induction of labour)—

निर्देश—१. गर्भकालीन विषमयता। (अ) शुक्तिमेह। (ब) उच्च रक्त-निपीड। २. विकृत गर्भ (विना सिर का) अथवा गर्भस्थ शिशु की मृत्यु। ३. अवटुका स्रावाधिक्य। ४. दुष्ट पाण्डु तथा श्वेत कायाणुमयता। ५. हृद्रोग। ६. फुफ्फुस रोग–क्षय। ७. मधुमेह। ८. वृक्क रोग। ९. अतिकाल गर्भ (Post-meturity) (शिशु का अत्यधिक बड़ा होना) १०. गर्भ तथा श्रोणि की विषमता (सङ्कुचित श्रोणि) ११. लास्यक (Chorea) तथा उन्माद। १२. पूर्व के प्रसवों में शिशु का गर्भावस्था के अन्तिम सप्ताहों में मृत होने का वृत्त मिलना। १३. उन्माद तथा अपस्मार।

विधि-जरायु को विदीर्ण करना—अकाल में कृत्रिम प्रसव कराने की सामान्य विधि वक्रधातवीय मूत्रनाडी (Curved metal catheters)

मूत्रनाडी का प्रवेश कराना

चित्र १२६

अथवा 'ड्यूस्मिथ' की शलाका (Slilette) के द्वारा जरायु को विदीर्ण करना है। इसमें मूत्रनाडी को शिशु के सिर के ऊपर से लेजाकर जरायु का वेधन करना होता है। वेधन के पश्चात् मूत्रनाडी द्वारा गर्भोदक निकलने लगता है और जब काफी मात्रा में वह जल निकल जाता है; तो नाडी को पृथक् कर लेना होता है। इस क्रिया से वारिपुटक (Bag of water) ठीक रहता है और वह ग्रीवा के विस्फार में भी सहायक हो सकता है। शलाका अथवा मूत्रनाडी के अभाव में यही क्रिया 'कोचर की धमनीस्वस्तिक यन्त्र' से भी की जा सकती है; परन्तु इसमें दोष यह आता है कि प्रथमावस्था में वारिपुटक का निर्माण ठीक नहीं हो पाता जिससे ग्रीवा की विस्तृति भी यथोचित नहीं हो सकती। इसीलिये स्वस्तिक यन्त्र के द्वारा जरायु का फाड़ना उत्तम नहीं मानते जब तक कि पूर्ण संकुचित शीर्षोदय न हो।

इस प्रकार काफी ऊँचाई पर जरायु का वेधन करने से प्रसव चौबीस घण्टे के भीतर चालू हो जाता है और वेदनायें शुरू हो जाती हैं। परन्तु यदि किसी कारण विलम्ब होने लगे तो आगे बतलाई जाने वाली ओषधियों का भी प्रयोग करना शुरू कर देना चाहिये। इस प्रकार यन्त्र तथा औषध दोनों की संयुक्त व्यवस्था से गर्भ का पात कराना चाहिये। जरायु के विदीर्ण करने के अनन्तर रोगी को बिस्तरे पर लेटाकर रखने की आवश्यकता नहीं रहती। उसके भग पर एक कवलिका रख कर बन्धन करके घूमने और काम करते रहने का आदेश देना चाहिये।

दूसरी विधियाँ—पहले आमाशय नाडी तथा 'गम इलास्टिक बूगी' (शलाकाओं) के द्वारा उन्हें गर्भाशय की दीवाल तथा जरायु के बीच में प्रविष्ट

कर कृत्रिम-प्रसव या गर्भपात कराने की प्रथा प्रचलित रही; परन्तु ये विधियाँ आजकल पूर्णतया छोड़ दी गई हैं।

औषध प्रयोगों से गर्भपात की विधियाँ—

निर्देश—१. यदि गर्भ पूर्णकाल के समीप का हो। २. यदि आत्ययिक अवस्था न हो और शीघ्रता से प्रसव कराने की आवश्यकता न हो।

यह पूर्णतया सन्तोषजनक और सफल विधि नहीं है। प्रायः इसमें असफलता का अन्देशा रहता है। अतः जब शीघ्रता से गर्भपात कराना आवश्यक न हो तभी इस विधि का प्रयोग करना चाहिये। इस विधि का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसमें उपसर्ग पहुंचने का भय नहीं रहता, साथ ही यदि आहरण सफल नहीं (Induction) हुआ तो गर्भाशयभेदन (Caesarean section) भी सुविधापूर्वक किया जा सकता है।

औषधि द्वारा पात कराने में गर्भिणी में तीव्र रेचकों का प्रयोग किया जाता है। 'पिटोसिन' के २ यूनिट की मात्रा में प्रति घण्टे पर देते हुए छः अन्तर्भरण (Injections) किये जाते हैं। यदि वेदनायें न शुरू हों तो अधिक बार भी दे सकते हैं। जब वेदनायें शुरू हों तो उन्हे अधिक उत्तेजित करने के लिये एक आस्थापन (Fnema) भी गुदा द्वारा देना चाहिये। क्विनीन का प्रयोग उतना उत्तम नहीं होता जितना 'पिटोसीन' का। क्योंकि क्विनीन के प्रयोग से गर्भाशय के (Spasm) विलम्ब तक स्तम्भित होने का भय रहता है।

यदि गर्भ की गर्भाशय के भीतर ही मृत्यु हो गई हो तो वेदना के प्रारम्भ कराने के पूर्व ही बड़ी मात्रा में 'इस्ट्रोजेन' का प्रयोग कराना चाहिये। इसके लिये मुख द्वारा १० मिली ग्राम की मात्रा में 'स्टिलबेस्ट्राल' प्रति चार घण्टे पर देता चले। साथ ही मुख द्वारा देने के अनन्तर ५ मिली ग्राम की मात्रा में उसी ओषधि का सूचीवेध के द्वारा अन्तर्भरण भी करना चाहिये। प्रति चार घण्टे पर इन मात्राओं को पुनः पुनः देते रहना चाहिये।

संक्षेप में गर्भान्त करने की चार विधियाँ प्रचलित हैं—

१. औषध प्रयोग—एरण्ड तैल, क्विनीन तथा पोषणिका ग्रन्थि के पश्चाद् भाग के स्राव के उपयोग। २. जरायु का वेधन (Puncture)। ३. सूची (शलाका)

अथवा आमाशयप्रक्षालक रबर की नाड़ी (Stomach tube) के व्यवहार तथा ४. विस्फारक दृति (Small hydrostatic bag) का उपयोग। इनमें प्रचलित विधियों का उल्लेख हो चुका है। एरण्ड तैल, क्विनीन तथा पोषणिका सत्त्व नामक औषध-प्रयोग के अन्य प्रचलित विधि का उल्लेख किया जा रहा है। गर्भ-स्थिति के अन्तिम पक्ष में यह विधि अधिक सफल प्रमाणित हुई है। नियम इस प्रकार का है—

७ बजे प्रातः — ५ ग्रेन क्विनीन सल्फ (घोल बनाकर)।
७½ „ „ — आउंस एरण्डतैल।
८ „ „ — ५ ग्रेन क्विनीन।
९ „ „ — ५ „ „ ।
९½ „ „ — साबुन और जल की आस्थापनवस्ति (Enema)।
१० „ „ — उष्णस्नान (Hot bath)।
१२ बजे मध्याह्न — ½ सी० सी० की मात्रा में पोषणिकासत्व (Pitutrin) सूचीवेध के द्वारा प्रति घण्टे पर देते चलें जब तक आवि या वेदनाओं का प्रारम्भ न हो जाय। अधिक से अधिक इस औषध के छः सूचीवेध तक किये जाँय।

'क्विनीन' के प्रयोग काल में रोगी पर ध्यान रखे ताकि उसमें क्विनीन विषाक्तता के चिह्न (सिर में दर्द, कान में आवाज, हृदय में धड़कन आदि) न होने लगें। यदि इस प्रकार के लक्षण गर्भवती में होने लगें तो औषध प्रयोग चौबीस घण्टे के लिये बन्द कर दे अथवा अन्य किसी विधि से गर्भान्त करने का उपाय करे।

आयुर्वेद ग्रन्थों में कृत्रिम गर्भस्राव और पात की कई विधियाँ लिखी मिलती हैं। उनके प्रयोग से भी कई बार सफलता मिलती है। उदाहरणार्थः—

यान्त्रिक विधि—१. गवाक्षी के मूल की (इन्द्रायण की जड़) की वर्त्ति बनाकर योनि में रखने से तत्काल गर्भ का स्राव हो जाता है।

२. एरण्डपत्र के डण्ठलों को योनिमार्ग से गर्भाशय में प्रविष्ट करने से गर्भ का पात हो जाता है। इसका कार्य घातवीय मूत्रनाडी (आधुनिक) जैसे ही होता है।

३. कड़वी तुम्बी के बीज, दन्ती, पिप्पली, गुड़, मैनफल, सुराबीज इनके चूर्ण को थूहर के दूध के साथ खरल करके वर्त्ति बनाकर योनि में प्रविष्ट करने से नष्ट हुआ आर्त्तव पुनः प्रवृत्त होने लगता है।

ओषधि—१. बाँस का कोपल या पत्ती, गाजर के बीज, गृहधूम, भारङ्गी, तिल, सभी क्षार (विशेषतः पलाशक्षार), त्रिकटु, गुड़, जपापुष्प, ज्योतिष्मती, वच, एलुवा, पाठा, कांजी, स्नुही इन द्रव्यों का अन्तःप्रयोग गर्भस्रावकारक होता है।

२. पीपल, विडङ्ग, आग में फुलाया हुआ सोहागा गर्भस्राव कराता है।

आधार तथा प्रमाणसंचय—

मूलं गवाद्याः स्मरमन्दिरस्थं रजावरोधस्य वधं करोति।
अभर्तृकाणां व्यभिचारिणीनां योगोऽयमुक्तो द्रुतगर्भपाते। (वैद्यजीवन)

काण्डमेरण्डपत्रस्य योनावष्टाङ्गुलं क्षिपेत्।
चतुर्मासोद्भवो गर्भः स्रवत्येव हि तत्क्षणात्। (योगरत्नाकर)

(योगरत्नाकर, भैरज्यरत्नावली)

(Midwifery by Tenteachers)

द्वितीय अध्याय

विवर्त्तन

(Version)

विवर्त्तन का अर्थ होता है—गर्भ के आसन या अवतरणों को परिवर्त्तित करना। यदि आसन या अवतरण विकृत हों तो उन्हें बदल कर शीर्षोदय अथवा स्फिगुदय में बदलना ही इस क्रिया का उद्देश्य होता है। यदि शीर्षोदय में बदला जाय तो शिरोविवर्त्तन (Cephalic version) और यदि गर्भस्थ शिशु का आसन स्फिगुदय में बदला जाय तो उसे स्फिक्विवर्त्तन (Podalic version) कहते हैं।

शिरोविवर्त्तन का निर्देश—यह प्रसव के पूर्व अथवा प्रसव के आरम्भ होने पर दोनों ही अवस्थाओं में किया जा सकता है। निम्नलिखित स्थितियों में इसका विधान है:—

१. यदि गर्भाङ्ग संस्थिति (Lie) तिर्यक् (Oblique) हो और माता की श्रोणि स्वाभाविक हो।

२. गर्भस्थ शिशु का अवतरण नितम्ब (Breech) से हो रहा हो और माता की श्रोणि स्वाभाविक हो।

स्फिक्‌विवर्त्तन का निर्देश—दो अवस्थाओं में स्फिक्‌विवर्त्तन का निर्देश ग्रन्थों में मिलता है—

१. यदि गर्भासन विकृत हो। २. पूर्वस्था अपरा की स्थिति हो।

१. विकृत गर्भासन (Malposition)

(क) गर्भ का आसन (Position) यदि तिर्यक् हो, श्रोणि स्वाभाविक हो और शिरोविवर्त्तन करना असफल रहा हो।

(ख) यदि मुखोदय हो रहा हो, श्रोणि कण्ट में उसका प्रवेश होना कठिन हो और श्रोणिसंकोच के कारण सिर का निकलना कठिन न जाना जाय।

(ग) यदि ललाटोदय हो, उसका श्रोणिकण्ठ में प्रवेश न हो पाया हो, और संकुचित श्रोणि की स्थिति न हो।

(घ) यदि गर्भस्थ शिशु का हाथ नीचे गिरा हुआ हो (Prolapsed), गर्भ का शीर्षोदय या मुखोदय हो रहा हो; परन्तु हाथ को स्वस्थान पर पहुंचाने में अथवा संदंश से आहरण में सफलता न मिली हो।

२. पूर्वस्था अपरा—की स्थिति में यदि प्रसव पूर्व रक्तस्राव हो रहा हो तो माता की रक्षा की दृष्टि से स्फिक्‌विवर्त्तन करना ही उत्तम है। यद्यपि इसमें एक दोष यह आता है कि कई वार वालक की मृत्यु हो जाती है।

विवर्त्तन का निषेध—

(क) यदि गर्भाशय का निरन्तर आकुञ्चन हो (Tonic Contraction) और उदय लेने वाला भागनिरुद्ध (Impacted) हो।

(ख) सामान्य संकुचित श्रोणि।

(ग) जलशीर्षयुक्त शिशु।

(घ) यदि शिशु मृत हो।

(ङ) गर्भाशयाकुञ्चन काल (इसमें गर्भाशयविदार का भय रहता है।)

विवर्त्तन का पूर्वकर्म(Preparation)

मूत्रनाडी या पुष्पनेत्र (Catheter) के द्वारा मूत्राशय को रिक्त करे। गर्भस्थ शिशु का ठीक-ठीक निर्णय कर ले। अन्तर्विवर्त्तन अथवा युग्मविवर्तन दोनों कर्मों के लिए भग के वालों को साफ कर उस स्थान को सावुन और पानी से प्रक्षालित करे तत्पश्चात् 'डेटाल क्रीम' से उस स्थान को विशोधित कर ले।

विवर्त्तन की विधियां—

१. वाह्य विवर्त्तन—इसमें शल्यकर्त्ता के दोनों हाथ उदर के ऊपर रहते हैं और उनके द्वारा बाहर से विवर्त्तन किया जाता है। यह सबसे सुरक्षित विधि है।

२. युग्मविवर्त्तन—इसमें शल्यकर्त्ता अपने एक हाथ को उदर के ऊपर रखता है और दूसरे हाथ के दो अंगुलियों को गर्भाशय के भीतर रखते हुए विवर्त्तन करता है। यह सर्वाधिक कठिन विधि है।

३. अन्तर्विवर्त्तन—इसमें शल्यकर्त्ता अपने एक हाथ को उदर के ऊपर रखता है और दूसरा पूरे हाथ को गर्भाशय के भीतर डालता है। यह विधि सर्वाधिक सरल परन्तु सबसे अधिक खतरनाक है।

विवर्त्तन के कुपरिणाम—१. युग्मविवर्त्तन या अन्तर्विवर्त्तन करते हुए रोगी के संक्रमित होने का भय रहता है। २. अन्तर्विवर्तन करते हुए गर्भाशय के विदीर्ण होने का भय रहता है। वाह्य विवर्त्तन में अपरा विच्छेद (Seperation) का भय रहता है।

बाह्य शिरोविवर्त्तन—रोगी को उसके जानु को संकुचित करके एक टेबुल पर लेटा देना होता है। फिर सर्वप्रथम उदय लेनेवाले भाग को श्रोणि के ऊपर (स्फिक् को) करना होता है। यदि बच्चे के पैर फैले हुए हों और स्फिक् श्रोणि गुहा में बहुत नीचे तक चला गया हो तो ऐसा करना बड़ा कठिन होता है; परन्तु जब तक कि स्फिक् को श्रोणि के ऊपर उठा नहीं लेते तब तक विवर्त्तन करना निषिद्ध है। यदि उदर के कर्षण से स्फिक् को ऊपर करना सम्भव न हो तो रोगी को 'ट्रेण्डलेन वर्ग' के आसन पर रखे अथवा उदय लेनेवाले भाग को योनि में दो अंगुलियों को डाल कर ऊपर उठा ले। जब इस प्रकार उदय लेने वाला भाग मुक्त हो जाय (Disingaged) तब वास्तविक विवर्त्तन की क्रिया शुरू करे। क्रिया करते हुए दोनों हाथों का प्रयोग करते हैं। और गर्भ को उस दिशा में घुमाते हैं जिसमें गर्भ का सिर पूर्ण संकोचन को प्राप्त कर सके। विवर्तन की सारी क्रियाएं मृदु भाव से करनी होती हैं। और जब भी गर्भाशय की पेशियां संकुचित होने लगे तो क्रियाओं को तत्काल बन्द कर देना चाहिए। यदि गर्भिणी की उदर की पेशियां शिथिल न हो सकें तो उस अवस्था में संज्ञाहर द्रव्यों का प्रयोग

करना चाहिए। संज्ञाहर द्रव्यों में ऐसे द्रव्यों को चुनना चाहिए जिनसे पेशियों की शिथिलता पूर्णतया प्राप्त हो सके।

स्फिक्‌विवर्त्तन-वाह्य स्फिक् विवर्त्तन की विधि—जिस प्रकार बाह्य शिरोविवर्त्तन के सम्बन्ध में बताया जा चुका है उसी प्रकार की क्रिया, सावधानी, निर्देश प्रभृति बातों का विचार इसमें भी करना होता है। पूर्वस्था अपरा की स्थिति में यह विवर्तन लाभप्रद होता है। रोगी को ईथर के द्वारा निःसंज्ञ करके जब उदर की पेशियाँ शिथिल हो जाय उस समय यह क्रिया करनी चाहिए।

युग्मस्फिक् विवर्त्तन की विधि—रोगी को संकुचित जानुकूर्परासन (Lithotomby) पर उत्तान सुलाकर पूर्ण निःसंज्ञ करके इस क्रिया को करे। शल्यकर्त्ता अपने दाहिने हाथ की तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों को गर्भाशय ग्रीवा से होते हुए अन्दर प्रविष्ट करता है। यदि उदय लेने वाला भाग सिर हुआ तो उसे पीठ की ओर ठेल देता है अथवा यदि उदय लेने वाला अंस हुआ तो उसको जिधर बच्चे का सिर रहता है उधर ठेल देते हैं। साथ ही साथ उदर पर रखे हुए अपने बायें हाथ से बच्चे के सिर को धक्का देते हुए विरुद्ध दिशा में

युग्म या मिश्रित विवर्त्तन
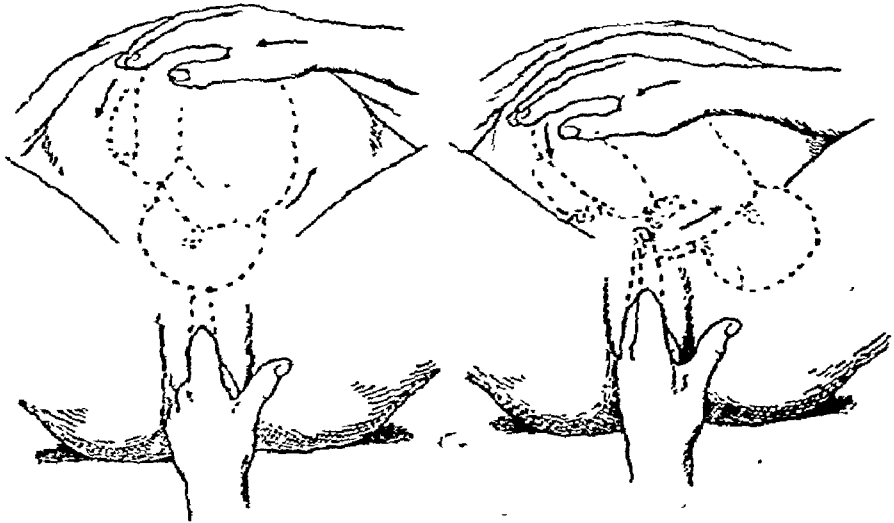
चित्र १२७

लाने का प्रयत्न करते हैं। इस क्रिया से बच्चे का जानु गर्भाशयमुख पर आ जाता है। जब जानु का अनुभव होने लगे तो जरायु को फाड़ देना चाहिए और पैर

को पकड़ लेना चाहिये। अब शल्यकर्त्ता बच्चे के एक पैर को पकड़ कर बाहर की ओर योनि में खींचता है। यह खिंचाव बड़े मृदु भाव से चलना चाहिये; जब तक कि आधा स्फिक् न पूर्णतया गृहीत (Engaged) हो जाय। इस काल में

मिश्रित विवर्त्तन
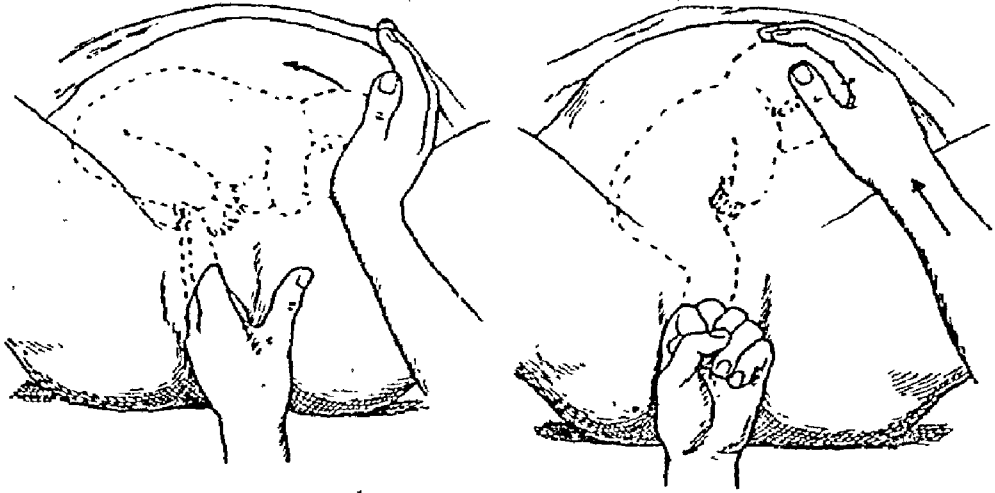
चित्र १२८

बायें हाथ से गर्भ के सिर को गर्भाशयस्कन्ध की ओर प्रेरित (Pushing) करते रहना चाहिये।

इस कर्म में भी वही कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, जिनका शिरोविवर्त्तन के सम्बन्ध में उल्लेख किया जा चुका है। कई कूर्पर का जानु से और हाथ का पैर से भ्रम हो जाता है।

अन्तःस्फिक्विवर्त्तन—युग्म स्फिक्विवर्त्तन के सम्बन्ध में जैसा बतलाया जा चुका है उसी प्रकार का आसन गर्भिणी और शल्यकर्त्ता रखे।

शल्यकर्त्ता अपने दाहिने हाथ को ग्रीवा से होते हुए गर्भाशय तक ले जाता है। अन्दर वाले हाथ को इस प्रकार रखना चाहिये कि उससे कम से कम जगह घिरे। सिर या अंस जो भी उदय लेने वाला भाग हो उसको भीतर वाले हाथ के सहारे एक ओर करके रखना चाहिए। अन्दर वाले हाथ को बच्चे के शरीर के पास ऊपर की ओर बढ़ाते चलना चाहिए जब तक कि बच्चे के पैर या घुटने का अनुभव न हो सके। अब घुटने या पैर को पकड़ कर नीचे को धीरे-धीरे

खींचना चाहिए। यह खींचना तब तक जारी रखना चाहिए जब तक कि आधा स्फिक् ग्रीवा में न लग जाय। इस काल में उदर पर रखे हुए हाथ से बच्चे के सिर को गर्भाशय स्कन्ध में पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए।

अन्तर्विवर्त्तन करते हुए कई एक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। यदि गर्भिणी की परिचर्या (Antenatal) भली प्रकार से की गई हो इस कर्म की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जब तक गर्भाशय मुख पर्याप्त विस्तृत न हो और उसमें पूरा हाथ न जा सके तो अन्तर्विवर्त्तन कदापि नहीं करना चाहिये। यदि अंसोदय हो रहा हो तो अन्तर्विवर्त्तन बड़ा ही दुरूह कर्म हो जाता है और यदि गर्भोदक पूरा निकल गया हो तब तो अन्तर्विवर्त्तन करना कठिन ही नहीं खतरनाक भी है।

तृतीय अध्याय

शिरोवेधन

(Cranitomy)

इस शल्यकर्म में बच्चे के सिर का एक विशेष प्रकार के शस्त्र से वेधन करके उसके सिर के आयाम को छोटा कर ग्रीवा और योनि मार्ग से मृत बच्चे का आहरण किया जाता है। यदि बच्चा गर्भाशय के भीतर मर गया हो या प्रसव में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न हो रही हो जैसे गर्भशिर और अपत्यमार्ग की विषमता हो तो यह शस्त्रकर्म किया जाता है। आजकल यह शल्यकर्म बहुत कम किया जाता है क्योंकि उपर्युक्त बाधाओं की उपस्थिति में अधोगर्भाशय का भेदन (Lower segment caesarean section) यदि बच्चा जीवित हो तो सर्वोत्तम माना जाता है। फलतः जीवित गर्भस्थ शिशु के आहरण में यही शस्त्रकर्म प्रशस्त है।

मृत गर्भ के आहरण में शिरोवेधन करके बच्चे को निकाला जा सकता है; परन्तु इसमें यन्त्र–शस्त्र और कर्षण का प्रयोग करते हुए माता के धातुओं के नष्ट होने की भी सम्भावना रहती है, साथ ही संक्रमण का भी भय रहता है।

शिरोवेधन कर्म का निर्देश—निम्नलिखित अवस्थाओं में शिरोवेधन के द्वारा गर्भ का आहरण किया जा सकता है—

१. यदि गर्भस्थ शिशु मृत हो, प्रसव विलम्बित हो, विवर्त्तन अथवा संदंश की सहायता से प्रसव कराना कठिन प्रतीत हो रहा हो।

२. जब गर्भाशयभेदन निषिद्ध हो जैसे गर्भिणी का उपसर्ग से युक्त होना, अथवा उसकी दशा और परिस्थिति का अनुकूल न होना। विपरीत दशा या परिस्थिति में गर्भाशयभेदन घातक हो सकता है।

३. यदि बच्चा जलशीर्षयुक्त (Hydrocephalic) हो। ऐसी स्थिति में एक व्रीहिमुख शस्त्र और नाडी (Trocar & canula) ही पर्याप्त होती हैं, रन्ध्रों अथवा सीमन्तों में से किसी एक का वेधन करके जल को विस्रावित कर देने से सिर छोटा हो जाता है और आहरण आसानी से हो सकता है। इस अवस्था में शिरोवेधन-संदंश की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

४. शिशु के कई विकृत आसनों में जैसे ललाटोदय में जब सुधार सम्भव न हो, साथ ही गर्भाशयभेदन खतरनाक समझा जाय।

५. यदि रुग्णा या उसके संरक्षक गर्भाशयभेदन नामक शल्य कर्म करने की अनुमति न देते हों।

शिरोवेधन का निषेध—यदि श्रोणि का वास्तविक अनुरूप व्यास (True Conjugate) २$\frac{1}{4}$ इञ्च (५.६ से० मी०) से कम हो तथा अनुप्रस्थ (Transverse) व्यास ३$\frac{1}{2}$ इञ्च (८.७५ से० मी०) से कम हो तो कदापि शिरोवेधन के द्वारा आहरण कर्म नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस स्थिति में कर्म करते हुए माता की मृत्यु का भय रहता है।

पूर्वकर्म (Preparation)—संदंशप्रसववत्।

कर्म—शिरोवेधन नामक शल्यकर्म में अवस्था भेद से निम्नलिखित तीन कर्मों का समावेश है-(क) शिर का वेधन, (ख) शिरोभञ्जन (Crushing), (ग) विकर्षण या आहरण (Extraction)।

शिरोवेधन—सिर का वेधन करने के लिये सर्वोत्तम शस्त्र 'ओल्डहैम' (Oldham) का वेधक है। इसकी कैंची जैसी दो अर्द्ध होते हैं जो बीच में एक कील से जुड़े रहते हैं-प्रत्येक अर्द्ध में एक-एक काटने वाले फलक (Blades), दण्ड (Shank) तथा वृन्त (मुठेड़)। विधि यह है कि रोगी को जानुकूर्परासन पर रख लेते हैं। यदि सिर पुर्णतया श्रोणिगुहा में स्थिर न हो तो एक

सहायक गर्भिणी के उदर के ऊपर हाथ रख कर उसे नीचे की ओर दबाकर स्थिर कर ले। सिर के स्थिरीकरण के अनन्तर दूसरा विचार गर्भाशय ग्रीवा के सम्बन्ध

सिम्सन का शिरोवेधन
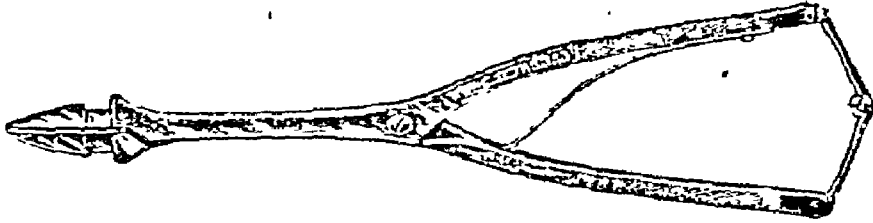
चित्र १२९

में करना होता है। ग्रीवा का विस्तृत होना बहुत आवश्यक है क्योंकि ग्रीवा के पूर्णतया विस्तृत न रहने से बालक के स्कन्ध का निकालना कठिन हो जाता है, साथ ही फोड़े हुए सिर की अस्थियों के किनारों से रगड़ कर ग्रीवा के क्षत होने का भी भय रहता है।

शल्यकर्त्ता अपने बायें हाथ को योनि के भीतर प्रविष्ट करता है और जब तक उसकी अंगुलियों के अग्रों से बच्चे के सिर का अनुभव नहीं होने लगता तबतक वह उसकी प्राप्ति की चेष्टा करता है। कई बार त्रिकोत्सेध सिर के समान ही कठोर होकर भ्रान्ति पैदा करता है। इसलिये भली भाँति गर्भशिर का विनिश्चय कर लेना चाहिये। अब वेधक को बन्द किये हुए योनि में पड़ी हुई अंगुलियों के सहारे अन्दर की ओर ले जाना चाहिये। यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस अस्थि का वेधन करना है उसके ठीक समकोण में शस्त्र रहे, माता के स्थानिक धातुओं को बचाते हुए धीरे-धीरे भीतर में जावे। जब करोटि की अस्थि को प्राप्त कर ले तो वहाँ पर एक छिद्र (स्वस्तिक सदृश) करे। इस छिद्र से शस्त्र के कर्णिका (Shoulder) पर्यन्त पहुंच जाने पर अब शस्त्र के वृन्त को खोले और एक वृत्त की चौथाई घेरे में उसे घुमाते हुए बच्चे को नष्ट करने के लिये उसके मस्तिष्क धातु को नष्ट करते हुए उसके धम्मिल्लक (Medula) तक पहुंच जावे। वेधन में निश्चित रूप से अस्थि का ही वेधन करना चाहिये; किसी सीमन्त या रन्ध्र का नहीं। वेधन का उद्देश्य इतना ही होता है कि सिर पिचक जावे। यह सिर का पचकना प्राकृतिक शक्ति (आकुञ्चन और पीडन) के ऊपर अथवा यन्त्र की सहायता से सम्भव है।

चतुर्थ अध्याय

ग्रीवाच्छेदन

(Decapitation)

इस शस्त्रकर्म में गर्भाशय में पड़े हुए बच्चे की ग्रीवा को काटकर उसे धड़ से पृथक् करके आहरण किया जाता है।

निर्देश—१. अंसावतरण। २. यन्त्रित यमल (Locked twins) की अवस्था में जब एक बच्चा लम्बाई में और दूसरा तिर्यक् स्थिति में पड़ा हो। ३. युग्म अद्भुत गर्भ (Double monsters)।

पूर्वकर्म—संदेश प्रसववत्। रोगी को जानुकूर्परासन में रखा जाता है।

कर्म—गर्भस्थ शिशु की ग्रीवा को स्थिर कर लेना चाहिये। स्थिर करने के लिये यदि बालक का हाथ पहले से ही भ्रष्ट (Prolapsed) हो तो उसी को

'ब्रान' का बडिश यन्त्र

चित्र १३२

'जर्डिन' का बडिश शस्त्र
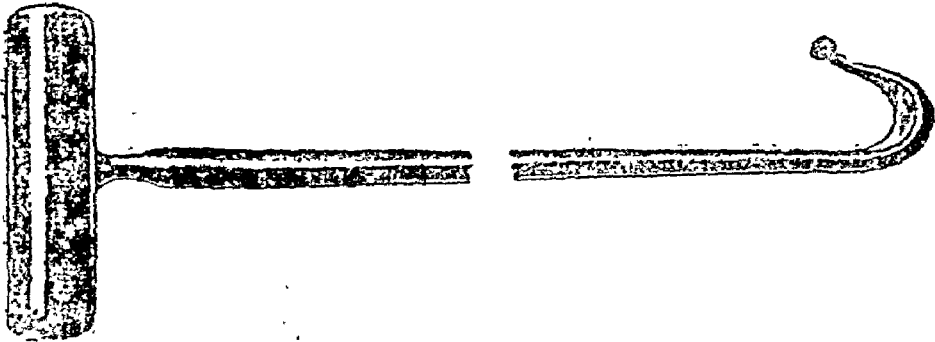
चित्र १३३

पकड़ कर नीचे को खींचते हुए बालक को स्थिर कर लेना चाहिये। यदि

वालक का हाथ भ्रष्ट न मिले तो फिर किसी एक (वालक के) हाथ को नीचे की ओर खींचकर उसे खींचते हुए स्थिर करना चाहिये। फिर शल्यकर्त्ता अपने वायें हाथ को योनि के भीतर प्रविष्ट करता है और वहाँ पर अपनी अंगुलियों के अग्र से ग्रीवा को स्पर्श द्वारा प्रतीत करता है। ग्रीवा की प्रतीति हो जाने पर वह अपने हाथ को और आगे की ओर वढ़ाता है, धीरे-धीरे उसके हाथ का तलवा बच्चे की ग्रीवा के पश्चाद् भाग की ओर पहुंच जाता है। अव एक वडिश यन्त्र (Blunt hook) को धीरे-धीरे वायें हाथ के तलवे वाले भाग के सहारे शिशु की ग्रीवा के ऊपर उसके पश्चाद्भाग तक पहुंचाया जाता है। इस वडिश के द्वारा ग्रीवा को फँसा कर उसे नीचे की ओर खींचते हुए ग्रीवा को पूर्णतया निश्चल (Fix) कर लेते हैं। अव एक लम्वे अन्तर्मुख शस्त्र या शरारीमुख शस्त्र (Scissors) के द्वारा ग्रीवाच्छेदन का कार्य पूरा किया जाता है। अन्तर्मुख शस्त्र द्वारा ग्रीवा के काटने का कार्य धीरे-धीरे और वड़ी तत्परता के साथ माता के स्थानिक धातुओं की रक्षा करते हुए करना होता है। ग्रीवाच्छेदन के अनन्तर धड़ को आसानी से भ्रष्ट भुजा (Prolapsed arm) का कर्षण करते हुए प्रसव कराया जा सकता है। छिन्न हुए सिर का प्रसव स्वयमेव हो जाता है; परन्तु यदि उसमें वाधा प्रतीत हो तो अंगुलियों को मरे सिर के मुख में डालकर उसका कर्षण करते हुए वाहर निकाले अथवा सूतिकासंदंश की सहायता से उसका निर्हरण करे। यदि श्रोणि संकुचित हो तो उस छिन्न सिर के प्रसव में वाधा होती है और उसका प्रसव करोटिभंजक अथवा कपालावपीडक यन्त्र की सहायता से उसके आकार को छोटा कराना होता है।

शस्त्रकर्म की वाधायें और भय—

१. कई वार गल्ती से ग्रीवा के छेदन अनुप्रस्थ न होकर तिर्यक् हो जाता है और कैंची उसकी ओर चली जाती है। फलतः उद्देश्य भी पूरा नहीं हो पाता।

२. यदि शस्त्र का अग्र वायें हाथ की अंगुलियों के सहारे न प्रेरित किया जाय तो माता के स्थानिक धातुओं के नाश का भय रहता है। कई वार गर्भाशय की अधोगर्भशय्या तथा वस्ति जैसे मर्माङ्गों के कटनेका भय रहता है।

३. यदि श्रोणि का संकोच वहुत हो अथवा गर्भाशय अत्यधिक आकुंचित

हो तो बच्चे के कोष्ठाङ्गछेदन अथवा पृष्ठछेदन की आवश्यकता पड़ती है इनके छेदन के पश्चात् कहीं ग्रीवा का छेदन सम्भव होता है।

४. ग्रीवाच्छेदन नामक इस शस्त्रकर्म में माता की मृत्यु का प्रमाण अत्यधिक रहता है।

कोष्ठाङ्ग—छेदन या भेदन (Evisceration).

निर्देश या विधेय—१. उदरगुहा अथवा उरोगुहा का अतिशय प्रमाण (जल अथवा अर्बुद के कारण) का होना जिससे शिशु का जन्म सम्भव न हो सके।

२. **निरुद्ध अंसोदय** (Impacted)-जिसमें ग्रीवा का छेदन सम्भव न हो।

पूर्वकर्म—संदंश प्रसववत्।

कर्म—भ्रष्ट हुए बाहु का कर्षण करते हुए अथवा उदर के ऊपर से दबाव देकर गर्भस्थ शिशु को स्थिर कर ले। तदनन्तर शल्यकर्त्ता अपने बायें हाथ को योनि के भीतर प्रविष्ट करता है जब तक कि उसकी अंगुलियों से बच्चे उरोगुहा अथवा उदरगुहा का स्पर्श न होने लगे। वह हाथ को क्रमशः आगे की ओर बढ़ाता चलता है। जब अंगुल्यग्रों द्वारा उदर अथवा उरस्थल का पता लग जावे तो दाहिने हाथ में एक गर्भच्छेदक अन्तर्मुख (Embryotomy scissors) को लेकर उसे धीरे-धीरे बायें हाथ के तलवे के सहारे ऊपर की ओर ले जाकर जैसी स्थिति हो उदर और उरोगुहा को उसके द्वारा काटकर खोले। फिर बायें हाथ से कोष्ठगत अंगों को निकाले। पश्चात् शेष मृत शिशु को कर्षण के द्वारा निकाले। अन्त में उत्तरबस्ति के द्वारा गर्भाशय का प्रक्षालन कर लेना चाहिये।

पृष्ठच्छेदन—(Spondylotomy)

जब पृष्ठ उदय लेने वाला भाग हो और ग्रीवा तक शस्त्र की पहुंच न हो सके यह शल्यकर्म करना होता है। इसमें पृष्ठवंश (सुषुम्ना स्तम्भ) का छेदन करना होता है। इसमें अंग को स्थिर करके मजबूत अन्तर्मुख शस्त्र (कैंची) से काट देना चाहिये।

पञ्चम अध्याय

अंगच्छेदन या वाहुच्छेदन

(Cleidotomy)

निर्देश—कई वार शिशु का असाधारण प्रमाण होने के कारण उसके स्कन्ध या अंस जन्म में वड़ा विलम्व होता है जैसे अकपाल अद्भुत गर्भ (Ancaphalic monster) में। प्रसव कराने के सभी उपायों के विफल होने पर इस अवस्था में एक मात्र उपाय अक्षक को काटकर विभजित करना ही शेष रह जाता है। इस शल्यकर्म को इसीलिये वाहु का छेदन कहते हैं। वाहु को काटकर (पृथक् करके) प्रसव कराना होता है।

कर्म—शल्यकर्त्ता अपने वायें हाथ की अंगुलियों को वच्चे की अक्षकास्थि पर रखता है, फिर अन्तर्मुख शस्त्र को दाहिने हाथ में लेकर अंगुलियों के सहारे माता के स्थानिक धातुओं की रक्षा करते हुए वच्चे की अक्षकास्थि को काट देता है। फिर गात्र को सिर या पैर का कर्षण करते हुए वाहर निकाल लेता है।

पादच्छेदन—(Cutting of the leg)

कई वार स्फिक् के निरुद्ध होने पर प्रसव में वड़ी कठिनाई उपस्थित होती है। वच्चे के पैर का वाहर निकलना असम्भव हो जाता है। इस अवस्था में उनका पैर का छेदन आवश्यक हो जाता है। पादच्छेदन नामक शल्यकर्म 'राम्वोस्थम' के वडिश यन्त्र तथा अन्तर्मुख शस्त्र की सहायता से करते हैं।

मूलाधारभेदन (Episiotomy)

यह शस्त्रकर्म मूलाधार के विदार से वचाने के लिये किया जाता है। शिशु के प्रसव को सुविधापूर्वक कराने के लिये इसमें मूलाधार का एक लम्वा भेदन किया जाता है; ताकि प्रसवकाल में मूलाधार क्षेत्र में एक वड़ा अवकाश मिल सके। भेदन के विस्तार और दिशा को इस प्रकार सीमित रखते हैं कि श्रोणितल-भूमि (Pelvic floor) को हानि न पहुँच सके। यह शस्त्रकर्म आमतौर से प्रथम गर्भा स्त्री में ही किया जाता है। जव उदय लेने वाला भाग श्रोणितल को आध्मापित (Distended) करता है तभी यह कर्म किया जाता है। निम्न-लिखित अवस्थाओं में इसका विधान है।

निर्देश—१. जब मूलाधार के विदार की सम्भावना ऐसी हो कि उसमें गुद-संकोचनी पेशी तथा मलाशय को भी हानि पहुंचे। अर्थात् गर्भशिर निकलते समय इतना बड़ा विदार पैदा करे कि उसमें गुदसंकोचनी पेशी और मलाशय की क्षति की भी सम्भावना हो।

२. अप्रजाता या प्रजाता में यदि बच्चे की भुजा फैली हुई हो तो उसके प्राथमिक उपचार के रूप में भी यह कर्म किया जाता है।

३. फैले हुए (Extended) स्फिगुदय में प्रसव कराते हुए।

४. उन स्त्रियों में जिनमें पूर्व के प्रसव में पूर्ण विदार का वृत्त मिले।

५. अप्रजाता में अन्तविवर्त्तन करने के पूर्व।

मूलाधार भेदनविधि
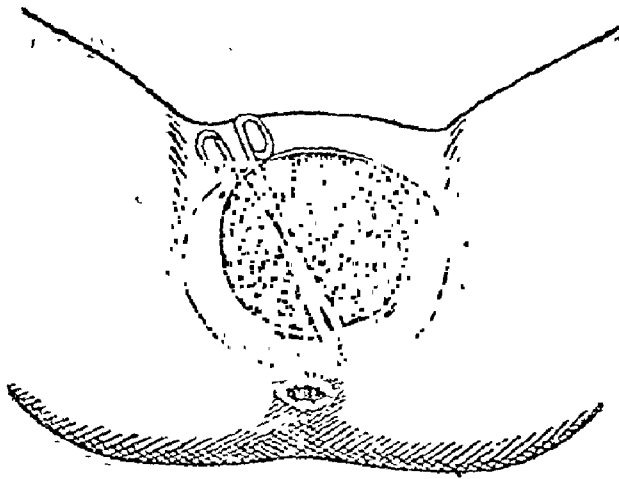
चित्र १२४

कर्म—मूलाधार भेदन करने के पूर्व प्रस्ताविक भेदन के दोनों छोरों पर (त्वचा के समकोण और त्वचा पर) दो निशान शस्त्र से लगा देना चाहिये। ये चिह्न एक सुई के जरिये या चाकू (वृद्धिपत्र) के नोक से बनाये जा सकते हैं—इन चिह्नों की उपस्थिति से बाद में सीवन करते हुए बड़ी सुविधा रहती है। भेदन का कार्य वृद्धिपत्र के द्वारा करना उत्तम होता है। यह भेदन मूलाधार के पूर्व किनारे से लेकर पीछे और बाहर की ओर को मलाशय के एक पार्श्व में होना चाहिये। यह

इतना लम्बा हो कि प्रसवकाल में उसके पुनः विक्षत (Laceration) की सम्भावना न रहे।

भगास्थिच्छेदन (Pubiotomy)—

इस शस्त्रकर्म का उद्देश्य श्रोणिगुहा की समाई का बढ़ाना है। इसके परिणाम-स्वरूप श्रोणिगुहा के सभी व्यास बढ़ जाते हैं। यह ध्यान रखना चाहिये कि अस्थि के कटे हुए अंश २ $\frac{1}{2}$ इंच (६ से. मी.) अधिक दूरी पर न होने पावें। इस शस्त्र-कर्म के परिणामस्वरूप अन्तर्मुख का अनुरूप व्यास (१ से. मी.), तिर्यक् व्यास (१·५ से. मी.), और अनुप्रस्थ व्यास (२·५ से. मी.) बढ़ जाता है। इस प्रकार पूरे श्रोणिकण्ठ का क्षेत्र च्यौड़ा हो जाता है।

निर्देश—

१. सम्मूढ़ पश्चिम चिबुकासन (Persistent mento posterior)
२. संकुचितश्रोणि की कुछ अवस्थायें।
३. श्रोणि और गर्भ की विषमता (Disproportion)।
४. यदि शिशु जीवित हो।
५. जब संदंश प्रसव विफल रहा हो।
६. मृदु मार्ग जब पूर्णतया विस्तृत हो या आसानी से विस्तृत किया जा सके। अन्यथा मर्माङ्गों के विदार का भय रहता है।
७. जब अपत्यमार्ग उपसृष्ट न हो।
८. 'नेगीली' की श्रोणि की स्थिति में इस शल्यकर्म का निषेध है।

कर्म—रोगी को 'वाल्चर' के आसन पर रखे। पूर्णतया जीवाणु राहित्य का ध्यान रखे। भगास्थि की धारा पर (१ से० मी०) का भेदन करे, फिर अस्थि के पीछे की ओर अस्थ्यावरण के भीतर से अंगुलि प्रविष्ट करके वहाँ की स्थानिक रचनाओं को पृथक् करे। फिर उसके भीतर एक विशेष प्रकार की चक्रसूची का प्रवेश करे। फिर इस सूची की सहायता से 'गिग्ली' का तन्तु करपत्र (Wire saw) का प्रवेश करके सूई को निकाल ले। फिर इस करपत्र के साथ उसका वृन्त (Handle) जोड़े और अस्थि को काट ले। कटने के साथ ही दोनों किनारे दूर-दूर हो जाते हैं। इसलिये श्रोणि को दबाये रखना चाहिये ताकि यह दूरी छः सात सेण्ट मीटर से अधिक न बढ़ने पावे। यदि रक्तस्राव बहुत हो तो उसका निरोध करने का प्रयत्न करना चाहिये। पुनः कर्षण या संदंश से प्रसव करा ले।

प्रसव के अनन्तर शीघ्रता से सीवन करना चाहिये। व्रण के ऊपर विशोधित कवलिका रख कर श्रोणि को चौड़े मजबूत वन्ध से निश्चल कर देना चाहिये।

इस शस्त्रकर्म में भय—१. योनि, मूत्राशय और प्रसेक (Urethra) के कटने का भय रहता है। २. त्रिक्-जघनसन्धि की हानि की सम्भावना रहती है। ३. रक्तस्राव की अधिकता हो सकती है और इसके स्तम्भन का उपाय केवल पीडन (Pressure) रह जाता है। ४. जीवाणूपसर्ग तथा अस्थि के कटे हुए भागों के असंयोजन का भी भय रहता है। ५. श्रोणि स्थायीरूप से कुछ बड़ी हो जाती है।

षष्ठ अध्याय

गर्भाशय-भेदन

(Caesarean Section)

पर्याय नाम—उदरपाटन, उदरविपाटन, कुक्षिपाटन, कुक्षिभेदन आदि।

गर्भाशयभेदन निम्नलिखित अवस्थाओं में निर्दिष्ट है—

इन अवस्थाओं में कुक्षिपाटन नितान्त या एकान्ततः आवश्यक है—

१. प्रसव में बाधा पहुंचाने वाले गर्भाशय, बीजग्रन्थि, मलाशय अथवा श्रोणि के अर्बुद।

२. ग्रीवा या योनिसम्वरण (Atresia)।

३. मध्यवर्त्ती पूर्वस्था अपरा।

४. श्रोणि का अतिसंकोच।

५. जब भी अनुरूप व्यास (Conjugate) २$\frac{1}{4}$ इञ्च (५.६ से० मी०) से और अनुप्रस्थ व्यास ३$\frac{1}{2}$ इञ्च (८.७५ से० मी०) से कम होता है तो श्रोणि से प्रसव कराना असम्भव हो जाता है। ऐसी दशा में कुक्षिपाटन यदि स्थिति अनुकूल हो तो एक मात्र उपाय है।

निम्नलिखित अवस्था में इस कर्म का विकल्प से निर्देश है (Relatively Indicated)—

१. श्रोणि का अल्प संकोच।

२. माता की स्थिति ऐसी हो कि तत्काल प्रसव की आवश्यकता हो।
३. बच्चे की स्थिति ऐसी हो कि उसमें तत्काल प्रसव की आवश्यकता हो।
४. स्फिगुदय की कुछ स्थितियों में बच्चे के पैर फैले हुए हों और विवर्त्तन के सभी प्रयत्न विफल हो गये हों।
५. यदि पूर्व की गर्भस्थितियों में अपरागत अन्तः शल्यता (Infarct) का वृत्त मिले।
६. हृद्रोग से पीडित गर्भिणी हो—इसमें भावी गर्भाधान की आशंका को दूर करने के लिये माता को वन्ध्या भी कर सकते हैं।
७. गर्भाशय का आकुञ्चन वलय।
८. नालभ्रंश की कुछ स्थितियों में।
९. ललाटोदय या अंसोदय में यदि विवर्त्तन सफल न हो।
१०. क्वचित् यन्त्रित (Locked) यमल में भी यह कर्म उचित माना गया है।
११. अधिक वय की चालीस के ऊपर की आयु की गर्भिणी में गर्भाशयभेदन से प्रसव कराना भी विचारणीय होता है।

निषेध—१. जब रोगी की साधारण स्थिति ठीक न हो तो इस प्रकार के महत् शस्त्र कर्म करते हुए रोगी के प्राण का भय रहता है।
२. जब शस्त्रकर्म ऐसी परिस्थिति में किया जाने वाला हो और जहाँ पर जीवाणु राहित्य कठिन या असम्भव प्रतीत हो रहा हो।
३. जब गर्भाशय बुरी तौर से उपसृष्ट हो।
४. जब प्रसव कराने के अनेक प्रयास किये जा चुके हो और जीवाणुओं का उपसर्ग निश्चित रूप से हो चुका हो।
५. यदि बच्चा गर्भाशय के भीतर मर चुका हो या मरने वाला प्रतीत हो रहा हो। परन्तु यदि श्रोणि और गर्भ का विषम अनुपात हो और प्रसव गर्भाशय-भेदन के अतिरिक्त किसी उपाय से सम्भव न हो तो यह कर्म किया जा सकता है।

पूर्वकर्म—अन्यान्य महत् शल्यकर्मों की भाँति ही रखना चाहिये; परन्तु गर्भिणी में इस शस्त्रकर्म के पूर्व किसी तीव्र रेचन का प्रयोग नहीं करना चाहिये। साथ ही पूर्वोपचार (Premedication) के रूप में अहिफेन का प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि इसका गर्भ के ऊपर बुरा असर पड़ता है।

शल्यकर्त्ता के साथ संज्ञाहर्त्ता के अतिरिक्त दो और सहायक शल्यकर्म करते हुए रहने चाहिये। इन सहायकों के अलावे भी एक और व्यक्ति रहना चाहिये, जो स्वतन्त्र रूप से केवल शिशु की परिचर्या में ही रहे। मूत्रनाडी का संयोजन करके मूत्र निकाल लेना चाहिये। जितना नितान्त आवश्यक हो उतने समय तक ही रोगी (गर्भिणी) को संज्ञाहर द्रव्यों के प्रभाव पर रखे। अधिक काल तक रखना हानिप्रद हो सकता है।

गर्भाशयभेदन की दो विधियां प्रचलित हैं—१. प्राचीन अथवा ऊर्ध्वगर्भशय्या-भेदन (Upper segment operation) तथा २. नवीन अथवा अधोगर्भशय्याभेदन (Lower segment operation)।

गर्भाशय-भेदन
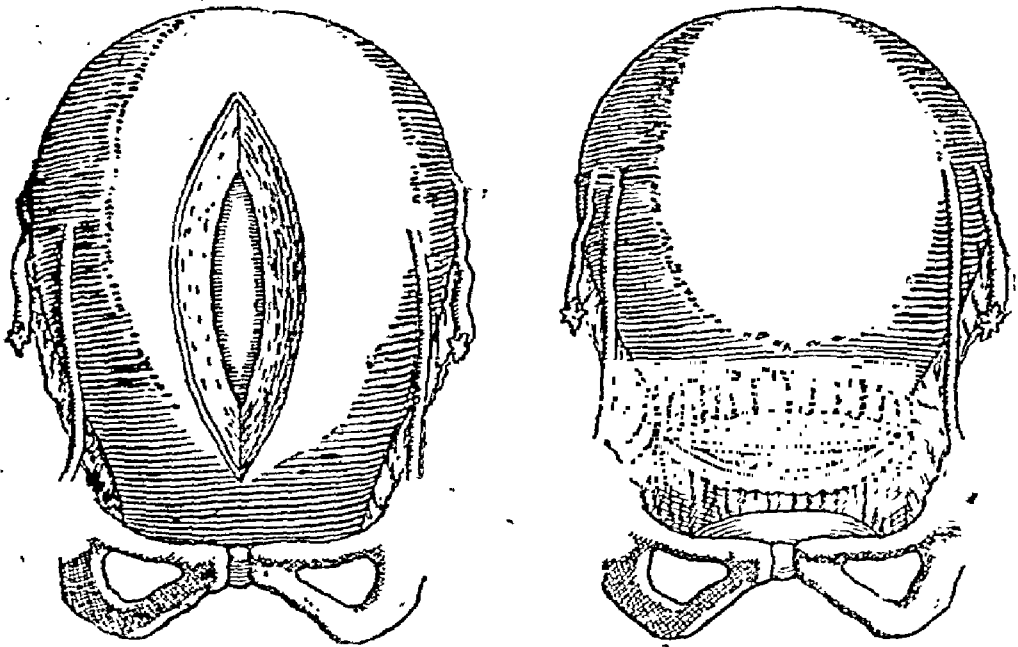
चित्र १२५

ऊर्ध्वगर्भशय्या-भेदन कर्म—उदर की दीवाल की मध्यरेखा में एक ५ इंच लम्बा भेदन करे। इस भेदन का विस्तार नीचे की नाभि से कुछ ऊपर तक ही रहना चाहिये। इस भेदन की गहराई गर्भाशय तक पहुँचने तक की होती है। उदर्य्याकला का भेदन करते हुए इस बात का ध्यान रखे कि कहीं मूत्राशय को

क्षति न पहुँचे। अब गर्भाशय को केन्द्र में कर ले और उसके ऊर्ध्वगर्भशय्या का अधिक से अधिक भाग जिसमें प्रत्यक्ष हो सके इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये। आन्त्रों को गर्भाशय से भली प्रकार से पृथक् करके रखे। अब गर्भाशय के मध्य-रेखा में एक ४ ईश्च लम्बा भेदन सावधानी से करना चाहिये।

शस्त्रकर्म की स्थिति में काफी रक्तस्राव होता है। विशेषतः उस अवस्था में जब कि अपरा गर्भाशय के पूर्व दीवाल से सम्बद्ध हो। इस रक्तस्राव की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह रक्तस्राव तब तक नहीं बन्द हो सकता जब तक कि गर्भाशय रिक्त न हो जाय और उसकी दीवालें प्रत्याकुञ्चित (Retracted) न हो जायँ। यदि अपरा पूर्व की दीवाल से लगी हो तो उसे काटे, काटने के साथ ही गर्भोदक बड़े वेग से निकलेगा; किन्तु यदि अपरा पीछे वाली दीवाल से सम्बद्ध हो तो जरायु के भेदन के पश्चात् गर्भोदक निकलता है। इसके बाद शल्यकर्ता अपने हाथ को गर्भाशय में डालता है और बच्चे के पैरों को पकड़ कर उसे बाहर निकालता है। यदि गर्भाशय में 'पिटोसीन' ५ यूनिट की मात्रा में सूचीवेध के द्वारा भरा जाय तो वह तत्काल आकुञ्चन करता है, अब उदर के व्रण से बाहर की गर्भाशय को निकालते हैं, उसके पीछे की ओर गर्म पानी में भिगोई और निचोड़ी हुई तौलिया प्लोत को रख देते हैं। इसके बाद बच्चे को उसके नाभिनाल का दो स्थानों पर निग्रह (Clamp) करके (निग्रह स्थानों के मध्य में काट कर) पृथक् करना चाहिये। फिर बच्चे को किसी सहायक को देना चाहिये जो उसके नाभिनाल का बन्धन प्रभृति कर्म करता है। इसके बाद अपरा और जरायु को सावधानीपूर्वक निकाले और शोध करके देख ले कि उनके अवशेष तो नहीं है। शस्त्रकर्म के समाप्त होने पर 'एरगोमेट्रिन' ·५ मि० ग्रा० अन्तर्भरण गर्भाशय में कर देना चाहिये।

गर्भाशय के व्रण का सीवन (No_2 B. P. C) 'कैटगट' से दो स्तरों में (उपरितन तथा गम्भीर) करना चाहिये। सीवन सविच्छेद (Interupted) होनी चाहिये। सीवन के अनन्तर 'डोग्ला' के कोष की सफाई करके वहाँ गर्भोदक रक्तस्राव आदि को सुखा कर गर्भाशय उदरगुहा में लौटा देना चाहिये। तत्पश्चात् औदरिक व्रण का सीवन करना चाहिये।

अधोगर्भशय्या-भेदनकर्म—अधिक उपस्रष्ट अवस्था में यह शस्त्रकर्म

लाभप्रद माना गया है। शस्त्रकर्म करते समय रोगी को 'ट्रेंडेलेन वर्ग' की स्थिति में रखते हैं। एक लम्बे भेदन (Vertical incision) से गर्भाशय का भेदन करते हैं। इस भेदन का विस्तार भगसन्धानिका से लेकर नाभितक का होता है। भेदन के द्वारा उदर्यागुहा को खोलते हैं। उदरगुहा को साधारण लवण में भिगोये हुए वर्त्ति (Ganze) के द्वारा सुरक्षित कर लेते हैं। आन्त्रों को अच्छी तरह से पृथक् कर लेते हैं। सर्पास्य यन्त्रों (Retractors) की सहायता से व्रण को चौड़ा कर लेते हैं। फिर गर्भमूत्राशयकोष (Utero-vasical pouch) नामक उदर्याकला के भाग का अनुप्रस्थ भेदन करके उसको खोलते हैं। अब गर्भाशय की दीवाल में 'पिटोसिन' का अन्तर्भरण कर देते हैं।

फिर गर्भाशय की अधोगर्भशय्या में एक ३½ इञ्च लम्बा भेदन करते हैं। तत्पश्चात् 'विलेट' के संदंश से बालक की करोटि को पकड़ कर बाहर निकालते हैं, निकालते समय गर्भाशयस्कन्ध का पीडन भी आवश्यक है। इस क्रिया से सिर का आसानी से प्रसव हो जाता है और भेदन भी सीमित ही रह जाता है। फिर पूर्ववत् नाभिनाल का बन्धन और कर्त्तन करते हुए बच्चे का प्रसव कराया जाता है।

गर्भाशय के भेदन का संयोजन दो स्तरों में करना होता है। इसके सीवन (No I B. P. C) 'कैटगट' से व्यवहृत होता है। उदर्य्याकला की सीवन (No. O) शून्य अंक वाले 'कैटगट' से करना होता है और सीवन की विधि अविच्छिन्न रखी जाती है। इसके बाद उदर की दीवाल की सीवन की जाती है।

अधोगर्भशय्याभेदन के लाभ—(क) अधोगर्भशय्या की दी दीवाल ऊर्ध्व मार्ग की अपेक्षा पतली होती है। इसलिये इसकी सीवन ज्यादा ठीक बैठती है और पुनर्निर्माण (Repair) बढ़िया होती है। साथ ही व्रण वस्तु (Scar) अच्छा बनता है।

(ख) अधोगर्भशय्या ऊर्ध्व की अपेक्षा कम रक्तमय (Vascular) होता है। फलतः ऊर्ध्व की अपेक्षा अधोगर्भशय्या में भेदन करने से रक्तस्राव की सम्भावना कम रहती है।

(ग) इसमें संश्लेष (Adhesions) कम बनते हैं क्योंकि उदर्य्याकला का भेदन रोपण के बाद परिमाण में दो इञ्च छोटा हो जाता है और वह गर्भाशय के व्रणवस्तु को पूर्णतया आच्छादित कर सकता है।

(घ) यदि संश्लेप बने भी तो वह अधोगर्भशय्या भेदन में मूत्राशय तक फैल सकता है; परन्तु ऊर्ध्व गर्भशय्याभेदन में वह आन्त्र और वपा (Omentum) को प्रभावित कर सकता है और कचित् बद्धान्त्र (Intestinal obstruction) का हेतु भी बन सकता है।

(ङ) सन्निकर्ष (Immediate) परिणाम विशेषतः उपसर्ग से युक्त रोगियों में इस शस्त्र कर्म में अपेक्षाकृत उत्तम होता है।

(च) परवर्ती गर्भाधानों में गर्भाशय विदार की सम्भावना ऊर्ध्व भाग के भेदन की अपेक्षा कम होती है।

(छ) उपसर्ग के पहुंचने पर अधोशय्याभेदन में ऊर्ध्व की अपेक्षा माता की मृत्यु का प्रमाण कम रहता है।

(ज) ऊर्ध्वगर्भशय्याभेदन में गर्भाशय का उपसर्ग उसके सीवनों को पार करते हुए उदर्याकला में पहुंच सकता है; परन्तु अधोशय्याभेदन में यह सम्भव नहीं होता है क्योंकि भेदन के ऊपर मूत्राशय पड़ा रहता है।

हानि—कोई नहीं होती। केवल इस शस्त्रकर्म का करना कठिन है और इसका उपक्रम जघन्य है।

गर्भाशयभेदन के पश्चात् कर्म (After tretment)—पश्चात्कर्म सामान्य औदरिक शल्यकर्मों की भाँति ही रखना पड़ता है। रोगी की तृषा को कम करने के लिये गुदा द्वारा जल (Tap water) बिन्दुविधि (Drip) से चढ़ाना चाहिये। रोगी को प्रथम बारह घण्टों तक मुख द्वारा कुछ भी नहीं देना चाहिये; थोड़ा-थोड़ा जल दिया जा सकता है। तत्पश्चात् दूध, सोडावाटर, चाय आदि पेय पदार्थों की व्यवस्था करनी चाहिये।

रोगी के सिरहाने को ऊँचा करके रखना ठीक होता है ताकि सूतिकास्राव का निर्हरण आसानी से हो सके। तीसरे दिन संध्या को मृदु रेचन देकर और चौथे दिन प्रातःकाल साबुन और पानी की आस्थापन बस्ति देकर कोष्ठ की शुद्धि कर लेनी चाहिये। माता को यदि किसी कारण विशेष से निषिद्ध न समझा जाय तो उसे शिशु को लालन-पालन के लिये इस काल में दिया जा सकता है।

गर्भाशयभेदन की आपत्तियाँ (Dangers)—

१. गर्भाशयभेदन नामक इस शल्यकर्म का सबसे बड़ा खतरा संक्रमण (Sepsis) का रहता है। इसलिये जब तक कि रोगी की दशा तथा अन्य

परिस्थितियाँ संक्रमण निवारण के लिये पर्याप्त न हों शस्त्रकर्म करने के लिये तैयार नहीं होना चाहिये। अतएव जिन रोगियों में जरायु विदीर्ण न हुई हो अथवा विदीर्ण हुए थोड़े ही समय बीता हो; अथवा कर्षण की विविध विधियों से प्रसव का प्रयास न किया गया हो; अथवा गर्भाशय गुहा के भीतर अङ्गुलि, हाथ या यन्त्र का प्रवेश न हो पाया हो—उन रोगियों में यह शल्यकर्म करना उत्तम होता है और रोगी में भी संक्रमण पहुँचनें का भय नहीं रहता। यदि अपत्यपथ व्रणित शोथयुक्त अथवा क्षतयुक्त हो तो भी संक्रमण पहुँचने की आशङ्का रहती है।

२. दूसरा भय रक्तस्रावाधिक्य का होता है। यद्यपि यह सदैव इतना घातक नहीं होता; तथापि यदि गर्भाशय को प्रसव के अनन्तर आकुंचन न हो और गर्भाशय में हीन बलता (Inertia) आ जावे तो अपरा क्षेत्र से इतना अधिक रक्तस्राव होने लगता है कि माता की रक्षा का एक मात्र उपाय गर्भाशयच्छेदन (Hysterectomy) ही रह जाता है।

अधोगर्भशय्याभेदन में कई बार भेदन (Incision) के अधिक लम्बे होने से गर्भाशय की धमनियाँ कट जाती हैं। उनके कटने से तीव्र रक्तस्राव होने का भय रहता है—ऐसा तभी होता है जब कि सिर का प्रसव हाथ या संदंश की सहायता से कराया जावे।

कई बार रक्तस्राव प्राथमिक भेदनों से होने लगता है। वहाँ पर बिना रक्त का निरोध कराये ही प्रसव कराने में शल्यकर्त्ता लग जावे।

वन्ध्या करने की आवश्यकता—गर्भाशयभेदन के साथ ही साथ कई बार स्त्री को वन्ध्या करने की भी आवश्यकता प्रतीत होती है ताकि उसे भविष्य में गर्भाधान न हो और पुनः शस्त्रकर्म करने की अवस्था न उत्पन्न होवे। सामान्यतया वन्ध्या करने का विधान किसी बड़े शारीरिक रोग, रक्तस्राव की अधिकता अथवा जननाङ्गों की विकृति में किया गया है। यदि एक स्वस्थ स्त्री के स्वस्थ गर्भाशय और जननाङ्गों की विद्यमानता रहने पर वन्ध्या करते समय कई बातों का विचार परमावश्यक है। यदि पत्नी अथवा पति अथवा दोनों ही इस बात के इच्छुक हों तो चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि उन्हें वह उसके भावी परिणामों को स्पष्ट कर दे। जब चिकित्सक को विश्वास हो जाय कि दम्पति दृढ़ निश्चय हैं और उन्हें किसी प्रकार सन्तानादि के अभाव का पश्चात्ताप नहीं होगा तो स्त्री को अधोलिखित

शल्यकर्म की विधि से वन्ध्या (Sterile) कर देना चाहिये। इसके साथ ही यदि चिकित्सक को वैद्यकीय आधार (Medical ground) परवन्ध्या करने का विधान मिलता हो तब तो कोई बाधा ही नहीं है।

वन्ध्या करने की विधियाँ—

१. बीजवह स्रोत के दोनों किनारों का बन्धन (Ligature) करना। यह सन्तोषजनक विधि नहीं है।

२. बीजवह स्रोत (Tube) के गर्भाशययिक प्रान्त (Uterine end) का स्थायी रूप से निरुद्ध (Occlusion) करना। यह क्रिया (अ) शृंग (Cornua) के छेदन (Excision) और कटे हुए भागों की सीवन करने से (ब) अथवा स्रोत का विभजन करके गर्भाशयिक प्रान्त को पक्षबन्धनिका के उदर्य्याकला निहित (Burying) करने से सम्पन्न होती है।

ग्रीवा का कृत्रिम विकसन—प्रसव की प्रथमावस्था में विशेषतः गर्भाशय के प्राथमिक परासङ्ग (Inertia) में ग्रीवा के कृत्रिम विकास (Artificial dilatation) नामक एक शल्यकर्म प्रचलित रहा। इस कार्य में अङ्गुलियों के के सहारे (Manual) अथवा जलपूर्ण दृति (Hydrostatic bag) के द्वारा ग्रीवा का विस्तार करना पड़ता था। जब से उदरविपाटन (Caesarean section) नामक शस्त्रकर्म का बहुलता और सफलता के साथ प्रयोग होने लगा है। इस शल्य क्रिया की आवश्यकता कम हो गई है। 'बार्न' नामक वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम जलपूर्ण दृति का प्रयोग किया था। आजकल 'चैम्पिरियर डी राइब' का यन्त्र ग्रीवा के विस्फार में व्यवहृत होता है। इस यन्त्र में एक 'वाटरप्रूफ'

'चैम्पेरियर डी राइब्स बैग' का प्रवेश कराने वाला संदंश
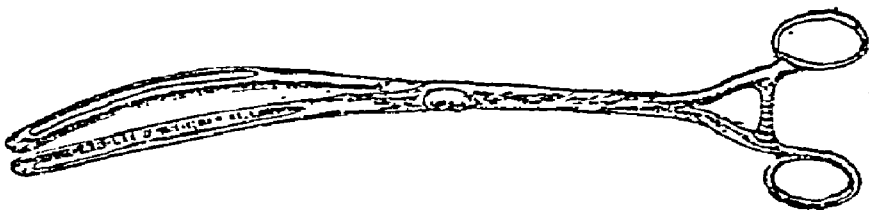
चित्र १२६

मजबूत रेशम का नासपाती के आकार का थैला रहता है, जिसके नीचे से रबर की नलिका जुड़ी रहती है—जिसके जरिये उस थैले में पानी भरा जा सके। पहले

थैले को अङ्गुलियों के सहारे या संदंश के जरिये ग्रीवा में प्रविष्ट करते हैं। यह एक विशिष्ट प्रकार का संदंश होता है जिसके द्वारा थैले को योनि के अन्दर में डालते हैं। इसके सम्बन्ध में संक्षेप में कई बातों को स्मृति में रखना चाहिये:—
१. थैले अपेक्षाकृत नया हो अन्यथा उसके फट जाने का भय रहता है। २. थैले को उबाल कर विशोधित कर लेना चाहिये। ३. प्रवेश के पूर्व उसकी समाई (कितना पानी ले सकता है) माप कर लेना चाहिये। ४. प्रवेश कराते समय ग्रीवा-संदंश (Volsella) के द्वारा ग्रीवा को स्थिर कर लेना चाहिये। ५. जल का प्रवेश धीरे-धीरे करे और जल के स्थान पर मृदु जीवाणुनाशक द्रव जैसे टङ्कण द्रव (Boric lotion) भरे तो अधिक उत्तम होता है। ६. 'हिगिन्सन' सीरिञ्ज से द्रव भरा जाय। ७. थैले के प्रवेश में जरायु का विदीर्ण करना अनावश्यक होता है; परन्तु पूर्वस्था अपरा की स्थिति हो तो उसका विदीर्ण करना आवश्यक हो जाता है। ८. सामान्यतया ग्रीवा के विकास में इसके प्रयोग में सात से बारह घण्टे तक लग जाते हैं। ९. शीघ्रता हो तो थैले को नीचे वाले वृन्त भाग (Stalk) से एक या डेढ़ सेर का कोई भार एक सूत्र से बाँध कर लटका देना चाहिये।

कई बार अप्रजाताओं में ग्रीवा का अधोभाग तथा वहिर्भग (Ext. OS) विस्तृत नहीं हो पाता और विलम्ब तक अविकसित ही रह जाता है। इस स्थिति में ग्रीवा (Cervix) के भेदन करने की आवश्यकता पड़ती है। यह कर्म बहुत ही आत्ययिक अवस्था में ही करे। यदि भेदन गहरा हुआ तो बाद में उसके सीवन की भी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार गर्भाशय ग्रीवा का कृत्रिम विस्फारण तीन विधियों से १. अङ्गुलियों से, या २. विस्फार दृति (Hydrostatic bag) अथवा ३. शस्त्रक्रिया (कैंची या चाकू से भेदन करते हुए) के द्वारा किया जाता है।

गर्भाशयच्छेदन (Hysterectomy)

कई बार गर्भाशयभेदन नामक शल्यकर्म करते समय गर्भाशय का छेदन करना भी आवश्यक हो जाता है। निम्नलिखित अवस्थाओं में ऐसा करना चाहिये:—

१. यदि अवरोध का कारण सौत्रिकार्बुद या अनेक सौत्रिकार्बुदों की उपस्थिति हो।

२. क्वचित् यदि शस्त्रकर्म के योग्य ग्रीवा के घातक रक्तार्बुद (Carcenoma of the cervix) की विद्यमानता हो।

३. यदि गर्भाशय अत्यधिक मात्रा में संक्रमण से युक्त हो।

४. यदि गर्भाशयभेदन के अनन्तर बच्चे के प्रसव के बाद भी गर्भाशय में आकुंचन या प्रत्याकुंचन न हो रहे हों और अपरास्थल से अत्यधिक रक्त नाश हो रहा हो।

५. गर्भाशय के कई विदारों में भी गर्भाशयछेदन की आवश्यकता होती है।

प्रधान कर्म—गर्भाशय-छेदन नामक इस शल्यकर्म में पूरे गर्भाशय को अथवा केवल गर्भाशय-गात्र को अन्तर्मुख (Internal OS) तक काटकर निकाल लेते हैं।

सप्तम अध्याय

संदंश-प्रसव

(Forceps)

पर्याय नाम—सूतिकासंदंश, सूतिकास्वस्तिक, संदंशप्रयोग, अक्षकर्षकसंदंश, Midwifery forceps, Obstetric forceps.

व्याख्या—प्रधानतया तीन प्रकार के सूतिकासंदंश प्रसव कराने के कार्य में व्यवहृत होते हैं—(क) लम्बी मोड़वाले (The long curved)। (ख) अक्षकर्षकसंदंश (Axistraction forcops) तथा (ग) छोटे संदंश (Short forceps)।

सत्रहवीं शती के पूर्व तक तीक्ष्ण दन्त वाले संदंश यन्त्रों (Long toothed forceps) का व्यवहार मृत बालकों के प्रसव में उनके सिरों को पकड़ कर और खींचकर निकालने में किया जाता था। ये यन्त्र बहुत छोटे होते थे और उनमें निग्रह (Lock) की व्यवस्था नहीं थी। धीरे-धीरे इस यन्त्र में बहुत से परिवर्त्तन और सुधार होते रहे जिसके परिणामस्वरूप विकसित होकर यन्त्र का निर्माण इस प्रकार का होने लगा कि १. उनकी लम्बाई बढ़ा दी गई, २. निग्रह की (Lock) की व्यवस्था हो गई, ३. उसमें कई एक घुमाव या मोड़ (Curve) और बनने लगे। आज के युग में इस यन्त्र का सबसे विकसित रूप 'मिलने भूरे' के अक्षकर्षक संदंश के रूप में देखने को मिलता है। यह सर्वोत्कृष्ट सूतिकासंदंश माना जाता है और व्यवहारिक दृष्टि से सबसे अधिक उपयोगी और सुविधाजनक

है। इसका उपयोग जीवित अथवा मृत प्रत्येक प्रकार के बालकों के प्रसव कराने में होता है।

लम्बो मोड़ वाला संदंश (Long curved forceps)—इसका उपयोग तब होता है जब कि बच्चे का सिर श्रोणिकण्ठ के अन्दर कुछ कुछ प्रविष्ट हो गया हो। परन्तु प्रसव में विलम्ब (सिर और श्रोणि के विषम अनुपात

'सिम्सन' का सूतिका संदंश
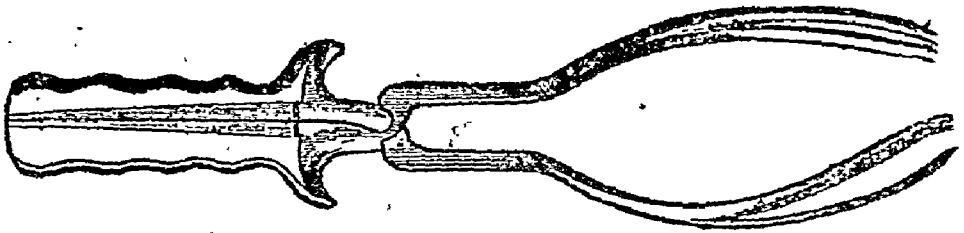
चित्र १२७

के कारण) हो रहा हो तो योनिमार्ग से प्रसव का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। इस यन्त्र में श्रोणि का घुमाव (Pelvic curve) के बने रहने से सुविधा यह होती है कि यन्त्र के द्वारा सिर को ठीक स्थिति में पकड़ा जा सकता है।

अक्षकर्षक संदंश
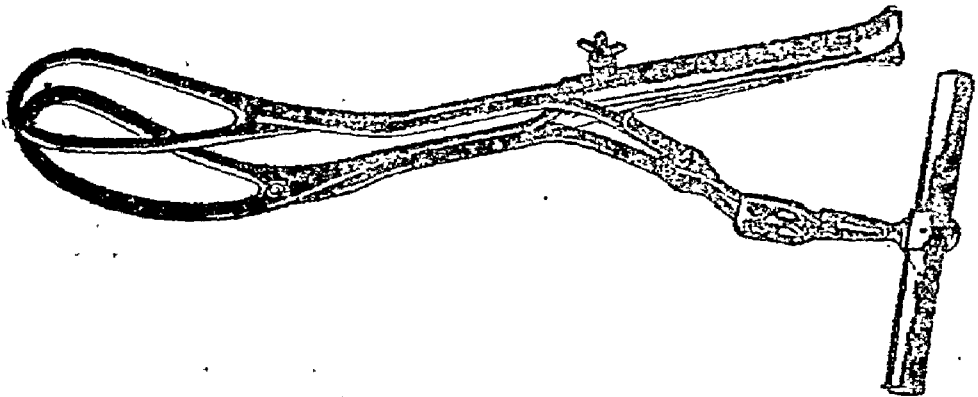
चित्र १२८

अक्षकर्षक संदंश (Axistraction forceps)—इसका उपयोग जब सिर श्रोणिकण्ठ के ऊपर हो तो उसके कर्षण में होता है। इस यन्त्र में दो फलक (Blades) होते हैं और प्रत्येक अर्ध में छः छः हिस्से रहते हैं। १. फलक

Blade), २. गात्र (Shank), ३. निग्रह (Lock), ४. मुठेड या वृन्त (Handle) ५. स्थिरीकरण कील (Fixation screw), ६. कर्षण शलाका (Traction Rod) और ७. सातवाँ भाग कर्षक वृन्त (Traction handle) एक ही होता है जो दोनों अर्द्धों के लिये समान (Common to both halves) रहता है।

फलक—इसमें दो घुमाव मोड़ या चाप होते हैं—

१. सिर का घुमाव (Cranial curve) चपटे भाग की ओर तथा दूसरा घुमाव श्रोणि का घुमाव फलक के किनारे की ओर का होता है। दो घुमावों का आकार और आयाम एक ही होता है अर्थात् उस वृत्त के चाप के बराबर जिसका अर्धव्यास (Radius) ४½" (११·२५ से. मी.) का हो। जब दोनों फलकों को ठीक स्थिति पर रखकर मिलाया जाता है तो उसके भीतर की बड़ी से बड़ी चौड़ाई ३⅜" (८·४ से. मी.) और अग्रों पर १½" (३·७५ से. मी.) की होती है। फलक अण्डाकार और उनके बीच में रिक्त स्थान रहता है।

गात्र—यन्त्र का वह भाग है जो फलक और निग्रह के मध्य में पाया जाता है।

निग्रह—सर्वोत्तम निग्रह (Lock) 'इंगलिश लाक' कहलाता है। जहाँ पर वृन्त एक दूसरे को वार-पार करते हैं वहीं इस 'लाक' का इन्तजाम रहता है।

प्रयोजक वृन्त—कम से कम ५ ईंच (१२·५ से. मी.) लम्बा होना चाहिये। इसके बाहरी किनारे पर लहरिया बनी रहती है जिससे पकड़ में स्थिर रह सके। यदि गर्भस्थ शिशु की सिर की स्थिति बहुत नीचे मूलाधार पर हो, तो बिना कर्षक शलाका की सहायता के ही कर्षण में सुविधा होती है।

स्थिरीकरण कील—कील वाम या अधःफलक से सम्बद्ध रहता है और दाहिने फलक के गड्ढे में जुड़ता है। दो फलक कर्षण करते समय एक दूसरे से पृथक् न हो जाँये इसलिये केवल कर्षण करते समय कील को अच्छी प्रकार से 'स्क्रू' के द्वारा कस लेते हैं।

अक्षकर्षक शलाका—हरेक फलक से एक अक्षकर्षक शलाका जुड़ी रहती है जिसके ऊपरी छोर प्रत्येक फलक के अधःकोण में लगते हैं। फिर इनसे शलाका (Rod) इस प्रकार से जुड़ा रहता है कि निग्रहस्थान (Lock) तक वह गात्र से मिला हुआ चलता है; परन्तु आगे चलकर वह घूमकर पीछे की ओर गात्र से दूरी पर जाकर पड़ता है।

कर्षक वृन्त (Traction handle)—जब संदंश ठीक स्थिति में हो जाता है तो उससे कर्षक शलाका जोड़ दी जाती है। इसकी सन्धि एक विशेष प्रकार की होती है जिसे अंग्रेजी में 'वाल ऐण्ड साकेट जायण्ट' कहते हैं। इसके द्वारा यह स्वतन्त्रतापूर्वक चलायमान या गतिशील रहता है। प्राचीनकाल में इस प्रकार की शरीर में पाई जाने वाली सन्धियों को सामुद्र सन्धि कहते हैं। इस जोड़ का एक भाग गड्ढादार होता है। उसमें दूसरा भाग गोल सिर का होता है जिससे गति स्वच्छन्दता पूर्वक हो सकती है।

गुण—इस अक्षकर्षक संदंश में कई गुण होते हैं। जैसे—

१. यह कलई चढ़ाये लौह (Plated steel) का बना होता है जिससे केवल उबाल मात्र देने से इसका विशोधन हो जाता है।

२. यह हल्का अथच मजबूत होता है।

३. इसमें तीन प्रकार के घुमाव या मोड़ बने रहते हैं। जैसे—शिरका घुमाव, श्रोणिका घुमाव तथा मूलाधार घुमाव (Pelvic curve)। इन घुमावों के कारण संदंश प्रयोग में कई प्रकार की सुविधायें आ जाती हैं।

४. कर्षक शलाका स्वतन्त्रतापूर्वक गतिशील होती है जिससे घुमावयुक्त जनन मार्ग से होते हुए सिर आसानी से निकल सकता है।

५. कर्षक वृन्त प्रत्येक दिशा में गतिशील होता है, जिससे सिर के प्राकृतिक अन्तर्विवर्त्तन में भी किसी प्रकार की वाधा नहीं होती।

६. शलाका के फलकों के केन्द्र में जुड़े होने से कर्षण की शक्ति समुचित रहती है।

७. स्थिरीकरण के लिये कील (Screw) की व्यवस्था होने से फलक ऐसी स्थिति में सिर में लग जाते हैं कि सिर के पीडित (Compression) होने का या दबने का भय नहीं रहता।

८. अक्षकर्षक की व्यवस्था होने से कर्षण का बल एक अक्ष में रहता है।

९. इस अक्षकर्षक संदंश का सबसे बड़ा गुण यह है कि जब श्रोणिकण्ठ के बहुत ऊपर हो तब भी इसके द्वारा कर्षण सम्भव है।

दोष—अक्षकर्षक संदंश का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह अनेक अवयवों (Parts) के संयोग से बना रहता है, जिससे इसके प्रयोग में बड़ी कठिनाई होती है।

छोटा घुमावदार सूतिकासंदंश (Short curved forcep)—यह यन्त्र लम्बे घुमाव वाले संदंश का ही एक छोटा रूप है। इसमें फलक वैसे ही होते हैं, गात्र (Shank) २½″ की जगह १ इंच का होता है। निग्रह (Lock) की व्यवस्था वैसी ही होती है। इसका वृन्त (Handle) इतना छोटा होता है कि किसी प्रकार सिर के बहुत नीचे रहने पर उसका कर्षण सम्भव है। इसका उपयोग अधोगर्भशय्या-भेदन नामक शस्त्रकर्म में सिर के निकालने में होता है।

अपत्यकर्षक संदंश के काम करने के तरीके (Mode of action)—निम्नांकित तरीके से यह संदंश कार्य करने में समर्थ होता है।

१. कर्षण (Traction)।

२. शिरःपीडन (Compression of the head)।

३. शिरोविवर्त्तन (Rotation of the head)।

४. उत्तोलन सिद्धान्त (Lever action)।

५. गर्भाशय के आकुंचनों को उत्तेजित करना (Stimulation) इन सबों में कर्षण सबसे अधिक महत्त्व का है।

प्रधान कर्म के प्रकार (Operation)—कर्षण या आहरण के निम्नलिखित प्रकार हैं—

१. निम्न संदंश आहरण—जब मूलाधार पीठ में ही इस यन्त्र का प्रयोग किया जाय तो निम्नसंदंश कर्म कहते हैं। अधिकतर इसी प्रकार के शल्यकर्म किये जाते हैं। इस कर्म के लिये उपयुक्त अवस्थायें दो हैं—१. जब गर्भाशयिक पेशियों की अल्पक्लान्ति (Slight fatigue) २. अथवा मूलाधार की पेशियों का अवरोध (Resistant) बहुत मजबूत स्वरूप का हो। यदि निर्जीवाणुकरण पर विशेष ध्यान रखते हुए कर्म किया जाय तो यह एक बहुत ही सुरक्षित और साधारण कर्म है।

२. मध्य संदंश आहरण (Mid forceps operation)—जब बालक का सिर गुहा के अन्दर ही हो उस अवस्था में इस यन्त्र का उपयोग किया जाय तो इस कर्म को मध्य संदंश कर्म कहते हैं। इस कर्म की सबसे अधिक उपयुक्त अवस्था पश्चिमानुशीर्षासन (Occipito posterior position) है। कभी-कभी यह कर्म श्रोणि के अल्पसंकोच की अवस्था में भी किया जाता है। यह प्रथमोक्त कर्म से कुछ अधिक कठिन होता है।

३. उच्च संदंश आहरण (High forcep opration)—जब बालक का सिर श्रोणिकण्ठ पर ही हो और संदंश के द्वारा उसका प्रसव कराया जाय तो उसे उच्च संदंश कर्म कहते हैं। यह कर्म बहुत ही कठिन एवं बालक तथा माता दोनों के लिये खतरनाक भी है। अतः इसे बहुत सोच विचारकर करना चाहिये। यदि सिर श्रोणिकण्ठ के ऊपर स्वतन्त्रतापूर्वक हिलाया जा सकता हो तो कदापि इस कर्म को न करे। यह शल्यकर्म तभी करना चाहिये, जब कि सिर पूर्णरूपेण श्रोणिकण्ठ के भीतर स्थिर हो चुका हो।

संदंश प्रयोग का निर्देश (Indication)—सामान्यतया संदंश का उपयोग दो अवस्थाओं में करते हैं—१. जब प्रसव की द्वितीयावस्था में बिना कारण देर हो रही हो, २. जब प्रसव की द्वितीयावस्था को माता या बालक के हित की दृष्टि से अथवा अन्य किसी कारण से छोटा करना लक्ष्य हो तो संदंश का प्रयोग करना होता है। इस प्रकार व्यक्तिगत विशेषताओं के अनुसार निर्देश (Indication) को पाँच बड़े प्रकारों में बाँट सकते हैं:—

१. शक्ति के दोष (Faults in the power)—यदि प्रसव की द्वितीयावस्था में गर्भकोष परासंग (Inertia) की स्थिति हो और विलम्ब का कोई दूसरा कारण न ज्ञात हो तो अप्रजाता में द्वितीयावस्था में चार घण्टे से अधिक काल तक और प्रजाताओं में दो घण्टे से अधिक देर तक विलम्ब नहीं करना चाहिये और संदंश का प्रयोग करके शनैः शनैः शिशु का आहरण करना चाहिये।

यदि गर्भाशय के आकुञ्चनों की अनुपस्थिति हो और औपद्रविक परासंग (Secondary uterine inertia) की स्थिति हो तो संदंश का प्रयोग पूर्णतया निषिद्ध है—घातक रक्तस्राव का भय रहता है।

२. पथ के दोष (Faults in the passages)—जब तक कि ग्रीवा की पूर्ण विस्तृति न हो किसी भी परिस्थिति में यन्त्र का प्रयोग नहीं करना चाहिये। जब शीघ्र प्रसव की आवश्यकता होती है तब इस नियम में अपवाद आता है और उस समय इसका उपयोग बहुत सावधानी के साथ करना चाहिये। पूर्णतया अविस्तृत ग्रीवा से संदंश द्वारा बच्चे का आहरण करने से ग्रीवा तथा योनि के क्षत तथा भ्रंश (Prolapse) का भय रहता है।

मूलाधार—में यदि किसी प्रकार की कठिनता (Rigidity) प्रतीत हो तो संज्ञाहर द्रव्यों के प्रयोग से उसका काठिन्य दूर कर लेना चाहिये। यदि इससे भी मूलाधार पीठ शिथिल न हो तो संदंश प्रयोग में विस्तृत विदार का भय रहता है। अत एव मूलाधार भेदन नामक शस्त्रकर्म करके इस कर्म को करना चाहिये। श्रोणिसंकोच संदंश यन्त्र के प्रयोग के लिये सबसे अधिक उपयुक्त अवस्था यही है। परन्तु संकोच की मात्रा बहुत अधिक या अत्यन्त कम हो तो उपयोग नहीं करना चाहिये। केवल मध्यम कोटि के संकोच (Maderate degree of Contraction) में ही इसका प्रयोग करना चाहिये।

३. **शिशु के दोष**—जलशीर्ष से पीडित अवस्था के शिशुओं को छोड़ कर जब भी बालक का सिर बहुत बड़ा या अस्थिमय (Ossified) हो तो इस यन्त्र का प्रयोग करना चाहिये। विकृत आसन तथा अवतरणों (Malpresentations & position) जैसे पश्चिमानुशीर्षासनों तथा मुखोदयों में इस यन्त्र की आवश्यकता पड़ती है।

४. **माता की विपत्ति** (Danger to the mother)—जब माता की प्राण रक्षा के लिये शीघ्र प्रसव की आवश्यकता पड़ती है तो उन सभी अवस्थाओं में संदंश के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। जैसे—१. आकस्मिक रक्तस्राव, २. पूर्वस्था अपरा, ३. गर्भाक्षेपक, ४. गम्भीर स्वरूप का हृद्रोग, ५. बढ़ा हुआ क्षय रोग, ६. गर्भाशय का निरन्तर आकुञ्चन (Tonic contraction) तथा ७. *जहाँ पर गर्भाशय का विदार का भय उपस्थित हो।*

५. **शिशु की विपत्ति**—१. नालभ्रंश की अवस्था में कई बार संदंश की आवश्यकता पड़ती है। २. गर्भस्थ शिशु के रक्त संचार में बाधा की उपस्थिति—उस अवस्था में बालक की हृद्गति १२०-१६० से भी कम हो जाती है, बच्चे में फड़फड़ाहट (Tumultous movement) होने लगते हैं और शीर्षोदय की स्थिति में गर्भोदक में गर्भ-मल मिलता है। इन सभी अवस्थाओं में संदंश प्रसव कराने का निर्देश है। ३. यदि बहुत बड़ा उपशीर्ष (Caput) बना हो तब भी संदंश का उपयोग कर सकते हैं।

संदंश प्रयोग के सुरक्षित भाव से उपयोग में लाने की अवस्थायें—इस यन्त्र के उपयोग के लिये आवश्यक अवस्थायें निम्नलिखित हैं। इनकी विद्यमानता में ही यन्त्र का प्रयोग करें—

१. ग्रीवा का पूर्ण विकास होना चाहिये।

२. सिर का श्रोणिगुहा में होना आवश्यक है।

३. सिर को यथोचित आसन और स्थिति में होना चाहिये अर्थात् सिर की स्थिति अनुकूल हो।

४. जरायु को जरूर विदीर्ण कर लेना चाहिये।

५. मूत्राशय और मलाशय रिक्त होना चाहिये।

यन्त्र का प्रयोग (Application of forceps)—

पूर्वकर्म—मूत्राशय को मूत्रनाड़ी संयोजन (Catheter) से रिक्त कर लेना चाहिये। योनि के बहिर्द्वार (Vaginal outlet) को विशेषतः अप्रजाताओं में सावधानी के साथ क्रमशः चौड़ा करना चाहिये। इसके लिये चिकित्सक को अपने विशोधित हाथों में विशोधित दास्ताने पहन लेना चाहिये और अपनी दो अंगुलियों को चिकनी करके योनि में प्रविष्ट करे और योनि की पश्चिम दीवाल को नीचे दबावे। इस क्रिया से भग की पश्चिम दीवाल भी दबती है। इसी कर्म को कई बार करे। इसके बाद क्रमशः तीन चार अंगुलियों को डाले फिर धीरे-धीरे सम्पूर्ण हस्त का भीतर में, प्रविष्ट करे। इससे बालक का सिर आसानी से बाहर निकल आता है और योनि तथा मूलाधार के व्रणित होने का खतरा भी कम हो जाता है।

रोगी को निःसंज्ञ कर लेना आवश्यक है। रोगी के निःसंज्ञ करने के अनन्तर भग आदि का बहिर्जननाङ्गों का विशोधन आवश्यक है। उसको साबुन और पानी से धोना, वहाँ के केशों का साफ करना भी जरूरी है। फिर उस स्थान को सुखाकर वहाँ पर २% आयोडीन के घोल अथवा 'डेट्टाल' के द्वारा स्थानिक लेप कर लेना चाहिये। इस प्रकार पूर्णतया भावी संक्रमण से बचाने का प्रयत्न करना चाहिये। चिकित्सक तथा सहायक को भी चाहिये कि अपने ऊपर विशोधित उपरितन (Apron) तथा मुखच्छद (Mask) आदि को धारण कर ले। संदंश को भी पानी में उबाल कर 'लाइसोल' के घोल में डुबो कर जीवाणु-हीन कर लेना चाहिये।

प्रधान कर्म—यह कर्म गर्भिणी को दो स्थितियों में रख कर किया जाता है— १. वामापार्श्वासन तथा २. उत्तानासन पर। इस देश में वाम पर्श्वासन (Left Lateral position) का अधिक प्रचलन है। परन्तु किसी ऐसे चिकित्सालय

में जहाँ पर बहुत से सहायक उपस्थित हों, वहाँ पर उत्तानासन ही अधिक उपयुक्त होता है। इन दोनों स्थितियों में किसी एक पर रुग्णा को लेटाने के अनन्तर उसे संज्ञाहीन करने के लिये संज्ञाहर द्रव्य का उपयोग करे। पश्चात् भग आदि अंगों को भली प्रकार विशोधित करे। इसी के साथ साथ शल्यकर्त्ता भी अपने हाथों को निर्जीवाणुक करके जीवाणु-हीन विशोधित वस्त्र आच्छादन आदि को धारण करके हाथों में विशोधित दास्ताने पहन ले। इसी समय में इन यन्त्रों तथा अन्य शल्य कर्मोपयोगी सामग्रियों को भी निर्जीवाणुक करके, एक पात्र में (Basin) जिसमें शुद्ध गर्म जल हो या 'लाइसोल' या 'डेट्टाल' का घोल भरा हो रख देवे। संदंश, मूत्रनाडी, धमनी स्वस्तिक, (Artery forceps) सूचिकायें सिल्कवर्म गेट, कैटगट के धागे मूलाधार के सीवन के लिये उबाल कर यथाविधि विशोधित करके रख लेवे।

शल्यकर्म जैसे पहले बतलाया जा चुका है यह निम्न, मध्य और उच्च भेद तीन प्रकार का होता है।

बायें और नीचे वाले फलक का प्रवेश करना।
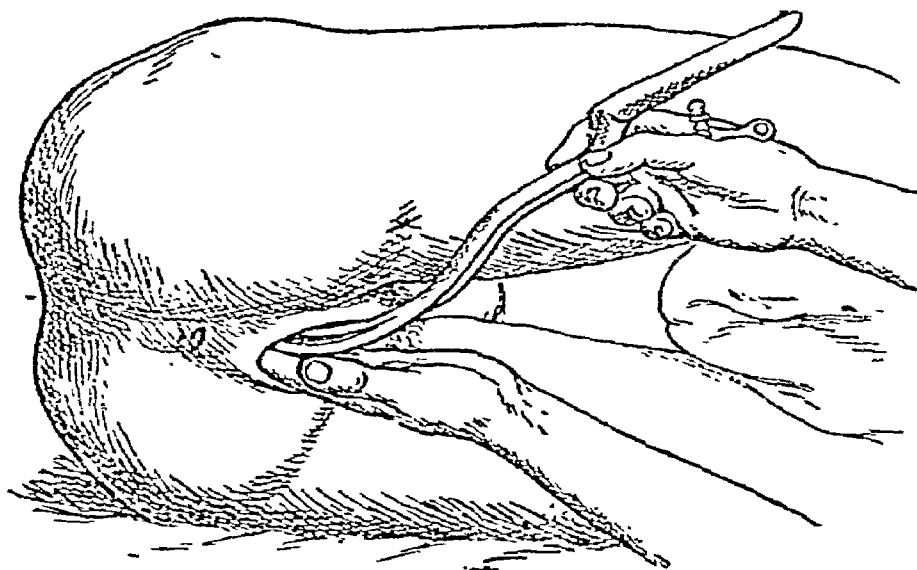
चित्र १२९

वाम पार्श्वासन पर लेटा कर निम्न और मध्य कर्म—

१. रोगी को उसके वाम पार्श्व शय्या पर सुला दे। उसका नितम्ब शय्या के

किनारे पर होवे। उसका दाहिना पैर किसी सहायक द्वारा या एक तकिये के सहारे ऊँचा उठा देना चाहिये।

इस प्रकार से करने के वाद सवसे पूर्व संदंश यन्त्रका का वाम फलक देखकर अच्छी प्रकार से निर्णय करके योनि-गुहा में अङ्गुलियों की सहायता से शनैः-शनैः प्रविष्ट करे और वालक के सिर के साथ-साथ आगे वढ़ता जाय। इस तरह वाम फलक वालक के सिर के एक पार्श्व में जव पूर्णतया पहुँच जाय तव इसे किसी सहायक को पकड़ा दे या स्वयं अपने वाँयें हाथ से अन्त प्रकोष्ठास्थि (Ulnar edge) के किनारे की स्थिति में रखे।

२. दाहिने फलक को प्रविष्ट करना—अव दूसरा अर्थात् दाहिना फलक डाला जाता है। इसकी विधि यह है कि अपना वाँया हाथ योनि की दीवाल से लगाये रखे और उँगलियाँ वालक के सिर से लगी रहे। अव दाहिने फलक अन्दर

दाहिने फलक का प्रवेश करना।
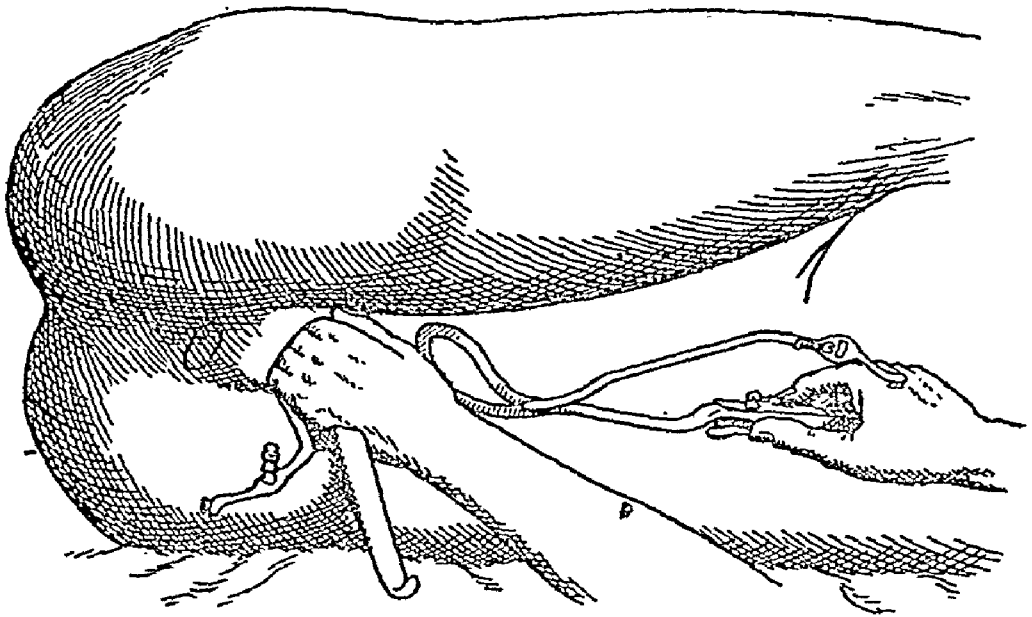
चित्र १४०

के हाथ के सहारे सिर तक पहुँचावें। परन्तु यह स्मरण रहे कि कर्षण शलाका, गात्र (Shank) से दूर रहे तथा दाहिने हाथ के पीठ पर पड़ी रहे। फलक को त्रिक् की ओर डाला जाता है और जव प्रयोजक वृन्त को पीछे ले जायँ तो

दाहिने फलक का निग्रहण के लिये (For locking) लटकना।
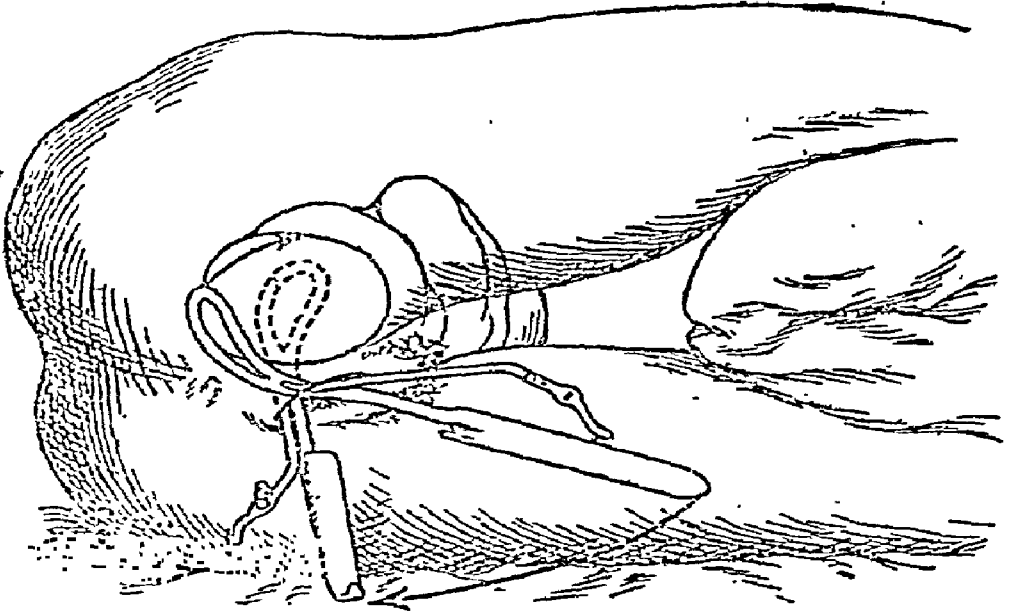
चित्र १४१

दोनों वृन्तों का निग्रह।
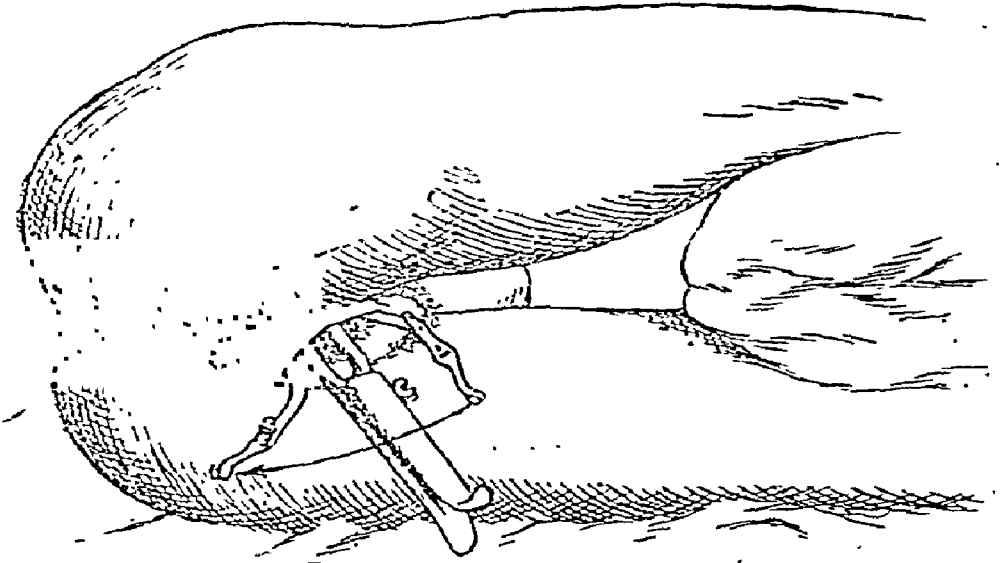
चित्र १४२

कर्षण सिर अभी अन्दर में है।
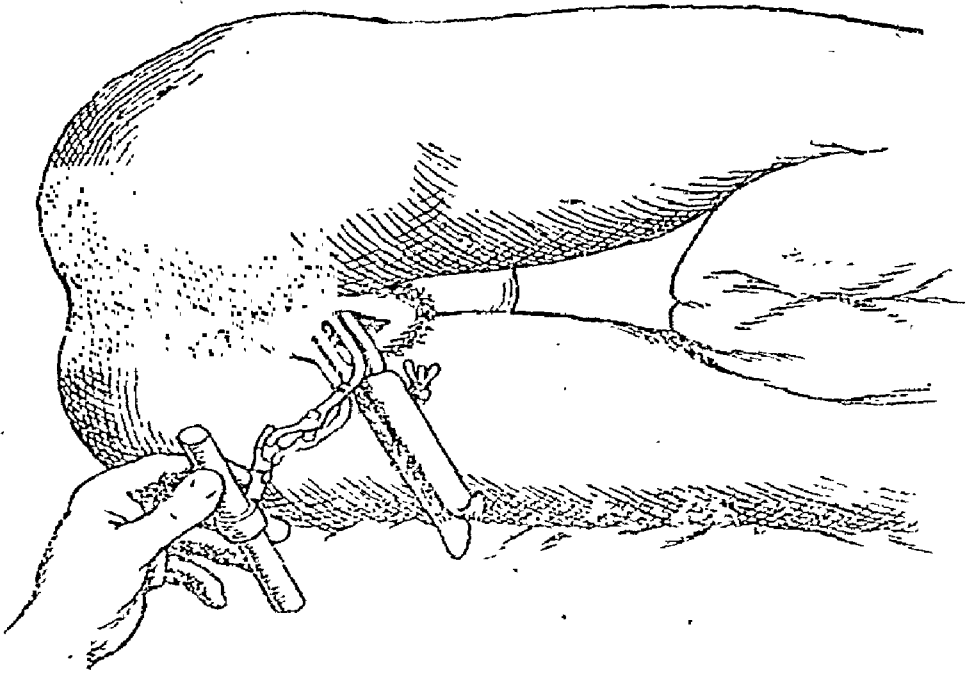
चित्र १४३

सिर अब निर्गम द्वार पर आ गया है।
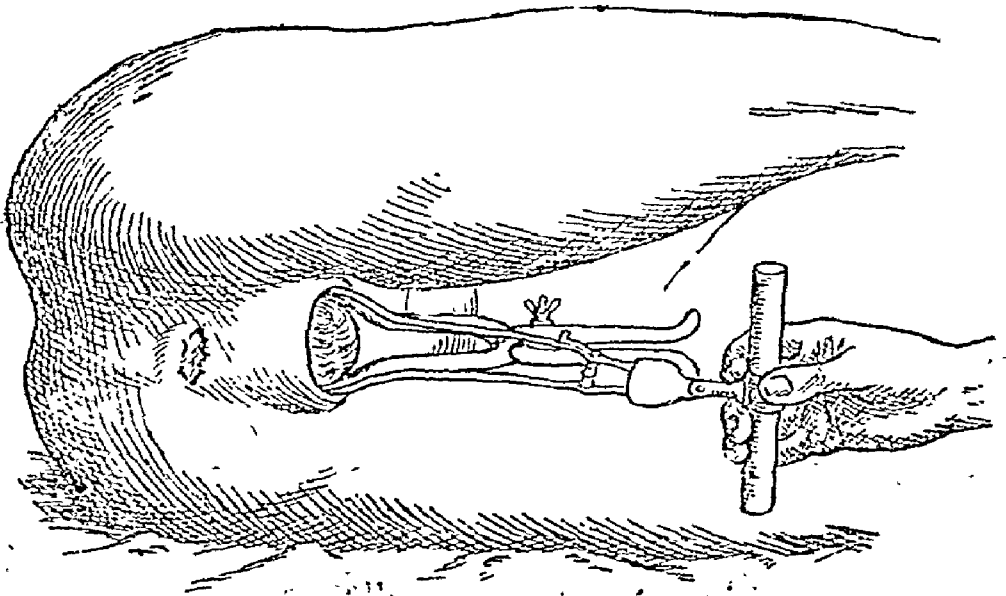
चित्र १४४

फलक घूमकर बालक के सिर के दूसरी ओर को हो जाता है। अन्दर की उँगलियों से इसको देखते रहना चाहिये। अब दोनों प्रयोजक वृन्त इकट्ठे हो जाते हैं तथा दाहिनी कर्षक शलाका को भी फलक शलाकाओं के साथ मिला दें। दाहिने वृन्त को बायें के गड्ढे में डाल कर स्थिरीकरण कील से स्थिर कर ले या फस दे। अब कर्षक शलाका को लगावें। फिर योनि में अङ्गुलि डाल कर देखे कि योनि आदि का कोई भाग तो संदंश में नहीं आ गया है। निश्चय होते जाने के बाद खींचना (कर्षण) शुरू करे। कर्षण के सम्बन्ध में निम्न बातों का ध्यान देना परमावश्यक है :—

कर्षण सिर का उदय।
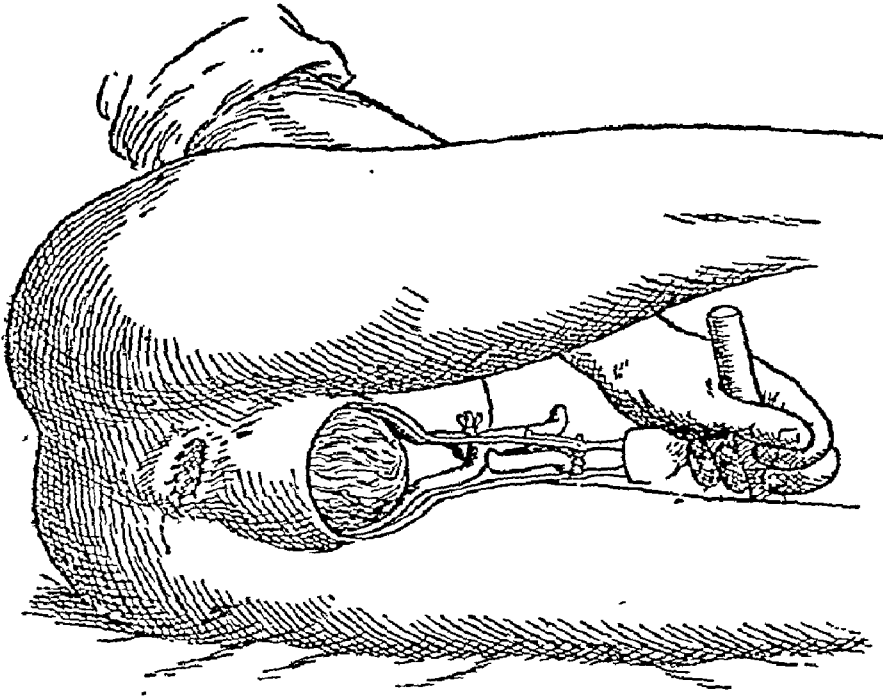
चित्र १४५

१. अधिक जोर न लगाया जावे केवल अग्रबाहु के ही बल से कर्षण किया जाय।

२. खींचते समय कर्षक शलाकायें गात्र (Shank) के समीप तथा समानान्तर रहनी चाहिये। जैसे-जैसे सिर नीचे को आता है, प्रयोजक वृन्त (Application handle) सामने को होते जाते हैं।

३. कर्षण शनैः-शनैः तथा प्रसव-वेदना के समय में ही होना चाहिये और बीच-बीच में ठहरते जाना चाहिये।

४. ठहरने के समय (विश्रान्तिकाल) में पेच को ढीला कर दे ताकि सिर पर से दबाव कुछ कम हो जाय। फिर खींचने से पूर्व कस ले। जब सिर निकल आवे तो संदंश को उतार ले। पहले कर्षक वृन्त को पृथक् करे फिर कर्षक शलाकाओं को अलग करे अन्त में पेंच को खोल कर फिर दोनों फलकों को निकाले।

उत्तानासन पर संदंश कर्म—यदि संदंश का प्रयोग सूतिका को चित लेटा कर करना हो तो योनि में दाहिने हाथ डालने से सुविधा होती है और बाँयें फलक को उपर्युक्त विधि से दाहिने हाथ के तलवे से होते हुए त्रिक् के गर्त्त की दिशा में लेजाते हैं। फिर बाँयें हाथ और दाहिने फलक को भीतर प्रविष्ट करने के लिये उपयोग में लाते हैं। फिर पूर्वोक्त विधि से शिशु के सिर के दोनों ओर दो फलकों को करके दोनों वृन्तों को मिला कर शनैः शनैः कर्षण करते हुए आहरण (Extraction) करते हैं।

उच्च संदंश कर्म (High operation)—आज के प्रसूति-तन्त्र में आजकल इस कर्म का कोई भी स्थान नहीं है। कुछ काल पूर्व जब तक गर्भाशय-भेदन नामक शस्त्रकर्म बहुत प्रचलित नहीं था उच्च संदंश कर्म से आहरण और कर्षण का प्रयोग होता रहा; परन्तु आजकल यह बहुत कुछ छोड़ दिया गया है। आजकल भी श्रोणि और सिर की विषमताओं में इस कर्म का क्वचित् व्यवहार होता है।

संदंश का पुनः प्रयोग (Reapplicatin of forceps)— कई बार संदंश प्रयोग में ठीक सफलता न मिलने से उसका दुबारा प्रयोग करना उत्तम माना जाता है। निम्नलिखित अवस्थाओं में इसका ध्यान रखना होता है—(क) यदि दोनों फलकों का निग्रह (Lock) आसानी से न हो पावे। (ख) जब कर्षण करते समय फलक सिर से फिसलते प्रतीत हों। (ग) जब प्रयोग के अनन्तर (Pelvic application) कर्षण करते समय सिर का विवर्त्तन (Rotation) एक वृत्त का चौथाई से अधिक हो जाय। ऐसा प्रायः पश्चिम अनुशीर्षासनों में होता है। इस अवस्थाओं में जोर न लगा कर संदंश को उतार लेना चाहिये और पुनः दुबारा सावधानी से उपयोग में लाना चाहिये।

संदंश प्रयोग की आपत्तियाँ (Risks)—

१. गर्भकोप परासङ्ग (Inertia) की अवस्था में बलात् आहरण करते हुए तीव्र रक्तस्राव है।

२. असावधानीपूर्वक फलकों के लगाने अथवा शीघ्रता से कर्षण करते हुए मृदु मार्ग (Soft passages) की क्षति का (Injury) का भय रहता है।

३. आहरण शनैः शनैः और क्रमशः होना चाहिये ताकि जन्म लेते हुए बच्चे के पश्चात् गर्भाशय को आकुञ्चित होने का अवसर प्राप्त हो।

उत्तानासन में संदंश प्रयोग (वाम फलक का प्रवेश करना)।
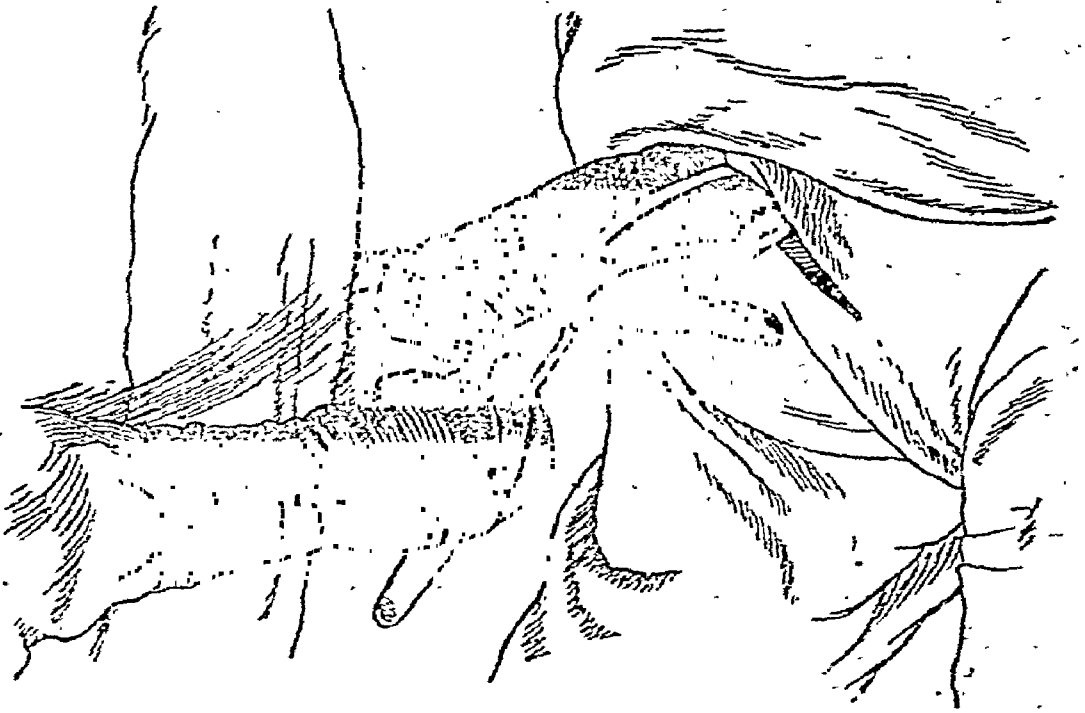
चित्र १४६

४. बच्चे को कई प्रकार के अनिष्टों की सम्भावना रहती है—करोटि का भग्न, शिरोगुहागत रक्तस्राव, नेत्र की हानि, अर्दित, प्राणावरोध आदि।

५. संक्रमण का भय।

उत्तानासन में संदंश प्रयोगविधि—गर्भिणी को पीठ के बल लेटा कर भी संदंश के प्रयोग की विधि है। यन्त्रकर्म के सिद्धान्त उपर्युक्त की भाँति ही रहते हैं।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में सूतिका से सम्बन्धित विभिन्न शल्य या शस्त्र-कर्मों का वर्णन पाया जाता है। इन सभी प्रकार के कर्मों का मौलिक वर्णन मूढ़ गर्भाध्याय में विस्तार के साथ दिया जा चुका है। अतः उसका पुनः यहां पर उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

उत्तानासन में संदंश प्रयोग (दाहिने फलक का प्रवेश करना)।
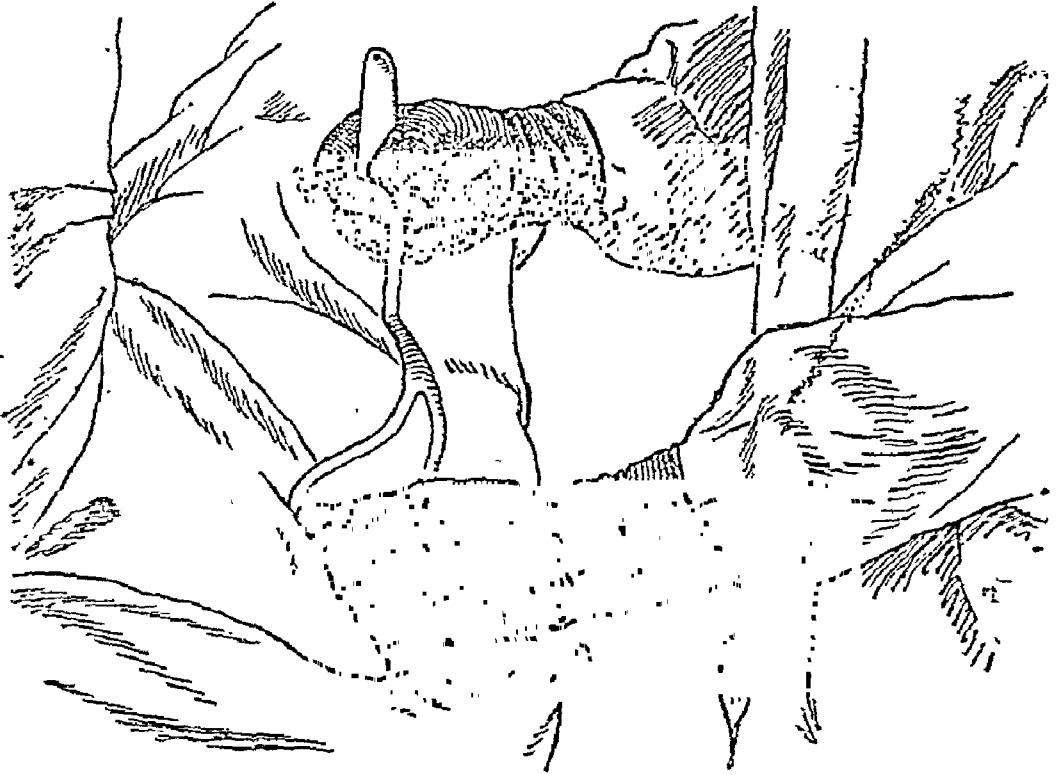
चित्र १४७

शल्यकर्म सम्बन्धी सातों अध्याय पूर्णतया आधुनिक प्रसूति-तन्त्र के ग्रन्थों के आधार पर लिखे गये हैं। इनके आधार-भूत ग्रन्थ निम्नलिखित हैं:—

आधार तथा प्रमाणसञ्चय—

(च. शा. ८, सु. नि. ८, सु. चि. १५, वा. शा. १, संग्रह शा. २७, संग्रह उ. १)

(Midwifery by Johnstone, Tenteachers & Gillet.)

शब्द सूची